अद्वैत वेदान्त में तत्त्व और ज्ञान

ऊर्मिला शर्मा

अद्वैत वेदान्त में तत्त्व और ज्ञान

ऊर्मिला शर्मा

अद्वैत वेदान्त में तत्त्व और ज्ञान

डॉ० ऊर्मिला शर्मा
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-५

भूमिका
श्रीनिरञ्जनपीठधीश्वर परमहंस परिव्राजकाचार्य
स्वामी महेशानन्द गिरि

प्रकाशक—
छन्दस्वती प्रतिष्ठान
वाराणसी

वितरक—
मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली, वाराणसी, पटना

प्रथम संस्करण
मार्च, १९७८
मूल्य ५०.००

मुद्रक—
तारा प्रिंटिंग वर्क्स
कमच्छा, वाराणसी।

ॐ

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्ति

द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।

एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं

भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥

यैर्हि मे गुरुभिः पूर्वं पदवाक्यप्रमाणतः ।

व्याख्याताः सर्ववेदान्तास्तान् नित्यं प्रणमाम्यहम् ॥

यदोपरामो मनसो नामरूपरूपस्य दृष्टस्मृतिसम्प्रमोषात् ।

य ईयते केवलया स्वसंस्थया हंसाय तस्मै शुचिसद्मने नमः ॥

स वै ममाशेषविशेषमायानिषेधनिर्वाणसुखानुभूतिः ।

स सर्वनामा स च विश्वरूपः प्रसीदतामनिरुक्तात्मशक्तिः ॥

यः प्राकृतैर्ज्ञानपथैर्जनानां यथाशयं देहगतो विभाति ।

यथानिलः पार्थिवमाश्रितो गुणं स ईश्वरो मे कुरुतान्मनोरथम् ॥

ॐ

भूमिका

भारतीय संस्कृति का प्रवाह यद्यपि कभी-कभी रुक कर और कभी-कभी तेजी से बहता रहा है, परन्तु यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि यह प्रवाह कभी भी रुका नहीं। मोहिंजेदड़ो के समय से लेकर आज तक इस प्रवाह का प्रत्येक शताब्दी में कोई न कोई अवशेष मिलता है, चाहे वह शिलाओं में हो या साहित्य में। शिलाओं की अपेक्षा साहित्य अधिक अनुप्राणित होता है, क्योंकि प्रत्येक युग में उससे प्रेरणा लेकर हम एक नई चीज का निर्माण करने में समर्थ होते हैं। यह सत्य है कि आधुनिक युग में पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से शिलालेख, मुद्राओं, ताम्रलेख इत्यादि को साहित्य की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक माना जाता है, परन्तु हम वास्तविकता की दृष्टि से देखें तो साहित्य जितना प्रेरणादायक रहता है और इस प्रेरणा के कारण उसमें जो एक नैरन्तर्य रहता है वह शिला इत्यादि में नहीं। विशेषतः भारत के प्राचीन ऋषियों ने तो शिलाओं की अपेक्षा साहित्य को ही अधिक प्रामाणिक माना है। अब कुछ पाश्चात्य ऐतिहासिक एवं विचारक इस बात को समझने लगे हैं कि केवल राजाओं की वंशावली एवं चरित आदि को किसी देश का इतिहास नहीं कहा जा सकता, वरन् वहां के जन-मानस का, दर्शन का, धर्म का, वहां की भौतिक उपलब्धियों का; विज्ञान का, आर्थिक एवं सामाजिक जीवन के चित्रांकन का, नाटक का, साहित्य का केवल राजाओं की वंशावलियों की अपेक्षा अधिक महत्त्व है। परन्तु उनके प्राचीन इतिहास में क्योंकि राजवंशावलियां ही प्रधान हैं, अतः वे अपने प्राचीन इतिहास में इसी का उल्लेख कर सकेंगे। उनका अनुकरण करने वाले अनेक भारतीय इतिहास के लेखक इस बात से दुःखी होते हैं कि क्रमबद्ध राज-वंशावलियां भारतीय इतिहास में नहीं मिलतीं; परन्तु यदि १८ पुराण एवं महाभारत, राजतरंगिणी इत्यादि ग्रन्थों की तरफ हम दृष्टि डालते हैं तो पाते हैं कि राजवंशावलियों की अपेक्षा, उपर्युक्त उपलब्धियों के रूप में प्राचीन युग का हमारे इतिहास-पुराणों में जितना विस्तृत वर्णन मिलता है वह हमारे इतिहास को दूसरों के इतिहास से अधिक पूर्ण बनाता है।

भारतीय साहित्य-परम्परा में पुराण-परम्परा से दर्शन-परम्परा अधिक प्रधान रही है। भारतीय धर्म भी चाहे वह सनातन धर्म हो, चाहे बौद्ध या जैन, दार्शनिक धर्म रहे हैं। दार्शनिक चिन्तन, शास्त्रार्थ-प्रणाली के द्वारा तत्त्व का निर्णय हमारी विशेषता रही है। भारत का नारा रहा है कि जो युक्तियुक्त है, अनुभूति से सङ्गत है वही तत्त्व है; वही सत्य है। यह नहीं कि हम किसी सत्य को प्रथम प्रमाण रूप से (Axiomatic) स्वीकार कर लें और फिर उसकी सिद्धि को ही धार्मिक मीमांसा (Theology) मान लें। यह सत्य है कि सामान्य लोगों के लिये इन विचारों को समझना कठिन होता है, और वे इन विचारों से निकले हुए तत्त्व को उसी प्रकार सिद्धवत् स्वीकार कर लेते हैं जिस प्रकार विज्ञान से सिद्ध यंत्रों का प्रयोग साधारण मानव करने लगता है। यद्यपि वह उन यंत्रों के वैज्ञानिक नियमों

को नहीं जानता, परन्तु उसे यह विश्वास है कि ये यंत्र किसी जादू या करिश्मे से नहीं चल रहे हैं, वरन् उनके पीछे ठोस सिद्धान्त हैं, जिसे वैज्ञानिक जानता है। सामान्य भारतीय धर्मावलम्बी भी यहीं मानता है कि वह जिस चीज का पालन कर रहा है, यद्यपि वह उसको पूरी तरह से समझ नहीं सकता, लेकिन वह युक्ति और दर्शन की किसी न किसी चट्टान के ऊपर खड़े होकर के ही निर्धारित किये गये हैं। इस दृष्टि से भारत में धर्म और दर्शन दो नहीं रहे हैं। दर्शन का व्यावहारिक रूप धर्म है, और धर्म का सैद्धान्तिक रूप दर्शन। यह ठीक है कि अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों ने एवं धार्मिक नेताओं ने भारतीय दर्शन में धर्म को देखकर उसे अपूर्ण दर्शन मानने की भूल की है, तो एल्बर्ट श्वाइत्ज़र जैसे लोगों ने दर्शन से धर्म की सिद्धि को देखकर इसे अपूर्ण धर्म मानने का अज्ञान दिखाया है। पाश्चात्य धार्मिक नेता ऐसा मानते हैं कि धर्मतत्त्व मनुष्य की बुद्धि का विषय नहीं, इसलिये उसके बारे में कुछ भी मान लिया जाये और अपनी-अपनी मान्यता को किसी तरह से ठीक सिद्ध किया जाये। यह बात बिल्कुल ठीक हो सकती थी यदि केवल एक व्यक्ति ने ही धार्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया होता और लोगों ने उसे स्वीकार या अस्वीकार किया होता। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि अनेक लोगों ने अपने को खुदा का पैगम्बर, देवदूत, देवपुत्र या अवतार तक कहा है और उनमें से प्रत्येक का कहना है कि वही एकमात्र वास्तविक धर्म को बता रहा है। इसलिए उनमें से किसको ठीक माना जाये इसके लिए किसी भी सिद्धान्त का निर्णय करना असम्भव हो जाता है, और यदि बुद्धि द्वारा उनमें से किसी एक को ठीक माना जाये, तो फिर उनकी योग्यता की परीक्षा करने में जैसे बुद्धि का प्रयोग किया जाता है वैसे ही तत्त्व का निर्णय करने के लिए ही बुद्धि का प्रयोग क्यों न कर लिया जाये। भारतीय मनीषियों ने यही दृष्टिकोण अपनाया है। इसलिये धर्म और दर्शन की सङ्गति वास्तव में तात्त्विक है, अपूर्णता की द्योतक नहीं।

वेदान्त सनातन-धर्म का दार्शनिक रूप भी है और धार्मिक रूप भी। यह ठीक है कि भिन्न-भिन्न कालों में अनेक प्रकार की विचारधारायें सामने उपस्थित हुई हैं परन्तु चाहे बौद्ध, चाहे जैन, चाहे परवर्ती वैष्णवाचार्य, सभी ने नियमित रूप से वेदान्त को प्रधान पक्ष स्वीकार करके खण्डन करना अपना उद्देश्य बनाया है और यही इस बात को बताता है कि वेदान्त ही सनातन धर्म का सामान्य रूप रहा है एवं अन्य रूप इसी की अस्वीकृति से उत्पन्न हुए हैं। यद्यपि वेदान्त में भी भिन्न-भिन्न अनेक सम्प्रदाय और विचारधारायें हैं, स्वयं आचार्य शंकर भी अनेक जगह पर 'हम में से कई' या 'हमारे यूथ के ही कुछ लोग' इत्यादि कहकर उन सबको वेदान्त का एकदेशी स्वीकार करते हैं, परन्तु सांख्य, मीमांसा, न्याय, बौद्ध, जैन, इत्यादि एक मत से जब वेदान्त के खण्डन में प्रवृत्त होते हैं तो अद्वैत वेदांत को ही प्रधानरूप से सामने रखते हैं। इससे यह पता लगता है कि जैसे सनातन धर्म का सामान्य रूप वेदान्त है, वैसे ही वेदान्त का सामान्य रूप अद्वैत वेदान्त है और जैसे सनातन धर्म की अस्वीकृति से अन्य मत-मतान्तर आये, वैसे ही अद्वैत की अस्वीकृति से ही विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत इत्यादि आये। सामान्य रूप से तो अद्वैत की ही स्वीकृति माननी पड़ती है।

अद्वैत की विचारधारा याज्ञवल्क्य ने बृहदारण्यक उपनिषद् में, और सनत्कुमार, उद्दालक,

प्रजापति ने छान्दोग्य उपनिषद् में विस्तार से प्रतिपादित की है। और माण्डूक्य उपनिषद् में उसका अत्यन्त संक्षिप्त रूप प्रकट किया गया गया है। इसी पर आधारित परवर्ती काल में कारिकायें, भाष्य, एवं वार्त्तिकों का निर्माण हुआ। कठोपनिषद् और छान्दोग्योपनिषद् को ही मुख्यतया मूल बनाकर गीता में विस्तृत विवेचन किया गया। प्रधान रूप से छान्दोग्य उपनिषद् एवं सामान्य रूप से सभी वैदिक · उपनिषदों को एकसूत्रता में बांधने के लिये ब्रह्मसूत्र का निर्माण हुआ जिसको पुनः शारीरक भाष्य, पञ्चपादिका-विवरण, भामती आदि के द्वारा स्पष्ट किया गया। इसी प्रस्थानत्रयी पर सारे वेदान्त की विचारधारा आधारित है। वेदान्त में यद्यपि अनेक सम्प्रदाय हैं, परन्तु भामती एवं विवरण नाम से प्रसिद्ध दो प्रस्थान ही अधिकतर मनीषियों के आकर्षण का केन्द्र रहे हैं। संक्षेप शारीरक, वेदान्त कौमुदी, इष्टसिद्धि, सूत्र-वार्त्तिक, वेदान्तसिद्धान्त-मुक्तावलि, प्रकटार्थविवरण आदि यद्यपि इन दोनों प्रस्थानों से बहुत कुछ भिन्नता रखते हैं परन्तु ये केवल इन ग्रन्थों तक अथवा इनकी टीकाओं तक ही सीमित रहे हैं। इनको आधार मानकर दीर्घ परम्परा नहीं चली, इसका कारण जो भी रहा हो। इसीलिये हम इन दो प्रस्थानों को लेकर ही विस्तृत विचार कर पाते हैं।

प्रस्तुत-शोध प्रबन्ध में निरपेक्ष भाव से इन सभी को समझने का प्रयास किया गया है। इसलिये इस शोध प्रबन्ध का अपना एक विशेष महत्त्व हो जाता है। यद्यपि विदुषी ने शीर्षक में 'अद्वैत वेदान्त में तत्त्व और ज्ञान' कहकर तत्त्व के द्वारा दर्शन और ज्ञान के द्वारा धर्म का सङ्केत करने का प्रयास किया है, परन्तु तत्त्व शब्द में 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थ की एकता ध्वनित हो जाती है, और ज्ञान (जो ब्रह्म शब्द से भी कहा जाता है) तथा इस एकता की अभिन्नता शीर्षक को स्वयं अपना एक सौन्दर्य दे देती है। प्रबन्ध को 'तत्त्वमीमांसा' और 'ज्ञानमीमांसा' इस प्रकार दो खण्डों में बांटने का भी यही उद्देश्य लगता है।

'तत्त्व मीमांसा' में परम तत्त्व, एवं अविद्या के द्वारा उसमें औपाधिक रूपता का प्रतिपादन करने के बाद जगत् का विवेचन प्रस्तुत किया है। सम्भवतः यह छान्दोग्य प्रक्रिया के अनुसरण की दृष्टि से किया गया है। प्रायशः वेदान्त ग्रन्थों में उपस्थित अध्यस्त को लेकर विवेचन प्रारंभ करके परम तत्त्व में समाप्ति की जाती है। ब्रह्मसूत्र में भी **'जन्माद्यस्य यतः'** के लक्षण के द्वारा विशिष्ट ब्रह्म को उपस्थापित करके ही विचार प्रारम्भ किया है। **'अध्यारोपापवादाभ्याम्'** न्याय में भी अध्यारोप को ही प्रथम रखा है। सम्भवतः अन्तिम परिच्छेद में फल रूप से ब्रह्मज्ञान को उपस्थापित करके उपक्रम ओर उपसंहार की एकता मानकर लेखिका ने तत्त्वपक्ष ओर ज्ञानपक्ष की एकता के प्रतिपादन का प्रयास किया है।

परम तत्त्व के निरूपण में आधुनिक मान्यताओं में जो संहिताओं और उपनिषदों में आधारभूत भेद प्रतिपादित किया जाता है उसके प्रत्युत्तर रूप में संहिता से एक ही प्रवाह उपनिषद् पर्यन्त आया है यह बताने का प्रयास किया है। वैदिक संहिता भाषा तथा शैली की दृष्टि से कठिन तो है ही, परन्तु उससे भी अधिक कठिनाई है कि न केवल यज्ञ, वरन् दैनन्दिन जीवन के वैदिक कर्मों से भी हम इतने दूर हो गये हैं कि सामान्य शब्दों के ध्वन्यर्थ ही नहीं, वाच्यार्थ भी हमारे लिये एक समस्या बने हुए हैं। स्मरण रखना चाहिये कि महर्षि यास्क ने एक पूर्वपक्ष उठाया है जिसके अनुसार वेदों का कोई अर्थ नहीं है और सायण ने भी इस पक्ष

को लेकर उसका प्रत्युत्तर दिया है। इससे सिद्ध होता है कि कम से कम तीन हजार वर्ष पूर्व भी वैदिक अर्थ कुछ अनिश्चित से होने लगे थे। अतः संहिताओं का मन्थन न केवल परिश्रम-साध्य है वरन् समाधिसाध्य भी है। संहिताओं को मूल बनाकर ही जिस प्रकार ब्राह्मण भागों में कर्मकाण्ड का वर्द्धन किया गया, आरण्यकों में उपासना का, उसी प्रकार उपनिषदों में ज्ञान का। सम्भवतः "प्रज्ञापाठशाला" वालों ने प्रथम प्रयास किया था जिसमें संहिता के मन्त्रों को औपनिषद सन्दर्भों में सूचीबद्ध किया गया था। हम आशा करते हैं कि भविष्य में विदुषी लेखिका इस विषय में स्वतन्त्र ग्रन्थ को उपस्थापित करके इसे और अधिक पूर्ण करने का प्रयत्न करेगी।

जीव एवं ईश्वर के विचार में अनेक दृष्टियों को उपस्थापित करके भी अद्वैत वेदान्त में जीव और ईश्वर के उपासनागत सम्बन्ध पर विवेचन आवश्यक होता है। अद्वैतसिद्धिकार, अप्पयदीक्षितेन्द्र, विद्यारण्यस्वामी, स्वाराज्यसिद्धिकार एवं स्वयं योगवासिष्ठ में भी इसका विस्तृत विवेचन आता है। यह पक्ष प्रायः दार्शनिक मीमांसा का विषय नहीं होता, इसलिये आजकल के वेदान्त-प्रतिपादक ग्रन्थों में इसका विवेचन कम किया जाता है। परन्तु गौड़ ब्रह्मानन्द स्वामी की न्याय-रत्नावली अथवा नारायणी देखने पर इसके बारे में कई विचार स्पष्ट हो जाते हैं। उनका भी संग्रह हो जाता तो अच्छा था। वस्तुतः जीव का ईश्वर के प्रति आकर्षण ही दर्शन अथवा धर्म का बीज है। जब हम ईश्वर को सत्य दृष्टि से देखने का प्रयास करते हैं तब दर्शनपक्ष स्फुट हो जाता है, और उसी को जब हम अन्तर्यामी ईशिता रूप से समझने का प्रयास करते हैं तो उपासना का रूप स्फुट हो जाता है। सत्य और ईश्वर की यह एकता वेदान्त की एक अद्भुत देन है। जगत् के स्वरूप का विचार करके उसकी आनन्दरूपता का यदि विकसित विचार शोधप्रवन्ध में हुआ होता तो सौन्दर्य-दृष्टि से भी वह एक तत्त्व ही गृहीत होता है, यह स्पष्ट हो गया होता। यह ठीक है कि शोधप्रवन्ध में आयाम निश्चित होते हैं और सम्भवतः इसी कारण से विदुषी ने इस पक्ष को अस्पृष्ट रखा हो।

इस शोधप्रबन्ध में वृत्ति का अत्यधिक विस्तृत विवेचन उपस्थित किया गया है और यही इस शोध की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन है। भिन्न-भिन्न मत वालों के द्वारा वृत्तियों के विचारों को बताकर फिर वृत्तियों का विभाजन एवं प्रमा के स्वरूप का प्रतिपादन करके प्रायः जो कुछ भी वृत्ति एवं प्रमा के विषय में आवश्यक होता है वह सब उपस्थित किया गया है। यद्यपि स्वामी निश्चलदास ने वृत्ति-प्रभाकर में वृत्ति का विस्तृत विवेचन किया है, पर सन्दर्भों के अभाव से वह अपूर्ण रह गया है। इस शोधप्रवन्ध से यह कमी भी दूर हो पाई है। प्रमाणों की गणना के विषय में वेदान्त सिद्धान्त यद्यपि उदासीन है परन्तु प्रायः व्यवहार में कुमारिल मत को स्वीकार करने के कारण छः प्रमाणों की ही प्रक्रिया स्वीकार की जाती है। अनेक लेखकों ने तीन या तीन से अधिक प्रमाणों के द्वारा भी वेदान्त प्रक्रिया को उपस्थित किया है। उन मतों का भी संग्रह हो जाता तो अच्छा ही था। परन्तु कादाचित्क होने के कारण संक्षिप्त प्रबन्ध में सम्भवतः उतना संग्रह संभव भी नहीं था।

ब्रह्मज्ञान महावाक्य से ही उत्पन्न होता है अथवा इसमें निदिध्यासन द्वारा परिशुद्ध अन्तःकरण ही करण है यह एक जटिल प्रश्न है। आचार्य शंकर ने अनेक युक्तियों के द्वारा

शब्द को ही ब्रह्माकार वृत्ति के प्रति असाधारण कारण माना है। मन केवल सहकारी कारण हो सकता है। मन की कारणता मानने पर प्रमा उत्पन्न हो नहीं सकेगी और यदि निदिध्यासन से कुछ वैलक्षण्य स्वीकार किया जायेगा तो इस वैलक्षण्य का निरूपण भी करना पड़ेगा एवं निदिध्यासन स्वयं भी मानसिक क्रिया-विशेष होने से नित्य ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकेगा। यह ठीक है कि जब तक चित्त एकाग्र नहीं होता तब तक सूक्ष्म विषय को ग्रहण करना सम्भव नहीं होता, परन्तु जैसे शब्दार्थ से अपरिचित व्यक्ति को वाक्य का ज्ञान नहीं होता इतने मात्र से शब्दार्थ ज्ञान को शाब्दी प्रमा का करण न मानकर वाक्य को ही उस प्रमा का करण माना जाता है, एवं शब्द-ज्ञान को सहकारी कारण, इसी प्रकार चित्त की एकाग्रता के बिना सूक्ष्म तत्त्व समझ में नहीं आता इतने मात्र से निदिध्यासन को आसाधारण कारण नहीं माना जा सकता। परन्तु यह भी स्वीकार करना ही पड़ेगा कि अद्वैत वेदान्त में आचार्य शङ्कर के पूर्व भी ब्रह्मसिद्धिकार इत्यादि परिसंख्यान नाम से निदिध्यासन को ही अव्यवहित पूर्व क्षण में उपस्थित होने से साक्षात् कारण मानते रहे हैं और इसीलिये आचार्य शङ्कर, आचार्य सुरेश्वर, आचार्य पद्मपाद आदि ने इसका विस्तृत खण्डन किया है। पस्तुतः ब्रह्मज्ञान के काल में ब्रह्माकार वृत्ति रहती हो ऐसी बात नहीं, वरन् मन स्वयं ही वृत्ति के अभाव में ब्रह्मरूप बन जाता है। जैसे रज्जुज्ञानकाल में सर्प रस्सीरूप से नहीं दीखता वरन् सर्प स्वयं ही अपने अधिष्ठान कारण रूप से रस्सी ही है और रस्सीवत् ही उसका भान होता है, इसी प्रकार से मन अधिष्ठान रूप से ब्रह्म ही है और अन्य सभी आकारों का अभाव हो जाने पर, यहां तक कि शून्यरूप अविद्याकार भी न रह जाने पर अधिष्ठान ब्रह्मरूप से प्रतीत हो जाता है। योगवासिष्ठ में इसे काफी विस्तार से बताया गया है। यदि ब्रह्माकार वृत्ति को वृत्ति रूप ही माना जाये तब तो निदिध्यासन की कुछ उपयोगिता रह भी जाती है, अन्यथा तो वैराग्य की तीव्रता से मन किसी अन्य आकार का न होकर वेदान्त महावाक्य द्वारा संस्कारित होने से केवल अधिष्ठान रूप में रह जायेगा।

उस पक्ष में निदिध्यासन सर्वथा ही नहीं रह पायेगा। वामदेव आदि ऋषियों में निदिध्यासन की सम्भावना ही नहीं है। **'तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः'** इत्यादि अनुभववाक्य भी दृढ़ वैराग्य वालों में सद्यः ब्रह्मस्वरूप की स्थिति का प्रतिपादन करते हैं। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य शङ्कर का बल श्रवण के पूर्व सर्वकर्मसंन्यास पर है। अतः वैराग्य की पूर्णता एवं बाह्य व्यवहार का प्रायः त्याग है। अतः श्रवण की दृढ़ता होने पर किसी भी कारण के बिना ही मन आत्मस्वरूप में स्थित हो जायेगा। परन्तु अन्य विचारक श्रवण के पूर्व संन्यास पर जोर नहीं देते, एवं ज्ञान-साधना तथा संन्यास का सहसमुच्चय स्वीकार नहीं करते। अतः उन्हें घूम फिर कर निदिध्यासन पर जोर देना पड़ता है। निदिध्यासन का वास्तविक तात्पर्य सभी बाह्य व्यवहारों को छोड़कर एक चिंतन में लगना ही तो है। इस प्रकार से वे मानो श्रवण के बाद संन्यास पर जोर दे रहे हैं और भाष्यकार श्रवण से पूर्व। हर हालत में ज्ञान के प्रति अन्य व्यवहार का त्याग, चाहे वह उपासनारूप मानसी त्याग हो या कर्मसंन्यासरूप बाह्य त्याग हो, वेदांतवाक्यजन्य अखण्ड बोध मोक्ष के प्रति कारणरूप से दोनों को स्वीकृत है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह मानना ही पड़ेगा कि निदिध्यासन भी निवृत्ति में ही गतार्थ है, ज्ञान की दृढ़ता में नहीं। ज्ञान तो उत्पन्न होते ही

प्रमा रूप होने से दृढ़ होता है। श्रवण-जन्य ज्ञान निदिध्यासन से दृढ़ होता है ऐसी कुछ बात नहीं, वरन् निदिध्यासन द्वारा अन्य वृत्तियों से हटा हुआ मन ही स्वरूप भाव को प्राप्त हो पाता है। ज्ञान के प्रति कारण तो हर हालत में वाक्यबोध ही मानना चाहिये।

आज का युग विचार का युग है। यदि भविष्य में विज्ञान की तथा भिन्न-भिन्न स्तरों पर रहने वाली मानवता की उपलब्धियों का अध्ययन आगे बढ़ता रहा तो कोई भी धर्म जो केवल कुछ मान्यताओं के आधार पर जीवित रहता है मानव के मन को न संतोष दे पायेगा और न गति। विश्व में आज सर्वत्र धर्म अपने आपको हीन अनुभव करने लगा है एवं अपनी सत्ता बनाये रखने के लिये प्रकारान्तर सोचने लगा है। धर्म मानव-जीवन को सुखी कर सकता है यह मानकर धर्म के आधार पर अनेक हितकारी कार्य प्रारम्भ करके उसे जीवित रखने का प्रयास किया जाता है। परन्तु यह कार्य तो बिना धर्म के भी हो सकता है। अतः जब तक धर्म यह सिद्ध न कर सके कि उसमें कोई एक ऐसी शक्ति है जो और किसी चीज में नहीं तब तक धर्म की वास्तविक आवश्यकता सिद्ध नहीं हो सकेगी। एक वह युग था जब समग्र जीवन धर्म के लिये था और आज चक्र पूरा होकर धर्म को अपनी सत्ता बनाये रखने के लिये जीवन के किसी अंग में प्रवेश करना पड़ता है। यह धर्म की अति दीनावस्था है। वेदान्त धर्म को इस दीनावस्था से हटाकर समग्र जीवन का आधार बना देता है और पुनः धर्म की उसी प्रतिष्ठा को कायम करता है कि सभी विज्ञान, सभी दर्शन, सभी सामाजिक मान्यतायें जिसके लिए हैं वही वास्तविक धर्म है।

वह द्रष्टा साक्षी अंतर्यामी ही उद्देश्य है बाकी सब गौण हैं। जीवन को अनुप्राण देता है वेदान्त धर्म, न कि जीवन के किसी अंग विशेष को पूर्ण करने का प्रयत्न करता है। धार्मिक व्यक्ति हितकारी कार्यों में प्रवृत्त तो स्वभावतः हो ही जायेगा, धर्म ने केवल उसको इतना ही योगदान दिया हो यह बात नहीं है। आचार्य शङ्कर का सर्वकर्म-संन्यास-पूर्वक आत्मबोध का सिद्धान्त इसीलिये आधुनिक युग को एक बहुत बड़ा संदेश है। इदानीं काल में उनकी दृष्टि को किसी न किसी प्रकार से जीवन का अंग बताने का प्रयास किया जाता है, यह उनके साथ अन्याय है। परन्तु वेदान्त की सबसे बड़ी देन है कि वह नैष्कर्म्य को भूषण बनाता है। नैष्कर्म्य अर्थात् समग्र जीवन में प्रतिक्षण में ज्ञान को भर देना। इस नैष्कर्म्य भाव की प्राप्ति की तरफ प्रवृत्ति कराने में यह ग्रन्थ उपयोगी हो, यही हमारी प्रार्थना है। अनेक संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन करने पर भी व्यक्ति जिन विषयों को पूरी तरह से नहीं समझ सकता उन्हें इस हिन्दी ग्रन्थ के माध्यम से समझा जा सकेगा।

शोधप्रबन्ध लिखने के काल से ही विदुषी लेखिका ऊर्मिला के साथ हमारा अति घनिष्ठ स्नेह-सम्पर्क रहा है। उसकी आन्तरिक श्रद्धा, अध्ययन में तत्त्व को ग्रहण करने की अभिरुचि, मन में औदार्य और शान्ति, बुद्धि में वैराग्य का अनुप्राणन, सौजन्य और शील ही हमें आकर्षित करता रहा है। इस शोधप्रबन्ध के माध्यम से जो वृत्ति का विचार प्रकट हुआ है वह परिपूर्ण रूप से उसके हृदय में अद्वैत आत्मज्ञान को प्रतिष्ठापित करे एवं वह नैष्कर्म्यभाव को प्राप्त कर उस परम शान्ति का केन्द्र बने जो समग्र विश्व का परिचालन उसी अद्वैत तत्त्व की तरफ करती है। अकर्म में कर्म-दर्शन और कर्म में अकर्म दर्शन ही तो वास्तविक नैष्कर्म्य है। हमें

पूर्ण विश्वास है कि इस शोधप्रबन्ध से जो ग्रन्थमालिका प्रारम्भ होगी वह वेदान्त के अनेक पक्षों पर प्रकाश डालती रहेगी एवं हिन्दी भाषाभिज्ञों को संस्कृत के मार्मिक ग्रन्थों में से भ्रमर की रीति से मधुसंचय करके उपलब्ध कराती रहेगी ।

अथर्वोपाकर्म ॥ वैक्रमाब्द ॥ २०३४ — भगवत्पादीयो
शंकरमठ । अर्बुदाचल — महेशानंदगिरिः

[परमहंस-परिव्राजकाचार्य-श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ श्रीनिरञ्जनपीठाधीश्वर]

प्रस्तावना

जो कुछ अनुभवगोचर है, इस का मूलभूत तत्त्व क्या है ? कैसा है ? क्या करता है ? क्यों करता है ? उस मूलभूत तत्त्व से इन अनुभूयमान सब कुछ का कितना और कैसा सम्बन्ध है ? उस तत्त्व का भी अनुभव सम्भव है या नहीं ? यदि है तो कैसे ? कितना ? किसको ?—इसी की खोज दर्शन है (भारतीय दृष्टि में)। इस जिज्ञासा-परम्परा में भी मुख्य दिदृक्षा दो ही हैं—क्या है ? कैसे दिखे ? तत्त्व का स्वरूप क्या है तथा उसके अनुभव का स्वरूप, उपाय एवं प्रकार क्या हैं—इन दो जिज्ञासाओं से प्रवृत्त विचारों का परस्पर निरपेक्ष अस्तित्व सम्भव नहीं। तत्त्व क्या है—इसी की मान्यता पर अनुभव के स्वरूप, और प्रकार आदि का चिन्तन निर्भर है, इस प्रकार तत्त्वमीमांसा और अनुभव-मीमांसा ये दोनों दर्शनमात्र के अविभाज्य-अनिवार्य दो पक्ष हैं।

तत्त्वमीमांसा अर्थात्—'क्या ?' के विश्लेषण में ही आगे बढ़ते हुए 'क्यों ?' पर पहुँचने से रसमीमांसा (चिद्विकास-आनन्दविलास); आधुनिक परिभाषा में Aesthetics का क्षेत्र आता है और 'कैसे दिखे ?' के विश्लेषण में 'कौन देखे ?'—(अधिकारी) 'क्यों देखे ?' (प्रयोजन) के पक्ष से धर्मशास्त्र एवं साधना का क्षेत्र आता है जो भारतीय दर्शन के अविना-भावी (पृथक् न किये जा सकने वाले) अङ्ग हैं। एक में अनन्त और अनन्त में एक को युगपत् देखने-दिखाने में समर्थ सवितृ-रूपा भारतीय प्रज्ञा ने तत्त्व एवं उसके अनुभव के निगम-रूप में साध्यप्रवण एवं आगम-रूप में साधन-प्रवण व्याख्यान दिये हैं। पूर्ण की सन्तति होने से ये दो धारायें भी अपने-आप में दिदृक्षा-रेखा के दोनों छोर समेटे हुए पूर्ण ही हैं।

इन दोनों ही धाराओं से सिञ्चित सभी क्यारियों (आचार्य एवं ग्रन्थ) उस सम्पूर्ण लक्ष्य के अनुरूप ही समग्र प्रतिपादन से समृद्ध हैं। किन्तु आधुनिक परिप्रेक्ष्य से कुण्ठित इस लेखिका की अल्पग्राहिणी मति, एक-साथ सब कहने के सामर्थ्य के अभाव में, प्रस्तुत प्रबन्ध में केवल आरम्भक दो दृष्टिकोणों से दिदृक्षित को देखने का प्रयास कर पाई है। सच्चिदानन्द तत्त्व के चित् एवं आनन्द पक्षों के विकास-विषयका रसमीमांसा तथा वस्तुतः तत्त्वाधिगम के उपाय-विचार-विषयक साधनमीमांसा (जिसमें आगम धारा का अधिकांश भाग तथा निगम धारा के—कर्म एवं उपासना—ये दोनों काण्ड व्यापृत हैं) का सविधि चरण स्पर्श भी यहाँ नहीं किया जा सका है। केवल ज्ञानकाण्ड का भी एक ही पक्ष कथञ्चित् किञ्चित् देखने में आया है। पूर्णदृष्टि की प्रतीक्षा में पूर्णदिदृक्षा समाहित है; और पूर्ण में से पूर्ण न देख पाने पर भी जो दिखा वह भी वस्तुतः पूर्ण ही है—ऐसी श्रुति से आश्वस्त यह अल्पदृष्टि यहाँ "भूमा" के तत्त्व एवं ज्ञान के ग्रन्थाधारित आभासात्मक दर्शन में ही युक्तप्रयत्न है।

अद्वैत-वेदान्त-दर्शन में परतत्त्व और अनुभव या ज्ञान अभिन्न हैं। किन्तु वह पारमार्थिक स्थिति है, जहाँ अनुभावित, अनुभाव्य और अनुभव की त्रिपुटी नहीं है, निर्विकल्प, स्वप्रकाश

बोध अपने आप में विराजमान है, उससे इतर अतिरिक्त कहीं कुछ है ही नहीं। किन्तु जिस स्थिति में विचार किया जाता है, वह व्यावहारिक है। वहाँ तत्त्व त्रिविध स्वीकार्य है—जगत्, जीव और इन दोनों का नियामक एवं इन दोनों से महनीय एक अन्य तत्त्व। वहाँ ज्ञान है ज्ञाता व ज्ञेय अथवा जीव व जगत् का सम्पर्क विन्दु। पारमार्थिक स्थिति से व्यावहारिक स्थिति का क्या सम्बन्ध है इसकी आलोचना में मायावाद का उद्भव है। माया से परतत्त्व के सम्पर्क के विश्लेषण में विचारक-मति-वैचित्र्य के अनुसार अनेक वाद प्रसृक्त हैं, जिनमें जीव व जगत् के स्वरूप पृथक्-पृथक् हैं। इसीलिये विभिन्न वादों के अनुसार जीव व जगत् के सम्पर्क-सूत्र-ज्ञान का भी स्वरूप पृथक्-पृथक् है। इस पार्थक्य को ध्यान में रखते हुए पारमार्थिक स्थिति के ज्ञान का व्यावहारिक स्थिति के ज्ञान से क्या सम्बन्ध है—इसे देखने में प्रवृत्त होने पर 'वृत्ति'-पदार्थ से परिचय होता है। उस वृत्ति के स्वरूप, उपयोग एवं प्रकारों का सविशेष विवेचन प्रस्तुत प्रवन्ध में यथावसर साधित है।

इस विवेचन में अनिवार्यतः अपेक्षित सामग्री के रूप में परमतत्त्व का पारमार्थिक स्वरूप, व्यावहारिक स्थिति की उपपादिका माया एवं अध्यास, इस माया से उपहित तत्त्व के चैतन्य-प्रधान रूप ईश्वर तथा जीव, एवं जड़ता-प्रधान रूप जगत्—इत्यादि का विचार किया गया है। वृत्ति के आश्रय, विषय एवं उपयोग को समझने के लिये भी जीव तथा जगत् के स्वरूप एवं परमतत्त्व से इनके सम्बन्ध का विचार प्राप्त होता है। वृत्ति के भेदों के निरूपण में ज्ञान के सभी प्रकार लक्ष्यभूत हैं, अतः सभी ज्ञानभेद चर्चित हुए हैं, उनमें से प्रत्यक्ष तथा शाब्द ज्ञानों पर अधिक अवधान केन्द्रित हुआ है क्योंकि व्यावहारिक ज्ञान की स्थिति कहाँ तक है, तथा कब व कैसे व्यावहारिक ज्ञान के साथ-साथ ज्ञाता व ज्ञेय के भी पारमार्थिक ज्ञान में तिरोहित हो जाने से पारमार्थिक अखण्ड-अद्वय-बोध-मात्र स्थिति प्राप्त होती है—यही अद्वैत वेदान्त दर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य है, अतएव तदन्तर्गता ज्ञानमीमांसा का भी चरम लक्ष्य यही है।

इसी दृष्टिकोण के आधार पर प्रस्तुत प्रवन्ध के दो पक्ष बने हैं—तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा* जिन में प्रथम द्वितीय की आधार भूमि है। क्या, क्यों, कैसे, कैसा, कितना, कहाँ तक ?—ऐसी षण्मुखी जिज्ञासा दोनों मीमांसाओं की प्रेरिका है; यथासम्भव तदनुरूप ही परिच्छेद-क्रम दोनों में प्रकल्पित है। अतएव पूरे प्रवन्ध में द्वादश परिच्छेद हैं।

तत्त्वमीमांसा में क्यों ? और कैसे ? के उत्तरभूत अविद्या एवं अध्यास में क्रम-तारतम्य कहना कठिन था, परस्पराश्रित विवेचन के कारण अध्यास प्रतीयमान है जिसका निमित्त या कारण खोजने से अविद्या मिलती है। क्योंकि व्यावहारिक स्थिति में सुषुप्ति में अध्यास नहीं किन्तु कारणरूप अविद्या विद्यमान है। उस अविद्या का स्वरूप आध्यासिक है और अध्यास

---

* पीएच० डी० उपाधि के लिये स्वीकृत रूप में इस प्रबन्ध का शीर्षक था—"अद्वैत वेदान्त में वृत्ति की धारणा' तब भी तदन्तर्गत उपर्युक्त शीर्षक वाले दो खण्ड थे ही; अब प्रकाशन के समय उन खण्ड-शीर्षकों को मुख्य शीर्षक में समाविष्ट कर लिया गया है क्योंकि पूर्ववर्ती शीर्षक अव्यास या अपूर्ण प्रतीत होता था।

आविद्यक है, एक शब्द में कहें तो दोनों 'मिथ्या' हैं जिनमें कार्यकारण-भाव उपपन्न नहीं और अनुपपत्ति ही इन दोनों की साधिका है। तब भी व्यावहारिक दृष्टि से कारण के उपरान्त कार्य के आविर्भाव का क्रम लेकर एवं तत्तदुल्लेखी वाङ्मय का इतिहास-गत क्रम देखकर ही पहले अविद्या, फिर अध्यास का निरूपण किया गया है।

इसी प्रकार ज्ञानमीमांसा में क्या ? क्यों ? कैसे ? के उत्तर-स्वरूप ज्ञान की तात्त्विक स्थिति एवं प्रक्रिया के सामान्य विश्लेषण के पश्चात् कैसा ? कितना ? कहाँ तक ? के उत्तर में ज्ञान के प्रमा एवं प्रमेतर रूपों के उल्लेख का क्रम पहले प्रमेतर का, फिर प्रमा का निरूपण रखा गया है क्योंकि प्रमा के चरम रूप ब्रह्मज्ञान के पश्चात् अप्रमा या इतर ज्ञान-विधाओं का अवकाश ही नहीं रहता।

प्रस्तुत प्रवन्ध में विषय-विवेचन की पद्धति प्रायशः ऐतिहासिक दृष्टि से प्रेरित है किन्तु 'इतिहास' की धारणा कुछ नवीन है। उसका स्पष्टीकरण यहाँ उचित ही प्रतीत होता है। तथाहि, वैदिक वाङ्मय के काल-निर्धारण एवं तदाधारित विचार्य-विकास की पाश्चात्त्य दृष्टि के प्रति लेखिका की आस्था नहीं है। क्योंकि भारतीय चिन्तन-पद्धति से तथा असङ्कीर्ण उदात्त वैज्ञानिक दृष्टि से भी वेद-दर्शन करने पर अतिशय गूढ़-गम्भीर ऋगादि मन्त्रों को मानव-चेतना के विकास के शैशव के अभिव्यञ्जक मानना अनुचित ही प्रतीत होता है। समग्र वैदिक वाङ्मय के साङ्गोपाङ्ग परिनिष्ठित अध्ययन द्वारा वैदिक वाणी का मर्म समझे विना केवल नवीन भाषाविज्ञान एवं नृतत्त्व या पुरातत्त्व-विज्ञान के सहारे वेद के शब्दों का अर्थ लगाना और उसका स्तर-निर्णय करना प्रामाणिक नहीं; जबकि प्रसिद्ध है—**"बिभेत्यल्प-श्रुताद् वेदो मामयं प्रहरेदिति"**।

अवश्य ही 'जगद्गुरु वेद' की 'सर्वतोव्यापनक्षमा' भाषा में यह गुण है कि सभी स्तरों के जिज्ञासु उस अमेय निधि में अपनी जिज्ञासा एवं उसका समाधान दोनों प्राप्त करते हैं, इसीलिए वैदिक वाणी में सामान्यतम मनुष्य के लिये भी अगम्य 'अपरोक्षैकगम्य' तत्त्व का मूल प्रामाणिक प्रतिपादन भी वेदवाक्य ही करते हैं।

सर्वथा बाह्य दृष्टि से विचार करने पर भी कहा जा सकता है कि प्रकृति के अत्यन्त समीप रहते हुए ऋषिगणों ने प्रकृति के भीतरी तत्त्व का साक्षात् सीधे सम्पर्क से अनुभव किया तो उसके भीतर प्रवेश करने पर सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतम की ओर बढ़ते जाने की सम्भावना में उन क्रान्तद्रष्टाओं का पथ इतना प्रशस्त होता चला गया कि प्रकृति में अनुभवगोचर प्रत्येक क्रिया-कलाप या स्थिति-गति की प्रत्येक दशा उनके लिये केवल अद्भुत रहस्यभरी न रहते हुए सर्वरहस्याख्यायी आह्लादक ज्ञान का अक्षय उत्स बन गयी—**"यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।"** उसे कहने की अदम्य स्फूर्ति ने ऐसी प्रबल सामर्थ्य-भरी वाणी का आकार लिया जिसमें युगपत् आधिभौतिक-आधिदैविक-आध्यात्मिक—ऐसे तीन स्तरों के अर्थ व्यक्त होने के साथ ही, और भी अनन्त दृष्टिकोणों के अर्थ की सम्भावना का द्वार खुला रहा। इसीलिये वह वेदवाणी अपनी अपेक्षा उत्तरकालीन समस्त ज्ञान-विधाओं के वाङ्मय का मूलाधार बनी।

यह आधारता विधिमुख से हो या निषेधमुख से 'आस्तिक' और 'नास्तिक' दर्शनों

की दृष्टि से किसी भी मनीषी की वाणी से इस आधारता का अपलाप नहीं हुआ। यहाँ तक कि पाश्चात्य चिन्तन की भी प्रमुख दोनों धारायें (दार्शनिक तथा वैज्ञानिक) वेदवाणी द्वारा प्रकटीकृत तथ्यों से बाहर नहीं जा सकीं।

उस वेदवाणी में या वेददर्शन की अनुभूतियों में दिखने वाले विरोधाभासों की सङ्गति बैठाने तथा सुलभ्य सुगम व्याख्या के लिए ही—आन्वीक्षिकी, मीमांसा, धर्मशास्त्र एवं इतिहास-पुराण—इन चार उपाङ्गों के रूप में दर्शन, स्मृतियाँ एवं काव्य उद्‌भूत हुए। आधुनिक वैज्ञानिक बाहर से ही कार्य-कारणभाव की दृष्टि से प्रकृति-मात्र को देखते हैं, अतः उसके नानात्व के ही अधिकाधिक प्रसार की ओर बढ़ते जाते हैं, सब में अनुस्यूत एक की ओर उनकी दृष्टि नहीं लौटती। वैदिक दृष्टि ने मूलान्वेषण को प्रथम कर्तव्य माना, अतः शाखा-पल्लव स्वयं हस्तामलक बन गये।

उस वैदिक दृष्टि का निविड़-घन सार तत्त्व उपनिषदों में संगृहीत है, अत एव मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद वृषभ का यह 'तुरीय पाद' वेदान्त' या 'वेदमूर्धा' कहलाया। उसी का साक्षात् प्रतिनिधि है वेदान्त दर्शन। इस दर्शन का प्रथम आकलन 'ब्रह्मसूत्र' में हुआ। व्याख्या या भाष्य-सापेक्ष सूत्रों के व्याख्यान दर्शक-मति-वैचित्र्य के कारण 'अभिधा' से ही—'विविध आख्यान' बन गये और 'वेदान्त' विविध विशेषणों से विशेषित हुआ। किन्तु मूलवेदान्त= उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र पर प्रथम समग्र भाष्य भगवत्स्वरूप आदिशङ्कराचार्य द्वारा प्रणीत हुए जिनकी प्रतिपादन-पद्धति की पहली कड़ियाँ थीं योगवासिष्ठ महारामायण एवं माण्डूक्यकारिका। इनमें प्रतिपादित सिद्धान्त पूर्णतया अद्वैतपरक होने से तदनुयायी शाङ्करभाष्यों का प्रतिपाद्य दर्शन भी 'अद्वैत' नाम से विशेषित वेदान्त कहलाया।

वेदान्त की इस अद्वैत धारा के पारिभाषिक 'दर्शन'-ग्रन्थों में परिगणित न होने पर भी समग्र प्रतिपाद्य की दृष्टि से 'योगवासिष्ठ' 'वासिष्ठमहारामायण' अथवा 'ज्ञानवासिष्ठ' आदि नामों से सुविज्ञात ब्रह्माद्वयत्व-परायण ग्रन्थ ही अद्वैतदर्शन का प्रथम उपलब्ध प्रतिपादक है। इसका वर्तमान स्वरूप पूर्णतया वाल्मीकिकृत भले न हो किन्तु इस वृक्ष का बीज श्रुतियों से लेकर वाल्मीकि द्वारा ही अधिकारी जिज्ञासु की मनोभूमि में आरोपित अवश्य है। प्रतिपादन-शैली एवं शब्दप्रयोग आदि की दृष्टि से भी इसका आविर्भाव-काल अद्वैत वेदान्त-दर्शन के आदि व्याख्याता आचार्य शङ्कर से प्राचीनतर तो मान्य है ही,[1] किन्तु उनके भी परमाचार्य गौड़पाद से भी प्राचीनतर होना बाधित नहीं। अतएव प्रस्तुत प्रबन्ध में प्रायः प्रत्येक सिद्धान्त-बिन्दु का विवेचन योगवासिष्ठ से प्रारम्भ किया गया है। उसके पश्चात् गौड़पादीया माण्डूक्यकारिका इतिहासक्रम-प्राप्त है। फिर औपनिषद् एवं शारीरकादि-भाष्यकार आचार्य शङ्कर से लेकर सदानन्द यति पर्यन्त प्राचीन आचार्यों के तत्तद्विषयक प्रतिपादनों को सर्वथा तटस्थ रीति से देखा गया है। अतः प्रकरण-ग्रन्थ में जैसे किसी मत-विशेष के प्रति आग्रह रखते हुए विषय-विवेचन में प्रवृत्त हुआ जाता है, वैसा नहीं है। निष्कर्ष-रूप सिद्धान्त पहले से अभिमत नहीं,

---

१. द्रष्टव्य—डॉ० बी० आत्रेय कृत 'योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त' में द्वितीय परिच्छेद।

आचार्यकृत प्रतिपादनों के क्रम से ही विचार का विकास देखते हुए विषय का निष्कृष्ट रूप देखने का प्रयास किया गया है।

प्रायः प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में उस-उस परिच्छेद के सारभूत अभिप्राय के व्यञ्जक कुछ श्लोक अधिकतर 'श्रीमद्भागवत' एवं क्वचित् 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' से उद्धृत किये गये हैं, ये दोनों ग्रन्थ क्रमशः वैष्णव तथा काश्मीर शैव दर्शनों के जीवन-धन होते हुए अद्वैत-वेदान्त वीज के सरसफल-रूप हैं, अतएव अद्वैत-प्रतिपादन-शील लेख का अलङ्करण इन ग्रन्थों की पंक्तियों से करने की इच्छा हुई। इन्हें सन्दर्भ का रूप देना अभिप्रेत न होने के कारण अध्याय-श्लोकादि संख्या नहीं दी गई है।

मुद्रण में परसवर्ण-सन्धिनियम का पालन संस्कृत-उद्धरणों में प्रायः सर्वत्र किया गया है, किन्तु टङ्कित लिपि से मुद्रण की समस्या को ध्यान में रखते हुए हिन्दी में कदाचित् शिथिलता भी हुई है। मुद्रण की अशुद्धियाँ न्यूनतम रहें—इसके लिये प्रयास अवश्य सभी ओर से हुआ है, फिर भी चेतन तथा अचेतन के योग से निष्पन्न कार्य सर्वथा अव्यङ्ग होना दुष्कर ही है; अतः अवशिष्ट अशुद्धियों के लिये क्षमाप्रार्थिनी हूँ।

यह प्रबन्ध जिनकी समर्थ दृष्टि की ही सृष्टि, अथवा अकुण्ठ ईक्षण का फल है, तथा जिनकी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष उभयविध कृपा से पुष्ट होता हुआ यह चित्त इस प्रबन्ध का उपादान बन पाया, वे प्रातःस्मरणीय, पूजितचरण, सर्वदा सश्रद्ध प्रणम्य गुरुजन हैं—अनन्त-श्रीविभूषित स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती, म०म० श्री गोपीनाथ कविराजजी, ब्रह्मर्षि दैवरात जी, सुमेरुपीठाधीश्वर शङ्कराचार्य स्वामी महेश्वरानन्द सरस्वती, महामण्डलेश्वर स्वामी गङ्गेश्वरानन्द उदासीन एवं श्रीनिरञ्जनपीठाधीश्वर स्वामी महेशानन्द गिरि। प्रबन्ध के प्रकाशन के अवसर पर आज प्रथम चतुष्टय के यशःकाय-चरणों में ही अनन्त प्रणाम निवेदित करने को विवश हूँ।

परमपूज्य स्वामी महेशानन्द गिरि जी की इस प्रबन्ध पर सविशेष कृपा रही है; पहले लिखते समय सिद्धान्त-विषयक संशय-समस्याओं का समाधान तथा उपाधि (पीएच्० डी०) मिलने के पश्चात् इसे अक्षरशः पूरा सुनते हुए अनेक स्थलों पर सिद्धान्त-शुद्धि करवाना, इसके प्रकाशन के लिए लेखिका में साहस भरना, एवं भूमिकात्मक आशीर्वचन से इस की समृद्धि—इस कृपा के ही परिणाम हैं।

तदनन्तर दुरूह-ग्रन्थ-आलोड़न में साक्षात् सहायक बनते हुए जिन गुरुजनों ने सुदीर्घ अवधि तक अपना अमूल्य समय मुझे सस्नेह दिया, (सन् १९६५-६९ में) उनके प्रति अतिशय कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए सविनय प्रणाम निवेदित हैं। वे हैं—पं० श्री वे०सु० रामचन्द्र शास्त्री (का० हि० वि० के संस्कृत महाविद्यालय के भूतपूर्व अध्यक्ष) जिनके समीप वेदान्त कौमुदी, स्वाराज्यसिद्धि तथा अद्वैतसिद्धि—द्वितीय परिच्छेद के अध्ययन का सुयोग मिला; पं श्री दीनानाथ झा (वहीं भूतपूर्व दर्शनविभागाध्यक्ष) जिनके समीप 'व्याप्तिपञ्चक', 'सिद्धान्तलक्षण' तथा 'अद्वैतसिद्धि'—प्रथम परिच्छेद के सम्पूर्ण अध्ययन एवं अन्यान्य अनेक वेदान्तग्रन्थों के दुरूह स्थलों पर यथाकाम व्याख्या सुनने का सुयोग पाया; तथा डॉ० प्रो० श्री सिद्धेश्वर

भट्टाचार्य (का० हि०वि० के संस्कृत-पालि-विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष) जिनके समर्थ निर्देशन में 'अद्वैत वेदान्त में वृत्ति-धारणा' शीर्षक के अन्तर्गत शोध के रूप में अद्वैत-महासागर के अगाध प्राञ्चल में शिशुवत् खेलती हुई बुद्धि उसकी 'रत्नाकरता' कुछ-कुछ पहचान पाई। (सन् १९७० में यह शोध प्रबन्ध काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की पीएच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ था।)

इस प्रबन्ध की प्रकाशिका हैं—साहित्य-सङ्गीत-संस्कृति की सुसंस्कृत परिनिष्ठित विदुषी डॉ० प्रेमलता शर्मा (का० हि० वि० में सङ्गीतशास्त्रविभाग की अध्यक्षा)—जो मेरे कायिक सौभाग्य से दीदी हैं और वस्तुतः केवल वही नहीं; इस जीवनाङ्कुर को सभी ओर से सँभालते हुए बढ़ने का पूर्ण अवसर देने वाला 'माली' एवं सभी प्रकार की शिक्षा को जीवन-रस बनाने में सहायक गुरु भी हैं। उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन में समर्थ शब्द मेरी कल्पना में नहीं, केवल सश्रद्ध प्रणाम ही निवेदित है।

स्वच्छ, सुरुचिपूर्ण मुद्रण के लिए तारा प्रेस, कमच्छा, वाराणसी के स्वामी बन्धुद्वय—श्रीरमाशङ्कर पण्ड्या और श्रीविनयशङ्कर पण्ड्या हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

महाशिवरात्रि
मंगलवार, ७ मार्च, १९७८

श्रीगुरुजन-कृपाप्लाविता
ऊर्मिला

नया ई ५, जोधपुर कालोनी,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-५

संक्षेप-संकेतिका

अ० त० शु०	–	अद्वैततत्त्वशुद्धिः
अ० दी०	–	अद्वैतदीपिका
अ० दी० वि०	–	अद्वैतदीपिकाविवरणम्
अप०	–	अपरोक्षानुभूतिः
अ० सि०	–	अद्वैतसिद्धिः
इ० सि०	–	इष्टसिद्धिः
ईश०	–	ईशावास्योपनिषद्
ऋ० सं०	–	ऋग्वेदसंहिता
ऐत०	–	ऐतरेयोपनिषद्
कठ०	–	कठोपनिषद्
कठ० भा०	–	कठोपनिषद्-भाष्यम्
कन्द०	–	कन्दली (प्रशस्तपादभाष्यटीका)
क० प०	–	कल्पतरुपरिमलः
कारि०	–	कारिकावली
केन०	–	केनोपनिषद्
केन० भा०	–	केनोपनिषद्भाष्यम्
कै० उ०	–	कैवल्योपनिषद्
कौषी०	–	कौषीतक्युपनिषद्
खण्ड०	–	खण्डनखण्डखाद्यम्
गी०	–	भगवद्गीता
गी० शां० भा	–	गीता-शाङ्कर-भाष्य
छा० उ०	–	छान्दोग्योपनिषद्
तं० वा०	–	तन्त्रवार्त्तिकम्
त० चि०	–	तत्त्वचिन्तामणि
त० दी०	–	तर्कदीपिका
त० प्र०	–	तत्त्वप्रदीपिका
तर्क०	–	तर्कभाषा
त० वि० दी०	–	तत्त्वविवेकदीपनम् (वे० त० वि० पर स्वोपज्ञ टीका)
त० वै०	–	तत्त्ववैशारदी
त० सं०	–	तर्कसंग्रहः

तै० आ०	– तैत्तिरीयम् आरण्यकम्
तै० उ०	– तैत्तिरीयोपनिषद्
तै० ब्रा०	– तैत्तिरीयब्राह्मणम्
तै० भा०	– तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यम्
त्रि० म० ना	– त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्
द० स०	– दर्शनसर्वस्वम् (खण्डनखण्डखाद्य पर शंकर चैतन्य-भारतीकृत भूमिकात्मक निबन्ध)
न० प्र०	– नयनप्रसादिनी (त० प्र० पर प्रत्यक्स्वरूपकृता टीका)
नृ० उ०	– नृसिंहोत्तरतापनी उपनिषद्
नै० सि०	– नैष्कर्म्यसिद्धिः
नै० सि० चं०	– नैष्कर्म्यसिद्धिचन्द्रिका (ज्ञानोत्तमकृता टीका)
न्या० कु०	– न्यायकुसुमांजलिः
न्या० परि०	– न्यायपरिशुद्धिः
न्या० वि०	– न्यायबिन्दुः
न्या० म०	– न्यायमकरन्दः
न्या० मं०	– न्यायमंजरी
न्या० र०	– न्यायरत्नावली
न्या० र० दी०	– न्यायरत्नदीपावलिः
न्या० वा० ता०	– न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका
न्या० सू०	– न्यायसूत्रम्
पं० द०	– पंचदशी
पं० पा०	– पंचपादिका
पं० पा० वि०	– पंचपादिकाविवरणम्
परि० प्र०	– परिभाषाप्रकाशिका
प० ल० मं०	– परमलघुमञ्जूषा
पा० महा०	– पातंजलमहाभाष्यम्
पा० सू०	– पाणिनीयसूत्राष्टाध्यायी
पू०	– पूरणी (त० वि० दी० पर अग्निहोत्रयज्वकृत व्याख्या)
प्र०	– प्रकाशः (भामती पर नवीन टीका)
प्र० पं०	– प्रकरणपंचिका
प्र० मा०	– प्रमेयकमलमार्त्तण्ड
प्र० मी०	– प्रमाणमीमांसा
प्र० वि०	– प्रकटार्थविवरणम्
प्रश्न०	– प्रश्नोपनिषद्
प्र० स०	– प्रमाणसमुच्चयः
बि० प्र०	– बिन्दुप्रपातः (सि० बि० पर नवीन टीका)

बृ० भा० वा०	–	बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिकम्
वृ० सं० वा०	–	बृह० उ० सम्बन्धभाष्यवार्त्तिकम्
बृह० उ०	–	बृहदारण्यकोपनिषद्
बो० पं०	–	बोधिचर्यावतारपंचिका
बो० सि०	–	बोधैक्यसिद्धिः
ब्र० बि०	–	ब्रह्मबिन्दूपनिषद्
ब्र० वि०	–	ब्रह्मविद्याभरणम्
ब्र० शां० भा०	–	ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्
ब्र० सि०	–	ब्रह्मसिद्धिः
ब्र० सू०	–	ब्रह्मसूत्रम्
भा०	–	भामती
भा० प्र०	–	भावप्रकाशिका (पं पा० वि० पर नृसिंहाश्रमकृत टीका)
भे० धि०	–	भेदधिक्कारः
भे० धि० स०	–	भेदधिक्कारसत्क्रियाव्याख्या (नारायणाश्रमकृत)
मा० उ०	–	माण्डूक्योपनिषद्
मां० का०	–	माण्डूक्यकारिका
मां० का० भा०	–	माण्डूक्यकारिकाशाङ्करभाष्यम्
मा० सू०	–	माध्यमिकसूत्रम्
मा० सू० भा०	–	माध्यमिकसूत्रभाष्यम्
मी० श्लो० वा०	–	मीमांसाश्लोकवार्त्तिकम्
मु० उ०	–	मुण्डकोपनिषद्
मुद्० भा०	–	मुद्गलकृतभाष्यम् (ऋग्वेद)
मै०	–	मैत्र्युपनिषद्
यो० भा०	–	योगभाष्यम् (व्यासभाष्यम्)
यो० वा०	–	योगवासिष्ठरामायणम्
यो० वार्त्ति०	–	योगवार्त्तिकम्
र० प्र०	–	रत्नप्रभा (ब्र० शां० भा० टीका)
ल० च०	–	लघुचन्द्रिका (अ० सि० टीका)
वा० प०	–	वाक्यपदीयम्
वा० भा०	–	वात्स्यायनभाष्यम्
वि०	–	विकास (भामतीटीका)
वि० चू०	–	विवेकचूडामणि :
वि० प्र० सं०	–	विवरणप्रमेयसंग्रह :
वेङ्कटभा०	–	वेङ्कटमाधवकृतभाष्यम् (ऋग्वेद–)
वे० क०	–	वेदान्तकल्पतरु :
वे० कौ०	–	वेदान्तकौमुदी

वे० त० वि० – वेदान्ततत्त्वविवेक :
वे० प० – वेदान्तपरिभाषा
वे० ल० – वेदान्तकल्पलतिका
वे० सि० मु० – वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली
शक्ति० – शक्तिवाद :
शत० ब्रा० – शतपथब्राह्मणम्
शा० दी० – शास्त्रदीपिका
शा० प्र० – शास्त्रप्रकाशिका (बृ० भा० वा० पर आनन्दाश्रमकृता टीका)
शा० भा० – शाबरभाष्यम्
श्वे० – श्वेताश्वतरोपनिषद्
श्वे० भा० – श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्यम्
स०सि०प०सं० – सर्वतन्त्रसिद्धान्तपदार्थलक्षणसंग्रह :
सं० शा० – संक्षेपशारीरकम्
सां० का० – सांख्यकारिका
सां० त० कौ० – सांख्यतत्त्वकौमुदी
सां० यो० द० – सांगयोगदर्शनम्
सा० भा० – सायणभाष्म्
सा० सं० – सारसंग्रह : (सं० शा० पर मधुसूदनी टीका)
सि० वि० – सिद्धान्तबिन्दु :
सि० मु० – (न्याय–) सिद्धान्तमुक्तावली
सि० ल० – सिद्धान्तलक्षणम्
स्कन्दभा० – स्कन्दस्वामिकृत-भाष्यम् (ऋग्वेद–)
स्या० वा० र० – स्याद्वादरत्नाकर :
स्वा० सि० – स्वाराज्यसिद्धि :
H. I. P. – A History of Indian Philosophy
P. W. – The Patent Wonder

विषयानुक्रमणी

प्रथम पक्ष (तत्त्वमीमांसा)

द्वितीय पक्ष (ज्ञान-मीमांसा)

प्रथम पक्ष—तत्त्व-मीमांसा

१. परमतत्त्व
२. अविद्या अथवा माया
३. अध्यास
४. अविद्या-सन्निहित आत्मा
५. उपहित आत्मा
६. जगत्

प्रथम परिच्छेद

परमतत्त्व

१. विषय-प्रवेश

क. मूलतत्त्व-जिज्ञासा का उदय एवं अनेक से एक की ओर बढ़ना

विचारशील मानव के जीवन में अपने सतत अनुभूयमान मानस व बाह्य स्थूल परिवेश तथा स्वयं अपने आप का मर्म समझने के लिए एक गहरी आकाङ्क्षा जागरित होती है। "मैं क्या हूँ ? मेरे अनुभव में आता रहने वाला (प्रतीतिगोचर) समस्त परिपार्श्व क्या है ? इसमें व मुझमें सम्बन्ध क्या है ? क्यों है ? कब से है ? कब तक रहेगा ? मैं तथा यह सब कुछ भी कहाँ से, कब से आए हैं ? मेरा और इस जगत् का प्रयोजन क्या है ? प्रतिक्षण सर्वत्र एक गतिशीलता दिखाई देती है, प्रत्येक वस्तु ही जो आज है, कल वह नहीं रहती जैसे नदी का जल प्रतिपल आता व जाता रहता है वैसा ही प्रवाह तो सभी कुछ के भीतर देख पाता हूँ, क्या ऐसा ही प्रवहनशील मैं भी हूँ ? क्या मुझे भी कहीं जाना है ? यदि हाँ, तो कहाँ ? यह आना व जाना वस्तुतः है क्या ?"—इत्यादि विचारों के दलदल में डूबना उतराना सहज ही आ पड़ता है। इस प्रश्न-परम्परा के उदय की प्रयोजिका है निखिल विश्व (जिसमें चिन्तक स्वयं तथा उसका सम्पूर्ण आन्तर-बाह्य परिवेश समाविष्ट है) के मूल की जिज्ञासा, और उसकी भी प्रयोजिका कहा जा सकता है स्वयं अपने स्वरूप की जिज्ञासा को। क्योंकि स्वयं 'अपने आप' के पश्चात् ही 'निखिल' की धारणा की सम्भावना है, यही आत्मजिज्ञासा है, जिसके समाधान में मनुष्य-जीवन की सार्थकता है।

सुदूर अतीत में, तत्त्वचिन्तन की प्रथम, अथ च परम व चरम अवस्था में उच्चरित चिन्तकों के इन उद्गारों में उक्त मूल जिज्ञासा की प्रथम स्पष्ट व्यक्ति मिलती है—

> को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्
> कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
> अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेन
> अथा को वेद यत आ बभूव॥[1]

---

१. ऋ० सं० १०।१२९।६। तथा च :—
को अद्धा वेद क इह प्र वोचद्
देवाँ अच्छा पथ्या का समेति॥ वही ३।५४।५।
को अस्य वीरः सधमादमाप॥ वही ४।२३।२।
को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य॥ वही १।८४।१६।

उक्त जिज्ञासा ने युगपत् दो चिन्तनधाराओं का प्रवर्तन किया, जिनमें से एक का लक्ष्य था अपने स्वयं से बाह्य रूप से प्रतीयमान सभी कुछ (बाह्य विश्व) का मूल उत्स खोजना और द्वितीय का लक्ष्य था स्वयं चिन्तक के वास्तविक स्वरूप को समझना। पहली धारा में बाह्य जगत् के मूल के स्थान पर नाना देवताओं की भावनायें विकसित हुईं, तो द्वितीय धारा ने कभी प्राण, कभी मन तो कभी विज्ञान इत्यादि में अपना अभिलक्ष्य पाया। किन्तु उपशम हुआ नहीं, तब कभी **"आत्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्"** (कठ.२.२०) इत्यादि उद्‌गारों में उसतत्त्व की दुरूहता अभिव्यक्त हुई, कभी उसे निखिल विश्व में अनुस्यूत एक जीवनतत्त्व के रूप में जाना, और उस एक सर्वसाधारण जीवनतत्त्व को अपने स्वयं के रूप में पाया।

इसी स्थिति के विचारकों में व्यक्ति व जगत् (जिज्ञासु तथा उसका परिवेश) के मध्य आनुरूप्य ढूंढने तथा एक के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण लक्षण के अनुरूप अपर का कोई लक्षण समझने की चेष्टा की प्रवृत्ति का उदय भी दिखाई पड़ता है। व्यक्ति के माध्यम से जगत् को समझने का प्रयास, अथवा ज्ञात-विशेष से अज्ञात-सामान्य में पहुँचने का प्रयास पुरुषसूक्त में स्पष्टतः अभिव्यक्त हुआ है, जहाँ जगत् के भागों को किसी एक मूल पुरुष के अवयव बताया गया है।[1] ऐसे ही एक अन्त्येष्टि सम्बन्धी सूक्त में[2] भी यही प्रयास दिखाई देता है, जहाँ व्यक्ति के प्राण को सार्विकीकरण के द्वारा विश्व-प्राण बनाकर जगत् को जीवित रखने वाले तत्त्व के रूप में दिखाया गया है। व्यक्ति और विश्व के आनुरूप्य की यह धारणा वैदिक युग के (उपनिषत्-पर्यन्त) सम्पूर्ण साहित्य में अनुस्यूत है।

इसी धारणा के प्रभाव से व्यक्ति व विश्व के भी किसी एक मूल से प्रकट होने का भाव विकसित हुआ।[3] वास्तव में वह कौन है? जिसकी खोज ने अग्नि, सविता, पूषा, इन्द्र,

---

क ईषते तुज्यते को बिभाय ॥ ऋ०सं० १।८४।१७।
क्व ऋतं पूर्व्यं गतं कस्तद् बिभर्त्ति ॥ वही १।१०६।४।
केन द्यौरुत्तरा हिता ॥ वही १०।२।२४।
केन महा मनसा रीरमाम ॥ वही १।१६५।२।

१. मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते।
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद् वायुरजायत।
नाभ्यासीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ॥ वही १०।९०।११-१४।

२. सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतिष्ठा शरीरैः ॥ वही १०।१६।३।

३. अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम् ॥ वही १।८९।१०।
यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥ वही १०।८२।३।
य एक इद् विदयते। वही १।८४।७।

मित्र, वरुण, अर्यमा, ब्रह्मणस्पति आदि-आदि शतशः शक्ति-अधिष्ठात्री देवताओं के प्रति मानव को नतजानु बनाया—यह जिज्ञासा अन्ततः इसी निष्कर्ष पर लाई कि अभिव्यक्तियाँ असंख्य भी क्यों न हों, वस्तुतः वह कोई एक तत्त्व है।[1] वही निखिल सचराचर पदार्थजात के भीतर-बाहर सब ओर है। 'होना' का जो भी रूप सम्भव है, वह सब वही एक ही तत्त्व है।[2] उसका स्वरूप केवल इतना ही नहीं जितना आपाततः प्रतीयमान है, प्रत्युत इसकी अपेक्षा अत्यधिक व्यापक है, वह जितना-सा गोचर है उससे कहीं अधिक अगोचर है।[3]

वह तत्त्व व्यक्ति के अपने मूल तत्त्व से पृथक् नहीं, यह तथ्य भी छिपा नहीं रहा और अनेकानेक विचारकों का बोध इस रूप में स्फुट हुआ—

"मैं ही वह हूं जो पहले पहल था................[4]
"मैं ही मनु था, सूर्य भी मैं हूं...............[5]
"मैं ही द्यावापृथिवी में प्रविष्ट हुआ था................[6]
"समस्त सृष्टि मुझसे ही हुई है................"इत्यादि।[7]

इस प्रकार संहिताकालीन तत्त्वचिन्तन की अभिव्यक्तियों में मनुष्य के आत्मा को विश्व का नित्य वर्तमान चरमतत्त्व मानने की प्रवृत्ति के क्रमशः बढ़ते जाने के संकेत मिलते हैं। फिर ब्राह्मण व आरण्यकों में भी मनुष्य व विश्व के एक ही भूत व सारभूत चरमतत्त्व की 'आत्मा' नाम से अभिव्यक्ति हुई है, जिसका ज्ञान-मात्र मनुष्य को अपहत-पाप्मा बना देता है,

---

१. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
ऋ०सं० १।१६४।४६।
यस्य द्यावापृथिवी पौंस्यं महद् यस्य व्रते वरुणो यस्य सूर्यः॥ वही ॥१।१०१।३४।

२. गर्भो यो अपां गर्भो वनानाम्॥
स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद् दशांगुलम्॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्॥
वही १०।९०।१,२।

३. पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥
वही १०।९०।३।

४. अहं सोऽस्मि यः पुरा सु ते वदामि कानिचित्।
तं मा व्यन्त्याध्यो ३ वृको न तृष्णजं मृगम्।
वित्तं मेऽस्य रोदसी॥ वही १।१०५।७।

५. अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिभिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा॥
वही ४।२६।१।

६. अहं द्यावापृथिवी आविवेश..........॥
वही १०।१२५।५।

७. अहं प्रजा अजनयं पृथिव्यां.......॥वही १०।१८३।३।

जो कभी विनष्ट नहीं होता,[1] जिससे रहित कुछ नहीं है, कोई दूसरा तत्त्व नहीं है,[2] जिससे रहित कुछ नहीं है, जो एक है,[3] पर चाहने पर अनेक भी हो सकता है, हो जाता है।[4]

उपनिषदों में भी वही मूल जिज्ञासा स्पष्टतः मुखर है।[5] उसका दुरूहता-पक्ष भी यथातथ बना हुआ है।[6] किन्तु दुरूह होने के कारण वह अवहेलना के योग्य कदापि नहीं है, यह भावना सुदृढ़ हो जाने से पूर्वोक्त जिज्ञासा अब जीवन का मूल प्रश्न बन बैठी, क्योंकि इस शरीर में रहते हुए ही उसे जाना जा सकता है, यदि न जानें तो महान् विनाश होगा[7]। अतः उपनिषत्काल में चिन्तकों की सम्पूर्ण शक्ति मानो इसी एक विषय पर केन्द्रित हुई है।

अनन्त में से एक की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति और अभिलषित एक तक पहुंचने का सुन्दर निदर्शन बृहदारण्यकोपनिषद् में शाकल्य व याज्ञवल्क्य के संवाद में मिलता है, जहां देवतासंख्या तीन हजार तीन से क्रमशः घटाकर एक तक लाई गई है। वह एक देवता है प्राण अर्थात् ब्रह्म।[8]

ख. आत्मन् व ब्रह्मन् शब्दों के अर्थ—

परमतत्त्व-विषयिणी मूलजिज्ञासा से प्रवृत्त पूर्व-वर्णित दो चिन्तनव्रततियों के फल-स्वरूप उस तत्त्व के दो नाम प्राप्त हुए 'आत्मन्' व 'ब्रह्मन्'। इनमें से पहला (आत्मन्) शब्द आरम्भ में 'शरीर' 'असु' 'श्वास' या 'प्राण' के पर्याय रूप में प्रयुक्त होता था,[9] फिर मनुष्य के भौतिक ढांचे से पृथक् उसकी आन्तरिक सारवस्तु पाने के प्रयत्न में रत चिन्तनधारा में 'आत्मन्' का अर्थ हो गया मनुष्य की जीवनीशक्ति या अन्तःस्थित चिद्रूप सारभाग (=तत्त्व)।[10] और भी बाद निखिल विश्व के चरमसारभूत तत्त्व के लिये आत्मन् शब्द

१. अहं वेद न मे मृत्युः ॥ तै० आ० १।१३।१।
२. अहं परस्तादहमवस्तात् ॥ शत०ब्रा० ४।४।२।१४।
३. अहं त्वदस्मि मदसि त्वदेतत् ॥ तै०ब्रा० ३।२।१।२०।
४. अहमेवेदं सर्वं भूयासम् ॥ शत०ब्रा० १४।९।३।१३।
५. केनेषितं पतति प्रेषितं मनः, केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति, चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥ केन० १।
६. यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ। केन० २।
७. इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं नो चेदवेदिर्महती विनष्टिः।
ये विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥ बृह०उ० ४।४।१४।
८. बृह०उ० ३।९।१-९।
९. आत्मा ते वातो रज आ नवीनोत् ॥ ऋ०सं० ७।८७।२।
आत्मानं ते मनसाऽऽरादजानाम् ॥ वही १।१६३।६।
आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भः ॥ वही १०।१६८।४।
आत्मन्वन् नभो दुह्यते घृतम् पयः ॥ वही ९।७४।४।
१०. आत्मा पितुस्तनुर्वासः। वही ८।३।२४।
आत्मा च मे तनुश्च मे। वा०सं० १८।३॥ तै०सं० ४।७।१।२।
आत्मनाऽऽत्मानमभि संविवेच ॥ वा०सं० ३२।२।

प्रयुक्त हुआ।[1] उपनिषत्काल में 'प्राण' शब्द के अर्थ को ही 'त्यत्' व 'ब्रह्म' नाम भी दिये गये। याज्ञवल्क्य द्वारा कथित एकमात्र देवता 'प्राण' का व्याख्यान 'त्यत्' व 'ब्रह्म' नाम से किया जाना इसका प्रमाण है।[2] वृह धातु से निष्पन्न ब्रह्मन् शब्द का संहिताओं में प्राप्त पहला अर्थ है प्रार्थना तथा अन्न[3] और धातुलब्ध अर्थ है बढ़ना या फूट पड़ना। प्रार्थना के रूप में ब्रह्मन् वह है जो स्वयं को श्रव्य वाणी के रूप में व्यक्त करता है, मूलतत्त्वान्वेषण के आन्दोलन में इसी का अर्थ हो गया विश्व का मूल या आधार या सारभूत तत्त्व जो केवल वाणी के रूप में नहीं, निखिल जगत् के रूप में स्वतः फूट पड़ता है।

ग. संहिता से उपनिषत् पर्यन्त चरम-तत्त्व-विषयक चिन्तन-प्रवाह—

संहिता काल में ही समस्त जगत् के एक कर्त्ता, नियन्ता की धारणा सुपुष्ट हो चुकी थी, जिसे प्रजापति, विश्वकर्मा इत्यादि नाम दिये गए थे। किन्तु वह दिव्य नियन्ता अब तक केवल एक देवता (सभी देवता जिस एक के विभिन्न स्वरूप हैं) के रूप में ही जाना गया था। क्योंकि मैं, यह जगत् तथा इन दोनों में अनुस्यूत व दोनों का मूल जो परम तत्त्व है, ये तीनों वस्तुतः एक हैं ऐसी भावना से प्रसृत परम तत्त्व का अन्वेषण पहले पराक् (Objective) दृष्टि से हुआ। तब वह तत्त्व उस देवता के रूप से ही जाना गया अर्थात् उस तत्त्व व देवता में अभेद समझा गया जो विश्व का निर्माता व विधाता है। उस समय उसे परम तत्त्व कहने व मानने पर भी मुझ में, जगत् में व उसमें भेदभाव स्थित है। उपनिषद् में उस देवता के स्वरूप और स्वभाव की खोज प्रसृत हुई। बहुत से प्राकृतिक तत्त्वों—जैसे सूर्य या वायु, तथा कुछ मानस तत्त्वों से उसकी तुलना की गई, पर कोई सन्तोषजनक न हो पाया। ऋषियों के चिन्तन का विषय तो एक ऐसा तत्त्व था जो मनुष्य व जगत् दोनों का युगपत् नियन्ता हो। प्रकृति के तो किसी भी तत्त्व में यह क्षमता नहीं है। इस प्रसंग में आरण्यकों के समान उपनिषदों में भी प्रतीकोपासना के आभास दिखाई देते हैं। प्राण को जीवन-व्यापार के प्रति सर्वाधिक अनिवार्य वस्तु समझा गया, इस प्राधान्य ने प्राण को परमतत्व के रूप में उपास्यता दी। व्यापकता की दृष्टि से सर्वोत्तम जान पड़ा आकाश, अतः वह भी उसी रूप में उपास्य बना। किन्तु वस्तुतः जिज्ञास्यमान वस्तु अभी भी नहीं मिली। तब समस्त गोचर पदार्थों में अपनी जिज्ञास्यता का निषेध (न इति न इति) करते हुए तत्त्वान्वेषक आगे बढ़ते चले, और अन्त में अपने जिज्ञास्य का स्वरूप पाया—अदृश्य, अग्राह्य, अव्यपदेश्य, अशीर्य, असंग, निष्फल,

---

१. आत्मने स्वाहा ॥ तै० सं० ७।३।१६।२।
आत्मा म आत्मनि श्रितः, आत्मा हृदये, हृदयं मयि,
अहममृतेऽमृतं ब्रह्मणि ॥ तै०ब्रा० ३।१०।८।९।

२. कतम एको देव इति, प्राण इति, स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते। बृह०उ० ३।९।९।

३. ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ॥ ऋ०सं० ७।१०३।८।
ब्रह्म च ते जातवेदो नमश्च ॥ वही १०।४।७।
ब्रह्मणा ते ब्रह्मयुजा युनज्मि ॥ वही ३।३५।४।
ब्रह्म प्रजावदाभर ॥ वही ६।१६।३६।
ब्रह्म प्रियं देवहितं यदस्ति ॥ ५।४२।२।

निष्क्रिय, निर्गुण, निराकार, निरवयव इत्यादि। वह वाणी तथा चिन्तन तक से परे है, अतः मौन ही उसका सर्वोत्तम व्याख्यान कहा गया।

यह तो हुआ उसके स्वरूप का जगत् की तुलना या अपेक्षा से देखा हुआ (निषेधात्मक) स्वरूप। यदि वह केवल निषेधरूप ही हो तो अन्ततः शून्य में ही पर्यवसित होगा। किन्तु प्रत्यक्-प्रत्यय (अपने-आपके बोध) से सिद्ध परम तत्त्व की सत्ता में गहन विश्वास रखने वाले[1] चिन्तकों को यह निषेधरूपता-प्रयुक्त शून्य में पर्यवसान यथार्थ व उचित नहीं प्रतीत हुआ, 'एकं सत्'[2] की धारणा की दृढ़ता उसके भावात्मक स्वरूप के अन्वेषण की प्रयोजिका बनी। तब जाना गया कि वह सत्यात्मक, ज्ञानात्मक, आनन्दात्मक भी है।[3] वह अकेला ही सब कुछ होकर विराजमान है। बाह्य, आभ्यन्तर जो कुछ भी 'है', वह उसी एक में से विसृष्ट है एवं उसी में निहित भी है। तथा सबका अतिक्रमण करके भी वही विराजित है।[4] वह सत् है, न कभी उत्पन्न हुआ न कभी नष्ट होगा, तब भी अजायमान होते हुए भी वह '**बहुधा विजायते।**'[5] वह जगत् का निर्माता-मात्र नहीं है, जगत् उसी का आत्मोत्सारण है। तभी तो जगत् को देखने पर वही दिखाई देता है '**सहस्रशीर्षा सहस्राक्षः सहस्रपात्**' रूप में।[6]

नेतिवाद में वह 'यह भी नहीं,' 'यह भी नहीं' था, इतिवाद में 'वही सब कुछ है' हो गया। इन दोनों के भी पार देखने पर समझ में आया कि वह 'नेति' वा 'इति' या 'नहीं है' व 'है' की सीमाओं से बँधा नहीं। इसीलिये संहिता में वह तत्त्व 'सत्', 'असत्' तथा 'न सत् न असत्' ऐसी त्रिपुटी द्वारा भी कहा गया। उपनिषद् में वही प्राण, सत्, त्यत् व ब्रह्म कहलाया। नेति पक्ष से ब्रह्म की संज्ञा असत् है, इति पक्ष से सत् व देवता। 'नेति' वाक्य के अभिप्राय को भी पुनः तटस्थ व अन्य दृष्टि से समझा जाय तो—परमतत्त्व के निषेधात्मक प्रतिपादनों को ही मुख्य या प्रधान मानने वाले के रूप में प्रसिद्ध या अपवादित—अद्वैत दर्शन का यह अपवाद समाप्त हो जाता है। क्योंकि व्याकरणानुसार विचार करने पर 'इति' का शब्दार्थ है समाप्ति, अतः दो बार 'न इति' 'न इति' कहने का तात्पर्य है कि औपनिषद पुरुष की कभी भी समाप्ति नहीं, अर्थात्—वह अनन्त है, जिसे तथाकथित 'इतिपक्ष' में 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' में कहा भी गया है। पुनः इसी वाक्य को दार्शनिक व्यवहार की दृष्टि से देखें तो पहले 'नेति' से स्थूल कार्य का निषेध, दूसरे से सूक्ष्म कार्य का निषेध तथा वीप्सा (दो बार कथन) से कारण-मात्र के प्रतिपादन में ही 'नेति' वाक्य की गतार्थता है। अर्थात् कार्यरूप सत्य नहीं, कारणरूप ही सत्य है। इसी अभिप्राय को '**वाचारम्भणंविकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव**

---

१. सदेव सौम्येदमग्र आसीत्। छा० उ० ६।२।१।
२. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति............

ऋ० सं० १।१६४।४६।

३. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। तै० उ० २।१।१।
विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। बृह० उ० ३।२।२८।
४. ....अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्। ऋ० सं० १०।९०।१॥
५. वही १०।९०।२१।
६. वही १०।९०।१।

सत्यम्'[1] में स्पष्ट किया गया है। तथा नेति-वाक्य ही औपनिषद पुरुष या ब्रह्म का एकमात्र प्रतिपादन नहीं, अथवा यही प्रधान प्रतिपादन नहीं, चार महावाक्यों के अन्तर्गत इसकी गणना भी नहीं।

तत्त्वान्वेषण की प्रत्यक्-विश्लेषण-प्रवण प्रणाली से आत्मा के रूप में मनुष्य या अनुभविता-समष्टि का अन्तःस्थित सत्य प्राप्त हुआ, और पराक् या वाह्यजगत् के वस्तुनिष्ठ-विश्लेषण से चरम तत्त्व मिला ब्रह्म। इस दिशा में भी विचारकों के मति-वैचित्र्य के अनुसार स्वभावतः अनेक धारणाएँ विकसित हुईं, जिनमें से प्रत्येक ने चरमतत्त्व-विषयक पूर्ववर्ती धारणा की अपेक्षा अधिकाधिक उपपन्न व्याख्या की, सबके अन्त में निर्गुण ब्रह्म की धारणा विकसित हुई व सुदृढ़ बनी। उपनिषत् तक आने पर ब्रह्मन् व आत्मन् शब्दों के सामान्य अर्थ क्रमशः वाह्य जगत् का चरम स्रोत तथा मनुष्य का अन्तःस्थ चैतन्य हुए, किन्तु अधिकतर इन दोनों शब्दों का प्रयोग पर्याय रूप में उस वस्तु के अर्थ में होने लगा जो प्रकृति व मनुष्य के सहित सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का शाश्वत स्रोत है।

इन आपाततः भिन्न किन्तु आन्तरिक रूप से समान दो चिन्तन-धाराओं के संगम से भौतिक जगत्, जो प्रतीति में अनात्म-रूप में ही था, अब आत्मा में ही परिणत हुआ। प्रत्यक् व पराक् एक ही तत्त्व के दो पक्ष हैं, व्यक्ति व जगत् एक ही वस्तु की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ-मात्र हैं—यह सिद्धान्त सामने आया। द्विमुखी जिज्ञासा का समाधान औपनिषद-उपदेश के सार-रूप 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'[2] 'अयमात्मा ब्रह्म'[3] 'तत्त्वमसि'[4]-इत्यादि समीकरण-बोधक वाक्यों में व्यक्त हुआ।

मूल प्रश्न थे 'किमिदम्' ? तथा 'कोऽहम्' ? उत्तर मिले 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' तथा 'तत्त्वमसि'। किन्तु जो इस सब को ब्रह्म रूप से नहीं देख पा रहा है, अथ च 'किं भावना' से व्यग्र है, उसके हृदय में स्वभावतः प्रश्न-परम्परा चलने लगती है कि वह 'तत्' या 'ब्रह्म' क्या है ? उसका स्वरूप क्या है ? उसे पहचानने का उपाय क्या है ? उसे जानना ही स्वयं को जानना कैसे हो सकता है ? क्या 'पर' कभी 'निज' या 'स्वयं' होता है ? जिज्ञासा परम्परा और आगे बढ़ती है कि यदि वह ही मैं हूँ तो यह अन्यता हुई ही क्यों व कैसे ? इसका मूल क्या भ्रम है ? या सर्वसमर्थ 'तत्' की लीला है ? या एकमेव वस्तु के स्वभाव की प्रेरणा है ?

इसी प्रकार के असंख्य प्रश्न-चिन्हों से घिरे मानव-मन के प्रति, तत्त्वज्ञों द्वारा दिये गये, 'मैं' 'वह' के स्वरूप, इनकी अन्यता की प्रतीति का हेतु, उस हेतु का स्वरूप व सामर्थ्य, अन्ततः उसकी निवृत्ति व उसका उपाय—इत्यादि समस्याओं के समाधान-पुरस्सर उत्तर ही वेदान्त-विचार का विषय क्षेत्र है।

---

१. छा० उ० ६।१।४।
२. बृह०उ० ३।२।२८।
३. वही० उ० २।५।१९।
४. छा० उ० ६।१२।३।

२. ब्रह्मतत्त्व पर विशेष चर्चा

क. ब्रह्मस्वरूप-विषयक वैदिक उल्लेख

संहिता से उपनिषत्-पर्यन्त के समस्त वैदिक वाङ्मय में प्रकीर्ण परतत्त्व-विषयक उल्लेखों के आधार पर परमतत्त्व-सम्बन्धी धारणा के निम्नलिखित पहलू प्राप्त होते हैं—

१. वह ऐसा तत्त्व है जो दृश्यमान जगत् का जनक, पालक, धारक व नियामक है।[1]

२. वह एक है, तब भी अनेक रूपों में अभिव्यक्त हो सकता है व होता है।[2]

३. वही निखिल सचराचर पदार्थों के भीतर-बाहर सब ओर परिव्याप्त है, सम्पूर्ण विश्व से भी बड़ा है।[3]

४. होने का जो भी रूप संभव है, वह सब वही है, जो भी है या हो सकता है, वह वही है।[4]

५. वह अनुभविता से अभिन्न है।[5]

६. वह ज्योतिःस्वरूप है, तमस् से परे है,[6] उसी के प्रकाश से अन्य सब प्रकाशित होता है।[7] वह चिन्मात्र है। चिदानन्द है, चिद्घन है।[8]

---

१. यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
ऋ० सं० १०।८२।३।

२. अजायमानो बहुधा विजायते। ऋ०सं० १।८४।७।
न तु तद्द्वितीयमस्ति। बृह०उ० ४।३।२३।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति। ऋ० सं० १।१६४।४६।
एकमेवाद्वितीयम्। छा०उ० ६।२।२।

३. अदिति द्यौरदितिरन्तरिक्षम्। ऋ०सं० १।८९।१०।
स एव अधस्तात् स उपरिष्टात्……। छा० उ० ७।२५।१।

४. पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्। ऋ० सं० १०।९०।२।
इदं सर्वं यदयमात्मा। बृह०उ०२।४।६, ४।५।७। आत्मैवेदं सर्वम्। छा०उ०७।२५।२।

५. अहं सोऽस्मि यः पुरा। ऋ०सं० १।१०५।७। ब्रह्माहमस्मि। तै०आ० १०।१।१५।
तत्सत्यं स आत्मा तत् त्वमसि। छा० उ० ६।८।१६।
बृहते शुक्रशोचिषे। ऋ० सं० ८।१०३।८

६. ज्योतिरव्ययः। श्वे० ३।१२।
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। श्वे० ३।८।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः। मु० उ० २।२।९।

७. तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। कठ० २।२।१५।

८. चिदेकरसो ह्ययमात्मा। नृ० उ० १।
उत्कृष्टतमं चिन्मात्रम्। वही ५।
चिदानन्दमरूपमद्भुतम्। कै० उ० ६।

७. वही सत्य, ज्ञान व आनन्दस्वरूप है, रस व सुख वही है।[1]

८. वह सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी है।[2] उस एक को जानने से सब कुछ जाना जाता है, क्योंकि उससे इतर कुछ है ही नहीं, वह अद्वितीय है।[3]

९. वह इन्द्रिय, मन, वाणी व बुद्धि से परे है। अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, अग्राह्य है।[4]

१०. वह अज है, न कहीं से उत्पन्न हुआ है, न कुछ अन्य रूप से अन्य रूप होकर बना है। वह नित्य है, शाश्वत है, आकस्मिक नहीं, पुरातन है, सदा से ही ऐसा है, उसमें किसी वृद्धि या क्षय की सम्भावना नहीं।[5]

११. वह निर्विकार, निराकार, निष्क्रिय, निर्गुण, असंग, अलक्षण है। महत्तम व सूक्ष्मतम है।[6]

१२. वह सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस भी है। उसी से समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई है।[7]

ख. स्वरूपगत प्रमुख पक्ष

उपर्युक्त पहलुओं पर विचार-विमर्श करने के लिए दृष्टि डालने पर प्रमुख पाँच पक्ष ब्रह्म के स्वरूप में दिखाई देते हैं, इन्हीं में अन्य सब अनुस्यूत हैं। वे पांच पक्ष हैं—

१. एकत्व या अद्वयत्व–विभुत्व या सर्वव्यापकत्व, सर्वात्मकत्व।

२. सत्त्व–नित्यत्व, अनादित्व, अनन्तत्व, अविक्रियत्व, सर्वाधारत्व।

३. चित्त्व–ज्ञानत्व, प्रकाशत्व, स्वयंज्योतिष्ट्व, सर्वाविभासकत्व।

---

१. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। तै० उ० २।१।१।
रसो वै सः। वही २।६।१ आनन्द आत्मा। वही २।५।१।
यो वै भूमा तत्सुखम्। छा०उ०७।२३।१ विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। बृह० उ०३।९।२८।

२. ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्। छा० उ० ६।८।७।
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। श्वे० ६।११।

३. एकमेवाद्वितीयम्। छा० उ० ६।२।१।
कस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति। मु० उ० १।१।३।
आत्मनि.......विज्ञात इदं सर्वं विदितम्। बृह० उ० ४।५।६।

४. न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमः। केन०१।१।३।
यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्.......। मु० उ० १।१।६।
अव्यवहार्यमचिन्त्यमव्यपदेश्यमैकात्म्यप्रत्ययसारम्। मा० उ० ७।

५. अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः। कठ०। १।२।१८।

६. निर्गुणः। श्वे० ६।११। निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्। श्वे० ६।१९।
अलक्षणम्। मा० उ० ७। असंगो ह्ययं पुरुषः। बृह० उ० ४।३।१५
अणोरणीयान् महतो महीयान्। कठ० २।२०।

७. सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः। छा० उ० ३।१४।२
तत्सर्वमसृजत। बृह० उ० १।४।४

४. आनन्दत्व–निरतिशयत्व, रसत्व, परम-पुरुषार्थत्व ।

५. निर्गुणत्व–निर्विशेषत्व, निराकारत्व, निष्क्रियत्व, निर्विकल्पत्व, शुद्धत्व ।

दार्शनिक चिन्तन के प्रथम उन्मेष एवं प्रसार-प्रसंग में देखा गया कि समग्र दृश्यमान एवं अनुभूयमान परिवेश का कोई एक मूल खोजने की आकाङ्क्षा ही प्रधान नेत्री रही, और वह जहाँ पहुँचाकर कृतार्थ हुई, वह तत्त्व ब्रह्म था। इसीलिये ब्रह्म का सर्वप्रथम परिचय यही है कि वह एक है।

'एक है' कथन में ही 'एक' अंश के प्रश्चात् उसी से सम्पृक्त दूसरा अंश है 'है'। जिसे कहे (या स्वतः ऊह किये) विना वाक्य का अर्थबोध ही नहीं होता, कथन असम्पूर्ण रहता है। यह बात केवल इसी वाक्य के सम्बन्ध में नहीं, जहाँ तक हमारे मन की गति है, वहाँ तक दृष्टि-प्रक्षेप करने पर हम कोई भी ऐसा स्थल नहीं पाते जहाँ (प्रकट या अप्रकट रूप से) इस 'है' के बिना कुछ भी ज्ञान होता हो। यहाँ तक कि किसी अभाव (नहीं) के साथ भी 'है' लगाये विना काम नहीं चलता। इस प्रकार से (भाव और अभाव, अस्ति और नास्ति) सर्वत्र अनुवर्तमान यह 'है' ही संस्कृत भाषा के 'सत्' का शाब्दिक अर्थ है। इसका प्राधान्य स्वतः मुखर है, इसीलिये तत्त्व 'एक' है जानने के तत्काल पश्चात् यही जानना प्राप्त होता है कि वह 'एक' ही वस्तुतः 'है' भी।

हमारे सम्पूर्ण व्यवहार में एक तथ्य घुला-मिला दिखाई देता है और वह है–ज्ञान। पहले हम कुछ जानते हैं, तभी उसके सम्वन्ध में किसी प्रकार की इच्छा या भावना उदित होती है और तब उसके प्रति कोई भी प्रवृत्ति होती है। अर्थात् व्यवहार का मूल है ज्ञान। इस अनिवार्यतः स्वीकार्य तथ्य का उस निष्कृष्ट 'एक' तत्त्व से क्या सम्बन्ध है—यह जिज्ञासा समाहित होती है यही जानकर कि वह एक तत्त्व ही इस ज्ञान का मूल 'ज्ञ' है। यही ब्रह्म के चित् पक्ष का वीज है।[1]

हम अनुभव करते हैं कि हमारे प्रत्येक व्यवहार, क्रिया, चेष्टा (वह मानसिक हो या शारीरिक) का कोई न कोई उद्देश्य होता है और यह उद्देश्य सुखेप्सा के अतिरिक्त कुछ नहीं। वह सभी का, सर्वदा, सर्वथा उद्देश्य-भूत सुख क्या है—इसका उत्तर वेद से यही मिला कि जो एक तत्त्व सभी कुछ का मूल है, वही साक्षात् या परम्परया सुख या आनन्द पद का अर्थ है।[2]

---

१. नैयायिक ज्ञान की व्यापकता तथा (तदुपपादित) एकता का खण्डन करते हैं, क्योंकि उनके मत में ज्ञान इन्द्रिय-मनःसंयोगजन्य ही है; यह स्थिति स्मृति-रूप ज्ञान में संभव नहीं, अतः न्याय की ज्ञानविषयक धारणा अव्याप्त होने के कारण उपपन्न नहीं। वेदान्त में ज्ञान का स्वरूप क्रियात्मक नहीं तथा इन्द्रियजन्य ज्ञान में भी ज्ञानत्व विषय तथा द्रष्टा के अधिष्ठान रूप से स्थित परम तत्त्व की ज्ञान-स्वरूपता से ही आता या उपचरित होता है, अतः ज्ञान की सर्वथा उपपन्न व्याख्या सम्भव है। (इसका विशेष विवरण 'ज्ञानमीमांसा' में किया ही जायेगा।)

२. मीमांसक विधि में ही प्रवर्तकत्व मान कर विना आनन्द के ही प्रवृत्ति मानना चाहते हैं, किन्तु केवल विधि वस्तुतः प्रवर्तक नहीं हो सकती, क्योंकि श्रुति कितनी

यहाँ तक आने पर इस विचार ने सिर उठाया कि हमारे अनुभव-क्षेत्र में जो कुछ भी स्थूल व सूक्ष्म पदार्थ है, उसका कुछ न कुछ नाम, रूप, स्वभाव या गुण है तथा अनुभव में आने के लिये वह अवश्य ही हमारे किसी न किसी ज्ञानेन्द्रिय (चक्षु, श्रवण, घ्राण, रसना, त्वक् तथा मन) के सम्पर्क में आता है, तो इन सभी का मूलभूत जो तत्त्व है उसके नाम, रूप[3] या गुण, धर्म क्या हैं एवं कैसे उनका अथवा उनसे युक्त ब्रह्मवस्तु का ग्रहण हो सकता है इसके उत्तर में ब्रह्म-स्वरूप के पंचम (निर्गुणत्व) तथा तृतीय (चित्त्व) पक्ष हैं कि वह सभी धर्मों से रहित ही नहीं, अस्पृष्ट है तथा लोक में ज्ञान का साधन बनने वाले सभी उपायों को स्वयं चलाता हुआ भी उनकी पहुँच या पकड़ के बाहर है।

इस प्रकार से, ब्रह्म के स्वरूप रूप से हमें जो 'एक' होना, वस्तुतः 'होना', 'ज्ञा' व 'सुख' होना, 'नाम-रूप से रहित' होना तथा 'ग्रहण की सीमा से परे' होना इत्यादि तथ्य मिले थे, उनका संक्षिप्त अभिप्राय देखा गया। अब यह देखना प्रसंग-प्राप्त है कि विभिन्न आचार्यों के चिन्तन-रूप क्षारों से कब व कितना प्रक्षालित होते-होते उक्त तथ्यों का निष्कृष्ट शोधित रूप कैसा सामने आया, अथवा ब्रह्म के वेद-प्रतिपादित स्वरूप की कैसी व्याख्या व उपपत्तियाँ प्रकृत अद्वैत दर्शन के विभिन्न आचार्यों ने दी हैं।

ग. पक्ष-विवरण

ब्रह्म-स्वरूप के पाँचों पक्षों के पूर्वोक्त क्रम की उपपत्ति तो उनके उपर्युक्त संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण में सम्पन्न हुई तथा उन पक्षों का आपाततः स्वरूप भी स्पष्ट हो चुका, अतः उसी क्रम को लेते हुए इन सबका आचार्य-परम्परा में विश्लेपित स्वरूप ही अब देखना है, पुनः इनका परिचय अनावश्यक होगा।

भी प्रबल क्यों न हो—'अयं मां प्रवर्तयति'—तक ही ले जा कर छोड़ देगी। अश्रद्धालु के लिये तो उतना भी नहीं; श्रद्धालु को भी वास्तव में क्रिया में प्रवृत्ति नहीं होती जब तक उसके परिणाम में सुख न दिखे। पथ 'प्रेयस्' का हो या 'श्रेयस्' का, सुखसाधनता ही पथिक की दृष्टि को आकृष्ट करती है, सुख के स्वरूप की पहचान हो या न हो, 'सुख' की कल्पना ही प्रवर्त्तिका होती है। इसी तथ्य को नैयायिक-सम्प्रदाय में—पहले इष्टसाधनता, फिर कृतिसाध्यता का ज्ञान होने पर ही क्रिया में प्रवृत्ति—कह कर समझाया जाता है। 'इष्ट' शब्दप्रयोग में ही यह सुखतत्त्व निहित है।

३. रूप में सभी गुणों का संग्रह है।

१. अद्वितीयत्व

योगवासिष्ठ में ज्ञान के उत्तम अधिकारी के लिए तत्त्व का जो भी प्रतिपादन है उस का सार है अद्वयता। द्रष्टा-दर्शन-दृश्य का नानात्व इस ब्रह्माद्वयता को बाधित नहीं करता क्योंकि इन सब कल्पनाओं के भी मूल में एकमात्र वही तत्त्व विराजमान है; उसके अतिरिक्त किसी की भी संभावना ही नहीं। एकमात्र ब्रह्म ही तत्त्व है जो आदि-अन्त से रहित, विभाजन खण्डन से रहित, अव्यय, केवल, शान्त, अपने आप में स्थित है। 'जगत्', 'जीव', 'ईश्वर' एवं इनके विविध व्यवहार—सभी कुछ तत्त्वतः एकमात्र ब्रह्म या आत्मा ही है।[1]

ऐसे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—दर्शन में उस 'ब्रह्म' की अद्वयता के साधक पृथक् तर्क दिखाने की आवश्यकता ही नहीं अतएव अवकाश तथा प्रवृत्ति भी नहीं। अन्य की संभावना के लेश के भी अभाव में स्वतः सिद्ध एक की अद्वितीयता भी स्वतः सिद्ध ही मानी गई।

परम वस्तु की इस अद्वैत-सम्प्रदाय-सिद्ध अद्वयता पर 'क्यों' (= उपपादक तर्क) उठाने का विशेष अभिक्रम माण्डूक्यकारिका में भी नहीं हुआ; केवल उस अद्वयता का प्रतिपादन अवश्य विशेष आग्रह पूर्वक किया गया, कि वस्तुतः जो 'वस्तु' है वह सर्वथा अद्वय है, अर्थात् एक ही है, उसके साथ कोई दूसरा नहीं है।[2] क्योंकि उसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं इसलिये अन्य की कल्पना भी उठते ही कह दिया गया कि जो कुछ 'जाति' (उत्पत्तिशील) के समान, 'चल' (गतिशील) के समान तथा 'वस्तु' (किसी धर्म से युक्त द्रव्य) के समान प्रतीत होता है, वह मुख्यतः अज, अचल और अवस्तु अद्वितीय परम अर्थ ही है। इसी से उस तत्त्व की सर्वात्मकता (= उससे पृथक् कुछ न होना; यदि कुछ भी होने की सम्भावना भी है तो वह ब्रह्म ही है)—कही गई।[3]

---

१. परं ब्रह्मैव तत्सर्वमजरामरमव्ययम्। यो० वा० ३।४।६८ ॥
सर्वमेकमनाद्यन्तमविभागमखण्डितम् ॥ वही ३।८४।२६।
न जगन्नापि जगती शान्तमेवाखिलं स्थितम्।
ब्रह्मैव कचति स्वच्छमित्थमात्मात्मनात्मनि ॥ ३।१३।५१ ॥
केवलं केवलाभासं सर्वसामान्यमक्षतम्। ३।११४।१६ ॥
कर्मैव देहो ननु देह एव चित्तं तदेवाहमितीह जीवः।
स जीव एवेश्वरचित् स आत्मा सर्वः शिवस्त्वेकपदोक्तमेतत् ॥ वही ३।६५।१६ ॥
यदिदं किञ्चिदाभोगि जगज्जालं प्रदृश्यते।
तत्सर्वममलं ब्रह्म भवत्येतद् व्यवस्थितम् ॥ ६।१।११।१६ ॥
ब्रह्माहं त्रिजगद् ब्रह्म त्वं ब्रह्म खलु दृश्यभूः।
द्वितीया कलना नास्ति यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६।१।४९।२३ ॥

२. मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः। मां का० १।१७ ॥
अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते। वही ३।१८ ॥

३. जात्याभासं चलाभासं वस्त्वाभासं तथैव च।
अजाचलमवस्तुत्वं विज्ञानं शान्तमद्वयम् ॥ वही ४।४५ ॥

इस अद्वयता के साधन में उपपत्ति के सदृश प्रतिपादन माण्डूक्यकारिका में यही है कि तत्त्व अद्वय न हो तो जगत् का होना (किसी भी प्रकार से प्रतीतिगोचर होना) कल्याणकारी नहीं रहता। वास्तव में तो द्वैत और अद्वैत दोनों ही भाव परम तत्त्व को स्पर्श नहीं करते किन्तु असद्भावों की अपेक्षा अद्वैतभाव ही मङ्गलमय है।[1] श्रुतियों ने भी नानात्व की, द्वैत की भी निन्दा ही की है। वस्तुतः तो नानात्व की कोई स्थिति है ही नहीं; कोई भी वस्तु न तो ब्रह्म से पृथक् है न अपृथक्। अतः ब्रह्म की अद्वयता स्वतः सिद्ध है।[2]

इस 'अद्वयता शिवा' की व्याख्या करते हुए भाष्यकार आचार्य शङ्कर रज्जु-सर्प आदि दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि प्राण (जीव) आदि (जगत्) अनन्त असत्=अविद्यमान भावों की कल्पना का भी आधार अद्वय सत्स्वरूप आत्मा ही है। अतः समस्त कल्पना की आश्रय-भूता होने से और अपने स्वरूप से अद्वय का कभी व्यभिचार न होने से कल्पना अवस्था में भी अद्वयता ही मङ्गलमयी है। आधार रहित कल्पना सम्भव भी नहीं और केवल कल्पना भयकारिणी होने से अमङ्गल है। अद्वयता अभयरूपा होने से मङ्गलमयी है।[3]

परमाचार्य गौड़पाद का उद्देश्य माध्यमिकवाद का खण्डन था, अतः द्वैतात्मक सब कुछ को असत्कल्पना कहते हुए कल्पना के आधार रूप से सत् अद्वय तत्त्व की स्थापना की। उस स्थापना को स्पष्ट एवं दृढ़तर बनाया आचार्य शङ्कर के युक्तिपूर्ण भाष्य ने। 'सर्प के सदृश रज्जु भी कल्पित ही क्यों न हो' ऐसी शून्यवादी की शङ्का का निरास करते हुए अधिष्ठान की सत्ता स्थापित की।[4]

स्वयं आचार्य शङ्कर ने भी परम तत्त्व की अद्वयता की सिद्धि के लिये अभिक्रम पूर्वक युक्ति-विस्तार नहीं किया, उपनिषद् भाष्यों में अद्वैत-प्रतिपादक श्रुतियों की व्याख्या में अत्यन्त संक्षेप एवं सरलता से ही अद्वयत्व की उपपत्ति दी है। छान्दोग्योपनिषद् भाष्य में 'एकमेवा-द्वितीयम्' की व्याख्या में 'एक' होने की उपपत्ति यही कही कि उस तत्त्व के कार्यवर्ग में आया

---

१. भावैरसद्भिरेवायमद्वयेन च कल्पितः।
भावा अप्यद्वयेनैव तस्मादद्वयता शिवा॥ वही २।३३॥

२. नात्मभावेन नानेदं न स्वेनापि कथञ्चन।
न पृथङ् नापृथक् किञ्चिदिति तत्त्वविदो विदुः॥ वही २।३४॥
जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते।
नानात्वं निन्द्यते यच्च तदेवं हि समञ्जसम्॥ वही ३।१३॥

३. यथा रज्ज्वामसद्भिः सर्पधारादिभिरद्वयेन च रज्जुद्रव्येण सतायं सर्प इयं धारा दण्डोऽयमिति वा रज्जुद्रव्यमेव कल्प्यत एवं प्राणादिभिरनन्तैरसद्भिरेवाविद्यमानैः, न परमार्थतः……………सर्वविकल्पास्पदभूतेनायं स्वयमेवात्मा कल्पितः। ते च प्राणादिभावा अप्यद्वयेनैव सतात्मना विकल्पिताः। न हि निरास्पदा काचित् कल्पनोपलभ्यते; अतः सर्वकल्पनास्पदत्वात् स्वेनात्मनाद्वयस्याव्यभिचारात् कल्पना-वस्थायामप्यद्वयता शिवा। कल्पना एव त्वशिवाः। त्रासादिकारिण्यो हि ताः। अद्वयताऽभयाऽतः सैव शिवा॥ मां० का० भा० २।३३॥

४. विकल्पनाक्षयेऽविकल्पितस्याविकल्पितत्वादेव सत्त्वोपपत्तेः। वही २।३२॥

हुआ भी दूसरा कोई नहीं था अतः वह एक ही था। विभिन्न कार्यों के कारण रूप मृत्तिका से अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं थी अतः वह अद्वितीय था। मिट्टी से घड़ा आदि बनने में उस मिट्टी को नाना आकारों में परिणत करने वाला कुम्हार आदि निमित्त कारण लोक में देखा जाता है वैसे ही इस जगत्-सृष्टि के मूल में एकमात्र सत् से भिन्न सत् का सहकारी रूप कोई अन्य पदार्थ भी रहा होगा—ऐसी आशङ्का को हटाने के लिये कहा गया कि 'वह अद्वितीय था', अर्थात् उस से भिन्न कोई दूसरी वस्तु थी ही नहीं।[1]

'एक' और 'अद्वितीय' शब्द 'सत्' के साथ समानाधिकरण हैं,—यह कहने में व्यञ्जना से यह भी कहा जाता है कि 'सत्' का 'अद्वितीय एक' होना स्वतः सिद्ध है; सत् की सिद्धि ही एकत्व और अद्वितीयत्व की भी सिद्धि है।[2]

'आसीत्' शब्द से शङ्का सम्भावित हुई कि सृष्टि से पूर्व, नाना 'इदं' के आविर्भाव के पूर्व ही वह तत्त्व अद्वितीय था—इस का निरास करते हुए कहा गया कि विकार-वाणी के आश्रित तो नामरूप ही हैं, सत्य तो मृत्तिका ही है, सत् ही सत्य है और वह एक ही है।[3]

बृहदारण्यकभाष्य में भी 'एक' की व्याख्या में उपपत्ति 'द्वितीय का अभाव' ही दी गई। द्वितीय का प्रविभाग अविद्या से ही है और स्वरूप में अविद्या है ही नहीं, सुषुप्ति में भी द्रष्टव्य द्वितीय का अभाव होने से द्रष्टा अद्वय है तो स्वरूपतः तत्त्व का अद्वैत स्वतः सिद्ध है।[4]

शारीरकभाष्य के आरम्भ में, अध्यास भाष्य का उपसंहार करते हुए सुस्पष्ट रूप से आचार्य ने कहा है कि कर्तृत्वादि नानात्व का प्रवर्तक-मिथ्या प्रत्यय रूप अध्यास अनर्थ-हेतु है, उसकी समूल निवृत्ति के लिये तथा आत्मैकत्व के बोध के लिये ही सभी वेदान्तों का आरम्भ है। वेदान्त का मुख्य प्रतिपाद्य ही होने से ब्रह्मैकत्व के ही साधक सभी वेदान्त हैं, अतः उस के लिये पृथक् प्रकरण अनपेक्ष्य है।[5]

---

१. एकमेवेति, स्वकार्यपतितमन्यन्नास्तीत्येकमेवेत्युच्यते। अद्वितीयमिति, मृद्व्यतिरेकेण; मृदो यथाऽन्यद्घटाद्याकारेण परिणमयितृकुलालादिनिमित्तकारणं दृष्टं तथा सद्व्यतिरेकेण सतः सहकारिकारणं द्वितीयं वस्त्वन्तरं प्राप्तं प्रतिषिध्यतेऽद्वितीयमिति। नास्य द्वितीयं वस्त्वन्तरं विद्यत इत्यद्वितीयम्॥

छा० उ० ६।२।१ पर भाष्य।

२. एकमेवाद्वितीयमित्येतौ च सच्छब्देन समानाधिकरणौ तथेदमासीदिति च।

वही।

३. सदेव सत्यमिति श्रुतेः। एकमेवाद्वितीयं परमार्थत इदं बुद्धिकालेऽपि। पर भाष्य के अन्त में।

छा०उ०६।२।२

४. सलिल इव सलिल एको द्वितीयस्याभावात्। अविद्यया हि द्वितीयः प्रविभज्यते, सा च शान्तात्र अत एकः। द्रष्टा दृष्टेरविपरिप्लुतत्वादात्मज्योतिःस्वभावायाः, अद्वैतो द्रष्टव्यस्य द्वितीयस्याभावात्। बृह० उ० ४।३।३२ पर भाष्य।

५. अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय, आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते। यथा चायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयमस्यां शारीरकमीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः॥

ब्र० शां० भा० पृ० १८

मण्डन मिश्र ने शब्द-ब्रह्मवादी भर्तृहरि के सिद्धान्त[१] (शब्द का नित्य रूप ही ब्रह्म है, वही सृष्टि का मूल तत्त्व है, जगत् उसी का विवर्त है) का आकार लेकर शब्दाद्वैतवाद के रूप में अद्वय ब्रह्म का प्रतिपादन किया है। ब्रह्मसिद्धि के मङ्गलाचरण में 'एकम्' 'अक्षरं' कहा गया है। वह अक्षर निश्चय ही नादब्रह्म का संकेत-भूत प्रणव है। प्रणवविषयक श्रुतियों की व्याख्या के प्रसङ्ग में मण्डन ने यही कहा है कि समस्त जगत् वाङ्मय है, प्रणव ही उसका आदि-प्रस्रवण है, वही ब्रह्म है जो अक्षर, अभय, एक व अद्वय तत्त्व है। अवधारण (निश्चय)-बोधक 'एव' तथा 'अद्वितीय' शब्दों के पुनः पुनः प्रयोग से श्रुति ब्रह्म में सभी प्रकार के भेद का अभाव कहती है, कोई भेद न रहना ही अभेद है, भेद का रहना अनेक वस्तुओं के रहने पर निर्भर है। वस्तु के नानात्व का श्रुति बलपूर्वक निषेध करती है अतः परमतत्त्व अद्वय है।[२]

सुरेश्वराचार्य ने ब्रह्म के अर्थ में ही बहुधा आत्मा व संवित् शब्द का प्रयोग किया है। नैष्कर्म्यसिद्धि में कहा है कि आत्मा का अद्वितीयत्व आत्मा होने से ही सिद्ध है, द्वितीय का न होना ही इसमें हेतु है।[3] दृश्यमान द्वैत वस्तुतः है या नहीं इसका निरूपण नहीं हो सकता, अतः परमार्थतः अद्वैत ही होना सिद्ध है।[४]

आचार्य सुरेश्वर ने बृहदारण्यकभाष्यवार्त्तिक के मंगलाचरण में नमस्य को 'एकं' व 'निर्विभागं' विशेषण देते हुए कहा है कि उस तत्त्व का कोई वास्तविक भेद नहीं है क्योंकि किसी भी प्रमाण से भेद की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि वह विभु है, नित्य है, कहीं से भी व्यावृत्त नहीं (कभी भी किसी भी वस्तु को लेकर यह नहीं कहा जा सकता कि यह ब्रह्म नहीं है)।[५]

उसी ग्रन्थ में 'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो'[६] के भाष्य के व्याख्यान में कहा है कि 'कार्य-

---

१. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ वा० प० १।१।१॥

२. अक्षरमिति शब्दात्मतामाह, विशेषेण सामान्यस्य लक्षणात्।.................
तदेतद् विशुद्धत्वं नित्यत्वमेकत्वं चाकाशकल्पे ब्रह्मण्यवकल्पते।
ब्र०सि०पृ० १६-१९।

'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यवधारणा द्वितीयशब्दाभ्यां तस्यैवार्थस्य पुनः पुनरभिधानात् सर्वप्रकारभेदनिवृत्तिपरता श्रुतेर्लक्ष्यते। वही पृ० ६।

३. आत्मनोऽप्यद्वितीयत्वमात्मत्वादेव सिध्यति॥ नै० सि० २।९६, पृ० ९२॥

४. स्वतःसिद्धात्मचैतन्यप्रतिबिम्बितावि चारितसिद्धिकात्मानवबोधोत्थेतरेतरस्वभावापेक्ष-सिद्धत्वात् स्वतश्च असिद्धेरनात्मनो द्वैतेन्द्रजालस्य।

न स्वयं स्वस्य नानात्वं नावगत्यात्मना यतः
नोभाभ्यामप्यतस्सिद्धमद्वैतं द्वैतबाधया॥
नै० सि० २।११२, पृ० ९९।

५. निर्भागं सकलाभिधानमननव्यापारदूरस्थितम्।
वन्दे नन्दितविश्वमव्ययमजं भक्त्या तमेकं विभुम्॥ बृ० भा० वा० १।१।१॥

६. बृह० उ० ४।३।३२॥

कारणभाव से रहित होने के कारण, अविद्याध्वंस के पश्चात् केवल आत्मा ही रह जाने के कारण, वह सलिल के समान शुद्ध है, अतः विजातीय भेद से रहित है। वह शुद्ध तत्त्व वदर, कपित्थ, आम्र आदि वृक्षों की भाँति स्वतः भी अनेक स्वभाव वाला नहीं है (वृक्ष होते हुए भी वेर, आम, कैथा इत्यादि पृथक्-पृथक् स्वभाव वाले हैं, आत्मा वैसा नहीं है) अतः स्वगत एवं सजातीय भेद से भी रहित है, इसीलिये एकरस है, एक है। यह 'एक' शब्द एक-संख्या-वाचक नहीं, क्योंकि ब्रह्म-स्थिति में संख्येय (गिना जा सकने वाला) कुछ हो ही नहीं सकता। अतः किसी भी प्रकार का द्वितीय पदार्थ वहाँ न होने से ही वह अद्वितीय है।[1]

ब्रह्म शब्द का अर्थ कहा है कि सामान्य तथा विशेष रूपों से रहित, न कहीं अनुगत, न कहीं से व्यावृत्त वस्तु को ही श्रुति ने ब्रह्म शब्द से अभिधा वृत्ति से कहा है। इसी से उसका अद्वयत्व या द्वैत से अस्पृष्ट होना सिद्ध होता है।[2]

वास्तव में अधिकारिभेद से अद्वैत विचार की श्रेणियाँ भी भिन्न हैं। दो की स्थिति की ओर जितना अधिक ध्यान गया उतनी अधिक द्वैत की व्याख्या करते हुए उसका निराकरण किया गया जैसा कि उत्तरोत्तर परवर्ती ग्रन्थों में दिखता है। द्वैत की ओर जितना कम ध्यान हो, उतनी दूसरे की अनपेक्षाजन्य उपेक्षा होने से, दूसरे की व्याख्या कम दिखाई देती है। प्राचीनतर वेदान्तग्रन्थों में। दूसरे का चिन्तन अद्वैत दर्शन के पारिभाषिक 'तुच्छ'-स्तर से ही किया गया है। 'व्याकरण' दर्शन में तो 'आकृति' के 'विशेष' की अवहेलना सम्भव नहीं, अतः अद्वैत सिद्धान्त केवल स्फोटाश्रित ही प्रतिपादित हुआ।

योगवासिष्ठकार एवं परमाचार्य गौड़पाद, भर्तृहरि एवं मण्डनमिश्र, तथा आचार्य-शङ्कर एवं सुरेश्वराचार्य के ब्रह्मैकत्व-सम्बन्धी प्रतिपादनों में तीन दृष्टिसरणियाँ हैं। पहली दृष्टि है—'सर्वं ब्रह्म एव' (सब कुछ केवल ब्रह्म ही है; रूप-कार्य-समाख्या का भेद भी वस्तुतः अविद्यमान ही है) दूसरी दृष्टि है—'इदं' का विलय होने पर 'सर्वं ब्रह्म एव'। 'इदं' (=जगत्) विवर्तरूप भले हो, किन्तु उसकी सर्वथा अविद्यमानता अभिप्रेत नहीं। स्फोटाद्वैत में भी स्फोट

---

१. स्वतोऽवबोधमात्रत्वात् कुतो विद्यादिसम्प्लुतिः।
तस्मात् सलिलवच्छुद्धः कार्यकारणहानतः॥
न कपित्थादिवत्तत्त्वं स्वतोऽनेकस्वभावकम्।
उक्त्वा सलिलवत् तस्मादेक इत्यब्रवीच्छ्रुतिः॥
सजातीयनिषेधो वा ह्येकशब्देन भण्यते।
सलिलोक्त्या विजातीयसम्बन्धो हि निवारितः॥
एकशब्दो न संख्यार्थः संख्येयासम्भवादिह।
अद्वितीयार्थतैवातो द्वितीयार्थनिषेधतः॥
सदेवेत्यादिना चास्य तथा सत्यविरुद्धता॥

बृ० भा० वा० ४।३।१७९८, १८००–३॥

२. अव्यावृत्ताननुगतं निःसामान्यविशेषतः।
ब्रह्मेति मुख्यवृत्त्येह वस्तु श्रुत्याऽभिधीयते॥

बृ० भा० वा० ४।३।१८१५॥

के जनकों या निमित्तभूत या आलम्वनभूत अक्षरों की अविद्यमानता को अवकाश नहीं। तीसरी दृष्टि है—'इदंबुद्धिकालेऽपि सर्वं ब्रह्म एव'। इस में किसी भी स्तर की प्रतीति की अवहेलना न करते हुए ही तात्त्विक अद्वैत की सयुक्तिक एवं व्यवहारानुकूल स्थापना है।

न्यायमकरन्द में आनन्दबोध का प्रमुख लक्ष्य भेद-पदार्थ का खण्डन करते हुए ब्रह्मात्मैक्य-निरूपण ही रहा है, उसका पर्यवसान अन्ततः एक ही तत्त्व की स्थिति में होता है।

रामाद्वय ने वेदान्तकौमुदी में 'तात्त्विकद्वैतविधुरं सद् वस्तु अद्वैतम्'[1] ऐसा अद्वैततत्त्व का लक्षण करते हुए भावाद्वैत का समर्थन किया है। उसी प्रसंग में कहा गया है कि श्रुति के अनुसार जिसको जानने से सब कुछ जाना जाता है, वही अद्वैत है। यहाँ उस एक ब्रह्म को जानने का अर्थ नानात्मक प्रपञ्च को ही विशेष (ब्रह्म) रूप से जानना नहीं है, अपितु—(१) जिसके जानने पर समस्त जगत् (द्वैत) विज्ञात=दग्ध='ज्ञात' रूप से उपलक्षित ब्रह्म ही हो जाता है, जगत् का भान रहता ही नहीं, तथा (२) अध्यस्त (भ्रम के कारण आरोपित) का आत्यन्तिक (वास्तविक) रूप तो क्या है नहीं कहा जा सकता, अतः अधिष्ठान ही उसका वास्तविक रूप है यह निश्चित है, उसे जान लेने पर ऐन्द्रजालिक की माया (जादू से दिखाई हुई अवर्तमान वस्तुओं) के परे ऐन्द्रजालिक का स्वयं रूप जान लेने (वह जादू से दिखाई गई वस्तुएँ कुछ हैं ही नहीं, केवल जादूगर ही वहाँ है) के समान—अध्यस्त का वास्तविक रूप जाना जाता है, अर्थात् दृश्यमान अनेक का पारमार्थिक रूप जाना जाता है और वह अद्वैत ही है।[2]

वेदान्तकौमुदी के इस प्रतिपादन में 'विज्ञात' के दो अर्थ ध्वनित हो रहे हैं—विशेष रूप से ज्ञात तथा विपरीत ज्ञात या दग्ध। इस से 'यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदम् अविज्ञातं भवति' ऐसा फलितार्थ निकलता है। यह प्रपञ्चप्रविलयवाद पूर्वाचार्यों (शङ्कराचार्य एवं सुरेश्वराचार्य) को अभिमत नहीं, क्योंकि उनके लिये तो जगद्विषयक ज्ञान-स्तर भी पारमार्थिक अद्वैत का बाधक नहीं,—"इदं बुद्धिकालेऽपि सर्वं ब्रह्म एव"।

'आत्मा सत् है'—यह तथ्य अवयुत्यवाद (अनेक सद् वस्तुएँ हैं उसमें से एक आत्मा है) नहीं है। एकत्व-प्रतिपादक श्रौत-प्रकरण के उपक्रम व उपसंहार आदि तात्पर्य-ग्राहक लिङ्गों से—एकमात्र आत्मतत्त्व ही सत् रूप से विधेय (प्रतिपाद्य) है—यही जाना जाता है। अनेक सत् वस्तुतः हैं ही नहीं जिनमें से एक आत्मा हो। अतः जो भी सत् वस्तु है वह अद्वय ही है।[3]

---

१. वे० कौ० पृ० ८५।

२. यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति तदद्वैतम् इति श्रौतं लक्षणम्।.........सर्वं जगत् विज्ञातं दग्धं ज्ञातत्वोपलक्षितं ब्रह्मैव तद्भवति इति विवक्षितं ज्ञातं 'ब्रह्मैव प्रपञ्चदाह' इति स्वीकारात्। अध्यस्तस्यात्यन्तिकरूपानिरूपणादधिष्ठानमेव तदाकारेण दृढमिति तद्विज्ञाने दर्शितरूपान्तरैन्द्रजालिकवत् परमरूपेण तस्य विज्ञातत्वं वा भवति इति विवक्षितम्। वे०कौ०पृ० ८८।

३. न च तत्त्वसमुदायस्य विभज्यैकदेशेन कथनमवयुत्यवादो यदेकात्मतत्त्वकीर्तनम्। वे० कौ० पृ० ८८।

ब्रह्म-शब्द से भी (वृह् धातु का अर्थ देखने पर) सर्वतः (देश, काल व वस्तु से) अपरिच्छिन्न, असङ्कुचित, वृहत्त्वसम्पन्न रूप से कहा गया ब्रह्म अद्वय ही पदार्थ है।[1]

नृसिंहाश्रम ने अद्वैतदीपिका में 'यत्रान्यत् शृणोत्यन्यद् विजानाति'[2] श्रुति के आधार पर किसी भी प्रकार से परिच्छिन्न वस्तु को अल्प, मर्त्य, निन्दित व सुखरहित कहकर जो सर्वथा अपरिच्छिन्न है वही आत्मतत्त्व है, अतएव वह अद्वय ही है—ऐसा कहा है।[3]

नृसिंहाश्रम ने वेदान्ततत्त्वविवेक में ब्रह्म शब्द से धात्वर्थ रूप से कथित बृहत्त्व का पर्यवसान अद्वय तत्त्व में ही होना बताया है। कहा है कि यह वृद्धि नदी के पूर (बाढ़) के समान अनेक अवयवों का उपचय नहीं है, न ही बृहत्त्व आकाश के परिमाण जैसा है, क्योंकि ब्रह्म तो 'निष्कल' व 'अस्थूल' है।[4] वृह धातु से कही जाने वाली वृद्धि या वृहत्त्व का यहाँ (ब्रह्म शब्द में) अर्थ है त्रिविध-परिच्छेद से रहित होना, तथा सर्वात्मक होने के योग्य होना।[5]

अद्वैतदीपिका में और भी एक युक्ति दी गई है कि श्रुति ने **अन्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठितः** कहकर काकु द्वारा अन्योन्याभावमात्र का निषेध किया है। अगले वाक्यों में **स एव अधस्तात्**.....' इत्यादि से इसी अन्योन्याभाव के अभाव का ही प्रतिपादन किया है, अतः सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदों से रहित ही भूमा है—यही जाना जाता है।[6]

इसके अतिरिक्त निम्नलिखित युक्तियों से भी सिद्ध होता है कि जिज्ञास्य मूलतत्त्व एक ही है क्योंकि—

---

१. तथा च वृहतेर्धातोरर्थानुगमात् सर्वतोऽसङ्कुचितबृहत्त्वसम्पन्नं मीमांस्यत्वेनोपक्षिप्तं ब्रह्मैवाद्वैतपदार्थः। वे० कौ० पृ० ८८।

२. छा० उ० ७।२४।१।

३. "यत्र नान्यत्पश्यति........" इति निरस्तनिखिलभेदस्य वस्तुनो भूम्नो लक्षितत्वात्। अथ "यत्रान्यत्पश्यति....तदल्पम्" इति वस्त्वन्तरपरिच्छिन्नस्यालपत्वं संकीर्त्य.... मर्त्यत्वेन....असुखत्वेन च वस्त्वन्तरपरिच्छिन्नस्य निन्दितत्वाच्च।....भूमानं यत्परं पश्यति तदन्यन्न इत्युक्ते जीवेश्वरभेदनिरासेनात्मैकत्वसिद्धिरित्यर्थः॥ अ० दी० पृ० १८–१९।

४. लक्ष्यस्य (ब्रह्मणः) अद्वयत्वं ब्रह्मशब्दादवगम्यते, तत्रैव ब्रह्मशब्दाभिधेय-वृद्धिरूप-बृहत्त्वस्य पर्यवसानात्। न च नदीपूरस्येव वृद्धिरवयवोपचयः, आकाशस्यैव बृहत्त्वं परिमाणविशेषो वास्तु इति वाच्यम्, "निष्कलम्" "अस्थूलम्" इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मणि तदभावस्य सिद्धत्वात्। वे० त० वि० पृ० ५१७।

५. बृहिधातुर्हि वृद्धिमभिधत्ते, वृद्धिश्चात्र स्वरूपोपचयः, स च सर्वात्मतायोग्यतैवेति त्रिविधपरिच्छेदशून्यं ब्रह्मशब्दाभिधेयं लक्ष्यम्। त० वि० दी० पृ० ५१७।

६. अन्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठित इति काक्वा अन्योन्याभावमात्रस्यैव निषेधात्। उत्तरवाक्येऽप्यस्यैव प्रतिपादनाच्च। अतः सजातीयादिभेदशून्य एव भूमा स एव विज्ञेय इति गम्यते। यद्यपि भूमन्शब्दो भावप्रत्ययान्तो बहुत्ववाचकस्तथापि अत्राल्पत्वनिवृत्तिलक्षणयाऽनवच्छिन्नवस्तुपरः। अ० दी० पृ० २२-२३।

१. परिदृश्यमान नानात्मक जगत् में अनन्त वैचित्र्य के मध्य भी एक शृङ्खला, व्यवस्था दिखाई देती है जो किसी एक नियामक विना सम्भव नहीं।

२. वह वस्तु एक ही है, क्योंकि जहाँ तक दो रहने की सम्भावना है, वहाँ उनमें परस्पर दृश्य-द्रष्टा-भाव बना रहेगा, और दृश्य कोटि के अन्तर्गत जितना कुछ हम पाते हैं उसमें से स्वप्न के समान मिथ्या होने की सम्भावना को दूर नहीं किया जा सकता, अतः इस मिथ्यात्व से रहित यदि कुछ है तो वह एक ही हो सकता है, जो स्वयं हमारे अपने आप से भी भिन्न न हो।

३. युक्ति से इस प्रकार संभावित, सभी में अनुस्यूत, अथ च सबसे अतीत उस एक तत्त्व को श्रुति ने ब्रह्म कहा है, जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है—सबसे बड़ा। उससे इतर 'सब' को श्रुति ने ही 'आर्त' कहा है, अतः वस्तुतः रहा एक ही।

४. जिसके समान कुछ नहीं, जिससे विलक्षण कुछ नहीं, वही ब्रह्म वस्तु है, अतएव वह अद्वय है।

५. सभी कुछ (विश्व) के परम आधार की खोज ब्रह्मतत्त्व की धारणा में पर्यवसित हुई है। परम आधार वही हो सकता है जो कहीं से व्यावृत्त न हो, साथ ही जिसका आधार होना है, उससे विलक्षण होना भी आवश्यक है, अतः वह कहीं अनुगत नहीं होना चाहिये। आकाश आदि अपेक्षाकृत व्यापक तत्त्व जो सर्वत्र अनुगत हैं, वे वायु आदि से व्यावृत्त हैं, अतः वे वायु का आधार व उद्भावक नहीं हो सकते। जो घट-पट आदि विशेष वस्तु कहीं अनुगत नहीं वह सभी से व्यावृत्त है अतः सर्वाधार नहीं हो सकतीं। अतः अव्यावृत्त तथा अननुगत वस्तु ही परमतत्त्व हो सकती है और ऐसी वस्तु अद्वितीय ही होगी।

२. सत्त्व

संसार की प्रत्येक वस्तु या स्थिति के साथ निरन्तर एक 'रहने' या 'होने' की भावना जुड़ी रहती है—'है' के रूप में। वह वस्तु—घड़ा, पशु, वृक्ष या अन्य कुछ, सुख-दुःख, प्रीति, इच्छा, इत्यादि कुछ भी—रहे या न रहे (उसका भाव हो या अभाव) इस 'है' का न होना कभी नहीं देखा जाता। तभी तो 'नहीं' कहने के साथ भी प्रकट या अप्रकट रूप में 'है' की प्रतीति होती ही है। 'है' का अनुभव हुए बिना किसी भी भाव या अभाव के अनुभव की असम्भावना है। अतः यह 'है' उस मूल तत्त्व का ही पक्षविशेष होना चाहिये जो (एकमात्र तत्त्व) 'मैं' तथा 'यह सब' की सभी संभव दशाओं में सर्वथा अनुस्यूत है।

स्वप्न व जागृति अवस्थाओं की अनुभूति के विश्लेषण में जान पड़ता है कि प्रत्यक्ष देखने, सुनने, स्पर्श करने आदि के विषय भी मिथ्या=झूठ=शून्य या न होने जैसे—हो सकते हैं, तो कदाचित् यह समस्त अनुभूयमान जगत् भी स्वाप्न जगत् के समान ही 'कुछ नहीं' हो ही सकता है, किन्तु इस सबसे पृथक् एक ऐसी वस्तु भी अननुभूत नहीं है जो जागृति में भी रहती

है, स्वप्न में भी, यहाँ तक कि सुषुप्ति में भी, जब कि अन्य किसी के भी होने या न होने का कोई बोध नहीं रहता, वह वस्तु बनी ही रहती है। क्योंकि बहुत बार जागने पर व्यक्ति कहता है कि मैं इतना गहरा सोया कि मैंने कुछ भी नहीं जाना। यह गहरी निद्रा का एवं कुछ न जानने का अनुभव करनेवाला कोई उस समय भी रहा हो तभी तो इस प्रकार की स्मृति हो सकती है। वह वस्तु अन्य कुछ नहीं हमारा अपना अस्तित्व ही है। अर्थात् और कुछ रहे या न रहे हमारा अपना अस्तित्व ('है'–पन) कभी नहीं मिटता। अतः ऊपर प्रतिपादित, कभी दूर न होने वाले 'है' के समकक्ष ही हमारा अपना आप (आत्मा) है। श्रुति कहती है कि 'है' (सत्यं) ब्रह्म का ही स्वरूप है, और आत्मा ब्रह्म ही है।[१]

छान्दोग्य उपनिषद् में मूलतत्त्व की खोज अन्ततः उस 'सत्' रूप तत्त्व में जाकर पर्यवसित हुई है, जो ('सत्') समस्त प्रजा (उत्पत्ति-विनाशशील जगत्) की उत्पत्ति के समय उस का कारण है, स्थिति के समय उसका आश्रय है तथा लय के समय उसकी प्रतिष्ठा या उसे अपने में समा लेने वाला आधार है।[२] कठोपनिषद् में कहा गया है कि 'है' इस रूप से वह ब्रह्मतत्त्व ही उपलब्ध होता है।[३]

योगवासिष्ठ के मङ्गलाचरण में ही परम तत्त्व की सत्यात्मकता कही गई।[४] सम्पूर्ण ग्रन्थ में **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** का भाव विविध प्रकार से सुस्पष्ट परिव्याप्त है। 'सत्' होने की परिभाषा की प्रवृत्ति इस प्राचीन ग्रन्थ में न होने पर भी **सर्वथा सर्वदा स्थितम्** द्वारा परिभाषा का बीजारोपण किया ही गया है।[५] मङ्गलाचरण में भी ब्रह्मसूत्रोक्त युक्ति **जन्माद्यस्य यतः** की विवृति सत्यता की परिभाषा की भूमिका ही है। पदार्थों की पदार्थता वही है अर्थात् जहाँ कहीं भी सत्ता है वह वही है।[६]

---

१. एकं सद्⋯⋯ऋ० १०।१६४।४६ ॥
सत्यं⋯⋯ब्रह्म। तै० उ० २।१।१ ॥
अयमात्मा ब्रह्म। बृह० उ० २।५।१९ ॥
सदेव सोम्येदमग्र आसीत्⋯⋯सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत्। छा० उ० ६।२।१,२ ॥

२. सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः। छा० उ० ६।८।६ ॥

३. अस्तीत्येवोपलब्धव्यः। कठ० २।३।१३ ॥

४. यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च।
यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः ॥ यो० वा० १।१।१ ॥

५. सर्वशक्ति परं ब्रह्म सर्ववस्तुमयं ततम्।
सर्वदा सर्वथा सर्वं सर्वैः सर्वत्र सर्वगम् ॥ वही ६।२।१४।८ ॥
यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यत् सर्वं सर्वतश्च यत्।
सर्वं सर्वतया सर्वं तत्सर्वं सर्वदा स्थितम् ॥ वही ६।२।१८४।४६ ॥

६. स पदार्थे पदार्थत्वं स तत्त्वं यदनुत्तमम्।
स सतो वस्तुनः सत्त्वमसत्त्वं वा सतः स्वतः ॥ वही ६।१।५९।१० ॥
आकाशपरमाणुसहस्रांशमात्रेऽपि या शुद्धचिन्मात्रसत्ता विद्यते
सा हि परमार्थसंवित् ॥ वही ६।२६१।६ ॥

आचार्य गौड़पाद द्वारा 'परमार्थतः अद्वैत ही है' के ही विविध प्रतिपादन में ध्वनित सत्यत्व के अतिरिक्त सत्-त्व विषयक पृथक् चर्चा नहीं उठाई गई।

छान्दोग्योपनिषद्भाष्य में वैशेषिक मत की ओर से शङ्का उठाई गई कि 'सत्' का सामानाधिकरण्य या सद्बुद्धि की अनुवृत्ति तो द्रव्य, गुण, कर्म आदि सभी पदार्थों में रहती है, तब एक अद्वितीय सत् क्यों कहा जाय? इसका निरास वैशेषिक मत के अनुकूल ही करते हुए कहा गया कि जहाँ इन विभिन्न पदार्थों में सद्बुद्धि है वहाँ उत्पत्ति से पूर्व तो इन्हें सत् नहीं माना जाता। इसलिये वेदान्ताभिमत सत् वैशेषिक-कल्पित सत् से अन्य ही है।[1]

जगत्-कारण रूप से सत् के विरोधी वैनाशिक मत का भी निरास युक्तिपूर्वक किया गया कि उत्पत्ति के पूर्व सत् के अभाव का भी साधक कोई प्रमाण नहीं। दूसरा विकल्प कहने वाली श्रुति सदभाव की साधिका नहीं, प्रत्युत विपरीत ग्रहण की निवृत्ति के लिये है। इसीलिये अगले ही वाक्य में उसका प्रतिषेधात्मक स्पष्टीकरण भी किया गया।[2]

स्थूल दृश्य शरीर से उपलक्षित जगत् को अङ्कुर रूप दिखाते हुए उसके मूल की सत्ता की ओर दृष्टि श्रुति द्वारा ही प्रेरित है।[3] उसके भाष्य में आचार्य शङ्कर ने सत्-त्व की और भी व्याख्या की है—अन्न-जल आदि कार्यों के द्वारा उनके कारण को खोजा जाता है; नाश-उत्पत्ति वाला होने से तेज भी अपने कारण का गमक है। उसके भी ऐसे मूल का शोध करना चाहिये जो परमार्थतः सत्य सद्रूप है। जैसे मृत्तिका के आश्रय विना घटादि की सत्ता व स्थिति है ही नहीं, वैसे ही स्थावर-जङ्गम जगत् का भी मूलकारण एवं आयतन सत् ही है, भले ही नामरूपात्मक जगत् स्वयं रज्जु में प्रतीयमान सर्प की भाँति अध्यस्त ही हो, किन्तु सर्वथा निराधार तो कल्पना भी नहीं हो सकती। जिनका मूल सत् है उनका आयतन भी सत् है और उनकी परिसमाप्ति भी सत् ही है।[4]

१. ननु वैशेषिकपक्षेऽपि............प्रागुत्पत्तेस्तु नैवेदं कार्यं सदेवासीदित्यभ्युपगम्यते वैशेषिकैः............तस्माद् वैशेषिकपरिकल्पितात्सतोऽन्यत्कारणमिदं सदुच्यते मृदादिदृष्टान्तेभ्यः॥ छा० उ० ६।२।१। पर भाष्य।
२. पुरुषस्य विपरीतग्रहणनिवृत्त्यर्थपरमिदमसदेवेत्यादि वाक्यं प्रयुज्यते।............कुतस्तु प्रमाणात् खलु हे सोम्य एवं स्यात्....न कुतश्चित् प्रमाणादेवं संभवतीत्यर्थः। वही॥
३. तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितं सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति॥ तस्य क्व मूलं स्यादन्यत्रान्नादेवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः............ तेजोमूलम्........तेजसा........सन्मूलमन्विच्छ, सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः॥ छा० उ० ६।८।३,४॥
४. यस्मिन् सर्वमिदं वाचारम्भणं विकारो नामधेयमनृतं रज्ज्वामिव सर्पादिविकल्पजातमध्यस्तमविद्यया तदस्य जगतो मूलमतः सन्मूलाः सत्कारणा हे सोम्येमाः स्थावरजङ्गमलक्षणाः सर्वाः प्रजा न केवलं सन्मूला एवेदानीमपि स्थितिकाले सदायतनाः सदाश्रया एव। न हि मृदमनाश्रित्य घटादेः सत्त्वं स्थितिर्वास्ति। अतो मृद्वत्सन्मूलत्वात् प्रजानां सदायतनं यासां ताः सदायतनाः प्रजाः, अन्ते च सत्प्रतिष्ठाः सदेव प्रतिष्ठा लयः समाप्तिरवसानं परिशेषो यासां ताः सत्प्रतिष्ठाः॥ वहीं, भाष्य।

यह जो सत् है यह आत्मा ही है, उसी से समस्त जगत् आत्मवान् है। यह सत् कारण ही परमार्थ सत् है, सत्य है। वही जगत् का प्रत्यक् स्वरूप सतत्त्व याथात्म्य है; वाह्य नाम-रूप तो नश्वर विकार मात्र हैं।[१]

इस प्रकार युक्ति, प्रतीति व श्रुति से मूल तत्त्व का 'सत्' रूप से ही होना जाना जाता है। किन्तु इस 'सत्' होने का वस्तुतः तात्पर्य क्या है, जिससे कि सत् होना मूल तत्त्व का ही स्वरूप माना गया और उससे इतर सभी कुछ में 'है' की प्रतीति होने पर भी इस प्रतीति का निरादर करके इस सभी कुछ को 'आर्त्त' (तुच्छ, मर्त्य, मिथ्या, अनृत) कहा व माना गया[२]—इसका स्पष्टीकरण आवश्यक है।

'सत्' शब्द सत्तार्थक भाववचन है, 'अस् भुवि' धातु से शतृ प्रत्यय लग कर निष्पन्न हुआ है। उससे इसका अर्थ है विद्यमान। अर्थात् असत् का जो विरोधी है, न रहने का (अविद्यमानता का) जो प्रतिपक्षी है वह सत् है। इसीलिये 'सत्' होने के साथ 'नित्य' होने की भावना भी संश्लिष्ट है, अथवा नित्यता को लेकर ही सत्यता का लक्षण सम्भव है। सर्वोपनिषत्सार में कहा गया है कि अविनाशी वस्तु सत् है; अविनाशी वह है जो सदा स्थिर है, नाम-देश-काल आदि का नाश होने पर भी जो नष्ट नहीं होता, जिसका कभी ध्वंस नहीं होता वही तत्त्व सत् है। इसी कारण श्रुति में ब्रह्म को 'सत्य' कहने के साथ ही 'अनन्त' भी कहा गया है।[३] वास्तव में 'सत्' उसी वस्तु का 'स्वरूप' कहा जा सकता है जिसे सर्वदा 'सत्' (है) ऐसा कहा जा सके, सर्वदा सत् होना कभी 'असत्' (नहीं है) न कहला सकने वाली वस्तु में ही संभव है। कभी असत् न होने का अर्थ है, कभी नष्ट न होना, दार्शनिक भाषा में कभी भी अभाव का प्रतियोगी न होना, यही नित्यता है और यही सत्स्वरूपता है। अतएव ये दोनों भाव पर्याय हैं, एवं इसी रूप में चर्चित भी हुए हैं।

भगवान् शङ्कराचार्य ने तैत्तिरीय-उपनिषद्भाष्य में 'सत्यं' शब्द की व्याख्या में कहा है कि जिस रूप से जो पदार्थ निश्चित होता है, अनुभूति का विषय बनता है, यदि वह उस रूप को कभी न त्यागे, उसका वह रूप कभी अन्यथा न हो, व्यभिचरित न हो तो वह पदार्थ सत्य कहलाता है।[४] ('निश्चित' शब्द के प्रयोग में स्वयंप्रकाशता का अर्थ भी निहित है, क्योंकि जो वस्तु स्वयंप्रकाश नहीं वह स्वरूप से उपलब्ध नहीं होगी, क्योंकि वह जिसके द्वारा प्रकाशित होगी उस के अधीन होगी, इसीलिये उसका स्वरूप अनिश्चित होगा।) फिर 'अनन्त' पद की

१. स यः सदाख्य एष उक्तोऽणुभावो जगतो मूलम्....एतेन सदाख्येनात्मनाऽऽत्मवत्सर्वमिदं जगत्।........येन चात्मनाऽऽत्मवत्सर्वमिदं जगत् तदेव सदाख्यं कारणं सत्यं परमार्थसत्। अतः स एवात्मा जगतः प्रत्यक्स्वरूपं सतत्त्वं याथात्म्यम्। छा० उ० ६।८।७ पर भाष्य।

२. अतोऽन्यदार्त्तम्। बृह० उ० ३।४।२॥

३. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। तै० उ० २।१।१॥

४. यद्रूपेण यन्निश्चितं, तद्रूपं न व्यभिचरति तत्सत्यम्। यद्रूपेण निश्चितं यत्तद्रूपं व्यभिचरदनृतमित्युच्यते। अतो विकारोऽनृतम्। अतः सत्यं ब्रह्मेति ब्रह्म विकारान्निवर्तयति॥
तै० उ० भा० पृ० १०३–४।

व्याख्या में कहा है कि अनन्तता तीन प्रकार की होती है—देश से, काल से व वस्तु से। जैसे आकाश देशतः अनन्त है, देश का परिच्छेद उसमें नहीं है, (अमुक स्थान पर आकाश नहीं है—यह नहीं कह सकते) पर 'अग्नि आकाश नहीं है' तथा 'सृष्टि से पहले आकाश नहीं था' कहा जा सकता है अतः वस्तु व काल की सीमाओं से आकाश सीमित है। काल से परिच्छिन्नता ऐसी सब वस्तुओं में है जो किसी का कार्य हैं, तथ जिनका कभी नाश होने की सम्भावना है।[१] ब्रह्म वस्तु सीमा की अपेक्षा से भी अनन्त है क्योंकि वह सभी से अनन्य है, किसी से भिन्न नहीं। भिन्न वस्तु दूसरी वस्तु का अन्त हुआ करती है। एक-वस्तु-विषयक ज्ञान प्रसक्त दूसरी वस्तु के ज्ञान से निवृत्त हो जाता है। जहाँ से जिसका ज्ञान विनिवृत्त हो जाय वह उस वस्तु ('यह घट है' ऐसे ज्ञान के क्षेत्र सभी घट हैं, किन्तु पुस्तक सामने हो तो 'यह घट है' ज्ञान लौट जाता है, 'यह पुस्तक है' ज्ञान उत्पन्न होता है, अतः पुस्तक घट-बुद्धि) का अन्त या सीमा है। यह सीमा भिन्न या नाना रूप से अनुभवगोचर वस्तुओं में ही होती है। ब्रह्म में भेद नहीं अतः वह वस्तुतः अनन्त है।[२] वह सभी से अनन्य है क्योंकि सभी का कारण है। 'काल' व 'आकाश' जैसी व्यापक वस्तुओं का भी वह कारण है। यह नहीं कहा जा सकता कि नाना कार्यों की अपेक्षा से ब्रह्म में वस्तु-परिच्छेद आ जाता है, क्योंकि कार्यवस्तु अनृत है और ब्रह्म ही सत् है।[३] ब्रह्म किसी का कार्य नहीं, लोक में जो एक सर्वगत वस्तु है वह भी उसी से उत्पन्न हुई है।[४] निरतिशय अनन्तता होने से आत्मा में निरतिशय सत्यता है।[५] और तत्त्वतः उसी में सत्यता है, अतः सत्यत्व उसका स्वरूप है।[६]

आचार्य शंकर द्वारा उपनिषद्भाष्य में विख्यात अनन्तत्व के आधार पर गोविन्दानन्द ने 'रत्नप्रभा' में नित्यता की परिभाषा एक वाक्य में करते हुए कहा है कि त्रिविध (देश-काल

१. त्रिविधं ह्यानन्त्यम्, देशतः कालतो वस्तुतश्चेति। तद्यथा देशतोऽनन्त आकाशः। न हि देशतस्तस्य परिच्छेदोऽस्ति। न तु कालतश्चानन्त्यं वस्तुतश्चाकाशस्य, कार्यत्वात्। नैवं ब्रह्मण आकाशवत्कालतोऽप्यन्तवत्त्वमकार्यत्वात्।.........
तै० उ० भा० पृ० ११६–१७।

२. ....वस्तुत आनन्त्यं सर्वानन्यत्वात्। भिन्नं हि वस्तु वस्त्वन्तरस्यान्तो भवति। वस्त्वन्तरबुद्धिर्हि प्रसक्ताद् वस्त्वन्तरान्निवर्तते। यतो यस्य बुद्धेर्विनिवृत्तिः स तस्यान्तः।.........स चान्तो भिन्नेषु वस्तुषु दृष्टः। नैवं ब्रह्मणो भेदः। अतो वस्तुतोऽप्यानन्त्यम्। तै० उ० भा० पृ० ११७।

३. सर्वानन्यत्वं ब्रह्मणः सर्ववस्तुकारणत्वात्। सर्वेषां हि वस्तूनां कालाकाशादीनां कारणं ब्रह्म। कार्यापेक्षया वस्तुतोऽन्तवत्त्वमिति चेन्न, अनृतत्वात् कार्यवस्तुनः। तै० उ० भा० पृ० ११८।

४. आकाशो ह्यनन्त इति प्रसिद्धं देशतः, तस्येदं कारणं तस्मात् सिद्धं देशत आनन्त्यम्। न ह्यसर्वगतात् सर्वगतमुत्पद्यमानं लोके किञ्चिद् दृश्यते। तै० उ० भा० पृ० ११८।

५. निरतिशयमानन्त्यमात्मनः, देशतस्तथाऽकार्यत्वात् कालतः, तद्भिन्नवस्त्वन्तराभावाच्च वस्तुतः। अत एव निरतिशयसत्यत्वम्। तै० उ० भा० पृ० ११९।

६. स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा.........। छा० उ० ६।९।४।

व वस्तु सम्बन्धी) परिच्छेद (सीमा) से रहित होना ही नित्यता है, अर्थात् सर्व॰, सर्वदा सर्वथा होना ही नित्यता है।[१]

सुरेश्वराचार्य ने बृहदारण्यकभाष्यवार्त्तिक में कहा है कि जो कुछ दृश्यमान है इस सबका तत्त्व सत् ही है, यह तथ्य प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम से भी सिद्ध होता है।[२] परस्पर व्यावृत्त अनन्त असाधारण रूपों में, सभी में जो एक आभासमान है, वही इन सबका कारण है, और वह सत् है।[३] कारण सत् होने के कारण सभी कुछ यदि सदात्मक है तो सर्वदा उपलब्ध क्यों नहीं होता, ऐसी आशंका पर उत्तर दिया है कि विद्यमानता-मात्र अभिव्यक्ति की प्रयोजक नहीं। सत् ही वस्तु अभिव्यक्त तथा अव्यक्त दोनों रूपों से रह सकती है। जो उपलब्ध हो वही सत् है—यह नियम नहीं है। तथा पृथक्-पृथक् कार्यों के रूप में सर्वदा अभिव्यक्ति न रहने पर भी 'सत्' रूप से सर्वदा अभिव्यक्ति रहती है। 'सत्' का भान कभी भी हटता नहीं।[४]

जो भी अभिव्यक्त या प्रकाशित होता है, वह अपने कारण की सत्ता के बल से ही प्रकाशित होता है। जो नहीं है उसका ज्ञान नहीं होता जैसे नृश्रृङ्ग या वन्ध्यापुत्र कभी जाना नहीं जाता। प्रकट होने के लिये सत्ता अवश्य अपेक्षित है।[५] जो सभी कुछ का कारण है उसे अवश्य ही सत् मानना होगा।

सुरेश्वर द्वारा सत्कारणतावाद के प्रसङ्ग में सङ्केतित इस—प्रकाश व सत्त्व में परस्पर अविनाभाव की युक्ति का फलित रूप आचार्य वाचस्पति द्वारा भामती में सत्त्व के निरूपण में दिखाई देता है। कहा गया है परमतत्त्व सत् है। इसकी सत्ता का अर्थ है अबाधित स्वयं-प्रकाशता जो इसका स्वरूप ही है, न्यायसम्मत सत्तासामान्यसमवाय या सत्ताजाति नहीं, बौद्धों

१. बृंहणाद् ब्रह्मेति व्युत्पत्त्या देशकालवस्तुतः परिच्छेदाभावरूपं नित्यत्वं प्रतीयते।
र० प्र० १।१।१, पृ० ८७।

२. सद्बीजं सत्प्रतिष्ठं च सदायतनमेव च।
प्रत्यक्षमेव सत्सिद्धं सदन्यस्याप्रसिद्धितः॥ बृ० भा० वा० १।२।१०॥
सदेवागमतः सर्वं प्रत्यक्षाच्च सदीक्ष्यते।
अनुमानाच्च सत्सर्वं यथा तदधुनोच्यते॥ वही १।२।३०।

३. असाधारणरूपेषु व्यावृत्तेष्वितरेतरम्।
बहुष्वेकं यदाभाति प्रत्यक्षं कारणं तु तत्॥ वही १।२।५६।

४. न विद्यमानमात्रेण ह्यभिव्यक्तिरपीष्यते।
सदेव वस्त्वभिव्यक्तं तथाऽव्यक्तं च लक्ष्यते॥ वही १।२।७७॥
कार्यान्तरेण संस्थानान्मृदादेर्नोपलभ्यते।
सदात्मनोपलब्धिस्तु न कदाचन हीयते॥ वही १।२।९१॥

५. सत्त्वपूर्वमिदं कार्यं तमोऽन्तस्थघटादिवत्।
तस्याभिव्यक्तिधर्मत्वादन्यथा स्यान्नृश्रृङ्गवत्॥ वही १।२।७४

द्वारा कही गई अर्थक्रियाकारिता भी नहीं।[1] अर्थात् 'सत्' होने का सही अर्थ बाधित न होते हुए स्वयंप्रकाश होना है। प्रकाशित होना वस्तु की सत्ता का सूचक अवश्य है किन्तु निर्धारक नहीं, क्योंकि सत् होने के पूर्वोक्त लक्षण (काल से परिच्छिन्न न होना) से रहित वस्तु का भी प्रकाशित होना देखा जाता है। तथा अन्य किसी के कारण प्रकाशित की जाने वाली वस्तुओं की सत्ता निश्चित नहीं देखी जाती, अपने आप ही प्रकाशित रहने वाली वस्तु है— सभी का अपना 'स्वयं' (आत्मा)। उसकी सत्ता निश्चित है, वह जगत् के परमतत्त्व से भिन्न नहीं, अतः अबाधित स्वयंप्रकाशता ही सत्ता है। शारीरक भाष्य के 'नित्यानित्यवस्तुविवेक' की व्याख्या में भामतीकार ने नित्यत्व का अर्थ सत्यत्व कहा है।[2] जो वस्तु स्वयंप्रकाश नहीं वह स्वरूप से उपलब्ध नहीं होगी क्योंकि वह जिससे प्रकाशित होगी उसके अधीन होगी, इसी से उसका स्वरूप अनिश्चित होगा। इस प्रकार अबाधितता पर वाचस्पति-कृत विचार इस विषय में सर्वोत्तम है।

सर्वज्ञात्म मुनि ने संक्षेपशारीरक में परमतत्त्व के स्वरूप में 'नित्य' 'सत्य' तथा 'सत्' इस प्रकार पृथक्-पृथक् विशेषण एक ही वाक्य में दिये हैं।[3] मधुसूदन सरस्वती ने उस पंक्ति की टीका (सारसंग्रह नाम्नी) में इन तीन विशेषणों का तात्पर्य कहा है। तदनुसार कालत्रया-परिच्छेद्यता नित्य होना है अर्थात् अतीत, वर्तमान व भविष्य तीनों कालों की सीमा से अतीत होना नित्यता है। त्रिकालाबाध्य होना (तीनों कालों में बाधित न होना—अपने अधिष्ठान में सर्वदा रहना) सत्यता है। तथा भाव-स्वरूप अर्थात् वस्तु रूप होना ('वस् निवासे' तथा 'भू सत्तायाम्' धातुओं के प्रयोग के योग्य होना) शून्य से विपरीत होना सत् होना है। ये तीनों स्थितियाँ केवल ब्रह्मतत्त्व में ही संभव हैं, अतः वही वस्तुतः (परमार्थतः) सत् व नित्य है।[4]

विद्यारण्य ने पञ्चदशी में भामतीकार की ही व्याख्या को स्वीकार करते हुए सत्य होने का अर्थ बाध से रहित होना कहा है।[5] बाध का शाब्दिक अर्थ है निषेध। जिसका कभी भी निषेध न हो सके ऐसी वस्तु ब्रह्म ही है। क्योंकि संसार की सभी वस्तुओं का किसी न किसी दशा में, कभी न कभी निषेध होता ही है। सभी बाधयोग्य वस्तुओं के बाध के

---

१. चिदात्मा तु.........सत्त्वेनैव निर्वाच्यः। अबाधिता स्वयंप्रकाशतैवास्य सत्ता। सा च स्वरूपमेव चिदात्मनः, न तु तदतिरिक्तं सत्तासामान्यसमवायोऽर्थक्रियाकारिता वा॥
बा० १।१।१, पृ० २५।

२. नित्यत्वं सत्यत्वं, तद्यस्यास्ति तन्नित्यं सत्यं तथा चास्थागोचरः।
अनित्यत्वमसत्यत्वं तद् यस्यास्ति तदनित्यमनृतं तथा चानास्थागोचरः॥ वही।

३. नित्यः शुद्धो बुद्धमुक्तस्वभावः सत्यः सूक्ष्मः सन् विभुश्चाद्वितीयः॥
सं० शा० १।१७३।

४. वस्तुतः कालत्रयापरिच्छेद्यो नित्यः। सत्यः त्रिकालाबाध्यः।
सन् विद्यमानो भावस्वरूप इति वा। सा० सं० पृ० १४०।

५. सत्यत्वं बाधराहित्यम्...........। पं० द० ३।२९।

पश्चात् जो शेष रहता है वही ब्रह्म है। इसीलिये श्रुति में 'स एष नेति-नेति' कहते हुए समस्त बाध्य के परे निर्बाध ब्रह्म को शेष रखा है।[1] ब्रह्म ही सर्वदा है, सर्वरूप है, सर्वव्यापी है—त्रिधा अनन्त है।[2]

रामाद्वय ने वेदान्तकौमुदी में अद्वैत वस्तु के लक्षण में आत्मा के प्रति 'सद् वस्तु' विशेषण दिया है उसका अभिप्राय प्रकाश करते हुए कहा है कि अनेक सद् वस्तुओं में से एक आत्मा भी है, इसलिये सत् है—ऐसा अवयुत्यवाद अभिमत नहीं, प्रत्युत सत् वस्तु केवल आत्मा ही है।[3]

आनन्दानुभव ने न्यायरत्न-दीपावली में सिद्ध किया है कि सत्त्व सत्ता-जाति (नैयायिकाभिमत) हुए बिना किस प्रकार ब्रह्म के स्वरूप से अभिन्न है। कहा है—यदि कुम्भ आदि से सत् होना भिन्न हो तो 'कुम्भादि हैं' (घटः सन्) ऐसी प्रतीति नहीं हो सकती। यदि कहें कि उनमें सत्ता जाति है इसी से 'वे हैं' ऐसी प्रतीति होती है, तो ठीक नहीं, क्योंकि गोत्व आदि जातियों में तो सत्ता-जाति है नहीं (उनके स्वयं जातिरूप होने से, जाति में जाति न होने से) तो 'गोत्व है' ऐसा व्यवहार नहीं होना चाहिये। यदि कहें कि गोत्व आदि की स्वरूपभूता सत्ता के आश्रयण से वहाँ 'सत्' व्यवहार होता है, तो गोत्व, घटत्व, अश्वत्व आदि सबमें अनुस्यूत सद्व्यवहार नहीं हो सकेगा। यदि कहें कि गोत्व आदि में स्वरूपसत्त्व के साधर्म्य से सत्ता का अध्यारोप होता है, उसी से सभी में 'सत्, सत्' ऐसी अनुगत प्रतीति होती है, तो द्रव्य आदि में भी उसी प्रकार से सत् प्रतीति हो जायेगी फिर सत्ता-जाति मानना व्यर्थ होगा।[4] यदि कहें कि द्रव्य आदि में मुख्य सत्ता न रहने से वहाँ सत्ता का आरोप नहीं हो सकता—तो ठीक नहीं, क्योंकि सर्वात्मा (ब्रह्म, सभी के मूल तत्त्व) में आगम द्वारा

---

१. अपनीतेषु मूर्तेषु ह्यमूर्तं शिष्यते वियत्।
शक्येषु बाधितेष्वन्ते शिष्यते यत् तदेव तत्॥
सर्वबाधे न किञ्चिच्चेद् यन्न किञ्चित् तदेव तत्।
भाषा एवात्र भिद्यन्ते निर्बाधं तावदस्ति हि॥
अतएव श्रुतिर्बाध्यं बाधित्वा शेषयत्यदः।
स एष नेति नेत्यात्मेत्यतद्व्यावृत्तिरूपतः॥ पं० द० ३।३०-३२॥

२. न व्यापित्वाद् देशतोऽन्तो नित्यत्वान्नापि कालतः।
न वस्तुतोऽपि सार्वात्म्यादानन्त्यं ब्रह्मणि त्रिधा॥ वही ३५॥

३. न च तत्त्वसमुदायस्य विभज्यैकदेशेन कथनमवयुत्यवादो यदेकात्मतत्त्वकीर्त्तनम्। वे० कौ० पृ० ८८।

४. यदि सत् कुम्भादिभ्यो भिन्नं भवेत्तदा न कुम्भादयः सन्तीति प्रतीतिः। कुम्भादौ सत्प्रतीतिः सत्ताजातिसम्बन्धादिति चेन्न। गोत्वादौ सद्व्यवहाराभावप्रसङ्गात्। नायं दोषः, गोत्वादौ स्वरूपसत्ताश्रयणादिति चेन्न। तेष्वनुगतसद्व्यवहारविरहापत्तेः। गोत्वादिषु स्वरूपसत्त्वसाधर्म्येण सत्ताध्यारोपात्। सत्सदित्यनुगम इति चेन्न। द्रव्यादिष्वपि तथैवानुगमप्रसङ्गात्। न्या० र० दी० पृ० ९८-९९।

मुख्य सत्त्व सिद्ध है।[1] इसी प्रकार से और भी युक्ति-प्रसार करते हुए अन्त में कहा है 'हे सौम्य यह सब कुछ सत् ही था' इस युक्ति द्वारा कथित सभी की स्वरूप-भूत सत्ता के आश्रयण से ही सर्वत्र सद्-व्यवहार की उपपत्ति सम्भव रहते अनन्त सत्ताओं की कल्पना करना व्यर्थ है, फिर उनकी भी किसी अन्य सत्ता की कल्पना से अनवस्था होगी। अतः श्रुति व न्याय (युक्ति) द्वारा सिद्ध, अखिल भेदों से रहित, एकमात्र सत् तत्त्व (ब्रह्म) में ही अध्यस्त होने के कारण जगत् की वस्तुओं में सद्-व्यवहार होता है।[2]

गङ्गाधरेन्द्र सरस्वती ने स्वाराज्यसिद्धि में, आनन्दानुभव के समान युक्तियों से सत्ता जाति तथा अर्थक्रियाकारित्व रूप सत्त्व का निराकरण करते हुए, मधुसूदन सरस्वती के समान त्रिकालाबाध्यत्व को ही सत्त्व-लक्षण मानते हुए सिद्ध किया है कि सत्त्व केवल ब्रह्म का ही स्वरूप है। अबाध्यत्व को बाध्यत्वाभाव रूप माना है जिससे कि वह पृथक् भाव रूप होकर ब्रह्म के अद्वयत्व का व्याघात न करे। सत्ता जाति के निराकरण में एक नई युक्ति यह दी है कि स्वतः बाध्य पदार्थ का सहस्रों धर्मों के प्रवेश से भी अन्ततः त्राण सम्भव नहीं और वस्तु स्वयं ही अबाध्य हो तो सत्ता जाति की कल्पना व्यर्थ है, अतः ब्रह्म का स्वरूप ही सत्त्व है। इसके अतिरिक्त ग्यारह हेतु देते हुए ब्रह्म का सत्यत्व सिद्ध किया है। वे हेतु हैं—

१. सूक्ष्मतम वस्तु में श्रुति द्वारा परम सत्यता स्थिर की गई है और जागतिक पदार्थों में सर्वाधिक सूक्ष्म आकाश का भी ब्रह्म आधार है। अथवा वह आकाश भी उस परम तत्त्व में 'ओत-प्रोत' है, अतएव वह सूक्ष्मतम है।

२. आकाश जैसे नीलिमा का आधार है, वैसे ही ब्रह्म जगत् का आधार है। वह नीलिमा वस्तुतः कुछ नहीं, अगाध आकाश में देखने वाले की दृष्टि की सीमा मात्र है, भ्रम से नीलवर्ण दिखाई देता है। ऐसे ही ब्रह्म वस्तु निखिल नानात्व के प्रतीयमान सद्भाव की सीमा है अथवा उसी की सत्ता भ्रम से जगत् रूप में दिखाई देती है।

३. वह तत्त्व कहीं से व्यावृत्त नहीं, अर्थात् उसकी कोई सीमा नहीं, अन्त नहीं, 'यहाँ वह नहीं' ऐसा नहीं कहा जा सकता।

४. वह कहीं पर वृत्तिता-नियामक सम्बन्ध से स्थित नहीं, अर्थात् उसका कोई आधार नहीं, अतः निरतिशय सत्ता वाला है।

---

१. न च मुख्यसत्ताऽभावान्न द्रव्यादिषु सत्तारोपः, सदेव सोम्येदमित्याद्यागमसिद्धस्य सर्वात्मनो मुख्यसत्त्वस्य भावात्। सत्तया सहैकार्थसमवायात् गोत्वादिषु सद्-व्यवहारानुगम इति चेन्न। गोत्वसत्तासमवाययोः सत्प्रत्ययानुगमविगमप्रसङ्गात्।
वही पृ० ९९।

२. स्वरूपसत्वेनैव ज्ञातः तथास्त्विति चेत् तर्हि सदेव सोम्येदमित्यादिवेदोदितसर्व-स्वरूपसत्ताश्रयणेन सर्वत्र सद्व्यवहारोपपत्तावनन्तसत्ताकल्पनावैयर्थ्यम्। ततः सदन्तरकल्पनेऽनवस्थानात् सत्ताप्रतीतेर्मूलक्षतिरक्षता। अतः श्रुतिन्यायसिद्धे विगलिताखिलभेदे सत्तत्वे जगदध्यस्तं सद्व्यवहारगोचर इत्यास्थेयम्।
वही, पृ० १००–१०१।

५. सभी बाधों की वह अवधि (सीमा) है। अर्थात् वस्तुतः सत् क्या है इस खोज में संसार की प्रत्येक वस्तु का निषेध होता चलता है और यह निषेध-परम्परा समाप्त होती है ब्रह्मतत्त्व में जाकर।

६. वह अखिलदृक् है। जितना कुछ दृश्य है उसमें से मिथ्यात्व की संभावना नहीं मिट सकती, किन्तु द्रष्टा की अवधि की सत्ता में कभी सन्देह भी नहीं होता, द्रष्टा की सत्ता में बौद्ध सन्देह करता है, किन्तु द्रष्टा की अवधि तो शून्यवादी का शून्य भी है। द्रष्टा के बारे में कभी अनिर्वचनीयता प्रयुक्त नहीं हो सकती, वह या भाव होगा या अभाव। प्राणिमात्र का स्वानुभव द्रष्टा के अभावरूप होने के विरुद्ध है, अतः उसकी भावरूपता स्वतःसिद्ध है। उस द्रष्टा का मूल है ब्रह्म, अतः वह अवश्य सत् है।

७. वह अविरुद्ध है। इससे सम्भवतः वस्तु-परिच्छेदराहित्य कहा गया है।

८. वह सर्वगत है—इससे देश-परिच्छेदराहित्य कहा गया।

९. वही आत्मा है।

१०. वही साक्षी है, अन्य द्रष्टा का श्रुति द्वारा निषेध होने से।

११. अपने अस्तित्व की प्रतीति ब्रह्म की सत्ता में प्रमाण है, क्योंकि अपने आत्मा से वह भिन्न नहीं।[1]

इस प्रकार परमतत्त्व के सत्-पक्ष का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन सम्पूर्ण अद्वैतधारा में चलता रहा है, जिसमें प्रमुखरूप से त्रिविध परिच्छेदरहितता, नित्यता, अबाधितता, स्वयं-प्रकाशता, अस्मत्प्रतीतिसिद्धता, एवं समस्तकल्पनाधारता—इन युक्तियों से परमतत्त्व की परमार्थसत्ता की परिभाषा एवं सिद्धि की गई है।

---

१. सत्यत्वं तस्य सौम्यान्नभस इव जगन्नीलिमाधारभावाद्,
अव्यावृत्तेरखिलदृशितया सर्वबाधावधित्वात्।
निस्सङ्गत्वाविरोधात् सकलगततयाऽऽत्मत्वतः साक्षिभावाद्,
अन्यद्रष्टुर्निषेधात् स्फुटवचनशतैः स्वानुभूत्या च सिद्धम्॥　　स्वा०सि० ४।३८।

३. चित्-त्व

श्रुति कहती है—'वह चिन्मात्र है' 'चिदेकरस है' 'उत्पत्ति-विनाशरहित, अप्रतिहत 'चैतन्य है'[1] तथा—'उसे प्रज्ञा रूप से जाने' 'प्रज्ञान ब्रह्म है' 'विज्ञान ब्रह्म है' 'ज्ञान ब्रह्म ही है'[2] तथा—'वह तम से परे है' 'उदय-अस्तरहित प्रकाश-स्वरूप है' 'वही प्रकाश है, उसी प्रकाश से अन्य सब कुछ प्रकाशित होता है।'[3]

इस प्रकार चित्, ज्ञान व प्रकाश इन तीन रूपों में कहा गया परमतत्त्व का स्वरूप क्या है ?

चित् शब्द 'चिती सञ्ज्ञाने' धातु से (क्विप् प्रत्यय से) निष्पन्न है। सञ्ज्ञान का अर्थ है जीवन, चेतना, प्रत्यय, अनुभव। जगत् में चर व अचर द्विविध पदार्थ दिखाई देते हैं। इनमें संज्ञान—(जीवन या अनुभूति)-रहित को अचर जड़ कहते हैं। जिन वस्तुओं को जड़ समझा जाता है, उनमें ज्ञान-शून्यता, किसी के द्वारा प्रकट किया जाना भी देखा जाता है। ऐसे जड़ से विपरीत या अतीत सञ्ज्ञान-सार या अनुभूति का मर्म होना ब्रह्म का चित् होना है। वह चैतन्य का उत्स है जगत् के आधार रूप में जो तत्त्व है वह अवश्य जगत् में दिखाई देने वाली प्रत्येक सीमा, अभाव, न्यूनता से रहित व इससे परे है—इस धारणा के साथ-साथ जगत् का मूल खोजती हुई विचारधारा में जीवन तथा ज्ञानतत्त्व का अन्वेषण परमतत्त्व को चित्स्वरूप जानकर चरितार्थ हुआ।

ब्रह्म चित्स्वरूप है। चित् की ही त्रिविध अभिव्यक्तियाँ हैं—जीवन, ज्ञान व प्रकाश। इनमें से जीवन वह वस्तु है जिससे रहित वस्तु जड़ कहलाती है। 'जड़' का अभिप्राय है जहाँ प्राणमय कोश प्रकट न हो, अथवा मनोमय एवं विज्ञानमय कोश उद्भूत न हों, अथवा चेतन की संकुचित शक्ति ही जड़ता है। जड़ कोई चेतन से विपरीत स्थिति नहीं। विपरीतता मानने से तो चैतन्य की सर्वव्यापकता एवं अखण्ड अद्वितीयता व्याहत होगी। वह जीवनतत्त्व क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में प्राण, मन व बुद्धि ये तीन वस्तुएं आयीं किन्तु कोई उचित, अपेक्षित समाधान न कर पाईं, प्राण का स्वरूप वायु मात्र है जो देह को बनाने वाले अन्य भूतों में से ही एक है। प्रश्नोपनिषद्, छान्दोग्य उप०, बृहदारण्यक, में, इनके भाष्य में तथा बृह०भा० वार्तिक में एक सूक्ष्मतर प्राणतत्त्व की चर्चा की गई है जो पञ्चप्राणों में से अन्यतम नहीं, प्रत्युत ये पञ्चप्राण उस मुख्य प्राण की वृत्तियाँ हैं। वह मुख्य प्राण मन-बुद्धि के प्रयाण के पश्चात् भी शरीर में रहता है अतः इनसे सूक्ष्मतर एवं स्थिरतर है, उस प्राण के प्रयाण करने पर ही शरीर से जीवन भी जाता है। यह प्राण हिरण्यगर्भ नाम से जीव के निकटतम या समकक्ष

---

१. चिदेकरसो ह्ययमात्मा। नृ० उ० १।
उत्कृष्टतमं चिन्मात्रम्। नृ० उ० ५।
२. प्रज्ञेत्येनदुपासीत। बृह० उ० ४।१।२ प्रज्ञानं ब्रह्म। ऐत० ५।३।
विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। बृह० उ० ३।९।२८।
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। तै० उ० २।१।१।
३. आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्। श्वे० ३।८।
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। कठ० २।२।१५।

वस्तु है। किन्तु, वह भी तो स्वयं किसी के द्वारा नियन्त्रित है। मन तथा बुद्धि भी इन सब स्थूल भूतों के ही सूक्ष्म रूपों से बने हैं तथा अपना संयोग किसी देह के साथ रखने व हटाने में समर्थ नहीं, अतः इन सबके परे स्थित ही कोई तत्त्व जीवन व अनुभूति का उत्स है। वास्तविक तत्त्व या वस्तु जब एक ही है तो यह जीवन व अनुभूति-तत्त्व भी उससे पृथक् नहीं हो सकता अतः यह परमतत्त्व का स्वरूप ही है।

पहले सत्-ता की व्याख्या में देखा गया कि किसी भी रीति से उसका अर्थ किया जाय, विद्यमानता उसके साथ-साथ संश्लिष्ट है। यही नहीं, विद्यमानता ही वस्तु की सत्-ता की ओर ध्यान आकर्षित करती है। विद्यमान शब्द का अर्थ है "जाना जाता हुआ"। कोई वस्तु है या नहीं, इसका प्रथम निर्णायक होता है उसका जाना जाना। इसीलिये सत्ता का प्रथम (आस्तिक व नास्तिक सभी दर्शनों में आपाततः स्वीकृत) लक्षण प्रकाशमानता (प्रकाशित-होना) ही माना जाता है, फिर इस प्रकाशमानता से वास्तव में सत्ता का नियत (अयुतसिद्ध) सम्बन्ध है या नहीं इसका विचार उठने पर स्वयंप्रकाशमानता ही वास्तविक सत्ता है, ऐसा निर्धारण वाचस्पति मिश्र द्वारा भामती में किया गया। इस प्रकार स्वयंप्रकाश होना भी परमतत्त्व के स्वरूप का अपरिहार्य पक्ष बना। जगत् की जड़ता किसी अन्य द्वारा प्रकाशित होने से और आत्मा की चित्स्वरूपता उससे विपरीत स्वयंप्रकाश होने से है। इनमें से जो चित् है वही सत् है क्योंकि स्वयंप्रकाश है और जो वैसा नहीं वह अचित् (जड़) है, और इसीलिये अनृत (असत्य) है। किन्तु किसी न किसी प्रकार की प्रकाशमानता उसमें है अवश्य, जिसके द्वारा इसके सत् होने की भ्रान्ति उत्पन्न होती है। जागतिक वस्तुओं की प्रकाशमानता का रहस्य भी परमतत्त्व का चित्स्वरूप होना ही है। उसी के प्रकाश से जगत् प्रकाशमान (प्रकाशित, प्रकाशयुक्त) है और वह स्वयं प्रकाश ही है।

प्रकाश होने का अर्थ है ज्ञान-स्वरूप होना, अर्थात् स्वयंप्रकाश होना, अर्थात् अन्य किसी प्रकाश द्वारा प्रकाशित न होना[1]; यहाँ प्रकाश का अर्थ जड़ आलोक नहीं, अर्थात् अग्नि या तेजस् का गुण रूप प्रकाश नहीं, केवल ज्ञान-रूपता की अभिव्यक्ति के लिये आलोक या प्रकाश की समता को लेकर ही प्रकाश, ज्योति इत्यादि व इनके समानार्थक शब्दों का प्रयोग ब्रह्म के स्वरूप-प्रतिपादन में किया गया है, स्थूल ज्योति वहाँ अभिप्रेत नहीं। केवल ज्योति के एक उपयोग—अपने सम्पर्क में आने वाले सभी कुछ को स्पष्ट अभिव्यक्त, ज्ञानगम्य बना देना—के साम्य को लेकर ही चित् के वास्तविक अर्थ संज्ञान में प्रकाशरूपता अर्थ का योग हुआ है। वही 'संज्ञान', 'प्रज्ञान', 'विज्ञान' इत्यादि शब्दों में कहा गया तथा 'स्वयंज्योतिः' 'भाः' 'आदित्यवर्णः' 'देवः' इत्यादि रूप में विवृत हुआ है, क्योंकि मूल ज्ञान का विश्लेषण करते समय उसे अन्धकार के विरोधी प्रकाश की समता लेते हुए ही समझाना संभव हुआ। और इस प्रकाश को परम-तत्त्व से अभिन्न होने के लिये स्वयंप्रकाश होना अनिवार्य था।

योगवासिष्ठ में बहुधा कहा गया है कि परम वस्तु, शुद्धसंवित्-मय तथा प्रकाश स्वरूप है, वही स्वयं को तथा अपने से अन्य के समान प्रतीत होने वाले समस्त दृश्यवर्ग को प्रकाशित करता है।[2]

---

१. इस विषय का विस्तृत विवेचन 'ज्ञानमीमांसा' में द्रष्टव्य है।

२. ज्ञाता ज्ञानं तथा ज्ञेयं द्रष्टादर्शनदृश्यभूः ।
कर्ता हेतुः क्रिया यस्मात् तस्मै ज्ञप्त्यात्मने नमः ॥ यो० वा० १।१।२ ॥

आचार्य गौड़पाद द्वारा माण्डूक्यकारिका में ब्रह्म के प्रति अभिन्न रूप से कहे गये **'ज्ञानालोकम्' 'अनिद्रम्' 'अस्वप्नं'[१] 'सकृद्-विभातं' 'सर्वज्ञं'[२] सकृज्ज्योतिः'[३]** इत्यादि विशेषण ब्रह्म के चित्-स्वरूप के प्रतिपादक हैं। इनसे चित् के प्रमुख रूप से दो अर्थ अवगत होते हैं— ज्ञान एवं प्रकाश। 'तुरीय तत्त्व' सदा 'सर्वदृक्' है, 'अनन्यदृक्' है तथा 'देव' है, अर्थात् स्वयं ही प्रकाश-स्वरूप होने के कारण, वह किसी अन्य प्रकाश द्वारा प्रकाशित नहीं होता एवं उसके प्रति सर्वदा सब कुछ प्रकाशित है।[४]

भगवान् शङ्कराचार्य ने शारीरकभाष्य में जगत् की दृष्ट नियमितता को हेतु बनाकर इसके मूल का चैतन्य या चित् होना सिद्ध किया है। चैतन्य के अर्थ जीवनतत्त्व, ज्ञान तथा प्रकाश तीनों ही लिये हैं। ब्रह्म के प्रति दिये गये 'शुद्ध' तथा 'बुद्ध' विशेषण चित्पक्ष के ही समर्पक हैं।[५]

सुरेश्वराचार्य ने नैष्कर्म्यसिद्धि में ब्रह्म की स्वप्रकाशता व सर्वप्रकाशकता को सिद्ध करते हुए कहा है कि चिदात्मा (चित्स्वरूप आत्मा) की सिद्धि होने पर ही (अन्तःकरण आदि में उसके आभास का उदय होने से आने वाली स्फुटतर योग्यता से ही) 'इदं' (—प्रमाता से लेकर तृण पर्यन्त सब जड़मिश्र व जड़ पदार्थ) की सिद्धि होती है, और उस प्रकार की सिद्धि के अभाव में कुछ भी स्फुरित नहीं होता। वह चिदात्मा स्वतः सिद्ध है, सबका व्यञ्जक है, व्यङ्ग्य किसी का भी नहीं।[६]

बृहदारण्यकभाष्यवार्त्तिक में सुरेश्वराचार्य ने संवित् तथा अनुभूति शब्द का प्रयोग प्रायः ब्रह्म या आत्मतत्त्व के पर्याय रूप से ही किया है। संवित् व आत्मा को अभिन्न तत्त्व कहा भी है।[७]

वेदनस्य प्रकाशस्य दृश्यस्य तमसस्तथा।
वेदनं यदनाद्यन्तं तद्रूपं परमात्मनः॥ यो० वा० ३।१०।४७॥
य आत्मानं पदार्थं च प्रकाशयति दीपवत्। वही ३।५।१०॥

१. मा० का० १।१६
२. वही ३।३५,३६
३. वही ३।३७
४. वही १।१०–१२
५. अस्ति तावद् ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावम्........। ब्र० शां० भा० १।१।१, पृ० ३०।

नित्यचैतन्यस्वरूप एवात्मा........। ब्र० शां० भा० २।३।१८, पृ० ५०१।

६. यत्सिद्धाविदमः सिद्धिर्यदसिद्धौ न किञ्चन।
प्रत्यग्धर्मैकनिष्ठस्य याथात्म्यं वक्ष्यते स्फुटम्॥ नै० सि० १।४॥
७. अजमेकं स्वतःसिद्धं प्रत्यग्रूपमनन्यदृक्। बृ० भा० वा० १।२।२६॥
सतत्त्वकमिदं सर्वमिति संसाध्य यत्नतः।
तस्यापि संविन्मात्रेण पूर्णतैवोच्यते सतः॥ वही १।२।२९॥
नञ्घटार्थविपह्नुत्य संवित्सद्रूपमात्रया।
अवगत्यात्मना सत्त्वं सर्वदृक् स्यादविक्रियः॥ वही १।४।९८९॥

सर्वज्ञ मुनि ने संक्षेपशारीरक में ब्रह्म के प्रति 'अनृतजडविरोधिरूपं' विशेषण देकर ब्रह्म का सत्य-ज्ञान-स्वरूप होना कहा है।[1] जड़ का विरोधी होना ही चित् होना है। यह चित्स्वरूप का अभावात्मक निर्देश है जो बाद में चित्सुखाचार्य तथा मधुसूदन सरस्वती के प्रतिपादनों में विशेष स्फुट हुआ है।

आनन्दबोध ने न्यायमकरन्द में कहा है कि जिसकी ज्योति से निखिल भासित होता है, जो स्वयं किसी अन्य सजातीय या विजातीय प्रकाश द्वारा प्रकाशित नहीं होता, वह शुद्ध-चिन्मात्र ब्रह्म है।[2]

विमुक्तात्मा ने इष्टसिद्धि में परमतत्त्व को अधिकतर अनुभूति संज्ञा दी है। कहा है अनुभूति अमेया है, अन्य के द्वारा अनुभाव्य नहीं। उसका न पहले अभाव था, न आगे होगा, अतः वह अजा है।[3]

प्रकाशात्मा ने पंचपादिकाविवरण में स्वप्रकाशता को हेतु बनाकर ही आत्मा को जड़ से पृथक् करके उसे सभी कुछ का प्रकाशक सिद्ध किया है। किसी इन्द्रिय द्वारा जाना न जाते हुए भी सदा अपरोक्ष स्वानुभूति-गम्य होने से ही आत्मा स्वप्रकाश है; और वही सूर्यालोक के समान सभी प्रकार के विषय-प्रकाशों (ज्ञानों) का सर्वसाधारण आश्रय है।[4]

पञ्चदशी में प्रारम्भ में ही तत्त्व को 'संवित्' संज्ञा देकर उसे उदय-अस्त-रहित एवं स्वयम्प्रभा कहा है।[5] स्वप्रकाशता में हेतु दिया है अवेद्य होते हुए भी अपरोक्ष होना।[6]

चित्सुखाचार्य ने तत्त्वप्रदीपिका में आत्मा के स्वयंप्रकाशत्व पर अत्यधिक विस्तृत आलोचना की है। 'स्वयंप्रकाश' के अर्थ मे पूर्वपक्ष में ११ विकल्प कहकर उनका निरास करने में अर्थ को अधिकाधिक स्पष्टतर बनाते हुए अन्तिम विकल्प—अवेद्यताविशिष्ट अपरोक्ष-

---

१. सं० शा० १।१।

२. यद्भासा निखिलं विभाति विषयो यो न स्वयं ज्योतिषाम्।
यस्याहुर्भुवनोद्भवस्थितिलयान् लीलामयान् सूरयः। न्या० म० १।१ पृ० १।

३. यानुभूतिरजामेयानन्तात्मानन्दविग्रहा।.........इ० सि० १।१, पृ० १।
ननु अनुभवित्रात्मना विना नास्त्यनुभूतिः, तत्कथं साऽनन्ता। नैष दोषः। यतस्सा एव सः।.........सोऽप्यनुभूतिस्वभावः.........अतस्सैवात्मा॥ अनन्तत्वात् सैव परमात्मा॥ इ० सि० पृ० २४।

४. अनुमानमपि स्वयंप्रकाशोऽयमात्मा स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकाभावात्प्रदीपसंवेदनवत्। आत्मा स्वयंप्रकाशो विषयप्रकाशकर्तृत्वात्प्रदीपवत्। तथा आत्मा स्वयंप्रकाशो विषयप्रकाशाश्रयत्वादालोकवत्। अजन्यप्रकाशगुणश्चात्मा प्रकाशगुणत्वाद् आदित्यादिवत्। आत्मा स्वयंप्रकाशः अनिन्द्रियगोचरत्वे सत्यपरोक्षत्वात्संवेदनवत्। पं० पा० वि० (लाज० सं०) पृ० १९७–९८।

५. नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयम्प्रभा॥ पं० द० १।७॥

६. विषयी नाक्षविषयः स्वत्वान्नास्य परोक्षता।
अवेद्योऽप्यपरोक्षोऽतः स्वप्रकाशो भवत्ययम्॥ वही ३।२७–२८॥

व्यवहारयोग्यता स्वयंप्रकाशता है—को सिद्धान्त रूप में स्थिर किया है।[1] इसकी अधिक विवेचना ज्ञान-मीमांसा खण्ड में प्रकृत अवसर पर की जायेगी।

मधुसूदन सरस्वती द्वारा सिद्धान्तविन्दु में संक्षेप से तथा अद्वैतसिद्धि में विस्तार से ब्रह्म के ज्ञानत्व, स्वप्रकाशत्व पक्ष पर विचार हुआ है। ब्रह्म का स्वरूप-भूत यह ज्ञानत्व क्या है इस पर सात विकल्प उठाये गये हैं—१. ज्ञानत्व क्या कोई जाति है? या २. जड़ का विरोधी होना, या ३. जड़ से अन्य होना, या ४. अज्ञान का विरोधी होना, ५. साक्षात् व्यवहार का जनक होना, या ६. अर्थ (विषय)-प्रकाशात्मक होना, या ७. नैयायिक आदि को अभिमत ज्ञान पदार्थ होना? इसी प्रकार स्वप्रकाशत्व के अर्थ के लिये भी अनेक विकल्प उठाये हैं। उन सबका विचार 'ज्ञान-चर्चा' में किया जायेगा।

गङ्गाधरेन्द्र सरस्वती ने स्वाराज्यसिद्धि में 'अपने प्रकट होने तथा दूसरे को प्रकट करने में अन्य किसी की अपेक्षा न रखना चित् होना है' ऐसा चित्त्व का लक्षण कहकर कहा है कि वह चित् स्वयंज्योतिः आत्मस्वरूप ही है।[2] ब्रह्म चित्स्वरूप है, इसके लिये कुछ हेतुओं का संग्रह किया है—ब्रह्म चित्स्वभाव है क्योंकि—

१. आत्मा है, अनात्मा (जड़) नहीं।

२. वही ईक्षणकर्त्ता है, सृष्टि का संकल्प करता है, यह जड़ का कार्य नही हो सकता।

३. अखिलवशी है, जड़ वस्तु स्वयं दूसरे के वश में रहती है, किसी को अपने वश में नहीं करती।

४. वही निखिल शास्त्र का पुनरुद्धारक अथवा कारण है।

५. वह सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प है। जीव-जगत् की सृष्टि या अभिव्यक्ति का मूल है परमतत्त्व का ईक्षण रूपी तपस्। उसमें सामान्य ईक्षण है—**'एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेय'**। यही उस का 'काम' है, जो सत्य है क्योंकि उसी क्षण, उसी प्रकार फलित होता है। पुनः ईश्वर रूप में स्थित परमतत्त्व का यह ईक्षण कि इस जीव को इस कर्म का यह फल मिले—उस का सङ्कल्प है जो उसी रूप में फलित होने के कारण सत्य है। ये कामना आदि जड़ में सम्भव नहीं। अन्तःकरण भी सङ्कल्प धर्म वाला है, किन्तु उसमें सत्यत्व नहीं।

६. चन्द्र, सूर्य, अग्नि व वाणी की ज्योति का मूल वही है ऐसा श्रुति ने स्पष्ट कहा है।

७. वह साक्षात् अपरोक्ष स्वरूप है, उसे किसी के द्वारा नहीं जाना जाता।

---

१. स्वश्चासौ प्रकाशश्च स्वप्रकाशः? स्वस्य स्वयमेव प्रकाश इति वा? सजातीयप्रकाशाप्रकाश्यत्वं वा? स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकविरहितत्वं वा? स्वव्यवहारहेतुप्रकाशत्वं वा? ज्ञानाविषयत्वं वा? ज्ञानाविषयत्वे सत्यपरोक्षत्वं वा? व्यवहारविषयत्वे सति ज्ञानाविषयत्वं वा? स्वप्रतिबद्धव्यवहारे सजातीयपरानपेक्षत्वं वा? अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वं वा? तद्योग्यत्वं वा? त० प्र० पृ० ४,५।

२. स्वपरप्रथायामन्यनिरपेक्षत्वं चित्त्वम्। स्वा० सि० पृ० १५९।

८. वह प्राणिमात्र के कर्मों का अध्यक्ष व साक्षी है ऐसा कहा गया है।

९. वह सर्वज्ञ है।

१०. उसी के प्रकाश से समस्त जगत् प्रकाशित होता है, वह स्वयं प्रकाश-स्वरूप है ऐसे अनेक स्फुट श्रुति-वचन हैं—इसलिये एकमात्र सत् तत्त्व चित् भी है।[1]

प्रायः सभी प्रतिपादनों में सत्ता के साथ एकता एवं चित्-स्वरूपता अविनाभाविरूप से निबिड़ सम्बद्ध है। जगत् के मूल के सत् होने, अद्वितीय होने के समान ही, साथ ही स्वयंप्रकाश तथा सर्वप्रकाशक होना भी नियतसिद्ध या अनिवार्य है।

४. आनन्दत्व

चेतना के प्रत्येक स्तर में, प्रत्येक प्राणी में एक अनवरत हलचल मची हुई है, एक कभी न रुकने वाली दौड़ चल रही है—कुछ पाने के लिये। प्रत्येक प्राणी विकल है उस कुछ के विना। इस विकलता को ही नाम दिया जा रहा है दुःख। यह दुःख ही संसार में अधिकतर अनुभव में आता है। और अभीप्सित 'कुछ' को नाम दिया गया है सुख। यह सुख ही प्राणिमात्र की प्रत्येक चेष्टा का लक्ष्य है। क्या वह अभीप्सित सुख कभी अनुभव में आता है? सुख के लिये किया जाने वाला प्रयास सर्वदा ही असार्थक होता हो—यह तो नहीं देखने में आता, कभी-कभी कोई अभीष्ट वस्तु मिल जाने पर एक स्वस्तिबोध, हलचल में कुछ शान्ति, दौड़ का कुछ रुकना भी अवश्य देखा जाता है किन्तु बस क्षण भर के लिये ही, पुनः वही अस्थिरता, हलचल, हाहाकार उठ खड़ा होता है। इससे प्रतीत होता है कि वास्तव में जिस सुख के लिये यह आकुलता है, वह प्राप्त नहीं हो रहा है, यत्र-तत्र-सर्वत्र केवल उसका आभास दिखाई पड़ता है जो मृगमरीचिका बनकर दौड़ में और भी वेग ला देता है। तब भी सुख-तृष्णा मिटती नहीं। अवश्य ही एक अवस्था प्रत्येक प्राणी को प्रतिदिन ऐसी मिलती है जहाँ संसार की किसी भी वस्तु का, यहाँ तक कि अपने आप (जागरण के समय अनुभव में आते हुए स्वरूप) का भी भान नहीं रहता, तब भी ऐसा कुछ मिलता है जिसके कारण, उस अवस्था से बाहर आने पर प्राणी कहता या सोचता है कि इतने समय तक मैं सुखी था। कहना न होगा वह अवस्था है सुषुप्ति। वहाँ संसार का भान नहीं होता, अतः दुःख, शोक, भय आदि के

---

१. आत्मत्वादीक्षितृत्वादखिलवशितया शास्त्रयोनित्ववादात्,
कामाभिध्योपदेशाच्छशितपनमुखद्योतिभारूपतोक्तेः।
साक्षादेवापरोक्षादसुकृतसुकृताध्यक्ष्यसाक्षित्ववादात्,
सर्वज्ञज्ञादिशब्दात्स्फुटवच नश्चतैश्चापि सच्चित्स्वभावम्॥ स्वा०सि० २।३९॥

निमित्त प्रतिकूल संवेदन, 'द्वितीय' व 'अनेक' के कारण उत्पन्न होने वाली विविध सीमायें, नहीं रहतीं, तुलना नहीं, अपना अहंभाव (मैं ऐसा हूं) नहीं। इसीलिये सम्भवतः वहाँ के अनुभव का स्मरण सुख शब्द से स्फुट होता है। इससे प्रतीत होता है कि 'द्वितीय' व उससे प्रयुक्त सीमा, अतिशय, तुलना, भेद इत्यादि ही दुःख आदि के अनुभावक हैं। 'द्वितीय' की संभावना से रहित है वह परमतत्त्व जिसे सभी कुछ के 'मूल' रूप से पाया गया है, वहां द्वितीय का अवकाश नहीं अतः उससे बढ़कर (अतिशायी) भी कुछ नहीं, अतएव वही वह सुख है जिसके लिये, जिसके 'विना' होने की भ्रान्ति से, प्राणिमात्र विकल हैं। सुषुप्ति में उसी से 'विना' होने का भाव धुंधला हो जाता है, उससे पृथक् सा कर देने वाला अन्तःकरण विलीन हो जाता है, इसीलिये उसके अव्यवहित-जैसे संपर्क से प्राणी सुखी हो जाता है। (इसे सुषुप्ति के विश्लेषण में विस्तार से देखा जायेगा।) 'सुखी' का अर्थ है सुख-युक्त। सुख वह अद्वितीय सत् वस्तु ही है, क्योंकि वही निरतिशय, नित्य, निरवच्छिन्न (भूमा) है।[1] उसी से युक्त हो जाने के कारण ही सुषुप्ति में प्राणी सुखी होता है।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्राणी में एक प्रियता की भावना देखी जाती है जिसे प्रेम नाम दिया गया है, जिसका आपाततः स्वरूप होता है किसी अन्य द्वारा अपनी स्वीकृति चाहना, किसी के लिये कुछ ऐसा करना जो उसकी प्रसन्नता का कारण बने। किसी को अच्छा समझना, किसी का सामीप्य चाहना, किसी के लिये कुछ त्याग करने में अच्छा लगना इत्यादि। इस प्रियता की भावना का वास्तविक आधार (आस्पद) भी वह जगत् का आधार-भूत परम-तत्त्व ही है ऐसा श्रुति ने निर्णय दिया—जागतिक सभी वस्तुओं (वे चेतन हों या जड़) में दिखने वाली प्रियता का निमित्त अपने आप (आत्मा) को ही दिखाकर।[2] अनुभव भी उससे विरुद्ध नहीं क्योंकि स्वयं से अतिरिक्त जहाँ कहीं भी प्रियता-बोध है, वह अनुकूलता अथवा अच्छा लगना की अपेक्षा से ही है, और उस अच्छा लगने का भी मूल है अपना सुख। सुख तत्त्वतः द्वितीय-निरपेक्ष ही नहीं, द्वितीय-विरोधी है। **'द्वितीयाद् वै भयम्'** इसीलिये, जो-जो वस्तु जितनी मात्रा में हमारे निकट या हमसे घनिष्ठ, हमसे व्यवधान या भेद से रहित-सी है वह-वह उतनी ही अधिक मात्रा में प्रिय है। अतः अद्वितीय परमतत्त्व ही वास्तव में प्रियता का आस्पद है। क्योंकि वह हमारा अपना आप (आत्मा) ही है।

इन्हीं सब तथ्यों—प्राणिमात्र की सुखेप्सा, अद्वितीय तत्त्व में ही सुखत्व की सम्भावना सुषुप्ति में सुख का अनुभव, तथा अपने आप में ही सर्वाधिक या वास्तविक (उद्देश्यरहित) प्रेम को ही हेतु बनाकर आचार्यों ने परमतत्त्व का आनन्दस्वरूप होना सिद्ध किया है। तथा ब्रह्म का स्वरूपभूत आनन्द है क्या, इसकी क्रमशः अधिकाधिक स्पष्टतर व्याख्या की है।

योगवासिष्ठ में ब्रह्म के आनन्दत्व-पक्ष की भावात्मक रूप से अधिक चर्चा नहीं हुई है। केवल प्रारम्भिक श्लोकों में कहा है—जिस आनन्दात्मा ब्रह्म से आनन्द के लघु सीकर (छींटे)

---

१. यो वै भूमा तत्सुखम्। छा० उ० ७।२३।१॥

२. न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। बृह० उ० ४।५।६॥

आकाश व पृथ्वी पर बिखर रहे हैं, सभी प्राणियों का जीवन जिसके लिये (उत्सृष्ट) है....।[१] सुख क्या है ? इसके लिये कहा है कि दुःख की सम्भावना का मिट जाना ही परम सुख है। अविद्या के क्षेत्र में चित्त के स्थितिकाल में दुःख ही दुःख है। इसकी निवृत्ति ही सुख है और वह आत्मरूप ही है (जैसे अन्धकार की निवृत्ति प्रकाशरूप होती है)—इस प्रकार पर्यवसित रूप से आत्मा (परमतत्त्व) की सुखरूपता कही गई है।[२]

आचार्य गौड़पाद ने माण्डूक्यकारिका में 'तुरीय' तत्त्व के वर्णन में उपनिषद् में कहे गये 'शान्त', 'शिव', 'अभय' विशेषणों की विवृति में तुरीय आत्मा (ब्रह्म) को सभी दुःखों की निवृत्ति में 'ईशान' (समर्थ) कहा है। यही उसके आनन्दत्व का अभिव्यञ्जक है, क्योंकि स्वयं आनन्द से पृथक् या भिन्न कुछ भी दुःखनिवारक नहीं हो सकता।[३] पुनः **'सुप्रशान्तः'** **'समाधिः' 'अभयः'** विशेषणों से ब्रह्म की आनन्दरूपना कही है।[४] क्योंकि भय से रहित होना सुखात्मक वस्तु में ही सम्भव है, वही प्रशान्त हो सकता है जो दुःख से अस्पृष्ट हो।

बृहदारण्यकभाष्य में आनन्द की भलीभाँति विवेचना हुई है। विज्ञान को आनन्द से अभिन्न रूप से ब्रह्म का स्वरूप कहा गया है। यह स्वरूपभूत विज्ञान विषय-विज्ञान की भाँति दुःखानुविद्ध नहीं, प्रत्युत प्रसन्न, शिव, अतुल, अनायास, नित्यतृप्त, एकरस है। यही आनन्द का विवरण है।[५] लोक में प्रसिद्ध सुखवाचक आनन्द शब्द का ब्रह्म के विशेषण-

---

१. स्फुरन्ति सीकरा यस्मादानन्दस्याम्बरेऽवनौ।
सर्वेषां जीवनं यस्मै तस्मै ब्रह्मानन्दात्मने नमः॥ यो० वा० ।१।१।३॥

२. यत्सुखं दुःखमेवाहुः क्षणनाशानुभूतिभिः।
अकृत्रिममनाद्यन्तं यत्सुखं तत्सुखं विदुः॥ यो० वा० ६।६८।३१॥

३. निवृत्ते सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः।
अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः॥ मा०का० १।१०॥

४. सर्वाभिलापविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः।
सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः॥ वही ३।३७॥

५. विज्ञप्तिर्विज्ञानम्, तच्च आनन्दम्, न विषयविज्ञानवद् दुःखानुविद्धम्, किं तर्हि ? प्रसन्नं शिवमतुलमनायासं नित्यतृप्तमेकरसमित्यर्थः।.........अत्रेदं विचार्यते—आनन्दशब्दो लोके सुखवाची प्रसिद्धः अत्र च ब्रह्मणो विशेषणत्वेन आनन्दशब्दः श्रूयते—आनन्दं ब्रह्मेति। श्रुत्यन्तरे च—"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" (तै० उ० ३।६।१) "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" (तै० उ० २।४।१) "यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" (तै० उ० २।८।१) "यो वै भूमा तत्सुखम्" (छा० उ० ७।२३।१) "एष परम आनन्दः" (बृह० उ० ४।३।३२) इत्येवमाद्याः। संवेद्ये च सुखे आनन्दशब्दः प्रसिद्धः; ब्रह्मानन्दश्च यदि संवेद्यः स्याद् युक्ता एते ब्रह्मण्यानन्दशब्दाः।............न, विरुद्धश्रुतिवाक्यदर्शनात् अथ विच्छिन्नमात्मानन्दं विजानाति विज्ञानस्यात्मविज्ञानस्यात्मविज्ञानाच्छिद्र अन्यविषयत्वप्रसङ्गः; आत्मनश्च विक्रियावत्त्वं ततश्चानित्यत्वप्रसङ्गः; तस्माद् विज्ञानमानन्दमिति स्वरूपान्वाख्यानपरैव श्रुतिः, नात्मानन्दसंवेद्यत्वार्था।............'एषोऽस्य परम आनन्दः' इतिवत् सर्वाण्यानन्दवाक्यानि द्रष्टव्यानि। बृह० उ० ३।९।२८ पर भाष्य।

रूप होने में अर्थतः कोई अन्तर है या नहीं ? मोक्षादि अवस्था में भी जो आत्मानन्द संवेद्य होता है, उस से भी भिन्न ही है ब्रह्म का स्वरूपभूत आनन्द; और कारक विभाग के अभाव में क्रिया-रूप विज्ञान भी सम्भव नहीं, अतः स्वरूपभूत विज्ञान भी पृथक् ही है। इस पर विचार करते हुए, ब्रह्म के समानाधिकरण आनन्द का स्वरूप लोक-प्रसिद्ध संवेद्य-सुख-मात्र नहीं, असंवेद्य निरतिशायी आनन्द ही ब्रह्म का स्वरूप हैं, ऐसा निर्णय सुविस्तीर्ण विचार के पश्चात् किया गया है।

तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्य में बहुधा आनन्द-विवेचन हुआ है। ब्रह्म के स्वरूपभूत आनन्द के विवेचन में उसे विषयानन्द से पृथक् कर के उत्कृष्ट परम स्तर का कहा गया है। आनन्द का स्वरूप लोक-प्रसिद्ध सुख के दृष्टान्त एवं तुलना द्वारा ही समझाते हुए लौकिक सुख की सीमाओं से रहित परम आनन्द को परमात्मा से अभिन्न परिपूर्ण एवं स्वाभाविक (किसी कारण से उत्पन्न न होने के कारण अनादि–नित्य) बताया गया है। उस आनन्द की ही छाया या आभास-रूप मात्रा लौकिक आनन्द-रूप में प्रकट होती है।[1]

परिपूर्णता, निरतिशयता आनन्द का अनिवार्य लक्षण है, यह छान्दोग्यश्रुति के–**'यो वै भूमा तत् सुखम्'** के व्याख्यान में भी निरूपित है। उपपत्ति है अल्प का तृष्णाबीज होना और तृष्णा का दुःखबीज होना।[2]

उस भूमा का लक्षण करते हुए श्रुति ने ही उसे कारक-विभाग-युक्त दर्शन-श्रवण-विज्ञान आदि से रहित अभेद रूप बताया; जहाँ तक अन्य की संभावना है, द्रष्टा-दृश्य का भी विभाजन है, वहाँ तक अल्पता कही और अल्पता का दुःखबीज होना कहा ही गया। अतः वास्तविक सुख का स्वरूप अभेदात्मक ब्रह्म ही है और वह अपने आप में ही प्रतिष्ठित है—ऐसा कह कर ब्रह्म के स्वरूपभूत सुख या आनन्द की स्वसंवेद्यता अथवा अन्यासंवेद्यता कही गई। फिर 'वही नीचे, ऊपर, पीछे आगे, सभी दिशाओं में हैं' कहते हुए उसकी परिपूर्णता कही गई। फिर उसी

---

१. किमानन्दो विषयविषयिसम्बन्धजनितो लौकिकानन्दवद् आहोस्वित् स्वाभाविक इत्येवमेषाऽऽनन्दस्य मीमांसा। तत्र लौकिक आनन्दो बाह्याध्यात्मिकसाधनसंपत्ति-निमित्त उत्कृष्टः। स य एष निर्दिश्यते ब्रह्मानन्दानुगमार्थम्। अनेन हि प्रसिद्धेना-नन्देन व्यावृत्तविषयबुद्धिगम्य आनन्दोऽनुगन्तुं शक्यते। लौकिकोऽप्यानन्दो ब्रह्मानन्द-स्यैव मात्रा अविद्यया तिरस्क्रियमाणे विज्ञान उत्कृष्यमाणायां चाविद्यायां ब्रह्मादिभिः कर्मवशाद्यथाविज्ञानं विषयादिसाधनसम्बन्धवशाच्च विभाव्यमानश्च लोकेऽन-वस्थितो लौकिकः संपद्यते।.........निरस्ते त्वविद्याकृते विषयविषयिभागे विद्यया स्वाभाविकः परिपूर्ण एक आनन्दोऽद्वैतो भवति।.........अभिन्नः स्वाभाविक आनन्दः परमात्मैव, न विषयविषयिसम्बन्धजनित इति।

तै० उ० २।८।४ पर भाष्य।

२. यो वै भूमा महन्निरतिशयं बहु, इति पर्यायास्तत्सुखम्। ततोऽर्वाक् सातिशय-त्वादल्पम् अतस्तस्मिन्नल्पे सुखं नास्ति। अल्पस्याधिकतृष्णाहेतुत्वात्। तृष्णा च दुःखबीजम्।.........अतो भूमैव सुखम्। तृष्णादिदुःखबीजत्वासम्भवाद् भूम्नः।

छा० उ० ७।२३।१ पर भाष्य।

क्रम में 'यह सब भी वही है' तथा अहङ्कारादेश (—मैं ही नीचे, मैं ही ऊपर) कहकर अनुभाव्य, अनुभविता एवं परम तत्त्व का अभेद दिखाकर आनन्द का आत्मस्वरूप होना विवृत किया गया। इन सुस्पष्ट श्रुतियों का आचार्यशङ्कर द्वारा भाष्य भी उन्हीं युक्तियों का अनुगामी है।[1]

मण्डन मिश्र ने ब्रह्मसिद्धि में ब्रह्म के आनन्दत्व पक्ष की विशेष विवेचना की है। मङ्गलाचरण में ही ब्रह्म का प्रथम विशेषण आनन्द है, उसके अभिप्राय की चर्चा में कहा है कि कुछ मनीषियों के मतानुसार आनन्द शब्द दुःख का अभाव ही बताता हुआ ब्रह्म में सार्थक है, कोई भावरूप धर्म इसका वाच्य नहीं। किन्तु ब्रह्मसिद्धिकार को वह अभिमत नहीं। अतः अपना मत कहा है कि ब्रह्मानन्द (ब्रह्म रूपी आनन्द) भावरूप है, अभावरूप नहीं। क्योंकि—(१) जागतिक आनन्द की भावरूप में ही उपलब्धि होती है। 'इतने समय मैं दुःखी न था' ऐसी अनुभूति न होकर 'मैं सुखी था' ऐसी होती है। 'यह प्राप्त होने से मुझे दुःख न हुआ' तथा 'यह मिलने से मुझे सुख हुआ' इन प्रतीतियों में बहुत अन्तर है।[2] वह जागतिक आनन्द ब्रह्मानन्द का ही अत्यन्त क्षुद्रतम अंश अथवा आभास है, अतः ब्रह्मानन्द को भावरूप ही मानना उचित है। (२) उपनिषदों में आत्मा को पुत्र-मित्र-कलत्र इत्यादि सभी कुछ से अधिक प्रिय कहते हुए परम प्रेम का निदान कहा गया है। यह आत्म-प्रेम भावरूप में ही गृहीत हुआ है। प्रेम ही आनन्द है, अतः आनन्द भी भावरूप होना चाहिये।

यह आनन्द ब्रह्म का स्वरूप है, कोई गुण या धर्म नहीं, अतः ब्रह्म की निर्विशेषता का व्याघातक नहीं। स्वप्रकाश चैतन्यमय ब्रह्म सुखरूप है यही 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' श्रुति का तात्पर्य है। ये आनन्द व विज्ञान भिन्न वस्तुयें नहीं हैं। दोनों संज्ञाएं एक साथ देने का अभिप्राय ब्रह्म का जड़ वस्तु व दुःख-स्वरूपता से वैषम्य दिखाना ही है।[3]

---

१. यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत् पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्। स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः इति। स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति ॥

छा०उ० ७।२४।१ ॥

स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमित्यथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति ॥ छा०उ० ७।२५।१ ॥

२. सकलदुःखातिगे ब्रह्मतत्त्वे दुःखेभ्य उद्विग्नः सुखेभ्यश्च वीतरागः प्रवर्तमानो मुच्यते। आनन्दश्रुतयश्च सकलदुःखातिक्रममेवाहुः, दृष्टो हि दुःखादिनिवृत्तौ सुखशब्दः सैव च सुखमित्यन्ये।........तान् प्रत्याह-आनन्दमिति न तावद्दुःखनिवृत्तिरेव सुखम्........ दुःखनिवृत्तेरन्यदेव सुखम्। स चानन्दशब्दस्य मुख्योऽर्थः। ब्र० सि०, पृ० १।

३. तस्मादात्मप्रकाशप्रकृष्टानन्दस्वभावमेव ब्रह्मेति युक्तम्। एवं च लौकिकानन्द एतस्य मात्रेति युज्यते, अवच्छेदात्, दुःखनिवृत्तौ तु दुर्योजमेतत्। इतश्चानन्दस्वभाव आत्मा, परप्रेमास्पदत्वात्। श्रूयते हि परप्रेमास्पदत्वम्—तदेतत्प्रेयः पुत्रात् इति। ब्र० सि०, पृ० ५।

पद्मपादाचार्य ने पञ्चपादिका में आनन्द को ब्रह्म से अपृथक् किन्तु पृथक् के समान अवभासमान धर्म कहा है।[1] विशेष आलोचना नहीं की है।

सर्वज्ञ मुनि ने संक्षेपशारीरक में आत्मा (परमतत्त्व) की सुखस्वरूपता की सिद्धि प्रत्येक प्राणी को स्वयं के प्रति सर्वाधिक प्रियता के अनुभव तथा सुषुप्तिकालीन सुखानुभव के द्वारा अत्यन्त स्पष्ट रूप से की है। कहा है कि अपने आप के प्रति कृमि तक को अनुपाधि (किसी अन्य निमित्त से प्रेरित नहीं) प्रेम देखा जाता है, वह उपपन्न नहीं यदि उस प्रेम का आस्पद सुखात्मक न हो। क्योंकि जो वस्तु सुख-रूप नहीं है उसके प्रति वैसा प्रेम कभी नहीं देखा जाता। इसी से आत्मा को सुख-स्वरूप मानना पड़ता है। तथा सुषुप्ति दशा में जिस का अनुभव करके जागने पर उसका स्मरण सभी को होता है, वह सुख निश्चय ही अन्य कुछ नहीं आत्मा ही है, क्योंकि आत्मा से अतिरिक्त कुछ सुषुप्त दशा में रहता ही नहीं।[2]

यदि वास्तव में परम तत्त्व सुख-स्वरूप ही है, और हमारा आत्मा (प्रत्यगात्मा) उससे पृथक् नहीं है तथा जगत् भी उससे पृथक् नहीं है तो दुःख का अस्तित्व ही कैसे है या दुःख-शोकादि की प्रतीति होती ही क्यों है? हमें अपने आप के अस्तित्व का भान तो कभी भूलता नहीं तो अपनी सुखरूपता की भी प्रतीति सर्वदा क्यों नहीं होती? यह प्रश्न सहज ही उठता है।

विमुक्तात्मा ने इष्टसिद्धि में उक्त समस्या पर विचार किया है। आत्मा के आनन्द-स्वरूपत्व की मींमांसा में आत्मसुख की अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्ति का स्वरूप स्पष्ट किया है। तदनुसार शुभ कर्म के फलस्वरूप उपस्थित किसी विषय से इन्द्रिय-संयोग होने पर प्रसन्न अन्तःकरणवृत्ति होती है, इस वृत्ति में आत्मा का स्पष्ट प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी का हम जीवन में आनन्द नाम से अनुभव करते है। शास्त्र इसे वैषयिक सुख कहता है। जिसकी छाया-मात्र से अन्तःकरण में आनन्द-रूपता आती है वह आत्मा ही वस्तुतः आनन्द है।[3]

---

१. आनन्दो विषयानुभवो सत्यत्वं चेति सन्ति धर्माः।
अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात् पृथगिवावभासन्ते ॥ पं० पा०—पृ० २३।

२. प्राज्ञे सुखं समनुभूय समुत्थितः सन्
सर्वप्रकारविषयप्रतिपत्तिशून्ये।
सुप्तोऽहमत्र सुखमित्यनुसन्दधानः
सर्वोऽपि जन्तुरवगच्छति तस्य सौख्यम् ॥
प्रेमाऽनुपाधिरसुखात्मनि नोपलब्धः
स प्रत्यगात्मनि कृमेरपि नित्यसिद्धः।
प्रेयः श्रुतेरपि ततः सुखताऽनुमानं
नैयायिकोऽपि न दृगात्मनि निह्नुवीत ॥ सं० शा० १।२३,२५।

३. शुभकर्मणा उपस्थापिते विषयविशेषे तदिन्द्रियसंयोगात् जातेऽन्तः-करणवृत्तिविशेषे प्रसन्ने सति, निर्मल इवादर्शे मुखम्, आत्मैवानन्दः प्रकटीभवति। तद्विषयसुख-मिति प्रसिद्धं लोके। इ० सि०, पृ० २८।

सर्वाधिक प्रिय होने के नाते भी आत्मा सुखरूप है। आपाततः प्रतीत होता है कि सुख भी आत्मा के लिये अच्छा लगता है। वस्तुतः ऐसा नहीं है, सुख स्वयं ही लक्ष्य है, वह किसी के लिए नहीं अपेक्षित होता। यदि आत्मा ही न हो तो किसके लिये क्या इष्ट होगा ? अतः आत्मा ही सुख है।

लोक-प्रतीति के अनुरोध से सुख को दो प्रकार का कहा जा सकता है—मुख्य और अमुख्य भेद से। किन्तु वस्तुतः सुख एक ही है, वह आत्मा से अभिन्न है। अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति से उत्पन्न-सा होने वाला सुखानुभव तो प्रसन्न चित्तवृत्ति में सुखत्व का भ्रममात्र है।[1]

आनन्दानुभव ने न्यायरत्नदीपावली में सौषुप्त सुख की चर्चा उठाकर आत्मा का आनन्दस्वरूप होना प्रमाणित किया है। विशेष मीमांसापूर्वक सिद्ध किया है कि आनन्द-दुःखाभाव-रूप नहीं, भावात्मक है। तभी ब्रह्म को आनन्द कहने वाले श्रुति-वाक्य सार्थक हो सकते हैं।

विमुक्तात्मा द्वारा प्रारब्ध सुखाभिव्यक्ति की चर्चा को आगे बढ़ाते हुए आनन्दानुभव ने कहा है कि नित्य आत्मसुख ही अभीष्ट-विषयेन्द्रिय-संयोग से उत्पादित मनोवृत्ति द्वारा व्यञ्जित होकर विषयसुख होता है। दुःख का अभाव भी उस वृत्ति का निमित्त बनकर परम्परया उक्त सुख का अभिव्यञ्जक हो सकता है। सुख स्वरूपतः व वस्तुतः आत्मा ही है। सुख-व्यञ्जिकावृत्ति में भी सुखत्व-भ्रम रूढ़ (लोक-प्रसिद्ध) होने के कारण सुख की उत्पत्ति या नाश देखने में आते हैं, वास्तव में सुख नित्य है।[2] आत्मा ही सुख है एवं वह नित्य है तो आत्मा का सदा भान रहने पर भी सुख का वैसा भान क्यों नहीं रहता ? इस पूर्वोक्त प्रश्न को उठाकर आनन्दानुभव ने उत्तर दिया है कि जैसे मलिन व दोषयुक्त दर्पण में पड़े किसी सुन्दर व स्वच्छ वस्तु के प्रतिविम्ब रूप में वह वस्तु तो दिखती है, पर उसकी स्वच्छता व सौन्दर्य नहीं दिखते, वैसे ही आत्मस्वरूप होने पर भी मलिन-सत्त्वगुणविशिष्ट अन्तःकरण से उपहित चैतन्य (जीव) को अपने अस्तित्व व चेतना का भान रहने पर भी सुख का सदा भान नहीं रहता।[3]

---

१. प्रियत्वाच्चात्मैव सुखम्। प्रसिद्धो ह्यात्मैव प्रियो लोके। अन्यस्य सर्वस्यात्मार्थत्वेन प्रियत्वं, न तु स्वतः।
····यदर्थं सर्वं यच्च नान्यार्थं तत्सुखं प्रसिद्धम्। सा च प्रसिद्धिर्नात्मनोऽन्यत्र समस्तीत्यात्मैव सुखम्।····आत्मा नान्यार्थः सर्वं चात्मार्थम्, सुखं च 'नान्यार्थं' सुखार्थं हि सर्वमिति सुखात्मनोर्लक्षणाभेदादभेद एवेति सिद्धम्। वही पृ० २९, ३०।

२. दुःखाभाव एवानन्द इति न। आनन्दस्याभावत्वानुभवविरोधात्। ब्रह्मरूपताश्रुतिविरोधाच्च।········लौकिकमपि सुखं न दुःखाभावः नित्यमेवात्मसुखं विषययोगजान्तःकरणवृत्तिव्यङ्ग्यं सत् विषयसुखमिति गीयते। ज्वराद्यभावोऽपि विषयवदात्मसुखस्य व्यञ्जको भवेत्। अभावस्य व्यञ्जकता च नादृष्टचरी। मूर्तद्रव्याभावस्याकाशव्यञ्जकतादर्शनात्। अत आत्मैव सुखम्। न्या० र० दी० पृ० १३१।

३. नन्वात्मनः सुखत्वे कथं तद्भाने सुखाभानम्। कामोपप्लुतान्तःकरणावच्छिन्नत्वादिति ब्रूमः। अतएव कामोपशमे विदुषां सुप्तानां च सुखाभिव्यक्तिरुपपद्यते। कामाभावाच्चानन्दस्य शतगुणोत्कर्षः श्रूयते। ते ये शतं मानुषा आनन्दास्स एक

चित्सुखाचार्य ने तत्त्वप्रदीपिका में आत्मा की भावरूप-सुख-स्वरूपता की सिद्धि करने में पूर्वाचार्यों के समान सौपुप्त-अनुभव तथा अपने आप की परम-प्रेमास्पदता को ही प्रमुख हेतु बनाया है।[1] आत्मा को नित्य सुखरूप मानने पर मुक्ति व संसारदशा में कोई अन्तर न रहेगा ऐसी शङ्का के उत्तर में कहा है कि संसारावस्था में वह सुख अविद्या-रूप तिमिर से तिरोहित रहता है, और मुक्ति दशा में सर्वथा अनावृत होता है। 'मुझे सुख मिले' ऐसी इच्छा व कथन में जो स्वयं को सुख से पृथक् समझना तथा सुख को प्राप्तव्य मानना अन्तर्निहित रहता है, 'वह मेरा स्वरूप' ऐसी उक्ति के समान ही है। ऐसे स्थलों पर सम्बन्ध-व्यवहार का तात्पर्य अभिप्रेत वस्तु की अन्यनिष्ठता की व्यावृत्ति में ही होता है, अपने से अन्तर बताने में नहीं।[2]

विद्यारण्य ने पञ्चदशी में, आत्मनिष्ठा प्रीति का विश्लेषण करते हुए उसे सांसारिक भावों राग, श्रद्धा, भक्ति व इच्छा (काम) से पृथक् किया है, एवं सुख-मात्र में रहने वाली सात्त्विकी वृत्ति कहा है। फिर कहा कि वैषयिक सुख में अल्प प्रीति होती है, आत्मा अति प्रिय है, क्योंकि वैषयिक सुख तो अन्ततः किसी अन्य उद्देश्य का साधन होता है, पर आत्मा किसी का साधन नहीं। अतः वैषयिक सुख में प्रीति स्थिर नहीं, आत्मा में स्थिर है। वैषयिक सुख (सात्त्विकी वृत्ति) अपना विषय बदलता रहता है। आत्मप्रीति का विषय नहीं बदलता। इस अव्यभिचारिणी प्रीति का आस्पद होने से ही आत्मा आनन्दस्वरूप है।[1]

मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में आनन्दत्व के विश्लेषण में उसके स्वरूप-विषयक अनेक विकल्प उठाकर निरुपाधिक इष्टत्व को सिद्धान्तित किया है।

विकल्प ये हैं—आनन्दत्व क्या कोई (१) जाति है? या (२) अनुकूल रूप से वेदनीय होना (अनुकूल वेदन का विषय होना) है? या (३) अनुकूल वेदन ही आनन्द है? या (४) अनुकूल होना ही? या (५) ज्ञानात्मक होना? या (६) दुःखविरोधी होना? या (७) दुःखाभाव से उपलक्षित स्वरूप वाला होना? या (८) न्यायादि दर्शनों में अभिमत एक विशेष गुणरूप सुख ही आनन्द है?

इनमें से प्रथम ब्रह्म का स्वरूप-भूत आनन्द नहीं हो सकता क्योंकि अखण्ड स्वरूपा-

---

इत्यादौ श्रोत्रियस्य चाकामस्येति तदभिन्ना शुद्धिर्न भाति। एवमात्मस्वरूपमपि सुखं तद्भानेऽपि न भातीति किमनुपपन्नम्। वही पृ० १३६।

१. परमप्रेमास्पदत्वानुपपत्तिरात्मनः सुखरूपत्वे प्रमाणम्। आत्मनः प्रेमास्पदतायां न कस्यचिद् विवादः, मा न भूवं भूयासमिति आत्मन्याशिषो लौकिकपरीक्षकसम्मतत्वात्।········त० प्र० पृ० ५६६।

२. न च नित्यसुखरूपत्वे मुक्तिसंसारयोरविशेषप्रसंगः, तस्याविद्यातिमिरतिरोधानातिरोधानाभ्यां विशेषोपपत्तेः। न चात्मनः सुखरूपत्वे सुखं मे स्यादिति प्रेमानुपपत्तिः, सम्बन्धव्यपदेशस्यान्यनिष्ठताव्यावृत्तिपरत्वात्। वही पृ० ५६७-६८।

३. सुखे वैषयिके प्रीतिमात्रमात्मा त्वतिप्रियः।
सुखे व्यभिचरत्येषा नात्मनि व्यभिचारिणी॥ पं० द० १२।२५॥

नन्द में कोई जाति (बहुतों में रहने वाला एक धर्म) नहीं है। द्वितीय नहीं, क्योंकि ब्रह्म स्वरूप में कोई वेदिता नहीं है (वेदिता होने के लिये ब्रह्म-स्थिति से उतरना या जड़-मिश्र होना आवश्यक है यह अगले खण्ड में देखा जायेगा)। तथा ब्रह्म अवेद्य है, किसी ज्ञान का विषय नहीं, स्वयंप्रकाश ज्ञानरूप होने से। तथा अनुकूलता तो अन्यसापेक्ष है, जिसके प्रति वह हो, और जो अन्य के प्रति अनुकूल हो, वही अपने लिये भी हो यह कहने से सविशेषता आ जाती है। इसीलिये तृतीय भी नहीं। तथा, वेदन स्वभाव से अधिक (व्यापक) अनुकूलता को स्वाभाविक मानें तो सखण्डता आती है, औपाधिक मानें तो कदाचित् आनन्दत्व नहीं भी रहने की संभावना रहेगी। अनुकूलता की ब्रह्मस्वरूप में उपपत्ति न होने से ही चतुर्थ विकल्प ठीक नहीं। पंचम भी नहीं, क्योंकि दुःखादि के ज्ञान में भी आनन्दत्व प्राप्त होगा। इसी प्रकार अन्य पक्ष भी दोषपूर्ण हैं, अतः ब्रह्म का स्वरूपभृत आनन्द क्या है यह नहीं कहा जा सकता।[१]

इस पर उत्तर दिया गया है कि निरुपाधिक इष्टत्व ही ब्रह्म का आनन्दत्व है।[२] इसका अभिप्राय लघुचन्द्रिका टीका में अन्य इच्छा के अधीन इच्छा का विषय न होना ऐसा कहा है।[३] पूर्वचर्चित तथ्य का ही यह युक्तिक्षार से परिष्कृत रूप है। संक्षेपशारीरक-कार ने इसे अनुपाधि प्रेम का आस्पद होना कहा है। विद्यारण्य ने अव्यभिचारिणी प्रीति का आश्रय होना कहा। यह लक्षण दुःखाभाव में भी लागू होता है, क्योंकि प्राणिमात्र दुःख से पृथक् रहना चाहता है, दुःख से भय रखता ही है, कोई भी नहीं चाहता कि मैं दुःख पाऊं तब भी उसमें प्रकृत निरुपाधिता नहीं है, सुख की इच्छा ही दुःख के अभाव की इच्छा की प्रेरक है, इसीलिये मूर्च्छा से उठकर कोई नहीं कहता कि इतने समय तक मैं सुखी था, जब कि चेतना-शून्य दशा में दुःख का अनुभव तो नहीं ही था। इसलिये सुख में ही पर्यवसित दुःखाभाव में ही आनन्द का लक्षण लागू हो सकता है, उससे कोई हानि नहीं। क्योंकि अभाव को विरोधी भावान्तर (दूसरा भाव) ही माना जाता है।[४]

निरुपाधिक इष्टत्व को ब्रह्म का आनन्दत्व कहने में एक शङ्का रह जाती है कि इष्ट का

---

१. आनन्दत्वं जातिविशेषो वा; अनुकूलतया वेदनीयत्वं वा, अनुकूलवेदनत्वं वा, अनुकूलत्वमात्रं वा, ज्ञानात्मकत्वमेव वा; दुःखविरोधित्वं वा, दुःखाभावोपलक्षित-स्वरूपत्वं वा, पराङ्गीकृतं वा, ।..................नाद्यः, अखण्डस्वरूपानन्दे तदभावात्, न द्वितोयः, मोक्षे वेदितुरभावाद् आत्मनो वेद्यत्वाच्च। किञ्च आनुकूल्यं किञ्चित्सापेक्षं, न चान्यं प्रति तद्युक्तमिति स्वं प्रत्येव वक्तव्यत्वेन सविशेषत्वापातात्।.........।
अ० सि०, पृ० ७५०-५१।

२. आनन्दत्वस्य निरुपाधिकेष्टरूपत्वात्। अ० सि०, पृ० ७५१।

३. अन्येच्छानधीनेच्छाविषयत्वयोग्यत्वरूपत्वात्। उक्तयोग्यत्वं च सुखत्वम्।
ल० चं० पृ० ७५१।

४. न च दुःखाभावे अतिव्याप्तिः, दुःखाभावस्यापि सुखशेषत्वात्, अभावस्य विरोधि-भावान्तरत्वाभ्युपगमात्। अ० सि०, पृ० ७५१।

अर्थ तो इच्छा का विषय है, इच्छा अन्तःकरण का एक धर्म है।[१] विशुद्ध ब्रह्म स्थिति में, या मोक्ष होने पर अन्तःकरण रहता नहीं, अतः किसी भी प्रकार इच्छा का विषय होना ब्रह्म में नहीं हो सकता तो आनन्दत्व कैसे होगा ? इसका उत्तर देते हुए मधुसूदन सरस्वती का कथन है कि वहाँ इच्छा न रहने पर भी इष्टत्व से उपलक्षित होना संभव है। उपलक्ष्य वस्तु में उसके लक्षक का वर्तमान होना अनिवार्य नहीं।[२]

फिर शङ्का उठाई है कि निरुपाधिक इष्टत्व स्वाभाविक है या औपाधिक। यदि औपाधिक हो तो कभी समाप्त भी हो सकता है। यदि स्वाभाविक हो तो वह ब्रह्म के ज्ञानत्व से भिन्न होगा तो ब्रह्म में सखण्डता (सावयवता) आयेगी, यदि अभिन्न है तो **विज्ञानमानन्दं ब्रह्म** श्रुति में पुनरुक्ति दोष होगा। इस पर उत्तर दिया है कि ब्रह्म के स्वरूपभूत ज्ञान व आनन्द में अभेद होने पर भी, दोनों शब्दों का प्रयोग भिन्न प्रवृत्ति-निमित्तों से उपपन्न है। जड़ता का विरोध कहने के लिये विज्ञान कहा गया है और दुःखरूपता का विरोध कहने के लिये आनन्द शब्द कहा गया है।[3]

गङ्गाधरेन्द्र सरस्वती ने स्वाराज्यसिद्धि में ब्रह्म के आनन्दरूपत्व को सिद्ध करने में श्रुति व युक्तियों का संग्रह करते हुए कहा है कि सुख के उत्कर्ष की चरम सीमा होने से संसार में जहाँ-तहाँ बिखरे सुख-कणों का निधान होने से, परम-पुरुषार्थ (प्राणिमात्र द्वारा सबसे अधिक व साध्य रूप से ही चाहा हुआ होने से) सभी का प्रत्यक् आत्मा होने से, श्रुति द्वारा मुक्त के प्राप्तव्य रूप से वर्णित होने से, (सातिशय सुखों से विरक्त मुमुक्षु की चाही हुई वस्तु निरतिशय सुख ही हो सकता है), सुषुप्ति में आनन्द तथा ब्रह्मरूपता एक साथ कही होने से तथा अनेक श्रुतियों द्वारा साक्षात् आनन्द शब्द से कथित होने से ब्रह्म नित्यानन्द रूप है।[४]

---

१. कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा.........इत्येतत् सर्वं मन एव। बृह० उ० १।५।३ ॥

२. न च मुक्ताविच्छापाये आनन्दापायापत्तिः, इष्टत्वोपलक्षितस्य स्वरूपस्यानपायात्; उपलक्ष्ये च तदवच्छेदकसत्त्वस्यातन्त्रत्वात् ॥ अ० सि०, पृ० ७५१।

३. न च निरुपाधिकेष्टत्वं स्वाभाविकमौपाधिकं वा, नान्त्यः ब्रह्मणः आनन्दरूपत्वाभावापत्तेः। आद्ये ज्ञानातिरेकि, तदनतिरेकि वा, आद्ये सखण्डत्वापत्तिः, द्वितीये आनन्दपदवैयर्थ्यमिति वाच्यम्, ज्ञानानन्दयोरभेदेऽपि कल्पितजातिभेदनिबन्धनप्रवृत्तिकतया पदद्वयप्रयोगस्य व्यावृत्तिभेदेन साफल्यात्। वही पृ० ७५१।

४. सौख्योत्कर्षावधित्वान्निखिलसुखकणाम्भोनिधित्वश्रुतिभ्यो
मुक्तप्राप्यत्ववादान्निरवधिपरमानन्दभूमात्मकत्वात्।
सर्वप्रत्यक्त्ववादान्निधिनिलयवधूसाम्यवादात्सुषुप्ता-
वानन्दे ब्रह्मतोक्तेरपि च रसतया तत्सदानन्दरूपम् ॥ स्वा० सि० २।२०२ ॥

५. निर्गुणत्व या निर्विशेषत्व

प्रत्येक विधेय अपने उद्देश्य को सीमित करता है, यह उसका स्वभाव है। 'यह वस्तु ऐसी है' कहने में उस वस्तु का जो पक्ष बताया जाता है, उससे पृथक् क्षेत्र से फिर उस वस्तु का सम्बन्ध नहीं रह जाता। जैसे 'यह घड़ा है' कहने के साथ ही वह घट से भिन्न सभी वस्तुओं से पृथक् कर दिया जाता है, फिर 'यह नीला घट है' कहने पर तो वह लाल-पीले-सफेद आदि अन्य सब घड़ों से भी पृथक् कर दिया जाता है। अन्य प्रकार से कहें तो किसी वस्तु को 'इदमित्थम्' कहने से उस का ज्ञान होने के स्थान पर हम उस के सही समग्र ज्ञान से दूर होते हैं, क्योंकि इससे वस्तु का एक ही पक्ष सामने आता है, अन्य पक्ष दवते हैं, मानो अनेक पहलुओं वाली किसी वस्तु का केवल एक पहलू सामने रखते हुए अन्य अंश को ढक दिया गया हो। किसी भी विषय का ऐसा पाक्षिक प्रतिपादन ही विभिन्न आचार्यों के प्रक्रिया-भेद का बीज बनता है, एवं 'यह वस्तु ऐसी है' कहने से उस वस्तु का पूर्ण यथार्थ निरूपण नहीं हो सकता—यह तथ्य ही ब्रह्म के अनिर्देश्यता-पक्ष को और पुष्ट करता है।

अद्वैत चिन्तन ने जिस वस्तु को परम तत्त्व के रूप में देखा, माना और कहा, उसके अनुसन्धान के प्रवृत्ति-निमित्तों के अनुकूल उसे ब्रह्म व आत्मा नाम दिये, तथा सत्, चित् आनन्द-स्वरूप कहा अवश्य, किन्तु साथ ही उस तत्त्व को 'अव्यपदेश्य' 'अलक्षण' कहते हुए निषेध-मुख से ही उसका अधिकांश प्रतिपादन किया। जहाँ तक वक्ता के मन व वाणी की गति है, वहाँ तक कोई ऐसा शब्द व अर्थ नहीं है, जिससे पूर्ण ब्रह्म का निरूपण सम्भव हो। इसीलिये अपनी गति की अन्तिम सीमा तक के पदार्थों का निषेध करते-करते अन्त में जो अवशिष्ट रहे, वही ब्रह्म है, वही 'औपनिषद' पुरुष है, ऐसा प्रतिपादित किया। तथा उसके स्वरूप का वर्णन निषेध-मुख से करते समय उसे अरूप, निराकार, निरवयव, निर्धर्मक, निर्विशेष, निष्क्रिय, निर्गुण कहा। एवं इसे ही विधि-मुख से कहते समय 'शुद्ध' 'केवल' शब्दों का प्रयोग किया। कहना न होगा कि निषेध-मुख प्रतिपादनों का तात्पर्य परमतत्त्व को उन कही जाती हुई सीमित वस्तुओं की सीमा से अप्रभावित कहने में ही है, वस्तु के निषेध में नहीं। इसी-लिये निषेधमुख वाक्यों के समान ही अथवा अधिक बल से सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वकाम, सर्वकर्मा, सर्वगन्ध, सर्वरस इत्यादि कहते हुए उसे सभी सम्भाव्य धर्मों का आश्रय या अधिष्ठान भी कहा ही है, किन्तु साथ ही 'तद् धावतोऽन्यानत्येति'—इस प्रकार के वाक्यों द्वारा यह सुव्यक्त किया गया है कि जड़ गुण-धर्म ब्रह्म में किसी भी मात्रा या दृष्टि से गौणता, धर्मिता या परिच्छेद नहीं लाते, जैसे आकाश सभी कुछ का आश्रय होते हुए भी किसी गुण-धर्म-वस्तु से किसी भी प्रकार संपृक्त नहीं, वैसे ही ब्रह्म भी निखिल विश्व का अभिव्यञ्जक, आधार, अधिष्ठान होते हुए भी स्वरूपः निर्गुण, निर्विशेष, शुद्ध, 'केवल' ही है। गुणनिषेध की निषेधात्मकता में श्रुति का तात्पर्य समझना उचित नहीं, क्योंकि निषेध पर अधिक बल तो निषेध्य (माया या अविद्या) के महत्त्व को बढ़ाता हुआ प्रतिपाद्य अद्वितीयता के साधन में बाधक बनता है। वस्तुतः नैयायिक गुण-धर्म-क्रिया के आधार-रूप से ब्रह्म में द्रव्यता-जनित जड़ता न लायें, इसीलिये अद्वैतवेदान्त में निषेध-पक्ष इतना प्रबल हुआ जिससे मानो भावपक्ष अभि-भूत हो गया, जैसे कि 'ईश्वर अनुमानसिद्ध नहीं' इसे सिद्ध करने में पूर्वमीमांसक इतने आगे

बढ़े कि निरीश्वरवादी प्रतीत होने लगे। इस प्रकार परमतत्त्व के स्वरूप-प्रतिपादन में सर्वदा उसके अद्वितीयत्व की ओर ध्यान केन्द्रित रखा गया है, उपर्युक्त समस्त निषेध-मुख प्रतिप्रादनों के मूल में परमतत्त्व के अद्वय होने की धारणा ही दृढ़ है।

'केवल' का अर्थ है एकमात्र, तथा अन्य पदार्थ के संसर्ग से रहित।[1] न्यायादि अन्य वैदिक दर्शनों तथा जैनादि अवैदिक दर्शनों में अनेक पदार्थ स्वीकृत हैं, और अद्वैत वेदान्त में एक ही मात्र तत्त्व स्वीकृत है। सबसे अधिक पदार्थ संख्या मानने वाला न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त अद्वैत दर्शन का सबसे बड़ा परिपन्थी है। इसलिये तत्त्व की अखण्ड अद्वितीयता की दृढ़ता के लिये, उसे 'गुण', 'क्रिया', 'जाति', 'विशेष' आदि पदार्थों से असंसृष्ट कहा गया। इसी कारण अद्वैत संप्रदाय के उद्भट विद्वानों ने तार्किक रीति से ही दो प्रकार से सिद्धान्त स्थापन किया है, एक ओर न्याय-सम्मत पदार्थों का ही सर्वथा खण्डन किया (जैसे श्रीहर्ष ने खण्डनखण्डखाद्य में, तथा चित्सुखाचार्य ने तत्त्वप्रदीपिका में) दूसरी ओर 'तुष्यतु दुर्जन-न्याय' से उन पदार्थों को आपाततः स्वीकार करते हुए परम तत्त्व में गुण-धर्म, नाम, रूप, क्रिया आदि का न होना सिद्ध किया (सामान्यतः सभी अद्वैत आचार्यों ने, तथा विशेष रूप से मधुसूदन सरस्वती ने)। इसी धारा में ब्रह्म के सत्यत्व, चित्त्व, आनन्दत्व आदि के भी गुण-धर्म रूप होने का निषेध करके, इन्हें अखण्डस्वरूप रूप से ही प्रतिपादित किया गया है। इसीलिये ब्रह्मसत्ता-जाति का आश्रय होने के नाते सत् नहीं, ज्ञान कोई मानसी क्रिया या गुण नहीं जिसका आश्रय आत्मा हो, आनन्द कोई बाहर से प्राप्त होने वाली वस्तु या तथाकथित सत्त्वगुण का परिणाम-भर नहीं, प्रत्युत ये सब अद्वय वस्तु के अभिन्न स्वरूप ही हैं, इनका वस्तु से गुण-गुणी-भाव या धर्म-धर्मी-भाव सम्बन्ध नहीं है।

इसके अतिरिक्त, 'गुण' शब्द अमुख्य वस्तु का वाचक है। इसीलिये यह किसी वस्तु में रहने वाली उसकी विशेषता, कार्यक्षमता, या धर्म के लिए प्रयुक्त होता है, जैसे घड़े में नीला रंग। यहाँ घड़ा मुख्य वस्तु है, उसमें एक विशेषता है कि वह नीले रंग का है; उसमें एक विशेषता है कि वह छोटे मुंह, बड़े उदर की आकृति वाला है—इत्यादि। विशेषता का अर्थ है कुछ ऐसी वस्तु जो किसी वस्तु पर आश्रित रहती हुई उसे अन्य वस्तुओं से पृथक् करती हो, अथवा स्वयं उसी वस्तु में पक्ष-विभाजन करती हो। इसी अर्थ में 'प्रकार' 'धर्म' 'विकल्प' शब्द भी प्रयुक्त होते हैं। इनके उक्त अभिप्राय के अनुसार, इनसे युक्त वस्तु में मुख्य-अमुख्य-विभाग हो जाने से सखण्डता आती है, पृथक्-पृथक् अनेक खण्डों से बनी वस्तु अनित्य होती है ऐसा लोक में देखा जाता है, तथा न्याय-सिद्धान्त भी है। इस सखण्डता से प्रयुक्त अनित्यता की सम्भावना परम-तत्त्व में सहन न करने के कारण उसे उन सभी दशाओं से अस्पृष्ट कहा गया जिनसे किसी भी प्रकार नित्यता का व्याघात हो सकता है। क्रिया कर्ता में किसी प्रकार का विकार लाती है, अतः ब्रह्म निष्क्रिय है। विकार अपने आश्रय की परिवर्तन-शीलता तथा क्षयोन्मुखता के द्योतक हैं, अतः ब्रह्म निर्विकार है। अवयवों के योग से बनी वस्तु में अवयवों के वियोग से नाश होने की संभावना रहती है, अतः ब्रह्म निरवयव है।

---

१. केवलमेकमात्रं, पदार्थान्तरसंसर्गरहितम्। स० सि० प० सं० पृ० ७२।

योगवासिष्ठ में ब्रह्म के 'नेति' पक्ष का वर्णन भी इतनी ही विशदता से हुआ है जितना सर्वात्मकता-पक्ष का। सर्वात्मक होते हुए भी ब्रह्म स्वरूपतः किसी भी प्रकार वर्णन का विषय ही नहीं; उसका कोई चिह्न नहीं, इसीलिये उसे कोई नाम देना भी सम्भव नहीं, जो भी नाम दिये गये हैं, वे भी कथञ्चित् व्यवहार के लिये कल्पित संज्ञायें ही हैं। स्वरूपतः तो ब्रह्म न चेतन है न अचेतन, न पदार्थ है न अपदार्थ, न एक है न अनेक, न भाव है न अभाव। वह 'है' या 'नहीं' यह भी नहीं कहा जा सकता। वह 'आत्मा' शब्द का भी अभिधेय नहीं। सर्वथा अवाच्य, अनभिव्यक्त होने से ब्रह्म का स्वभाव या स्वरूप कहना असम्भव है।[1]

माण्डूक्य कारिका तत्त्व के अद्वैत एवं जीव-जगत् आदि के सर्वथा अजात भाव के निरूपण और ब्रह्म से अतिरिक्त के निवारण में ही प्रवण है। अतः न तो सत्-चित्-आनन्द पक्षों का पृथक् वर्णन वहाँ है, न निर्गुण-पक्ष का।

माण्डूक्योपनिषद्भाष्य में आचार्यशङ्कर द्वारा अदृष्ट-अग्राह्यादि श्रुति का परस्पर सम्बद्ध अर्थ कहा गया है। दृश्य न रहने से वह अदृष्ट है, इसीलिये अव्यवहार्य है। इन्द्रियों से अग्राह्य है, चिह्नरहित होने से अनुमेय भी नहीं, इसीलिये अचिन्त्य है। फिर इसीलिये शब्दों द्वारा कहा नहीं जा सकता; किन्तु सभी अवस्थाओं में एक ही आत्मा है ऐसे प्रत्यय का सार होने से ही इसी बिन्दु से अनुसरणीय है। अथवा अपनी प्रतीति ही जिसके अधिगम में प्रमाण है ऐसा वह आत्मस्वरूप है।[2]

ब्रह्म 'निर्गुण' है इस श्रुति के भाष्य में आचार्य शङ्कर ने निर्गुण का अर्थ—सत्त्वादि

---

१. अवाच्यमनभिव्यक्तमतीन्द्रियमनामकम् ॥ यो० वा० ६।२।६२।२७ ॥
प्रत्यक्षादिप्रमाणानां यदगम्यमचिह्नितम् ॥ वहीं ६।२।१३५।६९ ॥
सर्वं सर्वात्मकं चैव सर्वार्थरहितं पदम् ॥ वही ६।२।५२।३६ ॥
न चेतनो न च जडो न चैवासन्न सन्मयः।
नाहं नान्यो न चैवैको नानेको नाप्यनेकवान् ॥ वही ५।७२।४१ ॥
न पदार्थो नापदार्थो न पञ्चात्मा न पञ्च च ॥ वही ५।७२।४३ ॥
मुक्तं तमः प्रकाशाभ्यामित्येतदजरं पदम् ॥ वही ३।१०।१८ ॥
यतो वाचो निवर्तन्ते यो मुक्तैरवगम्यते।
तस्य चात्मादिकाः संज्ञाः कल्पिता न स्वभावजाः ॥ वही ३।५।५ ॥
ब्रह्मणः कः स्वभावोऽसाविति वक्तुं न युज्यते।
अनन्ते परमे तत्त्वे स्वत्वास्वत्वात्यसम्भवात् ॥ वही ६।२।१०।१४ ॥
ऋतमात्मा परं ब्रह्म सत्यमित्यादिका बुधैः।
कल्पिता व्यवहारार्थं तस्य संज्ञा महात्मनः ॥ वही ३।१।१२ ॥

२. यस्माददृष्टं तस्मादव्यवहार्यम्। अग्राह्यं कर्मेन्द्रियैः। अलक्षणमलिङ्गमित्येतदननुमेयमित्यर्थः। अतएवाचिन्त्यम्। अतएवाव्यपदेश्यं शब्दैः एकात्मप्रत्ययसारम्........। मां० उ० १।७ पर भाष्य।

गुणरहित किया है।[1] शारीरक भाष्य में उसी अभिप्राय से ब्रह्म में 'शुद्ध' विशेषण दिया है जिसका अर्थ गोविन्दानन्द ने रत्नप्रभा में अविद्यादोषरहित कहा है।[2] अधिकांश आचार्यों ने "केवल" श्रुति को यथासिद्ध मानकर ब्रह्म के निर्गुणत्व पक्ष पर विशेष चर्चा नहीं उठाई है। ब्रह्म के गुण या धर्मों को भी ब्रह्म के समान ही नित्य मानकर अनित्यता का विरोध हो सकता है, ऐसा ही द्वैत-सहिष्णु वेदान्तियों ने माना भी है। किन्तु गुण व गुणी दोनों को सत्य, नित्य मानने पर अद्वैत का व्याघात होता है, क्योंकि गुण व गुणी में भेद-सापेक्ष ही अभेद है, नहीं तो 'नीला घड़ा' कहने की अपेक्षा केवल 'नीला' या 'घड़ा' कहने से ही निर्वाह हो जाता।

सभी वैदिक दर्शनों के आधार रूप से अभिमत संहिता से उपनिषत् पर्यन्त के वाङ्मय में, उसमें भी विशेष रूप से उपनिषदों में, परमतत्त्व के विषय में सगुण तथा निर्गुण दोनों ही रूपों का निरूपण मिलता है, जिसमें से सगुण-प्रतिपादक वाक्यों को केवलाद्वैत-भिन्न सभी वेदान्त सम्प्रदाय अधिक प्रमाण मानते हैं, और केवलाद्वैती बड़े संरम्भ (आयास) से सभी सगुण वाक्यों का निर्गुण-ब्रह्म-परता के आश्रित अंगरूप होना अथवा निर्गुण-परता में समन्वय करते हैं। प्रतिवादी सिद्धान्तों का उन्हीं के अनुकूल शब्दों में निरास करते हुए समस्त श्रुतिवाक्यों का परम तात्पर्य निर्गुण ब्रह्म में ही सिद्ध किया गया है। इनमें मधुसूदन सरस्वती द्वारा अद्वैतसिद्धि में प्रतिपादित ब्रह्म के निर्गुणत्व की उपपत्ति तथा सत्यत्वादि के प्रतिपादक उपनिषद् वाक्यों की अखण्डार्थपरता विशेष उदाहरणीय है। अद्वैतसिद्धि ग्रन्थ विशेष रूप से माध्व (द्वैत) मत के विरुद्ध रचित है, अतः अधिकांश पूर्वपक्ष द्वैत सिद्धान्त के हैं, जिनका युक्ति-बल से समूल खण्डन किया गया है। ब्रह्म के स्वरूपभूत सभी पक्षों—सत्यत्व, ज्ञानत्व, आनन्दत्व आदि की व्याख्या आचार्य मधुसूदन ने उन-उन के विरोधी आविद्यक धर्मों के अभाव रूप से की है, यह यथा-प्रसङ्ग देखा जा चुका है। ब्रह्म के निर्गुणत्व को सिद्ध करने में वे कहते हैं—श्रुति व युक्ति से किसी भी प्रकार ब्रह्म के सगुण होने की सिद्धि नहीं होती। आपाततः सगुणता का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियां उपासना के विषय-भूत ब्रह्म (परमतत्त्व के अवर रूप) के विशेषणों की समर्पिका हैं, उनका तात्पर्य विषय-समर्पण में है, गुण-कथन में नहीं। भले ही ये सगुण वाक्य ऐसे गुणों का प्रतिपादन करते हैं जो अन्य प्रमाण से प्राप्त नहीं, लोक-प्रसिद्ध भी नहीं, अतः अपूर्वतालिङ्ग (वेद के तात्पर्य के निर्णायक ६ लिङ्गों में से एक) से इन वाक्यों का तात्पर्य इन गुणों में ही कहा जा सकता है, किन्तु जो वाक्य किसी अन्य वाक्य का अंग होता है, वह अपना अर्थ प्रमुख वाक्यार्थ के अनुगत ही कहता है, अपने ही

---

१. निर्गुणः सत्त्वादिगुणरहितः। श्वे० भा० ६।११, पृ० २४३।
ज्ञेयस्य सत्त्वाधिगमद्वारं निर्गुणं—सत्त्वरजस्तमांसि गुणाः, तैः रहितम्—
गीताभाष्य—१३।१४।

२. अविद्यादिदोषशून्यत्वं शुद्धत्वम्; जाड्यराहित्यं बुद्धत्वम्, बन्धकालेऽपि स्वतो बन्धाभावः मुक्तत्वं च प्रतीयते। एवं सकलदोषशून्यं निर्गुणं प्रसिद्धम्।
र० प्र० पृ० ८७।

अर्थ में उसका तात्पर्य नहीं होता।[१] जैसे—(मीमांसा का एक उदाहरण देते हैं—) 'जंगली तिल के यवागू से होम करे या गेहूँ के यवागू से' इसमें कही गई तिल व गेहूँ की होम-साधनता तथा 'जर्त्तिल व गवीधुक आहुति-योग्य नहीं है' में श्रुत उनकी निन्दा का अपने इन्हीं अर्थों में तात्पर्य नहीं, क्योंकि 'अजाक्षीर से होम करे' इस विधि से उनकी एकवाक्यता है। ऐसे ही सगुण प्रकरण में ब्रह्म के धर्म कहने वाले वाक्यों की भी सम्पूर्ण वेदान्त (उपनिषत्) के एकमात्र प्रतिपाद्य एक अद्वितीय ब्रह्म के वाक्यों से एकवाक्यता है, अतः सगुण वाक्यों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं। और निर्गुण-प्रकरणों में स्थित जो श्रुतिवाक्य ब्रह्म में गुणों का प्रतिपादन करते हैं, उनकी तो—अद्वितीय ब्रह्म की प्रतिपत्ति के अनुकूल सभी धर्मों के निषेध में अपेक्षित निषेध्य-विषय-समर्पक होने के नाते अन्यथा (स्वार्थ में तात्पर्य हुए विना भी) योजना हो जाती है।[२]

फिर कहा है कि अनुमान भी ब्रह्म में तात्त्विक धर्मों की सिद्धि नहीं कर सकता। प्रतिपक्षी की ओर से अनुमान का आकार ऐसा ही हो सकता है—ब्रह्म, धर्मी (ब्रह्म) की सत्ता के समान सत्ता वाले धर्म से युक्त है, या उक्त सत्ता वाले भावरूप धर्म से युक्त है, (यहाँ पहली उक्ति में मण्डन मिश्र के मत भावाद्वैत-के अनुसार सिद्धसाधन दोष लगता है, क्योंकि मण्डन द्वैताभाव रूप ब्रह्मसमानसत्ताक ही धर्म ब्रह्म में मानते हैं, अतः प्रतिपक्षी की ओर से भावरूपधर्मवान् कहा गया। इसी उद्देश्य से भावरूप विशेषण आगे भी सब विकल्पों में जोड़ा गया है)—या जब तक ब्रह्म का स्वरूप रहे तब तक बने रहने वाले धर्म से युक्त है, या इसी प्रकार के भावरूप धर्म से युक्त है, या अपने ज्ञान से बाधित न होने वाले भावरूप धर्म से युक्त है, या भावरूप धर्मों से रहित दशा में अवस्थित नहीं रहता अर्थात् धर्मों के बिना उसकी स्थिति नहीं होती, पदार्थ होने से या (मण्डन के मत में—) भाव होने से, घट के समान।[३]

अथवा—ब्रह्म अपने ज्ञान से बाधित न होने वाले प्रकार (सत्यत्व आदि) से युक्त है अपने में आरोपित (शुक्ति में रजत, ब्रह्म में प्रपञ्च) के व्यावर्तक अपने ज्ञान (शुक्तिज्ञान या ब्रह्मज्ञान) से अबाध्य प्रकार (शुक्तित्व, सत्यत्वादि) से युक्त है; अधिष्ठान होने से शुक्ति के समान इत्यादि।[४] किन्तु इन सभी में 'धर्मी' तथा 'स्व' पदों का अर्थ कोई भी धर्मी व

---

१. न तावत् श्रुत्या सगुणत्वसिद्धिः। सगुणप्रकरणस्थाया उपास्तिविधिविषयविशेषण-समर्पकत्वेन तत्परत्वाभावात्। न चापूर्वत्वात् विशेषणे तात्पर्यम्, अपूर्वत्वेऽपि अन्यशेषस्यातत्परत्वदर्शनात्""""। अ० सि०, पृ० ७१७।

२. निर्गुणप्रकरणस्थायास्तु अद्वितीयब्रह्मप्रतिपत्त्यनुकूलनिषेधापेक्षित-विषयसमर्पकतया अन्यथासिद्धेः। वही, पृ० ७१७।

३. नाप्यनुमानं ब्रह्मणि तात्त्विकधर्मसाधनायालम्। तथा हि—ब्रह्म धर्मिसत्तासमान-सत्ताकधर्मवत्, उक्तसत्ताकभावरूपधर्मवद् वा, यावत्स्वरूपमनुवर्तमानधर्मवद् वा तादृशभावरूपधर्मवद् वा, स्वज्ञानाबाध्यधर्मवद् वा,""""धर्मैर्भावरूपधर्मैर्वा हीनं नावतिष्ठते वा, पदार्थत्वात्, अथवा भावत्वात्, घटवत्। वही, पृ० ७१८।

४. ब्रह्म स्वज्ञानाबाध्यप्रकारवत् स्वारोपितव्यावर्तकस्वज्ञानाबाध्यप्रकारवद् वा अधिष्ठान-त्वात्, शुक्तिवत्।"""" वही, पृ० ७१८।

सम्बन्धी हो सकता है। तब घट आदि के समान सत्ता वाले कल्पित धर्मों से युक्त होना तो ब्रह्म में स्वीकृत ही होने से सिद्ध-साधन दोष है। यदि ये पद ब्रह्मपरक कहे जायें तो साध्या-प्रसिद्धि है क्योंकि ब्रह्म के समान सत्ता वाला कोई धर्म वेदान्त में स्वीकृत नहीं।[1] ऐसे ही इन अनुमानों का पक्ष शुद्ध ब्रह्म को कहा जाय तो हेत्वसिद्धि, और माया-शवल या उपहित ब्रह्म पक्ष हो तो अर्थान्तर दोष होंगे।

फिर शंका उठाई है कि 'यह इसकी नित्य महिमा है' 'यह इसकी सत्य महिमा है' 'उसके ज्ञान वल व क्रिया स्वाभाविक हैं' इत्यादि श्रुतिवाक्य अप्रामाणिक होंगे यदि सत्यत्व, ज्ञानत्व, सर्वशक्तिमत्व आदि को ब्रह्म के तात्त्विक धर्म न माना जाय। और 'इसकी सत्य महिमा है' वाक्य तो स्पष्ट रूप से महिमा रूपी धर्म की सत्यता कहता है। इसके उत्तर में कहा है कि महिमा शव्द धर्मवाचक नहीं स्वरूपवाचक है और वैसा ही उसका सत्यत्व है। 'अस्य' षष्ठी उपचरित है, 'तस्य भासा' के समान। ज्ञानादि को स्वाभाविक कहने का अर्थ उन्हें गुणरूप कहना नहीं, क्योंकि स्वरूपात्मक हैं तथा वल (इच्छा) क्रिया आदि गुण रूप हैं भी, तो यह वाक्य उपहित ब्रह्म (ईश्वर)—परक ही है, जो ईश्वर के ज्ञान-वल को जीवों से प्रकृष्ट कहता है। अथवा मोक्ष से पहले तक उनके स्थायी होने से नित्यत्व उपचरित (गौण रूप से कहा गया) है।

"परात्मा का ज्ञान नित्य है, क्रिया नित्य है, वल नित्य है" श्रुति में तो ब्रह्म में नित्य ज्ञान, क्रिया आदि कहे गये हैं, अतः वह सगुण ही है—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान तो उसका स्वरूप ही है, गुण नहीं। उससे अतिरिक्त क्रिया व वल आदि के ब्रह्म का चरम साक्षात्कार होने से पहले तक स्थायी रहने से उन्हें नित्य कह दिया गया है।[2]

परमतत्त्व के गुणों का वर्णन करने वाले वाक्यों का उन गुणों की सत्यता में तात्पर्य नहीं है। 'इसकी महिमा सत्य है' वाक्य स्पष्ट रूप से महिमारूप धर्म की सत्यता कहता है तथा 'इसके ज्ञान, वल, व कर्म स्वाभाविक हैं' वाक्य भी उसी अर्थ का पोषक है—ऐसा आपाततः प्रतीत होने पर भी वास्तव में महिमा शव्द धर्मवाचक नहीं स्वरूपवाचक ही है, और स्वरूपात्मक ही इस महिमा का सत्यत्व है। यदि उसे धर्म ही कहें तो ब्रह्मसाक्षात्कार से पहले तक निवृत्त न होने के अर्थ से ही वहां सत्य पद का प्रयोग हुआ है।[3] 'इसका' कहने में जो षष्ठी विभक्ति का प्रयोग है वह 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' के समान गौण-प्रयोग है।

---

१. ....इत्याद्यनुमानेषु धर्मिपदस्वपदयोर्यत्किञ्चिद्धर्मियत्किञ्चित्सम्वन्धिपरत्वे घटादिसम-सत्ताककल्पितधर्मवत्त्वेन सिद्धसाधनम्, ब्रह्मपरत्वे साध्याप्रसिद्धिः, घटादिधर्मे ब्रह्मसमानसत्ताकत्वादेरप्रसिद्धेः।.... अ० सि०, पृ० ७१८।

२. न च 'ज्ञानं नित्यं क्रिया नित्या वलं नित्यं परात्मनः' 'स एष नित्यो महिमा' इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मज्ञानादीनां नित्यत्वप्रतिपादनात् सगुणत्वमितिवाच्यम्, ज्ञानादीनां स्वरूपतया गुणत्वासिद्धेः। स्वरूपातिरिक्तानां तु चरमसाक्षात्कारपर्यन्तस्थायितया नित्यत्वोपचारात्।........ वही पृ० ७२०–२१।

३. सगुणवाक्यानां न गुणसत्यत्वबोधकत्वम्, सत्यत्वस्यापदार्थत्वात्।........'सत्यः सोऽस्य महिमा' इत्यादौ महिम्नः स्वरूपत्वादविरोधात्, धर्मत्वे तु ब्रह्मसाक्षात्कारेतरा-निवर्त्यत्वगुणयोगेन सत्यपदप्रवृत्त्युपपत्तेः। वही पृ० ७२१–२२।

अथवा यदि उन्हें (महिमा आदि को) धर्म ही मानें तो सत्य पद से उनकी व्यावहारिक सत्यता कही गई है।[1]

पुनः शङ्का उठाई है कि यदि सत्यत्व, नित्यत्व आदि ब्रह्म के सच्चे (तात्त्विक) धर्म नहीं, वस्तुतः ब्रह्म इनसे भी रहित ही है तो वह 'है' (सत् है) इसी में क्या प्रमाण होगा, अथवा सभी धर्मों को जैसे व्यावहारिक कह दिया जाता है वैसे ही यह सत्यत्व भी व्यावहारिक होगा तो कदाचित् (वेदान्तसम्मत मोक्ष होने पर) नहीं ही रहेगा। इसके उत्तर में कहा है कि 'यहां के सत्यों का जो सत्य है उसका भी यह सत्य है' इस प्रकार ब्रह्म में निरतिशय सत्यता कही गई है, उसी के कारण वह समस्त जगत् का अधिष्ठान भी है। अधिष्ठान होना निर्विशेष होने पर भी सम्भव है (जैसे आकाश गन्धर्व नगर का अधिष्ठान है)।[2]

इसी प्रकार वहुविस्तृत तर्क-प्रस्तार के पश्चात् कहा है कि ब्रह्म में तात्त्विक गुणों के रहने का साधक कोई प्रमाण न होने से, तथा गुणों के वाधक निर्गुण वाक्यों में ही श्रुति का परम तात्पर्य सभी लिङ्गों द्वारा गृहीत होने से ब्रह्म निर्गुण ही है।[3]

निर्गुण का अर्थ है गुण-मात्र का निषेध। गुण का अर्थ है अमुख्य वस्तु, यह पहले देख चुके हैं। 'विशेष' भी गुण या धर्म का ही समानार्थक है। विशेष का व्यतिरेक (न होना) अभ्युपगत होने पर ही त्रिविध-परिच्छेद-रहित ब्रह्म की सिद्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं। यह निर्विशेषत्व भी परम तत्त्व का स्वरूप ही है, कोई 'विशेष' नहीं। ऐसे ही निर्गुण-निर्धर्मक शब्दों से कहा गया धर्माभाव ब्रह्म के स्वरूप रूप से सत् है, धर्म रूप से नहीं।[4] वस्तुतः तो जिस प्रकार गुण कल्पित हैं वैसे ही गुणाभाव भी कल्पित ही हैं।

इस प्रकार ब्रह्म के निर्विशेषत्व का उपसंहार करते समय पुनः आचार्य मधुसूदन ने एक और प्रवल एवं स्वाभाविक शङ्का उठाकर समाधान किया है। वह यह कि ब्रह्म को शून्य व मिथ्या से व्यावृत्त करने वाला कोई व्यावर्तक विशेष धर्म होना चाहिये, वह हो तो सविशेषत्व आ ही जाता है। इस पर उत्तर दिया गया कि व्यावर्त्य के समान सत्ता वाला कोई विशेष न रहने पर भी व्यावृत्तिवोध के समान सत्ता वाले धर्म से उक्त साध्य, मिथ्या से भिन्न तथा निर्विशेष होना, दोनों की सिद्धि हो सकती है। कल्पित धर्म तो अस्वीकृत नहीं हैं।[5]

---

१. निर्गुणत्वश्रुतिविरोधेन स्वरूपमहत्त्वस्यैव सत्यत्वोक्तेः, षष्ठ्या उपचरितत्वात्। धर्माणामपि व्यावहारिकसत्यत्वोक्तेः। अ० सि० पृ० ७३१।

२. न च ब्रह्मसत्त्वमपि तथा, सत्यस्य सत्यमिति निरतिशयसत्त्वप्रतिपादनविरोधात्, अधिष्ठानत्वानुपपत्तेश्च। न च तत एव सविशेषत्वम्। निर्विशेषत्वेऽपि तत्त्वस्योपपादितत्वात्। वही पृ० ७३१।

३. सगुणत्वे साधकाभावात् वाधकसद्भावाच्च, निर्गुणत्वे तदभावात् निर्गुणमेव ब्रह्मेति सिद्धम्। वही पृ० ७४०।

४. निर्विशेषत्वस्य स्वरूपत्वेन विशेषत्वानङ्गीकारात्।........धर्माभावस्य स्वरूपतयैव सत्त्वाङ्गीकारेण व्याघाताभावात्। वही पृ० ७३७,३८।

५. ननुब्रह्मणः शून्यानिर्वाच्यव्यावर्तकविशेषाभावे तुच्छत्वमिथ्यात्वाद्यापत्तेः, तत्सत्त्वे सविशेषत्वमिति चेत्, व्यावर्त्यसमानसत्ताकविशेषाभावेऽपि व्यावृत्तिबोधसमानसत्ताकधर्मेण भिन्नत्वनिर्विशेषत्वयोरुपपत्तेः। वही पृ० ७३८।

६. निष्कर्ष

जो स्वरूप है वह अमुख्य, अतिरिक्त वस्तु नहीं यह सर्वथा निश्चित है। 'निर्गुण' शब्द से 'जो गुण नहीं' ऐसा अर्थ-प्रकाशन असम्भव नहीं। सत्यत्व, ज्ञानत्व, आनन्दत्व ब्रह्म के स्वरूप हैं, गुण या विशेष-धर्म नहीं जो अन्य किसी से ब्रह्म का व्यावर्तन करें या किसी वस्तु-विशेष में 'ब्रह्म' संज्ञा का प्रवर्तन करें। क्योंकि वह (ब्रह्म) तो स्वयं 'अद्वय' 'एकमेव' है, उस की एकता भी आपेक्षिक नहीं, स्वतःसिद्ध है। इस प्रकार 'निर्गुणत्व' तथा 'एकत्व' एक ही अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले दो दृष्टिकोणों से प्राप्त पक्ष हैं। ये दोनों निषेधमुखप्रवण स्वरूप-प्रतिपादक हैं, जो गुणमात्र काया वाले एवं नानात्मक प्रतिभास वाले जगत्-रूप से ब्रह्म के स्वरूप की विलक्षणता समझाते हैं। शेष तीन—सत्यत्व, ज्ञानत्व, आनन्दत्व—विधिमुख से जिज्ञास्य के स्वरूप की प्रतीयमान जगत् रूप से विलक्षणता, उसी में अनुस्यूत या समवेत आधारता द्वारा व्यञ्जित करते हैं।

परमतत्त्व खोजती हुई चिन्ताधारा ने जगत् के मूल में, जगत् का आधार होने में समर्थ, जगत् के अतिशायी या जगत् के 'परे' स्थित जिस तत्त्व को पाया, उसमें 'परम' होने के नाते ही जगत् में दिखने वाली सभी कमियों का अभाव ही नहीं उससे विपरीत ही स्थिति की पूर्णता देखी गई। इसीलिये जगत् की क्षणभङ्गुरता, प्रतिपल परिवर्तनशीलता के विरुद्ध उसे सत्यस्वरूप कहा गया, जगत् में अनुभूत अज्ञान व अन्धकार के विरुद्ध उसे ज्ञान व प्रकाश-स्वरूप माना गया, जगत् में अनुभूत दुःख के विपरीत उसे आनन्दस्वरूप माना गया। क्यों? इसे भली भांति समझा जा चुका है। यहां यही कहना अभिप्रेत है कि इन विभिन्न नामों से उसके स्वरूप का वर्णन या कथन विभिन्न प्रवृत्ति-निमित्तों से प्रेरित होकर ही हुआ है व होता है, वे वास्तव में अनेक 'प्रकार' नहीं, घड़े की मिट्टी को विशेषित करने वाले वर्ण व आकृति के समान नहीं, एक व्यक्ति की अनेक योग्यताओं के समान नहीं, इन विभिन्न शब्दों का अर्थ एक ही है और वह उस परम तत्त्व का स्वरूप ही है।

अथवा इन शब्दों से आपाततः प्रतीत होने वाले अर्थ यदि धर्म (गुण) बोधक ही हों तो वास्तव में परम तत्त्व इन शब्दों का लक्ष्य है, वाच्य नहीं, क्योंकि गुण-गुणी-भाव भेद-सापेक्ष है, परम तत्त्व एक ही है, भेद के अवकाश से परे है, प्रतीत होता हुआ भेद मिथ्या है क्योंकि उस तत्त्व के सिवा कहीं कुछ भी नहीं, जो दिखता है वह 'आर्त्त' है, ऐसी घोषणा करने वाले श्रुतिवाक्य ही परम तत्त्व के वास्तविक प्रतिपादक हैं, उन्हीं में अन्य समस्त श्रुतियों का तात्पर्य पर्यवसित हैं, और मुख्य-अमुख्य-विभाग या भेद के अवकाश से रहित ही तत्त्व को कहने में परम शब्द सार्थक है, क्योंकि जिज्ञासा वहीं समाहित होती है।

इसके अतिरिक्त श्रुति के सगुण-ब्रह्म-प्रतिपादक एवं निर्गुण-ब्रह्म-प्रतिपादक दोनों प्रकार के वाक्यों को यथावत् सम प्रामाण्य देने में भी अद्वैत वेदान्त का कोई विरोध वस्तुतः नहीं है अर्थात् निर्गुण-वाक्यों से एकवाक्यता करने के लिये सगुणवाक्यों को निषेध-विषय-प्रतिपादक कह कर अप्रधान मानने की भी आवश्यकता नहीं, क्योंकि 'ब्रह्म में गुण नहीं' कहना 'स्वर्ण में आकृति नहीं' के समान है, जो यथार्थ है। स्वर्ण के स्वरूप में तो आकृति नियत-सम्बद्ध नहीं, यदि किसी भी आकृति से स्वर्ण का नियतसम्बन्ध हो अथवा आकृति स्वर्ण

के स्वरूप का अविनाभावी घटक हो, अर्थात्—आकृति-युक्त होते हुए भास्वर पीत वर्ण वाला होना ही स्वर्ण होना हो तो खान से ले कर विविध आभूषण या पात्र आदि बनने तक उस अविनाभावी घटक आकृति को स्वर्ण में अनुस्यूत होना चाहिये, जो है नहीं।

तथा 'स्वर्ण के स्वरूप में आकृति नहीं' कहने का अर्थ स्वर्ण में आकृति का निषेध नहीं, प्रत्युत स्वर्ण की सत्ता के समान व अतिरिक्त आकृति की सत्ता के निषेध में ही अभिप्राय है। वैसे ही निर्गुण वाक्यों का तात्पर्य अधिष्ठान ब्रह्म की सत्ता के समान व अतिरिक्त सत्ता के निषेध में है, यह निषेध अद्वितीयत्व-प्रतिपादन की युक्तियों से सर्वथा सिद्ध है।

तथा स्वर्ण या मिट्टी आदि से पृथक् आभूषण या घट आदि की आकृति का निरूपण नहीं किया जा सकता, उनसे पृथक् आकृति का अस्तित्व किसी भी प्रकार प्रमाणित नहीं हो सकता, स्वर्ण की सत्ता ही उसकी विविध आकृतियों की भी सत्ता बनती है, स्वर्ण ही उन आकृतियों को प्रकट करता है।

यदि विविध आकृतियों को प्रकट करने को योग्यता ही स्वर्ण का गुण मानें तो सत्यत्वादि के प्रतिपादन द्वारा ब्रह्म के सगुण स्वरूप के निरूपण में अद्वैत की हानि नहीं, क्योंकि सत्यत्वादि का यह गुणत्व ब्रह्म में 'द्रव्य' जैसा गुणित्व नहीं लाता। आकृति एवं स्वर्ण के 'सम्बन्ध' में प्रतीत होने वाली द्वैत की गन्ध **'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्, मृत्तिकेत्येव सत्यम्'** की ही मुखर व्याख्या बनती हुई कर्पूरवटी के समान सिद्धान्तशिखा बन कर उड़ जाती है। परमतत्त्व जो है, वही रहता है।

"यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णम्........" (मुं० उ० १।१।६)

—:०:—

यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम्।
योऽस्मात् परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयम्भुवम्॥

एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः
सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः
पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः॥

॥ ॐ ॥

द्वितीय परिच्छेद

अविद्या अथवा माया

१. स्वरूप

भावरूप तथा अनिर्वचनीय

अनुभूयमान निखिल तथा अनुभविता के मूल की जिज्ञासा ने जब सत्-चित्-आनन्द, विभु, अवाङ्मनसगोचर, अद्वितीय, तत्त्व से परिचय कराया तो आपाततः अनुभूतिगोचर स्थिति को उसके ठीक विपरीत देश-काल-वस्तु की सीमाओं से परिच्छिन्न, जड़, दुःखादिसंङ्कुल, इन्द्रियादि-ग्राह्य, अनेक, विविध देखकर इस वैपरीत्य की प्रयोजक, मूल तत्त्व से विपरीत स्वभाव-गुण वाली, किसी ऐसी वस्तु की कल्पना करनी पड़ी जिसमें वह सभी कुछ कर लेने का सामर्थ्य व अवकाश हो, जो कि जगत् में संभावित है, साथ ही जो मूलतत्त्व के सदृश स्थायी न हो।

इस सन्दर्भ में ऋक्संहिता में 'माया' शब्द बहुधा प्राप्त है।[1] यास्क मुनि ने माया का अर्थ प्रज्ञा कहा है।[2] स्कन्दस्वामी, वेङ्कटमाधव, मुद्‌गल तथा सायणाचार्य-कृत भाष्यों में सर्वत्र माया शब्द का अर्थ प्रज्ञा या प्रज्ञान ही किया गया है।[3] मुद्‌गल एवं सायण के भाष्यों

---

१. नि मायिनो दानवस्य माया अपादयत् पपिवान् सुतस्य। ऋ० सं० २।११।१० ॥
मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः। वही १।११।७ ॥
माया वां मित्रावरुणा दिवि श्रिता।.........
अभ्रा वसत मरुतः सु मायया।.........
धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया। वही ५।६३।४,६,७ ॥
मायाभिरश्विना युवं वृक्षं सं च वि चाचथ। वही ५।७८।६ ॥
मायाभिरुत्सिसृप्सत इन्द्र द्यामारुरुक्षतः.........। वही ८।१४।१४ ॥
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः। ९।८४।३ ॥
पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातो अध्वरम्। १०।८५।१८ ॥

२. निघण्टु ३।९॥

३. मायाभिः प्रज्ञाभिः। हे इन्द्र! मायिनमतिसन्धानप्रज्ञायुक्तम्.........।
स्कन्द भा० ऋ० १।११।७ ॥
.........वसत आच्छादयन्ति मायया स्वप्रज्ञया। मुद्० भा० ऋ० ५।६३।७ ॥
मायाविनो प्रज्ञावन्तः। ममिरे निर्मितवन्तः, मायया स्वप्रज्ञानेन।
वेङ्कट भा० ९।८३।३ ॥
मायया स्वप्रज्ञानेनैतौ आदित्यचन्द्रौ चरतः। सा० भा० १०।८५।१८ ॥

में एक वार माया का अर्थ कपट विशेष भी किया गया है।[१] यह माया वृत्रादि असुर-पक्ष के साथ भी है और एक से अनेक होने वाले देव (प्रमुख रूप से इन्द्र और मित्रावरुण) की अनेकरूपता की व्याख्या भी बनी है। यहाँ माया के अर्थ में 'मोहन' भी जुड़ गया है।[२]

ये सब अर्थ एकत्र समन्वित हो कर वेदान्त की 'माया' का उत्स बने हैं। माया और मायावी का अभेद सम्बन्ध रहते हुए माया एवं उसके कार्य की पृथक् सत्ता न होना अद्वैत का साधक स्तम्भ बना है। बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य में माया के प्राचीन अर्थ 'प्रज्ञा' की व्याख्या 'नामरूप-उपाधि-जनित मिथ्याभिमान' तथा 'अपरमार्थ अविद्यात्मक प्रज्ञा' कह कर की गई है।[3]

इसके अतिरिक्त ऋक्संहिता में ही उसे 'तमस्' या 'रात्रि' नाम भी दिये गये हैं।[४] इससे इतना सूचित होता है कि ज्योतिःस्वरूप मूल तत्त्व (एक देव)[५] से विपरीत होने का भाव ही उस द्वितीय तत्त्व के सम्बन्ध में प्रमुख विचार्यमाण था। इस तमस् का सत्य वस्तु होना 'देव' के 'एक' होने में बाधक था और असत्य होने पर व्यवहार-जगत् का मर्म नहीं समझ में आता था, इसलिये वह तमस् सत्य व असत्य दोनों से पृथक् (विलक्षण) ही है ऐसी मीमांसा ऋग्वेद में ही हो चुकी है, एवं जड़ जगत् का सारा दायित्व उसे ही सौंप देने की भावना भी वहीं आरम्भ हो गई है।[६]

इसी सूक्त में **'तम आसीत्'** शब्दों से, ब्रह्मज्योति से विपरीत वस्तु में 'अस्' (होना) का योग, उस वस्तु के भावात्मक होने में प्रमाण है, किन्तु साथ ही **'तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्'** कहने में उस तमस् को तुच्छ (अविद्यमान) भी बताया है, तथा पहले उसे सत् तथा

---

१. हे इन्द्र त्वं मायिनं नानाविधकपटोपेतं भूतानां शोषणहेतुमसुरम् मायाभिः तत्प्रतिकूलैः कपटविशेषैरवातिरः हिंसितवानसि। मुद्० भा० १।११।७॥

२. रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्।
ऋ० सं० ३।५३।८॥
नानाविधं रूपं भावयति मघवा स्वां तनुं परितः मायाः कुर्वन्। याभिर्जनान् मोहयति ता माया उच्यन्ते। बहुधा हि एकमेव जना बुध्यन्ते। वहीं वेङ्कट भा०॥
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। बृह० उ० २।५।१९॥

३. इन्द्रः परमेश्वरो मायाभिः प्रज्ञाभिः नामरूपभूतकृतमिथ्याभिमानैर्वा, न तु परमार्थतः, पुरुरूपो बहुरूप ईयते गम्यते, एकरूप एव प्रज्ञानघनः सन् अविद्याप्रज्ञाभिः। वहीं शां० भा०॥

४. रात्री व्यख्यदायती पुरुत्रा देव्यक्षभिः।
विश्वा अधि श्रियो धित॥ ऋ० सं० १०।१२७।१॥
तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रे–। ऋ० सं० १०।१२९।३॥

५. यो देवानां नामधा एक एव········। ऋ० सं० १०।८२।३॥
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः········। श्वे० ६।११॥

६. नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं········। ऋ० सं० १०।१२९।१॥
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्
तपसस्तन्महिम्नाजायतैकम्। वही, ३॥

असत् दोनों से पृथक् भी कहा है। इससे उस 'तमस्' के स्वरूप की तीन विधायें प्राप्त होती हैं—१–अस् धातु के प्रयोग के योग्य होने से भावरूपता, ९–'तुच्छ' से अभिहित होने से अविद्यमानता, एवं ३–सत् तथा असत् दोनों से पृथक् (विलक्षण) होना।

इसी नासदीय सूक्त के सायणभाष्य में अद्वैतसिद्धान्तानुरूप शब्दावली से ही अज्ञान की भावरूपता एवं सदसद्विलक्षण-अनिर्वचनीयता निरूपित हुई है। वहीं यह शङ्का उठाई है कि माया यदि ब्रह्म से इतर कुछ नहीं, अविभागापन्न है, तब तो माया के समान ही ब्रह्म भी अनिर्वाच्य होगा और सृष्टि को प्रागवस्था में यदि ब्रह्म की सत्ता है तो माया की भी सत्ता होगी। इस आपत्ति का निवारक उत्तर दिया है कि अयुक्तिदृष्टि से ऐक्यावभास होने पर भी युक्तिपूर्वक विवेक करने से माया ही अनिर्वाच्य है, ब्रह्म की सत्ता है। सूक्त के 'तुच्छय' शब्द का अर्थ करते समय भी अज्ञान से शशशृंग जैसा अवस्तुत्व हटाते हुए 'आभु' को उसका विशेषण बना कर 'तुच्छ कल्प' सदसद्विलक्षण भावरूपता कही गई है।

उपनिषद् में वह तत्त्व 'अव्यक्त' 'अज्ञान', 'प्रकृति', 'माया', 'अविद्या', 'तमस्' इत्यादि अनेक नामों से प्रचुर चर्चित हुआ है। औपनिषद प्रतिपादन के अनुसार वह मूल तत्त्व की एक शक्ति है जो एक रूप में भी कार्य करती है, अनेक रूपों में भी।[1] वही एक अद्वितीय तत्त्व की नानात्मक प्रतीति का तथा जगत् की संभावना का मूल है।[2] अद्वितीय मूल तत्त्व उससे सर्वथा पृथक् है। यह (तत्त्व) भय रूप है, एवं सुखेप्सु द्वारा जिहासित है।[3]

उस वस्तु को 'क्षर' संज्ञा देकर उसका अन्तवत्त्व, अस्थायित्व सूचित किया गया है। तथा अन्य अनेक वचनों से उसका कुछ 'होना' (भावरूपता) भी कहा गया है।[4]

इसी नासदीय सूक्त के सायणभाष्य में अद्वैत सिद्धान्तानुरूप शब्दावली से ही अज्ञान की भावरूपता एवं सदसद्विलक्षण-अनिर्वचनीयता निरूपित हुई है। वहीं यह शङ्का उठाई है कि माया यदि ब्रह्म से इतर कुछ नहीं, अविभागापन्न है, तब तो माया के समान ही ब्रह्म भी अनिर्वाच्य होगा और सृष्टि की प्रागवस्था में यदि ब्रह्म की सत्ता है तो माया की भी सत्ता होगी। इस आपत्ति का निवारक उत्तर दिया है कि अयुक्तिदृष्टि से ऐक्यावभास होने पर भी युक्तिपूर्वक विवेक करने से माया ही अनिर्वाच्य है, ब्रह्म की सत्ता है।[5] सूक्त के 'तुच्छय'

---

१. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्.........। श्वे० ४।५ ॥
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते.........। बृह० उ० २।५।१९ ॥
२. अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्.........। श्वे० ४।९ ॥
३. असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमयेति। बृह० उ० १।३।२८ ॥
४. क्षरं प्रधानम्.............। श्वे० १।१० ॥
संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च। श्वे० १।८ ॥
५. तदानीं प्रलयदशायामवस्थितं यदस्य जगतो मूलकारणं तद् असच्छशविषाणवन्नि-रूपाख्यं नासीत्। न हि तादृशात् कारणाद् अस्य सतो जगत उत्पत्तिः संभवति। तथा नो सन् नैव सदात्मवत् सत्त्वेन निर्वाच्यमासीत्। यद्यपि सदसदात्मकं प्रत्येकं

शब्द का अर्थ करते समय भी अज्ञान से शशशृंग जैसा अवस्तुत्व हटाते हुए 'आभु' को उसका विशेषण बना कर 'तुच्छ कल्प' सदसद् विलक्षण भावरूपता कही गई है।[1]

गौड़पादाचार्य ने माण्डूक्यकारिका में 'जीवकल्पना' के हेतु के रूप में अज्ञान का उल्लेख किया है। जिस प्रकार मन्द प्रकाश में दूर से दिखाई देती हुई पृथ्वी पर पड़ी रज्जु में रज्जु होने का निश्चय न होने की दशा में, भूछिद्र या सर्प आदि होने की कल्पना की जाती है, वैसे ही स्वरूपतः अज्ञात या भली प्रकार न जाना हुआ आत्मा अनन्त जीव-जगत् आदि भावों से विकल्पित हो रहा है। यह विकल्पना प्रकाशस्वरूप परमतत्त्व की माया (समझ में न आने वाला खेल) ही है, जिससे वह स्वयं विमोहित-सा हो रहा है।[2] अर्थात् विमोह, विकल्पना, वस्तु के स्वरूप को यथार्थ से विपरीत-सा कर देना ही माया का स्वरूप है। पर वह माया वस्तुतः कुछ भी नहीं है। वस्तुतः सत् 'विद्यमान' न होते हुए भी वह कार्यकरी है।[3] गौड़पादाचार्य ने 'अज्ञात आत्मा' शब्द से जो कहा उसी को थोड़ा सा स्पष्ट करके योगवासिष्ठ में माया का स्वरूप 'आत्मतत्त्व का अदर्शन' कहा गया है, एवं उसके मिथ्यात्व और अविद्यमानता पर विशेष बल दिया है।[4] वह वस्तुतः कहीं भी स्थित नहीं पर दिखती है सर्वत्र, निमिष भर भी उसको स्थिति नहीं, पर चिरस्थैर्य की आशङ्का उत्पन्न किये

विलक्षणं भवति, तथापि भावाभावयोः सहावस्थानमपि संभवति। कुतस्तयोस्तादात्म्यमिति उभयविलक्षणमनिर्वाच्यमेवासीद् इत्यर्थः। ननु नो सदिति पारमार्थिकसत्त्वस्य निषेधः। तर्ह्यात्मनोऽप्यनिर्वाच्यत्वप्रसङ्गः। अथोच्यते न आनीदवातम् इति तत्सत्वमग्रे वक्ष्यते; परिशेषान्मायाया एवात्र सत्त्वं निषिध्यते। एवमपि तदानीमिति विशेषणानर्थक्यम् व्यवहारदशायामपि तस्याः पारमार्थिकसत्त्वाभावात्। ऋ० १०।१२९।१ सा० भा०।

.........ननु यदि माया ब्रह्मणा सहाविभागापन्ना तर्हि तस्या अनिर्वाच्यत्वाद् ब्रह्मणोऽपि तत्प्रसङ्गः.........ब्रह्मणो वा सत्त्वात् तस्या अपि सत्त्वप्रसङ्गः......... मैवम्। अयुक्तिदृष्ट्या ऐक्यावभासेऽपि युक्त्या विविच्य मायांशस्य अनिर्वाच्यत्वं ब्रह्मणः सत्त्वं च प्रतिपादितम्। वही, २।

१. आभु तुच्छ्येनेति—आसमन्ताद् भवतीति आभु—तुच्छेन तुच्छकल्पेन सदसद्विलक्षणेन भावरूपाज्ञानेनापिहितं छादितमासीत्। वही, ३।

२. अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः॥
प्राणादिभिरनन्तैश्च भावैरेतैर्विकल्पितः।
मायैषा तस्य देवस्य यया सम्मोहितः स्वयम्॥ मां० का० २।१७, १९॥

३. ....सा च माया न विद्यते॥ मां० का० ४।५८॥
अस्यास्त्वदर्शनं यत्तदविद्येत्युच्यते बुधैः।
अविद्या हि जगद्धेतुस्ततः सर्वं प्रवर्तते॥ यो० वा० ६।१०।२९॥

४. मायेयं स्वप्नवद् भ्रान्तिर्मिथ्यारचितचक्रिका।
मनोराज्यमिवालोलसलिलावर्तसुन्दरी॥ वही ४।४७।४१॥

हुए हैं। मृगमरीचिका, मनोराज्य, इन्द्रजाल के तुल्य ही अविद्या का स्वरूप है। ऐसी ही वह निखिल संसार का बीज है।[1] बारम्बार उसे असत्‌रूप और अवस्तु कहा गया है। अतएव यह कहना भी उपपन्न होता है कि इन शब्दों का 'नञ्' (अकार) सद् या वस्तु से विलक्षणता का बोधक है, अभावरूपता का नहीं। वह कुछ है ही नहीं जो नष्ट हो[2]। किन्तु उसे अभावरूपा कहना भी दुष्कर है, क्योंकि असत् का होना नहीं देखा जाता और अविद्या ठीक अविद्या रूप से देखी न जाने पर भी उसका कार्य जगत् तो मोक्ष से पहले तक सभी को दिखाई देता ही है।[3] अभाव से भावोत्पत्ति होती नहीं; और जगदुत्पत्ति हो रही है।

इन दोनों ग्रन्थों में आत्मा की अद्वयता पर दृष्टि को दृढ़ रखते हुए उससे विपरीत जागतिक प्रतीति के अनुरोध से किसी प्रकार एक ऐसे पदार्थ की कल्पना कर लेने का भाव प्रधान है, जो वस्तु (सत्) न होते हुए भी जगत् रूपी प्रतीति करवा सके।

इसी भाव से प्रेरित होकर ब्रह्म के निर्गुणत्व, निष्क्रियत्व पक्ष पर ध्यान केन्द्रित करके एवं प्रतीतिगोचर व्यावहारिक स्थिति को चैतन्यतत्व की अनिवार्य अपेक्षा देखकर आचार्य शङ्कर ने शारीरकभाष्य में निर्गुण, निष्क्रिय ब्रह्म में जगत् के उत्पादकत्व की उपपादिका रूप में ही अविद्या का प्रतिपादन किया है, एवं उसे निखिल सृष्ट वस्तु की बीजशक्ति कहा है। यह बीजशक्ति अव्यक्त है। वह सद्‌रूप है या असद् रूप, ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न किसी भी प्रकार उसका निरूपण नहीं किया जा सकता। अतः वह अव्यक्त है। अर्थात् न उसे सत् कह सकते हैं न ही असत्, इन दोनों से विलक्षण ही किसी भावरूप से वह महासुषुप्तिरूपा है जिसमें स्वरूपज्ञानरूपी प्रतिबोध (जागरण) से रहित संसारी जीव सोये हुए हैं।[4]

---

१. संसारबीजकणिका यैषाऽविद्या रघूद्वह।
एषा ह्यविद्यमानैव सतीव स्फारतां गता॥ वही ३।११३।११॥
न क्वचित् संस्थितापीह सर्वत्रैवोपलक्ष्यते। वही ३।११३।१७॥
इयं दृश्यभरभ्रान्तिर्नन्वविद्येति चोच्यते।
वस्तुतो विद्यते नैषा तापनद्यां यथा पयः॥ वही ६।२।५२।५॥

२. मनोराज्यमिवाकारभासुरा सत्यवर्जिता।
सहस्रशतशाखापि न किञ्चित् परमार्थतः॥ वही ३।११३।३३॥

३. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
यत्तु वस्तुत एवास्ति न कदाचन किञ्चन।
तदभावात्म तन्नाम कथं नाम विनश्यति॥ वही ६।२१३।११–१२॥

४. अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः, यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेते संसारिणो जीवाः। तदेतदव्यक्तं क्वचिदाकाशशब्दनिर्दिष्टम् एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च (बृह० उ० ३।८।११), क्वचिदक्षरशब्दोदितम् अक्षरात्परतः परः (मुं० उ० २।१।२), क्वचिन्मायेति सूचितम्—मायां तु प्रकृतिं विद्यात् (श्वे० ४।१०)। अव्यक्ता हि सा माया तत्त्वान्यत्वनिरूपणस्य अशक्यत्वात्॥ ब्र० शां० भा० १।४।३, पृ० २८८॥

अविद्या का स्वरूप ब्रह्म के स्वरूप का विरोधी है, इस तथ्य पर बल देते हुए सुरेश्वराचार्य ने बृहदारण्यभाष्यवार्त्तिक में कहा है कि जडता, अविवेक, अन्धकार ही अविद्या है।[१] आचार्य शङ्कर के समान ही सुरेश्वर भी कहते हैं—अविद्या ऐसी महानिद्रा है, जिसमें सोये हुए जीवों (चिदाभासों) को जन्म आदि छहों विकारों का वैसा ही अनुभव हो रहा है जैसा सोये हुए को स्वप्न का होता है।[२] यह अज्ञान ही समस्त द्वैत का उपादान कारण है।[३] इसी की सन्निधिमात्र से ब्रह्म में जगत्-कारणता आती है।

स्वयं इसका स्वरूप क्या है ? यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इसकी स्थिति तभी तक है जब तक यह विचार का विषय नहीं बनती।[४] सम्यक् ज्ञान का उदय होने पर तो 'अविद्या न थी, न है, न होगी'—की स्थिति हो जाती है।[५]

वार्त्तिककार के प्रतिपादन में अविद्या तमोरूपा तो है, पर तम का भाववस्तु होना सुसिद्ध नहीं। तब भी अविद्या ज्ञानाभाव-रूपा हो यह वार्त्तिककार को अभिमत नहीं, अतः अज्ञान रूप होते हुए भी अविद्या ज्ञानाभाव से अधिक व्यापक है, यही ध्वनित किया गया है।[६] अविद्या या अज्ञान की अभावरूपता वार्त्तिककार को किसी भी प्रकार अभिमत नहीं, इसलिये कहा है कि सत्-स्वरूप जिस आत्मा द्वारा मिथ्याज्ञान को भी वस्तुता मिलती है उसी आत्मा द्वारा अज्ञान को भी वस्तुता मिलने से कौन रोकेगा ? अर्थात् आत्मसत्ता से ही जब सभी कुछ सत्तान्वित है तो अज्ञान भी सर्वथा असत् नहीं रहेगा। अर्थात् किसी न किसी प्रकार की सत्ता अविद्या की भी है ही।[७]

तैत्तिरीय भाष्यवार्त्तिक में एक अन्य रीति से अविद्या की सत्यता कही है कि 'न मित्र'

---

१. न च जाड्यातिरेकेण ह्यविद्या काचिदिष्यते। बृ० भा० वा० १।४।२५६ ॥

२. अतोऽविद्यामहानिद्रासंवीतमनसामसौ।
जन्मादिविक्रियाषट्कं स्वप्नदर्शनविभ्रमः ॥ वही, १।४।१३२७ ॥

३. अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम्।
अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते ॥ वही, १।४।३७१ ॥

४. अविचारितसंसिद्धिः सर्वानर्थैककारणम्।
प्रत्यङ्मात्रैकसाक्षित्वात् तमस्तत्प्रत्यगात्मनि। वही, १।४।१३४१ ॥
अविद्याया अविद्यात्व इदमेव तु लक्षणम्।
मानाघातासहिष्णुत्वमसाधारणमिष्यते ॥ वही, सं० वा० १८१ ॥

५. तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः।
अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति ॥ वही, सं० वा० १८३ ॥

६. आत्मयाथात्म्यविज्ञानाद्यदन्यत्साधनान्तरम्।
ज्ञानाभावोऽथवा सर्वमविद्यैवेति निश्चितिः ॥ वही, १।४।१४३९ ॥

७. मिथ्याज्ञानस्य वस्तुत्वं येनैव स्यात् सदात्मना।
अज्ञानस्यापि तेनैव सत्यत्वं केन वार्यते ॥ बृ० भा० वा० १।४।४४२ ॥

जैसे 'अमित्र' होता है वैसे आत्मा के अग्रह (आवरण) के अतिरिक्त जिस का कोई रूप विद्यमान नहीं, वह अविद्या (न विद्या) है।[1]

पद्मपादाचार्य ने पञ्चपादिका में कहा है कि मिथ्या अज्ञान ही, ज्ञान से विपरीत स्वभाव वाली अविद्या शक्ति है।[2] यह भाव-पदार्थ है या अवस्तु, इस पर उन्होने कोई प्रकट चर्चा नहीं उठाई है। तत्र भी 'मिथ्या शब्द के दो अर्थ हैं—अपह्नव (धोखा, दुराव) और अनिर्वचनीयता'[3]—ऐसा कहकर अविद्या के स्वरूप के प्राचीन पक्ष—धोखा (मोह) रूप होना—का संग्रह तथा अनिर्णीत रूप वाला होते हुए अभाव-विलक्षण होने अनिर्वचनीय शब्द द्वारा कहे जाने का सूत्रपात कर दिया है। अविद्या की भावरूपता का संकेत-वीज यहीं है।

यह मिथ्या अज्ञान कैसा है, इसको कुछ और स्पष्ट करते हुए सर्वज्ञात्म मुनि ने संक्षेप-शारीरक में कहा है कि अज्ञान (या अविद्या) एक मृषा पदार्थ है, जो आत्मा के सर्वदा स्फुरणशील स्वरूप को आच्छादित करके, उसके विपरीत विविध प्रपञ्च-भाव को प्राप्त कराता है। यह आच्छादन व विकल्पना ही अज्ञान के स्वरूप हैं, मृषा होना ही उसकी स्थिति है। जडता व मूढ़ता ही उस प्रकृति है।[4]

सर्वज्ञात्मा ने ही सर्वप्रथम अज्ञान को स्पष्ट शब्दों में भावरूप सिद्ध किया है, जिसमें प्रमुख हेतु या साधक उसके आवरकस्वभाव को वनाया है। कहा है कि अज्ञान चैतन्य का आवरक है अतः अभाव रूप नहीं, क्योंकि अभाव कभी किसी को ढकता नहीं[5]; तथा जगत् में अनुगत जड़ता व पुरुषगत मूढ़ता भावरूप ही प्रतीत होती है। अतः वाहर जड़ता रूप से और भीतर मूढ़ता रूप से अनुभूयमान अज्ञान भावरूप ही है।[6]

प्रकटार्थकार ने अविद्या के ज्ञानाभावरूप होने का विरोध किया है, किन्तु भावरूपता को भी सिद्ध न करके इसकी अनिर्वाच्यता पर ही वल दिया है। अनिर्वाच्यता का भी अधिक युक्तिप्रस्तार से विश्लेपण नहीं किया।

---

१. आत्माग्रहातिरेकेण तस्या रूपं न विद्यते।
अमित्रवदविद्येति सत्यैवं घटते सदा॥ तै० भा० वा० ब्रह्म० १।७९॥

२. मिथ्या च तदज्ञानं च मिथ्याज्ञानम्। मिथ्येति अनिर्वचनीयता उच्यते, अज्ञानमिति च जडात्मिकाऽविद्याशक्तिः ज्ञानपर्युदासेनोच्यते। पं० पा० पृ० २६।

३. मिथ्याशब्दो द्व्यर्थः—अपह्नववचनोऽनिर्वचनीयतावचनश्च। वही, पृ० २३।

४. आच्छाद्य विक्षिपति संस्फुरदात्मरूपं, जीवेश्वरत्वजगदाकृतिभिर्मृषैव।
अज्ञानमावरणविभ्रमशक्तियोगाद्। आत्मत्वमात्रविषयाश्रयतावलेन॥
सं० शा० १।२०॥

५. नाभावतास्य घटते वरणात्मकत्वात्, नाभावमावरणमाहुरभावशौण्डाः।
अज्ञानमावरणमाह च.वासुदेवः, तद्भावरूपमिति तेन वयं प्रतीमः॥ वही १।३२०॥

६. जाड्यं जगत्यनुगतं खलु भावरूपं, मौढ्यं च पुंगतमिति प्रतिभाति तादृक्।
जाड्यं च मौढ्यमिति चानुभवप्रसिद्धिम्, अज्ञानमाहुरपवर्गपिधानदक्षम्॥
वही १।३२२॥

इसके पश्चात् विमुक्तात्मा ने इष्टसिद्धि में बौद्ध-सिद्धान्तों—असद्‌वाद तथा शून्यवाद का सविस्तर निरास करते हुए[1] अविद्या की भावरूपता तथा अनिर्वचनीयता को युक्तिपूर्वक सिद्ध किया है। अन्यत्र कहा है, अज्ञान ज्ञानाभाव नहीं है, क्योंकि (१) यह (अज्ञान) अभाव-ग्राहक प्रमाणों (प्रत्यक्ष तथा अनुपलब्धि) द्वारा नहीं जाना जाता। आत्मा अप्रमेय है अतः उसका अज्ञान अभाव-प्रमाण द्वारा भी प्रमेय नहीं, और स्वयं अज्ञान अपरोक्षरूप है इसलिये भी अभाव प्रमाण द्वारा ज्ञेय नहीं। आत्मा प्रत्यक्ष-ज्ञान-गम्य नहीं, घट पटादि के समान जड़ न होने से, वैसे ही उसका अज्ञान भी प्रत्यक्ष-ज्ञानगम्य नहीं। अभाव के आश्रय के ज्ञात हुए बिना अभाव का ज्ञान नहीं होता किसी भी मत में। अतः अज्ञान अभाव रूप नहीं। यदि कहें कि किसी भी प्रमाण से गृहीत न होता हुआ यह अज्ञान फिर जाना कैसे जाता है? तो उत्तर होगा कि भ्रमस्थल में जाने जाते हुए रजत के समान ही यह अज्ञान जाना जाता है, अतः उसी के समान अनिर्वचनीय सत्ता वाला है, अभावरूप नहीं है।[2]

(२) इसके अतिरिक्त यह कौन सा (किस कोटि का) अभाव होगा यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि किसी भी अभाव का लक्षण ज्ञानाभाव रूप अज्ञान में घटित नहीं होता। इतरेतराभाव अपने विभिन्न विषयों पर आश्रित होता है, अज्ञान तो आत्माश्रित है (ज्ञाता पर आश्रित है ज्ञेय पर नहीं)। प्रध्वंसाभाव की उत्पत्ति होती है, 'मुझे अज्ञान उत्पन्न हुआ' ऐसी प्रतीति नहीं होती। और प्रध्वंस की तो निवृत्ति नहीं मानी गई जब कि अज्ञान की निवृत्ति होती है। इस प्रकार अनादि व सान्त अज्ञान सादि व अनन्त प्रध्वंस से विपरीत है।[3] यदि कहें कि ज्ञान नष्ट हुआ इस प्रकार ज्ञान-प्रध्वंस का जन्म प्रतीत होता है तो वह भले हो पर अज्ञान का जन्म नहीं प्रतीत होता क्योंकि अज्ञान के प्रागभाव की प्रतीति नहीं होती। उसी प्रकार ज्ञान-प्रागभाव भी अज्ञान नहीं है क्योंकि इसकी वैसी प्रतीति नहीं होती। यदि कहें कि ज्ञान द्वारा निवृत्त होता है इसलिये अज्ञान ज्ञानप्रागभाव है, तो भी ठीक नहीं क्योंकि जो जिससे निवृत्त होता है वह उसका प्रागभाव हो यह नियत नहीं। अन्धकार प्रकाश से निवृत्त होता है पर वह प्रकाश का प्रागभाव नहीं है। प्रदीप जहाँ-जहाँ जाता रहता है वहाँ-वहाँ का अन्धकार दूर होता चलता है और जहाँ से प्रदीप हटा वहाँ पुनः अन्धकार हो जाता है। प्रदीप के उत्पन्न होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है, तब भी वह प्रदीप का प्रागभाव

---

१. इ० सि०, पृ० १५०-१८७।

२. अज्ञानं ज्ञानाभाव इति चेत् तन्न, अभावप्रमाणाप्रमेयत्वात्। प्रत्यक्षमभावो वाऽभावस्य प्रमाणम्। न ताभ्यां ज्ञायतेऽज्ञानम्। अपरोक्षत्वाच्च नाभावज्ञेयम्।............न ह्यभावाश्रयमप्रतीत्य अभावं प्रतियन्ति अभाववादिनोऽपि। कथमप्रमाणं भातीति चेत्, रूप्यवत्।...........

इ० सि०, पृ० ६५-६६।

३. न चाज्ञानं.......ज्ञानाभाव इति नियन्तुं शक्यम्, इतरेतराभावस्य विषयाश्रयत्वात्, अज्ञानस्य चात्मैकाश्रयत्वात्, प्रध्वंसस्य चोत्पत्तेरिष्टत्वात्, अज्ञानमुत्पन्नं ममेति च प्रतीत्यभावात्, अज्ञानस्य निवृत्तिप्रतीतेः, प्रध्वंसस्य च निवृत्यनिष्टेः।.......

वही, पृ० ६६–६७।

नहीं।[1] ऐसे ही न तो मणि-प्रभा, सूर्य आदि प्रकाशों का प्रागभाव या ध्वंस अन्धकार है, न ही उनका अन्योन्याभाव अन्धकार है।

इसी प्रकार से युक्ति-प्रसार करते हुए अन्त में कहा है कि तम प्रकाशाभाव नहीं, अज्ञान भी ज्ञानाभाव नहीं। ज्ञान से निवृत्त होने वाला होने से या ज्ञान-पर्युदास (ज्ञान विरोधी) कहने के अभिप्राय से ही यह अज्ञान शब्द से कहा जाता है। वही अपने अनिर्वचनीय जड़ स्वरूप की विवक्षा से माया, तमस् इत्यादि शब्दों से अपर्युदास (अनिषेधात्मक) रीति से भी कहा जाता है।[2]

इस प्रकार युक्तियों से अविद्या की भावरूपता सिद्ध हुई। उसे विश्वसनीय बनाने की भावना से प्रकाशात्मा ने पञ्चपादिकाविवरण में अज्ञान को भावरूप सिद्ध करने में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा अर्थापत्ति प्रमाण दिये हैं। 'मैं अज्ञ हूं' मैं उसको नहीं जानता—ऐसी अज्ञान की अपरोक्ष प्रतीति सभी को होती है। यह प्रतीति ज्ञानाभाव–विषयक नहीं, क्योंकि 'मैं सुखी हूं' प्रतीति के समान ही इसकी स्थिति है तथा अभाव तो षष्ठप्रमाण का विषय होता है।[3] इसी की बहुविस्तृत आलोचना के बाद कहा है कि अज्ञान का प्रत्यक्ष आत्मा में भावरूप ही अज्ञान को उपलब्ध कराता है।[4] अनुमान है—प्रमाणज्ञान अपने प्रागभाव से व्यतिरिक्त, अपने विषय के आवरण रूप, अपने द्वारा निवर्त्य, अपने ही आश्रयस्थल में रहने वाली एक अन्य वस्तु-पूर्वक होता है, अप्रकाशित अर्थ का प्रकाशक होने से अन्धकार में पहले-पहले आये प्रदीप के समान। वह अन्य वस्तु ही अज्ञान है, जो ज्ञान के ही समान आश्रय-विषय वाला है, वस्तु होने से वह भावरूप है।[5] ऐसे ही मिथ्या आर्थाविभास की

---

१. ज्ञानप्रागभाव एवाज्ञानं ज्ञानभावे तन्निवृत्तेरिति चेत्, तन्न। अतत्प्रागभावस्यापि ज्ञानभावे निवृत्त्युपपत्तेः, प्रदीपभावेनेव तमसः। न हि प्रदीपस्य प्रागभावस्तमः तथापि भवन्नेव स तन्निवर्तयति।········

वही, पृ० ६७–६८।

२. ········ज्ञानमप्यज्ञानमस्वभावमपि भावमात्रेणैव निवर्तयितुमलमित्यज्ञानं न ज्ञानाभाव इति सिद्धम्। तच्चाज्ञानमिति ज्ञानविरोधात्, ज्ञानपर्युदासेन वा उच्यते। तदेवानिर्वचनीयं जडात्मकं मायादिशब्दैरपर्युदासेनाप्युच्यते।

वही, पृ० ६९।

३. प्रत्यक्षं तावदहमज्ञः मामन्यं च न जानामि इत्यपरोक्षावभासदर्शनात्। ननु ज्ञानाभावविषयः अयमवभासः, न, अपरोक्षावभासत्वात् अहं सुखी इतिवत्। अभावस्य च षष्ठप्रमाणगोचरत्वात्।········ पं० पा० वि०, पृ० ७४।

४. ········उपपत्तिसहितमज्ञानप्रत्यक्षं भावरूपमेव आत्मनि अज्ञानं गमयति इति सिद्धम्। वही, पृ० ८४।

५. विवादगोचरापन्नं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकं भवितुमर्हति, अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावात्। ततश्च ज्ञानेन समानाश्रयविषयं भावरूपमज्ञानं सिद्धम्।

वही, पृ० ८५, ८९।

अनुपपत्ति अपने उपादान रूप मिथ्या (असद्-विलक्षण होने के नाते भावरूप) अज्ञान की कल्पक है।[१]

भावरूप-अज्ञान के साधक अनुमान में अन्धकार व दीप का दृष्टान्त विमुक्तात्मा ने दिया है, इसी को सूत्र बनाकर चित्सुखाचार्य ने तत्त्वप्रदीपिका में, अपनी विशिष्ट तर्क-सम्पुटित शैली से अन्धकार की भावरूपता सिद्ध करने में अर्थतः अविद्या को भावरूप सिद्ध किया है। उसमें एक युक्ति यह है कि 'तमाल के समान काले वर्ण का अन्धकार अमुक स्थान पर है,' या 'ले जाई जाती हुई मशाल के पीछे-पीछे अन्धकार चल रहा है'—ऐसी स्पष्ट प्रत्यक्षात्मक प्रतीति का अपलाप करते हुए अकस्मात् कैसे कहा जा सकता है कि अन्धकार कोई द्रव्य नहीं है, प्रकाश का अभाव मात्र है।[२] इसी से अर्थतः कहा गया कि जिसके कार्यभूत प्रपञ्च में विचारक-विचारणीय-विचार—सभी कुछ की स्थिति अनुभव में आ रही है, वह कारणभूत अज्ञान या अविद्या केवल ज्ञानाभाव-मात्र है—यह कैसे कहा जा सकता है।

वस्तुतः यह भावत्व भी अभीष्ट न होने से, चित्सुखाचार्य ने फिर अविद्या के अनिर्वचनीय होने की सिद्धि की है। उसी में अनिर्वचनीयता वास्तव में है क्या ? इसकी व्याख्या की है। विस्तृत पूर्वपक्ष के पश्चात् सिद्धान्त रूप से कहा है कि 'सत्, असत् प्रत्येक तथा उभय—इन तीनों प्रकार से जो विचार को सहन नहीं करता वही अनिर्वाच्य है'[३] ऐसी ही अविद्या है अतः वह भी अनिर्वाच्या है।

योगवासिष्ठ, बृह० भा० वार्तिक आदि में कहा गया 'विचारासहत्व' ही युक्ति-संवर्धित होकर 'अनिर्वाच्यत्व' शब्द से कहा गया। उक्त विचारासहिष्णुता का ही एक अन्य व्याख्यान अनिर्वचनीयत्व के 'ज्ञानबाध्यत्व' लक्षण में हुआ।[४] जिसे जिस वस्तु का आश्रय माना जा रहा हो, उसी में उस वस्तु के अभाव का ज्ञान होना बाध है, और इस बाध का विषय होना बाध्यत्व है। अविद्या और उसके कार्य प्रपञ्च का आधार ब्रह्म है, ऐसा माना जाता है क्योंकि अन्य कुछ विश्वाधार हो नहीं सकता। उस ब्रह्मतत्त्व का ही सम्यक् बोध होने पर—अविद्या ब्रह्म में न थी, न है, न होगी—ऐसा ज्ञान होता है, उसका विषय है अविद्या, अतः यह अनिर्वाच्य है।

आनन्दानुभव ने भी न्यायरत्नदीपावली में पूर्वाचार्यों का अनुसरण करते हुए अविद्या की अभावात्मकता का सविस्तर खण्डन करके अन्धकार व अज्ञान की भावरूपता का सयुक्तिक

---

१. मिथ्याध्यास एव तथाविधाज्ञानोपादनकारणमन्तरेणानुपपद्यमानः तत् कल्पयति।
वही, पृ० ९१।

२. तमालश्यामलज्ञाने निर्बाधे जाग्रति स्फुटे।
द्रव्यान्तरं तमः कस्मादकस्मादपलप्यते ॥ त० प्र० १।५, पृ० ४९।

३. प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न यत्।
गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिनः ॥ वही, १।१३, पृ० १३६।

४. ज्ञानबाध्यत्वं वाऽनिर्वचनीयत्वम्। बाधो हि नाम प्रतिपन्नोपाधावभावबोधनम्। ....प्रतिपन्नोपाधौ नाभूदस्ति भविष्यतीति कालत्रयसत्तानिषेधो बाधस्तद्विषयत्वं च बाध्यत्वमिति केचिदाचार्याः।........वही, पृ० १३८।

स्थापन किया है। युक्तियाँ प्रायः पूर्वाचार्यों की ही ली हैं। इसी प्रसङ्ग में 'स्वयूथ्य' नाम से किसी मत का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार अज्ञान के अभावरूप होने से भी सिद्धान्तक्षति नहीं है,[1] किन्तु आनन्दानुभव ने उसका भी खण्डन ही किया है।

विद्यारण्य ने विवरणप्रमेयसङ्ग्रह में प्रकाशात्मा द्वारा किये गये अज्ञान की भावरूपता के प्रतिपादन का ही पल्लवन किया है।[2] पञ्चदशी में सबसे पृथक् रीति से अविद्या की अनिर्वचनीयता कही है। तदनुसार यह परमात्मा की शक्ति है जो विवर्त-उपादान रूप से जगत् को उत्पन्न करती है।[3] अर्थात् परमात्मतत्त्व पर, उसी की सत्ता से स्थित होकर इन्द्रजाल के समान जगत् की प्रतीति उत्पन्न कराती है, जिसका परमतत्त्व पर कोई वास्तविक प्रभाव नहीं पड़ता, अथ च विपरीत प्रतीति होती है।

अवश्य ही यह कोई शक्ति है क्योंकि जगत् रूप कार्य इसका अनुमान कराता है। जैसे घड़ा मिट्टी में घड़ा उत्पन्न करने की शक्ति का अनुमान कराता है, क्योंकि केवल मिट्टी घड़ा नहीं, और कुम्हार की चेष्टा से उस मिट्टी से ही घड़ा बन भी जाता है। घड़े में से मिट्टी को पृथक् कर लें तो घड़ा नहीं रह जाता। अब क्योंकि घड़ा मिट्टी से न पृथक् है, न अभिन्न अतः अनिर्वचनीय है, ऐसे ही इसको बनाने वाली शक्ति भी न मिट्टी से पृथक् है न अभिन्न, इसी प्रकार जगत् को उत्पन्न करने वाली मायाशक्ति भी अपने आश्रय से न भिन्न न अभिन्न होने से अनिर्वचनीय है।[4]

तथा, यह शक्ति अपने कार्य व आश्रय दोनों से विलक्षण स्वभाव वाली है। कार्य-जगत् शब्द-स्पर्श आदि से युक्त है, माया देखी-सुनी जाने वाली नहीं; आश्रय परमात्मा चित्स्वरूप है, माया जड़ है, अज्ञानरूपा है। इस प्रकार भी अचिन्त्य होने से यह शक्ति अनिर्वचीनया है।[5]

---

१. न्या० र० दी०, पृ० २०१-२२५।

२. न चाज्ञाने विवदितव्यम्, 'अहमज्ञः मामन्यं च न जानामि' इति जडात्मिकाया अविद्याशक्तेरात्मानमाश्रित्य वाह्याध्यात्मिकेषु व्याप्तायाः अनुभूयमानत्वात्। ननु ज्ञानाभावविषयोऽयमनुभवः, तन्न, 'अहं सुखी' इतिवदपरोक्षानुभवत्वात्। अभावस्य च षष्ठप्रमाणगम्यत्वात्। वि० प्र० सं०, पृ० ५३-५५।

३. ततो निरंश आनन्दे विवर्तो जगदिष्यताम्।
मायाशक्तिः कल्पिका स्यादैन्द्रजालिकशक्तिवत्॥ पं० द० १३।१०॥

४. शक्तिः शक्तात् पृथङ् नास्ति तद्वद् दृष्टेर्न चाभिदा।........वही १३।११॥
स घटो न मृदो भिन्नो वियोगे सत्यनीक्षणात्।
नाप्यभिन्नः पुरा पिण्डदशायामनवेक्षणात्॥
अतोऽनिर्वचनीयोऽयं शक्तिवत्तेन शक्तिजः।
अव्यक्तत्वे शक्तिरुक्ता व्यक्तत्वे घटनामभृत्॥ वही १३।३५-३६।

५. कार्यादाश्रयतश्चैषा भवेच्छक्तिर्विलक्षणा।
स्फोटाङ्गारौ दृश्यमानौ शक्तिस्तत्रानुमीयते॥
न पृथ्व्यादिर्न शब्दादिः शक्तावस्तु यथा तथा।
अतएव ह्यचिन्त्यैषा न निर्वचनमर्हति॥ वही १३।२९,३१॥

नृसिंहाश्रम ने वेदान्ततत्त्वविवेक में पहले पूर्वाचार्यों द्वारा कही गई युक्तियों को ही नये ढंग से प्रस्तुत करके अज्ञान के भावरूप होने तथा अनिर्वचनीय होने की सिद्धि की है, फिर नया विकल्प दिया है कि 'सदन्यत्व' (सत् से अन्य कुछ भी होना) ही अनिर्वचनीयता का लक्षण है। इससे प्राप्त असत् होने का निराकरण यह कहकर किया है कि 'अन्यत्व' धर्म जिसमें रह सके ऐसा ही असत् का रूप स्वीकृत हो तो हमें मान्य ही है, और बौद्धों को अभिमत असत् का तो कोई स्वरूप ही नहीं है।[1]

मधुसूदन सरस्वती ने सिद्धान्तबिन्दु में संक्षेप से[2] तथा अद्वैतसिद्धि में सुबहुल विस्तार से, अविद्या की भावरूपता—दृश्यत्व, जड़त्व, अन्तवत्त्व आदि की सयुक्तिक व्याख्या करते हुए—सिद्ध की है, और सत्, असत् सदसत् तीनों से विलक्षण होना रूपी अनिर्वचनीयता अविद्या में दिखाई है।

अविद्या का लक्षण कहा है—अनादि व भावरूप होते हुए ज्ञान से निवृत्त होने के योग्य होना। और भावरूपता का अर्थ किया है—अभाव से विलक्षण भर होना।[3] ज्ञान-प्रागभाव ही अविद्या क्यों न हो इस शङ्का के निवारण में एक नई युक्ति दी है कि प्रागभाव अपने प्रतियोगी (जिसका अभाव है) का ही जनक होता है, उससे भिन्न किसी वस्तु का जनक या उपादान नहीं बनता, किन्तु अविद्या तो अनिर्वचनीय सत्ता वाले पदार्थ का उपादान बनती है, केवल अपने निवारक ज्ञान को ही उत्पन्न नहीं करती।[4]

अविद्या को सिद्ध करने वाले प्रत्यक्ष, अनुमान, श्रुति तथा अर्थापत्ति प्रमाणों की उपपत्ति विषय का बहुत ही सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए की है, जिसका स्वल्प भी उल्लेख यहाँ विस्तार-भय से नहीं किया जा सका है।

आचार्य शङ्कर ने अविद्या को सृष्टि की बीजशक्ति कहा और उसे ब्रह्म में जगत्-कारणता लाने वाली शक्ति बताया, इसी भाव को गोविन्दानन्द ने रत्नप्रभा में विवृत किया है, उसे ईश्वर की शक्ति कहकर। सृष्टि के सन्दर्भ में ही ब्रह्म की संज्ञा 'ईश्वर' हो जाती है यह प्रसंगतः देखा जायेगा। और यह ईश्वर नाम सार्थक होता है सृष्टिबीजरूपा अविद्याशक्ति के आधिपत्य को लेकर ही। अविद्या के 'अक्षर' नाम की व्याख्या करते हुए गोविन्दानन्द ने कहा

---

१. सदन्यत्वं वाऽनिर्वाच्यत्वम्। वे० त० वि०, पृ० ५६७।
सद्विविक्तत्वं वा मिथ्यात्वम्। अ० सि०, पृ० १९५।

२. दृश्यत्वाज्जडत्वाद्विनाशित्वाच्च परिच्छिन्नाप्यविद्या अनिर्वचनीयत्वेन विचारासहा आवरणविक्षेपशक्तिद्वयवती सर्वगतं चिदात्मानमावृणोति।
सि० बि०, पृ० ५४।

३. अनादिभावरूपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्या अविद्या।
....भावत्वं चात्राभावविलक्षणत्वमात्रं विवक्षितम्। अ० सि०, पृ० ५४४।

४. ....प्रागभावस्य प्रतियोगिमात्रजनकत्वनियमेन भ्रमं प्रति जनकत्वस्याप्यसिद्धेः, तद्विशेषरूपोपादानत्वस्यैव दूरनिरस्तत्वात्। वही, पृ० ५४६।

है 'अश्नोति व्याप्नोति स्वविकारजातमिति अक्षरम्' अर्थात् अपने कार्य समस्त जगत् को यह व्याप्त किए हुये है।[1]

उपनिषद्-पर्यन्त श्रुतियों के माया-सम्बन्धी प्रतिपादनों से प्राप्य माया के स्वरूप में दो मुख्य लक्षण मिले—वस्तुतः अविद्यमानता एवं साथ ही अभाव से विलक्षणता। अविद्यमानता से असत्-ता अर्थ लेकर शून्य या असद्वादी बौद्ध आदि दर्शन अग्रसर हुए और अभाव-विलक्षणता से भावरूप पक्ष लेकर वेदान्त-चिन्तन बढ़ता चला। इसमें भी १३ वीं १४ वीं शताब्दी में माया या अविद्या का अभावपक्ष स्फुट एवं पुष्ट होने लगा, (विशेष रूप से वेदान्त सिद्धान्तमुक्तावली में)। आरम्भ में भी अविद्यमानता पर आधारित 'गन्धर्वनगर' स्वप्न', 'इन्द्रजाल' एवं 'चित्रित शिला' आदि दृष्टान्तों से जगत् एवं उसकी कल्पना-निमित्त अविद्या की असत्-ता (न होना) का विचार ही प्रबल था जिस से 'अजातवाद' निष्पन्न हुआ और वही उत्तम अधिकारी का दर्शन कहलाया, उसके पश्चात् मध्यम अधिकारी के लिये सद्-असद्-विलक्षण किसी अनिर्वचनीय भावरूपता का उद्भावन हुआ, किन्तु पुनः अभावरूपता-पक्ष समृद्ध होने लगा।

२. अविद्या के शक्तिद्वय

अविद्या की कल्पना के मूल में दो अनुपपत्तियाँ प्रमुख थीं। प्रथम यह कि तत्त्व यदि प्रकाश या चैतन्य-स्वरूप तथा असीम है तो वह वैसा ही अनुभव में क्यों नहीं आता? तथा द्वितीय यह कि तत्त्व यदि एक है तो यह अपरिमित वैचित्र्यपूर्ण नानात्व दिखाई कैसे देता है? इन्हीं दोनों का समाधान करते हुए सर्वोपपादक एवं स्वयं अनुपपत्ति-विभूषित जिस अविद्या-तत्त्व की कल्पना की गई उसमें उक्त दोनों विधाओं के अनुकूल दो शक्तियाँ मानी गईं। एक यह कि अविद्या का स्वभाव है अपने आश्रय व विषय को ढक देना, उसके स्वरूप को प्रकट न होने देना, प्रकाश का प्रतिबन्ध करना (रोकना), और दूसरो यह कि अविद्या अपने आधार (वह आश्रय होने के नाते आधार हो, चाहे विषय होने के नाते) के स्वरूप का विपरीत रूप से ज्ञान कराती है, जैसा वह वस्तुतः है, वैसा न प्रकट होने देकर सर्वथा विपरीत ही रूप में उसे प्रकट करना उसका स्वभाव है।

ये दोनों वास्तव में अविद्या के कार्य हैं, इन कार्यों को करने के स्वभाव को ही शक्ति नाम से कह दिया गया है, किन्तु अविद्या जैसे ईश्वर की शक्ति है—वैसे ही ये दोनों अविद्या की शक्तियाँ है यह विवक्षित नहीं। इनमें से प्रथम का सर्वप्रथम सङ्केत मिलता है—ऋग्वेद

---

१. अश्नोति व्याप्नोति स्वविकारजातमिति अक्षरम्। अव्याकृतम्-अव्यक्तम्, अनादि इति यावत्। नामरूपयोः बीजम् ईश्वरः, तस्य शक्तिरूपं परतन्त्रत्वाद् उपादानम् अपि शक्तिः इति उक्तम्। र०प्र० १।२।२२, पृ० ४९६।

में 'जो तुच्छ के द्वारा ढका हुआ था'[१] में। और वहो 'उस तुच्छ की महिमा से एक अनेक रूप में उत्पन्न हुआ' इस पंक्ति में द्वितीय का बीज है। 'इन्द्र अपनी मायाओं द्वारा पुरुरूप बन जाता है'[२] में द्वितीय ही स्फुट हुआ।

योगवासिष्ठ में माया या अविद्या का स्वरूप 'अलीक' ही कहते हुए भी उसके दो कार्यों का उल्लेख अवश्य है।—'यह कौन है' न जानी जाती हुई भी विवेक को आच्छादित करती है और सब जगत् उत्पन्न करती है।[३] त्रिभुवन को बनाने वाली मृगजल की लहरें आविर्भाव-तिरोभावमयी हैं, जो ब्रह्म के तिरोभाव-पूर्वक जगत् का आविर्भाव दिखाती हैं।[४]

माण्डूक्यकारिका में 'अग्रहण' और 'अन्यथाग्रहण' तथा 'अनिश्चय' और 'विकल्पना' शब्दों द्वारा अज्ञान या माया के दो रूप सङ्केतित हैं।[५] इन के भाष्य में इन्हें कारण-कार्य-स्थानीय तथा इनके विपर्यास को कार्यकारण-बन्ध कहा गया है। यह उभयपक्षो अवोध परमार्थतत्त्व के प्रतिबोध से क्षीण होता है। तब 'उभय लक्षण' बन्ध न देखता हुआ आत्मा अपने तुरीय पद में निश्चित होता है।[६]

बृहदारण्यकभाष्य में भी अविद्या का 'सतत्त्व' (स्वभाव) कहते हुए आचार्य उसके द्विविध रूप या कार्य दिखाते हैं—जैसा है वैसा ग्रहण न कराना और जो नहीं है उसे उप-स्थित करना। इसी से सर्वात्मा परिच्छिन्न होता है और भेद-मूलक काम, काममूलिका क्रिया आदि प्रपञ्च उदित होता है।[७]

---

१. तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्।
   तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम्॥ ऋ० सं० १।१२९।३॥

२. इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। बृह०उ० २।५।१९॥

३. विवेकमाच्छादयति जगन्ति जनयत्यलम्।
   न च विज्ञायते कैषा पश्याश्चर्यमिदं जगत्॥ यो० वा० ४।४१।१६॥

४. आविर्भावतिरोभावमयास्त्रिभुवनोर्मयः।
   स्फुरन्त्यतितते यस्मिन् मराविव मरीचयः॥ वही। ३।५।१५॥

५. अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः।
   विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते॥ मां० का० १।१५॥
   अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता।
   सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः॥ वही २।१७॥

६. तयोः कार्यकारणस्थानयोरन्यथाग्रहणाग्रहणविपर्यासे कार्यकारणबन्धरूपे परमार्थ-तत्त्वप्रतिबोधतः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते। तदोभयलक्षणं बन्धरूपं तत्रापश्यँस्तुरीये निश्चितो भवतीत्यर्थः॥ मां० का० १।१५ पर शां० भा०।

७. इदमविद्यायाः सतत्त्वमुक्तं भवति—सर्वात्मानं सन्तमसर्वात्मत्वेन ग्राहयति, आत्मनोऽन्यत् वस्त्वन्तरमविद्यमानं प्रत्युपस्थापयति, आत्मानमसर्वमापादयति, ततस्तद्विषयः कामो भवति यतो भिद्यते, कामतः क्रियामुपादत्ते, ततः फलम्'''।
   बृह० उ० भा० ४।३।२०॥

मण्डन मिश्र ने ब्रह्मसिद्धि में कहा है—अविद्या रूप उपधान द्वारा ब्रह्म का स्वरूप वस्तुतः तिरोहित न होता हुआ भी, तिरोहित के समान भासता है—यही अविद्याकृत आवरण है।[1]

'तिरोहित के समान' कहने का तात्पर्य है कि वस्तुतः तिरोहित नहीं, एवं पूरा तिरोहित नहीं। केवल आत्मा की ब्रह्मरूपता का प्रतिरोध या तिरोधान होता है। पूरा आवरण मान्य नहीं। क्योंकि यदि अविद्या पूरी आवरक हो तो उपासना-काण्ड में सगुण-'ब्रह्म' उपास्य न होकर अविद्या ही उपास्य हो जायेगी। अतः अविद्या-काल में भी अनावृत ब्रह्म स्वीकृत है। जैसे सूर्यग्रहण के समय नील या कृष्ण वस्त्रादि से आवृत चक्षु द्वारा ही सूर्यध्यान किया जाता है किन्तु वह आवरण इतना घना नहीं रखा जाता जिस से सूर्य दिखे ही नहीं।

पद्मपाद ने पञ्चपादिका में पहली वार स्पष्ट रूप से कहा है कि चिति-स्वभाव प्रत्यगात्मा के ब्रह्म-स्वरूप के अनवभास की प्रयोजिका वनती है उसकी निसर्गसिद्धा अविद्या शक्ति, जो कि स्वयंप्रकाश के भी प्रकाश को रोक देती है, और यही फिर उसका अहङ्कार आदि रूपों में (जो कि आत्मा के अपने रूप नहीं हैं,) प्रतिभास कराती है।[2]

ब्रह्म या चिदभिन्न प्रत्यगात्मा की ओर अविद्या का प्रकाश-प्रतिवन्धक पक्ष कार्यकर है, एवं अविद्याकार्य जगत् (=वाह्य व आन्तर नाना जड़ वस्तुओं) की ओर अविद्या का रूपान्तरावभास-पक्ष सक्रिय है। वाह्य वस्तुओं के प्रति अविद्या का आवरणकृत्य (उनके स्वरूप के अवभास का प्रतिवन्ध) नहीं होता, क्योंकि वहाँ उसकी आवश्यकता भी नहीं है। जड़ वस्तुओं का सर्वदा प्रकट न होना तो उनके जड़ होने से ही सिद्ध है, प्रत्युत इनके अवभास में और ब्रह्म के अनवभास में निमित्त है अविद्या।[3]

वाचस्पति द्वारा भामती में कहा गया है कि अविद्या 'ब्रह्म के वोध से रहित होना' रूप आवरणकृत्य से जीवत्वसाधिका होती है; जीव के ब्रह्म-रूप के प्रतिवोध की प्रतिवन्धिका है, और जीव की ओर से ब्रह्म के स्वरूप का विपरीत अवभास कराती है, प्रपञ्च-विभ्रम का निमित्त वनती है, जीव में संसारित्व लाती है, यही इसका विक्षेप पक्ष है। आवरणांश से

---

१. यथाऽतिरोहितमपि (स्फटिकमणिः) तिरोहितमिवाभिव्यज्यत इव प्रयत्नापेक्षम् तथात्मतत्त्वमप्यतिरोहितं तिरोहितमिव प्रयत्नादभिव्यज्यत इवेति पुष्कलम्।
ब्र० सि०, पृ० ३७।

२. प्रत्यगात्मनि तु चितिस्वभावत्वात् स्वयंप्रकाशमाने ब्रह्मस्वरूपानवभासस्य अनन्यनिमित्तत्वात् तद्गतनिसर्गसिद्धाऽविद्याशक्तिःप्रतिवन्धादेव तस्य अनवभासः। अतः सा प्रत्यक्चितिब्रह्मस्वरूपावभासं प्रतिबध्नाति, अहंकाराद्यतद्रूपप्रतिभासनिमित्तं च भवति।
पं० पा०, पृ० २९-३०।

३. सा च न जडेषु वस्तुषु तत्स्वरूपावभासं प्रतिबध्नाति।
वही, पृ० २८।

अविद्या आत्मा की अवच्छेदिका है, विक्षेपांश से मिथ्या-प्रत्यय की प्रयोजिका', यह विक्षेप ही मोह है।[१]

अविद्या या अज्ञान में आवरण तथा विभ्रम ये—दो शक्तियाँ हैं, जिनके द्वारा वह क्रमशः आत्मा को आच्छादित करता है उसे अपना आश्रय बनाता हुआ, तथा उस पर नाना विक्षेप रूप जगत् की रचना करता है उसे अपना विषय बनाता हुआ—अज्ञान के दो कृत्यों की प्रयोजिका दो शक्तियों का ऐसा स्पष्ट निरूपण सबसे पहले सर्वज्ञ मुनि ने संक्षेप शारीरक में किया है।[२] अन्यत्र कहा है कि विक्षेपशक्ति द्वारा अज्ञान भवहेतु है, एवं आवरणशक्ति द्वारा परमात्मसुख (परमतत्त्व के आनन्द-पक्ष) का आच्छादक है।[३]

प्रकाशात्मा ने पञ्चपादिकाविवरण में आवरणशक्ति का और अधिक स्पष्ट निरूपण किया है। तदनुसार आत्मा के सम्बन्ध में 'वह है, प्रकाशित है', इत्यादि अभिज्ञा-व्यवहार का पुष्कल कारण (आत्मा का स्वयंप्रकाशत्व) वर्तमान रहते हुए भी 'वह नहीं है, प्रकाशित नहीं होता' इस प्रकार किया जाने वाला व्यवहार आत्मा में किसी भावरूप आवरण के रहे बिना उपपन्न नहीं होता। यह आवरण अज्ञान का शक्तिविशेष ही है।[४]

विद्यारण्य ने विवरणप्रमेयसंग्रह में अविद्या का लक्षण कहा है—अनिर्वचनीय होते हुए तत्त्वावभास से प्रतिबन्ध का तथा विपर्ययात्मक मिथ्या अवभास का कारण होना।[५] इसी में आवरण तथा विक्षेप दोनों अन्तर्भूत हैं। पञ्चदशी में कहा है—सत् तत्त्व (परमात्मा) में आश्रिता मायाशक्ति उस आधारभूत सत् में विक्रिया की कल्पना करती है, उसका सृष्टि रूप में अवभास कराती है,[६] यही विक्षेप है।

---

१. यस्यामविद्यायां सत्यां शेरते जीवाः जीवानां स्वरूपं वास्तवं ब्रह्म। तद्बोधरहिताः शेरते संसारिण इति विक्षेप उक्तः। भा० १।४।३ पृ० ३८०।
विक्षेपश्च मिथ्याप्रत्ययो मोहापरनामा पुण्यापुण्यप्रवृत्तिहेतुभूतरागद्वेषनिदानम्। वही० पृ० ४८४।

२. आच्छाद्य विक्षिपति संस्फुरदात्मरूपं
जीवेश्वरत्वजगदाकृतिभिर्मृषैव।
अज्ञानमावरणविभ्रमशक्तियोगाद्
आत्मत्वमात्रविषयाश्रयतावलेन। सं० शा० १।२०।

३. अज्ञानमात्मविषयं भवहेतुभूतं
प्रच्छादकं च परमात्मसुखस्य तूर्णम्॥ वही १।३०३।

४. 'अस्ति प्रकाशते' इत्याद्यभिज्ञादिव्यवहारपुष्कलकारणे सति 'नास्ति न प्रकाशते' च इति योऽयमात्मतत्त्वालम्बनो व्यवहारः, स भावरूपेण केनचित् आत्मनि आवरणमन्तरेण नोपपद्यते''''अतः अन्यथाऽनुपपत्त्या भावरूपमज्ञानं गमयति।
पं० पा० वि०, पृ० १०४।

५. अनिर्वचनीयत्वे सति तत्त्वावभासप्रतिबन्धविपर्ययावभासयोर्हेतुत्वं लक्षणं तच्चोभयोरविशिष्टम्। वि० प्र० सं०, पृ० १३३।

६. सत्तत्त्वमाश्रिता शक्तिः कल्पयेत् सति विक्रियाः।
वर्णा भित्तिगता भित्तौ चित्रं नानाविधं यथा॥ पं० द० २।५९।

नासदीय सूक्त के सायणभाष्य में 'तमस्' का स्वरूपपर्यालोचन अद्वैत-सिद्धान्तानुरूप हुआ है। वहाँ आवरण द्वारा 'नामरूपाविर्भाव' तमस् के कार्य कहे गये। तथा 'आवार्य के अभाव में आवरक का स्वरूप से अभाव' कहते हुए भोग्य-भोक्तृप्रपञ्च की प्रागभावावस्था वर्णित हुई है। आवरक तमस् को कारण और आवार्य जगत् को कर्म कहने से आवरण का कार्य सृष्टि (अद्वैत परिभाषा में विक्षेप) है, यही अर्थ फलित होता है।[1]

मधुसूदन सरस्वती ने संक्षेपशारीरक की टीका में प्रकाशात्मा के ही प्रतिपादन को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'अद्वय ब्रह्म प्रकाशित नहीं होता, अतः वह नहीं है' ऐसी व्यवहारयोग्यता आवरण है, उसकी प्रयोजिका आवरणशक्ति है, और विक्षेपशक्ति 'मैं कर्त्ता, भोक्ता, प्रमाता हूँ'—इत्यादि भ्रमोत्पादिनी है।[2]

अविद्या की इन आवरण-विक्षेप-रूपा दो शक्तियों की कल्पना-निमित्त हैं ब्रह्म-जीव-जगत् के व्याख्यान की दो दृष्टियाँ। एक—आत्मा में अनात्मा का अवभास, दूसरी—ब्रह्म में अब्रह्म (जगत्) का अवभास। इसलिये आवरण-विक्षेप-विषय पर विचार भी दो प्रकार से हुआ, एक जीव की दृष्टि से आवरण-विक्षेप, दूसरे जगत् की दृष्टि से। जीव की दृष्टि से अखण्ड-अद्वितीय, सत्-चित्-आनन्द स्वरूप ब्रह्म अविद्या से आवृत होकर 'जीव' रूप होता है तब स्वयं को अनेक, नश्वर, अज्ञ, दुःखी आदि समझता है, यही विक्षेप है। जगत् की दृष्टि से अविद्या द्वारा ब्रह्म का 'ब्रह्म'स्वरूप आवृत होता है तो उस में नानात्मक, कार्य-कारण-भावापन्न सृष्टि का विक्षेप होता है, रज्जु आदि में सर्प आदि के समान; तभी अविद्या के कारण ही ब्रह्म में अधिष्ठानता या जगदुपादानता समझी जाती है।

---

१. किमावरीवइति—किमावरणीयं तत्त्वमावरकभूतजातम् आवरीवः अत्यन्तमावृणुयात्। आवार्याभावात् तदावरकमपि नासीदित्यर्थः। यद्वा किंतत्त्वमावरकमावृणुयात् आवार्याभावादाव्रियमाणवत् तदपि स्वरूपेण नासीदित्यर्थः।

(सा० भा० १०।१२९।१)

सृष्टेः प्राक् प्रलयदशायां भूतभौतिकं सर्वं जगत् तमसा गूळहम् यथा नैशं तमः सर्वपदार्थजातमावृणोति तद्वत्। आत्मतत्त्वस्य आवरकत्वान्मायापरसंज्ञं भावरूपाज्ञानमत्र तम इत्युच्यते। तेन तमसा निगूढं संवृतं कारणभूतेन तेनाच्छादितं भवति। आच्छादकात् तस्मात् तमसो नामरूपाभ्यां यदाविर्भवनं तदेव तस्य जन्मेत्युच्यते। ....आवरकत्वादावरकं तमः कर्तृ आवार्यत्वाज्जगत् कर्म। (वही, ४)

२. आवरणशक्तिः—नास्त्यद्वयं ब्रह्म न प्रकाशते—इति व्यवहार-योग्यता आवरणं तत्प्रयोजकशक्तिः। विक्षेपशक्तिस्तु 'अहं कर्ता भोक्ता' इत्यादिभ्रमजननशक्तिरित्यर्थः।

सा० सं०, पृ० २६।

३. अविद्या व माया : नाम-कृत भेद व तुलना

जागतिक नानात्व-प्रतीति के उपपादक रूप से कल्पित, ब्रह्मतत्त्व के विपरीत स्वभाव वाले पदार्थ को तमस्, तिमिर, तमिस्र, जडिमा, अन्धता, निद्रा, अनृत, अज्ञान, अविद्या, माया इत्यादि विभिन्न नाम दिये गये,[1] जिनमें से अन्तिम तीन ही दार्शनिक चर्चा में अधिक प्रयुक्त हुए हैं। इनमें भी कुछ विद्वानों ने अर्थवैशिष्ट्य जोड़ दिया है। वह कब से व कैसे जोड़ा गया, अथवा इनके अर्थों में कैसा पार्थक्य कब से आया यही देखना यहाँ अभिप्रेत है।

आचार्य गौड़पाद ने माण्डूक्यकारिका में केवल 'माया' शब्द का प्रयोग किया है, वह अज्ञानरूपा है इसका सङ्केत अर्थतः प्राप्त होता है; 'विकल्पना' 'मोहकता' अर्थ ही प्रधान है।[2]

योगवासिष्ठ में 'अविद्या' व 'माया' दोनों शब्द समान ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

शङ्कराचार्य ने शारीरकभाष्य में उक्त दोनों शब्दों के अर्थ में कोई अन्तर शब्दशः नहीं कहा है, किन्तु ब्रह्म के विपरीत स्वभाव वाली इस वस्तु में आपाततः जो दो पक्ष—(१) ज्ञान (चित्) से वैपरीत्य तथा (२) सत्-ता (सत्ता) से वैपरीत्य—दिखाई देते हैं, उन्हीं की अपेक्षा से क्रमशः अविद्या व माया शब्दों का प्रयोग हुआ है—ऐसा कदाचित् कहा जा सकता है, किन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं है। इसके अतिरिक्त 'माया' शब्द के प्रयोग में निर्वचन की अशक्यता भी एक भित्ति है। अव्यक्तता दोनों नामों में सम्बद्ध कही है, अतः ये दोनों शब्द प्रायः पर्याय ही माने गये हैं।[3]

सुरेश्वराचार्य ने बृह० भा० वार्त्तिक में माया और अविद्या को तत्त्वतः अभिन्न मानते हुए व्यक्तता व अव्यक्तता को इन दो नामों का निमित्त बनाया है।[4] अव्यक्त नाम रूप वाले,

---

१. चिद्वस्तुनश्चिति भवेत्तिमिरं तमिस्रं
तामिस्रमन्धतमसं जडिमा तमिस्रा।
माया जगत्प्रकृतिरच्युतशक्तिरान्ध्यं
निद्रा सुषुप्तिरनृतं प्रलयो गुणैक्यम्॥ सं० शा०, १।३१८॥

२. कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया। मां० का० २।१२॥
प्राणादिभिरनन्तैश्च भावैरेतैर्विकल्पितः।
मायैषा तस्य देवस्य यया सम्मोहितः स्वयम्॥ वही २।१९॥

३. अविद्यात्मिका....यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते....जीवाः।....अव्यक्ता हि सा माया, तत्त्वान्यत्वनिरूपणस्य अशक्यत्वात्।....अविद्या ह्यव्यक्तम्। अविद्यावत्त्वेनैव जीवस्य सर्वः व्यवहारः सन्ततो वर्तते। ब्र० शां० भा० १।४।३, पृ० २८८।

४. नामरूपादिना येयमविद्या प्रथतेऽसती।
माया तस्याः परं सौक्ष्म्यं मृत्युनैवेति भण्यते॥
मृत्युर्वै तम इत्येवमाप एवेदमित्यपि।
अविद्या प्रथते मौली व्यक्ताव्यक्तात्मनाऽनिशम्॥ बृह०भा०वा० १।२।१३५,–३६॥

प्रत्यक्ष के अयोग्य, अपञ्चीकृत महाभूतावस्था वाले अज्ञानरूप का बोधक अव्यक्त व माया शब्द है, और व्यक्त नाम रूप वाला प्रत्यक्षयोग्य संसार अविद्या का वाच्य है।[1]

मण्डन मिश्र, वाचस्पति मिश्र तथा सर्वज्ञात्ममुनि ने इन दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ के पर्यायवाची रूप से किया है। तीनों ने ही अधिकतर अविद्या व अज्ञान शब्द लिया है। संक्षेपशारीरक में स्पष्ट पर्यायता कही भी गई है।[2]

प्रकटार्थविवरण में माया-अविद्या का तत्त्वतः अभेद कहते हुए भी दो शब्दों के प्रयोग का प्रयोजन स्पष्ट रूप से कहा गया है। तदनुसार अज्ञान के व्यापक पक्ष की संज्ञा माया है। उसके अन्तर्गत परिच्छिन्न अंश अविद्या है। अविद्या में प्रतिविम्बित चैतन्य जीव है, माया में प्रतिविम्बित चैतन्य ईश्वर। जीवत्व अविद्योपाधिक है, अतः माया जीव से भी परे है।[3]

विमुक्तात्मा ने इष्टसिद्धि में कहा है कि ज्ञान से निवृत्त होने वाला होने से या ज्ञान-विरोधिता दिखाने के लिए अज्ञान (या अविद्या) शब्द का प्रयोग किया जाता है और उसके अनिर्वचनीय जड़ स्वरूप की विवक्षा से वही माया व तमस् इत्यादि शब्दों से कहा जाता है।[4]

रामाद्वय ने वेदान्तकौमुदी में माया व अविद्या में शक्तिद्वय के अन्यतर प्राधान्य से भेद माना है। कहा है—वस्तु में भेद न होने पर भी विक्षेपप्रधान रूप से वह माया है, एवं आवरण-प्रधान रूप से अविद्या। इसी अभिप्राय से अविद्या जीव की उपाधि है, उसमें अज्ञान की उपपादिका है और माया ईश्वर की उपाधि है, उसको आच्छादित न करते हुए ही जगत् रूप विक्षेप उस पर करती है।[5]

---

१. नामरूपाद्यभिव्यक्तेः प्राक्तनः काल उच्यते।
तर्हीति ह्यनभिव्यक्तमव्याकृतगिरोच्यते॥
अविद्याकर्मसंस्कारास्तेजोऽप्सूक्ष्मासूत्रसंश्रयाः।
खे लीनास्त्वस्तितामात्रा अव्यक्ताख्याः सहात्मना॥ वही १।४।२०४, ५॥
प्रथते वैश्वरूपेण यतोऽविद्यैव सर्वथा।
अविद्यामात्रयाथात्म्यादतस्तद्भेदमुच्यते॥ वही २०७॥

२. प्रत्यग्वस्तुन एव तत्र विषये माया तमः कारणम्,। ध्वान्तं बीजमबोध इत्यपि गिराविद्यैव संकीर्त्यते।.... सं० शा० २।१२७॥

३. मायाप्रदेशे ह्यविद्यायां प्रतिविम्बितं चैतन्यं जीवसंज्ञां लभते। औपाधिकस्योपाध्यधीनत्वात् जीवादपि मायायाः परत्वाभिधानमुपपन्नमित्यर्थः।
प्र० वि० १।४।३, पृ० ३२६।

४. अज्ञानमिति ज्ञानविरोधात् ज्ञानपर्युदासेन वा उच्यते। तदेवानिर्वचनीयं जडात्मकं मायादिशब्दैरपर्युदासेनाप्युच्यते। इ० सि०, पृ० ६९।

५. वस्तुभेदाभावेऽपि विक्षेपप्रधानया 'माया' इत्यावरणप्रधानतया च 'अविद्या' इति गीयते।....आवरकस्येव प्रमाणनिरस्यस्याविद्यात्वप्रसिद्धेः।....अनावृतस्वभावेऽपि विक्षेपोऽतद्रूपस्य कर्तृत्वादेरवभासस्य तद्धेतुत्वात्। अनिर्वाच्यमेव हि किञ्चिद्वस्तु स्वोपहितमनाच्छादयत् तत्र विक्षेपं च कुर्वन् 'माया' इति प्रसिद्धम्।
वे० कौ०, पृ० २८२-८३।

अविद्या सीमित उपाधि है और माया व्यापक, इसलिये अविद्या व माया में अवयव-अवयवी-भाव हो—ऐसा विकल्प उठाकर खण्डन करते हुए कहा है कि जैसे पूरे अङ्ग-समुदाय की चेतना को जीव नाम दिया जाता है पर प्रत्येक अङ्ग की चेतना को पृथक्-पृथक् नहीं माना जाता, जीव के अवयव नहीं कहा जाता, वैसे ही व्यापक रूप को माया और उसके स्वतन्त्र छोटे अवयवों को अविद्या मानना ठीक नहीं, वस्तु एक होने पर भी, पक्ष-भेद से ये चैतन्य की (पृथक् २) उपाधियाँ हैं।[1]

विद्यारण्य ने माया व अविद्या के अर्थ में स्पष्ट पार्थक्य माना है। विवरणप्रमेयसंग्रह में कहा है कि ब्रह्म से विपरीत तत्त्व एक होने पर भी वह विरूपजनकत्व रूप से अथवा इच्छाधीन आकार धारण कर पाने के पक्ष को लेकर 'माया' शब्द से कहने योग्य है और अधिष्ठान (ब्रह्म) के अवभास के प्रतिबन्धक आवरण रूप में 'अविद्या' शब्द से कहा जाता है।[2]

पञ्चदशी में इन संज्ञाओं के संज्ञेय का भेद और भी स्फुट कर दिया है। निर्मलसत्त्वगुणप्रधान प्रकृति को माया कहा है, जिसमें प्रतिफलित बिम्ब (परमात्मा) इसे स्वाधीन करके सर्वज्ञ ईश्वर बनता है। मलिनसत्त्वगुणप्रधान प्रकृति अविद्या है, जिसमें प्रतिफलित चैतन्य इसके अधीन रहता हुआ जीव है।[3]

गोविन्दानन्द ने रत्नप्रभा में भाष्यगत अविद्या, माया शब्दों के एक साथ समानविभक्तिक प्रयोग की व्याख्या में दोनों का अभेद ही प्रतिपादित किया है। तब भी सहप्रयोग में निमित्त कहा है आवरण व विक्षेपरूप शक्तिद्वय को।[4] माया शब्द का प्रयोग अधिकतर उसके ईश्वरशक्तित्व पक्ष की विवक्षा से हुआ है।

---

१. अथ पृथिव्या इव द्वीपादयः स्वाङ्गावयवा एव मायाया अज्ञानानि, तर्हि तेषु सकृत् प्रतिबिम्बिते चैतन्ये कथङ्कारं जीवेश्वरविभागः स्यात्। न हि स्वर्वाहिन्याः प्रवाहसहस्रे प्रत्येकप्रतिबिम्बातिरिक्तं व्योम्नः प्रतिबिम्बमनुभूयते।········किञ्च शिरःपाण्यादिसमुदाये देहव्यवहार इवाज्ञानसमुदाये मायाव्यवहार इति देहोपाधिर्जीवः, तदवयवोपाधयस्तु नामान्तरभाजश्चेतना इति व्यवस्था यथा नाद्रियते, तथा मायातदवयवोपाधयो भिन्ना इत्येषाऽपि नादर्तव्या।····अतः स्वतन्त्रोपाधय एव चैतन्यस्य वक्तव्याः। वे० कौ०, पृ० २८४।

२. ····लाघवान्मायैवाविद्या····विरूपजनकत्वाकारेणेच्छाधीनत्वाकारेण वा मायेति व्यवहारः। आवरणाकारेण स्वातन्त्र्याकारेण वाऽविद्येति व्यवहारः।
वि० प्र० सं०, पृ० १३४-३६।

३. सत्त्वशुद्धिविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः॥
अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा।
सा कारणशरीरं स्यात् प्राज्ञस्तत्राभिमानवान्॥ पं० द० १।१६-१७॥

४. अविद्यामाययोः भेदं निरसितुं सामानाधिकरण्यम्।
आवरणविक्षेपशक्तिरूपशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभेदात् सहप्रयोगः।
र० प्र० १।३।१९, पृ० ६३५।

इन सब विवरणों को दृष्टि में रखते हुए यह कहना अनुपपन्न न होगा कि प्रमेय (ब्रह्म—जगत्) के आवरण-विक्षेप की दृष्टि से माया नाम प्रधान हुआ और प्रमाता (जीव) के आवरण-विक्षेप की दृष्टि से अविद्या नाम प्रधान हुआ।

४. अविद्या के विविध रूप तथा एकत्व-अनेकत्व

आवरण-विक्षेप शक्ति-मती अविद्या एक ही है या अनेक है ? तथा सभी सत्ता-कोटियों को समान रूप से प्रभावित करती है या कार्य के अनुरूप अविद्या का रूप भी पृथक्-पृथक् रहता है ? अर्थात् ब्रह्म में जगत् की प्रतीति कराने वाला अज्ञान तथा दूर पड़ी रज्जु में सर्प की प्रतीति कराने वाला अज्ञान क्या एक ही है और एक से आश्रय-विषय वाला है ? ऐसे ही सभी जीवों के अनुभव में समान रूप से आने वाले जगत् (जाग्रत्कालीन प्रपञ्च) का उपादान अज्ञान तथा स्वप्न में प्रत्येक जीव को पृथक्-पृथक् दिखाई देने वाले जगत् का उपादान अज्ञान क्या एक ही है ?

तथा, प्रातिदैनिक व्यवहार में, चंचल मन व इन्द्रियों का विषय बने हुए घट-पट आदि से इतर सभी विषयों के प्रकट होने का प्रतिवन्धक अज्ञान अथवा भिन्न-भिन्न विषयों का नष्ट व उत्पन्न होता रहने वाला अज्ञान (जैसे एक पुस्तक देखने पर उस पुस्तक के ज्ञान ने पुस्तक के अज्ञान को मिटाया फिर पुस्तक दूर होने पर पुस्तकाज्ञान बन गया) एवं निरन्तर द्रष्टा व दृश्यों का भेद बनाये रखने वाला अज्ञान—क्या एक ही है ?

इन प्रश्नों के उत्तर में आचार्यों ने दो प्रकार से विचार किया है। एक तो मूलाविद्या व तूलाविद्या नाम से द्विविध अविद्या को मानकर, उसमें मूलाविद्या को सर्वजीवसाधारण, तथा तूलाविद्या को प्रत्येक शुक्तिरजतादि प्रतिभास के रोधक अज्ञान के लिए पृथक्-पृथक् तथा संकोच-प्रसार-शील माना गया है। इसी मत के कुछ अनुयायियों ने मूलाज्ञान तथा अवस्था अज्ञान नाम देकर अवस्था अज्ञानों की संख्या व्यावहारिक ज्ञानों की संख्या के समान मानी है। दूसरे प्रकार में जीवभेद से मूलाविद्या को भी भिन्न-भिन्न माना गया है। तदनुसार प्रत्येक जीव का समूचा प्रपञ्च ही पृथक्-पृथक् माना है। तूलाविद्या की स्थिति इस मत में भी पहले मत के समान द्विविध है।

इन दोनों मतों के उदय व प्रसार की गतिविधि को ऐतिहासिक क्रम में देखना उपयोगी होगा।

उपनिषदों में तो 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां' तथा 'मायां तु प्रकृतिं'[1] इत्यादि वचनों से अविद्या या तमस्तत्त्व का एक होना तथा 'इन्द्रो मायाभिः........'[2] से अनेक होना-इतना ही सूचित होता है। एकरूपा तथा अनेकरूपा अविद्याओं के स्वरूप व कार्य का अन्तर वहाँ स्पष्ट नहीं किया गया।

---

१. श्वे० ४।५, ॥
२. बृह० उ० २।५।१९ ॥

आचार्य गौड़पाद से पद्मपाद पर्यन्त के प्रतिपादनों में अविद्या के सर्वसाधारण एक होने का ही वर्णन मिलता है, जो समग्र रूप से ब्रह्म की सन्निधि में उपाधि बनकर अपने आवरण व विक्षेप कृत्यों द्वारा जीव व जगत् भावों की संभाविका है।

मण्डन मिश्र ने अविद्या के स्वरूप का विश्लेषण करके उसे अग्रहण तथा अन्यथाग्रहण रूप से द्विविध माना है, आचार्य शंकर ने भी उपनिषद्भाष्यों में ऐसा किया है, ये दोनों रूप वास्तव में अविद्या के भेद नहीं, आवरण व विक्षेप के ही नामान्तर कहे जा सकते हैं। शारीरक भाष्य में भी अविद्या के भेद की चर्चा नहीं है, नाम-रूप की कल्पिका उपाधि एवं अध्यास के नामान्तर या निमित्त रूप से ही अविद्या का उल्लेख हुआ है।

वाचस्पति ने भामती में अविद्या का आश्रय जीव को माना है। तदनुसार प्रत्येक जीव की अविद्या अपनी-अपनी है, अतः अनेक अविद्या हैं।[1] प्रत्येक अविद्या विक्षेप-पक्ष से ब्रह्म को विषय बनाती हुई जगद्विवर्त का कारण बनती है और आवरण-पक्ष से जीव के प्रातिदैनिक व्यवहार में अज्ञान व अल्पज्ञान आदि की उपपादिका है।

चित्सुखाचार्य ने तत्त्वप्रदीपिका में न्यायसुधाकार ज्ञानोत्तम के मत को स्वयं स्वीकार करते हुए उनका उद्धरण दिया है—संसार की मूल-कारणभूत अविद्या यद्यपि एक ही है, तथापि उसके विभिन्न आकार हैं। उनमें से एक आकार प्रपञ्च के पदार्थों में परामार्थसत्यता के भ्रम का हेतु होता है, दूसरा अर्थक्रिया में समर्थ (व्यावहारिक) वस्तु का कल्पक है। यही प्रपञ्च का उपादान है। तीसरा अपरोक्ष प्रतीत के विषयाकार का कल्पक है। इस तीसरे आकार का आशय नयनप्रसादिनी टीका में प्रत्यक्स्वरूप ने बताया है कि पारमार्थिक सत्यता तथा अर्थक्रियासामर्थ्य से रहित रूप से ज्ञात वस्तु में भी शुक्तिरजत आदि के समान विषयता लाने वाला यह तीसरा आकार है। इसी को अपरोक्ष भ्रम (शुक्ति के स्थान पर रजत दिखना) का उपादान माना जा सकता है।[2]

रामाद्वय ने वेदान्तकौमुदी में, वाचस्पति का अनुसरण करते हुए प्रतिजीवाश्रित्ता अनेक अविद्या मानी हैं, किन्तु समग्र प्रपञ्च के व्यावहारिक व प्रातिभासिक सत्त्व सामान्य उपादान माया को कहा है, इस प्रकार माया व अविद्या के नाम से अज्ञान की दो कोटि मानी हैं।[3]

---

१. न वयं प्रधानवदविद्यां सर्वजीवेष्वेकामाचक्ष्महे .... किन्त्वियं प्रतिजीवं भिद्यते। भा० १।४।३, पृ० ३७७।

२. एवं हि न्यायसुधायामाराध्यपादैरुपपादितम्, संसारमूलकारणभूताऽविद्या यद्यप्येकैव, तथापि तस्याः सन्त्येव बहव आकारास्तत्रैकः प्रपञ्चस्य परमार्थसत्त्वभ्रमे हेतुः, द्वितीयोऽर्थक्रियासमर्थवस्तुकल्पकः, तृतीयस्त्वपरोक्षप्रतिभासविषयाकारकल्पकः। त० प्र०, पृ० ६०६–७।

३. .... वार्तिकादप्यनेकाज्ञानसिद्धेः। .... अनेकजीवपक्ष एवाविद्यापक्षे च श्रेयान्। .... शुद्धमेव ब्रह्म अनन्तजीवाविद्याविषयीकृतं यस्य यस्य साक्षादात्मतया स्फुरति तस्य तस्य अविद्याव्यवधाननिवृत्तौ तदात्मनाऽवस्थानं मोक्षः, इतरेषां बन्ध इति श्रेयान्। वे० कौ०, पृ० २७८–२८४।

विद्यारण्य ने पञ्चदशी में शुद्धसत्त्वप्रधान एवं मलिनसत्त्वप्रधान भेद से (पं० द० १।१६) परमेश्वर की शक्तिरूपा प्रकृति या माया को द्विविध माना है, जो क्रमशः ईश्वर व जीव की उपाधि हैं, किन्तु वे दोनों ही सभी जीवों व जगत् के प्रति साधारण हैं। अन्तः-करण-भेद जीव-भेदक उपाधि है।[1]

एक अन्य प्रकार से भी ईश्वर एवं जीवों की उपाधिरूपा माया की विवेचना पञ्चदशी में की गई है। तदनुसार मेघाकाश में जैसे मेघ रहता है वैसे हो ईश्वर में माया रहती है। उस मेघ में तुषार-रूप से रहने वाले जल-कणों के समान माया में बुद्धिवासनायें रहती हैं। तुषार-रूप जलकणों में आकाश-प्रतिविम्ब के समान वुद्धि-वासनाओं में चेतन-प्रतिविम्ब पड़ता है। इस प्रकार माया ही समष्टि-व्यष्टि रूप से ईश्वर, जीव की रचना करती है। इस विवेचन से तथा ईश्वर-जीव को मायानाम्नी कामधेनु के दो वत्स कहने से माया का एक ही होना पञ्च-दशीकार को अभिप्रेत प्रतीत होता है।[2]

नृसिंहाश्रम ने वेदान्ततत्त्वविवेक में वाचस्पति के समान सर्वसाधारण प्रपञ्च का उपपादक मूल अज्ञान कहा है, एवं दैनिक व्यवहार में घट-पटादि के ज्ञान व अभाव के साधक अनेक अवस्था अज्ञान माने हैं।[3]

५. अविद्या का आश्रय व विषय

ज्ञान के सदृश अज्ञान भी स्वरूपतः कहीं पर आश्रित होकर किसी को विषय करने के स्वभाव से युक्त है यह अनुभवसिद्ध है। अर्थात् 'कोई' नहीं जानता है तथा 'किसी' को नहीं जानता है—ऐसा ही न जानने का अभिप्राय होता है। न जानना ही अविद्या का आपाततः स्वरूप है। सम्पूर्ण जगत् का संभावक 'न जानना' (अविद्या) किस पर आश्रित है तथा किसे विषय बनाता है—(अर्थात् किसके न जानने से तथा किसे न जानने से प्रपञ्च रूप अनर्थ-साम्राज्य का उदय हुआ है)—इस सम्वन्ध में विचारकों का चिन्तन प्रमुख रूप

---

१. पं० द० ६।१८८,७।७१–७२,७।८५।

२. पं० द० ६।१५५–१५६; ६।२३६।

३. अथ वा भा मूलाज्ञानस्याश्रयविषयभेदाननुभवात्तदसंभवाच्च भवतु चिन्मात्रं विषय एवाश्रयः, अन्यत्राहमिदं न जानामीति भेदानुभवात् तत्सबन्धाभावाच्च अहङ्काराव-च्छिन्नचैतन्याश्रयमज्ञानं वाह्यचैतन्यविषयम्। प्रतीयमानभेदस्य बाधकाभावात्। एवं च सति तस्यापरोक्ष्यमप्युपपद्यते। तच्चानादि, अज्ञानत्वात्।
वे० त० वि० पृ० ५०२–३।

से दो धाराओं में अग्रसर हुआ है। एक धारा में ब्रह्म को ही अविद्या का आश्रय तथा विषय दोनों माना गया है,[1] तथा दूसरी में अविद्या का आश्रय जीव को माना है, विषय ब्रह्म को। इन दोनों विचारधाराओं में एक दूसरे के बाधक तथा अपने-अपने मत के साधक तर्क प्रस्तुत किये गये हैं। किन्तु इन दोनों को तटस्थ दृष्टि से देखने पर यह समझना अनुचित नहीं प्रतीत होता कि इनमें प्रथम धारा अधिक तात्त्विक दृष्टि से प्रसूत है और द्वितीय धारा व्यावहारिक अनुभूयमान स्थिति के अनुरोध से आरब्ध है। प्रथम में मूल तत्त्व का अद्वयत्व (अद्वैत सम्प्रदाय का प्राण) अधिक अव्याहत है क्योंकि उसमें ब्रह्म के अतिरिक्त केवल एक अविद्या में ही अनादित्व को कल्पना कर लेने से निर्वाह हो जाता है, जब कि द्वितीय पक्ष में जीव तथा अविद्या के परस्पराश्रय-दोष को हटाने के लिये दोनों में (समान) अनादित्व की कल्पना करनी पड़ती है।

प्रथम धारा के प्रवर्तक व अनुयायी आचार्य हैं—गौड़पाद, शङ्कर, सुरेश्वर, पद्मपाद, सर्वज्ञात्मा, प्रकटार्थकार, आनन्दबोध, विमुक्तात्मा, प्रकाशात्मा, आनन्दानुभव, चित्सुख, विद्यारण्य, मधुसूदन, प्रकाशानन्द, गोविन्दानन्द, गङ्गाधरेन्द्र। द्वितीय धारा के आचार्य हैं—मण्डन मिश्र, वाचस्पति मिश्र, रामद्वय, अमलानन्द आदि। नृसिंहाश्रम आंशिक रूप से दोनों के अनुयायी हैं। मधुसूदन सरस्वती का स्वाभिमत प्रथम पक्ष है, क्योंकि अधिकांश विषयों में वे सुरेश्वर का ही अनुसरण करते हैं, किन्तु वाचस्पति-सम्मत पक्ष की भी उन्होंने अत्यन्त समर्थ युक्तियों से पुष्टि की है।

अब क्रमशः दोनों विचारधाराओं का अवलोकन उचित होगा।

अविद्या के आश्रय-विषय-सम्बन्ध में प्रथम विचार-धारा

आचार्य गौड़पाद ने माण्डूक्यकारिका में कहा है—'यह माया उसी देव (परम आत्मा) की है, जिससे वह स्वयं ही सम्मोहित हुआ प्राणादि अनन्त भावों में विकल्पित हो रहा है।'[2] इसमें माया का आश्रय व विषय एक अद्वितीय आत्मा (ब्रह्म) ही है ऐसा सूचित होता है। योगवासिष्ठ में भी माया या अविद्या का आश्रय-विषय ब्रह्म (आत्मा) ही कहा गया है।[3]

आचार्य शङ्कर ने शारीरक भाष्य में विस्तृत विचार-पूर्वक यही सिद्धान्तित किया है कि जीव तो अविभु, अव्यापक, अल्पशक्ति-सम्पन्न होने के कारण निखिल जगत् का अधिष्ठान हो नहीं सकता, यह जगत् अविद्या का ही प्रसार है, अतः ब्रह्म ही विश्व-प्रसविनी अविद्या का आश्रय होता हुआ जगत् का आयतन-अधिष्ठान है। आश्रयण से ही ब्रह्म 'मायी', 'ईश्वर' नाम का लक्ष्य बनता है।[4] अविद्या द्वारा कल्पित नाम-रूप तत्त्व और अन्यत्व से अनिर्वचनीय हैं,

---

१. ऋ० सं० १०।१२९।२—"आनीदवातं स्वधया तदेकम्" के 'स्वधा' शब्द का अर्थ सायण भाष्य में—'स्वस्मिन् धीयते, ध्रियते, आश्रित्य वर्तते'—ऐसी व्युत्पत्ति द्वारा करते हुए उसे 'माया' का नामान्तर बताया है।

२. मायैषा तस्य देवस्य यया सम्मोहितः स्वयम्। मां० का० २।१९॥

३. अविद्येति धृता संविद् ब्रह्मणात्मनि सत्तया। यो० वा० ६।१६०।११॥
इति मायेव दुष्पारा चिच्छक्तिः परिजृम्भते। वही ६।७०।१८॥

४. ....तस्मात्परमेव ब्रह्म द्युभ्वाद्यायतनम्। ब्र० शां० भा०, १।३।१-७, पृ० १९८–२०६।

वही संसार-प्रपञ्च के बीज हैं; उन्हीं को श्रुति-स्मृतियाँ सर्वज्ञ ईश्वर की मायाशक्ति या प्रकृति कहती हैं; ये सर्वज्ञ ईश्वर के आत्मभूत के समान (इव) हैं।"[1] इस कथन से अविद्या-विषयत्व भी ब्रह्म में ही सूचित होता है।

गीताभाष्य (१३।३) में आचार्य शङ्कर ने इस विषय पर सुविस्तीर्ण विशद विचार किया है। स्वरूपतः ईश्वर ही रहते हुए अविद्याकृत उपाधि से क्षेत्रज्ञ मानो संसारी हो जाता है, जैसे कि आत्मा मानो देहादि बन जाता है। अविद्या के कारण स्थाणु में पुरुषत्व का निश्चय या देहादि अनात्मा को ही आत्मा मान लेना प्रसिद्ध ही है, पर उस से स्थाणु में पुरुषत्व या पुरुष में स्थाणुत्व नही आ जाता। अर्थात् अविद्या आत्माश्रित होने पर भी आत्मा अविद्या-ग्रस्त नहीं होता। कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि संसार ज्ञेय में ही स्थित है, अविद्या द्वारा ज्ञाता (आत्मा) में अध्यारोपित है। अविद्या द्वारा अध्यस्त धर्म से किसी का उपकार या अपकार नहीं होता। न ही अविद्या ज्ञाता का धर्म बनती है। तिमिर आदि दोष चक्षु आदि करण के ही होते हैं; ऐसे ही अग्रहण, विपरीतग्रहण, संशय आदि त्रिविध अज्ञान और उनकी कारण रूपा अविद्या करण में ही स्थित हो सकती है, ज्ञाता क्षेत्रज्ञ (आत्मा) में नहीं। किन्तु ऐसा मानने पर संसारित्व का आत्मा से कोई सम्बन्ध न होने से बन्ध-मोक्षादि-परक शास्त्र अनर्थक होंगे—ऐसी आशङ्का उठाकर आविद्यक संसारित्व वस्तुतः आत्मा में नहीं ही है; संसार और संसारी अविद्याकल्पित ही हैं; अविद्यावत्त्व आत्मा का धर्म नहीं, यही सिद्धान्तित किया है। वह अविद्या किस की है ?—प्रश्न उठाकर 'जिस की दिखे उसी की है'; किसकी है यह प्रश्न ही निरर्थक है—इत्यादि तर्कप्रस्तार में डाल कर परमार्थतः आत्मा में अविद्यमान ही अविद्या की स्थिति-आश्रय आदि की अधिक चर्चा आत्मतत्त्व के स्वरूप-प्रतिपादन में उपादेय नहीं। जब तक अविद्या है तब तक वह ज्ञाता में ही रहती हुई ज्ञाता का ही विषय भी है—इत्यादि—कह कर उपसंहार किया गया है।[2]

सुरेश्वराचार्य ने बृह० भा० वार्तिक में इस विषय को स्पष्ट करते हुए ब्रह्म को ही अविद्या का आश्रय तथा विषय दोनों बताया है।[3] यह तथ्य मूल वार्तिक में उतना स्पष्ट न

---

१. वही २।१।१४, पृ० २६९।

२. ....क्षेत्रज्ञस्येश्वरस्यैव सतोऽविद्याकृतोपाधिभेदतः संसारित्वमिव भवति........ साऽविद्या कस्येति। यस्य दृश्यते तस्यैव। कस्य दृश्यत इति, अत्रोच्यते अविद्या कस्य दृश्यते इति प्रश्नो निरर्थकः। कथम्। दृश्यते चेदविद्या, तद्वन्तमपि पश्यसि। न च तद्वत्युपलभ्यमाने सा कस्येति प्रश्नो युक्तः। नहि गोमत्युपलभ्यमाने गावः कस्येति प्रश्नोऽर्थवान् भवेत्........यस्याविद्या स तां परिहरिष्यति........अविद्याया विषयत्वेनैव ज्ञातुरुपयुक्तत्वात्........अलमिह बहुप्रपञ्चेन।
गी० शां० भा० १३।३ पृ० १०–१८।

३. ब्रह्माविद्यावदिष्टं चेन्ननु दोषो महानयम्।
निरविद्ये च विद्याया आनर्थक्यं प्रसज्यते॥ ....
त्वत्पक्षे बहु कल्प्यं स्यात्सर्वं मानविरोधि च।
कल्प्याविद्यैव मत्पक्षे सा चानुभवसंश्रया॥ बृ० सं० वा०, १७५-१८२।

होते हुए भी आनन्दगिरि-कृत टीका में सम्यक् विवृत हुआ है,[1] एवं परवर्ती समालोचकों द्वारा सुरेश्वर के अभिमत रूप में ही माना गया है। तथा सुरेश्वर ने भी नैष्कर्म्यसिद्धि में युक्तिपूर्वक सिद्ध किया है कि अज्ञान का आश्रय तथा विषय चिन्मात्र आत्मा ही है। युक्ति इस प्रकार उठाई है कि ब्रह्मा (ईश्वरार्थक) से लेकर तृण पर्यन्त सभी कुछ मिथ्याध्यास है। और आत्मा जन्मादि छहों भावविकारों से रहित कूटस्थ बोधस्वरूप है। इस मिथ्या अध्यास तथा कूटस्थ आत्मा का अज्ञान के बिना सम्बन्ध हो नहीं सकता। वह अज्ञान अपनी सत्ता तथा प्रतीति का स्वयं ही प्रयोजक नहीं हो सकता क्योंकि परतन्त्र स्वभाव है। वह 'किसी का' तथा 'किसी में' होता है, यह मानना पड़ेगा। यहाँ अनुभूयमान परिवेश में दो ही प्रकार के पदार्थ निर्धारित होते हैं—आत्मा तथा अनात्मा। इनमें से अनात्मा का अज्ञान से आश्रयरूप अभिसम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि उसका तो स्वरूप ही अज्ञानात्मक है, स्वयं अपने आप से किसी का आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं होता। और कदाचित् सम्बन्ध हो भी तो अज्ञानस्वभाव वस्तु में अज्ञान सम्बद्ध होकर क्या अतिशय उत्पन्न करेगा? वहाँ (अनात्म व अज्ञानस्वरूप वस्तु में) ज्ञान तो प्राप्त ही नहीं है, जिसका कि अज्ञान-सम्बन्ध से प्रतिषेध हो। तथा अनात्मवस्तु तो अज्ञान का कार्य ही है, वह अपने आश्रय से पहले ही सिद्ध होकर उसका आश्रयी नहीं बन सकता। इन कारणों से अज्ञान अनात्माश्रित नहीं हो सकता, परिशेषतः उसे आत्मा में ही आश्रित मानना पड़ता है।[2]

यह 'आत्मा' जीव नहीं, क्योंकि आगे कहा है कि आत्मा को अपनी सिद्धि के लिये अज्ञान की अपेक्षा नहीं है क्योंकि वह (आत्मा) कूटस्थ व स्वतःसिद्ध स्वभाव है, ऐसा आत्मा ब्रह्म ही है, जीव नहीं क्योंकि उस (जीव) की सिद्धि तो अविद्या के अधीन है।[3]

फिर कहा है कि अनात्मपदार्थ अज्ञान का विषय भी नहीं है, उपर्युक्त कारणों से ही। अर्थात् अनात्मक पदार्थों की संरचना अज्ञान से हुई है, इसे ज्ञानोत्तम ने चन्द्रिका में स्पष्ट किया है। तदनुसार आश्रय व विषय दोनों ही अज्ञान के स्वरूप-घटक हैं अतः उन्हें अज्ञान

---

१. प्रत्यगाश्रयविषयमनाद्यनिर्वाच्यमज्ञानं जगन्मूलकारणम्········शा० प्र०, १।४।८३४।
बृ० भा० वा० पृ० ५,५५ भी द्रष्टव्य।

२. ········तच्चाज्ञानं स्वात्ममात्रनिमित्तं न सम्भवतीति कस्यचित्कस्मिंश्चिद्विषये भवति इत्यभ्युपगन्तव्यम्। इह च पदार्थद्वयं निर्द्धारितमात्माऽनात्मा च। तत्रानात्मनस्तावन्नाज्ञानेनाभिसम्बन्धः। तस्य हि स्वरूपमेवाज्ञानं न हि स्वतोऽज्ञानस्याज्ञानं घटते।··········एवं तावन्नानात्मनोऽज्ञानित्वं नापि तद्विषयमज्ञानम्। पारिशेष्यादात्मन एवास्त्वज्ञानं तस्याज्ञोऽस्मीत्यनुभवदर्शनात्।
नै० सि०, पृ० १०३-१०५।

३. न चाज्ञानकार्यत्वं कूटस्थात्मस्वाभाव्याद् अज्ञानानपेक्षस्य चात्मनः स्वत एव स्वरूपसिद्धेर्युक्तमात्मन एवाज्ञत्वम्।
वही, पृ० १०६।

से पहले ही सिद्ध होना चाहिए।[1] अनात्मा तो अज्ञान के पश्चात् सिद्ध है। पूर्वसिद्ध व सर्वदा-सिद्ध, किसी की भी अपेक्षा न रखते हुए स्वतःसिद्ध वस्तु तो आत्मा ही है, अतः अज्ञान का विषय भी वही है। नैष्कर्म्यसिद्धि में फिर स्पष्ट कहा है कि अज्ञान आत्मविषयक ही है।

आपत्ति उठती है कि आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है यह सुसिद्ध तथ्य है, वह कैसे आनन्द का आश्रय व विषय होगा? इस पर सुरेश्वर कहते हैं कि ज्ञानस्वरूप होने पर भी आत्मा का अज्ञानाश्रयत्व व अज्ञान-विषयत्व संभव है क्योंकि इस विभाग का निमित्त भी अज्ञान ही है।[2] इसे स्पष्ट करते हुए ज्ञानोत्तम ने कहा है कि आत्मा के ज्ञानस्वभावत्व का अर्थ यदि प्रमाण-ज्ञानस्वभावत्व लें तो प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयादि-विभाग आत्मा में अज्ञानकृत ही है, यदि अनादिनिधन-साक्षिचैतन्य स्वभाव समझें तो उसका भी अज्ञान से कोई विरोध नहीं, क्योंकि अज्ञान साक्षिभास्य ही है, और अज्ञान तथा चैतन्य का आध्यासिक सम्बन्ध हुए विना साक्षी में भासकता तथा अज्ञान में भास्यता हो भी नहीं सकती।[3] वह सम्बन्ध आश्रयत्व-विषयत्व रूप है तथा वह भी अज्ञाननिमित्तक ही है, जिससे अज्ञान को, अन्यगति ही न होने से, आत्माश्रित ही मानना पड़ता है।

ऐसा ही पद्मपादाचार्य ने पञ्चपादिका में कहा है कि ब्रह्म ही निखिल पदार्थों का आयतन है यह श्रुतियों द्वारा असकृत् प्रमाणित है। अतः वही अविद्या का आश्रय है, और क्यों-कि उससे पृथक् कहीं कुछ है ही नहीं, अतः अविद्या का विषय भी वह स्वयं ही है। इसी अभिप्राय से पद्मपाद ने कहा कि अविद्या प्रत्यगात्मा में निसर्गसिद्धा (अनादि काल से तदाश्रिता) है और उसके ब्रह्म-स्वरूप के अवभास को रोकती हुई तद्विपरीत रूप में उसका

---

१. विषयस्याप्याश्रयवदज्ञानस्वरूपघटकत्वाद् अज्ञानात्मकस्य चानात्मनो ज्ञानवदेव तद्विषयत्वेन घटकत्वायोगात् तमसीव तमोऽन्तरस्य तत्रातिशयत्वादज्ञानं विनापि तद्भासकज्ञानानुदयादेव तदनवभाससिद्धेरज्ञानकार्यत्वादेव तस्य रूप्यादिवदज्ञान-निवर्तकसम्यग्ज्ञानविषयत्वायोगात् पूर्वमेवाश्रयविषयघटिततया सिद्धादज्ञानात् सेत्स्यतः पूर्वसिद्धस्य विषयभावायोगात् सम्यग्ज्ञाननिरसनीयाकारातिरिक्ताज्ञानविषय-त्वयोग्याकारान्तरासंभवाच्च नानात्मविषयमज्ञानं संभवतीत्यर्थः। पारिशेष्याद् आत्माश्रयमात्मविषयं चाज्ञानं सिद्धम्। वही पृ० १०५।

२. किंविषयं पुनस्तदात्मनोऽज्ञानम्। आत्मविषयमिति ब्रूमः। नन्वात्मनोऽपि ज्ञानस्वरूप-त्वादनन्यत्वाच्च ज्ञानप्रकृतित्वादिभ्यश्च हेतुभ्यो नैवाज्ञानं घटते। घटत एव। कथम् अज्ञानमात्रनिमित्तत्वात् तद्विभागस्य सर्पात्मतेव रज्ज्वाः। वही, पृ० १०६–७।

३. तत्र तावद्यदुक्तं ज्ञानस्वभावत्वादात्मनोऽज्ञानं नोपपद्यते विरोधादिति तत्र किं प्रमाणज्ञानस्वभावत्वं किं वाऽनादिनिधनसाक्षिचैतन्यस्वभावत्वमिति विकल्प्याद्यं प्रत्याह अज्ञानमात्रेति। तस्य प्रमातृप्रमेयप्रमितिलक्षणविभागघटितस्वभावस्य प्रमाण-ज्ञानस्याज्ञानमात्रनिमित्तत्वेनानादिसिद्धात्मस्वभावत्वासम्भवात्। न हि कल्पितमकल्पि-तस्य स्वभावः सर्पात्मतेव रज्ज्वा इत्यर्थः।........साक्षिचैतन्यस्याज्ञानस्य च भास्यभासकत्वेनाविरोधात् साक्षिण्यध्यासलक्षणसम्बन्धमन्तरेण च तद्भास्यत्वा-योगात्।......नै० सि० चं०, पृ० १०७।

प्रतिभास कराती है (= ब्रह्म को विषय बनाती है, जिससे कि वह अविद्या स्वभाव वाला दिखने लगता है ।)[1]

सर्वज्ञात्मा ने संक्षेपशारीरीक में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में विशुद्ध ब्रह्मचैतन्य को ही अविद्या का आश्रय तथा विषय कहा है। इसकी साधक युक्तियां पूर्वाचार्यों से कुछ अधिक परिष्कृत हैं। यथा—जीव व ईश्वर का विभाग तो अज्ञान पर आश्रित है, अतः अज्ञान उनकी अपेक्षा पहले से ही सिद्ध है, अतः जीव व ईश्वर दोनों में ही अज्ञान की आश्रयता व विषयता सम्भव नहीं। भले ही जीवादि विभाग अनादि है, पर वह वास्तविक (पारमार्थिक) नहीं, यह माना ही गया है अतएव वह मायिक (अज्ञानकृत) ही है, अतः उस विभाग के अधीन वस्तु अज्ञान का आश्रय-विषय नहीं हो सकती। अतः उस विभाग से रहित शुद्ध चेतन ही अज्ञान का आश्रय व विषय है।[2] इस युक्ति की प्रकृति सुरेश्वर द्वारा नैष्कर्म्यसिद्धि में कही गई युक्ति के ही समान है।

फिर कहा है कि चैतन्य को ही आश्रय व विषय करने के बल से ही वह बाह्य विवर्त की रचना करता है तथा चैतन्य के प्रत्यक्-स्वरूप (साक्षिरूप) के सत्तासामान्यांश को न ढकता हुआ, अशेष-विशेषहीन (निरंश, कूटस्थ, विशुद्ध) अद्वय ब्रह्म पर ही कुछ मिथ्या आरोप करता हुआ स्थित है।[3]

आनन्दबोधभट्टारक ने न्यायमकरन्द में इसी विषय को और भी अधिक खोलकर अनेक नवीन युक्तियों से इसकी सम्भावना-असम्भावना पर विचार किया है। उनमें से कुछ प्रमुख युक्तियां प्रस्तुत हैं। प्रसङ्ग यों उठाया है कि यह अविद्या किसकी है ? कहां है ? जिसके उच्छेद को मोक्ष कहते हैं। (यह पहले ही मानकर कि वह अनात्मपदार्थ की हो नहीं सकती, आत्मवस्तु के ही शुद्ध व उपाधियुक्त रूपों में विकल्प करते हैं–) विशुद्ध चित्प्रकाश परब्रह्म तो विद्यास्वभाव है, उसमें अविद्या नहीं रह सकती, क्योंकि प्रकाश व अप्रकाश में अधिकरणाधेयभाव संभव नहीं। और जीव की अविद्या हो नहीं सकती क्योंकि–(१) यदि जीव परात्मा से पृथक् माना जाय तो अद्वैतक्षति होगी। (२) यदि वह परात्मा से अभिन्न हो तो स्थिति पूर्ववत् रहेगी। (३) यदि जीव का परात्मा से अभेद तात्त्विक है और भेद आविद्यक तो जीवाश्रिता अविद्या मानने पर अन्योन्याश्रय होगा।[4] (४) यदि माया में कुछ भी अनुपपन्न न होने की युक्ति देकर

---

१. प्रत्यगात्मनि तु चितिस्वभावत्वात् स्वयम्प्रकाशमाने ब्रह्मस्वरूपानवभासस्य अनन्यनिमित्तत्वात् तद्गतनिसर्गसिद्धाविद्याशक्तिप्रतिबन्धादेव तस्य अनवभासः। पं० पा०, पृ० २९।

२. आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसोऽतिपश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः ॥ सं० शा० १।३१९ ॥

३. प्रत्यक्त्वमात्रविषयाश्रयताबलेन प्रत्यक्स्वरूपमपिधाय पराग्विवर्तैः।
प्रत्यञ्चमद्वयमशेषविशेषहीनं विक्षिप्य तिष्ठति तदग्रहणं मृषैव ॥ वही १।२१ ॥

४. कस्याविद्या यदुच्छित्तिर्मुक्तिरिष्टा परात्मनः।
विद्यास्वभावतोऽयुक्ता साऽतो जीवो न भिद्यते ॥ (शेष आगामी पृष्ठ पर)

जीव की ही अविद्या कहें तो कदाचित् मुक्तों में भी अविद्या पुनः लौट आने की संभावना रहेगी और इसी युक्ति से ब्रह्म के विद्यैकस्वभावत्व में भी वाधा आ सकती है।[1] (५) यदि मुक्त तथा ब्रह्म में अविद्या नहीं है, वहाँ (पारमार्थिक स्थिति में) परिकल्प्य-परिकल्पक का अभाव होने से, और जीवाश्रिता कहने पर उसे कल्पिता भी नहीं कहना पड़ता, प्रतीतिसिद्ध होने से, तथा यह जैसी भी प्रतिभात है (प्रतीति में आ रही है) वैसी ही मान्य है, इसे किसी उपपत्ति की आवश्यकता नहीं, ब्रह्म-दशा में न यह प्रतीत होती है न उपपन्न है—यही दोनों स्थलों (ब्रह्म तथा जीव-भावों) में अन्तर है, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि अविद्या से कल्पित भी वस्तु में 'यह अविद्या है' ऐसा ज्ञान नहीं हुआ करता, और प्रतीति ही निर्धारक हो तो जीव-विभाग तथा आत्मा में अविद्याश्रयत्व भी पारमार्थिक मानना होगा, क्योंकि ऐसी ही प्रतीति है। यदि उपपत्ति सर्वथा अनावश्यक हो तो वस्तु की यौक्तिकता, प्रामाणिकता नहीं रहती।[2] (६) यदि अविद्या व जीवविभाग वीज-अङ्कुर के समान अनादि हैं, अतः अन्योन्याश्रय नहीं, तो यह दृष्टान्त यहां लगता नहीं, क्योंकि वीज व अङ्कुर तो व्यक्तिभेद से ही अन्योन्याश्रित हैं, उनके कार्य-कारण-भाव में तो विरोध नहीं पर जीव व ब्रह्म में व्यक्तिभेद है नहीं और अविद्या व जीव के आश्रय-आश्रयीभाव में विरोध है। (७) अविद्याकृत जीवभेद तथा जीवाश्रया अविद्या में परस्पराश्रय-परिहार इसलिये भी नहीं होता कि जीव के ब्रह्म के समान अनादि होने पर उसमें

न तावत्परस्य ब्रह्मणो विशुद्धचित्प्रकाशस्येयमविद्या युक्ता प्रकाशाप्रकाशयोः परस्परप्रत्यनीकत्वाद् अधिकरणाधेयभावानुपपत्तेः। स्यान्मतं जीवानामियमविद्या-भ्युपेयत इति, तदप्ययुक्तं, विकल्पासहत्वात्, स खलु परमात्मनः किं व्यतिरिच्यते, नो वा, यद्याद्यः पक्षस्तर्ह्यद्वैतपक्षक्षतिः''''''—स्यादेतत् तात्त्विकां जीवात्मनः परस्मादभेद एव, भेदः पुनरविद्याधीनः तथा च न श्रुतिविरोधः नाप्यविद्याया आश्रयाभावः, तस्या जीवाश्रयत्वादिति। तदेतन्न मनीषिणः श्रद्दधते परस्पराश्रया-पाताद् अविद्याधीनो जीवविभागो जीवाश्रया चाविद्येति।

न्या० म०, पृ० ३०९,१०।

१. योऽप्याह नाविद्यायां परस्पराश्रयदोषो नहि मायायां काचिदनुपपत्तिरिति, तस्य मुक्तानामपि सा स्यादनुपपत्त्यभावाद्, ब्रह्मणश्च सा किं न स्यादनुपपत्त्यभावादेव।
वही, पृ० ३१०।

२. यद्युच्येत न सा मुक्तानां भवति, नापि परिकल्प्या कल्पकाभावात् मुक्तताव्याघाताच्च, तथा ब्रह्मणोऽपि जीवाश्रया तु न कल्प्या प्रतीतिसिद्धत्वाद्, अतो यथाऽसौ प्रतिभासते तथाभ्युपगम्यते नोपपत्तिः काचिदन्विष्यते, ब्रह्मणि तु न सा प्रतिभाति नाप्युपपद्यत इति विशेष इति।

तदप्यलीकम्, अविद्याकल्पितस्याविद्येत्यप्रतिभासात् प्रतीत्यनुसारित्वे तु पार-मार्थिक एवायं जीवविभागः,—पारमार्थिकं चाविद्याश्रयत्वमित्यभ्युपगन्तव्यं नोपपत्ति-र्मृग्यत इति ब्रुवाणस्य यौक्तिकत्वव्याघातः।

वही, पृ० ३१०–१२।

ब्रह्म-प्रतिबिम्बरूपता नहीं रहती, क्योंकि प्रतिबिम्ब बिम्बसिद्धि के उत्तरकालीन ही होता है, वह (प्रतिबिम्ब) भी अनादि हो तो विभाग के अविद्याधीन होने का क्या अर्थ रहेगा ?[1]

इन सब कारणों से अनादि-अनन्त शुद्ध ब्रह्मतत्त्व को ही अविद्याश्रय कहना पड़ेगा और वह ठीक नहीं, क्योंकि 'अविद्यावान् सर्वज्ञ' या अज्ञानयुक्त निरतिशय ज्ञान या विशुद्ध ज्ञान कहना व होना तो विप्रतिषिद्ध या विरुद्ध है। और 'ब्रह्म ही अपनी अविद्या से संसरण करता है और विद्या से मुक्त हो जाता है' ऐसा कहें तो बन्धमुक्ति-व्यवस्था उपपन्न नहीं होती, तथा विद्या व अविद्या दोनों का युगपत् प्रकट-अप्रकट किसी भी दशा में ब्रह्म में रहना प्राप्त होता है, जिससे कि मुक्ति के पश्चात् पुनः बन्ध न होने का विश्वास नहीं रहता।[2]

इन सभी के उत्तर में आनन्दबोध ने एक ही बार कह दिया है कि विशुद्धचित् पर-ब्रह्म की ही अविद्या है। प्रकाश व अप्रकाश के समान यहाँ विरोध नहीं है, क्योंकि अविद्या प्रकाशाभावरूपा नहीं है, यदि जड़ होने से विरोध कहें तो भी ठीक नहीं, क्योंकि समस्त जड़ का प्रतिभान प्रकाश के सम्बन्ध से ही होता है।[3] प्रकाश से सम्बन्ध भले सम्भव हो पर प्रकाश पर आश्रित होना विरुद्ध है—यह नहीं कह सकते, क्योंकि समस्त जड़ प्रपञ्च का चिदात्मा में अधिष्ठित होना अभ्युपगत है।[4]

---

१. यदपि मतं बीजाङ्कुरवदनादिरविद्याजीवविभागस्ततो नान्योन्याश्रयत्वमिति, तदप्यसाम्प्रतं दृष्टान्तवैषम्याद्, व्यक्तिभेदेन हि बीजाङ्कुरयोरन्योन्यं कार्यकारणभावे न विरोधः''''''तथा चाविद्याकृतो जीवभेदो जीवाश्रया चाविद्येत्यशक्यः परस्पराश्रय-परिहारः, ब्रह्मवज्जीवस्याप्यनादित्वे न ब्रह्मप्रतिबिम्बता, प्रतिबिम्बस्य बिम्बसिद्ध्युत्तरकालतानियमाद्, अनादित्वे चाविद्याधीनस्तद्विभाग इति दुर्निरूपं, तस्मादनादि-निधनं ब्रह्मतत्त्वमेवाविद्याश्रय इति वाच्यं, तत्र चोक्तानुपपत्तिः।

वही, पृ० ३१२-१३।

२. कथं च सर्वज्ञस्य ब्रह्मणोऽविद्याश्रयत्वम् अविद्यावान्सर्वज्ञ इति विप्रतिषेधाद्, ब्रह्मैव च स्वाविद्यया संसरति विद्यया च विमुच्यते इति ब्रुवाणस्य न बन्धमुक्तिव्यवस्थोपपत्तिः। वही, पृ० ३१३,१४।

३. प्रकाशाप्रकाशयोः प्रत्यनीकत्वादिति कोऽर्थः यदि प्रकाशतदभावयोः परस्परविरोधादिति, किमायातं प्रकृते नहि वयं प्रकाशाभावमविद्यामाचक्ष्महे येन सा प्रकाशात्मनि ब्रह्मणि न भवेदिति, उक्तं हि 'न भावो नाप्यभावः किन्त्वनिर्वाच्यैवाविद्या' इत्यधस्तात्। वही, पृ० ३१८।

४. अथाप्रकाशं जडं विवक्षितं कथं तर्हि तस्य प्रकाशप्रत्यनीकता सर्वस्यापि जडस्य प्रकाशसम्बन्धादेव प्रतिभानाद् यथोक्तं 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इति नाप्रकाशस्य प्रकाशसम्बन्धो विरुद्धः किन्तु प्रकाशाश्रयत्वमिति चेद्, नैतत्सारम्, उदाहरणाभावात्—किं खलु प्रकाशात्मत्वाच्चित्प्रकाशाश्रयं न भवतीति मां प्रत्युदाह्रियते सर्वस्यापि जडप्रपञ्चस्य चिदात्माधिष्ठानताभ्युपगमात्।

वही, पृ० ३१८,१९।

जीव में अविद्याश्रय होने की अनुपपत्ति (जो ऊपर सात युक्तियों से दिखाई गयी) ठीक ही है अतएव ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय है यह सिद्ध होता है। 'सर्वज्ञ' व 'अविद्यावान्' युगपत् नहीं हो सकते ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अविद्यावान् होते हुए ही ब्रह्म सर्वज्ञ है, (क्योंकि 'सर्व' की उपस्थिति अविद्या द्वारा ही है)।

आविद्यक सम्बन्ध से ही ब्रह्म अविद्यावान् है। अर्थात् अविद्या के कारण ही ब्रह्म में अविद्याश्रयत्व तथा स्वयं अविद्या की प्रतीति होती है। अविद्या-प्रतीति के प्रति भी अविद्या ही कारण है, प्रतिज्ञान में सहकारी कारण अविद्या ही होने से।

इतने संरम्भ से आनन्दबोध ने ब्रह्म को अविद्या का आश्रय सिद्ध किया है। इस अविद्या का विषय क्या है, इस पर फिर कुछ नहीं कहा है।

विमुक्तात्मा ने इष्टसिद्धि में, जड़ वस्तु में अज्ञान की आश्रयता की असम्भावना को नई युक्तियों से स्थिर किया है। जिनमें से कुछ हैं—(१) अविद्या जिसमें होती है उसी में विद्या उदित होने पर अविद्या को दूर करती है, अनात्म वस्तु में अविद्या के उदय का अवकाश ही नहीं। (२) जिसको अज्ञान होता है उसे भ्रम होता है और सम्यक् ज्ञान होने पर उसी का वह भ्रम दूर होता है। जड़ वस्तु तो स्वयं वेद्य (जानी जाने योग्य) है, वह किसे न जानेगी और किसे जानेगी ?[१] (३) जिसे अज्ञान होता है उसे 'मैं अज्ञानी हूँ' ऐसी अज्ञान की प्रतीति होती है, अदृक् (जो दृष्ट है, द्रष्टा नहीं) वस्तु को प्रतीति का अवकाश नहीं (४) कोई भी अनित्य वस्तु अनादि अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकती, अतः अज्ञान आत्मा का ही है।[२] यहाँ 'आत्मा का' कहने में आश्रयता तथा विषयता दोनों अभिप्रेत हैं। आगे पुनः स्वाभाविक प्रश्न उठाया है कि—कूटस्थ अद्वितीय स्वयंज्योतिः आत्मा में अविद्या की स्थिति हो ही कैसे सकती है ? सूर्य में अन्धकार रहना सर्वथा असम्भव है। यदि स्वतः है तो उसका कभी उच्छेद सम्भव नहीं, नित्य आत्मा के स्वभाव में ही प्रविष्ट होने से। यदि परतः (किसी अन्य द्वारा प्रयुक्त) है तो भी ठीक नहीं क्योंकि आत्मा से अन्य है ही क्या ?

इस पर वैसा ही स्वाभाविक उत्तर दिया है कि अविद्या का होना तो प्रसिद्ध है, उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, अनात्मवस्तु में वह रह नहीं सकती, न ही उसे विषय कर सकती है, क्योंकि अनात्मा का होना तो स्वयं अविद्या पर ही निर्भर है। न ही वह स्वतन्त्र वस्तु है कि किसी पर आश्रित न हो क्योंकि स्वतन्त्र तो आत्मा ही है, आत्मा से इतर कुछ नहीं, यदि अविद्या को स्वतन्त्र कहें तो वह आत्मरूपा ही हो जायेगी सो ठीक नहीं। यदि आत्मा से पृथक् है तो जड़ ही है, और जड़ वस्तु आत्मा के बिना सिद्ध ही नहीं हो सकती।

---

१. अविद्या यस्य यत्रात्र तस्य विद्यैव हन्ति ताम्।
सतोऽप्यनात्मनो जाड्यान्न स्याद् विद्या कुतोऽसतः।
यस्याज्ञानं भ्रमस्तस्य भ्रान्तस्सम्यक् च वेत्ति सः।
जडं न विद्याद् वेद्यत्वान्नातो ज्ञानं जडस्य च॥ इ० सि० १।१२२-२३।

२. अज्ञान्यस्मीति चाज्ञानसंवित्तिश्चादृशः कथम्। वही १।१२५।
अन्तःकरणादीनां चानित्यत्वादनाद्यज्ञानाश्रयत्वानुपपत्तिः।.........वही, पृ० १९५।

अतः किसी भी प्रकार अविद्या को आत्मा के अधीन होना ही होगा। और 'मैं अज्ञ हूँ, नहीं जानता हूँ,' इत्यादि अनुभवों से आत्मा में ही अविद्याश्रयता प्रसिद्ध है।[1]

इसी प्रकार से युक्ति-प्रसार करते हुए आगे जाकर यही सिद्ध किया है कि आत्मा में ही अविद्या है और आत्मविषयिणी ही है।[2] यह आत्मा भी जीव नहीं ब्रह्म ही है, इसे भी युक्तिपूर्वक सिद्धान्तित किया है। दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जैसे भित्ति पर चित्र आश्रित है वैसे ही अनुभूति (विमुक्तात्मा ने ब्रह्म को अधिकतर यही संज्ञा दी है) पर माया (अविद्या) अपने समस्त कार्यों सहित आश्रित है।[3] इसके अतिरिक्त इष्टसिद्धि का पूरा छठा अध्याय, ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय है, इसे ही युक्ति-प्रपञ्च-प्रसार द्वारा सिद्ध करते हुए लिखा गया है। वे समस्त युक्तियाँ तो विस्तार भय से यहाँ प्रस्तुत नहीं की जा सकी हैं, उनमें से प्रथम व प्रमुख यही है कि—अविद्या जीवाश्रिता नहीं हो सकती क्योंकि जीव स्वयं अविद्याकल्पित होने से जड़-तुल्य या जड़-मिश्र है, जड़ में अविद्या का न हो सकना सिद्ध हो चुका, उन्हीं कारणों से जड़ाजड़ (मिश्र) वस्तु भी अविद्या का आश्रय-विषय नहीं हो सकती।[4]

प्रकाशात्मा ने पञ्चपादिकाविवरण में पद्मपाद व विमुक्तात्मा की युक्तियों को अपनाते हुए केवल जड़ तथा जड़-विशिष्ट चैतन्य इन दोनों में अविद्या की आश्रयता व विषयता की असम्भावना सिद्ध की है, तदनुसार अज्ञान का कार्य अनात्मवस्तु में नहीं हो सकता क्योंकि अध्यस्त का आवरण नहीं होता है। स्वयं ही प्रकाशहीन जड़ पदार्थ के आवरण का प्रयोजन भी नहीं है—इत्यादि।[5] इसके अतिरिक्त अविद्या का आश्रय व विषय चिन्मात्र को ही सिद्ध करने में प्रकाशात्मा के प्रतिपादन की मूल युक्तियाँ हैं—

(१) जड़ वस्तु अविद्या का न आश्रय हो सकती है न विषय। क्योंकि जड़-मात्र अविद्या का कार्य है, और अविद्या का विषय होना उसमें प्रसक्त नहीं।

---

१. नन्वविद्या स्वयंज्योतिरात्मानं ढौकते कथम्।
कूटस्थमद्वितीयं च सहस्रांशु यथा तमः॥
प्रसिद्धत्वादविद्यायास्साऽपह्नोतुं न शक्यते।
अनात्मनो न सा युक्ता तयाऽनात्मा विना न हि॥
सात्मैव स्यात्स्वतन्त्रा चेन्न ह्यन्यस्य स्वतन्त्रता।
तदधीनात्मसिद्धित्वादतोऽविद्याश्रयः पुमान्॥ वही १।१३६-३८॥

२. ""तस्मादात्मन एवाविद्या आत्मन्येव च, न त्वनात्मनोऽनात्मनि चेति सिद्धम्। वही, पृ० २११।

३, ""मायया निर्मितं चित्रम् मायाचित्रम्। तस्य भित्तिरिव भित्तिराश्रयो या अनुभूतिः, सा महदादिजगन्मायाचित्रभित्तिः। वही, पृ० ३५।

४. जाड्यान्न कल्पितस्येष्टाऽविद्या प्रागुक्तहेतुभिः।
नाजडं कल्प्यते सिद्धेर्नात एव जडाजडे॥ ६।४॥ वही, पृ० ३२५।

५. न च अध्यस्तस्य आवरणमस्ति, द्विचन्द्रादिवत् प्रमाणगम्यत्वाभावात्। तस्मात् नास्ति अनात्मनि आवरणे प्रमाणम्। न च स्वयमेव प्रकाशहीनस्य जडस्य आवरणार्थोऽपि सम्भवति। पं० पा० वि०, पृ० ९६।

(२) अन्तःकरण जड़ है, सादि व अध्यस्त द्रव्य है, अतः अनादि अविद्या का आश्रय-विषय नहीं हो सकता ।[1]

(३) 'मैं मुझ (स्वयं) को नहीं जानता'—इस वोध में 'मैं'—पदार्थ में अज्ञान की आश्रयता व विषयता दोनों दिखाई देती हैं अतः केवल जड़ में न सही, जड़-विशिष्ट चैतन्य (जीव) में अज्ञानाश्रयादि होने की सम्भावना अवश्य आपाततः दिखती है, किन्तु वह ठीक नहीं, क्योंकि चैतन्य का यह विशिष्ट रूप अज्ञानकृत ही है, वास्तव में नहीं, अतः उससे पूर्वतः सिद्ध शुद्ध स्वरूप को ही अविद्या का आश्रय मानना उचित है, और वही अविद्या का विषय बनकर जीव-जगत् इत्यादि रूप से विवर्तमान होता है। अतः विशिष्ट भी अविद्याश्रय नहीं ।[2]

(४) अज्ञान को आश्रय व विषय के पृथक्-पृथक् होने की अपेक्षा नहीं है। वह अन्धकार के समान अक्रियात्मक तथा आवरणात्मक होने से एक ही वस्तु में आश्रयत्व-विषयत्व-सम्पन्न है ।[3]

विवरणप्रमेयसङ्ग्रह में इसे और स्पष्ट करते हुए विद्यारण्य ने कहा है कि बन्द कक्ष में विद्यमान अन्धकार जैसे जहाँ स्थित है, उसी को विषय करता है, अर्थात् वहाँ स्थित वस्तुओं को ढक लेता है, उसी प्रकार अज्ञान भी जहाँ आश्रित है उसी को आवृत करता है। अन्धकार एक कोष्ठ में हो और उसके प्रभाव से दूसरे कोष्ठ की वस्तुयें न दिखें ऐसा नहीं होता ।[4]

अज्ञान शब्द ज्ञान-पद-घटित है इसलिये उसे ज्ञान के समान ही भिन्न आश्रय-विषय वाला होना चाहिये—यह कहना ठीक नहीं। जैसे स्थिति कर्म-निरपेक्ष होने पर भी 'अगमन' शब्द से कही जाती हुई 'किस का व किंविषयक अगमन है'—इस तरह कर्म-सापेक्ष सी प्रतीत होती है, वैसे ही माया अविद्या या अज्ञान शब्द से प्रतिपादित होती हुई आश्रयविषय-भेदापेक्षी सी प्रतीत होती है, वस्तुतः वैसी नहीं है ।[5]

---

१. ····न अन्तःकरणाश्रयमज्ञानम् । वही, पृ० २२३ ।

२. ····न तावदन्तःकरणविशिष्टस्वरूपाश्रया अविद्या, प्रमाणाभावात् । वही, पृ० २२० ।

३. न तावदज्ञानमाश्रयविषयभेदापेक्षम् । किन्तु एकस्मिन्नेव वस्तुन्याश्रयत्वमावरणं चेति कृत्यद्वयं सम्पादयति । स्वाश्रयापवरकप्रदेशे कृत्यद्वयसम्पादितमोवत् अक्रियात्मकत्वादावरणत्वाच्च । वही, पृ० २१० ।

४. विमतमेकपदार्थमेवाश्रयत्यावृणोति च, आवरकत्वादपवरकस्थतमोवदिति भेदमनपेक्ष्यैकस्मिन्नेव सम्बन्धद्वयसिद्धेः । वि० प्र० सं०, पृ० १६४ ।

५. ननु ज्ञानवदज्ञानमप्याश्रयविषयभेदमपेक्षत एव, अहमिदं जानामीतिवदहमिदं न जानामीति व्यवहारात् । मैवम्, द्वयसापेक्षज्ञानपर्युदासाभिधाऽप्यज्ञानशब्दवशादेव तथा प्रतीतेः, मायादिशब्दव्यवहारे तदभावात् । यथा स्थितिः कर्मनिरपेक्षाप्यगमनशब्देन अभिधीयमाना कस्य किंविषयमगमनमिति कर्मसापेक्षवद् भाति तद्वत् । वही, पृ० १६५ ।

अद्वितीय निष्कलङ्क आत्मा (ब्रह्म) में भी अविद्या नामक मिथ्या दोष है, यह श्रुति तथा श्रुतार्थापत्ति से सिद्ध होता है। श्रुति है—'अनृत' से प्रत्यूढ़ (व्याप्त) प्रजायें (जीवात्मा) प्रतिदिन ब्रह्मलोक में जाती हुई भी ब्रह्म को जानती नहीं।[1] इससे ब्रह्म में अविद्या-विषयता जानी जाती है। तथा ब्रह्मज्ञान से बन्धनिवृत्ति श्रुत है, जो पहले ब्रह्म में अज्ञान की कल्पना के बिना अनुपपन्न है इससे ब्रह्म में अज्ञानाश्रयता भी सिद्ध है।[2] अज्ञानाश्रयता के कारण ब्रह्म के ज्ञानत्व में व्याघात नहीं है इसको सिद्ध करते हुए कहा है कि यद्यपि अविद्या शुद्ध चिद्घन के साथ ही सम्बन्ध रखती हुई जीव व ब्रह्म का विभाग करती है, तथापि ब्रह्मस्वरूप की उपेक्षा करके जीवभाग में ही पक्षपात रखती हुई संसार को उत्पन्न करती है।[3]

चित्सुखाचार्य ने तत्त्वप्रदीपिका में तथा आनन्दानुभव ने न्यायरत्न-दीपावली में प्रायः समान ही रीति से सिद्ध किया है कि ब्रह्म ही अविद्याश्रय है। युक्तियों से अनेक प्रकार से इसकी सिद्धि की जाने पर भी शङ्का बनी रहती है कि ब्रह्म तो सर्वज्ञ है, ज्ञान-प्रकाश-स्वरूप है, और अविद्या का आश्रय होना तो जीवों की "मैं अज्ञ या अल्पज्ञ हूँ"—ऐसी प्रतीतियों द्वारा जीव में ही युक्ति-युक्त है। इसके उत्तर में चित्सुखाचार्य ने कहा कि—सर्वज्ञ होते हुए भी ब्रह्म ही अविद्याश्रय है, क्योंकि सर्वज्ञता अविद्या के सम्बन्ध बिना असम्भव है।[4]

आनन्दानुभव ने 'सर्वज्ञ' व 'ब्रह्म' पदार्थों के अन्तर (जिसे आगामी प्रकरणों में देखा जायेगा) पर दृष्टि रखते हुए कहा है कि सर्वज्ञ अविद्या का आश्रय नहीं जिससे कोई विरोध दिखे, प्रत्युत प्रकाशस्वरूप ब्रह्म अविद्यावशात् ही सर्वज्ञ बनता है, अतः अविद्या ब्रह्माश्रिता ही है। वह प्रकाशाभावरूपा नहीं है, अतः प्रकाशाश्रितता अविरुद्ध है। जीव को जो 'मैं अज्ञ हूँ' प्रतीति होती है, उसी से जीव में अविद्याश्रयता नहीं सिद्ध हो जाती। वह प्रतीति तो अविद्योपहित चैतन्य के साथ अहङ्काररूप अविद्याकार्य का मिथ्या-तादाम्याध्यास-सम्बन्ध होने से होती है।[5] तत्त्वप्रदीपिका में अन्धकार व प्रकाश में आश्रित-आश्रय-भाव के समान ब्रह्म में

---

१. तद्यथा हिरण्यं निधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति अनृतेन हि प्रत्यूढाः।
छा० उ० ८।३।२॥

२. ब्रह्मज्ञानाद् बन्धनिवृत्तिः श्रूयमाणा ब्रह्मणि प्रागनवबोधोऽध्यासबन्धहेतुर्दोषोऽस्तीति कल्पयति। वि० प्र० सं०, पृ० १६३।

३. यद्यप्यसावविद्या चिन्मात्रसम्बन्धिनी जीवब्रह्मणी विभजते, तथापि ब्रह्मस्वरूपमुपेक्ष्य जीवभाग एव पक्षपातिनी संसारं जनयेद्, यथा मुखमात्रसम्बन्धिदर्पणादिकं बिम्ब-प्रतिबिम्बौ विभज्य प्रतिबिम्बभाग एवातिशयमादधाति तद्वत्। वही, पृ० १७०।

४. स्वरूपतः प्रमाणैर्वा सर्वज्ञत्वं द्विधा स्थितम्।
तच्चोभयं विनाऽविद्यासम्बन्धं नैव सिध्यति॥ त० प्र० १।४॥

५. न हि सर्वज्ञस्याविद्या। किन्तु प्रकाशरूपस्य अविद्यया सर्वसम्बन्धात् सर्वज्ञता।.... तदैवं नाहङ्कारादिविशिष्टो जीवोऽविद्याश्रयः। अहमज्ञ इति ज्ञप्तिश्चैतन्येनाहाङ्कारा-ज्ञानयोः सम्बन्धादुपपन्ना अविद्याशबलं मूलप्रकृतिस्तत्पदस्य वाच्योऽर्थः।
न्या० र० दी०,पृ० ३४४-४६।

अविद्याश्रयता के विरोध को विकल्प-जाल में दूर किया गया है। मूल युक्ति प्रकटार्थविवरण के समान ही है।[1]

मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में अविद्या के चिन्मात्राश्रयत्व-विषयत्व को अपनी तर्क-बहुल शैली से अति-विस्तार-पूर्वक सिद्ध किया है। उसमें कुछ प्रमुख युक्तियां ये हैं—

अविद्या का आश्रय ब्रह्म ही है, अविद्या के आश्रयत्व से उसकी शुद्धता व्याहत नहीं होती। दर्पण का सम्बन्ध मुख से ही होने पर भी दर्पण-गत मालिन्य या अन्य कोई दोष उसमें पड़ने वाले प्रतिमुख में ही आता है, वैसे ही अविद्या ब्रह्माश्रिता है, पर उसका प्रभाव अल्पज्ञत्व असर्वगत्वादि रूप से प्रतिबिम्ब-भूत जीव में ही पड़ता है, बिम्बभूत ब्रह्म में नहीं।[2] (यह प्रकाशात्मा व विद्यारण्य द्वारा कही गई युक्ति का ही परिष्कार है)।

शुद्ध चैतन्य के अज्ञानाश्रय होने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि अज्ञान का साधक, अवभासक भी वही है। इससे (अज्ञान विरोधी न होने से) चैतन्य घट आदि के समान अप्रकाशरूप या जड़ ही हो जायेगा यह नहीं कह सकते क्योंकि वृत्ति के अवच्छेद से चैतन्य ही अज्ञानविरोधी भी है।[3] इसका तात्पर्य द्वितीय पक्ष (ज्ञानमीमांसा) में स्पष्ट होगा।

'मैं अज्ञ हूँ' ऐसी धर्मिग्राहक प्रतीति द्वारा अज्ञान का अहङ्काराश्रित रूप से जो ग्रहण होता है, वह 'मैं स्थूल हूँ' में स्थौल्य के आश्रय देह के साथ ऐक्याध्यास के समान, अज्ञान व अहङ्कार का एक चित् में ही ऐक्याध्यास होने से होता है। अहङ्कार अविद्या के आधीन है, अतः अविद्या जीवाश्रिता नहीं हो सकती।

'निरनिष्टो, निरवद्यः, शोकं मोहमत्येति'[4] इस श्रुति के विरोध के कारण शुद्धचित् को अविद्या का आश्रय मानना ठीक नहीं, क्योंकि बाँधना ही स्वभाव है जिसका, ऐसे अज्ञान का आश्रय कभी मुक्त हो ही नहीं सकता, और ब्रह्म में अज्ञानाश्रयता कहने से जीव व ब्रह्म के

---

१. ननु प्रकाशरूपस्य कथमप्रकाशरूपाविद्याश्रयत्वं परस्परविरोधिनोस्तमःप्रकाशयोरिवाधाराधेयभावानुपपत्तेरिति चेत्, मैवम्, विकल्पासहत्वात्। किमप्रकाशशब्देन प्रकाशाभावः ? उत प्रकाशादन्यत् तद्विरुद्धं वा विवक्षितम् ?········
त० प्र०, पृ०, ५७९।

२. अविद्याया आश्रयस्तु शुद्धं ब्रह्मैव।···· दर्पणस्य मुखमात्रसम्बन्धेऽपि प्रतिमुखे मालिन्यवत् प्रतिबिम्बे जीवे संसारः न बिम्बे ब्रह्मणि, उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वात्। अ० सि०, पृ० ५७७।

३. अज्ञानविरोधि ज्ञानं हि न चैतन्यमात्रम्, किन्तु वृत्तिप्रतिबिम्बितम्, तच्च नाविद्याश्रयः, यच्चाविद्याश्रयः तन्नाज्ञानविरोधि। न च तर्हि शुद्धचितो ज्ञानविरोधित्वाभावे घटादिवदप्रकाशत्वापत्तिः वृत्त्यवच्छेदेन तस्या एवाज्ञानविरोधित्वात् स्वतस्तृणादिभासकस्य सौरालोकस्य सूर्यकान्तावच्छेदेन स्वभास्यतूलादिदाहकत्ववत् स्वतोऽविद्यातत्कार्यभासकस्य चैतन्यस्य वृत्त्यवच्छेदेन तद्दाहकत्वात्। वही, पृ० ५७७।

४. ········अहङ्कारस्याविद्याधीनत्वेन तदनाश्रयतया चित एवाज्ञानाश्रयत्वे सिद्धे 'अहमज्ञ' इति प्रतीतेरैक्याध्यासनिबन्धनत्वेनाबाधकत्वात्। वही, पृ० ५७७।

सावद्यत्व-निरवद्यत्व की व्यवस्थापिका श्रुति का विरोध होगा—इन आपत्तियों के उत्तर में कहा है कि 'अवद्य' (दोष) चिन्मात्र में कार्यकर नहीं हो सकता, और कार्यकरत्व के होने न होने से ही सावद्यत्व-निरवद्यत्व-व्यवस्था हो सकती है। चिन्मात्र के अज्ञानाश्रयत्व में प्रमाण है—'मायिनं तु महेश्वरम्' यह श्रुति। तथा 'ज्ञाज्ञावजावीशानीशौ' में जीव में अज्ञत्व-व्यपदेश की उपपत्ति इससे होती है कि अज्ञान का आश्रय न होने पर भी अज्ञान-कार्यों से जीव ही सम्बद्ध है।[1] ब्रह्म में ही 'मायी' व्यपदेश जीवाश्रित अज्ञान का विषय होने से है—यह कहना ठीक नहीं क्योंकि जीवत्व यदि अज्ञान का आश्रयतावच्छेदक हो तो जीव व अज्ञान में परस्पराश्रय होगा।

शुद्ध चैतन्य को केवल ज्ञान रूप मानकर शङ्का उठाई गई कि अज्ञान को अपने निवर्तक ज्ञान तथा ज्ञान-प्रागभाव के साथ समानाधिकरण होना चाहिये, तदनुसार वह ज्ञाता आत्मा में ही स्थित होना चाहिये, चैतन्यरूप ज्ञान में नहीं। इसका समाधान किया गया यह कहकर कि ज्ञाता भी चैतन्य ही है। ज्ञातृत्व-ज्ञानत्वादि विभाग तो उस चैतन्य पर ही स्थिता अविद्या द्वारा कल्पित है।[2]

इसी प्रकार की अनेक युक्तियों द्वारा अज्ञान की चिन्मात्राश्रयता सिद्ध करके, फिर वैसे ही युक्ति-प्रसार से चिन्मात्र को ही अविद्या का विषय भी सिद्ध किया है। चैतन्य की अकल्पितता तथा अन्य सभी कुछ की अज्ञान-कल्प्यता हो प्रमुख युक्ति है। जो अज्ञान द्वारा कल्पित नहीं है तथा स्वयंप्रकाश है उसी में इसका आवरणकृत्य सम्भव है। जो अज्ञान द्वारा कल्पित है तथा जिसका प्रकाशित होना प्रसक्त ही नहीं है, उसमें आवरण क्या होगा।[3] कहना न होगा इनमें अधिकांश युक्तियां पूर्वाचार्यों के प्रतिपादनों के ही अधिक स्पष्टीकृत रूप हैं।

प्रकाशानन्द ने वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली में प्रकाशात्मा के समान अन्धकार के दृष्टान्त से, अविद्या द्वारा अपने आश्रय को ही विषय करने की उपपत्ति दिखाई है, और वह आत्मा ब्रह्म-जीव भेद से विभक्त नहीं, उभय-साधारण चैतन्यतत्त्व ही है, इसे जीव-ब्रह्म-अभेद के साधन से सिद्ध किया है।[4]

---

१. ''''''''अवद्यस्य चिति कार्यकरत्वाभावेन कार्यकरत्वाकार्याकरत्वाभ्यामेव सावद्यत्व-निरवद्यत्वव्यवस्थोपपत्तेः उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वात्।''''''''तदाश्रयत्वाभावेऽपि तत्कार्ययोगितया अज्ञत्वव्यपदेशोपपत्तेः। वही, पृ० ५७७-७८।

२. ''''''''ज्ञातुरर्थप्रकाशरूपमिदमज्ञानं स्वकार्येण भ्रान्त्यादिना स्वनिवर्तकतत्त्वज्ञानादिना स्वसमानयोगक्षेमेण ज्ञानप्रागभावेण च सामानाधिकरण्याय ज्ञात्रात्मनिष्ठं न तु चैतन्यरूपज्ञानाश्रितमिति चेत्, न, चैतन्यस्यैव ज्ञातृत्वेन ज्ञातुरर्थप्रकाशरूपत्वस्य सम्यग्ज्ञानाश्रयत्वस्य भ्रान्त्यादिसामानाधिकरण्यस्य चोपपत्तेः।''''वही, पृ० ५७८।

३. चिन्मात्रमेवाविद्याविषयः, तस्याकल्पितत्वेनान्योन्याश्रयादिदोषाप्रसक्तेः, स्वप्रकाशत्वेन प्रसक्तप्रकाशे तस्मिन् आवरणकृत्यसम्भवाच्च, नान्यत्, तस्याज्ञानकल्पितत्वात्, अप्रसक्तप्रकाशेनावरणकृत्याभावाच्च।'''''''' वही, पृ० ५८६-५९४।

४. अविद्या स्वाश्रयाभिन्नविषया स्यात्तमो यतः।
यथा बाह्यं तमो दृष्टं तथा चेयं ततस्ततः॥

यह भी कहा है कि आत्मा का अद्वयत्व तथा आनन्दत्व पक्ष हो अज्ञान का विषय है (अर्थात् सत्त्व तथा चित्त्व अज्ञान का आश्रय मात्र है, क्योंकि इन्हीं के बल पर तो अज्ञान स्थित है और प्रतीति-गोचर होता है ।)

इस प्रकार शाङ्कर सम्प्रदाय के मर्मभूत अद्वैत का किसी भी प्रकार से व्याघात न सहने की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर इस विचारधारा के आचार्यों ने, चिन्मात्र (शुद्ध चैतन्य स्वरूप) ब्रह्म को ही मिथ्या अविद्या का आश्रय तथा विषय दोनों मानने में जो अनुपपत्तियां व बाधायें आती गईं उन्हें, मूल रहस्य तथा कुछ महत्त्वपूर्ण युक्तियों के उत्तरोत्तर पल्लवन द्वारा दूर करते हुए स्वाभिमत सिद्धान्त को पुष्ट किया है। इस समस्त परिचर्चा के भीतर यही तर्क अथवा युक्ति गुंथी हुई प्रतीत होती है कि—जागतिक प्रतीति का उत्तरोत्तर गहन विश्लेषण करते हुए सब कुछ के मूल-भूत परम तत्त्व को सत्-चित्-आनन्द स्वरूप व अद्वय-असङ्ग पाया गया, उसके स्वरूप और प्रतीयमान जगत् में विरोध देखकर ही किसी वैपरीत्यापादिका किन्तु तत्त्वतः मिथ्या वस्तु की कल्पना करनी पड़ी उसे ही नाम दिया गया अविद्या। उस कल्पित वस्तु को ही समस्त जगत् का दायित्व सौंपा गया। जगत् तथा उस वस्तु की सत्ता (स्थिति-दशा में) समान मानी गई। फिर उस वस्तु को जड़ (स्वयं प्रवृत्ति शून्य, अन्य की ऊर्जा से ही चालित) भी माना गया तो उसका प्रेरक, चालक व आश्रय अनिवार्य रूप से उसे ही मानना होगा जो एकमात्र तत्त्व है, जो सत् होने से आश्रय होने योग्य है; चित् होने से आश्रित का अवभासक एवं जड़ का प्रेरक है; तथा आनन्द होने से प्रवृत्ति-मात्र का एकमात्र अभिलक्ष्य है। तात्त्विक स्थिति में ब्रह्म को छोड़कर या ब्रह्म से इतर जब कुछ है ही नहीं, तो अतात्त्विक निखिल की उद्भाविका अविद्या का आश्रय कोई अन्य कैसे होगा। इस अविद्या का स्वरूप माना गया अन्धकार के समान वास्तविकता को ढकने वाला तथा इन्द्रजाल के समान अवस्तु को वस्तु के समान दिखाने वाला। अन्धकार जहां रहता है वहीं अपना प्रभाव डालता है, इसी का नाम है विषय करना। अविद्या भी जहा स्थित है वहीं अपना प्रभाव डालती है इसीलिये जो अविद्या का आश्रय है उसे ही विषय भी होना होता है, अन्य गति न होने से। आपाततः कठिन विरोध तो चिन्मात्र के अविद्याश्रय होने में ही सामने आता है, ओर वह मिट जाता है अन्य गति न होने से। अविद्याविषयत्व तो चिन्मात्र में लोक-प्रतीति में ही सिद्ध है—ब्रह्म क्या है? कैसा है? नहीं जानते—ऐसी अनुभूति में।

इस विचार का प्रमुख परिपन्थी है प्रकाश में अन्धकार की आश्रयता का अनुभव व युक्ति से विरोध होना। इनमें से यौक्तिक विरोध का तो प्रबलतर युक्तिजाल से ही, कांटे से कांटा निकालने के समान निराकरण होता रहा। और अनुभव-गत विरोध की उपेक्षा अज्ञान-दशा की गाढ़ता अथवा 'मन्द अधिकार' कहते हुए की जाती रही। मन्द प्रकाश में अन्धकार

ब्रह्मात्मनोर्विभिन्नत्वे भेदः स्वाभाविको यदि ।
औपाधिकोऽथवा भेदः सर्वथाऽनुपपत्तिकः ॥

वे० सि० मु०, श्लो० ६, ७, पृ० ११ ।

......तस्मात् जीवब्रह्मवि—भागशून्यमात्मानमाश्रित्य तमेव विषयीकरोति इति अज्ञानविषयत्वमात्मनः सिद्धम् । वही, पृ० १४ ।

और प्रकाश का साहचर्य इस अनुभव-विरोध का कथञ्चित् उपपादक अवश्य है। इस की ध्वनि शारीरकभाष्य में 'तमः प्रकाश' को पूर्वपक्ष बना कर व्यक्त की गई है। फिर भी—क्योंकि इस विचारधारा के प्रवर्तक व अनुयायियों की पकड़ मूल पर दृढ़ थी, दृष्टि उसी पर केन्द्रित थी, अतएव व्यावहारिक प्रतीति को सुलझाना उनका प्रमुख उद्देश्य न था।

अद्वैत-सम्प्रदाय के ही जिन अनुयायियों का अभियान बाहर से भीतर की ओर था, अर्थात् व्यावहारिक प्रतीति के अनुरोध से मूलभूत तत्त्व का व्याख्यान करना जिनकी पद्धति थी, अथवा युक्ति का उपयोग बौद्धिक व व्यावहारिक असामञ्जस्य को दूर करने में ही जिन्हें अभीष्ट था,—उन विद्वानों को चिन्मात्र ब्रह्म में अविद्या की आश्रयता किसी भी युक्ति से नहीं जँची। अतः उन्होंने अविद्या के ही समान स्थिति वाले जीव को ही अविद्या का आश्रय माना, और ब्रह्म को उस अविद्या का विषय, क्योंकि व्यावहारिक अनुभव इसी के अनुकूल या इसी का अन्वयी है। और 'व्यवहार' का रहस्य समझने की चेष्टा ही 'व्यवहारातीत' की ओर ले जाने वाली है।

अविद्या के आश्रय-विषय के सम्बन्ध में द्वितीय विचारधारा—

अविद्या का आश्रय जीव है और विषय ब्रह्म। क्योंकि 'मैं नहीं जानता' 'ब्रह्म नहीं है' 'ब्रह्म जाना नहीं जाता' ऐसा व्यवहार (कथन या प्रतीति) जीवों में ही होता है, अतः इसका कारण-भूत अज्ञान भी जीवों में ही मानना उचित है। कार्य व कारण सदा एक ही अधिकरण वाले होते हैं। जीव अज्ञ है यह एक तथ्य है जो श्रुति से प्रमाणित है[1] और 'मैं अज्ञानी हूँ' इत्यादि प्रतीति से सिद्ध भी। यदि ईश्वर को अज्ञानाश्रय कहें तो उसे अर्थतः भ्रान्त, अज्ञानी कहना हो जायेगा, तो जीव से उसका अन्तर क्या रहेगा। और विशुद्ध ब्रह्म को तो अविद्याश्रय कहना व मानना सर्वथा असङ्गत है क्योंकि अविद्या को तमोरूपा और ब्रह्म को निरतिशय प्रकाशरूप मानना सिद्धान्तित है। मध्याह्न सूर्य को अमावस्या का आश्रय कैसे कहा जा सकता है। और युक्ति कभी उष्णता व शीतलता का विरोध नहीं मिटा सकती।

मण्डन मिश्र ने सर्वप्रथम ब्रह्मसिद्धि के ब्रह्मकाण्ड में यह प्रश्न उठाया है कि अविद्या किसकी है? उत्तर दिया—जीवों की। शङ्का हुई कि जीव तो ब्रह्म से भिन्न नहीं। उत्तर मिला कि ठीक है जीव परमार्थतः भिन्न नहीं पर कल्पना द्वारा तो भिन्न ही है, अथवा भिन्न रूप से ही कल्पित तो है। पुनः प्रश्न उठा कि किसकी कल्पना भेदिका है? अर्थात् भेद का कल्पक कौन है? अर्थात् कल्पना का आश्रय कौन है? ब्रह्म तो विद्यात्मक है, कल्पनाशून्य है और जीव तो कल्पना से पहले है ही नहीं! तब भी उत्तर दिया गया कि जीव ही कल्पक है अर्थात् कल्पनाश्रय है। अब स्वाभाविक आपत्ति उठी कि जीव स्वयं कल्पनाधीन है, कल्पना जीवाश्रया है यह कहने में तो परस्पराश्रय दोष है।[2]

---

१. ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ······श्वे० १।९।

२. यत्तु कस्याविद्येति, जीवानामिति ब्रूमः। ननु न जीवा ब्रह्मणो भिद्यन्ते, एवं ह्याह—'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य' इति। सत्यं परमार्थतः, कल्पनया तु भिद्यन्ते। कस्य पुनः कल्पना भेदिका? न तावद् ब्रह्मणः, तस्य विद्यात्मनः कल्पनाशून्यत्वात्,

यह परस्पराश्रय दोष ही प्रथम धारा की युक्तियों का सबसे बड़ा बल रहा है, अतः द्वितीय धारा के विद्वानों ने इसके परिहार के लिए विविध युक्तियाँ दी हैं। मण्डन मिश्र ने कहा है कि परस्पराश्रय किसी 'वस्तु' की सिद्धि में दोषरूप होता है, अविद्या तो न वस्तु है न अवस्तु, उसमें अनुपपत्ति कुछ भी नहीं। जिसका स्वरूप, अर्थ व कार्य उपपन्न न हो उसे ही तो माया कहते हैं।[1]

वाचस्पति मिश्र ने भामती में कहा है कि जीव-विभाग अविद्याश्रित है और अविद्या जीवाश्रित। इनमें बीज-अङ्कुर के समान स्थिति है अतः अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। अविद्या का उपधान परमात्मा में साक्षात् होना सम्भव नहीं है, इसलिए परमात्मा को अविद्याश्रय नहीं माना जा सकता, विद्यास्वभाव परमात्मा का उपधान जीव के माध्यम से होता है, जो उसके प्रतिविम्ब जैसा है। संसार भी आदिमान् नहीं, जीवविभाग भी आदिमान् नहीं, और वैसी ही अविद्या है, अतः इनमें अन्योन्याश्रय दोष नहीं लगता।[2]

शारीरक भाष्य में अविद्या के प्रति 'ईश्वराश्रया' विशेषण दिया है उसकी व्याख्या में भामतीकार ने कहा है कि अविद्या जीव में ही स्थित रहती हुई (जीव को अधिकरण बनाती हुई) निमित्त रूप से या विषय रूप से ईश्वर का आश्रयण करती है (ईश्वर से संयुक्त होती है) इसीलिए ईश्वराश्रया कहलाती है, इसलिये नहीं कि ईश्वर उसका आधार है।[3] इसकी व्याख्या में वेदान्तकल्पतरु में 'निमित्त रूप से' का अर्थ किया है 'प्रेरक रूप से', अविद्या का विषय होने के नाते ही ईश्वर अविद्या का प्रेरक है, जैसे गन्ध घ्राण का प्रेरक

नापि जीवानाम्, कल्पनायाः प्राक् तदभावात्, इतरेतराश्रयप्रसङ्गात्,—कल्पनाधीनां हि जीवविभागः, जीवाश्रया कल्पनेति। ब्र० सि० पृ० १०।

१. वस्तुसिद्धावेष दोषः—नासिद्धं वस्तु वस्त्वन्तरनिष्पत्तयेऽलम्, न मायामा[illegible], नहि मायायां काचिदनुपपत्तिः, अनुपपद्यमानार्थैव हि माया, [illegible]पपद्यमानार्थत्वे यथार्थभावान्न माया स्यात्। वही, पृ० १०।

२. ····अनादित्वाद् बीजाङ्कुरवदुभयसिद्धेः। भा० १।४।३, पृ० ३७८।
अविद्योपधानं च यद्यपि विद्यास्वभावे परमात्मनि न साक्षादस्ति, तथापि तत्प्रतिविम्बकल्पजीवद्वारेण परस्मिन्नुच्यते। न चैवमन्योन्याश्रयो जीवविभागाश्रया अविद्या, अविद्याश्रयश्च जीवविभाग 'इति, बीजाङ्कुरवदनादित्वात्। अतएव कानुद्दिश्य एष ईश्वरो मायामारचयत्यनर्थिकाम्? उद्देश्यानां सर्गादौ जीवानामभावात्; कथं चात्मानं संसारिणं विविधवेदनाभाजं कुर्यादित्यनुयोगो निरवकाशः। न खलु आदिमान् संसारः, नाप्यादिमानविद्याजीवविभागः येनानुयुज्येतेति।····
भा० १।४।२२, पृ० ४२१।

३. न ह्यचेतनं चेतनानधिष्ठितं कार्याय पर्याप्तमिति स्वकार्यं कर्तुं परमेश्वरं निमित्ततया वोपादानतया वाऽऽश्रयते, प्रपञ्चविभ्रमस्य हि ईश्वराधिष्ठानत्वमहिविभ्रमस्येव रज्ज्वधिष्ठानत्वं तेन यथाऽहिविभ्रमो रज्जूपादानः एवं प्रपञ्चविभ्रम ईश्वरोपादानः, तस्माज्जीवाधिकरणाऽप्यविद्या निमित्ततया वेश्वरमाश्रयत इतीश्वराश्रयेत्युच्यते न त्वाधारतया, विद्यास्वभावे ब्रह्मणि तदनुपपत्तेरिति। वही १।४।३, पृ० ३७८।

होता है।[१] इसी प्रसङ्ग में आगे कहा है कि विम्ब-मुख दर्पणादि उपाधि का विषय ही है आश्रय नहीं, ऐसे ही परमात्मा अविद्या का विषय है, आश्रय नहीं।[२]

जगत्-सृष्टि के विषय में 'सोऽकामयत' 'स्वयमकुरुत' आदि श्रुतियों द्वारा कथित कामना व कृतित्व जीव की ही अविद्या के कार्य हो सकते हैं। ब्रह्म में किसी प्रकार की विक्रिया सम्भव नहीं।[3]

ब्रह्म अविद्या का विषय है, इसलिये जीव ब्रह्मविषयक बोध से रहित है, ब्रह्म तो बोध-स्वरूप है, वह किसी भी प्रकार से अज्ञानाश्रय (अज्ञानी) नहीं हो सकता।[४]

जीव को ही अविद्याश्रय मानने पर वन्धमोक्ष-व्यवस्था सुगम रीति से उपपन्न होती है, 'जिस-जिस ने जाना वही ब्रह्म हो गया'[५] श्रुति भी तभी उपपन्न होती है।

जीव यदि अज्ञान का आश्रय है तो उसे ही फिर प्रपञ्च का कर्ता अधिष्ठान व उपादान भी मानना पड़ेगा, सो उचित नहीं क्योंकि सूत्रकार ने जगत् का आयतन ब्रह्म को ही कहा है,[६] वैसा ही आचार्य शङ्कर ने सिद्ध भी किया है, और अविभु, अल्पशक्ति, परिच्छिन्न चैतन्य में उस निखिल विश्व का कर्ता व अधिष्ठान होना उचित भी नहीं जान पड़ता, जिस (विश्व) में वह एक कोटिकांश भी नहीं है। इस आपत्ति का उत्तर वाचस्पति ने प्रत्येक जीव का प्रपञ्च भी पृथक् मानकर दिया है। भामती की 'विकास' नाम्नी नवीन टीका में उक्त आपत्ति का अधिक उपयुक्त समाधान यह कहकर किया गया है कि अज्ञान का विषय होना ही ब्रह्म में जगत् की अधिष्ठानता व उपादानता है, उसके लिए आश्रय होना नियत अपेक्षित नहीं। क्योंकि

---

१. निमित्ततयेति प्रेरकतया, अविद्याविषयत्वेन च तत्प्रेरकत्वं गन्धस्येव घ्राणं प्रति।
वे० क०, पृ० ३७८।

२. मुखमात्रस्य तूपाधियोगः परिच्छिन्नत्वाद् अविरुद्धः। अपि च दर्पणाद्युपाधेर्विषय एव मुखं नाश्रयः। न तु निर्विशेषब्रह्मस्वरूपस्याविद्यासम्बन्धसम्भवः, इत्यनादिन्यौ जीवाविद्ये परस्पराधीनतया अविद्यातत्सम्बन्धवदुपेये इति।
वे० क०, पृ० ३७८–७९।

३. ये त्वाहुः—ब्रह्मणो जीवभ्रमगोचरस्याधिष्ठानतयोपादानत्वे सोऽकामयत स्वयमकुरुतेति च न स्यात्, प्रतिजीवं च भ्रमासाधारण्याद् जगत्साधारण्यानुभवविरोधः, भ्रमजस्य चाकाशादेरज्ञातसत्त्वायोगः तस्मादीश्वरस्य प्रतिविम्बधारिणी साधारणी माया। तद्व्यष्टयश्च जीवोपाधयोऽविद्या मन्तव्याः इति—तान् प्रति ब्रूमः। अकामयताकुरुतेति च कामकृती जीवाविद्याविवर्तः। न च ब्रह्मविक्रियाः, विवर्तश्च विवर्ते हेतुः सर्प इव विसर्पणस्य।
वही, पृ० ३७९।

४. यत एव ब्रह्माविद्याविषयोऽत एव ब्रह्मविषयबोधराहित्यं जीवानामाहेत्यर्थः।
वही, पृ० ३८०।

५. तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत तत्तदेवाभवत्। बृह उ० १।४।१०॥

६. द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्। ब्र० सू० १।३।१॥

अज्ञानाश्रय को ही विवर्त का उपादान मानें तो भ्रमस्थल पर शुक्ति से अवच्छिन्न चैतन्य-विषयक अज्ञान के आश्रय जीव को ही अध्यस्त रजत का उपादान मानना होगा।[1]

ब्रह्म को अविद्याश्रय न मानने पर 'महेश्वर मायी (मायावी) है' इस श्रुति का विरोध वाचस्पति के सिद्धान्त के अनुसार करते हुए 'विकास' में कहा गया है कि जैसे वृत्ति-नियामक सम्बन्ध से धनाश्रयता न रहने पर भी 'चैत्र धनी है' कहा जाता है वैसे ही वृत्ति नियामक सम्बन्ध से माया ब्रह्म में आश्रित नहीं है, तब भी विषयता सम्बन्ध लेकर मायित्व की उपपत्ति हो सकती है।[2]

मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में वाचस्पति-सम्मत अज्ञान के जीवाश्रयत्व का समर्थन करते समय, इसके सबसे बड़े परिपन्थी परस्पराश्रय का वारण उसे विकल्पजाल में डालकर बड़ी निपुणता से किया है—कि वह अन्योन्याश्रय उत्पत्ति में है या ज्ञप्ति में या स्थिति में? प्रथम नहीं हो सकता क्योंकि जीव व अविद्या दोनों अनादि हैं, अतः जीव की उत्पत्ति अविद्या के अधीन नहीं। द्वितीय भी नहीं, क्योंकि अज्ञान तो चित् द्वारा भास्य है पर स्वयं-प्रकाश चित् तो अज्ञान द्वारा भास्य नहीं है। तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि वह स्थिति सम्बन्धी अन्योन्याश्रय क्या परस्पर आश्रित होने से प्राप्त होगा या परस्पर-सापेक्ष स्थिति वाला होने से। ये दोनों ही यहां (अविद्या-जीव प्रसङ्ग में) असिद्ध हैं। क्योंकि अज्ञान तो चिदाश्रित एवं चित् के अधीन ही स्थिति वाला है, पर चित् न अज्ञानाश्रित है, न तदधीनस्थिति वाला।[3]

फिर सिद्ध किया है कि जीवाश्रिता ही-अविद्या जीव तथा ईश्वर दोनों की कल्पिका है। इससे इन दोनों की कल्पना की अनुपपत्ति एवं तत्प्रयुक्त आत्माश्रयादि दोषों का वारण करके कहा है कि अविद्या को जीवाश्रिता मानना भी ठीक ही है।[4]

---

१. अज्ञानस्य विषयत्वमेव हि उपादानत्वाधिष्ठानत्वयोर्नियामकं न तु तदाश्रयत्वमपि; तथासति शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्याज्ञानवतो जीवस्य रजतोपादानताद्यापत्तेः। अस्ति च ब्रह्मणो विद्याविषयत्वमतस्तस्यैव विवर्तोपादानत्वमधिष्ठानत्वं चेति। वि०, पृ० ३-४।

२. नचैवमपि मायाऽविद्ययोरैक्यात् मायिनन्तु महेश्वरमिति श्रुतिविरोधः वृत्तिनियामकेन सम्बन्धेन धनाश्रयत्वाभावेऽपि धनी चैत्र इतिवत् वृत्तिनियामकेन सम्बन्धेन ब्रह्मणि मायाया आश्रयत्वाभावेऽपि विषयतासम्बन्धेन तदुपपत्तेः। वि०, पृ० ४।

३. किमयमन्योन्याश्रय उत्पत्तौ, ज्ञप्तौ, स्थितौ वा। नाद्यः अनादित्वादुभयोः। न द्वितीयः, अज्ञानस्य चिद्भास्यत्वेऽपि चितेः स्वप्रकाशत्वेन तदभास्यत्वात्। न तृतीयः, स किं परस्पराश्रितत्वेन वा, परस्परसापेक्षस्थितिकत्वेन वा स्यात्। तन्न, उभयस्याप्यसिद्धेः, अज्ञानस्य चिदाश्रयत्वे चिदधीनस्थितिकत्वेऽपि चिति अविद्याश्रितत्वे तदधीनस्थितिकत्वयोरभावात्।....तदुक्तम्—
'स्वेनैव कल्पिते देशे व्योम्नि यद्वद् घटादिकम्।
तथा जीवाश्रयाविद्यां मन्यन्ते ज्ञानकोविदाः।' अ० सि०, पृ० ५८५।

४. नचेश्वरजीवयोरीश्वरजीवकल्पितत्वे आत्माश्रयः जीवेशकल्पितत्वे चान्योन्याश्रयः, न च शुद्धा चित् कल्पिका, तस्या अज्ञानाभावात् इति वाच्यम्, जीवाश्रिताया अविद्याया एव जीवेशकल्पकत्वेनैतद्विकल्पानवकाशात्। तस्माज्जीवाश्रयत्वेऽप्यदोषः। वही, पृ० ५८५।

व्यावहारिकी दृष्टि के अनुकूल यह द्वितीय धारा ही है, क्योंकि जीवों में अज्ञता रहना एक तथ्य है जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकना, और अविद्या एक दोष है जिसका विशुद्ध-ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म में रहना अर्थात् ब्रह्म को इस दोष का आश्रय मानना उचित नहीं प्रतीत होता। भले ही अविद्या मिथ्या वस्तु है और इसके दोष गुण का प्रभाव ब्रह्म पर नहीं पड़ता अतः ब्रह्म की शुद्धता में अविद्याश्रयता से व्याघात नहीं आता, और जीव स्वयं अविद्या का ही कार्य-सा है अतः इसे ही अविद्या का आश्रय मानने में परस्पराश्रय दोष आता है, तव भी, ज्ञानस्वरूप को ही अज्ञान का अधिष्ठान (फलतः अज्ञानी) मानने के विरोध की अपेक्षा यह परस्पराश्रय लघुतर दोष है। और दोष ही स्वरूप है जिसका, अनुपपत्ति ही कल्पिका है जिसकी, ऐसी अविद्या तथा उसके कार्य के रूप-निर्धारण में जितने भी दोष आयें वे अविद्या के अविद्यात्व को ही दृढ़ करते हैं 'निरवद्य' को ही 'अविद्याधिकरण' कहना व मानना अवश्य दोष-रूप प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त यह भी कहना अनुचित नहीं प्रतीत होता कि समस्त 'विचार' तो व्यवहार को ही लेकर है, व्यावहारिक दशा में है, शुद्ध ब्रह्म तो तत्त्व का सर्वथा पारमार्थिक रूप है, वहां विचार व व्यवहार का अवकाश ही नहीं है, इसलिये कल्पित भी अविद्याश्रयता वहां क्यों मानी जाय। जीव ही अज्ञ या अल्पज्ञ हैं, जो स्वयं तथा जगत् के मूल तत्त्व को जब तक नहीं जानते हैं; तव तक 'जीव' रहते हैं,—यही तो व्यावहारिक तथ्य है। न जानना ही अविद्या है, यह 'न जानना' स्पष्ट रूप से जीव में ही देखा जा रहा है, अतः वही न जानने का आश्रय है, और जो नहीं जाना जा रहा है, वह ब्रह्म ही 'न जानने' का विषय है।

इस द्वितीय धारा द्वारा उद्भावित दोष (ज्ञानस्वरूप के अज्ञानाधिष्ठानत्व में विरोध) का परिहार तात्त्विक दृष्टि से ही व्यवहार पर भी विचार करने वाले आचार्यों के मत में भी इस प्रकार हो जाता है कि अज्ञान का अधिष्ठान ही ब्रह्मरूप से मानें तभी केवल ज्ञान से उस (अज्ञान) का बाध सम्भव है; अविद्या की जीवाश्रयता से तो अविद्या में कुछ सत्यताभास आता है, अतः निदिध्यासन पर बल देना पड़ता है। अज्ञान की अधिष्ठानता से ब्रह्म के ज्ञान-स्वरूपत्व को कोई बाधा नहीं—इसे सुरेश्वराचार्य ने 'राधेय-कौन्तेय' के दृष्टान्त से सुतरां स्पष्ट किया है कि स्वयं को राधा-पुत्र समझने के नाते कर्ण सब भूलें करता है, किन्तु उससे उसका कुन्ती-पुत्र होना बाधित नहीं होता। कर्ण द्वारा स्वयं को 'कौन्तेय' न समझना ही उसके राधेय-भाव को दृढ़ करता है। वह 'यथार्थ न जानना' कर्ण में ही है और कर्ण के ही विषय में है। अर्थात् अज्ञान का अनुभव सर्वदा आत्मा को ही होता है, अनात्मा को नहीं और विषय भी वह अपने को ही करता है—'मैं अज्ञ हूँ'। अज्ञात आत्मा ही अविद्या है। इसी स्थिति के प्रतिपादक भाष्य के आधार से वाचस्पति-प्रस्थान ने अज्ञान को जीवाश्रित माना एवं इसी को ले कर अन्य उसे जीव के तात्त्विक स्वरूप आत्मा=ब्रह्म पर ले गये। क्योंकि ब्रह्मज्ञान से मोक्ष की व्यवस्था को संभालने के लिये उसी वस्तु में अज्ञान मानना आवश्यक हुआ जिसके ज्ञान से मोक्ष हो। रज्जु में रज्जु के ज्ञान से सर्प तो हट जायेगा पर रज्जुज्ञान से ब्रह्मज्ञान या मोक्ष तो न होगा। इसीलिये अज्ञान का आश्रय-विषय 'जीव' को मानना रुचिकर न था क्यों कि जीवाश्रित-जीव विषयक ही अज्ञान दूर होने पर भी 'मैं जीव नहीं ब्रह्म हूँ'—ऐसे आकार की वृत्ति होने पर भी 'जीव'-'ब्रह्म' का द्वैताभास बना ही रहेगा।

भाष्यकार ने इस आश्रय-विषय विचार को अधिक नहीं बढ़ाया या सँभाला क्योंकि उनके अभिप्राय से अविद्या का तो निर्वाह-मात्र करना था, वस्तुतः प्रतिपादन तो ब्रह्म का ही करना था। किन्तु वाद में ब्रह्मज्ञान से अविद्या-निवृत्ति को ले कर यह विषय प्रधानता ले बैठा और श्रुति व भाष्य के आधार पर दो धाराओं का सर्जक हुआ।

त्वमेक आद्यः पुरुषोऽद्वितीयस्तुर्यः स्वदृग्हेतुरहेतुरीशः।
प्रतीयसेऽथापि यथाविकारं स्वमायया सर्वगुणप्रसिद्धचै ॥

कालो दैवं कर्म जीवः स्वभावो द्रव्यं क्षेत्रं प्राण आत्मा विकारः।
तत्सङ्घातो बीजरोहप्रवाहस्त्वन्मायैषा तन्निषेधं प्रपद्ये ॥

मृगतृष्णां यथा बाला मन्यन्त उदकाशयम्।
एवं वैकारिकीं मायामयुक्ता वस्तु चक्षते ॥

भगवञ्जीवलोकोऽयं मोहितस्तव मायया। अहं ममेत्यसद्ग्राहो भ्राम्यते कर्मवर्त्मसु ॥
अहं चात्मात्मजागारदारार्थस्वजनादिषु। भ्रमामि स्वप्नकल्पेषु मूढः सत्यधिया विभो ॥
अनित्यानात्मदुःखेषु विपर्ययमतिर्ह्यहम्। द्वन्द्वारामस्तमोविष्टो न जाने त्वात्मनः प्रियम् ॥
यथाऽबुधो जलं हित्वा प्रतिच्छन्नं तदुद्भवैः। अभ्येति मृगतृष्णां वै तद्वत् त्वाहं पराङ्मुखः ॥

ॐ

तृतीय परिच्छेद

अध्यास

१. कल्पना का उदय

तत्त्वमीमांसिनी दृष्टि ने जगत् के आत्यन्तिक मूल में एक अद्वितीय तत्त्व को पाया, जो सत्य-चैतन्य-आनन्द-स्वरूप तथा असङ्ग-निष्क्रिय-निर्गुण है। जगत् की व्यावहारिक स्थिति के अनुरोध से मूलतत्त्व से सर्वथा विपरीत स्वभाव वाली एक वस्तु (अविद्या) की कल्पना करनी पड़ी, जो वह सब कुछ कर सकती है जो संसार में देखा जाता है, जो गुणमयी व जड़ है। किन्तु इस जड़ वस्तु का असङ्ग मूल तत्त्व से सम्बन्ध क्या है? कैसे है? कब से है? सम्बन्ध या सम्पर्क अनिवार्य है, क्योंकि चैतन्य व जड़ का योग हुए विना चेतन अनुभविता और जड़ अनुभाव्य में व्यवहार आदि नहीं हो सकता। और तात्त्विक सम्बन्ध इनमें सम्भव नहीं क्योंकि दूसरी वस्तु तत्त्व नहीं, तथा जो तत्त्व है वह असङ्ग है। इसी समस्या से इन दोनों के मध्य किसी अतात्त्विक ही सम्बन्ध की कल्पना का उन्मेष हुआ। जिनमें यह सम्बन्ध कल्पित हुआ वे दोनों अनादि हैं तथा उनके सम्बन्ध की कल्पना कराने वाला संसार भी अनादि है, अतः वह सम्बन्ध भी अनादि ही है।

वस्तुतः गुण-अगुण का, ज्ञान-अज्ञान का, सत्-सत्ताहीन का, एकमेवाद्वितीय-नानात्व का, नित्य-नश्वर का, निर्द्वन्द्व भूमा आनन्द और द्वन्द्वात्मक अल्प सुख-दुःखादि का, भानु-निशा के समान सम्बन्ध असम्भव ही है। विचार करने से तो वह सम्बन्ध किसी भी प्रकार उपपन्न या सिद्ध हो नहीं सकता। फिर भी विचारक की अपनी मति भी उसका अपलाप नहीं कर पाती, जिस की प्रतीति आसमन्तात् जगत् रूप से हो रही है। इस व्यावहारिक जगत्-प्रतीति की तत्त्वतः असंभाव्यता एवं 'अविचारितसिद्धि' (जब तक विचार न हो तभी तक रहना) या विचारासहिष्णुता ही चित् व जड़ के अध्यास (एक दूसरे में बैठना) की कल्पिका है। असम्भव होने पर भी जो प्रतीत हो, न होते हुए भी जो 'है' की प्रतीति कराये, वह अध्यास है जो वस्तुतः सम्बन्ध नहीं, मिश्रण नहीं, न होते हुए भी 'कुछ' है। जिसका कारण है अविद्या।

ब्रह्म व अविद्या सत्य व अनृत-स्वरूप हैं। यदि इन्हें पृथक्-पृथक् देखा जाय तो सत्य वस्तु तो सर्वदा है, और द्वितीय (अनृत) कभी है ही नहीं, अर्थात् आपाततः दो कह दिये जाने पर भी वस्तुतः एक सत्य व चित् वस्तु की ही सत्ता है। अनृत में 'है' का व्यवहार उस सत् के समाश्रय से ही हो सकता है, उस अनृत के न होने में बाधक होती है जगत् की प्रतीति। अतः तत्त्व की ओर से ही मानना पड़ता है कि जहाँ सत्य से इतर की सम्भावना का उदय है, वहीं एक भूल (भ्रान्ति, अयथार्थज्ञान) का उन्मेष है, तथा एक सद् वस्तु से भिन्न दूसरा

कुछ है नहीं अतः उक्त भूल (अज्ञान) जिस भी वस्तु की प्रतीति का कारण बनेगी, वह वस्तु सत् नहीं हो सकती । यह अनुभव में आता हुआ जगत् नानात्वमय है, अतः उस भूल का ही कार्य है । किन्तु इसमें चलता हुआ प्रत्येक व्यवहार चैतन्य-सापेक्ष है । इससे अन्ततः यही अनुमान होता है कि किसी भी प्रकार चैतन्य (सत्य, ज्ञान) तथा भूल (अनृत, अज्ञान) का सम्मिश्रण—(चाहे वह एक स्वच्छ व एक रञ्जित वस्तु के बहुत समीप रखे होने पर दोनों में परस्पर छाया पड़ने के ही समान हो)—ही इस व्यवहार का प्रयोजक है ।

इस प्रकार तात्त्विक तथा व्यावहारिक स्थितियों के सामञ्जस्य की अनुपपत्ति ही उक्त असम्भव-जैसे सम्मिश्रण की कल्पिका बनी है । इसी असङ्ग चैतन्य तथा जड़ के कल्पित मिश्रण को ही संज्ञा दी गई है "अध्यास" ।[1]

'कल्पित' होने पर भी 'मिश्रण' शब्द का प्रयोग अद्वैत परम्परा को खटकता अवश्य है क्योंकि मिश्रण दो या अनेक वस्तुओं का होता है, और द्वितीय में वस्तुता की गन्ध भी अद्वैत को सह्य नहीं, किन्तु आचार्य शङ्कर के **'सत्यानृते मिथुनीकृत्य'**—ऐसे शब्दप्रयोग में 'मिथुन' द्वारा मिश्रण तो स्पष्ट कहा ही गया है, **'सत्यानृते'** में द्विवचन द्वारा 'अनृत' की अवस्तुता या अभावरूपता को छिपाते हुए पद के अर्थ द्वारा सत्य न होना भी सुस्पष्ट कहा गया । इससे 'अद्वैत' अव्याहत रहते हुए ही 'अध्यास' की सर्वथा यथार्थ व्याख्या सम्पन्न हुई ।

२. अध्यास-शब्दार्थ व प्रारम्भिक रूप

उक्त 'अध्यास' शब्द 'अधि + आस् + घञ्' तथा 'अधि + अस् (ग्रहणे क्षेपे वा) + घञ्'—इन व्युत्पत्तियों से निष्पन्न है । इन दोनों से—एक वस्तु पर उससे पृथक् किसी दूसरी वस्तु का आ बैठना, आरोप होना, तथा एक वस्तु के स्थान पर किसी अन्य वस्तु का मिथ्या (गलत) ग्रहण होना—इतने अर्थ प्राप्त होते हैं । वेदान्त-विचार में इन सभी अर्थों को समेटते हुए अध्यास शब्द का प्रयोग हुआ है, एवं पहले जिस अनिवार्यतः अपेक्षित किन्तु तत्त्वतः असम्भव चैतन्य व जड़ के सम्बन्ध की चर्चा की गई, उस सम्बन्ध को अध्यास शब्द से ही घटित संज्ञा दी गई है—आध्यासिक सम्बन्ध ।

उपनिषदों में ठीक 'अध्यास' नाम से तो नहीं, किन्तु 'अधि' उपसर्ग-सहित 'आस्' की प्रायः समानार्थक स्था, श्रिञ्, वस् आदि धातुओं का प्रयोग अनेक बार मिलता है । उनमें प्रायः

---

१. अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्येतरेतराविवेकेनात्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः । ब्र० शां० भा०, पृ० ३ ।

सभी स्थलों पर अर्थ—ब्रह्म रूप मूलभित्ति (स्थास्नु) पर अखिल जगत् (चरिष्णु) का (आपाततः) स्थित होना है ।[1]

अध्यास की धारणा अद्वैत-वेदान्त सिद्धान्त की अनेकानेक आपात अनुपपत्तियों को सुलझाने वाला उपाय बनी है। इसका प्रमुख दृष्टान्त है भ्रम। जैसे मन्द प्रकाश में कुछ दूर पड़ी हुई रज्जु पर दृष्टि पड़ने पर कदाचित् 'यह साँप है' ऐसी प्रतीति होती है। उसी के फल-स्वरूप देखने वाले व्यक्ति का डरना व दूर भागना भी देखा जाता है। और स्थिति यह है कि वहाँ भय का कोई कारण है ही नहीं, तब भी भय व उसके अनुसार कार्य होते हैं, वहाँ साँप नहीं है किन्तु दिखाई पड़ता है। जहाँ जो नहीं है, वहाँ उसकी प्रतीति होना—यही भ्रम का सार है। और यही अद्वैतवेदान्त को परमतत्त्व व जगत्-प्रतीति की समञ्जस व्याख्या करने के लिए अपेक्षित है। भ्रम के अनेक प्रसङ्ग प्रसिद्ध हैं—पित्तदोष से दूषित चक्षु वाले को शङ्ख पीला दिखना, दूर से चमकती सीपी पर किसी की दृष्टि पड़ने पर उसे वहाँ चाँदी दिखना, ऐसे ही दूर की बालुका में जल दिखना इत्यादि। इन्हें दृष्टान्त बनाकर व इनके पुङ्खानुपङ्ख विश्लेषण द्वारा एक अद्वय ही परमतत्त्व से जगत् का स्वरूप तथा तत्त्वज्ञानमात्र से जगत् के 'न था, न है, न होगा'—हो जाने का रहस्य समझाया गया है।

तात्पर्य यह है कि व्यावहारिक जगत् की उपपत्ति करने का साधन अध्यास है। तत्त्व-निष्ठा की शिथिल स्थितियों के लिये वह उपपत्ति ज्यों-ज्यों बढ़ानी पड़ी त्यों-त्यों अध्यास एवं अविद्या के स्वरूप की चर्चा भी बढ़ती गयी। आचार्य शङ्कर के शारीरकभाष्य का आरम्भ ही अध्यास-विवेचन से हुआ और वहाँ—"इस अध्यास को ही पण्डित 'अविद्या' मानते हैं तथा अध्यास से रहित वस्तु के स्वरूप निश्चय को 'विद्या' कहते हैं। एवं **'अविद्याख्याम्.... अध्यासम्"**—ऐसा कहते हुए अध्यास और अविद्या को पर्यायवत् माना गया है। इन्हें कार्य-कारण जितना पृथक् अस्तित्त्व का मान नहीं दिया गया।

वह अध्यास क्या है ? जिसे प्रमुख अवलम्ब बनाकर परमतत्त्व के अद्वयत्व आदि को सर्वथा अक्षुण्ण रखता हुआ अद्वैत-चिन्तन अनुभूतिगोचर या प्राणिमात्र के अनुभव से सिद्ध नाना-प्रपञ्च के अस्तित्त्व का अनुभवात्मक दृष्टान्ताधार से सर्वथा अपलाप दिखाने में सफल हुआ है, इसका सामान्य विवेचन प्रस्तुत अध्याय का लक्ष्य है।

---

१. यद्भूतेषु वसत्यधि.........। ब्र० वि० ४ ॥
यत्किञ्च द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतः ।
यत्किञ्च दिशश्च चन्द्रमाश्चाधितिष्ठन्ति ।
यत्किञ्च पृथ्वी चाग्निश्चाधिष्ठितः ।....छा० उ० ५।१९।२, ५।२३।२ ॥
यः कारणानि निखिलानि तानि....अधितिष्ठत्येकः । श्वे० १।३ ।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येकः वही, ५।५ ॥

३. अध्यास का स्वरूप व लक्षण

अध्यास-सम्बन्धी चर्चा के दो पहलू हैं—लोकव्यवहार के प्रयोजक रूप से तथा भ्रम-ज्ञान के विश्लेषण रूप से। इनमें से यद्यपि द्वितीय की अपेक्षा प्रथम को है, तब भी द्वितीय की चर्चा का अधिक उपयुक्त स्थान ज्ञान के विभिन्न प्रकारों के विश्लेषण के समय है, इसलिये यहाँ प्रथम के अनुसार ही अध्यास के सामान्य स्वरूप के विषय में आचार्य-परम्परा द्वारा की गई चर्चा को क्रमशः देखेंगे। वास्तव में व्यावहारिक जगत् की उपपत्ति करने का साधन अध्यास है। वह उपपत्ति ज्यों-ज्यों बढ़ानी पड़ी, त्यों-त्यों अविद्या व अध्यास के स्वरूप की चर्चा भी बढ़ती गई।

सर्वप्रथम आचार्य शङ्कर ने शारीरकभाष्य में पूर्वचर्चित समस्या का समाधान 'अध्यास' द्वारा किया है तथा अध्यास के स्वरूप की सुस्पष्ट व्याख्या इसके लक्षण व परिभाषा बनाते हुए की है। तदनुसार 'अन्यस्थान पर, पहले देखी हुई वस्तु का स्मृति जैसा अवभास होना'[1] या 'जहाँ जो नहीं है, वहाँ उसका ज्ञान होना'[2] अध्यास है। जैसे प्रकाश धीमा हो तो उसमें कुछ दूर पड़ी रस्सी को देखकर कोई समझता है कि साँप पड़ा है। इनमें से पहला अध्यास का विशेष लक्षण है दूसरा सामान्य। 'स्मृतिरूप': कहने में एवं (उसे इष्ट लक्षण न मानते हुए) पुनः तत्काल दूसरा लक्षण देने में आचार्य का भाव यह प्रतीत होता है कि स्मृति के लिये तो नियत कारण रूप से पूर्वानुभव अपेक्षित है, और यहाँ अनवस्था से बचने एवं जगत् की प्रातीतिक ही सत्ता सिद्ध करने के लिए बिना पूर्वानुभूति के ही चलना है, अतः यदि नैयायिकादि के आग्रह से भ्रम में स्मृति का सादृश्य दिखे भी तो वह वस्तुतः स्मृति नहीं स्मृतिरूप ही है, एवं तत्त्वतः देखें तो जहाँ जो नहीं वहाँ उसका दिखना ही अध्यास है। ब्रह्म ही एकमात्र वस्तु है यह निश्चित है, किन्तु प्रतीति अनेक वस्तुओं की होती है जो वास्तव में हैं नहीं, अतः इन सभी (नाना) वस्तुओं की प्रतीति होना अध्यास है। इसी का स्वरूप आचार्य ने मिथ्या प्रत्यय रूप कहा है। मिथ्याप्रत्यय का अर्थ मिथ्या=असत्य, अयथार्थ ज्ञान अथवा मिथ्या वस्तु का ज्ञान दोनों सम्भव हैं।

ज्ञानस्वरूप परमतत्त्व में मिथ्याप्रत्यय रूप संसाराध्यास क्यों है ?—का एक ही उत्तर दिया है कि यह नैसर्गिक है।[3] अर्थात् उपपत्ति के बिना ही अनादि काल से प्रतीयमान है।

अविद्या तथा मिथ्याज्ञान (मिथ्या वस्तु और ज्ञान या अयथार्थ ज्ञान) को पृथक् करते (हुए अविद्या को अवस्तु रूप एवं मिथ्याज्ञान को वस्तुरूप मानते हुए) मिथ्याज्ञान को ही संसाराध्यास का कारण मानने का कोई मत है, उसे उद्धृत करते हुए बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक में आचार्य सुरेश्वर ने मित्या अवभास रूप अध्यास का भी मिथ्या होना सिद्ध किया है। उसमें

---

१. स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः। ब्र० शां० भा० पृ० ४।

२. अध्यासो नामातस्मिँस्तद्बुद्धिः। वही, पृ० १६।

३. एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः·········सर्वलोकप्रत्यक्षः। वही, पृ० १८।

दो प्रधान युक्तियां हैं—(१) जो वस्तु (सत्) है, उसका किसी ज्ञान द्वारा दूर होना लोक में नहीं देखा जाता, और अध्यास का हटना तो प्रत्यक्ष व श्रुति दोनों से सिद्ध है। (२) 'मिथ्या' से विशेषित होते हुए 'वस्तु' होना तो उपहासास्पद है। अतः मिथ्या ही मिथ्याज्ञान संसाराध्यास है।[१] 'जो वह नहीं है, उसमें उसका ग्रहण होना' ही अध्यास है, और यही मिथ्याज्ञान का अर्थ है, अतः मिथ्याज्ञान व अध्याम दोनों समानार्थक हैं।[२]

पद्मपादाचार्य ने पञ्चपादिका में अनात्मा व आत्मा के अध्यास के स्वरूप का विशद विश्लेषण किया है। भाष्यकार (शङ्कर) ने व्यवहार-दशा के सभी ज्ञानों के मूल में द्विविध प्रत्यय देखे हैं—'अस्मत्' (स्वयं अपना आप तथा अपने से सम्बद्ध ज्ञान) तथा 'युष्मत्' (अपने से पृथक् अन्य समस्त जगत्), जिन्हें कि अपेक्षाकृत स्पष्ट शब्दों में 'मैं' तथा 'यह' (ऐसा कहे जा सकने योग्य सभी कुछ) कोटियों में रखा जा सकता है। इनमें से 'अस्मत्' प्रत्यय द्वारा समझाये जाने योग्य विषयी का वास्तविक स्वरूप है चिदेकरस (चैतन्य-मात्र), वह 'अनिदं' है ('इदं' कहकर निर्देश्य नहीं)। उसमें–उसी के सामर्थ्य से निर्भासित (प्रकट होने वाला) होने के कारण जो स्वरूपतः है नहीं, (जो स्वयं प्रकट होता है वही सत् है इस मान्यता के अनुसार), ऐसे मनुष्यत्व आदि का अभिमान (मैं मनुष्य हूँ यह प्रतीति)–रूप जो 'युष्पत्'-अर्थ है,—उसके एकीकरण (सम्भेद=सम्मिश्रण) जैसा अवभास होना ही अध्यास है।[३]

भाष्यकार के द्वारा कहे हुए अध्यास लक्षण (जो, जो नहीं है, उसमें, उसका ज्ञान होना) को पद्मपाद ने कुछ विस्तृत करके कहा है कि जो जिस रूप वाला नहीं है, उसमें उस रूप की प्रतीति अध्यास है।[४]

भाष्यकार द्वारा कहे गये 'नैसर्गिक' शब्द का अर्थ पद्मपाद ने किया है—'**चैतन्यसत्ता-मात्रानुबन्धी**' अर्थात् चैतन्य की सत्ता को लेकर ही यह विद्यमान है, वस्तुतः इसकी अपनी

---

१. मिथ्याज्ञानातिरेकेण नान्यदज्ञानमिष्यते।
येषां तान् प्रति चोद्यं स्यान्न त्वज्ञातात्मवादिनाम्॥
नन्वज्ञानमवस्तुत्वात् कथं संसारकारणम्।
मिथ्याज्ञानस्य वस्तुत्वात्तदेवास्त्विह कारणम्॥
....
मिथ्याज्ञानं कथं वस्तु न हि मिथ्येति वस्तु सत्।
मिथ्या तद्वस्तु चेत्युक्तिर्महतामेव शोभते॥ बृ० भा० वा० १।४।४२०-४२५॥

२. अतस्मिंस्तद्ग्रहात्सर्वं मिथ्या स्यात्सविकल्पकम्। बृ० भा० वा० ४।३।४८६॥

३. अस्मत्प्रत्यये यः अनिदमंशः चिदेकरसः, तस्मिन् तद्बलनिर्भासिततया लक्षणतो युष्मदर्थस्य मनुष्याभिमानस्य सम्भेद इव अवभासः स एव अध्यासः।
पं० पा० पृ० २२।

४. अध्यासो नाम अतद्रूपे तद्रूपावभासः। वही, पृ० २३।

सत्ता नहीं है, अतः अध्यास अनादि है।[1] अध्यास के नैसर्गिक होने के कारण ही, जैसे अस्मदर्थ के रहने ('मैं हूँ' इस भाव) में कभी सन्देह नहीं होता, वैसे ही अध्यास का भी व्यवहार दशा (जब तक एक अद्वय ब्रह्म की स्थिति नहीं आती) में अपलाप देखा नहीं जाता।

फिर सत्य व अनृत के सम्मिश्रण (जिसे भाष्यकार ने अध्यास का स्वरूप कहा है) की व्याख्या करते हुए पद्मपाद ने कहा है कि सत्य है 'अनिदं वस्तु' चैतन्य, और अनृत है 'इदं'-पदार्थ। यह अनृत है क्योंकि स्वरूप से और लक्षण से दोनों ही प्रकार से अध्यस्त है। अध्यस्तता से अतिरिक्त उसका कोई स्वरूप है ही नहीं। चैतन्य स्वरूप से सत् है, औपचारिक रूप से 'इदं' में अध्यस्त होता है, उसी से युष्मत् तथा अस्मत् का इतरेतराध्यास-रूप 'मैं' 'यह' 'मेरा यह' इत्यादि लोकव्यवहार होता है।[2]

आगे प्रसङ्गतः देखा जायेगा कि 'मैं' तथा 'यह' यह व्यवहार जड़ व चैतन्य का सम्भिन्न रूप ही है, पृथक्-पृथक् चिन्मात्र तथा जड़मात्र को विषय नहीं करता। क्योंकि न तो केवल चित् किसी भी प्रकार व्यपदेश्य व मन द्वारा ग्राह्य है और न चित् से पृथक् जड़ की कोई सत्ता व ज्ञान संभव है।

वाचस्पति मिश्र ने भामती में भाष्यकार के 'युष्मत् व अस्मत् प्रत्ययों द्वारा ज्ञाप्य विषय व विषयी' इस कथन में से विषय पद को लेकर अध्यास का स्वरूप दिखाया है। कहा है चित्स्वभाव आत्मा विषयी है और जडस्वभाव बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर आदि विषय हैं, ये विषय हैं क्योंकि चिदात्मा को बाँधते हैं। अर्थात् अपने रूप से निरूपणीय कर देते हैं—यही **'अतस्मिंस्तद्बुद्धिः'** का प्रथम प्रसार है।[3]

अध्यासलक्षण की व्याख्या में कहा गया है—अवसन्न या अवमत भास अवभास है। पश्चात्कालीन ज्ञान अथवा वर्तमान से भिन्न दूसरे प्रत्यय द्वारा बाध हो जाना ही इस भास का अवसाद या अवमान है। इसीलिये उसे मिथ्याज्ञान कहा जाता है। मिथ्याप्रत्यय किसी आरोप के विषय (आरोपणीय) के योग के बिना नहीं होता है, इसीलिये 'पूर्वदृष्ट' शब्द से आरोपणीय अनृतवस्तु का उपस्थापन किया। उसका दृष्ट होना भर ही उपयुक्त है, वस्तुसत्ता नहीं, इसीलिये 'दृष्ट' कहा, और वर्तमान-कालीन दर्शन आरोप में उपयोगी नहीं, अतः 'पूर्व' कहा। वह पूर्वदृष्ट स्वरूपतः सत् (व्यावहारिक सत्ता-युक्त) होने पर भी आरोपणीय रूप से अनिर्वाच्य है, अतः अनृत है। आरोप का विषय (जिस पर आरोप किया जाता है) सत्य है—उसे परत्र शब्द से कहा गया। केवल **'परत्र अवभासः'** कहने से निश्चित रूप से अध्यास

---

१. अभाव एवाध्यासस्य युक्तः, तथापि नैसर्गिकः। प्रत्यक्चैतन्यसत्तामात्रानुबन्धी, अयं युष्मदस्मदोः इतरेतराध्यासात्मकः तेन यथा अस्मदर्थस्य सद्भावो न उपालम्भमर्हति, एवमध्यासस्यापि इत्यभिप्रायः। वही, पृ० २३-२४।

२. सत्यमनिदं चैतन्यम्। अनृतं युष्मदर्थः। स्वरूपवतोऽपि अध्यस्तस्वरूपत्वात्। वही, पृ० २६।

३. चित्स्वभाव आत्मा विषयी, जडस्वभावा बुद्धीन्द्रियदेहविषयाः। एते हि चिदात्मानं विषिण्वन्ति अवबध्नन्ति, स्वेन रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्तीति यावत्। भा० पृ० ७।

का रूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस समय दिखती हुई गौ में पहले देखे हुए गोत्व का ज्ञान हुआ करता है, अतः 'स्मृतिरूप' कहा गया। विषय का सन्निहित (समीप या उपस्थित) न होना ही स्मृतिरूपता है।[1]

अध्यास का स्वरूप व प्रक्रिया उदाहरण सहित दिखाते हुए वाचस्पति ने कहा है—नेत्र की वाहर निकलती हुई रश्मि में संयुक्त पित्त द्रव्य में रहने वाले पीलेपन को द्रव्य से पृथक् अनुभव करते हुए उसी (पित्त–) दोष के कारण ढकी हुई श्वेतता वाले शङ्ख को देखते हुए, पीलेपन व शङ्ख के इस असम्वन्ध का ग्रहण न करते हुए, असम्वन्ध का ग्रहण न होना की ही समानता के कारण अग्निशिखा के पीलेपन तथा किसी फल के पीलेपन इत्यादि में वस्तु व पीलेपन के पूर्वदृष्ट सामानाधिकरण्य का पीतत्व व शङ्खत्व में आरोप करके कह दिया जाता है कि शङ्ख पीला है।[2]

ऐसे ही किसी व्यक्ति का चाक्षुष तेज सामने पड़े स्वच्छ दर्पण, जल आदि तक पहुंचकर अपने से अधिक वलवान् सौर्य तेज द्वारा उलटा लौटकर मुख से ही संयुक्त होकर, उसी का ग्रहण करता हुआ, और, दोष के कारण, ग्रहण किये जाते हुए मुख के ग्रीवा पर स्थित होने तथा अभिमुख न होने का ग्रहण न करता हुआ, पहले देखे हुए अभिमुख दर्पण आदि के ही देश तथा अभिमुखता का मुख में आरोप करता है—इसी से प्रतिविम्वविभ्रम होता है।[3]

सर्वज्ञात्म मुनि ने संक्षेपशारीरक में आत्मतत्त्व के शुद्ध-चित्-आनन्द-स्वरूपत्व के निरूपण के पश्चात् 'मैं दुःखी हूं' 'अल्पज्ञ या अज्ञ हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभवों का उक्त स्वरूप से विपरीत होना कहा जाने पर आत्मा के उक्त स्वरूप के साधक प्रमाणों के विरोध का परिहार करते हुए अध्यास का निरूपण किया है। तदनुसार उक्त विपरीतानुभव का विषय अहङ्कार

१. अवसन्नोऽवमतो वा भासोऽवभासः। प्रत्ययान्तरवाधश्चास्यावभासोऽवमानो वा। एतावता मिथ्याज्ञानमिति उक्तं भवति।........मिथ्याप्रत्ययश्चारोपविषयारोपणीयस्य मिथुनमन्तरेण न भवतीति पूर्वदृष्टग्रहणेनानृतमारोपणीयमुपस्थापयति। तस्य च दृष्टत्वमात्रमुपयुज्यते न वस्तुसत्तेति दृष्टग्रहणम्। तथापि वर्तमानं दृष्टं दर्शनं नारोपोपयोगीति पूर्वेत्युक्तम्। तत्र पूर्वदृष्टं स्वरूपेण सदप्यारोपणीयतया अनिर्वाच्यमित्यनृतम्।........अस्ति हि स्वस्तिमत्यां गवि पूर्वदृष्टस्य गोत्वस्य परत्र कालाक्ष्यामवभासः समीचीनः...... । असन्निहितविषयत्वं च स्मृतिरूपत्वम्।
भा०, पृ० १८-२०।

२. वहिर्विनिर्गच्छदत्यच्छनयनरश्मिसंपृक्तपित्तद्रव्यवर्तिनीं पीततां पित्तद्रव्यरहितामनुभवन्, शङ्खं च दोषाच्छादितशुक्लिमानं द्रव्यमानमनुभवन् पीततायाश्च शङ्खासम्वन्धमननुभवन् असम्वन्धाग्रहणसारूप्येण 'पीतं विम्वफलम्'........इत्यादौ पूर्वदृष्टं सामानाधिकरण्यं पीतत्वशङ्खयोरारोप्याह पीतः शङ्ख इति। वही, पृ० २१।

३. एवं विज्ञातृपुरुषाभिमुखेष्वादर्शोदकादिषु स्वच्छेषु चाक्षुषं तेजो लग्नमपि वलीयसा सौर्येण तेजसा प्रतिस्रोतः प्रवर्तितं मुखसंयुक्तं मुखं ग्राहयत्, दोषवशात् तद्देशतामनभिमुखतां च मुखस्याग्राहयत् पूर्वदृष्टाभिमुखादर्शोदकदेशतामाभिमुख्यं च मुखस्यारोपयतीति प्रतिविम्वविभ्रमोऽपि लक्षितो भवति।
वहीं,।

हैं, जो अध्यस्त आत्मा है, वास्तव नहीं। अथवा दुःख से आक्रान्त परिच्छिन्न अहङ्कार आत्मा में अध्यस्त है, वास्तव नहीं है, क्योंकि प्रत्यक् तथा पराक् (अस्मत्-युष्मत्-स्थानीय) परस्पर अध्यस्त होने में समर्थ हैं। अहङ्कार के अनुभव में भी 'यह रजत है' के समान प्रत्यक् व पराक् दोनों अंश प्रस्फुरित होते हैं, पहला विशुद्ध चित् है, दूसरा अविद्या का कार्य अन्तःकरण है। वे दोनों परस्पर विरुद्ध स्वरूप वाले हैं, अध्यास के बिना तपे लोहे के समान एकरूप प्रतीत नहीं हो सकते।[1]

शङ्का उठती है कि यदि आत्मा तथा अनात्मा परस्पर अध्यस्त हैं, तो अनात्मा के समान आत्मा को भी मिथ्या मानना होगा (अध्यस्त होने के नाते) और तब जगत् का कोई सत्य अधिष्ठान न होने से शून्यवाद प्राप्त होगा, अथवा स्थिति की समञ्जस व्याख्या न होगी। इसके उत्तर में पद्मपादाचार्य ने कहा है कि आत्मा का अध्यास तो औपचारिक है, वास्तव में नहीं और अनात्मा का अध्यास वास्तव में है। सर्वज्ञ मुनि ने इसका अन्य रीति से समाधान किया है। तदनुसार 'यह रजत है' ऐसे भ्रम स्थल पर 'यह' का अर्थ तथा 'रजत' का अर्थ दोनों ही सीप में अध्यस्त हैं, क्योंकि रजतभ्रम में दोनों ही स्फुरित होते हैं। जैसे 'इदं' में रजत की प्रतीति होती है, वैसे ही रजत में 'इदं' की भी प्रतीति होती है, इससे इन दोनों में इतरेतराध्यास निर्णीत है। चिति (आत्मा) तथा चेत्य (अनात्मा) का अध्यास भी इसी प्रकार अन्योन्याध्यास ही है।[2]

रामाद्वय ने वेदान्तकौमुदी में, आचार्य शङ्कर द्वारा कहे गये अध्यासलक्षण की ही व्याख्या करते हुए कहा है कि स्मृतिरूपता का अर्थ है असन्निहितविषयता (यहाँ वाचस्पति ने भी भामती में कहा है)। उसका अभिप्राय है आरोप्य का अधिष्ठान में परमार्थतः (वास्तव में) न रहना, न कि आरोप्य का अन्यत्र कहीं होना।[3] इससे आत्मा व अनात्मा के अध्यास पर आने वाली यह आपत्ति दूर होती है कि अनात्मा या जड़ वस्तु (अविद्या) का आश्रय तो आत्मा को ही माना गया है, उसमें असन्निहित होना कैसे संभव होगा।

सम्पूर्ण लक्षण की विवृति करते हुए कहा है कि सकलप्रपञ्चातीत निरवयव परम वस्तु में ('परत्र') अनादिकाल से निरन्तर अनुवर्तमान होने के कारण जो 'स्मृतिरूप' है, एवं पूर्वदृष्ट

---

१. अध्यस्तमल्पवपुरस्य न वास्तवं तत्, प्रत्यक्पराग्द्वयमिदं हि परस्परस्मिन्।
अध्यस्ततां प्रति समर्थनबोधमात्र,-मन्योन्यरूपमिथुनीकरणे निमित्तम्॥
सं० शा० १।२७॥

२. रजतप्रतीतिरिदमि प्रथते ननु यद्वदेवमिदमित्यपि धीः।
रजते तथा सति कथं न भवेदितरेतराध्यसननिर्णयधीः॥
इतरेतराध्यसनमेव ततश्चितिचेत्ययोरपि भवेदुचितम्।
रजतभ्रमादिषु तथाऽवगमान्न हि कल्पना गुरुतरा घटते॥ वही १।३५,३७॥

३. असन्निहितविषयत्वं च स्मृतिरूपत्वम्, तच्च आरोप्यस्याधिष्ठाने परमार्थतोऽसत्त्वम्, न देशान्तरादौ सत्त्वम्। वे० कौ०, पृ० ४८।

के समान अवभासित होता है, ऐसा समस्त अनात्मपदार्थ तथा उसका प्रतिभास ही अध्यास है।[1]

नृसिंहाश्रम ने वेदान्ततत्त्वविवेक में शङ्कराचार्यकृत अध्यास लक्षण का अभिप्राय—स्मृतिरूप होते हुए पूर्वदृष्टजातीय होना—ऐसा बताया है। स्मृति का अर्थ लिया है—जो स्मर्यमाण (जिसका स्मरण किया जा रहा है) है, उसके सदृश होना स्मृतिरूप होना; है। शुक्ति में दिखाई देता हुआ रजत वहीं पर नया हो उत्पन्न होता है, इसलिये वह पूर्वदृष्ट तो नहीं पर प्रतीति में पूर्वदृष्ट के बिल्कुल समान ही होने से 'तज्जातीय' (उसी जाति का) कहा गया है।[2] अन्यथा भी उपपत्ति संभव है; जैसे मृगतृष्णा में—पृथक्-पृथक् जलकण या सरोवर और जल न दिख कर एक जल का ही भान होता है; वहाँ वालुका में अवयव-प्रसिद्धि (यह बालू है, यह इसकी चमक है) की आवश्यकता नहीं, ऐसे ही ब्रह्म में जगत् का भान होने के लिये भी, जगत् की अपने आप में प्रसिद्धि की आवश्यकता नहीं। ब्रह्म का अज्ञातत्व ही जगत्-प्रतीति का एकमात्र प्रयोजक होना संभव है।

लक्षण के 'परत्र' शब्द का अर्थ कहा है—'अयोग्य अधिकरण में'। जिस अधिकरण (आश्रय) में भासित होने पर कोई वस्तु बाधित नहीं होती, वह उसका योग्य अधिकरण है। जहां बाधित हो वह अयोग्य है। जहां बाधित नहीं होती, वही उस वस्तु का अपना सच्चा अधिकरण है, उससे अन्य में (परत्र) अवभासित होना अध्यास है।[3]

गोविन्दानन्द ने रत्नप्रभा में अध्यासलक्षण की व्याख्या में कहा कि जो अवभासित होता है वह अवभास है, जैसे रजत। 'परत्र' पद का अर्थ नृसिंहाश्रम के समान ही 'अयोग्य अधिकरण' कहा है। सीपी में रूपा का अवभास हो तो सीपी रूपा का अयोग्य अधिकरण है, क्योंकि रूपा का योग्य अधिकरण रूपा ही है। **'स्मृतिरूपः'** कहने का अभिप्राय यह है कि स्मरण सच्चे रूपा का ही होता है, उस स्मृत सच्चे रूपा के सदृश ही रूप वाला वह (प्रातिभासिक) रूपा है, जिसका सीप में अवभास हो रहा है, स्मृत वस्तु वहाँ नहीं है, उसके जैसे अन्य ही रूपा का अवभास सीप में होता है। इस सादृश्य को कहने के अभिप्राय से ही 'पूर्वदृष्ट' शब्द कहा है।[4]

---

१. परत्र इत्यधिष्ठानोपादानात् तद्ग्राहकं करणं वक्तव्यम्……परत्र सकलप्रपञ्चातीते निरवद्ये वस्तुनि अनादिकालं प्रत्यहमनुवर्तनात् स्मृतिरूपः पूर्वदृष्टतुल्यावभासः सर्वोऽप्यनात्मतत्प्रतिभासरूपोऽध्यासः। वही, पृ० ४९।

२. स्मृतिरूपत्वे सति पूर्वदृष्टजातीयत्वस्य अध्यासलक्षणत्वात्।…… वे० त० वि०, पृ० १२३।

३. अध्यासमात्रलक्षणं तु परत्रावभासत्वम्। अवभास्यत इत्यवभासः। स्वाधिकरणतायोग्याधिकरणत्वमिति यावत्।……यदधिकरणत्वं हि यस्याबाधितं तत्तद्योग्यं, यथा घटाधिकरणत्वं भूतलस्य। यत्र तु यद्बाध्यते तत्तदयोग्यमेव, योग्यत्वे बाधानुपपत्तेः। वही, पृ० १४१-४२।

४. अवभास्यत इति अवभासो रजताद्यर्थः। तस्यायोग्यमधिकरणं परत्र पदार्थः।

अध्यास अनेक हैं। पहला अध्यास अपने संस्कार द्वारा दूसरे अध्यास के प्रति कारण होता है। इस प्रकार प्रवाह-रूप होने से जगदध्यास अनादि है, और तत्त्वज्ञान से अतिरिक्त किसी वस्तु से यह दूर नहीं होता, इसलिए व्यावहारिक दशापर्यन्त स्थायी होने से यह अध्यास अनन्त भी है।[1]

४. अध्यास-हेतु

अध्यास का स्वरूप जिस दृष्टान्त से समझाया गया, उसमें—अन्यत्र (शुक्ति, रज्जु आदि के स्थान पर) पूर्वदृष्ट (रजत, सर्प आदि) का स्मृतिरूप अवभास (अवमत भास) होने में—कुछ कारण देखे जाते हैं अथवा उन भ्रमज्ञानों का विश्लेषण करने से सामने आते हैं, वे हैं—

(१) इन्द्रियसंयुक्त वस्तु (जैसे सीप) के सामान्य अंश ('यह है') का ग्रहण।

(२) विशेष अंश ('सीप' है) का अग्रहण।

(३) इन्द्रियसंयुक्त वस्तु का किसी पूर्वदृष्ट वस्तु से सादृश्य होना (जैसे सीप व चाँदी में चमकीलेपन का सादृश्य)।

(४) सादृश्य के कारण संस्कार उद्बुद्ध होने पर उस पूर्वदृष्ट की स्मृति।

अथवा—

(१) जहाँ अध्यास है और जिसका अध्यास है, उन दोनों वस्तुओं में सादृश्य होना।

(२) इन्द्रिय में (पित्त, काच, कामल आदि) या अन्तःकरण में (प्रमाद, अवसाद, भय, लोभ आदि) या विषय-ग्रहण-सामग्री में (अधिक दूरी, अन्धकार, अधिक तीव्र प्रकाश आदि) दोष होना।

(३) अधिष्ठान व आरोप्य के अन्तर का ग्रहण न होना।

अधिकरणस्य अयोग्यत्वमारोप्यात्यन्ताभावत्वं तद्वत्त्वं वा। तथा च एकावच्छेदेन स्वसंसृज्यमाने स्वात्यन्ताभाववति अवभास्यत्वमध्यस्तत्वमित्यर्थः।

र० प्र०, पृ० ३२-३३।

१. अनाद्यविद्यात्मकतया कार्याध्यासस्य अनादित्वम्। अध्यासात् संस्कारः ततोऽध्यास इति प्रवाहतो नैसर्गिकत्वम्।"""ज्ञानं विना ध्वंसाभावादानन्त्यम्। तदुक्तं भगवद्गीतासु—'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा'। (१५।३) वही, पृ० ५६।

अथवा, संक्षेप में कहें तो—

(१) अधिष्ठान व आरोप्य में सादृश्य।

(२) ग्रहण-सामग्री में कहीं भी दोष रहना।

इनमें से कोई भी कारण आत्मा में अनात्म (जड़ प्रपञ्च) के अध्यास का या इनमें परस्पर अध्यास का प्रयोजक नहीं, है क्योंकि आत्मा अखण्ड है, उसमें न कोई सामान्य अंश है न विशेष, न उसमें अध्यस्यमान अनात्मा (जड़) पूर्वदृष्ट है (साक्षिचैतन्य के प्रति सर्वदा प्रत्यक्ष होने से,—इसे आगामी प्रकरणों में प्रसङ्गतः देखा जायेगा), न जड़ व चैतन्य में किसी भी प्रकार का सादृश्य है, निरवद्य आत्मा में कोई दोष भी नहीं, तो आत्मा में अध्यास हुआ कैसे ? कब व क्यों ? तथा, जहाँ अध्यास है और जिसका अध्यास है उन दोनों का भेद सिद्ध रहते ही उनमें भ्रान्ति होना या एक में दूसरे का अध्यास होना देखा जाता है, आत्मा तो एकमात्र वस्तु रूप से सिद्ध है उसमें भेद-सापेक्ष भ्रान्ति या अध्यास की सम्भावना ही नहीं। यह आपत्ति अवश्य उठती है।

भाष्यकार (शङ्कराचार्य) ने मिथ्या अज्ञान को अध्यास का निमित्त कहा है।[1] इसी के आधार पर अनुगामी आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से उक्त आपत्ति का निवारण करते हुए वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार अध्यास के कारण या प्रयोजक हेतु का निरूपण किया है। उसे क्रमशः देखना उपयोगी होगा।

आचार्य सुरेश्वर ने बृहदारण्यकभाष्यवार्त्तिक में कहा है कि संसारात्मक अध्यास का कारण अज्ञात आत्मा ही है।[2] पूर्वोक्त आपत्ति के उत्तर में कहा है कि हम (वेदान्ती) सर्वानर्थरूपा मिथ्याबुद्धि (अध्यास) का अन्यनिरपेक्ष हेतु केवल प्रत्यङ्मोह के अधिष्ठान रूप से स्थित चैतन्य के अज्ञान को ही मानते हैं, उक्त कारणों को नहीं। यह अज्ञान मिथ्याज्ञान ही है।[3]

---

१. ····मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य···· ब्र० शां० भा, पृ० ३।

२. आत्मन्यध्यासरूपोऽयं संसारः प्रतिपादितः।
अध्यासश्च विना हेतुं न लोक उपपद्यते॥
....
अज्ञात आत्मा जगतः कारणं न गुणत्रयम्। बृ० भा० वा० १।४।४७८,४८०॥

३. ननु सामान्यविज्ञानविशेषाज्ञानसंश्रयात्।
जातरूप्यस्मृतेर्लोके मिथ्याज्ञानं प्रसिध्यति॥
यत्राध्यासो यदध्यस्तं भेदसिद्धौ तयोर्मृषा।
ज्ञानं जगति संसिद्धं सा चैकात्म्येऽतिदुर्लभा॥
....
न नः परिहृतेनार्थश्चोद्येनानेन कश्चन।
प्रत्यङ्मोहैकहेतुत्वात् सर्वानर्थमृषामतेः॥ बृ० भा० वा० १।४।४१५–१८॥
मिथ्याज्ञानातिरेकेण नान्यदज्ञानमिष्यते।
येषां तान्प्रति चोद्यं स्यान्न त्वज्ञातात्मवादिनाम्॥ वही, ४२०।

पद्मपादाचार्य ने अध्यासभाष्य के व्याख्यान में कहा है कि अध्यास का निमित्त है मिथ्या अज्ञान। यहां मिथ्या शब्द से अनिर्वचनीयता अभिप्रेत है, और अज्ञान का अर्थ है जड़ अविद्या, जो ज्ञान द्वारा बाध्य होने के कारण ज्ञानविरोधी है। यह अनिर्वचनीया अविद्या नैसर्गिक है, इसी से अविद्याजन्य (अतः नैमित्तिक) होने पर भी अध्यास का नैसर्गिक होना उपपन्न है।[1]

सर्वज्ञात्म मुनि ने संक्षेपशारीरक में पूर्वोक्त आपत्ति के अनुकूल शब्दों में प्रत्युत्तर देते हुए कहा है कि अधिष्ठान का अज्ञान ही सर्वत्र अध्यास में कारण होता है, वह अज्ञान आत्मा में अनुभव-सिद्ध है 'मैं अज्ञ हूं' ऐसी प्रतीति होने से। वही अध्यास का निमित्त मानने योग्य है, सादृश्यज्ञान आदि अध्यास के अनिवार्य हेतु नहीं हैं, क्योंकि उनके बिना भी अध्यास होना देखा जाता है, जैसे स्वच्छ स्फटिक में जपा पुष्प की रक्तिमा का कोई सादृश्य नहीं है। अतः अद्वय आत्मा में द्वैतबुद्धि-रूपा भ्रान्ति का हेतु अज्ञान ही है।[2]

प्रकाशात्मा ने पञ्चपादिकाविवरण में मिथ्याज्ञान को अध्यास का उपादान (घटक कारण) तथा इन्द्रियादि-गत दोष को निमित्त कारण कहा है, जो भ्रान्ति के समय उपादान में ही अनुप्रविष्ट हो जाते हैं।[3] इस प्रकार लोक-प्रसिद्ध अध्यास-हेतुओं का वेदान्तसिद्धान्त के

---

१. मिथ्या च तदज्ञानं च मिथ्याज्ञानम्। मिथ्येति अनिर्वचनीयता उच्यते। अज्ञानमिति चाविद्याशक्तिर्ज्ञानपर्युदासेन उच्यते। तन्निमित्तः तदुपादानो (ऽध्यास) इत्यर्थः। पं० पा०, पृ० २६।

२. अध्यस्ततां प्रति समर्थमबोधमात्रम्
अन्योन्यरूपमिथुनीकरणे निमित्तम्।
सादृश्यधीप्रभृति न त्रितयं निमित्तम्
अध्यासभूमिषु जगत्यनुगच्छतीदम्॥
....
भूयःस्ववत्तनुगुणावयवक्रियाणां सामान्यपूगवपुरुक्तमिहाभियुक्तैः।
सादृश्यवस्तु न चिदात्मनि किञ्चिदत्र
जात्यादिभिः सह निरीक्षितमस्ति तादृक्॥
विषयकरणदोषान्न भ्रमः संविदि स्यात्
अपि तु भवति मोहात् केवलादेवमेव।
भगवति परमात्मन्यद्वितीये विचित्रा
द्वयमतिरियमस्तु भ्रान्तिरज्ञानहेतुः॥ सं० शा० १।२७–३०॥

३. ननु कथं मिथ्याज्ञानमध्यासस्योपादानम्? तस्मिन् सति अध्यासस्य उदयात् असति च अनुदयात् इति ब्रूमः। ....ननु क्लृप्तं विषयेन्द्रियादिदोषः कारणमिति। सत्यं, निमित्तं तु तत्। उपादानापेक्षायामज्ञानमनुप्रविशति। सर्वं च कार्यं सोपादानं भावकार्यत्वात्....। ....तस्मात् मिथ्यार्थतज्ज्ञानात्मकं मिथ्याभूतमध्यासमुपादानकारणसापेक्षं प्रति अनाश्रयस्थानतया काचादिनिमित्तकारणेषु भिद्यमानेषु मिथ्याभूतस्यैव सर्वकार्यस्वभावानुकूलस्य सर्वत्र अनुगमात्....मिथ्याज्ञानमेव अध्यासोपादानं न आत्मान्तःकरणकाचादिदोषाः इति सूक्तम्। पं० पा० वि०, पृ० ६४–७३।

अनुकूल मूल आत्मानात्म-अध्यास में भी निरूपण करते हुए प्रकाशात्मा ने पूर्वोक्त आपत्ति का निराकरण अब तक के प्रतिपादनों में से सबसे अधिक समञ्जस रूप से किया है।

इसकी भी जो व्याख्या विद्यारण्य ने विवरणप्रमेयसङ्ग्रह में की है उससे पूर्वोक्त आपत्ति का प्रत्येक अंश और भी स्पष्ट रूप से निराकृत हुआ है। पहले विस्तृत पूर्वपक्ष में आत्मा व अनात्मा में तादात्म्याध्यास न होना कहा गया है। (१) कहीं पर भी उनके तादात्म्य की उपलब्धि न होने से (२) अन्धकार व प्रकाश के समान विरुद्ध स्वभाव होने से (३) युष्मत् व अस्मत् परस्पर विपरीत पृथक्-पृथक् दो प्रत्ययों का विषय होने से। इन्हीं तीन प्रमुख युक्तियों का विस्तार करते हुए आत्मा व अनात्मा में अध्यास नहीं है ऐसा सिद्ध किया है।[1] इसके उत्तर में कहा है कि यदि युक्ति द्वारा सम्यक् सिद्ध न हो सकने के कारण अध्यास नहीं है ऐसा कहा गया है तो इष्ट ही है, क्योंकि युक्ति-सिद्ध न होने से ही इस अध्यास की अनिर्वचनीय सत्ता मानते हैं, वास्तविक नहीं (भाष्यकार ने भी 'अध्यास को मिथ्या ही कहना युक्त है'—कहा है)[2]। यदि कहें कि आत्मा व अनात्मा में अध्यास हो नहीं सकता, सादृश्य आदि अध्यास-सामग्री न होने से, तो ठीक नहीं, क्योंकि सादृश्यप्रतीति अध्यास की नियत सामग्री नहीं, और उपाधि द्वारा भी अध्यास हो सकता है। रक्त स्फटिक की प्रतीति में तादात्म्याध्यास में अविद्या उपाधि है। तथा जैसे—गुण व अवयवों से रहित गन्ध का दूसरे गन्ध से सादृश्य देखा जाता है 'केतकी गन्ध के समान सर्पगन्ध है' इत्यादि, वैसे ही निर्गुण, निरवयव आत्मा का भी पदार्थत्व-साम्य से अनात्मा से सादृश्य सम्भव है। तथा निरुपाधिक भ्रम (शङ्ख के पीला दिखने के स्थल पर) में सादृश्य की अपेक्षा नहीं होती, वहाँ नेत्रदोष सामग्री (कारण) है तो यहाँ (आत्मानात्म-अध्यास स्थल पर) अविद्या सामग्री है।[3]

---

१. आत्मानात्मानौ इतरेतरतादात्म्याध्यासरहितौ, क्वापीतरेतरभावरहितत्वात्, तमःप्रकाशवत्। ....विरुद्धस्वभावत्वात्, युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरत्वात्.... ।

वि० प्र० सं०, पृ० २६–२९।

२. किं युक्तिविरोधादवस्तुत्वमध्यासस्य आपाद्यते, किं वा वस्तुस्वरूपमेवापलप्यते? नाद्यः अनिर्वचनीयवादिनामस्माकमध्यासस्य अवस्तुत्वयुक्तिविरोधयोरिष्टत्वात्। विरुध्यते ह्यात्मानात्माध्यासो युक्तिभिरित्येवानिर्वाच्यत्वमङ्गीक्रियते। वही, पृ० ४०।

३. अपलपाम एवाध्यासम्....तत्सामग्र्यभावात् लोके हि 'इदं रजतम्' 'अयं सर्पः' इत्यादावधिष्ठानाध्यस्यमानयोर्गुणावयवकृतं सादृश्यमध्याससामग्री, न चात्रासावस्ति, आत्मनो निर्गुणत्वान्निरवयवत्वाच्च। न च वाच्यम्—'लोहितः स्फटिकः इत्यत्र असत्येवोक्तसादृश्येऽस्त्यध्यास इति, तत्र सोपाधिकभ्रमत्वेन सादृश्यानपेक्षणात्।.... गुणैरवयवैश्च शून्यस्यापि गन्धस्य केतकीगन्धसदृशः सर्पगन्धः इत्यादौ यथा सौगन्ध्यधर्मेण सादृश्यम्, तथाऽऽत्मनोरपि पदार्थत्वधर्मेण सादृश्यसम्भवात्। चैतन्यैकरसे धर्मः कोऽपि वस्तुतो न सम्भवतीति चेत्, तर्हि मा भून्निरुपाधिकभ्रमं प्रति सादृश्यस्य सामग्रीत्वम्। सादृश्यमन्तरेणैव 'पीतः शङ्खः' इति निरुपाधिकभ्रमदर्शनात्। अथ तत्र रागपित्तोद्रेककाचकामलादि सामग्र्यन्तरमस्ति, अस्त्येव तर्ह्यप्यविद्याख्या सामग्री।

वही, पृ० ४०–४२।

अध्यास का अपलाप ('नहीं है' ऐसा कहना) किसी भी प्रकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह प्रत्यगात्मा की ही सत्ता का अवलम्बन करके चैतन्य व आनन्द के आच्छादक रूप से विद्यमान है, अनादिकाल से है, एवं प्रत्यक्ष अनुभूत भी है, । यदि अध्यास को अस्वीकार किया जाय तो स्वयं अपने आप को भी अस्वोकार करना होगा, क्योंकि 'मैं' प्रतीति अध्यास ही है ।[1] इसे ही और स्पष्ट करते हुए पञ्चदशी में कहा है कि सीपी में स्थित इदन्ता ('यह'-पन) तथा सत्यता ('है' पन) जैसे भ्रम में प्रतीत रजत में दिखाई पड़ती है, वैसे ही कूटस्थ चैतन्य का स्वरूपभूत, आत्मत्व, प्रत्यक्त्व तथा वस्तुत्व देहसम्पृक्त चेतन (जीव) में दिखाई पड़ते हैं, और सीपी का पीछे वाला काला रंग, तथा तिकोना आकार जैसे छिप जाते हैं, वैसे ही कूटस्थ का असङ्गत्व, आनन्दत्व व ज्ञानत्व छिप जाते हैं ।[2]

५. ब्रह्म में अधिष्ठातृत्व का उपपादन

निर्गुण, निरवद्य, निरवयव, ज्ञानस्वरूप, ब्रह्म किसी भ्रमजाल तथा उसके आलम्बन मिथ्यावस्तु का आधार कैसे है ? यह शङ्का जगत् को अध्यास रूप मानने पर अवश्य उठती है ।

सर्वज्ञ मुनि ने संक्षेपशारीरक में 'अधिष्ठान' के तात्पर्य की मीमांसा करते हुए वताया है कि कार्य सहित अज्ञान का विपय वनी हुई (अज्ञानावृत) वस्तु की ही संज्ञा अधिष्ठान है, अध्यास का आधार-मात्र होने से अधिष्ठानता नहीं होती । मिथ्या रजत आदि जिसमें स्थित प्रतीत होते हैं, वह अधिष्ठान का सामान्य अंश ('इदं'-अंश) ही आधार कहा गया है, और कार्यसहित अज्ञान का विपय विशेप अंश (शुक्ति) अधिष्ठान है । इस प्रकार जिस वस्तु के अज्ञान से कोई भ्रम उत्पन्न होता है, वह उस वस्तु का अधिष्ठान है और वह उत्पन्न हुई वस्तु जिसमें स्थित रूप से स्फुरित होती है, वह उसका आधार है ।[3] इस प्रकार अधिष्ठान के दो अंश हैं जिनमें से एक का वाध होता है दूसरा प्रतीति में अनुस्यूत रहता है । (अधिष्ठान ओर आधार का यह भेद दिखाना सर्वज्ञ मुनि की विशेप देन है ।)

---

१. प्रत्यगात्मसत्त्वमात्रमुपजीव्य तदीयचिदानन्दाच्छादकत्वेन व्यवस्थितस्यानादेः प्रत्यक्षस्य अपलापायोगात् । अन्यथा प्रत्यगात्माप्यपलपेत ।
वि० प्र० सं०, पृ० ४२–४३ ।

२. इदमंशश्च सत्यत्वं शुक्तिगं रूप्य ईक्ष्यते
स्वयंत्वं वस्तुता चैव विक्षेपे वीक्ष्यतेऽन्यगम् ।
नीलपृष्ठत्रिकोणत्वं यथा शुक्तौ तिरोहितम्
असङ्गानन्दताद्येवं कूटस्थेऽपि तिरोहितम् ॥ पं० द० ६।३४-३५ ।

३. संसिद्धा सविलासमोहविषये वस्तुन्यधिष्ठानगीः,
नाधारेऽध्यसनस्य वस्तुनि ततो स्थाने महान् संभ्रमः । (शेष अगले पृष्ठ पर)

लोक में सदृश, सावयव तथा वाह्यविषयों में ही दोषवशात् भ्रम होना देखा जाता है, आत्मा तो सादृश्यादि से रहित है, निरवयव और प्रत्यक् (आभ्यन्तर) है, किसी का विषय नहीं, वह कैसे भ्रम का अधिष्ठान हो सकता है। ऐसी शङ्का के समाधान में सर्वज्ञ मुनि ने कहा है कि यद्यपि सादृश्यादि भ्रम के नियत प्रयोजक नहीं, तव भी वे (सादृश्य आदि) गौण रूप से ब्रह्म में माने भी जा सकते हैं। अन्तःकरण में स्थूल देह आदि की अपेक्षा प्रत्यक्त्व, सूक्ष्मत्व, स्वच्छत्व है, वही चेतन में सादृश्य है, आविद्यक अंशांशिभाव भी आत्मा में है, एवं किसी प्रकार की विषयता आत्मा में भी है ऐसा भाष्यकार (शङ्कर) ने भी कहा है।[1] इस प्रकार यद्यपि औपचारिक सादृश्य आदि को लेकर आत्मा में अध्यासाधिष्ठानता की उपपत्ति की जा सकती है, किन्तु वस्तुतः अपरोक्षाध्यास में अपरोक्ष अधिष्ठान-मात्र की अपेक्षा होती है। अधिष्ठान व आरोप्य का एक ही इन्द्रिय से ग्राह्य होना तथा सावयव, सदृश आदि होना अनिवार्य नहीं। अधिष्ठान का प्रत्यक्ष भी इन्द्रिय से, मन से, या स्वतः किसी भी प्रकार हो, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। यहाँ ब्रह्म (आत्मतत्त्व) स्वतः अपरोक्ष है, स्वप्न भ्रम में स्वरूपतः अपरोक्ष अन्तःकरण विशिष्ट आत्मा का ही अधिष्ठान होना सिद्ध भी है, क्योंकि वहाँ मन या चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय हो सकने वाला कोई रूपादि-युक्त अधिष्ठान तो होता नहीं, तव भी विविध रूप व आकार वाला भ्रम देखा ही जाता है। जैसे नेत्र द्वारा देखी गई सीपी में रूपा का भ्रम होता है, वैसे ही मन द्वारा गृहीत आकाश में मानस अपरोक्षता के वल से 'नभ सफेद है' या 'नीला है' आदि चाक्षुष भ्रम देखा जाता है। अतः किसी भी प्रकार से जो वस्तु अपरोक्ष हो सकती हो, वही अधिष्ठान हो सकती है।[2]

दो अंश हुए विना अध्यास का अधिष्ठान होना सम्भव नहीं (क्योंकि सामान्य अंश के ग्रहण और विशेष अंश के अग्रहण से विशेष अंश में अन्य वस्तु का अध्यास होता है)—ऐसी आपत्ति के उत्तर में सर्वज्ञात्मा का कहना है कि एक ही वस्तु में ज्ञान तथा अज्ञान दोनों रह सकते हैं, जैसे कि दूर स्थित दो वृक्षों में स्फुरण तथा अस्फुरण दोनों देखे जाते हैं, क्योंकि वे

केषांचिन्महतामनूनतमसां निर्बन्धमात्राश्रयाद्
अन्योन्याध्यसने निरास्पदमिदं शून्यं जगत्स्यादिति ॥
अधिष्ठानमाधारमात्रं यदि स्यात्, प्रसज्येत सत्यं तदा चोद्यमेतत् ।
न चैतत् सकार्यस्य मोहस्य वस्तु,-न्यधिष्ठानगीर्गोचरे लोकसिद्धा ॥

सं० शा० १।३१-३२ ॥

१. न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात् । ब्र०शां० भा०, पृ० ११ ।

२. सदृशसांशपराग्विपयेपु चेद् भवति दोषवशाज्जगति भ्रमः ।
भवतु तत्सकलं वदितुं वयं तदुपचारवशाद् दृशि शक्नुमः ॥
अपरोक्षरूपविषयभ्रमधीरपरोक्षमास्पदमपेक्ष्य भवेत् ।
मनसः स्वतो नयनतो यदि वा स्वपनभ्रमादिपु तथा प्रथितेः ॥
स्वतोऽपरोक्षा चितिरत्र विभ्रमस्तथापि रूपाकृतिरेव जायते ।
मनोनिमित्तं स्वपने मुहुर्मुहुर्विनाऽपि चक्षुर्विषयं स्वमास्पदम् ॥

सं० शा०, १।३८,४१,४२ ॥

दोनों ही नेत्र द्वारा गृहीत होने पर भी उनसे अभिन्न उनके भेद का ग्रहण उस समय नेत्र ने नहीं किया होता। वह भेद वृक्षों का कोई अंश नहीं है। अतः ब्रह्म में भी एक साथ ज्ञात होने व अज्ञान का विषय होने की उपपत्ति के लिये उसे सावयव मानना आवश्यक नहीं। अतः वह जगद्भ्रम का अधिष्ठान हो ही सकता है। जहाँ (शुक्ति आदि में) ज्ञात रूप (इदं) से अज्ञात रूप (शुक्तित्व) में भेद (सामान्य-विशेषात्मक) रहता भी है, वहाँ भी वह भेद अज्ञान व अध्यास का घटक नहीं है, अर्थात् यद्यपि शुक्ति के विशेष अंश (शुक्तित्व, त्रिकोणत्व, श्यामपृष्ठत्व) जो अज्ञात हैं, अवश्य ही ज्ञात सामान्य (इदन्त्व) अंश से भिन्न हैं, तथापि वह भिन्नता उसकी अज्ञातता में निमित्त नहीं।[1] ब्रह्म निरंश है तथापि सत्यत्व, चित्-त्व, आनन्दत्व आदि स्वरूपभूत अपृथक् होते हुए भी परस्पर पृथक् के समान अवभासित होते ही हैं, जो काल्पनिक अंश भी माने जा सकते हैं, इसका सङ्केत पञ्चपादिका में है।[2]

६. अध्यास के प्रकार

अध्यास शब्द के दो प्रकार के अर्थ लिये गये हैं–भ्रान्त प्रतीति, तथा उस प्रतीति का विषय। इससे अध्यास के दो मुख्य भेद कहे गये हैं–ज्ञानाध्यास और अर्थाध्यास। रामाद्वय ने वेदान्तकौमुदी में इनके पृथक् लक्षण कहे हैं, तदनुसार स्मर्यमाण (स्मरण किये जाते हुए) के सदृश किन्तु उससे पृथक् ही भासमान (प्रतीत होता हुआ) अर्थ अर्थाध्यास है जैसे सीप में दिखता हुआ रजत। अथवा अध्यस्त वस्तु ही अर्थाध्यास है। और स्मृतिसदृश होते हुए अन्य रूप से अवभास ज्ञानाध्यास है[3] जैसे उक्त रजत का ज्ञान जो प्रत्यक्ष जैसा ही प्रतीत होता है। वास्तव में भ्रान्त ज्ञान या मिथ्या विषय का ज्ञान ही ज्ञानाध्यास है। और मिथ्या विषय अर्थाध्यास है। इस प्रकार जगत् अर्थाध्यास है और जगत्-प्रतीति ज्ञानाध्यास।

---

१. ज्ञातेऽपि तावति ततोऽनतिरिक्तरूपेऽप्यज्ञानतः स्फुरणमस्फुरणं च दृष्टम्।
दूरस्थयोर्ननु वनस्पतिवस्तुनोस्तद्-भेदो न दृष्टिविषयोऽवगते च ते नः॥
यत्रापि दैवगतितोऽस्त्यतिरिक्तभावो रूपात्प्रतीतिविषयादितरत्र रूपे।
तत्राप्यबोधघटनां प्रति नाङ्गभावः तस्यातिरिक्तवपुषोऽपुनरुक्तरूपात्॥
शुक्तीदमंशात् पृथगप्रतीता त्रिकोणता स्यान्ननु वस्तुवृत्त्या।
तथापि तत्स्थं न पृथक्त्वमिष्टं तदप्रबुद्धत्वनिमित्तभूतम्॥ वही १।४४-४६॥

२. आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वमिति सन्ति धर्माः, अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात् पृथगिव अवभासन्ते....। पं० पा० पृ० २३।

३. स्मर्यमाणसदृशोऽन्यात्मना भासमानोऽर्थोऽध्यास इति अर्थाध्यासलक्षणं, स्मृतिसदृशोऽन्यात्मना अवभासो ज्ञानाध्यास इत्यर्थविशिष्टज्ञानाध्यासपक्षे।
वे० कौ०, पृ० ४७।

इसके अतिरिक्त धर्म का अध्यास, धर्मी का अध्यास, स्वरूपाध्यास, अन्योन्याध्यास, तादात्म्याध्यास तथा संसर्गाध्यास—ये अध्यासभेद प्राप्त होते हैं। स्फटिक में समीप स्थित पुष्प की रक्तिमा का अध्यास, तथा आत्मा में जगत् सम्बन्धी स्रष्टृत्व, पालकत्व आदि का, साक्षित्व, अन्तर्यामित्व का, तथा परिच्छिन्नता, मूढ़ता इत्यादि का अध्यास प्रथम प्रकार का है। सीपी में 'यह चाँदी है' ऐसा या 'दो चन्द्रमा हैं' ऐसा धर्मी का अध्यास है। पुत्रादि में स्वयं के अभेद की प्रतीति स्वरूपाध्यास है। शुक्तिरजत-स्थल में 'इदं' में रजत की प्रतीति तथा रजत में 'इदं' की प्रतीति उन दोनों में अन्योन्याध्यास के कारण होती है। चिति (आत्मा) तथा चेत्य (अनात्मा) अथवा द्रष्टा व दृश्य में इतरेतराध्यास होकर ही अहमर्थ सिद्ध होता है, तथा प्रमातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व अथवा समस्त जगद्व्यवहार ही चैतन्य व जड़ के अन्योन्याध्यास का फल है। गोविन्दानन्द ने रत्नप्रभा में कहा भी है कि यह अध्यास व जगद्व्यवहार अन्वय-व्यतिरेकी हैं, अर्थात् जड़ व चैतन्य का परस्पर अध्यास रहते ही व्यवहार हो सकता है, यदि व्यवहार है तो उक्त अध्यास भी अवश्य है।[1]

गोविन्दानन्द ने अध्यास के पाँच प्रकार दिखाये हैं—'मैं मनुष्य हूँ' ऐसे अभिमान के विषय को 'लोक' कहते हैं, वह अर्थाध्यास है। लोक-विषयक व्यवहार (अभिमान) ज्ञानाध्यास है। जड़ता व चैतन्य आदि धर्मों के क्रम से अहंकार और आत्मा धर्मी हैं। वे दोनों अत्यन्त भिन्न हैं किन्तु इन दोनों धर्मियों का परस्पर भेदज्ञान न होने से परस्पर तादात्म्य और परस्पर धर्मों के विनिमय से अध्यास करके 'मैं यह' 'मेरा यह' इत्यादि लोकव्यवहार होता है। यह अन्योन्याध्यास है।[2]

सत्ता के एक होने पर भी दो वस्तुओं का परस्पर भेद तादात्म्यपदार्थ है। 'मैं मनुष्य हूँ' इसमें आत्मा तथा मनुष्य में ऐक्यरूप अंश का ही भान होता है, यह तादात्म्याध्यास कहलाता है। 'यह मेरा है' इसमें 'यह' और 'मेरा' में भेदांश रूप संसर्ग का भान होता है, अतः यह संसर्गाध्यास कहलाता है।[3]

गङ्गाधरेन्द्र सरस्वती ने भी स्वाराज्यसिद्धि में अध्यास के उक्त पाँचों भेद—ज्ञानाध्यास, अर्थाध्यास, परस्पराध्यास, तादात्म्याध्यास तथा संसर्गाध्यास कहे हैं, तथा प्रथम दो के स्पष्ट

---

१. यदा अध्यासः, तदा व्यवहारः, तदभावे सुषुप्तौ तदभाव इति उक्तान्वयादिमान्। र० प्र०, पृ० ५१।

२. लोक्यते मनुष्योऽहमित्यभिमन्यते इति लोकोऽर्थाध्यासः। तद्विषयो व्यवहारोऽभिमान इति ज्ञानाध्यासो दर्शितः।····जाड्यचैतन्यादिधर्माणां धर्मिणौ अहङ्कारात्मानौ तयोरत्यन्तभिन्नयोः इतरेतरभेदाग्रहेण अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यतादात्म्यमन्योन्यधर्मांश्च व्यत्यासेन अध्यस्य लोकव्यवहारः। र० प्र०, पृ० २७।

३. 'अहमिदम्' इत्यनेन 'मनुष्योऽहम्' इति तादात्म्याध्यासो दर्शितः। 'ममेदं शरीरम्' इति संसर्गाध्यासः। ननु देहात्मनोस्तादात्म्यमेव संसर्ग इति तयोः को भेद इति चेत्, सत्यम्। सत्तैक्ये सति मिथोऽभेदस्तादात्म्यम्। तत्र 'मनुष्योऽहम्' इति ऐक्यांशभानम्, 'ममेदम्' इति भेदांशरूपसंसर्गभानमिति भेदः। वही, पृ० ३१।

लक्षण निरूपित किये हैं। तदनुसार जिस वस्तु का सम्यग् ग्रहण (अधिगम) नहीं हुआ है, उसमें, जो वह नहीं है उसकी प्रतीति होना ज्ञानाध्यास है, जैसे सीप का ग्रहण न होने पर, उसी में रजतबुद्धि ('यह रजत है' ऐसा ज्ञान) होना। अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में जानी जाती हुई (गृहीत होती हुई) वस्तु अर्थाध्यास है[1]। जैसे सीपी में चाँदी का अत्यन्ताभाव है (सीपी में चाँदी न कभी थी न है न होगी) इसी सीपी के स्थान पर देखी जाती हुई चाँदी अर्थाध्यास है। ऐसे ही ब्रह्म में जगत् न था, न है, न हो सकता है, तब भी गृहीत हो ही रहा है। रजत से इतर व रजतत्व के अत्यन्ताभाव से युक्त सीपी में रजततादात्म्य व रजतत्वसंसर्ग की बुद्धि (यह रजत है ऐसे आकार वाली अविद्यावृत्ति एवं उसका विषय) रजत अंश में तादात्म्याध्यास है और रजतत्व अंश में संसर्गाध्यास है।[2]

—: ० :—

भगवन् जीवलोकोऽयं मोहितस्तव मायया।
अहं ममेत्यसद्ग्राहो भ्राम्यते कर्मवर्त्मसु॥

तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं
स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते
मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति॥

आत्मानमेवात्मतयाऽविजानतां तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम्।
ज्ञानेन भूयोऽपि च तत्प्रलीयते रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा॥

ॐ

---

१. अध्यासोऽनधिगतवस्तुनि ह्यतस्मिन् तद्बुद्धिस्फुटमनुभूयते प्रतीचि।
अज्ञोऽहं गलितबलो नरो दरिद्रो जीवेयुर्मम तनयाः कथं वर्तेति॥

अतस्मिन् तद्भिन्ने व्याप्यवृत्ति, तदत्यन्ताभाववति धर्मिणि तद्बुद्धिः तत्तादात्म्य-संसर्गगोचरा अविद्यावृत्तिः अध्यासः। अध्यसनमध्यासो ज्ञानाध्यासः। अथवा बुध्यते इति बुद्धिः। कर्मणि क्तिन्। सा चासौ बुद्धिश्चेति कर्मधारये तद्भिन्ने तदत्यन्ताभाववति च प्रतीयमानः सोऽर्थोऽध्यस्त इति अध्यासः अर्थाध्यासः।

स्वा० सि० १।४९। पृ० ११४।

२. स्वा० सि०, पृ० ११५।

चतुर्थ परिच्छेद

अविद्या-सन्निहित आत्मा

१. सामान्य चर्चा

परम तत्त्व अपने सर्वथा शुद्ध पारमार्थिक रूप में तो किसी भी प्रकार संज्ञेय नहीं, 'ब्रह्म, तुरीय', 'परमव्योम' इत्यादि जो भी संज्ञायें उसे उपदेशानुकूल बनाने के अभिप्राय से किसी प्रकार दी गई हैं, वस्तुतः वह इनका भी साक्षात् संज्ञेय नहीं, अतएव मौन ही उसका उत्तम व्याख्यान है। उस शुद्ध पारमार्थिक स्वरूप से उतरते ही[1] अर्थात् व्यावहारिक दृष्टि का विषय बनने की दशा में, उसका जो रूप होता है, अथवा उसके जिस रूप को व्यावहारिक दृष्टि अपना विषय बना पाती है, जिसमें किसी का मूल अथवा कारण होने की संभावना का अवकाश है, वह रूप निश्चय ही उसका वस्तुतः स्वाभाविक, या पारमार्थिक नहीं हो सकता, क्योंकि वह सर्वथा असङ्ग है, क्योंकि किसी का भी विषय, आधार, कारण या मूल होने में, किसी से भी बड़ा, व्यापक होने में, किसी भी शक्ति से युक्त होने में—इस 'किसी' के वाच्य किसी अन्य की अनिवार्य अपेक्षा है, फिर उस अन्य से किसी भी प्रकार के सम्बन्ध की भी अपेक्षा है, अर्थात् विचार का विषय या लक्ष्य बनने के लिये भी परम तत्त्व का स्वरूप शुद्ध पारमार्थिक (यथायथ) नहीं रहने पाता, इतरदशा की संभावनामात्र में अविद्या व अध्यास की अपेक्षा है। जैसे कि, किसी से भी किसी भी प्रकार संपृक्त न होते हुए भी, अपनी स्थिति या स्वरूप में कैसा भी परिवर्तन न लाते हुए भी, आकाश जब महाकाश एवं घटाकाश संज्ञाओं से अभिहित होता है तब महा शब्द के प्रयोग की निमित्तरूपा उपाधि-तुलना से उसका सम्पर्क प्रतीत होने के नाते केवल 'आकाश' की अपेक्षा 'महाकाश' उपहित प्रतीत होता है, वैसे ही परमतत्त्व विशुद्ध चैतन्य या ब्रह्म में मिथ्या अविद्या की आश्रयता-विषयता भी मिथ्या ही होते हुए भी 'अविद्याश्रयविषय' रूप में ब्रह्म उपहित तत्त्व बनता है। यह उपहित रूप ही प्रस्तुत प्रकरण का प्रतिपाद्य है।

अविद्या का स्वभाव है अपने आधार को ढकना और उससे विपरीत रूपों की प्रतीति कराना, यह हम देख चुके हैं। अविद्या के इस स्वभाव से प्रभावित जैसा होना ही (वस्तुतः प्रभावित होना सम्भव नहीं) आत्मतत्त्व की ओर से उपहित होना कहलाता है। वैसा होकर

---

१. (अवश्य ही 'उतरना' लौकिक, दृष्टि से ही है। जैसे नाटक में भृत्य का अभिनय करनेवाला राजा वस्तुतः अपना राजत्व न भूलते हुए भी अभिनय की शुद्धि के लिये मञ्च पर भृत्य-भाव धारण करता है। यह भृत्यत्व प्रेक्षक दृष्टि से ही है)।

ही आत्मतत्त्व या ब्रह्म जगत् का स्रष्टा, पालक, संहर्त्ता, सर्वज्ञ, कर्माध्यक्ष, साक्षी, अनुभविता, कर्मकर्ता व फलभोक्ता संसारी इत्यादि हो सकता है, शुद्ध स्वरूप में इन रूपों का अवकाश नहीं। उपहित का अर्थ है उपाधि से युक्त या उपाधि से प्रभावित। उपाधि का सामान्य अर्थ है विवेचक और विभेदक गुण, या अवस्था विशेष, जो एक ही वस्तु के शुद्ध समग्र स्वरूप को किसी न किसी अंश तक छिपाकर उसके एकाङ्ग, खण्डित, अपूर्ण रूप पर द्रष्टा की दृष्टि को केन्द्रित करें। दार्शनिक परिभाषा में उपाधि का अर्थ है जाति से पृथक्, कोई ऐसा धर्म, जो किसी के समीप रहता हुआ अपना रूप समीपस्थ में डाले, या अपने से संसृष्ट (जुड़ी हुई, संसर्ग-युक्त) वस्तु में अपना धर्म आसज्जित करने वाली वस्तु, तथा ऐसा व्यावर्तक जो अपने कार्य (अन्यत्र अपना या विपरीत रूप डालना) के समय नियमित रूप से विद्यमान हो, पर वास्तव में कार्य से जिसका कोई अन्वय (सम्बन्ध) न हो। जैसे स्वच्छ स्फटिक के समीप स्थित जपा पुष्प स्फटिक में लालिमा लाने में उपाधि है। जपा की लालिमा से स्वयं रक्त ही प्रतीत होने वाला स्फटिक उपहित है। ऐसे ही परम तत्त्व के वास्तविक स्वरूप की समग्रता को किसी न किसी परिमाण में ढकते हुए (परिच्छिन्न अविद्या द्वारा अपरिच्छिन्न तत्त्व को पूरा ढकना तो संभव नहीं) अपने गुण-धर्मों का आरोप उसमें करके उसके किसी एक पक्ष को लेकर दिये गये नामों से निर्दिष्ट आत्मतत्त्व का स्वरूप उपहित ही कहने योग्य है।

२. उपनिषद् में परम तत्त्व के अनुपहित व उपहित रूप

सभी कुछ के मूलभूत तत्त्व के रूप में प्राप्त आत्मा के केवल उपनिषदों में प्रतिपादित स्वरूप पर एक सामान्य दृष्टि डालने पर ऐसा समझ में आता है कि वह मूलभूत तत्त्व सर्वदा (विचारिका दृष्टि का अस्तित्व जब तक है, तब तक) तीन विधाओं में विद्यमान है (स्थित है व जाना जा रहा है)—(१) असीम (२) बृहत्सीम (३) अल्पसीम। इनमें से प्रथम के अन्तर्गत परम तत्त्व का पूर्ववर्णित 'ब्रह्म', 'तत्', 'तुरीय' इत्यादि शब्दों द्वारा लक्षित स्वरूप आता है, जिसकी विवेचना की जा चुकी है। द्वितीय के अन्तर्गत उसी तत्त्व का वह रूप आता है जिसमें वह अनुभूयमान सचराचर जगत् (द्रष्टा व दृश्य उभय) का नियामक, शासक, उत्पादक, पालक व संहर्त्ता आदि है। तृतीय के अन्तर्गत उसी तत्त्व का वह रूप है जिसमें वह जगत् का 'चर'-पक्ष है, 'अचर' का उपभोग करने वाला है, स्वाभाविक स्वतन्त्रता से युक्त होने पर भी किसी के प्रति नियम्य, शासनीय भी है।

सीमा शब्द परिच्छेद का वाचक, विशुद्ध व्यापकता का विरोधी है, अतः अविद्या का ही सूचक है, अतः प्रथम विधा अविद्या से असंस्पृष्ट विशुद्ध स्वरूप की द्योतक है, द्वितीय व तृतीय विधा अविद्या-संसृष्ट रूपों की हैं यह कहना न होगा। अतः ये दोनों विधायें तत्त्व के उपहित रूप हैं। तत्त्व का उपहित पक्ष भी उपनिषदों में अधिकतर दो तथा कहीं तीन रूपों में भी वर्णित हुआ है। यथा—

ईशावास्य में—ईश्वर (एक) व भोक्ता (अनेक) ।[१]

कठ में—असंसारी व संसारी[२] ।

प्रश्न में—पर आत्मा व विज्ञानात्मा[३] ।

मुण्डक में—पर, अक्षर, नाना जीव[४] ।

माण्डूक्य में—चतुष्पात् आत्मा, शान्त अद्वय, प्राज्ञ, तैजस, वैश्वानर ।[५]

ऐतरेय में—आत्मा (ईश्वर), पुरुष (जीव) ।[६]

तैत्तिरीय में—परमात्मा, पञ्चकोशात्मक आत्मा ।[७]

छान्दोग्य में—[८]भूत-अमृत, अल्प-भूमा, (७।२४) विकार-सत्य, (६।४।१–८) तत्-त्वम् (६।८, १६) श्याम-शवल (८।१३।१) ।

बृहदारण्यक में—मूर्त्त-अमूर्त्त, मर्त्य-अमृत, स्थित-यत्, सत्-त्यत् पुरुष—प्राज्ञात्मा तथा अन्तर्यामी ।[९]

---

१. ईशावास्यमिदं सर्वं········तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः········। ईश० १ ॥

२. ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति···························। कठ० १।३।१ ॥
तौ च छायातपाविव विलक्षणौ संसारित्वासंसारित्वेन········। कठ० भा०, पृ० ८३ ।

३. एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते । प्रश्न० ४।९

४. यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च········
तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् । मुण्ड० १।१।७ ॥
यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः········
तथाऽक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः········ वही २।१।१ ॥
दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ॥ वही २।१।२ ॥

५. सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म, सोऽयमात्मा चतुष्पात् ।········ मा० उ० २–७ ॥

६. आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् ।········
स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ।········ स ईक्षत इमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति । सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत् ॥ ऐत० १।१।१–३ ॥

७. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।········तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः········
अन्नात् पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः······। तै० उ० २।१।१–२।६।१ ॥

८. तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ छा० उ० ३।१२।६ ॥
सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति । ६।३।२ ॥

९. द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं च······ बृह० उ० २।३।१ ॥
सम्पूर्ण अन्तर्यामी ब्राह्मण । बृह० उ० ३।७ ॥ बृह० उ० ४।३।२१ ॥

श्वेताश्वतर में—ईश्वर-अनीश्वर "द्वा सुपर्णा", ज्ञ-अज्ञ, मायावी-मायाधीन।[1]

इनमें से माण्डूक्य में कही गई अन्तिम तीन विधायें तो वास्तव में हमारी तृतीय विधा (अल्पसीम) की ही विभिन्न दशाओं के रूप हैं। मुण्डक में अवश्य तीनों उपहित रूपों की युगपत् स्थिति विवक्षित है। अन्य सभी में उपहित आत्मा की दो ही विधायें स्वीकृत हैं। छान्दोग्य व वृहदारण्यक् में आत्मा के दो रूप हैं, जिनमें एक चेत्य है दूसरा चेतन, उस चेतन का मूल चैतन्य से अभेद विविध प्रकार से कहा गया है।

३. आत्मा द्वारा उपाधि-स्वीकृति के व्याख्यान में दृष्टिभेद

असङ्ग आत्मतत्त्व का अविद्या या माया रूप उपाधि में सम्पर्क हुआ ही क्यों? इसका पहला उत्तर तो अद्वैत वेदान्त के चरमकोटिक व्याख्यान अजातवाद में परमगुरु गौड़पादाचार्य के प्रतिपादन में है कि वास्तव में सम्पर्क हुआ ही नहीं। जिससे सम्पर्क की कल्पना है वह अविद्या भी तत्त्वतः है नहीं, आत्मतत्त्व जो है, जैसा है, वैसा ही सर्वदा है। उस से विलक्षण जो कुछ भी प्रतीति है वह अध्यास है, प्रतीति का विषय भी अध्यास है, अतः सम्पर्क भी अध्यास ही है। इस प्रकार अनादि, निसर्गसिद्धा (वायु के निर्निमित्त बहने व रुकने के समान) अविद्या या माया की अप्रतर्क्य महिमा में ही उक्त 'अतिप्रश्न' को समाहित मान लिया गया। अथवा सत्-चित्-आनन्द स्वरूप तत्त्व के आनन्द पक्ष के स्फुरणात्मक स्वभाव से **'एकोऽहं बहु स्याम्'** ऐसे ईक्षण या इच्छा (काम) का ही प्रतिफलन यह माया एवं उसके द्वारा अध्यस्त यह निखिल प्रपञ्च है। आनन्द ही ईक्षण का प्रकाशक है एवं तद्-द्वारा उपाधि-ग्रहण का प्रयोजक तथा प्रयोजन भी। आनन्द के स्फुरण का भी प्रयोजन पूछना तो निश्चय ही अतिप्रश्न है।

इस उत्तर को पूरी तरह हृदयङ्गम करने का अधिकार या पात्रता जिन में नहीं, तथा तत्त्व से विलक्षण विश्व-प्रतीति में दिखने वाली सत्यता जिन की बुद्धि में प्रविष्ट है, ऐसे जिज्ञासुओं के प्रति शारीरकभाष्य आदि ग्रन्थों में परमाचार्य शङ्कर द्वारा 'अध्यास'—कल्पना के माध्यम से उत्तर दिया गया कि तत्त्व के स्वरूप से विलक्षण समस्त प्रतीति अध्यास है एवं प्रतीति का विषय भी अध्यास है।

वह आध्यासिक भी सम्पर्क कैसे हुआ अथवा उस सम्पर्क का स्वरूप क्या है? इस पर पूरी आचार्य–परम्परा द्वारा प्रचुर चर्चा हुई है।

---

1. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया…… श्वे० ४।६ ॥
अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत्
तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः। वही ४।९ ॥

इस चर्चा पर प्रथम दृष्टि डालने पर 'नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्' को सार्थक करता हुआ वाद-विवाद का जटिल अरण्य सा सामने आता है। इस मत-वैचित्र्य के अन्तराल में वही तथ्य स्थित है जो एक ही तत्त्व के 'विभिन्न' 'दर्शनों' का प्रयोजक है। वह क्या है? इसका उत्तर उक्त वाक्य के भीतर ही है। 'मुनि' का अर्थ है मननशील और मत का अर्थ है—जो विचार मन द्वारा अङ्गीकृत हो। मन ही एकमात्र माध्यम है विचार का और जब तक मन का अवलम्बन करके सत्य के साक्षात्कार की चेष्टा की जाती है, तब तक अखण्ड सत्य का यथार्थ दर्शन सुदूर-पराहत रहता है, क्योंकि वह 'यन्मनसा न मनुते' है। अतः मन को (एकाग्र, एक=ब्रह्म) करके, उससे परे, उसकी पृष्ठभूमि में जाना होता है जहाँ परमतत्त्व यथायथ स्वरूप में अवस्थित है। वह स्वयंप्रकाश है, अतः उसका ज्ञान होने में किसी की अपेक्षा नहीं। परम सत्य के ज्ञान की यह दशा ही यथार्थ ज्ञान है। वहाँ मतामत का अवकाश नहीं, क्योंकि मन ही नहीं तो मत कैसे हो? किन्तु उस सत्य का प्रकृत चित्र किसी को (जो स्वयं उस दशा में प्राप्त नहीं है) नहीं दिखलाया जा सकता। शब्दों द्वारा उसे कहा नहीं जा सकता, क्योंकि मन की सीमा को लांघकर ही प्राप्त होने वाली स्वयंप्रकाश स्थिति ही परम सत्य को प्रकृत रूप से जानने का आधार है। अवर (उससे नीची स्थिति रूप) आधार में उसके यथायथ सङ्क्रमण या सञ्चार का कोई उपाय नहीं। उस ज्ञान का यथाकथञ्चित् परिचय सामान्य स्थिति के जिज्ञासु को देने के लिए पुनः मन का ही आश्रयण अनिवार्य है। मन-युक्त स्थिति में आकर ही मन-युक्त स्थिति वाले के प्रति विशुद्ध तत्त्व के विषय में कुछ भी कहना बन पड़ता है। तब अकथ्य को शब्दों में उपस्थापित करने में जिज्ञासु के चित्त की प्रकृति, वासना व अनुभव अथवा संस्कार प्रभाव डालते हैं। अर्थात् उस चित्त के अनुकूल रूप में कहना होता है।

इसी तथ्य को शास्त्र में 'अधिकार' नाम दिया गया है, एवं सभी उपदेश अथवा तत्त्व-व्याख्यान श्रोता के अधिकारस्तर की अपेक्षा से हैं। जिज्ञासुओं की चित्त-प्रकृति अथवा तथाकथित अधिकार का स्थूल रूप से उत्तम-मध्यम-अधम ऐसी तीन कोटियों में विभाजन किया गया है। अधिकार कोटि के अनुरूप ही तत्त्व-व्याख्यान का आकार होता है, अथवा समझने वाले की समझ के अनुकूल ही समझाने वाले की शब्दयोजना या व्याख्या-प्रणाली कार्यसाधिका होती है।

तत्त्व-प्रतिपादन में देखे जाने वाले मत-भेदों का प्रयोजक क्या है—इस प्रश्न का यह एक समाधान है जो भारतीय दर्शनों के आध्यात्मिक आधार की दृष्टि से है। इसके अतिरिक्त, दार्शनिक-प्रतिपादन को केवल तत्त्व-चिन्तन के विकास की दृष्टि से देखें तो एक के पश्चात् दूसरे वाद के उदय में, अथवा एक साथ ही अनेक दृष्टियों के चलने में हेतु है उन-उन चिन्तकों के चिन्तन की पृष्ठभूमि अथवा नेत्रदिशा (perspective) का भेद।

इन दोनों ही प्रयोजक-दृष्टियों से कोई विवाद न रखते हुए यह कहना व समझना अनुचित नहीं प्रतीत होता कि अनिर्वचनीय उपाधि द्वारा अवाङ्मनसगोचर परमतत्त्व के प्रभावित होने (उपहित होने) की प्रक्रिया का स्पष्टीकरण व व्याख्यान करने जाने पर चिन्तकों को अगत्या (कोई गति न होने से) लोक में प्रसिद्ध कुछ स्थलों का सादृश्य लेकर ही अभिमत

(प्रतिपाद्य) का निर्वचन या उपलक्षण (=वास्तविक लक्ष्य के समीप की वस्तु दिखा देना या समीप पहुँचा देना जिससे वास्तविकता स्वतः जानी जा सके) देना पड़ा है। अवश्य ही इन दृष्टान्त (देखे जा चुके) स्थलों का चयन चिन्तक की नेत्रदिशा, चिन्तन की पृष्ठभूमि या आधार, चिन्तन के प्रारम्भक विन्दु (starting point) अथवा चिन्तन व व्याख्यान के उद्देश्य के भेद से हुआ है। अथवा एक में कोई त्रुटि, असमञ्जसता देखकर दूसरे ने उसके परिहार अथवा अस्पर्श के लिए दूसरे स्थल को चुन लिया है। कोई न कोई सादृश्य अवश्य ही उसमें निमित्त बना है।

वे दृष्टान्त-स्थल हैं १—शिला में मूर्त्ति या चित्र, २—स्वप्न, ३—गन्धर्वनगर या माया (जादू) ४—छाया ५—प्रतिविम्ब ६—सीमा ७—विशेष्य-विशेषण-भाव।

१. **शिला में मूर्त्ति या चित्र**—शिला में कलाकार कोई मूर्त्ति अथवा चित्र बना दे तो उस के शिलात्व में कोई अन्तर नहीं पड़ता किन्तु देखने वाले को उसी में मनुष्य-पशु-पक्षी, समीपता-दूरी, गति-स्थिरता, यहाँ तक कि मानसिक भावनायें—हर्ष-शोक आदि भी दिखने लगते हैं। चित्र में भित्ति समतल ही रहती है किन्तु रेखा-उपरेखा एवं वर्ण-वैचित्र्य द्वारा गहराई, ऊँचाई इत्यादि भी दिखाई देती हैं। यहाँ पत्थर या भित्ति को तो वस्तुतः कुछ भी हुआ नहीं। वहाँ क्रिया, कारण, कार्य किसी की भी सम्भावना ही नहीं।

२. **स्वप्न**—स्वप्नद्रष्टा व्यक्ति शय्या में स्थिर, शान्त पड़ा रहता है किन्तु कितने ही दूर-समीप स्थान, गति-स्थिति, कितने ही मनुष्य-पशु-पक्षी, जाग्रत् में सम्भव या असम्भव कुछ भी देखता है। एवं जागने पर उन सब दृश्यों को न देख कर आश्चर्य भी नहीं करता, प्रत्युत कहता व समझता है कि वह सब वस्तुतः न था, न है, न होगा।

३. **गन्धर्व नगर, माया (जादू), वन्ध्यापुत्र**—आकाश में ही कल्पना से अथवा नेत्र-दोष से अनेकों दृश्य दिखते हैं। किसी बलवान् संकल्प वाले मायिक द्वारा देखने वालों के अल्पबल चित्त को सम्मोहित कर लिये जाने पर विविध असंभव दृश्य दिखाये जाते हैं। वन्ध्या शब्द का अर्थ भलीभाँति ज्ञात रहने पर भी 'वन्ध्यापुत्र यहाँ आया था उसने आकाश के पुष्पों की माला पहनी थी'—इस वाक्य से कुछ-न-कुछ अर्थबोध होता ही है।

इन सब दृष्टान्तों में देखने वाले व्यक्ति का अपने ही अज्ञान से किसी प्रकार का सम्बन्ध ऐसे दृश्यों के दर्शन एवं तदनुरूप व्यवहार में भी निमित्त बनता है, जो दृश्य वस्तुतः तुच्छ (हेयोपादेय रहित) हैं; अथवा अविद्यमान हैं (ज्ञान का विषय बनने योग्य नहीं) स्वप्न या जादू में तो अपना स्वरूप उतने समय तक ज्ञात नहीं रहता। इसमें कुछ सत्यताभास भी है किन्तु मूर्त्ति या चित्र में तो शिला या भित्ति की वस्तुस्थिति भी ज्ञात रहती है। फिर भी कला के आनन्द के लिये जान बूझ कर उसे भुला कर वहाँ विविध दृश्य सत्य के समान ही रस लेते हुए देखे जाते हैं। यदि वहाँ शिला देखें तो मूर्त्ति या चित्र नहीं दिखते, चित्रादि देखें तो शिला नहीं दिखती।

४. **छाया अथवा आभास**—आकाश में स्थित चन्द्र का पृथ्वी पर स्थित जलाशय व अन्य जलपात्रों में आभास पड़ता है, तो उस आभास रूप चन्द्र में चञ्चलता, जल में लहरियां उठने पर अनेकता एवं उत्पत्तिविनाशशीलता दिखाई देते हैं, तथा जैसा पात्र (आभास का

आधार) हो वैसा ही बड़ा या छोटा स्वच्छ या मलिन आभास होता है। जल के ही उन अंशों में भास्वरता भी आ जाती है। ये आभास वास्तव में चन्द्र तो हैं ही नहीं, प्रत्युत कुछ भी नहीं हैं, क्योंकि वहां तो केवल जल ही जल है। स्फटिक में सन्निहित रक्त कुसुम की छाया पड़ने से स्फटिक में ऐसी लालिमा प्रतीत होती है मानो वह उसका अपना ही वर्ण हो, जब कि उस पुष्प के वर्ण ने या सान्निध्य ने स्फटिक में वस्तुतः कुछ भी अन्तर नहीं ला दिया है। स्फटिक में प्रतीत होने वाली रक्तिमा वास्तव में है ही नहीं।

५. बिम्बप्रतिबिम्ब भाव—हमारे सामने दर्पण हो तो हमारा अपना पूरा शरीर अथवा मुख (जैसा दर्पण का आकार व दूरी हो) उसमें दिखाई पड़ता है। दर्पण में दिखते हुए अपने स्वरूप को हम सचमुच अपना स्वरूप समझते हुए भी उसकी ओर अंगुलि-निर्देश करके कहते हैं 'यह मेरा प्रतिबिम्ब' है और उसे अपने आप से इतना अभिन्न भी समझ लेते हैं कि उसमें दिखती हुई मलिनता को अपना मान लेते हैं। जिससे कि 'दर्पण में मेरा प्रतिबिम्ब है' 'वह पीला या मैला है अतः मैं भी पीला या मैला हूं' ऐसी प्रतीति होती है। यहाँ वास्तव में स्थिति यह है कि हमारी नेत्ररश्मियां सामने पड़े दर्पण के पार न जाकर, उसी से टकराकर विपरीत दिशा में लौटकर हमारे ही शरीर अथवा मुख पर लौट आती हैं एवं उसी का ग्रहण करती हैं। अर्थात् इन्द्रिय-सन्निकर्ष अपने वास्तविक शरीर से ही होता है। किन्तु जिस दर्पण से टकराकर वे नेत्ररश्मियां लौटती हैं उसके गुण-दोषों का ग्रहण कर लाती हैं, और उनसे युक्त रूप से बिम्ब का ग्रहण करती हैं। फलित प्रतीति एक ही जान पड़ती है कि दर्पण में ही मुख का प्रतिबिम्ब है, वह मैला या अधिक साफ या पीला इत्यादि है। वहां प्रतिबिम्ब है ऐसा प्रतीत होता है, और वह यदि मैला-पीला आदि दिखता है तो मुख भी ऐसा ही है यह समझा जाता है। वास्तव में ग्रहण हुआ है मुख का ही, अतः प्रतिबिम्ब में 'है' की प्रतीति भ्रान्त नहीं, किन्तु उसमें आरोप हो जाता है दर्पण के गुण-दोषों का, जिनसे युक्त मुख को समझने में भ्रान्ति है।

कदाचित् किसी विशेष प्रकार के दर्पण में एक ही मुख के अनेक व अनेक प्रकार के (जैसे मध्य में बड़ा, चारों ओर छोटे-छोटे) प्रतिबिम्ब पड़ना भी देखा जाता है।

ये प्रतिबिम्ब आभासों के समान असत्य नहीं हैं, क्योंकि प्रतिनिवृत्त इन्द्रिय द्वारा सत्य बिम्ब का ही ग्रहण होता है। ये प्रतिबिम्ब दर्पण में स्थित हैं तथा इन-इन दोषों से युक्त हैं—इतना ही अंश असत्य होता है। तथा मुख यदि पूर्व दिशा की ओर है तो प्रतिबिम्ब पश्चिम दिशा की ओर होता है। इस प्रतिबिम्ब की अपेक्षा से ही मुख में 'बिम्ब'-भाव आता है।

६. सीमा सम्बन्ध—आकाश किसी भी प्रकार की सीमा से असम्पृक्त, लोक-दृष्टि में सर्वथा अपरिच्छिन्न वस्तु है, तथा संसार भर का आकाश एक ही है। तब भी कमरे का आकाश, कमरे के भीतर रखे घड़ों में पृथक्-पृथक् आकाश मानकर कक्षाकाश, घटाकाश इत्यादि पृथक्-पृथक् व्यवहार (शब्द-प्रयोग व अर्थावगम) होते हैं। घटाकाश का यहां से वहां ले जाया जाना भी समझा जाता है। इस प्रकार एक ही आकाश में महाकाश, मठाकाश, घटाकाश इत्यादि पृथक्-पृथक् संज्ञायें दी जाती हैं। इनमें जिस सीमा को लेकर आकाश को नाम दिया जाता है उस सीमा से उस आकाश को इतना सम्पृक्त मान लिया जाता है कि

सीमा उस आकाश के स्वरूप की घटक मान ली जाती है। बिना घट के घटाकाश का स्वरूप नहीं जाना जाता, भले ही आकाश का स्वरूप ज्ञात है। इस सीमा को लेकर ही मठाकाश को घटाकाश से बड़ा, मुखगुहाकाश को घटाकाश से छोटा इत्यादि माना जाता है। स्थूल सीमा का अपलाप नहीं किया जा सकता।

७. विशेष्य-विशेषण भाव—कोई शब्द जब किसी अन्य शब्द का विशेषण बनता है तो इस शब्द के अर्थ का उस शब्द के अर्थ में सन्निवेश हो जाता है। विशेषित (विशिष्ट) शब्द के अर्थ में से विशेषण के अर्थ को पृथक् नहीं किया जा सकता, जब तक 'विशिष्टता' है तब तक विशेषण व विशेष्य अर्थ सम्पृक्त हैं। दोनों अर्थों में गौण व प्रधानभाव तो अवश्य बना रहता है, एवं विशेषणीभूत अर्थ कुछ हो ही नहीं ऐसा नहीं होता, तब भी विशेष्यमात्र को छोड़कर पृथक् रूप से विशेषण नहीं रह सकता और विशेषण से निरपेक्ष विशेष्यता भी नहीं होती। दोनों ही अर्थों में स्वतंत्र रूप से विशेष्यता-विशेषणता सम्भव नहीं। तथा विशेषण विशेष्य को अविशिष्ट से पृथक् कर देता है यह भी देखा जाता है, जैसे 'ब्राह्मण को लाओ' कहने पर बहुत से मनुष्यों में से ब्राह्मण को ही पृथक् करके ले जाया जाता है।

तुलनात्मक रीति से देखने पर प्रतीत होता है कि प्रथम तीन में प्रतीति के प्रति तुच्छता या मिथ्यात्व की भावना है और छाया या आभास, प्रतिबिम्ब, सीमा तथा विशेषण में क्रमशः अधिकाधिक सत्यत्व-भावना तथा भेद की स्पष्टता निहित है। कल्पित द्वितीय की सत्यता व भेद की गुरुता 'अधिकार'-स्तर को नीचा बनाने में निमित्त है, अथवा विवेचिनी दृष्टि को अधिकाधिक व्यावहारिक (व्यवहार-जगत् के अनुकूल, जहां कि व्याख्या के उद्देश्य-भूत जिज्ञासु या प्रेप्सु स्थित हैं) बनाती है।

इन्हीं दृष्टान्तों को लेकर परम तत्त्व के उपहित पक्ष के व्याख्यान में बृहत्सीम व अल्पसीम विधाओं के विवरण में अथवा ईश्वर व जीव के स्वरूप-निर्धारण में विचार-धारा अजातवाद, आभास-वाद, प्रतिबिम्बवाद तथा अवच्छेदवाद नामों के अन्तर्गत वही हैं, जिनमें प्रथम वाद के आदर्श हैं प्रथम तीन दृष्टान्त, द्वितीय का चतुर्थ दृष्टान्त, तृतीय का पञ्चम दृष्टान्त तथा चतुर्थ के शेष दोनों दृष्टान्त हैं।

४. अजातवाद

योगवासिष्ठ एवं माण्डूक्यकारिका में अद्वैत-तत्त्व की अद्वयता की ही सदा-सर्वदा सत्ता प्रतिपादित हुई है। विशेष रूप से माण्डूक्यकारिका में उत्तम अधिकारी जिज्ञासु के लिए उपयुक्त दृष्टि से जीव-जगत्-नानात्व की आपात-प्रतीति को तुच्छ या प्रातिभासिकी बताते हुए

तथ्य का यही प्रतिपादन किया गया है कि जीव-ईश्वर-विभाग है ही नहीं, आकाश के समान आत्मतत्त्व में विभाजन कभी हुआ ही नहीं, होना असङ्गत है।[1]

आकाश का दृष्टान्त अवच्छेदवाद में भी लिया गया है किन्तु इस में अजातवाद की विशेष दृष्टि यह है कि धूम या धूलि आदि भी वस्तुतः आकाश में कोई अन्तर नहीं लाते क्योंकि उन में भी आकाश तो यथापूर्व ही है। आकाश में कभी किसी भी प्रकार कोई विकार या अतिशय नहीं आ सकता।

अजाति ही उत्तम सत्य है। 'जीव' उत्पन्न होता ही नहीं, उस के जन्म की सम्भावना ही नहीं है।[2] जीव उत्पन्न ही नहीं हुआ तो उसके एक या अनेक होने का, कर्म-फल-व्यवस्था का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु अनेक कर्ता-भोक्ताओं की प्रतीति का अपलाप कैसे हो? उत्तर मिलता है कि जैसे स्वप्न में, इन्द्रजाल में या मन्त्रादि द्वारा जीव उत्पन्न होते एवं मरते दिखाई देते हैं वैसे ही ये सब जीव भी हैं, और नहीं भी हैं; या उत्पन्न होते, कार्य करते और मरते हुए भी वास्तव में नहीं हैं। क्योंकि इन्हें जन्म देने वाली माया स्वयं अविद्यमान है।[3]

आत्मा और जीव का अनन्य रूप से अभेद ही प्रशस्त है, नानात्व निन्दित है अतः अभेद ही उचित है।[4] तो फिर जीवादिपदों के अर्थ का उद्भव ही क्यों हुआ? उत्तर यही है कि वह देव अपनी ही माया से सम्मोहित होकर स्वरूप के अनिश्चय से जीवादि विपरीत कल्पना करता है।[5] सभी वाद आत्मतत्त्व में सर्वदा कल्पित हैं। आत्मा

---

१. नाकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा।
नैवात्मनः सदा जीवो विकारावयवौ तथा॥ मां० का० ३।७॥
अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः।
अजातो ह्यमृतो भावो मर्त्यतां कथमेष्यति? वही ३।२०॥

२. न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते।
एतत् तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते॥ वही ३।४८; ४।७१॥
धर्मा य इति जायन्ते जायन्ते ते न तत्त्वतः।
जन्म मायोपमं तेषां सा च माया न विद्यते॥ वही, ४।५८॥

३. यथा स्वप्नमयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च॥
यथा मायामयो जीवो·······॥
यथा निर्मितको जीवो·······॥ वही ४।६८-७०॥

४. जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते।
नानात्वं निन्द्यते यच्च तदेवं हि समञ्जसम्॥ वही ३।१३॥

५. कल्पयत्यात्मनाऽऽत्मानमात्मा देवः स्वमायया। वही २।१२॥
जीवं कल्पयते पूर्वं ततो भावान् पृथग्विधान्। वही २।१६॥
अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता। वही २।१७॥

ने ही जीवभाव की कल्पना की है। उन कल्पित जीवों में जिस जीव को जो भाव वह दिखा देता है वह उसी में ग्रह वाला होकर उसे प्राप्त करता है।[1]

योगवासिष्ठ में अजातवाद जगत्-पक्ष में अधिक प्रतिपादित हुआ है। अतः जगत्-निरूपण के प्रसङ्ग में ही उसे देखना उचित होगा। जीव-ईश्वर की धारणा का रूप योगवासिष्ठ में माण्डूक्यकारिका से भिन्न है, क्योंकि कल्पित ही सृष्टि में ब्रह्मा द्वारा असंख्य जीवों की उत्पत्ति एवं अहंभावधारण पूर्वक देह-धारण का वर्णन है, तथा अनेक जीवों द्वारा अपनी-अपनी पृथक् सृष्टि-कल्पना भी वर्णित है।[2] निश्चय ही वह ब्रह्मा मन ही है, अतः जगत् ही नहीं जीव भी मनःकल्पित ही हैं।[3]

अजातवाद में वस्तुतः तो जीव-ईश्वर-विभाग का अवकाश ही नहीं, अद्वयतत्त्व ही 'ईशान' नाम से एक वार कहा गया किन्तु जीवों की नियामकता के अभिप्राय से नहीं; प्रतीति के अनुरोध से जीव-पदार्थ की व्याख्या स्वप्नमाया, घटाकाश आदि दृष्टान्तों से कथञ्चित् की गई; वस्तुतः आत्मा से पृथक् जीव भाव की अजाति ही सिद्ध करते हुए ऐसा किया गया है। ऐसी दृष्टि में भी ब्रह्म-ईश्वर-जीव का अन्यवाद-सापेक्ष रूप कहना ही हो तो पञ्चदशी के चित्र-दीप में कहा गया चित्रस्थ वस्त्र का दृष्टान्त[4] अजातवाद के अनुकूल है। वस्त्र में ही बने चित्र में जैसे कोई छवि वस्त्रावृत है कोई अनावृत, अथवा चित्रस्थ कोई व्यक्ति किसी अंश में अधिक

प्राणादिभिरनन्तैश्च भावैरेतैर्विकल्पितः।
मायैषा तस्य देवस्य यया सम्मोहितः स्वयम्॥ वही २।१९॥

१. यं भावं दर्शयेद् यस्य तं भावं स तु पश्यति।
तं चावति स भूत्वासौ तद्ग्रहः समुपैति तम्॥ वही २।२९॥

२. चिद्घनैकघनात्मत्वाज्जीवान्तर्जीवजातयः।
कदलीदलवत् सन्ति कीटा इव धरोदरे॥ यो० वा० ४।१९।२॥
उत्पत्योत्पत्य कालेन भुक्त्वा देहपरम्पराम्।
स्वत एव पदे यान्ति विलयं जीवराशयः॥ वही ४।४३।४४॥

३. सर्वा एताः समायान्ति ब्रह्मणो भूतजातयः॥ वही ३।९४।१९॥
सर्वासां भूतजातीनामेकोऽजः कारणं परम्।
अजस्य कारणं नास्ति तेनासावेकदेहवान्। वही ३।३।९॥
सर्वेषां भूतजातानां संसारव्यवहारिणाम्।
प्रथमोऽसौ प्रतिस्पन्दश्चित्तदेहः स्वतोदयः॥ वही ३।३।१४॥
ब्रह्मा सङ्कल्पपुरुषः पृथ्व्यादिरहिताकृतिः।
केवलं चित्तमात्रात्मा कारणं त्रिजगत्स्थितेः॥ वही ३।३।२०॥
मनोनाम्नो मनुष्यस्य विरिञ्च्याकारधारिणः।
मनोराज्यं जगदिति सत्यरूपमिव स्थितम्॥ वही ३।३।३३॥

४. चित्रार्पितमनुष्याणां वस्त्राभासाः पृथक् पृथक्।
चित्राधारेण वस्त्रेण सदृशा इव कल्पिताः॥ वही पं० द० ६।६॥

वस्त्र पहने है किसी में कम और कुछ अवयव निर्वस्त्र हैं। किन्तु तत्त्वतः तो वहाँ भित्तिरूप वस्त्र सर्वत्र है और अतिरिक्त वस्त्र कहीं भी नहीं हैं, सर्वत्र समान एक ही वस्त्र की वस्त्रता में न कहीं अतिशय आया है न हानि हुई है; वैसे ही एकमात्र अद्वय तत्त्व में ईश्वर-जीव आदि विविध भाव तत्त्वतः नहीं ही हैं।

५. आभासवाद

आचार्य शङ्कर ने 'आभास एव च' सूत्र के भाष्य में कहा है कि जल में सूर्य की प्रतिछवि के समान जीव परमात्मा का आभास है। वह जलगत आभास या छाया न तो सूर्य है, न कोई अन्य वस्तु। जल के धर्म (चंचलता आदि) तथा जलाधार के भेद जैसे प्रतिछवि पर प्रभाव डालते हैं—जल के हिलने पर प्रतिछवि हिलती है, तालाब के जल में पड़ी प्रतिछवि के हिलने पर नदी के जल में पड़ी छवि नहीं हिलती, वैसे ही एक जीव का अपने कर्मफल से सम्बन्ध होने पर दूसरे जीव का भी उसी कर्मफल से सम्बन्ध नहीं होता।

यहाँ अर्थ की स्पष्टता के लिये प्रतिछवि या छाया शब्दों का प्रयोग किया गया। बहुधा आचार्यों ने आभास अर्थ में ही प्रतिबिम्ब शब्द का भी प्रयोग किया है। किन्तु प्रतिछाया या प्रतिबिम्ब में अनुयोगी-प्रतियोगी के द्वैत की ध्वनि, तथा दोनों के अन्तर के किसी निमित्त की ध्वनि रहती है, इसीलिये इस मत की संज्ञा में आभास शब्द ही प्रयुक्त हुआ। आभास का अर्थ है आपाततः भास। अतः यहाँ 'भास' पदार्थ ही प्रधान है एवं अनुयोगी-प्रतियोगी की ध्वनि से दूर है।

यह आभास अविद्याकृत है, अतः आभास पर आश्रित संसरण भी अविद्याकृत ही है।[१] उपनिषद् में **'योऽयं विज्ञानमयः'**[२] वाक्य में जीव का स्वरूप कहा गया है, और बुद्धिमयत्व

---

१. आभास एव चैष जीवः परस्यात्मनो जलसूर्यकादिवत् प्रतिपत्तव्यः। न स एव साक्षात्। नापि वस्त्वन्तरम्। अतश्च यथा नैकस्मिन् जलसूर्यके कम्पमाने जलसूर्यकान्तरं कम्पते, एवं नैकस्मिन् जीवे कर्मफलसम्बन्धिनि जीवान्तरस्य तत्सम्बन्धः। आभासस्य चाविद्याकृतत्वात् तदाश्रयस्य संसारस्याविद्याकृतत्वोपपत्तिरिति, तद्व्युदासेन च पारमार्थिकस्य ब्रह्मात्मभावस्य उपदेशोपपत्तिः।

ब्र० शां० भा० २।३।५०, पृ० ५३२।

२. योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति·······। बृह० उ० ४।३।७।

से तद्गुणसारत्व अभिप्रेत है अर्थात् बुद्धिगत धर्म ही जीवधर्म है।[१] जब तक बुद्धि है तभी तक जीव है, तभी तक संसारित्व है, जैसे जब तक जल है तभी तक जलसूर्यक (जल में सूर्य का आभास) है। जब तक जल में कम्पन है, तभी तक जलसूर्य में भी कम्पन है। इस प्रकार बुद्धि-रूप उपाधि के सम्बन्ध से परिकल्पित स्वरूप से ही जीव-पदार्थ की सत्ता (स्थिति) है, अन्यथा जीव है ही नहीं।[२]

छान्दोग्य-भाष्य में भी जीव का स्वरूप आभास-मात्र कहते हुए आचार्य ने प्रतिबिम्ब और आभास का समान ही अर्थ लिया है। एवं आभास का कारण बुद्धि आदि भूत-मात्राओं (अविद्या-कार्यों) का संसर्ग (=उन में चैतन्याभास) कहा है, फिर उस का भी निमित्त स्वरूप-विवेक का अग्रहण बताया है; इस आभास से ही सुखित्व-दुःखित्वादि अनेकों विकल्पों की प्रतीति होती है।[3]

ब्रह्म माया या अविद्या रूप उपाधि से किये गये परिच्छेद की अपेक्षा से ही 'ईश्वर', सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् है। परमार्थतः तो न ईशितव्य है, न ईश्वर।[४] किन्तु वह (ब्रह्म) माया रूप उपाधि में आभासित होकर 'ईश्वर' बनता है ऐसा नहीं कहा गया।

सुरेश्वराचार्य ने बृहदारण्यकभाष्यवार्त्तिक में सृष्टि में आत्मा के प्रवेश की व्याख्या में आभास का दृष्टान्त दिया है। आभास का अर्थ प्रतिबिम्ब ही लिया है, किन्तु दर्पण में दिखने वाला, प्रत्यावृत्त नेत्ररश्मियों में गृहीत बिम्ब रूप प्रतिबिम्ब यहाँ अभिप्रेत नहीं, जल में सूर्य-चन्द्रादि की छाया को ही प्रतिबिम्ब शब्द से कहा गया है। सुरेश्वर कहते हैं जलपात्र में सूर्यबिम्ब जैसे प्रतिबिम्ब रूप से प्रविष्ट होता है, वैसे ही वस्तुतः अप्रविष्ट स्वभाव वाले तत्त्व का जगत् में प्रवेश उस सूर्यप्रतिबिम्ब के समान ही कल्पित है।[५]

---

१. तत्र विज्ञानमय इति बुद्धिमय इत्येतदुक्तं भवति,....बुद्धिमयत्वं च तद्गुणसारत्वमेवाभिप्रेयते। ब्र० शां० भा० २।३।३०, पृ० ५११।

२. यावदयमात्मा संसारी भवति, तावदस्य बुद्ध्या संयोगो न शाम्यति। यावदेव चायं बुद्ध्युपाधिसम्बन्धस्तावज्जीवस्य जीवत्वं संसारित्वं च। परमार्थतस्तु न जीवो नाम बुद्ध्युपाधिसम्बन्धपरिकल्पितस्वरूपव्यतिरेकेण अस्ति। वही, पृ० ५११।

३. जीवो हि नाम देवताया आभासमात्रम्। बुद्ध्यादिभूतमात्रासंसर्गजनित आदर्श इव प्रविष्टः पुरुषप्रतिबिम्बो जलादिष्विव च सूर्यादीनाम्। अचिन्त्यानन्तशक्तिमत्या देवताया बुद्ध्यादिसम्बन्धश्चैतन्याभासो देवतास्वरूपविवेकाग्रहणनिमित्तः सुखी दुःखी मूढ इत्याद्यनेकविकल्पप्रत्ययहेतुः। छा० उ० भा० ६।३।२।

४. तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमेवेश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं च, न परमार्थतो विद्ययाऽपास्तसर्वोपाधिस्वरूप आत्मनीशित्रीशितव्यादिव्यवहार उपपद्यते। ब्र० शां० भा० २।१।१४, पृ० ३७०।

५. अप्रविष्टस्वभावस्य दिग्देशाद्यनभिप्लुतेः।
प्रवेशो व्याकृते क्लृप्तो जलपात्रार्कबिम्बवत्॥ बृ० भा० वा० १।४।६०८॥

परार्थ, कार्य-कारणरूप पराक् वस्तुओं से व्यावृत्त जो प्रत्यक् तत्त्व है, वही प्रत्येक प्राणयुक्त शरीर में प्रथित (संज्ञासम्पन्न) होता हुआ (जाना जाता हुआ) लोक में आत्मा (जीव अर्थ में) नाम से कहा जाता है। यहाँ (जीव के अर्थ में) आत्मा शब्द आत्माभास में ही गौण रूप से प्रयुक्त है।[१]

कार्य-कारण आकारों में परिणत समस्त भूतों के व्यक्त होने पर उन्हीं की समता से अपनी अभिव्यक्ति कराता हुआ निर्विकार होते हुए भी परतत्त्व अपने आभास—जो वास्तव में अनात्मरूप से ही प्रतिपन्न है—के जन्म द्वारा जीवरूपता को प्राप्त होता है।[२] और भी कहा है--ब्रह्म अपने आभास रूप से ही अज्ञानज (अविद्याकार्य-भूत) भूमियों (अन्तःकरणों) में बहुत्व को प्राप्त हुआ है।[३] तथा परमतत्त्व माया द्वारा सूत्रात्मा से स्थाणु पर्यन्त समस्त जगत् की सृष्टि करके अपने आभास रूप से इसमें प्रविष्ट होकर कर्म व फलभोग करता है।[४]

माया दो प्रकार से परतत्त्व की उपाधि बनती है, स्वयं तथा अपने कार्य बुद्धि (अन्तःकरण) रूप से। इन दो प्रकारों की अपेक्षा से परतत्त्व ईश्वर तथा क्षेत्रज्ञ संज्ञा वाला होता है।[५] इनमें भी आभास या प्रतिबिम्बरूपता क्षेत्रज्ञ की ही है। कारणोपाधि ईश्वर में उपाधि-कार्य बिम्ब होने भर का है। ब्रह्म से इतर (भिन्न) निखिल ईशितव्य है, वही विशेषण होकर ब्रह्म को ईश्वर-पदवाच्य बनाता है। ईशितव्य रहने तक ही ईश्वर रहता है। ईशितव्य का अपनोदन होने पर ईश्वरत्व भी निवृत्त हो जाता है।[६]

---

१. प्रत्यग्भूतः परार्थेभ्यो योऽनन्यानुभवं प्रति।
प्रथते स इहात्मेति जगत्यस्मिन् निगद्यते॥
आत्माभासैकसंसिद्धेस्तदज्ञानसमुद्भवम्।
आत्मैव भण्यते मोहात् तदात्माव्यतिरेकतः॥ वही १।४।२२,२३॥

२. एतेभ्योऽसौ समुत्थाय स्वाभासानात्मजन्मना।
याति क्षेत्रज्ञतामीशः कूटस्थोऽपि ह्यविद्यया॥ वही, १।२।१३७॥
कार्यकारणाकारेण परिणतेभ्यो भूतेभ्यो व्यज्यमानेभ्यः साम्येन व्यक्तिमनुभूय निर्विकारोऽपि परः स्वप्रतिबिम्बस्यानात्मवत् प्रतिपन्नस्य जन्मद्वारा जीवतामेति……।
शा० प्र०, पृ० ३२९॥

३. स्वाभासवर्त्मनैवैतत् स्वात्माज्ञानजभूमिषु।
इतं बहुत्वमेकं सद् वियद् यद्वद् घटादिषु॥ बृ० भा० वा० १।२।१२७॥

४. सूत्रादिस्थाणुपर्यन्तं जगत् सृष्ट्वाऽऽत्ममायया।
स्वाभासैकसहायात्मा तदेव प्राविशद् हरिः॥ वही, १।४।५१४॥

५. बुद्धितत्कारणोपाधी क्षेत्रज्ञेश्वरसंज्ञकौ। वही, १।४।६१४॥

६. स एष ईश्वरः साक्षादिति श्रुत्या प्रदर्शितः।
विशेषणविशेष्यत्वमीशितव्येशयोरिह॥
ईशितव्यापनुत्तौ चेत्तदपेक्षैकसंश्रयात्।
ईशित्वमपि निःशेषं प्रतीचो विनिवर्तते॥ वही १।४।९८१,९८३॥

अर्थात् ईशितव्य की कल्पना रहने तक देखने वाले को ब्रह्म में ईश्वरत्व-दृष्टि रहती है। जब ईशितव्य की कल्पना हटती है तब ईश्वरत्व-कल्पना भी न रहने से 'ब्रह्म जो है वही है।'—वस्तु निवृत्त नहीं होती, नाम ही निवृत्त होता है। (**वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्, मृत्तिकेत्येव सत्यम्**)

'विज्ञानमय' की व्याख्या करते हुए जीव के स्वरूप को कुछ और स्पष्ट कहा है कि आत्मा (ब्रह्म) अपने आभास से युक्त अविद्या के कार्य बुद्धि आदि (अन्तःकरण) की व्याप्ति (बुद्धि द्वारा घिर जाने=उपहित होने) के विभ्रम से, बुद्धि में ही तादात्म्याभिमान (बुद्धि से पृथक् स्वयं को न समझकर बुद्धि को ही अपना आप समझना) वाला होकर, चिदाभास रूप से विज्ञानमय (जीव) कहा जाता है।[1] यह आभास तब तक बना रहता है जब तक बुद्धि रहती है। अतः बुद्धि के तुल्य ही चिदाभास रूप जीव की स्थिति या अस्तित्व है।

एक स्थान पर आचार्य सुरेश्वर ने ठीक बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव को भी जीवेश्वर-विभाग में दृष्टान्त बनाया है। कहा है—बाह्य अर्थ का ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त दृष्टि तेजस्वी दर्पण से प्रतिहत होकर लौट कर अपने मुख का ही ग्रहण करती है, पर इन दोनों (बिम्ब व प्रतिबिम्ब) के विभाग की भ्रान्ति उत्पन्न करती है। ऐसे ही कारणोपाधि आत्मा स्वयं केवल अविद्या व उसके सम्बन्ध से असंसृष्ट होते हुए भी, अविद्याकार्य के धर्मों के अध्यास से उपाधि के गुणों से अविविक्त प्रतिबिम्ब जैसा दिखता है। तभी जीव-संज्ञक होता है।[2] यहां दृष्टान्त का तात्पर्य उपाधि-गुणों के अविवेक में है।

आचार्य शङ्कर तथा सुरेश्वर दोनों ने ही जीव को आत्मा का आभासरूप बताया है, पर ईश्वर के स्वरूप की आभास रूप से चर्चा नहीं की। परतत्त्व के ही अविद्याकार्य में आभास को जीव कहा है और इसे आभास रूप कहने में इसके मिथ्यात्व पर विशेष बल दिया है।[3]

---

१. बुद्ध्यन्तः पर एवात्मा विज्ञानात्मेति भण्यते। वही ३।४।५४॥
विज्ञानमित्यनेनात्र बुद्धिरेवाभिधीयते।
बुद्ध्युपाध्यविविक्तश्च विज्ञानमय उच्यते॥ वही, ४।३।३१०॥
यावांल्ल्युडर्थस्तेनायं तदविद्यैकहेतुतः।
अविशिष्टो मतो यस्मात्तदाभासैकवर्त्मना॥
विज्ञानमय इत्येवं तस्मादात्माऽभिधीयते।
सर्वधीवृत्तिसाक्षित्वात् तादात्म्याच्चाप्यनात्मनः॥ वही ४।३।३१५–१६।

२. दर्पणाभिहता दृष्टिः पर्यावृत्य स्वमाननम्।
व्याप्नुवन्त्यविभागेन भ्रान्तिं नो जनयेद् यथा॥
इहापि कारणोपाधिः केवलोऽप्यविवेकतः।
बुद्ध्यादिकार्यगैर्धर्मैः प्रतिबिम्बवदीक्ष्यते॥ वही १।४।६१८–१९॥

३. परमार्थतस्तु न जीवो नाम बुद्ध्युपाधिसम्बन्धपरिकल्पितस्वरूपव्यतिरेकेण अस्ति।
ब्र० शां० भा० २।३।३०, पृ० ५११।

ईश्वरत्व की निवृत्ति जगत् की निवृत्ति के साथ ही हो जाती है—यह कहने में सुरेश्वर ने भी—जीव-ईश्वर-भाव का मिथ्यात्व स्पष्ट कहा है।

विद्यारण्य ने पञ्चदशी में ईश्वर तथा जीव दोनों का स्वरूप आभासात्मक बताया है **'जीवेशावाभासेन करोति'** इस श्रुति को आधार रखा है।[1] इन दोनों का अन्तर उस उपाधि के अन्तर से कहा है जिसमें आभास पड़ा है। उसके अनुसार शुद्ध-सत्त्वगुणप्रधान प्रकृति (माया) और उसमें पड़े हुए अपने आभास से विशिष्ट चैतन्य ईश्वर है, और अविद्या तथा उसमें पड़े हुए अपने आभास से विशिष्ट चैतन्य जीव है। केवल आभास-मात्र ईश्वर व जीव नहीं है, किन्तु माया का अधिष्ठान-चैतन्य, माया तथा उसमें पड़ा चैतन्य का आभास—ये तीनों मिलकर ईश्वर-पदार्थ हैं। और अविद्या (मलिनसत्त्वगुणप्रधान अज्ञान) का अधिष्ठान चैतन्य, अविद्या तथा उसमें पड़ा चैतन्य का आभास—ये तीनों मिलकर जीव पदार्थ है।[2]

जीवपदार्थ के स्वरूप को और स्पष्ट करते हुए विद्यारण्य ने कहा है—बुद्धि (अविद्या-कार्य) का आधार जो कूटस्थ, असङ्ग, चिद्विग्रह आत्मा है, वह तथा बुद्धि में स्थित उसी का आभास—ये दोनों परस्पर अध्यस्त होकर जीव-पदार्थ हैं। अधिष्ठान से युक्त ही आभास को जीव माना जा सकता है केवल आभास को नहीं; क्योंकि उसे (केवल आभास को) मोक्ष में अधिकारिता नहीं हो सकती।[3] अर्थात् जो वस्तु संसरण कर रही है, वह यदि मुक्त दशा में रहने ही न वाली हो तो मोक्ष किसका होगा? अतः जीव पदार्थ में कुछ स्थायी तत्त्व भी रहना आवश्यक है, और केवल स्थायी तत्त्व भी जीव नहीं कहला सकता क्योंकि उसमें संसरण सम्भव नहीं। सांसारिक या उपाधि में स्थित सभी धर्म चिदाभास में ही होते हैं, अधिष्ठान में नहीं, उसी (चिदाभास) का संसरण होता है। इस प्रकार विद्यारण्य के प्रतिपादन में आभासवाद को नई आकृति मिली है।

---

१. मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः।
कल्पितावेव जीवेशौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम्॥ पं० द० ७।३॥

२. कूटस्थासङ्गमात्मानं जगत्त्वेन करोति सा।
चिदाभासस्वरूपेण जीवेशावपि निर्ममे॥ वही ६।१३३॥
चैतन्यं यदधिष्ठानं लिङ्गदेहश्च यः पुनः।
चिच्छाया लिङ्गदेहस्था तत्सङ्घो जीव उच्यते॥ वही, ४।११॥
मायाधीनश्चिदाभासः श्रुतो मायी महेश्वरः।
अन्तर्यामी च सर्वज्ञो जगद्योनिः स एव हि॥ वही, ६।१५७॥
सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते।
मायाविम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः॥ वही, १।१ ।६।

३. भ्रमाधिष्ठानभूतात्मा कूटस्थासङ्गचिद्वपुः।
अन्योन्याध्यासतोऽसङ्गधीस्थजीवोऽत्र पूरुषः॥
साधिष्ठानो विमोक्षादौ जीवोऽधिक्रियते न तु।
केवलो निरधिष्ठानविभ्रान्तेः क्वाप्यसिद्धितः॥ वही, ७।५, ६॥

इस आभासवाद की विशेषता यही है कि असीम, असङ्ग, निष्क्रिय परतत्त्व का बड़ी या छोटी उपाधि से प्रभावित होना तत्त्वतः कितना मिथ्या है इसी पर ध्यान केन्द्रित है, तथा उक्त मिथ्यात्व का निदर्शन बहुत स्पष्ट है। आचार्य शङ्कर ने तो 'जीव नामक वस्तु वास्तव में कुछ है ही नहीं' ऐसा शब्दशः कह दिया है, सुरेश्वराचार्य ने भी 'लोक में आत्माभास में ही आत्मा शब्द का प्रयोग होता है' 'आत्माभास तत्त्वतः अनात्मा ही है' इत्यादि कहा है। इन दोनों आचार्यों ने जीव का ही आभासरूप होना कहा है, फलतः उसी का मिथ्यात्व भी। विद्यारण्य ने जीव व ईश्वर दोनों का उपाधि-सन्निहित आत्मा होना स्पष्ट किया है, तथा इन दोनों पदार्थों के स्वरूप में नियत तीन-तीन पक्ष रखे हैं, जिनमें एक तत्त्वतः सत्य है और दो मिथ्या। ऐसा करना आवश्यक हुआ—सिद्धान्त की अपने अन्य पक्षों से व्यवस्था बनाये रखने के लिये। अथवा पञ्चदशीकार का निरूपण आभासवाद एवं प्रतिबिम्बवाद के मध्य सेतु बना।

आभासवाद में दृष्टान्त है छाया, वह स्फटिक में सन्निहित पुष्प के वर्ण की हो, या जल में सूर्यादि की, अथवा तट पर स्थित व्यक्ति की। आभास का अर्थ लिया गया है प्रतिच्छाया या प्रतिबिम्ब। दर्पण में पड़नेवाले प्रतिबिम्ब को भी आभासवाद में बिम्ब की छाया रूप ही माना गया है। उक्त सभी दशाओं में प्रतिबिम्ब या छाया की धारणा मिथ्या वस्तु के समकक्ष है, सीप में भ्रम से दिखनेवाली चांदी के समान। उक्त तीनों प्रकार की छायाओं में से स्फटिक में जपा-कुसुम की रक्तिमा का आभास ही वास्तव में आभासवाद का प्रमुख दृष्टान्त होना चाहिये, किन्तु उसका उल्लेख इस प्रसङ्ग में किसी ने भी नहीं किया है। जलसूर्यक का ही दृष्टान्त सर्वत्र दिया गया है, और उसका मिथ्यात्व ही आभासवाद का रुचिकेन्द्र है। उसी के कारण, जलसूर्यक के भी एक प्रकार से प्रतिबिम्ब रूप होने पर भी, इस (आभास-) वाद को प्रतिबिम्बवाद से पृथक् किया गया है।

आभासवाद का रुचिकेन्द्र आभास का मिथ्यात्व ही इस वाद के प्रति अरुचि का भी उद्भावक है। अपने आप की सत्ता का कभी न मिटनेवाला अनुभव ही तो निखिल विश्व के मूलभूत परमतत्त्व की सत्ता का प्रमुख साधक बना है, 'सभी कुछ का अन्तिम सार-रूप जो सत्य है, वह तुम ही हो'[1] 'मैं ही वह हूँ' यह (जीव) आत्मा ब्रह्म ही है'[2] इत्यादि श्रुतिवचन जो अद्वैतसिद्धान्त के आदर्श हैं, किसी मिथ्या वस्तु का परम सत्य वस्तु से अभेद नहीं कह सकते। 'भ्रम में दिखता हुआ रजत शुक्ति से अभिन्न है या शुक्ति ही है' ऐसा अनुभव नहीं होता, न कहा जाता है। अतः आत्माभास आत्मा ही है, जलसूर्यक सूर्य ही है इन कथनों में स्थूलदृष्टि वाले जिज्ञासु की बुद्धि को समाधान नहीं मिलता।

वस्तुतः "ब्रह्मैव संसरति मुच्यते च" यही आभासवाद की मुख्य दृष्टि है, अतः 'जीव' की मुक्ति का पक्ष तो वहाँ इष्ट ही नहीं है।

किन्तु 'ब्रह्म' के संसरण व मुक्ति में कुछ खटकता है। अतः किसी उपाधि द्वारा दोनों का अन्तर रखना अपेक्षित हुआ तो पञ्चदशीकार ने आभासवाद को नया स्वरूप देकर उसे प्रति-बिम्बवाद के समीप किया। मूलतः—घट आदि किसी भी वस्तु के सदृश ही 'अहं' का भी

---

१. स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि। छा० उ० ६।१।४॥

२. अयमात्मा ब्रह्म। मां० उ० २॥

स्फुरण होता है एवं घट के अधिष्ठान के समान ही 'अहं' के अधिष्ठान (ब्रह्म) का भास होता है—यही आभासवाद का हृदय है किन्तु सब कुछ (निखिल सृष्टि) को 'अहं' के लिये ही खड़ा कर के फिर 'अहं' का ही अपलाप सहन न होना ही प्रतिविम्बवाद का बीज बना है। तब उपाधिविशिष्टत्व को मध्य में लाकर जीवस्वरूप निर्धारण किया गया जहाँ जीवभाव की कुछ सत्यता बन सके।

६. प्रतिबिम्बवाद

आभास रूप जीव के मिथ्या होने पर मोक्ष का भागी कौन होगा इसकी अनुपपत्ति होने से, तथा प्राणिमात्र का अपनी-अपनी सत्ता के प्रति दृढ़ विश्वास का जीव को मिथ्या मानने पर अपलाप सम्भावित होने से, आभासवाद में जिन्हें अरुचि उदित हुई उन जिज्ञासुओं के प्रति आचार्यों ने **'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'** श्रुति[1] का अर्थ छायात्मक प्रतिविम्ब न कहकर दर्पण में पड़नेवाला मुख आदि का प्रतिविम्ब मानकर इसी विम्ब-प्रतिविम्ब-भाव के दृष्टान्त से ईश्वर-जीवविभाग की व्याख्या की।

सर्वप्रथम पद्मपादाचार्य ने पञ्चपादिका में प्रतिविम्ब के विम्ब से अभेद को दृष्टान्त बनाकर उसी से जीव का ब्रह्म से अभेद तथा इसी से जीव का सत्य होना प्रतिपादित किया। तदनुसार विम्ब प्रतिविम्ब से पृथक् नहीं है। विम्ब ही प्रतिविम्ब रूप से भासित होता है। कैसे? इसको स्पष्ट शब्दों में सुरेश्वराचार्य ने ही, अपना अभिमत कुछ अन्य रखकर, बृह०भाष्यवार्त्तिक में कह दिया है[2], किन्तु प्रतिविम्ब में जो—विम्ब से पृथक् अवभासित होना, विपर्ययात्मक (= दिशा में विपरीत होना, पराङ्मुख विम्ब का अवाङ्मुख-) होना इत्यादि प्रतिविम्बभाव लानेवाले रूप हैं—उनसे युक्त विम्ब को समझ लिया जाना मिथ्या है, इसके सिवा विम्ब से पृथक् कोई प्रति-विम्ववस्तु नहीं है, दोनों अभिन्न हैं। इसलिये (विम्ब से अभिन्न होने के कारण) प्रतिविम्ब मिथ्या नहीं है—यही प्रतिपन्न करने के लिये दर्पण या जल आदि में मुख या चन्द्र के प्रतिविम्ब का उदाहरण दिया गया है। यदि प्रतिविम्ब अर्थतः ही विम्ब से भिन्न वस्तु होता तो ऐसा कहना व मानना पड़ता कि विम्ब की सन्निधि में दर्पण ही उस विम्ब के आकार में परिणत हो जाता है, वही प्रतिविम्ब होता है, तब तो ठीक नहीं, क्योंकि विम्ब का दर्पण के साथ संश्लेषण (योग) तो होता नहीं कि दर्पण विम्ब का स्वरूप धारण कर ले, न ही प्रतिमुद्रा (मुहर) के समान दर्पण विम्ब से लाञ्छित (चिह्नित) होता है, क्योंकि यदि वैसा होता तो विम्ब के समीप रहते समय उसके आकार का ग्रहण करनेवाला दर्पण विम्ब के हट जाने पर भी वैसा ही बना

---

१. बृह० उ० २।५।१९, कठ० ४।५।१२ ॥

२. दर्पणाभिहता दृष्टिः पर्यावृत्य स्वमाननम्।
व्याप्नुवन्त्यविभागेन भ्रान्तिं नो जनयेद्यथा ॥ बृ० भा० वा० १।४।६१८ ॥

रहता, अर्थात् प्रतिविम्व वना ही रहता, किन्तु ऐसा नहीं होता। इसीलिये प्रतिविम्व विम्व से अभिन्न होने के नाते सत्य है, और वैसी ही सत्यता ब्रह्म के प्रतिविम्वरूप जीव में भी है, जो अहंकर्ता ('मैं'-अभिमानी चेतन अनुभविता) का 'अनिदमंश' (चैतन्यांश, जो वस्तुतः अनुभाव्य से पृथक् है) है।[१] इसीलिये 'वह तू है'—वाक्य में प्रतिविम्वस्थानीय जीव की विम्वस्थानीय-ब्रह्म-रूपता कही गई है। शास्त्रीय शब्दप्रयोग में भी प्रतिविम्व का विम्व से अभिन्न होने के नाते सत्य होना माना गया है—'तीनों सन्ध्याओं में सूर्य को न देखे—न उपरक्त को, न जल में स्थित को.......'[२]।

प्रकटार्थविवरण में प्रतिविम्व का विम्व से अभेद, जीव की प्रतिविम्व-रूपता की उपपत्ति, दर्पण से प्रतिविम्व तथा अविद्या से जीव के सम्बन्ध का विवेचन नई युक्तियों के साथ विशद रूप में हुआ है। कहा है—'एक ही देव सभी भूतों में गूढ़ है' इस श्रुतिवाक्य में 'गूढ़' शब्द का अर्थ 'प्रतिविम्वित' है। ब्रह्म ही अज्ञान में प्रतिविम्वित रूप से 'चेता' 'द्रष्टा' 'जीव' वनता है, स्वतः 'केवल' 'निर्गुण' और अविद्या व उसके कार्य से अस्पृष्ट है।[3] जलपात्र में आदित्य का प्रतिविम्व दिखाई देता है, जल को गिरा देने पर उस जल में स्थित आदित्य वास्तविक आदित्य में ही समा जाता है, पृथक् नहीं रहता, इससे जलस्थित सूर्य नभस्थित सूर्य से भिन्न नहीं था यह सिद्ध होता है। जलपात्र में स्थित सूर्य-प्रतिविम्व के सदृश माया (समष्टि अज्ञान) के प्रदेश-रूप अज्ञानों में प्रतिविम्वित चित् रूप से जीव अवस्थित है।[४] आत्मा की उपाधिभूता अविद्या में नानाज़ीवत्वसाधक अन्तःकरणों के समान यहाँ समष्टि अज्ञान में प्रादेशिक अज्ञान कहे गये हैं। इसी पर भामती का प्रहार है कि अज्ञान के देशभेद सिद्ध नहीं हो सकते।

---

१. यत् पुनः दर्पणजलादिषु मुखचन्द्रादिप्रतिविम्वोदाहरणम्, तदहङ्कर्तुरनिदमंशो विम्वादिव प्रतिविम्वं न ब्रह्मणो वस्त्वन्तरं, किन्तु तदेव तत्, पृथगवभासविपर्ययस्वरूपतामात्रं मिथ्या-इति दर्शयितुम्। कथं पुनस्तदेव तत् ?........वस्त्वन्तरत्वे सति आदर्श एव विम्वसन्निधावेव तदाकारपरिणतः इति वाच्यम्, विरुद्धपरिमाणत्वात्, संश्लेषाभावाच्च, प्रतिमुद्रेव विम्वलाञ्छितत्वानुपपत्तेः। तथा सति विम्वसन्निधिलब्धपरिणतिरादर्शः तदपायेऽपि तथैवावतिष्ठेत।........ पं० पा०, पृ० १०४–१०८।

२. त्वमिति विम्वस्थानीयब्रह्मस्वरूपता प्रतिविम्वस्थानीयस्य जीवस्योपदिश्यते। अन्यथा न तत्त्वमसीति स्यात् किन्तु न त्वमसीति भवेत् न रजतमस्तीतिवत्। किञ्च शास्त्रीयोऽपि व्यवहारः प्रतिविम्वस्य पारमार्थिकमेव विम्वैकरूपत्वं दर्शयति—'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचन। नोपरक्तं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम्।'.... वही, पृ० १०८–९।

३. एको देवश्चिदेकरसः सर्वभूतेषु गूढः प्रतिविम्वित इत्यर्थः। मायाप्रतिविम्वितत्वेन च कर्मफलप्रदातृपृथिव्यादिभूतानामुपादानं साक्षी च भवति। स एवाज्ञानप्रतिविम्विततया चेता द्रष्टा जीवः, स्वतः पुनः केवलाविद्यातत्कार्यासंस्पृष्टः निर्गुणः नाधेयातिशय इत्यर्थः। प्र० वि०, पृ० ६९।

४. य एव चिद्धातुर्मायाप्रतिविम्वितत्वेनेश्वरः स एव अविद्याप्रतिविम्विततया संसारीति नास्त्येव स्वरूपभेदः।........ वही, पृ० ९३।

'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों द्वारा उदित अन्तिम प्रमातृ-व्यापार रूप जल गिराने से अज्ञानध्वंस के फल रूप में उदित स्वाभाविक ब्रह्मात्मता व्यवस्थित होती है।[१] उपाधिभूत अज्ञान के ही प्रभाव से जीव का देहादि से अतिरिक्त होना तथा ब्रह्म रूप होना व्यक्त नहीं होता, विपरीत ही अभिव्यक्ति होती है, जैसे प्रतिविम्व में विम्व की दिशा उलट जाती है।[२]

चिद्धातु (ब्रह्म) प्रत्येक उपाधि के प्रति 'अञ्चति'=प्रतिविम्वित होता है, इसीलिये व्यष्टि-चैतन्य प्रत्यगात्मा कहा जाता है। वास्तव में तो दो या अनेक प्रत्यगात्मा हो नहीं सकते।[३]

प्रतिबिम्व का अधिष्ठान विम्व ही है, अतः विद्या द्वारा जीव किसी वन्ध से मुक्त नहीं होता, वह तो विम्वात्मक ही है, और बिम्व परमात्मा (ब्रह्म) सदा मुक्त है, प्रतिविम्बात्मक रूप से व्यक्त होने के कारण बिम्वात्मक रूप अभिव्यक्त न था। इस विम्वात्मकता की अनभिव्यक्ति की निवृत्ति भर विद्या से होती है, विम्व स्वतः सदा प्रकट ही है।[४]

उपाधि में प्रविष्ट या प्रतिविम्वित होने पर परमात्मा का ही रूप जैव (जीवाकार) हो जाता है, इसीलिये विम्वभूत ब्रह्म से ऐक्य का अवगम होते समय, उस जीवभाव के संस्कार की अपेक्षा से ही 'जीव ब्रह्म ही है' इस प्रकार जीव शब्द कहा जाता है। अपहतपाप्मत्व आदि ही जीव के पारमार्थिक स्वरूप हैं। विम्व तथा प्रतिविम्व के विरुद्ध-धर्म-युक्त होने पर भी जैसे प्रतिविम्व विम्व ही है, वैसे ही जीव व ब्रह्म-पदार्थ एक है।[५]

दर्पण में मुख का प्रतिविम्व दिखाई देता है, विम्व का यह प्रतिविम्वभाव दर्पण के अधीन है, इसीलिये दर्पणकृत (दर्पण द्वारा किया गया) कहलाता है, वास्तव में प्रतिविम्व दर्पण का कार्य नहीं है, किन्तु उसमें दिखने वाले अल्पत्व (छोटा होना) मलीनत्व आदि दर्पण-कृत ही हैं, ठीक इसी प्रकार अविद्या व उसके कार्यों या माया के प्रदेशों में प्रतिबिम्वित

---

१. यथा जलपात्रपातनेन तद्गतादित्यस्य स्वाभाविकी विम्वात्मता समर्प्यते, तथा तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थेन प्रमातृव्यापारेण ब्रह्मात्मैक्याकारेणाज्ञानध्वंसोचिता स्वाभाविकी ब्रह्मात्मता व्यवतिष्ठत इति नानित्यतादोषः। वही, पृ० ६६।

२. देहादिव्यतिरिक्तस्यैव सतो जीवस्य स्वभावभूतोऽपि व्यतिरेको नावभासते। विपरीतस्तु मिथ्याभिमानो दृश्यतेऽनिर्वाच्याविद्याप्रभावात्, तथा तस्यैव ब्रह्मता न व्यज्यते, विपरीतं तु प्रमातृत्वादि व्यज्यत········। वही, पृ० ९३।

३. चिद्धातुरुपाधिं प्रत्युपाधि प्रत्यञ्चति प्रतिविम्वित इति प्रत्यगात्मोच्यते, न द्वौ प्रत्यगात्मानौ संभवतः प्रमाणाभावात्········। वही, पृ० १९६।

४. प्रतिविम्वस्य विम्वाधिष्ठानत्वात् विद्यया वन्धात् विमुक्तो न भवतीत्यविमुक्तः, सदामुक्तः परमात्मा।······ वही, पृ० २१७।

५. अविद्यातत्कार्यप्रतिविम्वितत्वेन च चिद्धातोर्जीवभावोऽभूदिति विम्वभूतब्रह्मैक्यावगमेऽपि जीवाभिधानमित्यर्थः।········यथा विम्वप्रतिविम्वयोः विरुद्धधर्माक्रान्तत्वेऽपि प्रतिविम्वं विम्वमेवेति वाक्येन विरुद्धांशपर्युदासेन स्वरूपैक्यं वोध्यते तद्वदित्यर्थः।···· वही, पृ० २५२–५३।

चैतन्य की जीव संज्ञा होती है।[१] यह जीवभाव अविद्या या माया के अधीन है, उसका कार्य नहीं, किन्तु अविद्या के प्रभाव से इसमें अब्रह्मस्वरूपता (ब्रह्म न होना) अल्पज्ञत्व, अल्प-शक्तिमत्व आदि दिखाई देते हैं। यही अविद्याकृत वन्ध है। और प्रतिविम्व विम्व ही है ऐसे वाक्य से उपाधि तथा उस उपाधि में स्थित होना—इन दोनों के व्यावर्तन द्वारा मुख-स्वरूप के ऐक्य का वोध होता है, वैसे ही 'तत्त्वमसि' वाक्य अविद्या व उसमें स्थित प्रतिविम्व का व्यपोह (मिटाना) करते हुए चैतन्य का ऐक्य वताता है।[२]

माया में चित्प्रतिविम्व ईश्वर है और नाना अविद्याओं में चित्प्रतिविम्व जीव हैं।[३]

इस प्रकार प्रकटार्थकार ने जीव व ईश्वर दोनों को प्रतिविम्वरूप माना है; और दोनों की सत्ता वस्तुतः ब्रह्म से अभिन्न सिद्ध की है।

सर्वज्ञात्म मुनि ने संक्षेपशारीरक में 'कार्य रूप उपाधि वाला यह जीव है और कारण रूप उपाधि वाला ईश्वर है'[४] इस श्रुति के अनुसार अविद्या में चैतन्य का प्रतिविम्व ईश्वर का स्वरूप कहा है और अन्तःकरणों में उसी (ब्रह्म रूप) चैतन्य का ही प्रतिविम्व जीव का स्वरूप कहा है।[५] (वस्तुतः यहाँ प्रतिविम्व आभास ही है) जीव व ईश्वर दोनों की प्रति-विम्वरूपता प्रकटार्थकार के समान ही है, उपाधिनाम भिन्न हैं। आचार्य मधुसूदन ने सिद्धान्त-विन्दु में सर्वज्ञात्मा का अभिप्राय उद्धृत करते हुए कहा है कि अज्ञान में प्रतिविम्वित चैतन्य ईश्वर है, बुद्धि में प्रतिविम्वित चैतन्य जीव, और अज्ञान से अनुपहित शुद्ध चैतन्य (ब्रह्म) ही विम्व है।[६] सर्वज्ञात्मा ने स्वयं ईश्वर के प्रतिविम्वरूप तथा विम्वरूप—ऐसे द्विविध रूप

---

१. मायाप्रदेशे ह्यविद्यायां प्रतिविम्बितं चैतन्यं जीवसंज्ञां लभते। वही, पृ० ३२६।

२. यथा दर्पणे मुखप्रतिविम्वं दर्पणाधीनत्वात् प्रतिविम्वभावः स्वभावस्योपचारतो दर्पणकृतमुच्यते, तत्र यथा दर्पणकृतमेव अल्पत्वमलीमसत्वादि भाति, तथा चित्प्रति-विम्वे जीवेऽपि यत्किञ्चिदब्रह्मस्वरूपं भाति, तत्सर्वमविद्याकृतमेवेति वन्धसिद्धिः। यथा च प्रतिविम्वं विम्वमेवेति वाक्येनोपाधितत्स्थताव्यावर्तनेन मुखस्वरूपैक्यमेव लक्ष्यते, तथा 'तत्त्वमसि' इत्यप्यविद्यातत्स्थत्वव्यपोहेन सवाह्याभ्यन्तरदिग्देशकाला वच्छिन्नचैतन्यं ज्योतिःस्वरूपैक्यमेव लक्षयति। वही, पृ० ६५९।

३. अविद्याप्रतिविम्बितत्वेनानेकजीवभावेन मायाप्रतिविम्बितत्वेन चेश्वरभावेन.........।
वही, पृ० २५८।

४. कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः। त्रि० म० ना० ४।८॥

५. सुकृतदुष्कृतकर्मणि कर्तृतां
मतिगतात्मचितिप्रतिविम्वकम्।
व्रजति तद्वदतः परमात्मनो
जगति याति तमः प्रतिविम्वकम्॥ सं० शा० १।३२७॥

६. अज्ञानप्रतिविम्बितं चैतन्यमीश्वरः। बुद्धिप्रतिविम्वितं चैतन्यं जीवः। अज्ञानानुप-हितं तु बिम्बचैतन्यं शुद्धमिति संक्षेपशारीरककाराः। सि० वि०, पृ० ४६।

भी कहे हैं[1]। यह विम्बरूप अनुपहित चैतन्य ही है। मधुसूदन द्वारा सिद्धान्तविन्दु में विवरण-कार के मत का उद्धरण देते हुए कहा गया है कि अज्ञानोपहित विम्बचैतन्य ईश्वर है, और अन्तःकरण व उसके संस्कारों से युक्त अज्ञान में प्रतिविम्बित चैतन्य जीव है।[2] ब्रह्मचैतन्य में विम्बभाव भी उपाधि की अपेक्षा से ही है और उपाधि-सम्वन्ध की कल्पना-मात्र उठने पर ही वह ईश्वर-पद-वाच्य होता है। स्वतः न ईश्वर है न जीव, अपितु ब्रह्म है। जैसे दर्पण की स्थिति हो तभी मुख विम्व होता है और प्रत्यावृत्त नयनरश्मि से गृहीत होकर वही प्रतिविम्व, अन्यथा मुख ही है। यही विवरणकार का परमतात्पर्य प्रतीत होता है जो सर्वथा युक्तिसङ्गत है। 'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थ कहते समय जो तत् का वाच्य अर्थ सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट और 'त्वं' का वाच्य अर्थ अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य कहा जाता है और इनके विशेषणांशों के त्यागपूर्वक विशेष्यांश के अभेद को ही वाच्य का अखण्ड अर्थ माना जाता है, उसकी भी उप-पत्ति ईश्वर व जीव में ही विम्व-प्रतिविम्व-भाव मानने से अधिक सङ्गत होती है।

अप्पय दीक्षित ने सिद्धान्तलेशसङ्ग्रह में प्रतिविम्ववादी एक अन्य मत का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार विक्षेपशक्तिप्रधान माया रूप उपाधि में प्रतिविम्बित होकर ब्रह्म ईश्वर-पदवाच्य वनता है, उसी रूप से जगत् का स्रष्टा आदि होना सम्भव होने से, तथा आवरण-प्रधान अविद्या में ब्रह्म का प्रतिविम्व जीव है, जो अज्ञता का अनुभव करता है।[3] यह मत प्रकटार्थकार के प्रतिपादन का ही एक विशेष रूप है, जिसमें माया व अविद्या को ईश्वर व जीव की उपाधि मानने के प्रयोजक का भी निवेश कर दिया गया है।

नृसिंहाश्रम ने वेदान्ततत्त्वविवेक में ब्रह्म व जीव में विम्वप्रतिविम्वभाव को नवीन युक्तियों से, मध्यवर्ती अवच्छेदवाद का निरास करते हुए तथा, प्रतिविम्व के आभासवाद में स्वीकृत स्वरूप में दोष दिखाते हुए, सिद्ध किया है। अवच्छेद-खण्डन आगे प्रसङ्ग आने पर देखा जायेगा। आभासवाद तथा भास्कर-मत को पूर्वपक्ष रूप में प्रस्तुत करते हुए नृसिंहाश्रम ने कहा है—जीव ब्रह्म का प्रतिविम्ब हो तो जीव का ब्रह्म से भिन्न होना प्रसक्त होता है, क्योंकि लोक में विम्व व प्रतिविम्व में द्वैधीभाव देखा जाता है—जैसे 'ये चैत्र तथा उसका प्रति-विम्व हैं।' और दोनों के परस्पर अभिमुख होने से दोनों के भेद का अनुमान भी होता है। इनके अभेद का तो कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहें कि दर्पण में दिखते हुए प्रतिविम्व को भी

---

१. स्पष्टं तमः स्फुरणमत्र न तत्र तद्वत्
सर्वेश्वरे तदिति तत्र निषिद्ध्यते तत्।
विम्बे तमोनिपतिते प्रतिबिम्बके वा
देहद्वयावरणवर्जितचित्स्वरूपे॥ सं० शा० २।१७६॥

२. अज्ञानोपहितं विम्बचैतन्यमीश्वरः। अन्तःकरणतत्संस्कारावच्छिन्नाज्ञानप्रतिबिम्बं चैतन्यं जीव इति विवरणकाराः। सि० वि०, पृ० ४६।

३. एकैव मूलप्रकृतिर्विक्षेपप्राधान्येन मायाशब्दितेश्वरोपाधिः, आवरणप्राधान्येना-विद्याऽज्ञानशब्दिता जीवोपाधिः। अत एव तस्या जीवेश्वरसाधारणचिन्मात्रसम्व-न्धित्वेऽपि जीवस्यैव 'अज्ञोऽस्मि' इत्यज्ञानसम्वन्धानुभवः, नेश्वरस्येति जीवेश्वर-विभागः क्वचिदुपपादितः। सि० ले० सं०, पृ० ८४।

'यह मेरा मुख है' ऐसा कहा जाता है, अर्थात् ग्रीवास्थ मुख से उस प्रतिविम्वरूप मुख के अभेद का अनुभव होता है, तो ठीक नहीं क्योंकि 'दर्पण में अपने मुख की छाया देखता हूँ' ऐसा भी अनुभव होता है, तथा अभिमुखता व दर्पणस्थता से भेद का ही अधिक अनुभव होता है। इससे दर्पण में मुखत्व का संसर्ग तथा विम्व मुख का प्रतिविम्व मुख से अभेद का अनुभव—ये दोनों अप्रामाणिक हो जाते हैं। इसलिये विम्व-प्रतिविम्व को पृथक् ही मानना पड़ता है। अथवा दर्पण में विम्व-मुख से अन्य ही (छाया रूप) दूसरा ही मुख उत्पन्न होता है।[1] यह कहना ठीक नहीं क्योंकि उसमें भी प्रामाणिकता स्थिर नहीं, 'दर्पण में अपना मुख देखता हूँ' ऐसा अनुभव होने से दर्पण में मुखत्वसंसर्ग, तथा वह (जो मुख देख रहा हूँ) ग्रीवास्थ-मुख ही है ऐसा मुख के आश्रय का भी अभेद प्रतीत होता है तथा 'दर्पण में मुख नहीं है' इस प्रकार मुख के अभाव का दर्पण में अनुभव होता है।[2]

इसके अतिरिक्त दर्पण में दिखने वाली मुखछाया मुख से पृथक् अन्य ही पदार्थ है यह कहने से पूरे धर्मी तथा धर्मों—दोनों की कल्पना करनी पड़ती है, जब कि प्रतिविम्ब को बिम्ब से अभिन्न मानने पर केवल कुछ धर्मों की ही कल्पना करनी पड़ती है। अतः दर्पण में छाया-त्मक नया मुख उत्पन्न होता है यह मानना ठीक नहीं, अपितु विम्वमुख में ही दर्पणस्थता, स्वाभिमुखता व भेद का आरोप करके 'दर्पण में मुख है' ऐसा अनुभव होता है। और 'ग्रीवा-स्थित मुख को ही दर्पण में देख रहा हूँ' 'यहाँ मुख नहीं है' इस प्रकार संसर्ग का प्रतिषेध करके प्रसिद्ध मुख के अभेद का भी अनुभव होता है। यदि सीप में रजत के समान दर्पण में प्रति-विम्वरूप नया ही मुख उत्पन्न हुआ तो वाध के समय 'यह रजत नहीं है' के समान 'यह मुख नहीं है' ऐसा अनुभव होना चाहिये। (आभास में सत्यता मानते हुए उसके विरोध में यह युक्ति-प्रस्तार है।)

इसलिये लौकिक प्रतिविम्व के समान प्रतिविम्वरूप जीव विम्वरूप ब्रह्म से भिन्न नहीं।[3]

---

१. ननु जीवस्य प्रतिविम्वत्वे ब्रह्मणो भेदप्रसङ्गः, लोके हि विम्वप्रतिविम्वयोरिमौ चैत्र-तत्प्रतिविम्वाविति भेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् स्वाभिमुखत्वादिविरुद्धधर्मैस्तदनुमानाच्च। न चाभेदे मानमस्ति। न च ममेदं मुखमिति ग्रीवास्थमुखाभेदानुभव इति वाच्यम्, दर्पणे मुखच्छायां पश्यामीत्यनुभवेन प्रत्यङ्मुखत्वदर्पणस्थत्वभेदानामनुभवेन च मुखत्वसंसर्गभेदानुभवद्वयस्याप्रामाण्यकल्पनात्। अस्तु वा मुखान्तरं न तदेव तदिति। वे० त० वि०, पृ० ४२१–२२।

२. मैवम्, दर्पणे मुखं पश्यामीत्यनुभवेन तस्मिन्मुखत्वसंसर्गस्य ग्रीवास्थमेवेदमिति तस्मिन् ग्रीवास्थत्वतदाश्रयाभेदयोर्नास्ति दर्पणे मुखमिति तदभाववैशिष्ट्यस्य चानुभवेन त्वत्पक्षेऽप्यनेकप्रत्ययाप्रामाण्यात्। वही, ४२२–२३।

३. धर्मिकल्पनागौरवं च········उक्तयुक्त्यैव न मुखान्तरमपीति बिम्बमुख एव दर्पण-स्थत्वं भिन्नत्वं स्वाभिमुख्यं चारोप्य दर्पणे मुखमित्याद्यनुभवति। न च प्रतीत्यनुरोधेन दर्पणे शुक्तौ रजतवन्मुखान्तरमस्त्विति वाच्यम्, प्रतीतेरन्यथाप्युपपत्तेः। दर्पणे ग्रीवास्थमेव मुखं पश्यामि नात्र मुखमिति संसर्गं प्रतिषिध्य प्रसिद्धमुखाभेदानुभवात्।

ईश्वर के स्वरूप पर नृसिंहाश्रम ने कोई चर्चा नहीं उठाई है क्योंकि वे एकजीववादी हैं, जहाँ ब्रह्म से पृथक् या अवर कोई ईश्वर पदार्थ स्वीकृत नहीं। ब्रह्म को ही विम्व कहा है।

गोविन्दानन्द ने रत्नप्रभा में जीव को प्रतिविम्बरूप मानने के सम्बन्ध में नृसिंहाश्रम द्वारा की गई चर्चा में पूर्वपक्षी मत का भास्कर-मत नाम से उल्लेख किया है और उसके अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए नृसिंहाश्रम-कृत उत्तरपक्ष की हो कुछ युक्तियाँ लेकर भास्कर-मत का खण्डन किया है। भास्कर-मत यह है कि प्रतिविम्व तो स्वरूपतः कल्पित ही वस्तु होता है, वैसा ही जीव हो तो मुक्ति दशा में उसकी स्थिति सम्भव नहीं इससे शास्त्र-व्याघात होगा।[1] उसके उत्तर में कहा गया कि सीप में चांदी के समान दर्पण में मुख कल्पित हो तो 'यह मुख नहीं है' ऐसा बाध होना चाहिए, जब कि 'दर्पण में मुख नहीं' ऐसा संसर्गमात्र का बाध होता है, और यह मेरा मुख है इस प्रकार सच्चे मुख से अभेद का भी अनुभव होता है, अतः प्रतिविम्व की कल्पितता उपाधि-संसृष्ट रूप से ही है, स्वरूपतः नहीं, क्योंकि उसका स्वरूप विम्व से पृथक् नही। अतः प्रतिविम्व-रूप जीव मानना ठीक ही है।[2]

जिसका यह प्रतिविम्व है वह मायोपाधिक विम्व ईश्वर है। विम्व होने के लिए भी उपाधि-संश्रय अपेक्षित है, नहीं तो विम्वभाव नहीं आ सकता। और माया उसकी उपाधि है इसी का परिणाम-विशेष ईक्षण है जिसके द्वारा ईश्वर जगत्-स्रष्टा वनता है।[3]

निष्कर्ष

इस प्रकार आभासवाद में प्रतीयमान अरुचि-निमित्त—(१) आभास या छायात्मक प्रतिविम्व की असत्यता से जीव की असत्यता प्राप्त होने में अनुभव-विरोध, (२) वन्ध-मोक्ष

अन्यथा नेदं रजतमितिवन्नेदं मुखमित्यनुभूयते।''''''''तस्मात् लौकिकप्रतिविम्वमिव अज्ञानेऽपि जीवप्रतिविम्वं विम्वाद् ब्रह्मणो न भिद्यत इति।

वे० त० वि०, पृ० ४२३–४३१।

१. प्रतिविम्वस्य नोपाधिसंसृष्टतया कल्पितत्वम्, किन्तु स्वरूपेणैव, अतः कल्पितप्रतिविम्वस्य मुक्तौ स्थित्ययोगात् न जीवत्वम्। र० प्र० २।३।५०, पृ० १५२९।

२. यदि दर्पणे मुखं शुक्तौ रजतवत् कल्पितं स्यात्, तदा नेदं रजतमिति स्वरूपबाधवन्नेदं मुखमिति बाध्यं स्यात्, अतो नास्ति दर्पणे मुखमिति संसर्गमात्रबाधान्मदीयं मुखमेवेदमित्यबाधितमुखाभेदानुभवात् संसृष्टत्वेनैव कल्पितत्वम्। प्रवेशवाक्यैश्चाविकृतब्रह्मण एव प्रतिविम्वभावाख्यप्रवेशोक्तेर्न स्वरूपकल्पना। वहीं।

३. कुम्भकारस्य स्वोपाध्यन्तःकरणवृत्तिरूपेक्षणवत् ईश्वरस्यापि स्वोपाध्यविद्यायाः विविधसृष्टिसंस्कारायाः प्रलयावसानेन उद्बुद्धसंस्कारायाः संसर्गोन्मुखः कश्चित् परिणामः सम्भवति, अतस्तस्याः सूक्ष्मरूपेण निलीनसर्वकार्यविषयकम् ईक्षणम्''' ननु मायोपाधिकविम्वचिन्मात्रस्य ईश्वरस्य कथमीक्षणं प्रति मुख्यं कर्तृत्वं''', न कार्यानुकूलज्ञानवत् एव कर्तृत्वात्''''। ज्ञानस्य चैतन्यस्य बलं मायावृत्तिप्रतिविम्बितत्वेन स्फुटम्। तस्य क्रिया नाम बिम्बत्वेन ब्रह्मणो जनकता।

र० प्र० १।१।५, पृ० २३७, ३८-४०।

के अधिकारित्व की अनुपपत्ति, एवं (३) धर्म व धर्मी दोनों की कल्पना का गौरव—का वारण करते हुए विम्ब-प्रतिविम्ब-भाव कहने वाली श्रुतियों की अधिक निर्दोष व्याख्या के रूप में जीव-ईश्वर-विभाग को स्फुट करने वाला प्रतिविम्बवाद, आभासवाद का ही परिष्कृत रूप है, ऐसा कहा जा सकता है। किन्तु इन दोनों में परस्पर अतिशायी (एक को दूसरे से अधिक सङ्गत बनाने वाले) कुछ तथ्य या युक्तिपोषक स्थल भी हैं, यथा—

(१) छायात्मक प्रतिविम्ब में विम्ब के समान ही दिशा रहती है, दर्पणादिगत प्रतिविम्ब में विपरीत दिशा होती है (पूर्व-मुख विम्ब का प्रतिविम्ब पश्चिम-मुख होता है)।

(२) जल के चञ्चल होने पर उसमें स्थित आभास भी चञ्चल हो जाता है वैसे ही उपाधि-गत गुण-दोषों से संपृक्त होकर असङ्ग आत्मा के भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व-सुखित्वादि उपपन्न होते हैं। दर्पण के हिलने से प्रतिविम्ब में भी क्रिया दिखे ऐसा नहीं होता, प्रत्युत हिलते हुए दर्पण के सामने आने वाले पृथक्-पृथक् विम्बों का ही यथायथ प्रतिविम्ब पड़ता रहता है। तथा विम्ब की ही स्थिरता व गति प्रतिविम्ब होती है, केवल प्रतिविम्ब में गति दिखे, विम्ब में न हो यह नहीं होता।

७. आभास व प्रतिबिम्ब-वादों के प्रति अरुचि के हेतु

आभास व प्रतिविम्ब दोनों को ही जीव-ईश्वर-विभाग में दृष्टान्त बनाने में कुछ ऐसी आपत्तियाँ उठती हैं, जो इन दोनों मतवादों को स्वीकार करने वाले आचार्यों द्वारा अनेक युक्तियाँ देने पर भी, इनमें प्रारब्ध अरुचि का समूल निरास नहीं होने देती। यथा—

(१) प्रतिविम्ब (वह छायात्मक हो चाहे विम्बात्मक) रूपवान् व मूर्त्त (आकृति युक्त) वस्तु का ही, रूपवान् व मूर्त्त वस्तु में ही पड़ता है। आत्मा तथा अविद्या या अन्तःकरणादि उपाधियाँ दोनों ही अरूप व अमूर्त्त हैं, अतः इनमें विम्ब व प्रतिबिम्बभाव सम्भव नहीं, अतः दृष्टान्त उचित नहीं।

इसका उत्तर ही आकाश व शब्द के प्रतिबिम्ब से दिया जाता रहा। पञ्चपादिका के समय से प्रकाशात्मा ने भी पञ्चपादिकाविवरण में कहा है कि नीरूप आकाश का जल में आभास देखा जाता है।[1] किन्तु उसमें हृदय साक्षी न होने से इसके उत्तर में अमलानन्द ने वेदान्त-

---

१. अमूर्तस्याकाशस्य साभ्रनक्षत्रस्य जले प्रतिविम्बवदमूर्तस्य ब्रह्मणोऽपि प्रतिबिम्बसम्भवात्, जानुमात्रप्रमाणेऽपि जले दूरविशालाकाशदर्शनात् जलान्तराकाश एव अभ्रादिप्रतिविम्बयुक्तो दृश्यत इति वक्तुमशक्यत्वात्।

पं० पा० वि०, पृ० २८९।

कल्पतरु में कहा कि गगन में स्थित सूर्यरश्मि व नक्षत्रादि का ही प्रतिविम्ब जल में पड़ता है, उसी से गगन के प्रतिविम्बित होने का भ्रम होता है। इसे ही और स्पष्ट रहते हुए परिमलकार ने कहा कि वह आलोक का ही प्रतिविम्ब है।[१] रूपवान् का ही प्रतिविम्ब होता है यह नियम व्यभिचरित नहीं, अतः आत्मा का प्रतिविम्ब नहीं हो सकता।

(२) अविद्या (प्रकृत स्थल में जो उपाधि है) आत्मा पर ही आश्रित है व उसी को विषय करती है, यह वेदान्त सिद्धान्त है, जो सभी आभास प्रतिविम्ब-वादियों को स्वीकृत है, किन्तु इसके रहते अविद्या व आत्मा में दर्पण व विम्ब के सदृश सम्बन्ध बनता नहीं, क्योंकि दर्पण या जलपात्र विम्ब से दूर स्थित हो तभी प्रतिविम्ब-ग्राहक होता है। अत्यन्त सन्निकृष्टों में विम्बप्रतिविम्बभाव नहीं होता।

इसके उत्तर में कहा जाता है कि गुफा आदि में दुन्दुभि आदि की ध्वनि (जो निश्चय ही अचाक्षुष है) का प्रतिध्वनि-रूप प्रतिविम्ब देखा जाता है, जहाँ (गुफा) आकाश में दुन्दुभिध्वनि है, अर्थात् जो आकाश ध्वनि का आश्रय है, वहीं प्रतिध्वनि-रूप प्रतिविम्ब भी उत्पन्न होता है।

इसका भी विरोधी युक्ति से निरास हो जाता है कि दुन्दुभि ध्वनि पृथ्वी का शब्द है, और उससे उत्पन्न होने वाले, प्रतिध्वनि नाम से कहे जाने वाले शब्द ही वास्तव में आकाश के शब्द हैं, वे शब्द के प्रतिविम्ब नहीं।[२] तथा अविद्या का आत्मा में प्रतिविम्ब तो अभिप्रेत है नहीं, प्रतिध्वनि को आपाततः प्रतिविम्ब-रूप माना भी जाय तो वह आत्मा (आश्रय) का अविद्या (आश्रित) में प्रतिविम्ब होने का दृष्टान्त नहीं बन सकता।

(३) प्रतिविम्ब का ग्रहण दर्पण से टकराकर लौटी हुई नेत्ररश्मियों द्वारा विम्ब का ही ग्रहण करने से होता हो ऐसा नहीं है। कहीं दूर स्थित व्यक्ति का किसी दर्पण में पड़ता हुआ प्रतिविम्ब-मात्र उस दर्पण के समीप से जाता हुआ दूसरा व्यक्ति देख पाता है, निश्चय ही उसकी नेत्ररश्मियाँ उस विम्ब का ग्रहण नहीं करतीं। अतः 'प्रतिबिम्ब विम्ब से अभिन्न है,

---

१. गगनस्य तु स्वगतसवितृकरादिप्रतिविम्बनद्वारा सलिले प्रतिविम्बितत्वविभ्रमः।
वे० क० पृ० ७।

....आलोकप्रतिविम्बे गगनप्रतिविम्बत्वविभ्रममात्रं, न तु गगनस्य प्रतिविम्बोऽस्तीति कल्पने, रूपवत एव चाक्षुषत्वमिति नियममनुरुध्य गगनप्रसृतालोके एव तलमलिनताध्यासः।....
क० प० पृ० ७।

....ततश्च रूपवत एव प्रतिविम्बभाव इति व्याप्तेर्न व्यभिचारः आत्मनस्तु नास्ति प्रतिविम्बितत्वभ्रमकरं किञ्चित्।....
वे० क०, पृ० ७-८।

२. नन्वेवमाकर्ण्यमानो गुहादिरूपे गगने जायमानस्य दुन्दुभ्यादिध्वनेरचाक्षुषस्य प्रतिविम्बात्मकध्वनिरनुपपन्न इति चेत् न, पञ्चीकरणप्रक्रियया हि दुन्दुभिसमुद्रदावानलझञ्झावातादिध्वनयः पृथ्वीसलिलानलानिलानामेव शब्दाः, ये च तेभ्यो जायमानाः प्रतिध्वनय इत्युदीर्यमाणाः शब्दास्त एव वस्तुत आकाशस्य शब्दाः न तु ते प्रतिबिम्बा इति न काचिदनुपपत्तिः।
वि० पृ० ११।

इसलिये सत्य है 'यह कथन अनुपपन्न हो जाता है, प्रतिविम्ब को भ्रमस्थल में उत्पन्न मिथ्या वस्तु की भाँति विम्ब से अतिरिक्त ही मानें तो जीव का असत्य होना पुनः प्राप्त होता है।

(४) प्रतिविम्ववादियों का तर्क है कि **'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' 'यथाऽयं ज्योतिरात्मा विवस्वान्'** इत्यादि श्रुतियाँ चैतन्य का प्रतिविम्बित होकर ही बहु रूप होना कहती हैं, उसी से (श्रुति-सिद्ध होने से ही) प्रतिविम्वभाव स्वीकार्य है, इस पर प्रतिवादी कहते हैं कि उन श्रुतियों की उपपत्ति तो इन्हें प्रतिविम्व-कल्पक (किसी एक पहलू में जीव प्रतिविम्ब जैसा है) मानकर भी हो सकती है। वास्तव में तो चित् के प्रतिविम्ब की सिद्धि होती नहीं।[1] तथा जिस जल में आलोकादि का प्रतिविम्ब पड़ता है, वह भी रूपवान् ही है। इस पर कहा जा सकता है कि अविद्या भी सब गुणों की उत्स होने से, रूपवान् ही है। और आत्मा चित् रूप होने से, **'आदित्यवर्णः'** इस प्रकार श्रुत होने से प्रतिविम्बित हो ही सकता है।

इस पर प्रत्युत्तर हो सकता है कि अनुद्भूत रूप से रूप की संभावना मात्र से ही प्रतिविम्ब-योग्यता नहीं आ जाती, प्रतिविम्वभाव के लिए दोनों ओर चाक्षुप होना भी प्रयोजक है, तभी वायु आदि के प्रतिविम्ब की सम्भावना दूर की जा सकती है। आकाश का जल में प्रतिविम्ब होने के भ्रम में मेघ, सूर्यकिरण व नक्षत्र आदि का चाक्षुप होना ही प्रयोजक है और जल तो चाक्षुप है ही।

प्रतिविम्ववादी कहते हैं कि नीरूप ध्वनि में नीरूप वर्णों का प्रतिविम्ब देखा जाता है, वहाँ चाक्षुपत्व प्रयोजक नहीं। इसके विरोध में प्रतिवादी कहते हैं कि वहाँ तो ध्वनि के उदात्तत्व आदि धर्मों के वर्णों से सन्निहित होने के कारण अन्तर का ग्रहण न होने से अध्यास होता है, ध्वनि में अक्षर का प्रतिविम्ब नहीं। तथा, चन्दन आदि का प्रतिविम्ब पड़ने पर उसके चाक्षुप रूप का ही अनुभव होता है, सुगन्ध का नहीं, स्पर्श का भी नहीं।[2]

नीरूप ध्वनि (पटह आदि से उत्पन्न) का आकाश में प्रतिध्वनिरूप प्रतिविम्ब देखा जाता है ऐसे तर्क पर प्रत्युत्तर दिया जाता है कि प्रतिध्वनि ही आकाश का शब्द है, वह प्रति-

---

१. ....श्रुतिसूत्रादिषु अपि प्रतिविम्बस्य दृष्टान्तत्वमेव वर्णितमतो न प्रतिविम्बरूपो जीवः श्रुतिभाष्याद्यनुमतः। वि०, पृ० १२-१४।
जीवः पुनः प्रतिविम्वकल्पः, सर्वेषां न प्रत्यक्षश्चिद्रूपः नान्तःकरणजाड्येनास्कन्दितः। पं० पा०, पृ० १११।
अविद्योपधानकल्पितावच्छेदो जीवः परमात्मप्रतिविम्वकल्पः।........ भा० २।२।१०, पृ० ५०२।

२. न च नीरूपे ध्वनौ नीरूपस्य वर्णस्य प्रतिविम्वदर्शनेन चाक्षुषत्वं प्रयोजकमिति वाच्यम्—ध्वनिधर्माणाम् उदात्तत्वादीनां सन्निहितानां विवेकाग्रहाद् वर्णेषु अध्यासोपपत्त्या ध्वनौ वर्णप्रतिविम्वकल्पनाया अप्रामाणिकत्वात्, अनुभूयन्ते च चन्दनादिप्रतिविम्वे चाक्षुषा एव रूपादयो न तु गन्धस्पर्शादयः, तेषां घ्राणादिसम्बन्धेऽपि सौरभाद्यननुभवात् अतश्चाक्षुषत्वमनुगतमेव तत्र प्रयोजकमुपेयम्। वि०, पृ० १०-११।

बिम्ब नहीं, वाद्य से उत्पन्न शब्द तो पृथ्वी का शब्द है, समुद्र की लहरों का नाद जल का शब्द है।[1]

(५) प्रतिबिम्ब स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं करता, दर्पण में कोई चेष्टा होती नहीं, बिम्ब की चेष्टा ही प्रतिबिम्ब में दिखाई पड़ती है। प्रतिबिम्बवाद में दो धारायें हैं, एक में ब्रह्म को बिम्ब तथा कारण व कार्य रूप उपाधियों में उसके प्रतिबिम्ब को ईश्वर व जीव माना जाता है और दूसरी में ईश्वर को बिम्ब, जीवको प्रतिबिम्ब। दोनों ही दशाओं में प्रतिबिम्बभाव उपपन्न नहीं क्योंकि ब्रह्म तो निष्क्रिय है ही, अतः प्रथम धारा में उसी ब्रह्म के प्रतिबिम्ब रूप ईश्वर का जगत्-स्रष्टा आदि होना तथा जीव का संसारी कर्मकर्त्ता-फलभोक्ता आदि होना सम्भव नहीं, प्रतिबिम्ब के स्वतन्त्र कार्य असम्भव होने से। ईश्वर को बिम्ब मानने के पक्ष में भी फिर जीव के कार्य-कलाप ईश्वर से विसदृश होने की उपपत्ति नहीं होती।

आभासवाद में तो बिम्ब सूर्य के स्थिर रहने पर भी छायात्मक प्रतिबिम्ब रूप जल-सूर्यकों के जल की चञ्चलता से चञ्चल होने की उपपत्ति होती है, प्रतिबिम्बवाद में वह नहीं। दर्पण आदि के हिलाने से भी ठीक प्रतिबिम्ब में हिलने या चेष्टा की प्रतीति नहीं होती। किन्तु आभासवाद में जलसूर्यक रूप जीव का जड़ होना प्राप्त होता है, वह उचित नहीं।

इस आपत्ति के उत्तर में अग्निहोत्रयज्वा ने वेदान्ततत्त्वविवेक की पूरणी टीका में कहा है कि जड़ प्रतिबिम्ब में भले ही उक्त आपत्ति ठीक है, पर चित्प्रतिबिम्ब में नहीं। न तो वह जड़ है, चित् का प्रतिबिम्ब होने से, न ही स्वतन्त्र कार्यादि में असमर्थ है, चित् के ही प्रभाव से।[2] किन्तु इससे भी समस्या का युक्तिसङ्गत समाधान होता नहीं।

इन सब त्रुटियों का सामान्य रूप से उत्तर देते हुए आचार्य शङ्कर ने शारीरकभाष्य में कहा है कि केवल विवक्षित अंश को लेकर यह दृष्टान्त ठीक ही है, एवं दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक में थोड़ा भी अन्तर न हो ऐसा सर्वाङ्ग-सादृश्य तो कहीं भी नहीं देखा जाता। यहाँ जल-सूर्यक का दृष्टान्त कल्पित भी नहीं, श्रुति द्वारा अनेक बार कहा गया है।[3] यहाँ विवक्षित सारूप्य है—वृद्धि व ह्रास आदि का भागी होना। जल में स्थित सूर्यादि का आभास

---

१. प्रतिध्वनिरपि न पूर्वशब्दप्रतिबिम्बः, पञ्चीकरणप्रक्रियया पटहपयोनिधिप्रभृतिशब्दानां क्षितिसलिलादिशब्दत्वेन प्रतिध्वनेरेवाकाशशब्दत्वेन तस्यान्यशब्दप्रतिम्बिवत्वायोगात्। सि० ले० सं०, पृ० ११०-११।

२. ननु प्रतिबिम्बभावपक्षेऽप्ययं दोषः, बिम्बशरीरवत्प्रतिबिम्बे स्वतन्त्रतद्व्यवहारदर्शनादिति चेन्न, जडप्रतिबिम्बस्य तथात्वेऽपि चित्प्रतिबिम्बस्य तदुपपत्तेरिति दिक्॥ पू०, पृ० ४२९।

३. युक्त एव त्वयं दृष्टान्तः, विवक्षितांशे सम्भवात्। नहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः क्वचित्कञ्चिद्विवक्षितांशमुक्त्वा सर्वसारूप्यं केनचिद्दर्शयितुं शक्यते। सर्वसारूप्ये हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावोच्छेद एव स्यात् न चेदं स्वमनीषया जलसूर्यकादिदृष्टान्तप्रणयनम्, शास्त्रप्रणीतस्य त्वस्य प्रयोजनमात्रमुपन्यस्यते। ब्र० शां० भा० ३।२।२०, पृ० ६२१।

जल के सभी धर्मों का अनुयायी होता है, जल के हिलने पर वह हिलता है, भिन्न होने (अलग-अलग पात्रों में रखा होने) पर आभास भी भिन्न-भिन्न होता है, जल न रहने पर आभास नहीं रहता किन्तु वास्तविक सूर्य में यह सब कुछ नहीं होता, उसी प्रकार परमार्थतः अविकृत ही रहता हुआ ब्रह्म देह आदि उपाधियों के अन्तर्भाव से इन उपाधियों के धर्मों को प्राप्त सा होता है।[1]

८. अवच्छेदवाद

आभास व प्रतिविम्व की दृष्टान्तता पूर्वोक्त कारणों से समीचीन न मानकर, अथवा विम्व-प्रतिविम्वभाव की आत्मा द्वारा उपाधि-स्वीकृति में वहुत कम पक्षों में समानता देखकर कुछ आचार्यों ने—घड़े से संवृत (ढका हुआ) सीमित आकाश जैसे घड़े के नष्ट हो जाने पर महाकाश में लीन हो जाता है, नाश घड़े का ही होता है, आकाश का नहीं, वैसा ही 'घड़े के समान जीव है' इस श्रुति[2] के आधार पर आकाश के सीमासम्वन्ध को दृष्टान्त वनाकर असीम-अरूप-अनाम ब्रह्मचैतन्य या आत्मतत्त्व का सीमा-तुल्य अविद्या से सम्वन्ध मानते हुए—जीव-ईश्वर-विभाग की व्याख्या की है। इसे अवच्छेदवाद नाम दिया गया है। अवच्छेद का अर्थ सीमा तथा विशेषण दोनों लिया जा सकता है। परमतत्त्व असीम है, किन्तु जगत् में प्रत्येक अनुभविता स्वयं को सीमित ही अनुभव करता है, यह सीमा जीवमात्र के लिए एक तथ्य है, जिसे एकाङ्गी दृष्टान्त से भुलाया नहीं जा सकता। यह सीमा तव तक अनुभव में आती रहती है जव तक प्राणी 'जीव' रहता है। अतएव विशेष्य के साथ विशेषण के समान जीव का सीमा से 'चिरस्थायी' सम्वन्ध है, अवश्य ही नित्य-सम्वन्ध नहीं, क्योंकि यह सीमा नित्य नहीं, क्योंकि स्वरूपतः आत्मा विशेष्य नहीं, निर्विशेष है।

अवच्छेदवाद का उत्स या वीज गौड़पादाचार्य के प्रतिपादन में ही है। माण्डूक्यकारिका में उन्होंने अद्वितीय परमतत्त्व की अनन्त सीमाओं से युक्त प्रतीति की व्याख्या तथा इस प्रतीति के असत्यत्व की उपपत्ति में आकाश का दृष्टान्त दिया है। कहा है—विशुद्ध आत्मा (ब्रह्म) आकाश (सभी जगह व्याप्त विशुद्ध महाकाश या परम आकाश) के सदृश है। ब्रह्म तत्त्व के

---

१. कि पुनरत्र विवक्षितं सारूप्यमिति ? तदुच्यते वृद्धिह्रासभाक्त्वमिति। जलगतं हि सूर्यप्रतिविम्वं जलवृद्धौ वर्धते, जलह्रासेह्रसति, जलचलने चलति, जलभेदे भिद्यत इत्येवं जलधर्मानुयायि भवति, नतु परमार्थतः सूर्यस्य तथात्वमस्ति। एवं परमार्थतोऽविकृतमेकरूपमपि सद् ब्रह्म देहाद्युपाध्यन्तर्भावाद् भजत इवोपाधिधर्मान्वृद्धिह्रासादीन्। वही।

२. घटसंवृतमाकाशं लीयमाने घटे यथा, घटो लीयेत नाकाशः····। ब्र० वि० १३।

अद्वितीयत्व का भी आपाततः निर्वाह उसमें हो जाता है, और असङ्गत्व, सर्वगतत्व, निष्क्रियत्व, अखण्डत्व, निराकारत्व, निर्विकारत्व, निरवयवत्व इत्यादि का भी सर्वोत्तम दृष्टान्त आकाश ही है। वह असीम आकाश जैसे कमरे की सीमा में आकर कमरे का आकाश कहलाता हैं, घड़े के भीतर का आकाश घटाकाश कहलाता है, अथवा महाकाश जैसे अनेक घटाकाशों के रूप में उत्पन्न होता है, वैसे ही आत्मा (ब्रह्म) जीवों के रूप में उदित या उत्पन्न हुआ कहा जाता है। परमार्थतः आकाश में न कोई सीमा है, न घटाकाश कोई नया उत्पन्न होता है, वैसे ही आत्मा (परम) का कोई जन्म नहीं, कोई वास्तविक सीमा भी नहीं।[१] इसीलिये घट आदि के टूट जाने पर जैसे घटाकाश नामक आकाश के कल्पित भाग केवल (महा-) आकाश में मिल जाते हैं, ऐसे ही कल्पित सीमा नष्ट होनें पर जीव आत्मा (ब्रह्म) में विलीन हो जाते हैं।[२] जैसे घटाकाश आकाश का अवयव या विकार नहीं है, वैसे ही जीव भी आत्मा का विकार या अवयव कभी नहीं है।[3] एक ही आकाश में घड़ा, प्याला आदि सीमा दिखानेवाली वस्तुओं (उपाधियों) के कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले आकाशों के रूप (आकृति) कार्य व नामों में तो भेद है पर आकाश में कोई भेद नहीं है, ऐसा ही नानाविध जीवों तथा आत्मा (ब्रह्म) के विषय में भी है अर्थात् देहों तथा विविध संस्कारों से युक्त अन्तःकरणों की सीमाओं के कारण ही नानाविध जीव दिखाई पड़ते हैं, वास्तव में उनमें कोई भेद नहीं ,वे आत्मा ही हैं।[४] तथा, एक घटाकाश के धूलि या धूम से युक्त होने पर समस्त घटाकाश तथा सम्पूर्ण आकाश उस धूल व धूएँ से युक्त नहीं हो जाते, ऐसे ही एक जीव के सुख-दुःख, पुण्य-पाप से सभी जीव व ब्रह्म प्रभावित नहीं होते।[५] ऐसा कहने में भी आचार्य गोड़पाद की स्वाभिमत अजातवाद-दृष्टि यह है कि धूम या धूलि भी वस्तुतः आकाश में कोई अन्तर नहीं लाते, क्योंकि उनके रहते भी आकाश पूर्ववत् शुद्ध ही है, किसी भी प्रकार आकाश में अन्तर या अतिशय नहीं आता।

जब तक घट रहता है तब तक घटाकाश रहता है, घट के टूट जाने पर घटाकाश नहीं रहता, केवल आकाश, जो पहले से था, वही रह जाता है, वैसे ही जब तक अन्त-करण का अस्तित्व रहता है तब तक जीव रहता है, अन्तःकरण न रहने पर 'जीव'-भाव भी नहीं रहता, आत्मा (ब्रह्म) जैसा है वैसा रहता है।

---

१. आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः।
घटादिवच्च सङ्घातैर्जातावेतन्निदर्शनम् ॥ मां० का० ३।३ ॥

२. घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा।
आकाशे संप्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि ॥ वही ३।४ ॥

३. नाकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा।
नैवात्मनः सदा जीवो विकारावयवौ तथा ॥ वही ३।७ ॥

४. रूपकार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र तत्र वै।
आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णयः॥ वही ३।६ ॥

५. यथैकस्मिन्घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते।
न सर्वे सम्प्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः॥ वही ३।५ ॥

ब्रह्म के 'ईश्वर' रूप की कोई पृथक् चर्चा गौड़पादाचार्य ने नहीं की है, केवल 'तुरीय' तत्त्व के स्वरूप में 'ईशानः' विशेषण जोड़ दिया है।[१] उसके लिये 'तुरीय' को अवर कोटि में आना होगा या अज्ञान से किसी भी प्रकार सम्बद्ध होना होगा, ऐसा नहीं कहा है। वैतथ्यप्रकरण में इतना सा कहा है कि स्वयंप्रकाश आत्मा अपनी माया से स्वयं ही समस्त भेद (प्रपञ्च) की कल्पना करता है, एवं वही इन सबको जानता भी है।[२] इसी से सर्वज्ञत्व आदि कह दिये गये। वास्तव में दृष्टान्त-साम्य होने पर भी आचार्य गौड़पाद का समस्त प्रतिपादन अजातवाद की ही दृष्टि से है।

वाचस्पति मिश्र ने व्यावहारिक स्थिति की ओर से तत्त्व-विचार आरम्भ किया है, भामती के आरम्भ में ही कहा है—'श्रुतिस्मृति आदि शास्त्रों में जो एक, अद्वितीय तत्त्व अनन्त आनन्द-स्वरूप, चैतन्यैकरस, सभी उपाधियों से अनवच्छिन्न (असीम) कहा गया है, वह आत्म-तत्त्व हमारे अपने स्वयं के अनुभव (अहमनुभव) में तो प्रकाशित नहीं होता, यह अहमनुभव तो अत्यन्त सीमित (प्रादेशिक), अनेकविध शोकादि से उपप्लुत स्वयं को विषय करता है।[३] तो क्या वह परम अद्वितीय आत्मतत्त्व सर्वथा अज्ञेय है? यदि है तो भले हो, हमारे अनुभूयमान 'स्वयं' से उसका क्या सम्बन्ध है? और श्रुति तो कहती है कि हमारा यह 'स्वयं' 'वह' परम-तत्त्व ही है।[४] तो क्या रहस्य है तथ्य और प्रतीति के विपरीत होने में? बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव का दृष्टान्त इस समस्या को सुलझाने में पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं, पूर्वोक्त दोषों के कारण। अतः अनुभूयमान सीमा को ठीक सीमा ही मान लेना चाहिये, भले ही वह स्थायी न हो। वह सीमा है—'अनादि अनिर्वचनीय अविद्या द्वारा कल्पित सूक्ष्म-बुद्धि, मन, स्थूलशरीर, तथा इन्द्रियों द्वारा किया गया अवच्छेद। उसी से—अनवच्छिन्न (असीम) भी तत्त्व वस्तुतः अवच्छिन्न (सीमित) की तरह, एक व अभिन्न होते हुए भी भेदयुक्त (नाना) की तरह, निष्क्रिय-असङ्ग होते हुए भी कर्त्ता-भोक्ता की तरह, किसी का विषय न होते हुए भी 'मैं'-प्रतीति के विषय की तरह—जाना जा रहा है। जैसे वस्तुतः सीमा से असंस्पृष्ट भी आकाश घड़े, सकोरे या अन्य पात्रों या कक्ष-भित्तियों से घिरा होनेपर उन-उन सीमाओं के अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रतीत होता हैं, उन-उन सीमाओं के अनुरूप अनेक-विध गुण-धर्मोंवाला भी।[५] उक्त अवच्छेद रूप उपाधि से

---

१. निवृत्ते सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः।
अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः॥ वही १।१०॥

२. कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः॥ वही २।१२॥

३. अहमनुभवस्तु प्रादेशिकमनेकविधशोकदुःखादिप्रपञ्चोपप्लुतमात्मानमादर्शयन्कथमात्म-तत्त्वगोचरः कथं वानुपप्लवः। भा० १।१।१।, पृ० ८।

४. अयमात्मा ब्रह्म। भा० उ० २.... ॥

५. सत्यं प्रत्यगात्मा स्वयंप्रकाशत्वादविषयोऽनंशश्च, तथाप्यनिर्वचनीयानाद्यविद्यापरि-कल्पितबुद्धिमनः सूक्ष्मस्थूलशरीरेन्द्रियावच्छेदेनानवच्छिन्नोऽपि वस्तुतोऽवच्छिन्न इव, अभिन्नोऽपि भिन्न इव, अकर्तापि कर्तेव, अभोक्तापि भोक्तेव, अविषयोऽप्यस्मत्प्रत्य-

कलुषित जैसा हुआ ब्रह्म का रूप ही जीव है।[1] अथवा चैतन्यस्वरूप, अनवच्छिन्न आत्मा (ब्रह्म) का ही अवच्छिन्न बुद्धि (अन्तःकरण) आदि (देह-इन्द्रिय) से भेद (सत्य व कल्पित का कल्पित ही भेद) गृहीत न होने से उन दोनों का परस्पर अध्यास होने से ब्रह्म का जीवभाव है, और वह उक्त अवच्छेद से ही कृत है। इसी सत्यानृत-मिश्र अन्तःकरणावच्छिन्न प्रत्यगात्मा (अपने 'स्वयं' के रूप में अनुभूत आत्मा) को ही अहमनुभव विषय करता है।[2]

आचार्य गौड़पाद के सदृश शब्दों में वाचस्पति ने भी कहा है कि जीव न तो (परम-) आत्मतत्त्व से अन्य है, न उसका विकार या अवयव है, किन्तु आत्मा ही अविद्या-रूप उपाधि से कल्पित अवच्छेदवाला होकर जीव है। जैसे कि आकाश घट-मणिका आदि से कल्पित अवच्छेदवाला होकर घटाकाश, मणिकाकाश कहलाता हुआ, वास्तविक आकाश से भिन्न या उसका विकार नहीं होता।[3]

घटाकाश परमाकाश से अन्य नहीं, तब भी जब तक घट रहता है तब तक घटाकाश बना रहता है। घटाकाश को परमाकाश से पृथक् जाना नहीं जाता ऐसा नहीं है, विवेक (पार्थक्य) करानेवाली घट-रूप उपाधि वर्तमान रहने से। ऐसे ही अविद्या के उपधान-भेदों से कल्पित उपाधिवाला जीव वस्तुतः परमात्मा से भिन्न न होते हुए भी, अपनी उपाधि (अन्तःकरणावच्छेद) के उद्भव-अभिभव से उद्भूत या अभिभूत जैसा प्रतीत होता है।[4]

इस प्रकार आत्मा का जीवत्व (जीवभाव) अन्तःकरण-रूप उपाधि द्वारा किया हुआ है। वह अन्तःकरण अणु (परिच्छिन्न) है, इसीलिये जीव भी अणु कहलाता है, जैसे करक द्वारा उपहित आकाश करक-परिमाण वाला कहलाता है।[5] यही असीम की सीमित जैसी प्रतीति का रहस्य है।

यविपय इव, जीवभावमापन्नोऽवभासते इव घटमणिकामल्लिकाद्यवच्छेदभेदेन भिन्न-मिवानेकविधधर्मकमिवेति। भा० १।१।१।, पृ० ३८।

१. ब्रह्मरूपस्य उपाधिकलुषितस्य जीवस्य········। वही, पृ० ५८।

२. तस्माच्चिदात्मनः स्वयंप्रकाशस्यैव अनवच्छिन्नस्य अवच्छिन्नेभ्यो बुद्ध्यादिभ्यो भेदाग्रहात्, तदध्यासेन जीवभाव इति। तस्य चानिदमिदमात्मनोऽस्मत्प्रत्ययविषयत्वमुपपद्यते। वही, पृ० ३८-३९।

३. न जीव आत्मनोऽन्यः, नापि तद्विकारः, किंत्वात्मैवाविद्योपाधानकल्पितावच्छेदः। आकाश इव घटमणिकादिकल्पितावच्छेदो घटाकाशो मणिकाकाशो न तु परमाकाशादन्यस्तद्विकारो वा। भा०, १।४।२२, पृ० ४१६।

४. यथा घटाकाशो नाम न परमाकाशादन्यः। अथ चान्य इव यावद्घटमनुवर्तते। न चासौ दुर्विवेचस्तदुपाधेर्घटस्य विविक्तत्वात्। एवमनाद्यनिर्वचनीयाविद्योपधानभेदोपाधिकल्पितो जीवो न वस्तुतः परमात्मनो भिद्यते तदुपाध्युद्भवाभिभवाभ्यां चोद्भूत इवाभिभूत इव प्रतीयते। वही, ३।२।९, पृ० ७०५।

५. बुद्ध्युपाधिकृतमस्य जीवत्वमिति बुद्धेरन्तःकरणस्याणुतया सोऽप्यणुव्यपदेशभाग्भवति, नभ इव करकोपहितं करकपरिमाणम्। वही, २।३।२९, पृ० ६११।

इस प्रकार वाचस्पति के मत में अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य जीव का स्वरूप है। यह जीवभाव लाने वाली अविद्या का आश्रय इस मत में जीव को ही माना गया है, क्योंकि उसी को अज्ञता का अनुभव होता है (यह हम पहले देख चुके हैं)। इस जीवाश्रिता अविद्या का विषय होने के नाते ब्रह्म का जो अविद्या-संपृक्त रूप है वही ईश्वर है। वह (व्यावहारिक दृष्टि से) समस्त देहेन्द्रियादि से तथा जीव से भी व्यतिरिक्त है। वह समस्त जगत् का शासक है। उसके ऐश्वर्य के साधक स्वाभाविक दो रूप हैं कि वह सर्वज्ञ है और सर्वशक्ति है। वही भोक्ता अविद्योपाधिक जीवात्मा का 'आत्मा' है। इसलिये महाकाश से घटाकाश की तरह वस्तुतः जीव ईश्वर से अभिन्न ही है।[1]

अब जीव ही अविद्या का आश्रय है, और अविद्या ही जगत् का वीज है तो ईश्वर का क्या प्रयोजन ? यह आपत्ति वाचस्पति मत पर सहज उठती है। उसी को भामतीकार ने स्वयं उठाकर समाधान करते हुए कहा है कि अचेतन वस्तु चेतन पर अधिष्ठित होकर ही अपना कार्य करने में सफल होती है, इसलिये अविद्या अपना जगत् रूप कार्य करने के लिये परमेश्वर (ईश्वर) को निमित्त व उपादान रूप से अवलम्ब बनाती है, जैसे सर्प-भ्रम का अधिष्ठान भ्रान्त व्यक्ति नहीं, रज्जु होता है, वैसे ही प्रपञ्चविभ्रम का अधिष्ठान ईश्वर है।[2] उसकी उपहितता इतनी ही है कि वह अविद्या का विषय है। अन्यथा ब्रह्म से ईश्वर पदार्थ का कोई अन्तर भामतीकार ने नहीं किया है। ब्रह्म के सदृश ही ईश्वर भी 'निरवद्य' ही है। जीवाश्रिता अविद्या के कार्यभूत जगत् रूप विवर्त का अधिष्ठान होने से ब्रह्म के स्वरूप में कोई अतिशय नहीं आता जैसे रज्जु में सर्पविवर्त है।

आचार्य मधुसूदन ने सिद्धान्तविन्दु में वाचस्पति मिश्र का मत उद्धृत करते हुए यही कहा है कि अज्ञान का विषयीभूत चैतन्य ईश्वर है और अज्ञान का आश्रय चैतन्य जीव।[3]

परम्परा के अनुरोध से वाचस्पति ने भी जीव-स्वरूप के लिये प्रतिविम्ब शब्द का

---

१. अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित्। तदिति जीवात्मानः परामृशति। न केवलं शरीरादिभ्यः, जीवात्मभ्योऽपि व्यतिरिक्तः। स च सर्वस्यैव जगत ईष्टे। ऐश्वर्यसिद्ध्यर्थं स्वाभाविकमस्य रूपद्वयमुक्तम् सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति। तस्यापि जीवात्मभ्योऽपि व्यतिरेकात् न त्वम्पदार्थेन सामानाधिकरण्यमिति स्वमतमाह—आत्मा स भोक्तुरित्यपरे। भोक्तुर्जीवात्मनो विद्योपाधिकस्य स ईश्वरस्तत्पदार्थ आत्मा, तत ईश्वरादभिन्नो जीवात्मा। परमाकाशादिव घटाकाशादय इत्यर्थः। भा० १।१।१, पृ० ८२।

२. न ह्यचेतनं चेतनानधिष्ठितं कार्याय पर्याप्तमिति स्वकार्यं कर्तुं परमेश्वरं निमित्ततया वोपादानतया वाऽऽश्रयते, प्रपञ्चविभ्रमस्य हीश्वराधिष्ठानत्वमहिविभ्रमस्येव रज्ज्वधिष्ठानत्वम्, तेन यथाऽहिविभ्रमो रज्जूपादानः एवं प्रपञ्चविभ्रम ईश्वरोपादानः। वही, १।४।३, पृ० ३७८।

३. अज्ञानविषयभूतं चैतन्यमीश्वरः, अज्ञानाश्रयीभूतं च जीव इति वाचस्पतिमिश्राः। सि० बि०, पृ० ४७।

प्रयोग किया है किन्तु 'प्रतिविम्बकल्प' कहकर वस्तुतः प्रतिबिम्बरूपता में अपनी असम्मति प्रकट की है।[1]

भामतीकार के मत के निष्कर्षस्वरूप यह कहा जा सकता है कि (कल्पित) अज्ञान के (कल्पित ही) सीमा-रूप सम्बन्ध से आत्मा स्वयं ही स्व के रूप को नहीं जानता यह स्थिति है। 'जिसको' नहीं जानता, उस रूप से वह ईश्वर है, और 'जो' नहीं जानता, उस रूप से वह जीव है। अज्ञान अनादि है इसलिये यह अवस्था भी अनादि है। अनेक घटाकाश बनाने वाले घड़ों की तरह अज्ञान नाना हैं। इनसे अतिरिक्त कोई सर्वसाधारण अज्ञान रूपा माया नहीं है। नाना अज्ञान ही ईश्वर की उपाधियाँ है। ये अज्ञान विषयता-सम्बन्ध से ईश्वर के स्वरूप के अवच्छेदक हैं, और आश्रयता-सम्बन्ध से जीवस्वरूप के अवच्छेदक हैं।

अन्य आचार्यों ने लौकिक व शास्त्रीय व्यवहार की सिद्धि के लिये एक ही चैतन्य (परमतत्त्व) की चार अथवा तीन अवस्थाओं की कल्पना की है, (ब्रह्म, कूटस्थ, ईश्वर, जीव, या ब्रह्म, ईश्वर, जीव) वाचस्पति के मत में परमतत्त्व के दो ही रूप मानने से निर्वाह हो जाता है—ईश्वर व जीव। ईश्वर पद से यहाँ शुद्ध चिति (ब्रह्म) ही अभिप्रेत है, उस (ब्रह्म) का कोई मायोपाधिक रूप नहीं मानना पड़ता। अन्य मतों में उसकी आवश्यकता जगत् के उत्पादन आदि के लिये तथा जीवों के कर्मफलविभाग के लिये ही है, यहाँ जीव ही अपनी अविद्या द्वारा अपने-अपने जगत् का उत्पादकादि है, और कर्मफल-विभाग का निर्वाह उस (अदृष्ट-नियामक) रूप से कल्पित ईश्वर को लेकर हो सकता है। (इसकी विशेष चर्चा जगत्-प्रकरण में की जायेगी।) अथवा विषयतासम्बन्ध से अविद्यावच्छिन्न चैतन्य ही ईश्वर है और उसी रूप से वह प्रत्येक जीव के प्रति पृथक्-पृथक् कर्मफलदाता भी है।

ऐसी व्यवस्था देने पर भी यहाँ ईश्वर अन्यथासिद्ध हो जाता है; ऐश्वर्य की महत्ता या उपादेयता नहीं रहती, जीव के प्रति नियामकत्व नहीं रहता। यह स्थिति प्रतिविम्ववादी को खटकती है, क्योंकि जीव का ईश्वर के अधीन होना स्पष्ट दिखाते हुए विम्व की चेष्टा से ही प्रतिविम्ब में चेष्टा आना—यही प्रतिविम्ववाद का प्रियबीज है। दूसरी ओर ब्रह्म में सर्वथा अविकारिता, निश्चेष्टता अवच्छेदवादी का हृदय है, जो विशेषण-विशेष्य-दृष्टान्त में अधिक स्थिर एवं उपपन्न है। 'ब्रह्म' के ब्रह्मस्वरूप की अपेक्षा जगत्कारणता-सर्वज्ञता आदि से विशिष्ट ईश्वर-भाव में द्वैत-स्पर्श या द्वैताभास से जन्य अवरता प्रतीत होने के कारण[2] जीवाश्रिता अविद्या के विषय-रूप से ईश्वर व्याख्यात हुआ। इससे ब्रह्म-ईश्वर-जीव के तात्त्विक अभेद में कोई व्याघात नहीं आता, क्योंकि आकाश स्वयं (ब्रह्म) घटाकाश रूप से देखा जाने पर भी 'आकाशत्वेन' ईश्वर और 'घटावच्छिन्नत्वेन' जीव कहला ही सकता है। किन्तु वस्तुतः किसी भी वाद में वास्तव में कोई भी व्यवस्था स्थिर न हो पाना ही तो अनिर्वचनीयवाद का साधक है, अर्थात् अविद्या द्वारा कल्पित नाम-रूप का 'तत्' या 'अन्य' कोटियों में निर्वचन उपपन्न नहीं होता। सत्-चित्-आनन्द स्वरूप एकमेवाद्वितीय ब्रह्म ही तत्त्व है, 'अतोऽन्यदार्त्तम्।'

---

१. एवमविद्योपधानकल्पितावच्छेदो जीवः परमात्मप्रतिबिम्बकल्पः।
भा० १।१।४, पृ० १०२।

२. नेदं ब्रह्म यदिदम् इत्युपाधिभेदविशिष्टमनात्मेश्वरादि उपासते ध्यायन्ति।
केनोप० पदभाष्य १।४।

पञ्चम परिच्छेद

उपहित आत्मा

१. ईश्वर (वादनिरपेक्ष स्वरूप)

संहिताओं में प्रायः सभी प्रमुख देवों के प्रति किसी न किसी रूप में 'ईश' धातु का प्रयोग अवश्य हुआ है, सर्वाधिक इन्द्र तथा रुद्र के विषय में।[1] विविध प्रकार से प्रयुक्त ईश-धातुक विशेषणों तथा क्रियापदों (मुख्यतया—'ईशानः', 'ईशते') का अर्थ स्कन्द, मुद्गल, वेङ्कट एवं सायण-कृत भाष्यों में स्वामी, प्रभु, जगत् का नियामक, सब करने में समर्थ, शासक, इत्यादि कहा गया है। इन सब अर्थों का एक में समाहार करते हुए सम्पूर्ण जगत् के आदि स्रष्टा, धारक, नियन्ता, प्रथम चेतन एक देव का एक नाम हुआ 'हिरण्यगर्भ'[2]।

यहीं 'ईश्वर' की पृथक् व्यक्तित्वमयी धारणा का सूत्रपात है। वेदान्त के श्रुतिसिद्ध परमतत्त्व ब्रह्म के 'निर्गुण–निष्क्रिय' तथा 'सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्' ऐसे युगपत् प्रतिपादनों की एवं अनुभव-सिद्ध जीव के शास्त्र-सिद्ध कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि की उपपत्ति के लिये दोनों के मध्य सेतु रूप से 'ईश्वर' का विचार प्रवृत्त हुआ, जो 'एक' होते हुए भी 'सब' में रहता हुआ निखिल का नियामक, व्यवस्थापक हो, 'सब' में अनुस्यूत होते हुए 'सब' से 'अतीत' भी हो। जीव एवं जगत् की अपेक्षा से ब्रह्म या परमतत्त्व का वह रूप 'ईश + वरच्' का वाच्य बना जिस में वह वास्तव में जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-संहार, जीवों के संसरण, कर्मफलभोग इत्यादि से साक्षात् सम्बद्ध है, सभी कुछ का नियन्ता है, माया का अधिपति होते हुए उसका चालक या उसके द्वारा विश्व-क्रीडा का प्रवर्तक है। वेदान्त की सैद्धान्तिक दृष्टि 'ब्रह्म' की अद्वितीयता के परिप्रेक्ष्य में 'सर्व' की धारणा को 'व्यावहारिक' से अधिक स्तर नहीं दे सकती अतः स्वरूपतः नित्य-शुद्ध-बुद्ध भी 'ईश्वर' ईशनीय की अपेक्षा से उपहित आत्मा ही कहलाया।

उपनिषद् कहते हैं—जगत् में जो कुछ स्थावर-जङ्गम है, वह सब ईश्वर द्वारा आच्छादनीय है, व्याप्त है।[3] वह भूत, भावी व वर्तमान सभी कुछ का शासक है, सभी कुछ का अधि-

---

१. इन्द्रमीशानमोजसाभि····॥ — ऋ० सं० १।११।८॥
ईशानादस्य भुवनस्य भूरेः···रुद्रात्। — वही २।३३।९॥
एक ईशान ओजसा····। — वही ८।४१।१॥

२. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीद्॥ — वही १०।१२१।१-५॥

३. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। — ईश० १॥

पति हैं',[१] सब का अन्तर्यामी है। न देखा जाता हुआ द्रष्टा, न सुना जाता हुआ श्रोता, अज्ञात विज्ञाता''हैं। वह एक ही है, अकेला ही जड़ प्रकृति तथा चेतन जीवों का शासक है।[२] वह मायावी है। ऐन्द्रजालिक के प्रति इन्द्रजाल के समान ईश्वर के प्रति माया अधीन है। माया के हो नाना-रूप रूपी रस्सियों द्वारा वह समस्त लोकों का नियन्त्रण रखता है, व्यवस्था चलाता है।[3] वही अनेक होने की कामना करता है, सचराचर जगत् की उत्पत्ति करता है। फिर उसमें सर्वत्र स्वयं प्रविष्ट हो जाता है।[४] उसके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, मुख, घ्राण, पाणि, पाद, शिर सर्वत्र हैं।[५] वह सभी इन्द्रिय गुणों के आभास से युक्त भी है और इन्द्रियों से रहित भी है, वस्तुतः सर्वज्ञ है, सर्ववित् है, (सामान्य तथा विशेष सभी कुछ जानता है।) अखिल सचराचर लोक उसके वश में हैं, वह सभी के भीतर-बाहर, चारों ओर विद्यमान है। सभी प्रकार की कर्म व ज्ञान की शक्तियों, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश (स्थूल व सूक्ष्म भूत) काल, कर्म इत्यादि का एकमात्र वही प्रेरक है, प्रवर्तक है, नियामक है।[६] वह प्रत्येक जीव के साथ अङ्गुष्ठ-मात्र परिमाण से जीवत्वघटक बुद्धिरूपा गुहा या हृदयाकाश में प्रविष्ट है।[७]

आचार्य गौड़पाद ने 'तुरीय' के वर्णन में ही विशेषण रूप से 'ईशानः' 'प्रभुः' कह दिया है, उपहित एवं तुरीय से अवर ईश्वर-तत्त्व के विषय में वैतथ्य प्रकरण में इतना सा कहा है कि स्वयंप्रकाश आत्मा अपनी माया से स्वयं ही समस्त भेदों (प्रपञ्च) की कल्पना करता है,

---

१. ईशानो भूतभव्यस्य'''। कठ० २।१।१२ ॥
सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः''''''''एष सर्वेश्वरः''''''''।
बृह० उ० ४।४।२२ ॥
यः पृथिव्यां तिष्ठन्''''''''यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतानि अन्तरो यमयति एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः''''''''अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता''''अतोऽन्यदार्त्तम्। वही ३।७।३-२३।

२. क्षरात्मानावीशते देव एकः। श्वे० १।१० ॥

३. य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सञ्चुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥
वही ३।१,२ ॥

४. तदैक्षत, बहुः स्यां प्रजायेयेति। छा० उ० ६।२।३ ॥
तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्। तै० उ० २।६।१ ॥

५. विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो, विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्। श्वे० ३।३ ॥

६. सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥
वही ३।१७ ॥

७. अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। वही ३।१३ ॥

एवं वही इन सब को जानता भी है[1] इसी से ईश्वर के स्वरूप के प्रमुख दो पक्ष जगत्कर्तृत्व व सर्वज्ञत्व कह दिये गये।

आचार्य शङ्कर के उपनिषद्भाष्यों के अनुसार समस्त प्राणियों को उनके कर्मों के अनुरूप फल देने वाला, तीनों लोकों का स्वामी, सभी पर शासन करने वाला, प्रधान व पुरुष का नियमन करने वाला, आत्मा ईश्वर है। वह मायावी है, मायोपाधिक होकर अपनी शक्तियों द्वारा सम्पूर्ण लोकों का शासन करता है।[2] वही समस्त जगत् को उत्पन्न करता है, स्थित रखता है, और उसका नाश भी करता है, अर्थात् प्रलयकाल में उसे सङ्कुचित भी कर लेता है। वह सम्पूर्ण लोकों की रचना करने में कुम्हार की तरह है, मृत्पिण्ड रूप से अपने आपको उपादान कारण नहीं वनाता, केवल अपनी शक्ति को क्षुब्ध करने-मात्र से जगत् का रचयिता या नियन्ता कहलाता है।[3]

समस्त प्राणियों के चक्षु उस ईश्वर के ही हैं, इसी प्रकार समस्त प्राणियों के सभी अङ्ग उसी के हैं, अतः अपनी इच्छा मात्र से वह सर्वत्र सभी विषयों को ग्रहण कर सकता है।[4]

वह सर्वगत (सर्वव्यापी) सर्वसमर्थ, सवका शासक, प्रेरक है। वही विराट् या हिरण्यगर्भ (एकजीववाद के अनुसार प्रमुख व प्रथम या वास्तविक जीव) का उत्पादक है।[5]

एक ही नित्यमुक्त ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियों का आत्मा माना जाता है, क्योंकि चक्षु और बुद्धि आदि के सङ्घात की परम्परा से प्राप्त हुए अहङ्कार और ममता रूप विपरीत ज्ञान का विच्छेद न होना ही उसका लक्षण है। वह नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त विज्ञानस्वरूप ईश्वर है। वह जीव का अन्तर्यामी है। ऐसे ईश्वर की सत्ता जीव से भिन्न नहीं, कल्पित अनित्य ज्ञान चित्त,

---

१. निवृत्ते सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः। अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः॥
मां० का० १।१०।

कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः॥ वही, २।१२।

स चात्मभूतः सर्वस्य सर्वक्रियाफलप्रत्ययसाक्षी नित्यविज्ञान-स्वभावः संसारधर्मैरसंस्पृष्टः। केन० उ० ३। वा० भा०॥

२. कर्माध्यक्षः सर्वप्राणिकृतविचित्रकर्माधिष्ठाता। श्वे० भा० ६।११॥
प्रधानमव्यक्तं, क्षेत्रज्ञो विज्ञानात्मा, तयोः पतिः पालयिता। वही, ६।१६॥
जालं माया दुरत्ययत्वात्.........तदस्यास्तीति जालवान् मायावी। मायोपाधिः सन् ईष्टे। वही, ३।१॥

३. अद्वितीयः परमात्मा, न चासौ कुम्भकारवद् आत्मानं केवलं मृत्पिण्डस्थानीयमुपादानकारणमुपादत्ते। किं तर्हि? स्वशक्तिविक्षेपं कुर्वन् स्रष्टा नियन्ता वाभिधीयते। वही, ३।२॥

४. सर्वप्राणिगतानि चक्षूंषि अस्येति विश्वतश्चक्षुः अतः स्वेच्छयैव सर्वत्र रूपादौ सामर्थ्यं विद्यते.......। वही, ३।३।

५. हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वः.......। वही ३।४।

चैत्य (सुख आदि विषय) बीज (अविद्या) और बीजी (शरीरादि) से तादात्म्य के कारण बाह्य जीव ईश्वर से विपरीत लक्षणों वाला माना जाता है, इस औपाधिक स्वरूप के रहने तक संसारी कहलाता है, उसका विच्छेद होने पर मुक्त कहलाता है ।[1]

ईश्वर जीव से अभिन्न हो तो विरुद्ध लक्षण वाला एवं जीवगत सुख-दुःखादि से व्यग्र भी होगा—ऐसी शङ्का उठा कर समाधान करते हुए आचार्य ने कहा है कि ईश्वर तो सूर्य के समान केवल निमित्त मात्र है, देखने वालों की विपरीत मतियाँ तो आरोपित हैं । सूर्य का न उदय है न अस्त, न वह दिन-रात बनाता है, न किसी पदार्थ को विशेष प्रकाशित करता है, न ढकता है, तब भी दृष्टि के विपरीत भाव से सब प्रकार का कर्तृत्व उस पर आरोपित होता है, वैसी ही ईश्वर की स्थिति है ।[2]

शारीरकभाष्य में आरम्भ में ही ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिये आचार्य शङ्कर ने कहा है कि अनेक कर्त्ता व भोक्ताओं से संयुक्त, प्रतिनियत देश, काल, निमित्त वाले कर्मों व फलों के आश्रय, मन से भी अचिन्त्य रचना-तत्त्व वाले जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व नाश सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु—अचेतन प्रधान (सांख्याभिमत) परमाणु (न्याय-वैशेषिक मत) शून्य (बौद्ध) स्वभाव (चार्वाक्) अथवा प्रथम जीव (हिरण्यगर्भ, वेदान्त के एक देशी) से नहीं हो सकते, और कोई भी कार्य कर्त्ता विना नहीं हो सकता अतः इस सचराचर जगत् का कर्त्ता ईश्वर सिद्ध है ।[3]

जगत् के जन्म, स्थिति प्रलय आदि का कारण व अधिष्ठान ईश्वर है—ऐसे निर्णय से प्राप्त ब्रह्म की ईश्वर-रूपता से कूटस्थता के खण्डित होने की आपत्तियों के उत्तर में कहा गया है कि सर्वज्ञत्व के लिये अविद्यात्मक नाम-रूप-बीज की सर्व=जगत् के रूप में अभिव्यक्ति की अपेक्षा है । 'इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु' इत्यादि श्रुति में कहा गया

---

१. एक एवेश्वरश्चात्मा सर्वभूतानां नित्यमुक्तोऽभ्युपगम्यते । बाह्यचक्षुर्बुद्ध्यादिसमाहारसन्तानाहङ्कारममत्वादिविपरीतप्रत्ययप्रबन्धाविच्छेदलक्षणो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तविज्ञानात्मेश्वरगर्भो नित्यविज्ञानाभासश्चित्तचैत्यबीजबीजिस्वभावः कल्पितोऽनित्यविज्ञान ईश्वरलक्षणविपरीतोऽभ्युपगम्यते, यस्याविच्छेदे संसारव्यवहारः, विच्छेदे च मोक्षव्यवहारः । केन० ३ वा० भा० पृ० १०३ ।

२. यथा हि सविता नित्यप्रकाशरूपत्वाल्लोकाभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिनिमित्तत्वे सति लोकदृष्टिविपर्ययेणोदयास्तमयाहोरात्रादिकर्तृत्वाध्यारोपभाग्भवत्येवमीश्वरे नित्यविज्ञानशक्तिरूपे लोकज्ञानापोहसुखदुःखस्मृत्यादिनिमित्तत्वे सति लोकविपरीतबुद्ध्याध्यारोपितं विपरीतलक्षणत्वं सुखदुःखाश्रयश्च न स्वतः । वही, पृ० १०५ ।

३. अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद् भवति ।...... न यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्तविशेषणमीश्वरं मुक्त्वाऽन्यतः प्रधानादचेतनात्, अणुभ्योऽभावात्, संसारिणो वा उत्पत्त्यादि सम्भावयितुं शक्यम्.......। ब्र० शां० भा० १।१।२, पृ० ३५–३७ ।

है कि नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान् ईश्वर से जगत् के जन्म आदि होते हैं, वही प्रथम ब्रह्मसूत्र का अभिप्राय है।[1]

अनिर्वचनीय संसारप्रपञ्च के बीज हैं नाम व रूप, वही सर्वज्ञ ईश्वर की मायाशक्ति हैं। जैसे मिट्टी या धातु से बने अनेक आकारों के पात्रों का अनुरोधी आकाश होता है, वैसे ही अविद्याकृत नाम-रूप का अनुरोधी ईश्वर है। वह इन नाम-रूप से उत्पन्न शरीरेन्द्रिय-सङ्घात के अनुरोधी घटाकाशस्थानीय जीव नामक विज्ञानात्माओं के ऊपर व्यवहारदशा में शासन करता है। इस प्रकार अविद्या रूप उपाधि से किये गये परिच्छेद की अपेक्षा से ही आत्मा में ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्त्व आदि हैं, वास्तव में (परमार्थतः) तो आत्मा उपाधिरहित शुद्ध है, उस रूप में आत्मा में ईशितृत्व-ईशितव्यत्व आदि शब्दप्रयोग हो नहीं सकते।[2]

समस्त जगत् ईश्वर का शरीर है,[3] एवं जीव के साथ-साथ वह बुद्धि-रूपी गुहा में प्रविष्ट होकर भी रहता है। किन्तु इन देहादि में ईश्वर को आत्मभाव नहीं है, इसीलिये वह अपने शरीरभूत जगत् तथा सहवर्ती जीव के दुःखों से दुःखी नहीं होता, इसमें अनेक श्रुति-स्मृति प्रमाण हैं।[4]

सुरेश्वराचार्य ने बृहदारण्यकभाष्यवार्त्तिक में पूर्वोक्त तथ्यों को ही नई रीति से कहा है कि जगत् रूपी द्वैत-इन्द्रजाल के उपादानकारण अज्ञान का उपाश्रयण करके ब्रह्म जगत्कारण बनता है, तभी वह सर्वज्ञ, सर्वग, सर्वात्मा, ध्रुव, जगत् के जन्मादि का कारण होता है, तभी ईश्वर कहलाता है। 'यः पृथिव्याम्……[5]' इत्यादि श्रुति से वह ईश्वर ही अन्तर्यामी है,[5]

---

१. अविद्यात्मकनामरूपबीजव्याकरणपेक्षत्वात् सर्वज्ञत्वस्य। 'तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० २।१) इत्यादिवाक्येभ्यो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपात् सर्वज्ञात् सर्वशक्तेरीश्वरात् जगज्जन्मस्थितिप्रलया……इत्येषोऽर्थः प्रतिज्ञातः।
ब्र० शां० भा०, २।१।१४ पृ० ३६९।

२. एवमविद्याकृतनामरूपोपाध्यनुरोधीश्वरो भवति, व्योमेव घटकरकाद्युपाध्यनुरोधि। स च स्वात्मभूनानेव घटाकाशस्थानीयानविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतकार्यकारण-सङ्घातानुरोधिनो जीवाख्यान् विज्ञानात्मनः प्रतीष्टे व्यवहारविषये। तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमेवेश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं च; न परमार्थतो विद्ययाऽपास्तसर्वोपाधिस्वरूप आत्मनीशित्रीशितव्यसर्वज्ञत्वादिव्यवहार उपपद्यते।
वही २।१।१४, पृ० ३७०।

३. बृह० उ० ३।७।३–२३—अन्तर्यामीब्राह्मण एवं शां० भा०।

४. जीवो ह्यविद्यावेशवशाद्देहाद्यात्मभावमिव गत्वा तत्कृतेन दुःखेन दुःख्यहमित्यविद्यया कृतं दुःखोपभोगमभिमन्यते। नैवं परमेश्वरस्य देहाद्यात्मभावो दुःखाद्यभिमानो वाऽस्ति।
वही, २।३।४६।

५. अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम्।
अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते॥

शेष अगले पृष्ठ पर

जगद्गुरु है। बुद्धि का कारण जो माया है, वही ईश्वर की उपाधि है।[1] ब्रह्म से इतर सभी ईशितव्य है जो विशेषण होकर ब्रह्म को ईश्वर पदवाच्य बनाता है।[2]

प्रकाशात्मा ने पञ्चपादिकाविवरण में कार्य-कारण-भाव को ही प्रमुख युक्ति बनाकर वैशेषिक, नैयायिक तथा योगमत के ईश्वर-साधक अनुमानों का उल्लेख करते हुए ईश्वर की सिद्धि की है, कहा है कि सभी सातिशय शक्तियों की एक पराकाष्ठा मानना आवश्यक है, तथा विविध-विचित्र रचनापूर्ण सम्पूर्ण जगत् का भी कोई एक कर्त्ता मानने में कल्पना-लाघव है, अतः सभी ज्ञान-ऐश्वर्यादि शक्तियों का काष्ठा रूप होने से जो सर्वदा सर्वज्ञ-सर्ववित् है, वही सभी कुछ को विषय करने में समर्थ होने से निखिल विश्व का कर्त्ता भी है—वही ईश्वर है।[3]

आनन्दानुभव ने न्यायरत्नदीपावली में कहा है—मायोपहित चैतन्य, जगत् की उत्पत्ति आदि में निमित्त तथा उपादान भी होने से सर्वात्मक ईश्वर है। इसकी उभयकारणता सिद्ध करते हुए कहा है—अपने आप में ही कार्यारम्भक होने के नाते उपादान ही उपकरणों का नियन्ता होने से उसी में निमित्तता की भी उपपत्ति हो जाती है, उसके लिये भेद आवश्यक नहीं। ईश्वर कुम्हार आदि के समान तटस्थ कर्त्ता नहीं है, इन्द्रजाल-कुशल मायावी के समान है, ऐन्द्रजालिक के कार्य हाथी-घोड़े-भवन इत्यादि का उपादान ऐन्द्रजालिक के सिवा कुछ नहीं होता।[4]

विद्यारण्य ने पञ्चदशी में कहा है कि सच्चिदानन्द ब्रह्म का ईश्वर होना उपाधि द्वारा कल्पित है। ऐश्वरी शक्ति सभी वस्तुओं को नियमपूर्वक चलाने वाली है तथा आनन्दमय कोश से लेकर तृण-पर्यन्त सभी वस्तुओं में छिपी हुई है। वह शक्ति आत्मा के छायावेश (आभास)

सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सर्वात्मा सर्वगो ध्रुवः।
जगज्जनिस्थितिध्वंसहेतुरेषु सदेश्वरः॥
यः पृथिव्यामितीशोऽसावन्तर्यामी जगद्गुरुः। बृ०भा०वा० १।४।३७१,७६–७७॥

१. बुद्धितत्कारणोपाधी क्षेत्रज्ञेश्वरसंज्ञकौ॥ वही १।४।६१४॥

२. स एष ईश्वरः साक्षादिति श्रुत्या प्रदर्शितः।
विशेषणविशेष्यत्वमीशितव्येशयोरिह॥ वही ४।४।९८१॥

३. सातिशयानां काष्ठाप्राप्तिः परिणामानामुपलब्धा सातिशयं च ज्ञानमतः क्वचित् काष्ठां प्राप्तं सर्वविषयमिति सर्ववित्सर्वदासिद्ध ईश्वरः।
पं० पा० (लाज० सं०), पृ० १९८–९९।

४. तत्पदार्थस्तावत् सच्चिदानन्दं मायोपहितं जगदुत्पत्तिस्थितिलयनिमित्तमुपादानतया च सर्वात्मकम्''''ननु निमित्तश्चेदीश्वरः कथं न भिन्नः। उच्यते—स्वात्मनि कार्यारम्भकतयोपादानस्यैवोपकरणनियन्तृत्वेन निमित्ततोपपत्तेः न भेदसम्भवः। यथा माहेन्द्रजालकुशलस्य। न हि तत्र मायाविनो भिन्नं भिन्नोपादानं वा हस्त्यादिकार्यम्।
न्या० र० दी०, पृ० ३३६।

के कारण चैतन्य के समान प्रकाशित होती है। उस शक्ति रूपी उपाधि के मेल से परब्रह्म ही ईश्वरत्व को प्राप्त हो जाता है।[1]

माया (शुद्धसत्त्वगुणप्रधान प्रकृति) से उपहित बिम्ब (परमात्मा) माया को स्वाधीन करके ईश्वर होता है।[2] इसी से ईश्वर के सर्वज्ञत्व की एक नई व्याख्या सामने आती है कि ईश्वर की उपाधि सत्त्वप्रधान है, सत्त्वगुण का स्वभाव है ज्ञान व प्रकाश। फिर शुद्ध-सत्त्व होने से वह आवरक भी नहीं अर्थात् ईश्वर के प्रति माया का आवरण-कृत्य नहीं है, अतएव ईश्वर स्वरूपतः सर्वज्ञ है, और सभी विषय सर्वदा उसके प्रति अनावृत (प्रकट) हैं, अतः वह सर्ववित् है। वह आवृत नहीं है, इसीलिये सर्वदा मुक्त है क्योंकि आवरण ही बन्धहेतु है।

विद्यारण्य ने पञ्चदशी तथा विवरणप्रमेयसङ्ग्रह में ब्रह्म व ईश्वर शब्दों के अर्थों को स्पष्ट करते हुए इनके भेद व अभेद की समस्या सुलझाई है, जो (समस्या) विभिन्न वादों में अथवा विभिन्न आचार्यों द्वारा ईश्वर शब्द का प्रयोग कभी शुद्ध चैतन्य और कभी उपहित चैतन्य के लिये किया गया देखकर उदित हो जाती है। कहा गया है कि ईश्वर के स्वरूप के तीन घटक हैं—माया, माया का अधिष्ठान चैतन्य और माया में पड़ा हुआ उस चैतन्य का आभास। ये तीनों मिलकर ईश्वर पदार्थ हैं। किन्तु जगत् के जन्म-स्थिति-संहार की हेतुता, सर्वज्ञत्व, कर्मफलप्रदातृत्वादि जो कुछ भी ऐश्वर्य है, वह सब आभास अंश का ही है, आभासात्मकता जैसी जीव में है, वैसी ही ईश्वर में है, तो वह भी किसी अंश में अविद्योपहित कहलायेगा ही, इसीलिये ईश्वर पद का वाच्य अर्थ वही है। सर्वदा उपाधिरहित अधिष्ठान-चैतन्य ईश्वर पद का लक्ष्य अर्थ है।[3]

ब्रह्म शब्द का भी वाच्य (शब्द द्वारा साक्षात् कहा हुआ) अर्थ सोपाधिक चैतन्य ही है, क्योंकि 'ब्रह्म' बृह धातु से निष्पन्न है, अर्थ हुआ व्यापक वस्तु। व्यापकता द्विविध हो सकती है—आपेक्षिक (जैसी माया में अपने कार्य जड़ जगत् की अपेक्षा से है) तथा निरपेक्ष (शुद्ध चैतन्य में सर्वापेक्षा से)। ईश्वर में इन दोनों प्रकार की व्यापकता है, वह माया से भी व्यापक है, और स्वरूपतः भी। व्यापकता व्याप्य-सापेक्ष भी है, अतः उस पक्ष में परमतत्त्व को ब्रह्म भी नहीं कहा जा सकता। तब भी ईश्वर शब्द वाच्यार्थ का बोधक है और ब्रह्म शब्द लक्ष्यार्थ का।

गोविन्दानन्द ने रत्नप्रभा में भाष्यकार की ही युक्ति को विवृत करते हुए ईश्वर की सिद्धि की है। तथा सर्वज्ञत्व की व्याख्या विद्यारण्य के मत का खण्डन करते हुए की है। कहा है—कर्त्ता विना कार्य नहीं हो सकता इस व्याप्तिज्ञान से पहले जगत् के किसी कर्त्ता का अस्तित्व

---

१. चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनैव विभाति सा।
तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद् ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत्॥ पं० द० ३।४०॥

२. सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः॥ वही १।१६॥

३. ...लक्षणाभिधानावसरे सर्वज्ञशब्देन सर्वप्रकाशकत्वोपलक्षितशुद्धचैतन्यमात्रस्य विवक्षितत्वात्। वि० प्र० सं०, पृ० ६७१।

सिद्ध होता है, फिर सम्पूर्ण जगत् के कर्तृत्व से ही उसका सर्वज्ञत्व सिद्ध होता है क्योंकि क्रिया के मूल में ज्ञान है।[1] सत्स्वरूप उस जगत्कारण ने ऐसा ईक्षण किया कि बहु रूप से स्थिति के लिये मैं ही उपादान रूप से भी कार्य से अभिन्न होकर उत्पन्न होऊँ। तब सृष्टि की। उसके द्वारा किया गया 'ईक्षण' (चिन्तन, सङ्कल्प या ज्ञान) ही उसका तप है।[2] यह ज्ञान सत्त्वगुण की वृत्ति अर्थात् जड़-वृत्ति-रूप नहीं, उससे अभिव्यक्त होता हुआ स्वरूपभूत बोध (चैतन्य) ही है। इस ईक्षण के कर्त्ता रूप से ईश्वर सिद्ध होता है।[3] अर्थात् ईश्वर का ईक्षण वेदान्त-सम्मत चिद्युक्त या चिदाभासित वृत्ति है, सांख्य-वृत्ति में चिदाभास अभ्युपगत न होने से वहाँ वृत्ति जड़ है। इसीलिये ईश्वर-स्थान पर 'प्रधान' को नहीं रखा जा सकता।

वाचस्पति मिश्र के मत में अविद्या का आश्रय जीव माना गया है और विषय ब्रह्म। प्रत्येक जीव का जगत् भी अपना पृथक् ही स्वीकृत है। ईश्वर-पदार्थ भी क्योंकि उपहित आत्मा है, इसलिये वह भी जीवनिष्ठा अविद्या द्वारा ही उस जगत् के नियन्ता, शासक, पालक कर्मफल-व्यवस्थापक आदि रूप में कल्पित है एवं प्रत्येक जीव द्वारा कल्पित ईश्वर भी पृथक्-पृथक् है ऐसा अभिप्राय आपाततः प्रतीत होता है किन्तु वास्तव में यह वाचस्पति का अभिमत नहीं। क्योंकि ब्रह्म से इतर सर्वसाधारण सृष्टि के कर्ता के रूप से कोई अवर ईश्वर पदार्थ वे नहीं मानते। एकमात्र ब्रह्म ही विषयतावच्छेदक सम्बन्ध से अविद्या से उपहित दृष्टि द्वारा देखा जाता हुआ, सभी जीवों के प्रति पृथक्-पृथक् कर्मफलदाता है। भामती में अन्तर्यामी तत्त्व के विश्लेषण-प्रसङ्ग में जीवात्मा में प्राप्त अन्तर्यामित्व का खण्डन करके परमात्मा, ईश्वर में ही उसकी स्थापना की गयी है, एवं स्पष्ट कहा है कि श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराणों में सर्वज्ञ सर्व-शक्तिमान् परमेश्वर को ही जगत् के कारण रूप से जाना गया है।[4]

समस्त विकार-समूह (जगत्) उसी परमेश्वर की शक्ति अविद्या का परिणाम है, और उसका शरीर-स्थानीय है, वही यथायथ पृथिवी आदि कार्यकरणों से उन्हीं पृथ्वी आदि का नियमन कर सकता है। इससे किसी प्रकार की अनवस्था नहीं होती, क्योंकि वह किसी नियन्ता का नियमन नहीं करता, किन्तु जो जीव नियन्ता रूप से लोक में प्रसिद्ध है वह

---

१. व्याप्तिज्ञानाद् जगतः कर्ताऽस्ति इत्यस्तित्वसिद्धिः, पश्चात् स कर्ता सर्वज्ञो जगत्कारणत्वाद्''''इति सर्वज्ञत्वसिद्धिः लक्षणात्।

र० प्र० १।१।२, पृ० १०९।

२. सच्छब्दवाच्यं कारणमैक्षत। स्थित्यर्थमहमेव उपादानतया कार्याभेदात् जनिष्यामि''' ज्ञानमीक्षणमेव तपः। वही, १।१।५, पृ० २३२-३३।

३. केवलसत्त्ववृत्तेः ज्ञानत्वमङ्गीकृत्य प्रधानस्य सर्वज्ञत्वं निरस्तम्। सम्प्रति न केवल-जडवृत्तिः ज्ञानशब्दार्थः किन्तु साक्षिबोधविशिष्टा वृत्तिः वृत्तिव्यक्तबोधो वा ज्ञानम्''''''''। चिदात्मनि अपि चिद्रूपेण कर्तृत्वोपचारः।

वही, १।१।५, पृ० २३४।

४. श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु तावदत्रभवतः सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः परमेश्वरस्य जगद्योनित्व-मवगम्यते।'''''''' भा० १।२।१९, पृ० २५३।

उपाधि-सीमा द्वारा कल्पित भेद वाला (उपाधि के भेद से जो जीवत्व से भिन्न अवच्छेद वाला) परमात्मा ही है, घटाकाश से भिन्न मठाकाश की भांति ।[1]

निष्कृष्ट रूप में यह कहा जा सकता है कि ईश्वर ब्रह्म का वह रूप है, जिसमें वह इस अचिन्त्य रचना वाले जगत् की सम्पूर्ण व्यवस्था से चकित दृष्टि द्वारा देखा जा रहा है। जगत् की ओर से ही जगत् के परे स्थित तत्त्व को देखने पर,—जो इस जगत् को उत्पन्न करता है (जगत् एक अद्भुत कार्य है, जिसका कोई अद्भुत शक्तिमान् कर्त्ता होना नियत है), इसके अनन्त वैचित्र्य को यथास्थान बनाये रखते हुए, इसकी प्रत्येक गति-विधि की सञ्चालिका प्रकृतिशक्तियों को एक नियम में रखता है, इसके चर व अचर दोनों पक्षों का अन्तर्यामी नियामक है, और अचर पक्ष का प्रेरक, सञ्चालक है, जिसमें सचराचर सृष्टि का विलय होता है, पुनः उद्भव भी—ऐसे विशेषणों से युक्त जो तत्त्व का रूप दिखाई देता है, वह उसका विशुद्ध रूप नहीं हो सकता क्योंकि वह तो निष्क्रिय, निर्विकार, इतरसम्भावनाशून्य है, यह अधिकतर आचार्यों (प्रायः विवरण प्रस्थान के) का मत है, इसीलिये ईश्वर-पदार्थ उपहित या सोपाधिक चैतन्य को ही माना गया है। क्योंकि अविद्या या माया रूप उपाधि के परे जगत् का नाम भी नहीं है, अतः जगत्-सम्बन्धी कोई भी विशेषण निर्विशेष-निरुपाधि-विशुद्ध परम तत्त्व (ब्रह्म) में नहीं दिया जा सकता ।

उपहित होने पर भी वह संसारी, कर्ता, भोक्ता, अत्यल्पशक्ति-सम्पन्न जीवों से विलक्षण ही है, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् का स्रष्टा, पालक, शासक आदि होने के लिये (ज्ञान इच्छा व क्रिया में) अद्भुत अनन्त शक्ति से युक्त होना आवश्यक है। इसीलिये ब्रह्म को ईश्वर-पदार्थ बनाने वाली उपाधि का प्रभाव जीव-पदार्थ बनाने वाली उपाधि से पृथक् माना गया है अथवा एक ही उपाधि के कारण व कार्य रूप से दो रूप माने गये हैं। ईश्वर की उपाधि स्वयं सम्पूर्ण अविद्या है, जिसमें जगत् के बीज नाम-रूप, बीज रूप से ही स्थित हैं। यह अविद्या ही ईश्वर की वह अद्भुत शक्ति है जिसके द्वारा वह स्वरूपतः अविक्रिय, अक्रिय, निराकार, अव्यपदेश्य होते हुए भी स्वयं ही षड्विकारशील, नाम-रूपात्मक जगत् का उपादान भी बन जाता है और स्रष्टा रूप से निमित्त भी ।

अविद्या ईश्वर के प्रति, ऐन्द्रजालिक के प्रति इन्द्रजालशक्ति के समान ही है, उसी दृष्टि से उसका नाम माया है यह पहले भी देखा जा चुका है। वह शक्तिमान् के प्रति शक्ति के समान ईश्वर के अधीन है। अतः ईश्वर स्वतन्त्र है। ईश्वर-पदार्थ आत्मतत्त्व पर माया का इतना ही प्रभाव है कि वह उसमें जगत्-सम्बन्धी सङ्कल्प 'ईक्षण' उत्पन्न कराती है, जगत् के प्रत्येक विषय का सामान्य रूप से ज्ञान होने के लिये अविद्यावृत्ति और विशेष रूप से ज्ञान होने के लिये अन्तःकरणवृत्ति बनती है। अविद्या का आवरणकृत्य ईश्वर के प्रति नहीं है, अतः

---

१. सर्वं विकारजातं तदविद्याशक्तिपरिणामस्तस्य शरीरेन्द्रियस्थाने वर्तते इति यथायथ-पृथिव्यादिदेवतादिकार्यकरणैस्तानेव शक्नोति नियन्तुम् । न चानवस्था न हि नियन्त्रन्तरं तेन नियम्यते, किन्तु यो जीवो नियन्ता लोके सिद्धः स परमात्मैव उपाध्यवच्छेदकल्पितभेदस्तथा व्याख्यायते''......तस्मात् परमात्माऽन्तर्यामी न जीवादिरिति सिद्धम् । वही, १।२।२०, पृ० २५३–५४ ।

उसका चित्पक्ष या स्वरूपात्मक ज्ञान सर्वदा प्रकट है। अतः वह सर्वज्ञ व सर्ववित् है। अन्तःकरणविशिष्ट रूप से जो जीव हैं वही अविशिष्ट रूप से साक्षी होते हुए ईश्वर हैं। अविद्यावृत्ति से सर्वज्ञता और अन्तःकरणवृत्ति से सर्ववित्-ता क्रमशः ईश्वर और साक्षी रूपों के विशेष हैं।

वह कर्मफलप्रदाता है। जीवों के कर्मजनित अदृष्ट ईश्वर में फलदान-स्वभाव को जागृत करके तदनुकूल ज्ञान, इच्छा व क्रिया के अभिव्यञ्जक होते हैं, इसलिये सुख-दुःख, पुण्य-पाप इत्यादि द्वन्द्वों से युक्त विषम सृष्टि का कर्ता होने पर भी ईश्वर में निर्दयता आदि दोष प्रसक्त नहीं होते।

ईश्वर के उक्त ज्ञान, इच्छा व क्रिया सृष्टि के आरम्भ में प्रकट होकर प्रलय पर्यन्त रहते हैं, अतः नित्य कहलाते हैं।

दूसरी विचारधारा (मण्डन व वाचस्पति प्रस्थान) आत्मतत्त्व के अनुपहित व उपहित दो ही रूप मानती हैं, ब्रह्म का ही अविद्या-विषयीकृत रूप ईश्वर है, यह कोई पृथक् पदार्थ नहीं, क्योंकि अविद्या का विषय होने से ब्रह्म की शुद्धता में कोई अन्तर नहीं पड़ता जिसके लिए उसका प्रतिनिधि अवर रूप माना जाय। जिस मत में जीव ही जगत् का कल्पक है, तथा जगत् की सत्ता स्वाप्न पदार्थों की सत्ता से पृथक् नहीं, उसमें तो कर्मफलदाता रूप से ईश्वर भी कल्पित ही माना जाता है।

ईश्वर के स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर तथा पञ्चकोश भी होने का उल्लेख पाया जाता है, जो उपनिषदों में यत्र-तत्र प्रकीर्ण तथा वेदान्त के अर्वाचीन ग्रन्थों—सदानन्द यति के वेदान्तसार, तत्त्वचिन्तामणि व अद्वैतब्रह्मसिद्धि में संगृहीत है। अनावश्यक विस्तार-भय से वह यहाँ चर्चित नहीं है।

२. साक्षी

ईश्वर तत्त्व एवं जीव तत्त्व के मध्य, चित् की एक और अवस्था है जो एक ओर ब्रह्मतत्त्व के समान निष्क्रिय व असङ्ग है, दूसरी ओर वह प्रतिमुहूर्त जीव के साथ-साथ रहती हुई उसके प्रत्येक कार्य—संकल्प से चेष्टा पर्यन्त—को अनवरत देखती रहती है। इस पक्ष से वह ईश्वर-तत्त्व का ही एक रूप विशेष है, जिसमें रहता हुआ वह (ईश्वर) जीव के सब कर्म देखता है, जिनके अनुसार फलविधान सम्पन्न होता है, । मीमांसक फलोत्पादन शक्ति कर्म में ही मानते हैं कि वह (कर्म) स्वयं ही अपने फल रूप में परिणत होगा—यह नियत है। किन्तु वेदान्त में कर्म को प्रधानता न देकर जो ज्ञान (चैतन्य) को प्रधानता दी गई है, तदनुसार ज्ञान (आत्मतत्त्व) का ही एक रूप यह भी है कि स्वयं निर्विकार रहते हुए कर्मों को संस्कार

रूप में परिणत करके उनके अनुरूप फल उन-उन संस्कारों के आधारों के प्रति युक्त करता है। ईश्वर तत्त्व के दो प्रमुख पक्ष हैं—जगत् की सृष्टि आदि करना या उसका आधार होना तथा कर्मफल-विधान। यह द्वितीय पक्ष ही साक्षि-पदार्थ की कल्पना का निमित्त है।

आचार्य गौड़पाद की माण्डूक्यकारिका में अस्पष्ट रूप में, सभी कुछ को सर्वदा जानने वाले ईश्वर के स्वरूप-रूप में साक्षी का सङ्केत मिलता है, साक्षी नाम से नहीं।[1]

श्वेताश्वतर उपनिषद् तथा भाष्य में सर्वप्रथम साक्षी का स्वरूप वर्णित है। तदनुसार समस्त प्राणियों में छिपा हुआ एक (सर्व साधारण व अद्वितीय) प्रकाश स्वरूप, सर्वव्यापी सभी जीवों का अन्तरात्मा, समस्त प्राणियों द्वारा किये जाने वाले विभिन्न कर्मों का अध्यक्ष (अधीक्षक) अधिष्ठाता (कोई कार्य होते समय उसमें व्यापृत हुए विना पृथक् रहकर ही उसे देखने वाला) सभी भूतों (प्राणियों या जीवों) के सहित, या उनमें, या उनके समानाधिकरण होकर रहने वाला आत्मस्वरूप साक्षी है।[2] साक्षी शब्द की व्युत्पत्ति पाणिनि-सूत्र के अनुसार साक्षात् देखने वाले के अर्थ में कही है। इससे उक्त आत्म-स्वरूप सर्वदा सब कुछ का साक्षात् द्रष्टा है।[3] इस साक्षी शब्द के साथ ही श्रुति में 'चेताः' 'केवलः' तथा 'निर्गुणः' ये ब्रह्म-बोधक शब्द कहे गये हैं। इससे साक्षी का ब्रह्म से अभेद सूचित होता है।

शारीरकभाष्य के आरम्भ में प्रत्यगात्मा को अन्तःकरण की समस्त वृत्तियों का साक्षी तथा सर्व-साक्षी कहकर विशेपित किया गया है।[4]

गोविन्दानन्द ने रत्नप्रभा में आचार्य शङ्कर के उक्त कथन में साक्षी शब्द का अभिमत अर्थ—'जिसका प्रत्यक्त्व ज्ञात नहीं है ऐसा आत्मा'—कहा है।[5] यह वास्तव में साक्षी-पदार्थ के स्वरूप में एक तथ्य है कि सब कुछ का सर्वदा द्रष्टा होते हुए भी वह अपने आत्मा रूप से ज्ञात नहीं होता।

सुरेश्वराचार्य ने वृहदारण्यकभाष्यवार्त्तिक में साक्षी-पदार्थ का प्रचुर निरूपण किया है, जिसमें साक्षि-स्वरूप के अनेक पक्षों को स्पष्ट किया है।

---

१. कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः॥ मां॰ का॰ २।१२॥

२. एको देवः सर्वभूतेपु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च॥
श्वे॰ उ॰ ६।११॥

३. अद्वितीयो देवो द्योतनस्वभावः सर्वप्राणिपु संवृतः। कर्माध्यक्षः सर्वप्राणिकृतविचित्रकर्माधिष्ठाता। सर्वप्राणिषु वसति। सर्वेषां भूतानां साक्षी सर्वद्रष्टा। 'साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्' (पा॰ सू॰ ५।२।९१) इति स्मरणात्। केवलो निरुपाधिकः। श्वे॰ भा॰ ६।११।

४. अहंप्रत्ययिनमशेषस्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मनि अध्यस्य तं च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेणान्तःकरणादिष्वध्यस्यति। ब्र॰ शां॰ भा॰, पृ॰ १७।

५. अज्ञातप्रत्यग्रूपे साक्षिणि····र॰ प्र॰, पृ॰ ५४।

कूटस्थ असङ्ग आत्मा अज्ञानोपहित रूप से साक्षी-पदवाच्य होता है। केवल अज्ञान से उपहित आत्मा साक्षी है, अर्थात् विशुद्ध आत्मा में साक्षित्व अज्ञानकृत ही है। इसी का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा है कि यद्यपि कूटस्थ परब्रह्म में साक्षित्व असङ्गत है, क्योंकि इसे द्वितीय-सङ्गति की नियत अपेक्षा है, और संसारी आत्मा (जीव) भी साक्षी नहीं हो सकता क्योंकि वह परिणामी है, कर्ता-भोक्ता है, उसकी अपेक्षा ब्रह्म में ही कूटस्थ होने के नाते, उत्पत्ति-विनाश-शील जड़ वर्ग तथा कर्म में व्यापृत चेतन वर्ग के प्रति साक्षित्व समञ्जस है, किन्तु वह (साक्षित्व) है अविद्या ही।[1] अविद्या में कुछ भी अनुपपन्न नहीं।

परतत्त्व अपने अज्ञान में स्थित अपने आभास द्वारा ही द्रष्टा-दर्शन-दृश्य का साक्षी है, क्योंकि स्वतः उसका साक्ष्य अर्थों से सम्बन्ध नहीं, और साक्ष्य पदार्थों की उपस्थिति भी अज्ञानकृत ही है, जिनके बिना साक्षित्व का कोई अर्थ नहीं।[2]

साक्षी जीव से विलक्षण है, केवल आत्मा ही होने से। जीव-पदार्थ जड़-मिश्र चैतन्य है, इसी से वह ज्ञाता-कर्ता-भोक्ता आदि है, कर्ता होना विकारयुक्त होना है, साक्षी तटस्थ ही हो सकता है। साक्षी चिन्मात्र-स्वरूप है, कूटस्थ है (आविद्यक प्रवाह में वह नहीं रहा है)[3]; जीव साक्षी के प्रति साक्ष्य ही है। ज्ञानादि के कर्त्ता से स्थित प्रमाता को जो सक्रिय रहता हुआ जानता है, वही इस प्रमातृत्व के होने का साक्षी है, वह पर-आत्मा ही है—यह श्रुतिसिद्ध है।[4]

१. अज्ञानमात्रोपाधित्वादविद्यामुपितात्मभिः।
कौटस्थ्यान्निर्द्वयोऽप्यात्मा साक्षीत्यध्यस्यते जडैः॥
मोहतत्कार्यनीडं यत्कूटस्थाभासरूपकम्।
ज्ञानं तदविनाभूतः परः साक्षीति भण्यते॥
कूटस्थस्य न साक्षित्वं द्वितीयासङ्गतेर्भवेत्।
नाशिनोऽपि न साक्षित्वं नाशेनाव्यतिरेकतः॥
अज्ञानमात्रहेतौ तु सर्वमेतत् समञ्जसम्।
कर्तृत्वाद्यन्यथाज्ञानहेतुत्वादात्मरूपिणः॥
प्रत्यग्रूपस्य स्थास्नुत्वाज्ज्ञातुमार्हन चान्वयात्।
कूटस्थस्यापि साक्षित्वमागमापायिनं प्रति॥ बृ० भा० वा० १।४। ३७२-३८०॥

२. कूटस्थदृष्टेः साक्षित्वं जडस्येव न युज्यते।
साक्ष्यार्थानभिसम्बन्धात् तस्मिन्सत्यपि नाचितेः॥
तस्मात् परस्य साक्षित्वं स्वमोहाभासवर्त्मना।
कार्यकारणसम्बन्धे चिदाभासस्य सङ्गतेः॥ वही ३।४। ८९-९०॥

३. कर्त्रादिकारकाण्यस्मिन्नसाधारणरूपतः।
अतद्धर्मक आभान्ति ह्यागमापायसाक्षिणि॥
साक्षिरूपं स्वतः सिद्धं तेनैष्वव्यभिचारतः।
कर्त्रादि तु तमोऽन्तस्य रूपं धर्माद्यपेक्षया॥ वही १।४। ६६८-६६९॥

४. जिघ्राणीममहं गन्धमिति यो वेत्त्यविक्रियः।
तद्भावाभावसाक्ष्यात्मा ह्येतच्च श्रुतिमस्तके॥ वही १।४।६१६॥ शेष अगले पृ० पर

इस 'पर आत्मा' शब्द का अर्थ ब्रह्म भी हो सकता है, साक्षी पदार्थ के कूटस्थ, विशुद्ध चिन्मात्र होने की धारणा से, और ईश्वर भी हो सकता है, क्योंकि यह भी कहा गया है कि द्रष्टा-श्रोता आदि रूप वाला क्षेत्रज्ञ बुद्धि-उपाधि वाला है, और उसका साक्षी है ईश्वर, जो बुद्धिकारण (अज्ञान) रूप उपाधि वाला है।[1]

साक्षित्व में द्वार है चिदाभासत्व। चैतन्य का आभास ही—देह-इन्द्रिय-मन आदि आगमापायी वर्ग के साक्षी रूप से, प्रत्यक् रूप से, क्षणभङ्गुरों में कूटस्थ, अनेक जड़ों में एक चेतन, संहतों में असंहत—आत्मा रूप से आभासित होता है।[2]

यह साक्षी-पदार्थ किस लिये मान्य है ? इस पर अनेक वार व अनेक प्रकार से कहा है कि सभी कुछ, भाव या अभाव कोई भी वस्तु, प्रमेय, प्रमाण, प्रमाता, नाम, रूप आदि से अभिव्यक्त होने वाला, समस्त जगत्—साक्षी का साक्ष्य होते हुए ही सिद्ध है, क्योंकि समस्त साक्ष्य स्वतः स्फूर्तिहीन हैं, सदा समान रूप से स्फुरित होता रहने वाला सत्य अध्यक्ष ही इन सबके पृथक्-पृथक् स्फुरण का आधार है।[3] वह चिदात्मा है, उसे फिर अपनी सिद्धि के लिए किसी अन्य साक्षी की अपेक्षा नहीं है, उसका साक्षित्व स्वतःसिद्ध है। आविद्यक सभी कुछ, जो अपने से भिन्न किसी प्रकाश द्वारा प्रकाशित होता है, सर्वदा साक्षी का विषय है। यही साक्ष्य होने का अर्थ है। चिदात्मा जैसे सभी वस्तुओं का प्रकाशक है, वैसे द्रष्टा भी है।[4] लौकिक ज्ञान जो प्रमेय व प्रमाता आदि को भी विषय करता है, वह साक्षी को विषय नहीं करता, क्योंकि यह उन (प्रमाता आदि) से विलक्षण है, तथा प्रमाण पराक्=वहिःप्रवण हैं, वे

गन्धधीकर्तृत्वेन स्थितं मातारमविक्रियः सन् यो वेत्ति स तस्य भावाभावयोः साक्षी परोऽस्ति शास्त्रप्रामाण्यात्। एतच्छब्देन परमात्मत्वं परामृश्यते।
शा० प्र०, पृ० ५७७।

१. द्रष्टृश्रोतादिरूपश्च यश्च द्रष्ट्रादिसाक्ष्यपि।
बुद्धितत्कारणोपाधी क्षेत्रज्ञेश्वरसंज्ञकौ ॥ बृ० भा० वा० १।४।६१४॥

२. प्रत्यक्तया यदाभाति ह्यागमापायिसाक्षितः।
देहेन्द्रियमनोधीषु चैतन्याभासरूपकम् ॥
जडेष्वेकमनेकेषु कूटस्थं क्षणभङ्गिषु।
अनात्मसु तथा चात्मा संहतेष्वप्यसंहतः ॥
वही, १।४।१००१,२॥

३. यतोऽसिद्धानि सिद्ध्यन्ति भावाभावौ यदाश्रयौ।
योऽनन्यार्थो यदर्थं च सर्वं योऽनन्यदृक् सदा ॥
प्रमेयादित्रयं यस्मात् परस्परविलक्षणम्।
आत्मानं लभते सत्यः सोऽध्यक्षोऽत्राभ्युपेयताम् ॥
बृ० सं० वा० १०८३-८४॥

४. नामरूपाद्यभिव्यक्तेः प्रागव्यक्तापह्नवेऽप्यभूत्।
अव्यक्ताध्यक्ष एकाकी व्यक्तं मत्साक्षिकं जगत् ॥ बृ० भा० वा० १।४।५२०॥

प्रत्यक्=आन्तर दिशा में नहीं जाते। अतः साक्षी में अन्य पदार्थों की तरह साक्षि-साक्ष्य-अभि-सम्बन्ध नहीं है।[1]

साक्षी जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति सभी अवस्थाओं में विद्यमान रहता है। जागरण में उसका अनुभव स्फुट है, स्वप्न व सुषुप्ति में उसका रहना उन-उन अवस्थाओं की स्मृतियों से सिद्ध होता है, सुषुप्ति दशा में उसका अनुभव में न आना, वहाँ विषयों (साक्ष्य) का ही अभाव होने के कारण है। जाग्रत् आदि में भी प्रमाता-प्रमाण आदि के अवभासक रूप में ही वह अनुभवगम्य है। सुषुप्ति में प्रमेयादि-त्रिक रहता नहीं, अतः साक्षी का कार्य—प्रत्यक्षादि करवाना होता नहीं, किन्तु साक्षी की स्थिति अवश्य रहती है। 'द्रष्टा की दृष्टि का लोप नहीं होता' यह श्रुति इसमें प्रमाण है। जहाँ तक द्रष्टा-दृष्टि आदि की अवस्थिति है, वहाँ तक प्रत्यगात्मा में उनका साक्षित्व भी है। जैसे दीपक के प्रकाश्य-क्षेत्र में जो कुछ भी होगा उसे वह प्रकाशित करेगा ही, जब तक कोई प्रकाश्य वस्तु उस प्रकाश्य-क्षेत्र में है, तब तक तत्सम्बन्धी प्रकाशकता भी दीप में है, अन्यथा कुछ नहीं।[2]

इस प्रकार वार्त्तिककार द्वारा विविध प्रसङ्गों में साक्षी-पदार्थ का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इन्हीं विचारों को सर्वज्ञात्म मुनि ने 'संक्षेप-शारीरक' में संक्षेप से ही कहा है कि अज्ञान-विनिर्मित इस समस्त प्रपञ्च को कूटस्थ, अद्वितीय, दृश्य से भिन्न, अविकारी, परम पुरुष (ब्रह्म) इन्द्रियादि कारणों के बिना ही, सबका साक्षी होने के रूप से देखता है।[3] वहाँ प्रश्न था कि प्रमाता-प्रमाण आदि का ग्रहण कौन करता है, अर्थात्, जड़-मिश्र होने के नाते वे अवश्य किसी अन्य द्वारा प्रकाश्य हैं, यदि चैतन्य-प्रधान होने के नाते वे स्वयं ही अपने ग्राहक हों, तो ग्राह्य-ग्राहक की एकाकारता होने से बौद्धमत में प्रवेश होगा, और उनका अन्य ग्राहक मानें तो फिर उसका भी अन्य ग्राहक मानने से अनवस्था दोष होगा। इसके उत्तर में कहा गया कि अज्ञान तथा अज्ञानकार्य सभी वस्तुओं का सामान्य ग्राहक साक्षी है, वह केवल चैतन्यस्वरूप है, स्वप्रकाश है, तथा अज्ञानादि का ग्रहण करने में उसे किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं है। यह साक्षी अपने ग्राह्य प्रमाता आदि से भिन्न है।

वार्त्तिककार से कुछ भिन्न रीति से साक्षी का स्वरूप बताते हुए सर्वज्ञात्मा ने कहा—

---

१. साक्षिसाक्ष्याभिसम्बन्धः प्रमात्रादौ यथा तथा।
साक्षिवस्तुनि नैव स्यात् केवलानुभवात्मनि ॥ बृ० सं० वा० १५१ ॥

२. असङ्कुचितचित्पद्मः प्राज्ञे स्वप्नप्रबोधवत्।
तथा प्रफुल्लबोधाब्जः प्राज्ञवत् स्वप्नबोधयोः ॥
साक्ष्यसम्बन्धतः साक्षी न स्वतः साक्षिताऽऽत्मनः।
प्रत्यङ्मात्रैकदृष्टित्वाद् धियां वाचामगोचरः ॥ बृ० सं० वा० १०८५।८६ ॥

३. तमसा विनिर्मितमिदं सकलं
चतुरः स पश्यति परः पुरुषः।
अविकारिबोधवपुरद्वयकः
कारणैर्विना सकलसाक्षितया ॥ सं० शा० २।२९ ॥

पर पुरुष (ब्रह्म) या शुद्ध चैतन्य स्वाश्रिता माया से उपहित होकर अपने में ही कल्पित निखिल प्रपञ्च को, प्रपञ्चाकारा अविद्यावृत्ति में स्थित अपने आभास द्वारा प्रकाशित करता हुआ साक्षी कहलाता है।[1]

चित्सुखाचार्य ने तत्त्वप्रदीपिका में साक्षि-पदार्थ को सिद्धि व स्वरूप-निरूपण तार्किक या युक्तिप्रधान रीति से किया है। अब तक स्थूल-सूक्ष्म समस्त प्रपञ्च के सामान्य द्रष्टा के रूप में साक्षी-पदार्थ निरूपित हो रहा था। चित्सुखाचार्य ने सूक्ष्म, अनुभवात्मक विषयों (सुख-दुःख-इच्छा आदि) तथा स्थूल विषयों के ग्राहक रूप से अभिमत आविद्यक ही पदार्थों (प्रमाता-प्रमाणादि) के ग्राहक के रूप से, तथा प्रत्येक जीव के साथ रहने वाले सर्वदा जागरूक द्रष्टा के रूप से साक्षी का निरूपण किया है।

'चैत्र के इच्छा आदि, स्वविषयक अनित्य ज्ञान से अतिरिक्त चैत्र के ही प्रत्यक्ष से ग्राह्य हैं, प्रत्यक्ष होने के कारण, पट आदि के समान।'[2] ऐसे अनुमान से नित्य प्रत्यक्षज्ञान स्वरूप साक्षी की सिद्धि होती है। इच्छा आदि को मानस प्रत्यक्ष का विषय नहीं कहा जा सकता, कर्म-कर्तृ-विरोध होने से (एक ही स्थान पर कर्मत्व तथा कर्तृत्व दोनों आ पड़ने से)। यह नहीं कह सकते कि एक ही व्यक्ति में स्वरूपतः ग्राहकता और विशिष्ट रूप से ग्राह्यता होना सम्भव है—क्योंकि केवल देवदत्त में गमन-कर्तृत्व और पुस्तक-विशिष्ट में गम्यत्व की प्राप्ति भी विरुद्ध है। पृथक्-पृथक् वाक्य-प्रयोग में एक ही वस्तु में कर्तृत्व या करणत्व रहने में कोई विरोध नहीं। अभिप्राय यह कि इच्छा आदि स्वयं मानस-ज्ञानात्मक हैं, वे मानस प्रत्यक्ष के विषय नहीं। इन्हें विषय करता है आत्मतत्त्व का साक्षी रूप।[3]

यह साक्षी अविद्याविशिष्ट नहीं है, जिससे कि अविद्या इसे भी कर्मकर्ता-भोक्ता की कोटि में ले आये। चिद् रूप आत्मा ही साक्ष्य पदार्थों के सम्बन्ध से साक्षी कहलाता है। सुषुप्ति दशा में 'यदि वह कुछ नहीं देखता है, तो देखता हुआ भी नहीं देखता है, क्योंकि वहाँ उसके अपने आप से अतिरिक्त कुछ देखने योग्य है ही नहीं, जिसे देखे'[4] इत्यादि श्रुतियों से यही अर्थ निकलता है।

---

१. निजमायया परिगतः पुरुषः परतन्त्रया तु निजया प्रभया।
परिजल्पितं सकलमाकलयन् स हि साक्षितामुपगतो भवति॥ सं० शा० २।३०॥

२. चैत्ररागः स्वविषयानित्यज्ञानातिरेकिणा।
तदध्यक्षेण संवीक्ष्यः प्रत्यक्षत्वात् पटादिवत्॥ त० प्र० ४।५॥

३. मानसप्रत्यक्षवेद्यत्वे इच्छादेः कर्मकर्तृभावस्य एव बाधकत्वात्। न च स्वरूपमात्रेण ग्राहकस्य विशिष्टरूपेण ग्राह्यत्वेऽप्यविरोधः केवलस्य देवदत्तस्य गन्तृत्वं कुण्डल-विशिष्टस्य तु गन्तव्यत्वमिति तत्रापि विरोधाभावप्रसङ्गात्।
त० प्र०, पृ० ५८८।

४. न चाविद्याविशिष्टः साक्षी, येन कर्तृकोटिनिविष्टाया अविद्यायाः कर्तृत्वं स्यात्, चिद्रूपस्येवात्मनः साक्ष्यसम्बन्धे साक्षित्वेन व्यवहारात्, 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति' इत्यादिश्रुतेः। वही, पृ० ५८८।

वार्त्तिककार ने साक्षी को प्रायः ईश्वर कोटि में रखा है, चित्सुख को यह स्वीकार्य नहीं, इनके मतानुसार सबका प्रत्यग्भूत विशुद्ध ब्रह्म ही जीवतादात्म्यापन्न रूप से साक्षी पदार्थ है, पर जीवभेद का तादात्म्य उसमें नहीं है। लौकिक सुख-दुःखादि साक्ष्य पदार्थ (पृथक्-पृथक् आधारों में एक ही समय सुख-दुःख, हर्ष-शोक, इच्छा-द्वेष आदि के पृथक्-पृथक् अनुभव) साक्षी के भेद के साधक नहीं, क्योंकि ये साक्षी के धर्म नहीं। और प्रमा व उसके करण के सन्निधान के विना ही सुषुप्ति में अज्ञानानुभव का साधक होने से साक्षी प्रमाता के अन्तर्गत भी नहीं। साक्षात् चिन्मात्र आत्मा होने पर भी साक्षी-भाव जीवभाव के अन्तर्गत है, शुद्ध ब्रह्म ही सभी जीवों के प्रति एक-समान रूप से तादात्म्यापन्न रूप से 'साक्षी' पद का अर्थ है। इसी से साक्षी लौकिक व्यवहार का अङ्ग बन जाता है।[1]

विद्यारण्य ने पञ्चदशी में साक्षी के स्वरूप को और भी अधिक स्पष्ट किया है, कहा है—कर्ता ('मैं'-पन का अभिमानी जीव), क्रिया (आन्तरिक व बाह्य सभी), तथा दृक् (अनुभविता-वर्ग) से भिन्न एवं परस्पर विलक्षण समस्त विषयों या दृश्यवर्ग को, नित्यचैतन्य का जो रूप, एक साथ प्रकाशित करता है, वही साक्षी है।[2] साक्षी के स्वरूप तथा साक्ष्य के साथ उसके सम्बन्ध व कार्य को नाट्यशाला में स्थित प्रदीप का दृष्टान्त देते हुए समझाया है। तदनुसार, उक्त दीप के समान साक्षी 'मैं देखता हूँ, सुनता हूँ,.........चाहता हूँ, क्रोध करता हूँ'—इत्यादि अनुभव करने वाले सभी प्रमाता-कर्ता भोक्ता, प्रमाण-क्रिया भोग, प्रमेय-कार्य, भोग्य विषय—इत्यादि को अविचलित व निष्पक्ष भाव से एक समान प्रकाशित करता है। दीपक अपने ही स्थान में स्थित रहता हुआ सभी ओर प्रकाश करता है, वैसे ही साक्षी कूटस्थ है। और नृत्यशाला-स्थित दीपक जैसे प्रमुख प्रेक्षक, सभा, व नृत्यकारों को एक साथ प्रकाशित करता है और उनमें से किसी के भी न रहने पर स्वयं ही प्रकाशित रहता है, वैसे ही साक्षी—कर्ता (अहमर्थ-जीव) बुद्धि (वृत्ति सहित अन्तःकरण) और विषयों को प्रकाशित करता है, और उनके न रहने पर मूर्च्छा व सुषुप्ति में भी स्वयं पहले की भाँति ही प्रकाशित रहता है।[3]

कूटस्थदीप में कहा गया है कि स्थूल व सूक्ष्म शरीर का अधिष्ठानभूत कूटस्थ-चैतन्य अपने अवच्छेदक उक्त दोनों शरीरों का साक्षात् द्रष्टा है, और कर्तृत्व आदि विकारों से शून्य है, अतः वह साक्षी कहा जाता है। यह कूटस्थ चैतन्य चिदाभास-विशिष्ट अहङ्कार रूप जीव-

---

१. तस्मात् सर्वप्रत्यग्भूतं विशुद्धं ब्रह्ममात्रं जीवाभेदेन साक्षीति प्रतिपाद्यते।
त० प्र०, पृ०, ५८९।

२. कर्तारं च क्रियां तद्वद् व्यावृत्तविषयानपि।
स्फोरयेदेकयत्नेन योऽसौ साक्ष्यत्र चिद्वपुः॥ पं० द० १०।९॥

३. नृत्यशालास्थितो दीपः प्रभुं सभ्यांश्च नर्तकीम्।
दीपयेदविशेषेण तदभावेऽपि दीप्यते॥
अहङ्कारं धियं साक्षी विषयानपि भासयेत्।
अहङ्काराद्यभावेऽपि स्वयं भात्येव पूर्ववत्॥ वही १०।११-१२॥

भाव का अधिष्ठान है, अतः यह न जीवकोटि में प्रविष्ट है, न ब्रह्म कोटि में—किन्तु जीव व ईश्वर के विभाग का आश्रय न करता हुआ (कूटस्थ ही) चैतन्य मात्र साक्षी है।[1]

चित्रदीप में कूटस्थ-चैतन्य का स्वरूप घटाकाशस्थानीय कहा गया है। जिसमें स्थित जलाकाश जीवस्थानीय है। उसी कूटस्थ को कूटस्थदीप में साक्षी कहा है, इससे जीव-भाव को व्याप्त करके स्थित चैतन्य रूप साक्षी-पदार्थ पर्यवसित होता है, जिसे विद्यारण्य ने ब्रह्म-ईश्वर-जीव इन प्रसिद्ध तीन कोटियों से पृथक् ही माना है।[2]

महाकाश से पृथक् करके घटाकाश-स्थानीय कहने से साक्षि-चैतन्य में किसी प्रकार की सीमा की स्वीकृति ध्वनित होती है, उसे ही चित्सुखाचार्य ने जीव-भाव का तादात्म्य कहा है।

अप्पयदीक्षित ने सिद्धान्तलेशसंग्रह में कौमुदीकार के नाम से साक्षी के स्वरूप के विषय में कहा है कि ईश्वर का ही स्वरूप-विशेष साक्षी है, जो जीव की प्रवृत्ति व निवृत्ति को सर्वदा जानने वाला, किन्तु स्वतः उदासीन है, ईश्वर-पदार्थ के जगत्कारणत्वादि धर्मों से रहित है, और जीव के प्रति अधिक अन्तरङ्ग है, उसी के समस्त ज्ञान-अज्ञान का निरन्तर अवभासक होने से।[3]

चित्सुख, विद्यारण्य तथा उक्त कौमुदीकार के मतों से निष्कृष्ट अथवा इन्हीं का मिलित स्पष्टीकृत मत तत्त्वशुद्धिकार का है, जिसके अनुसार—जैसे 'यह रजत है' ऐसे भ्रमस्थल में वस्तुतः 'इदम्' अंश यद्यपि शुक्ति-कोटि में ही अन्तर्भूत है, तो भी प्रतिभास रूप से रजत कोटि में प्रविष्ट है, वैसे ही यद्यपि साक्षी का अन्तर्भाव वास्तव में ब्रह्म कोटि में है, तब भी

---

१. देहेन्द्रियादियुक्तस्य जीवाभासभ्रमस्य या।
अधिष्ठानचितिः सैषा कूटस्थाऽत्र विवक्षिता॥ वही १०।४८॥
........इति शैवपुराणेषु कूटस्थः प्रविवेचितः।
जीवेशत्वादिरहितः केवलः स्वप्रभुः शिवः॥ वही ८।५९॥

२. कूटस्थो ब्रह्म जीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधा।
घटाकाशमहाकाशौ जलाकाशाभ्रखे यथा॥
अधिष्ठानतया देहद्वयावच्छिन्नचेतनः।
कूटवन्निर्विकारेण स्थितः कूटस्थ उच्यते॥
जलव्योम्ना घटाकाशो यथा सर्वैस्तिरोहितः।
तथा जीवेन कूटस्थः सोऽन्योन्याध्यास उच्यते॥ वही ६।१८, २३–२४॥

३. कौमुद्यान्तु,—
'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥'
इति देवत्वादिश्रुतेः परमेश्वरस्यैव रूपभेदः कश्चिज्जीवप्रवृत्तिनिवृत्त्योरनुमन्ता स्वयमुदासीनः साक्षी नाम। स च कारणत्वादिधर्मानास्पदत्वाद् अपरोक्षो जीवगतमज्ञानाद्यवभासयंश्च जीवस्यान्तरङ्गः। सि० ले० सं०, पृ० १८४–८५।

प्रतिभास से वह जीव कोटि में प्रविष्ट है। जीव के ही सुख-दुःखादि व्यवहार में उसका उपयोग है।[1]

अप्पय दीक्षित ने सिद्धान्तलेशसंग्रह में साक्षिविषयक अन्य अनेक मतों का संग्रह करते हुए कहा है :—

किन्हीं के मत से अविद्या से उपहित चैतन्य रूप जीव (समष्टि जीव या एक जीव) ही साक्षात् द्रष्टा होने से साक्षी है। उससे अतिरिक्त कोई साक्षिपदार्थ (या इस नाम की पृथक् कोटि) नहीं है। **'एको देवः'** इत्यादि श्रुति में ब्रह्म में जीवभाव की अपेक्षा से ही साक्षित्व कहा गया है। वह जीवभाव अविद्या में प्रतिबिम्बित रूप से है, अन्तःकरणप्रतिबिम्बित रूप से नहीं, **'ऋतं पिबन्तौ''''** **'गुहां प्रविष्टौ'** में द्विविध जीवभाव को लेकर ही द्विवचन है, और **'अनश्नन् अन्यो–'** अंश उक्त जीवरूप ही साक्षी-पदार्थ को कहता है। इसलिये पैङ्गि-रहस्यब्राह्मण में उक्त मन्त्र के व्याख्यान में जीव और अन्तःकरण का ग्रहण किया गया है।[2]

इस मत में भले ही साक्षी का जीवपदार्थ में ही अन्तर्भाव करने की चेष्टा की गई है, किन्तु अन्ततः ईश्वर के ही जीव के साथ सर्वदा रहने वाले स्वरूप-विशेष में ही अभिप्राय पर्यवसित होता है, जैसा कि कौमुदीकार ने कहा है। और ईश्वर का 'स्वरूप विशेष' कहने से विद्यारण्य की कूटस्थ चैतन्य कोटि में ही तात्पर्य फलित होता है।

अब तक साक्षिपदार्थ ब्रह्म, ईश्वर, कूटस्थ या (समष्टि-) जीव किसी भी रूप में सर्वसाधारण एक ही मान्य था। इस पर कुछ विचारकों को आपत्ति हुई कि यदि साक्षित्व अविद्योपहित रूप से या अन्य किसी भी प्रकार सर्व-साधारण एक रूप से हो तो एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के अन्तःकरण, इच्छा आदि का प्रत्यक्ष होना प्राप्त होगा, क्योंकि साक्षी नित्य अपरोक्ष स्वभाव है। ऐसे ही विचार से प्रेरित एक मत का उल्लेख अप्पयदीक्षित ने सिद्धान्त-लेशसङ्ग्रह में किया है, जिसके अनुसार अन्तःकरणोपहित जीवचैतन्य ही साक्षी है।[3] इस

---

१. तत्त्वशुद्धावपि यथा 'इदं रजतम्' इति भ्रमस्थले वस्तुतः शुक्तिकोट्यन्तर्गतोऽपीदमंशः प्रतिभासतो रजतकोटिः, तथा ब्रह्मकोटिरेव साक्षी प्रतिभासतो जीवकोटिरिति जीवस्य सुखादिव्यवहारे तस्योपयोग इत्युक्त्वाऽयमेव पक्षः समर्थितः।

वही पृ० १८६–८७।

२. केचित्तु—अविद्योपाधिको जीव एव साक्षाद्द्रष्टृत्वात् साक्षी। लोकेऽपि ह्यकर्तृत्वे सति द्रष्टृत्वं साक्षित्वं प्रसिद्धम्। तच्चासङ्गोदासीनप्रकाशरूपे जीव एव साक्षात् सम्भवति, जीवस्यान्तःकरणतादात्म्यापत्त्या कर्तृत्वाद्यारोपभाक्त्वेऽपि स्वयमुदासीन-त्वात्। 'एको देवः' इति मन्त्रस्तु ब्रह्मणो जीवभावाभिप्रायेण साक्षित्वप्रतिपादकः। 'द्वा सुपर्णा' इति मन्त्रः गुहाधिकरणन्यायेन जीवेश्वरोभयपरः, गुहाधिकरणभाष्यो-दाहृतपैङ्गिरहस्यब्राह्मणव्याख्यातेन प्रकारेण जीवान्तःकरणोभयपरो वेति।

वही, पृ० १८७–८९।

३. सत्यं जीव एव साक्षी, न तु सर्वगतेनाविद्योपहितेन रूपेण। पुरुषान्तरान्तःकरणा-दीनामपि पुरुषान्तरं प्रति स्वान्तःकरणभासकसाक्षिसंसर्गाविशेषेण प्रत्यक्षत्वापत्तेः।

प्रकार साक्षित्व का प्रयोजक उपाधि अन्तःकरण मान लेने पर प्रत्येक जीव के साथ साक्षी भी पृथक्-पृथक् होने से, एक के इच्छा आदि का दूसरे को प्रत्यक्ष होने की सम्भावना नहीं रहती। अन्तःकरण का अस्तित्व उद्भूत या संस्कार-दोष रूप से मोक्ष-पर्यन्त रहता है, इसीलिये सुषुप्ति दशा में भी प्रत्येक जीव को अपने-अपने अज्ञान का भान हुआ करता है, जो जागने पर स्मृति रूप में प्रकट होता है, वह एक का दूसरे को नहीं होता।

यहाँ अन्तःकरण उपाधि रूप से साक्षित्व का प्रयोजक है, और विशेषण रूप से प्रमातृत्व आदि (जीव-धर्मों) का, ऐसा माना जाता है। उपाधि व विशेषण का अन्तर यह है— **'कार्यान्वयित्वे सति व्यावर्तकत्वं विशेषणत्वम्'**—अर्थात् विधेय के साथ-साथ बने रहते हुए जो उसे अन्य पदार्थों से व्यावृत्त (पृथक्) करे वह विशेषण है, जैसे नीलकमल में नील गुण उस कमल के साथ सर्वदा रहता है और उसे अन्य कमलों से पृथक् करता है।

'कार्यानन्वयित्वे सति व्यावर्तकत्वमुपाधित्वम्'—अर्थात् विधेय के साथ अन्वयी न होते हुए भी जो व्यावर्तक हो वही उपाधि है। जैसे—'वह कौए वाला घर देवदत्त का है' किसी ने कहा तो वहाँ पहुँचने तक कौआ रहे या उड़ जाय, उस घर को तो अलग पहचान ही लिया जाता है।

धर्मराजाध्वरीन्द्र ने भी प्रत्यक्षपरिच्छेद में जीव-साक्षी व प्रमाता-जीव के अन्तर को विशेषण व उपाधि की व्याख्या करते हुए प्रतिपादित किया है, और जीवसाक्षी को प्रत्येक प्रमाता के साथ पृथक्-पृथक् (अनेक) माना है।[1]

३. जीवत्व कल्पना का उदय

सम्पूर्ण जगत् के मूल में तत्त्वदृष्टि ने जिस एकमात्र तत्त्व को पाया वह सत्ता, ज्ञान तथा आनन्द का घन है, अद्वितीय है। किन्तु संसार में सतत अनुभूयमान हैं—अनेक ('मैं' 'तुम' 'वह' तथा इनके बहुवचनों द्वारा बोध्य) विविध (जन्म-मृत्यु आदि) विकारों से युक्त, अज्ञानी

न चान्तःकरणभेदेन प्रमातृभेदात् तदनापत्तिः, साक्षिभास्येऽन्तःकरणादौ सर्वत्र साक्ष्यभेदे सति प्रमातृभेदस्याप्रयोजकत्वात्। तस्मादन्तःकरणोपधानेन जीवः साक्षी। वही, पृ० १९०।

१. तत्र जीवो नाम अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यम्, तत्साक्षी तु अन्तःकरणोपहितचैतन्यम्, अन्तःकरणस्य विशेषणत्वोपाधित्वाभ्यामनयोर्भेदः। विशेषणञ्च कार्यान्वयि वर्तमानं व्यावर्तकम्, उपाधिश्च कार्यानन्वयी व्यावर्तको वर्तमानश्च। रूपविशिष्टो घटो नित्य इत्यत्र रूपं विशेषणम्, कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोत्रमित्यत्र कर्णशष्कुल्युपाधिः। वे० प०, पृ० ९७।

(जिन्हें छोटे से छोटे ज्ञान के लिये भी किसी इन्द्रिय व अन्य समग्र ज्ञानानुकूल परिवेश पर निर्भर रहना पड़ता है, और उनके द्वारा भी जो किसी भी क्षण सम्पूर्ण संसार की प्रत्येक गतिविधि को नहीं जान सकते), नाना प्रकार के शोक-मोह से पीड़ित, कभी भी दुःख से अमिश्र सुख का अनुभव न पाने वाले—असंख्य कर्ता, भोक्ता, अनुभविता। तत्त्व और व्यवहार के सभी प्रकार के वैपरीत्य की व्याख्या में अविद्या तथा अध्यास नामक तथ्य सामने आये। उनके द्वारा समझाये गये (उपपादित) वैपरीत्य का द्विविध आकार दिखाई दिया द्रष्टा व दृश्य अथवा चेतन व जड़ रूपों में। ये दोनों ही अविद्या + चैतन्य-स्वरूप हैं, प्रथम कोटि चैतन्य-प्रधान है, द्वितीय अविद्या-प्रधान, अमिश्र रूप किसी का भी नहीं। अर्थात् दृश्य-सन्निधि या जड़मिश्रण के विना द्रष्टा या चेतन होना सम्भव नहीं, और चैतन्य के आश्रयण के विना दृश्य होना सम्भव नहीं।

इनमें से प्रथम पक्ष=द्रष्टा या चेतन का जो रूप पहले देखा गया, जो आत्मतत्त्व की बृहत्सीम-कोटि में वर्णित हुआ, वह बहुत कुछ ब्रह्म के समकक्ष ही है—सब कुछ को, सब तरह से, सब समय जानने वाला, सभी कुछ करने में समर्थ, सभी कुछ पर शासन करने वाला, अविद्या या माया का अधिपति इत्यादि होने से। किन्तु देश, काल व वस्तु सम्बन्धिनी नानाविध सीमाओं से घिरे ज्ञान, क्रिया, सत्ता वाले अनुभविता क्या हैं ? इसी के उत्तर में ब्रह्म के जीवभाव, **'महतो महीयान्'** के **'अणोरणीयान्'** होने की कल्पना का उदय हुआ कि किसी भी प्रकार की विपरीतता लाने में समर्थ अविद्या के ही प्रभाव से या सान्निध्य से, सर्वथा अप्रतिहत व निरतिशय सुख-ज्ञान-सत्ता स्वरूप वस्तु ही अत्यन्त सीमित शक्तियों वाली होकर वर्तमान है,या ब्रह्म ही अल्प रूपों में विवर्तित है। वही संसारी अनुभविता (उपर्युक्त प्रकार के अनुभविताओं) का प्रस्तुत रूप है, जिसे शास्त्र में 'जीव' नाम दिया गया है।

उपनिषदों में प्राप्त स्वरूप

ईश्वर के तप से सर्वप्रथम (सृष्टि के आरम्भ में) जीव उत्पन्न होता है, वह बुद्धि-रूप गुहा में स्थित है। सर्वदेवतामयी अदिति (आत्मा) प्राण (हिरण्यगर्भ) रूप से प्रकट होकर बुद्धि-रूप गुहा (हृदयाकाश) में प्रविष्ट होकर रहती है, वही जीव है।[1] ग्यारह द्वारों वाले शरीर-रूपी पुर में वास करने वाला होने से जीवात्मा पुरुष है। प्राण-अपान इत्यादि सभी प्राणों का आश्रय जीव ही है, उसी से जीवन बनता है।[2]

---

१. यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत॥
या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत॥ कठ० २।१।६–७॥

२. पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः। वही २।२।१॥
न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥ वही २।२।५॥

जिसके द्वारा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, व अन्य विषय-सुखों को जाना जाता है, वही देहस्थ आत्मा जीव है।[1] वह कर्मकर्त्ता व फलभोक्ता है।

सुदीप्त वह्नि से जैसे सहस्रों विस्फुलिङ्ग निकलते हैं, वैसे ही अक्षर ब्रह्म से विविध भाव (जीव व जगत्) उत्पन्न होते हैं। एवं उसी में लीन होते हैं।[2]

प्रकाशस्वरूप ब्रह्म ही सबके हृदय में स्थित हुआ गुहाचर (जीव) नाम वाला होता है। उसी के प्रति सचराचर विश्व समर्पित है, अर्थात् उसी का विषय है। वह जीव सदसत्स्वरूप है।[3]

सर्वज्ञ, सर्ववित् ईश्वर ही दिव्य ब्रह्मपुर (हृदयाकाश) में विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, अन्नमय आदि होकर देह में स्थित है।[4] अन्तःकरण व शरीर रूप वृक्ष का आश्रय लिये हुए जीव-रूप पक्षी कर्मफल का भोग करता है।[5]

माण्डूक्योपनिषत् में प्रणव की मात्राओं की तुलना से ब्रह्म को चतुष्पात् कहा गया है, जिसमें से अन्तिम 'तुरीय' असीम कोटि के अन्तर्गत है, शेष तीनों, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति इन मायिक अवस्थाओं से सम्बद्ध होने से ससीम या उपहित कोटि के अन्तर्गत हैं।[6]

ऐतरेयोपनिषत् में परम आत्मा द्वारा सृष्टि होने के क्रम में पहले लोक (जगत्) की सृष्टि के पश्चात् लोकपाल रूप में इन्द्रियाधिष्ठात्री देवताओं या शक्तियों की सृष्टि के पश्चात् स्वयं परम आत्मा ने ही उन सब इन्द्रियादि का अधिपति होकर जीव रूप से शरीर में प्रवेश किया—ऐसा वर्णन है। यही जीव का जन्म कहा गया है।[7] वह प्रविष्ट आत्मा ही शरीर में

---

१. एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः।
प्रश्न० ४।९॥

२. यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥
मु० उ० २।१।१॥

३. आविः सन्निहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत् समर्पितम्।
एजत् प्राणान् निमिषच्च यदेतज्
जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम्। मु० उ० २।२।१॥

४. यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः।
मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति॥ वही २।२।७॥

५. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥ वही ३।१।१॥

६. सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात्…। मा० उ० २–७॥

७. स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति सोऽद्भ्यः एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्च्छयत्
……'स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। ऐत० १।१।३–१।३।१२॥

रहकर देखने, सुनने, गन्ध लेने, वाणी का विश्लेषण करने, स्वादादि जानने वाला जीव है। इस प्रकार का होने से ही 'प्रज्ञान' इसका नाम है। प्रज्ञान वास्तव में मन का नाम है, किन्तु शरीर में प्रविष्ट आत्मा इस मन से एकीभूत या तदात्म होकर रहता है, अतः मन की संज्ञा ही इसकी भी संज्ञा हो सकती है।[1]

४. पञ्चकोश व त्रिविध शरीर

अविद्या के अधीन स्वरूप वाला आत्मा जीव है, इतना तथ्य सभी वादों में निर्विवाद स्वीकृत है। अविद्या का स्वरूप स्थूल दृष्टि से सूत्रद्वय-घटित रज्जु के समान आवरण-विक्षेप से घटित है। यह पहले ही स्पष्ट हो चुका है। जीव, क्षेत्रज्ञ आदि संज्ञाओं के वाच्य उपहित आत्मा के उपधान, आच्छादन की प्रक्रिया के विश्लेषण अथवा आत्मा को उपहित करते हुए वर्तमान अनुभूयमान वस्तुस्थिति के स्तर पर ला देने के क्रम का विश्लेषण करने में विचारकों ने दो प्रकार से आच्छादनों के स्तर देखे व कहे हैं, अथवा 'शरीर' व 'कोश' संज्ञायें देते हुए दो आच्छादक कोटियों की कल्पना की है।

शरीर शब्द के पर्याय देह, तनु, काय, विग्रह इत्यादि भी प्रथम आच्छादक कोटि के नाम हैं। इनमें देह तथा काय के शाब्दिक अर्थ हैं ढेर, समुच्चय या समूह। शरीर शब्द का अर्थ है शीर्ण हो जाने वाला। विविध प्रकार से या विशेष रूप से ग्रहण होने के अर्थ में विग्रह शब्द प्रयुक्त होता है। मूलस्थ वस्तु का स्थूल पर्यन्त विस्तार करने वाला—अर्थ में 'तनु' कहा जाता है। आत्मा के आच्छादक स्तरों में ये सभी अर्थ प्राप्त होते हैं। ये अनात्म वस्तुओं के समुच्चय से रचित होते हैं, आत्मा द्वारा विशेष रूप से गृहीत होते हैं (सामान्यतः तो आत्मा सम्पूर्ण जगत् में चर-अचर सभी वस्तुओं में प्रविष्ट है, किन्तु शरीर में प्रविष्ट आत्मा उसमें अपना तादात्म्य या सर्वाधिक ममत्व स्थापित करता है), सूक्ष्म से भी सूक्ष्म तत्त्व (आत्मा) का स्थूल स्तर तक विस्तार करते हैं। अन्ततः ये वास्तविक आत्मा में नहीं रहते, शीर्ण हो जाते हैं।

कोश शब्द का वाच्य अर्थ है रेशम के कीड़े द्वारा अपने आपको ही लपेटते हुए बनाया गया सूत (धागे) का घर। उसी के समान अविद्या-सन्निहित आत्मा को ढक लेने वाले आविद्यक रूपों को कोश नाम दिया गया है।

---

१. कोऽयमात्मा‥‥‥कतरः स आत्मा, येन वा पश्यति, येन वा शृणोति,‥‥‥ गन्धानाजिघ्रति,‥‥‥वाचं व्याकरोति,‥‥‥स्वादु चास्वादु च विजानाति। यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानं ज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं‥‥‥इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति।‥‥‥एष प्रजापतिः‥‥‥प्रज्ञानं ब्रह्म।
ऐत० ३।१।१–३।।

आच्छादक के रूप में कोश की कल्पना प्राचीन है, शरीर की अपेक्षाकृत नवीन। दोनों धारणायें, उदित होने के पश्चात्, एक-दूसरे में मिल गई हैं।

'कोश' नाम न देते हुए भी कुछ-एक स्तरों के साथ आत्मा का तादात्म्य कहते हुए तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्मानन्दवल्ली में[1] अन्नरसमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय—नामों से 'पुरुष' या आत्मा के पाँच रूप दिखाये गये हैं, इन्हीं पाँचों नामों के साथ कोश शब्द का योग करते हुए परवर्ती काल में पञ्चकोशों की धारणा पनपी है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में ही इससे पहले ब्रह्म से आकाश, उमसे वायु, उससे अग्नि, उससे जल, उससे पृथ्वी, उससे औषधि व अन्न और उनसे पुरुष की उत्पत्ति कही गई है। इसी पुरुष को अन्नरसमय नाम दिया है।

इसके भाष्य में आचार्य शङ्कर ने कहा है—सृष्टि में दिखाई देने वाले सभी शरीर अन्न-रस के विकार हैं, उनमें से श्रेष्ठ पुरुष शरीर है, एवं इसी शरीर में स्थित आत्मा को विद्या द्वारा उसके अन्तरतम स्वरूप ब्रह्म का बोध कराना श्रुति का उद्देश्य है, इसलिये पुरुष को ही चुना है। पुरुष की भी बुद्धि बाह्य आकारविशिष्ट अनात्म-पदार्थों में दृढ़ आत्मभावना किये हुए है, किसी विशेष (स्थूल, बुद्धिग्राह्य) आलम्बन के बिना सहसा (एकाएक) सबसे अन्तरतम प्रत्यगात्मा को नहीं जान सकती, एवं निरालम्बना होकर निराकार वस्तुतत्त्व के ग्रहण में समर्थ नहीं हो सकती, इसीलिये शाखा-चन्द्र-न्याय से क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म व सूक्ष्मतर आलम्बन लेती हुई अभीष्ट तत्त्व-पर्यन्त पहुँच सकती है। तदनुसार सभी को दिखाई देने वाले अन्नादि के ग्रहण से पुष्ट होने वाले अपने शरीर में ही सर्वप्रथम अन्य जड़ वस्तुओं से इसे पृथक् करते हुए, आत्मा की भावना (केवल जड़ घट-पटादि वस्तुओं से पृथक् होने की समता से) कराई गई है, यह अन्न-रस-मय (अन्न से ही बना रहने वाला, उसके बिना नष्ट हो जाने वाला) शरीर ही आत्मा का अन्नमय कोश तथा स्थूल शरीर है।

विवेकचूड़ामणि में आचार्य शङ्कर ने इस स्थूल शरीर में आत्मा होने की भावना को निवृत्त करते हुए कहा है कि यह शरीर जन्म से पहले नहीं था, मृत्यु के बाद नहीं रहेगा, काल का प्रभाव इसमें सभी को प्रतीत होता ही है, अतः सभी प्रकार के विकारों से युक्त होने के कारण यह आत्मा नहीं हो सकता। जैसे जल में दिखाई देते हुए छाया-शरीर में या दर्पण में

---

१. ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात् पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।१।''''तस्माद् वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव।''''२॥''''प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः स वा एष पुरुषविध एव''''३॥ ''''मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः।''''४॥''''विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः।''''५॥

तै० उ० २।१-५॥

२. तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्य : पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। वही २।१॥

दिखते हुए प्रतिबिम्ब-शरीर में, स्वप्न में दिखने वाले अपने देह में आत्मबुद्धि नहीं होती, वैसे ही इस जीवित शरीर को भी आत्मा मानना ठीक नहीं।[1]

इस अन्नरस-मय कोश के भीतर उसकी अपेक्षा सूक्ष्म प्राणमय आत्मा (कोश) है। शाङ्करभाष्य में कहा गया है कि अनेक तुषा वाले धानों को तुषरहित करके जिस प्रकार चावल निकाल लिये जाते हैं, उसी प्रकार अन्नमय से लेकर आनन्दमय कोश-पर्यन्त सम्पूर्ण शरीरों की अपेक्षा आन्तरतम ब्रह्म को विद्या द्वारा अपने आत्मा रूप से दिखलाने की इच्छा वाला शास्त्र अविद्याकल्पित पाँच कोशों का बाध करते हुए—'पूर्वोक्त अन्नरसमय पिण्ड से अन्य, पृथक् व उसके भीतर रहने वाला आत्मा प्राणमय है'—इस प्रकार आरम्भ करता है। यह प्राणमय भी अन्नमय के समान मिथ्या (झूठ) ही आत्मा रूप से कल्पित है। जैसे दृति (धौंकनी) वायु से भरी रहती है, वैसे ही प्राणमय से अन्नमय पूरित है। प्राण ही आयु है। अन्नमय कोश प्राणमय का देह है, यह उस देह में स्थित आत्मा है।[2]

आचार्य शङ्कर ने विवेकचूडामणि में प्राणमय कोश का पूरा विवरण दिया है कि पाँच कर्मेन्द्रियों के सहित प्राण प्राणमय कोश है जिससे युक्त हुआ अन्नमय सभी क्रियाओं में प्रवृत्त होता है।[3]

किन्तु यह प्राणमय भी वायु-विकारात्मक है, बाहर-भीतर आने-जाने वाला है, इसमें इच्छा व ज्ञान शक्ति नहीं है, जो चैतन्य के परिचायक हैं, अतः यह भी आत्मा नहीं।[4]

'प्राणमय कोश के भीतर रहने वाला, प्राणमय शरीर वाला मनोमय आत्मा है। मनोमय द्वारा प्राणमय पूरित है।' इसके भाष्य में शङ्कराचार्य ने कहा है कि सङ्कल्प-विकल्प-स्वभाव वाले अन्तःकरण का नाम मन है, जो इस मन से अभिन्न (तद्रूप) है वही मनोमय है।[5] विवेकचूड़ामणि में पञ्च-ज्ञानेन्द्रिय सहित मन को मनोमय कोश कहा है। वह 'मैं' व

---

१. पूर्वं जनेरपि मृतेरथ नायमस्ति, जातक्षणक्षणगुणोऽनियतस्वभावः।
नैको जडश्च घटवत् परिदृश्यमानः, स्वात्मा कथं भवति भावविकारवेत्ता॥
छायाशरीरे प्रतिबिम्बगात्रे यत्स्वप्नदेहे हृदि कल्पिताङ्गे।
यथात्मबुद्धिस्तव नास्ति काचिज्जीवच्छरीरे च तथैव मास्तु॥
वि० चू० १५७, १६५।

२. शास्त्रमविद्याकृतपञ्चकोशापनयेनानेकतुषकोद्रववितुषीकरणेनैव तदन्तर्गततण्डुलान् प्रस्तौति........। तै० भा०, पृ० १२७-२८।

३. कर्मेन्द्रियैः पञ्चभिरञ्चितोऽयं प्राणो भवेत् प्राणमयस्तु कोशः।
येनात्मवानन्नमयोऽनुपूर्णः प्रवर्ततेऽसौ सकलक्रियासु॥ वि० चू० १६७॥

४. नैवात्मापि प्राणमयो वायुविकारो गन्तागन्ता वायुवदन्तर्बहिरेषः।
यस्मात् किञ्चित् क्वापि न वेत्तीष्टमनिष्टं स्वं वान्यं वा किञ्चन नित्यं परतन्त्रः॥
वही, १६८॥

५. मन इति सङ्कल्पाद्यात्मकमन्तःकरणं तन्मयो मनोमयः।........
तै० भा०, पृ० १३३–३४।

'मेरा' ऐसे विकल्प का हेतु है। यह मनोमय ही जगद्व्यवहार का मूल है, इसके नष्ट होने पर सभी नष्ट हो जाता है। बन्ध-मुक्ति, जगत् सभी कुछ मनोमय का ही विजृम्भण (या कल्पना) है।[1]

किन्तु यह भी आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि इसका भी आदि व अन्त है, पञ्चतन्मात्राओं से उत्पन्न होता है, उन्हीं में लीन भी होता है, अनात्मवस्तु का कार्य होने से वह जड़ ही है, अतः आत्मा नहीं है।[2]

मनोमय के भीतर विज्ञानमय है। इसके भाष्य में शङ्कराचार्य ने कहा है कि वह अन्तःकरण का अध्यवसाय रूप धर्म है। यह मनोमय के निष्पादक तत्त्वों के भी कारणभूत तत्त्व से बना है, अतः इसकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है।[3] विवेकचूड़ामणि में कहा है बुद्धीन्द्रियों के साथ बुद्धि विज्ञानमय कोश है। भाष्य में कहे गये 'बुद्धिविज्ञान' ही यहाँ बुद्धीन्द्रिय शब्द से कहे गये हैं, तात्पर्य निश्चयात्मक ज्ञानों से ही है। यह विज्ञानमयकोश ही चित्प्रतिबिम्ब से युक्त होकर संसारी आत्मा होता है, यही कर्म करता है और उनके फलों का भोग करता है,[4] मनोमय द्वारा उपस्थापित जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में सुख-दुःख का भोग करता है, कर्म के अनुसार विभिन्न शरीरों में आता-जाता है। वास्तविक आत्मा के अति निकट स्थित होने से यह विज्ञानमय कोश अत्यन्त स्वच्छ, प्रकाश-युक्त है। यही आत्मा को उपाधि है। इसी विज्ञान-रूप परिच्छेद (सीमा) के सन्निहित होकर, उसके तादात्म्याध्यास वाला होकर आत्मा सर्वात्मक होने पर भी स्वयं को अन्य घट-पटादि से पृथक् मानता है। इसी उपाधि के सम्बन्ध के कारण निर्धर्मक आत्मा उपाधि के गुणों को भासित करता हुआ

---

१. ज्ञानेन्द्रियाणि च मनश्च मनोमयः स्यात्
कोशो ममाहमिति वस्तुविकल्पहेतुः।
संज्ञादिभेदकलनाकलितो बलीयान्
तत्पूर्वकोशमनुपूर्य विजृम्भते यः॥
वि० चू० १६९॥

२. मनोमयो नापि भवेत् परात्मा ह्याद्यन्तवत्त्वात् परिणामिभावात्।
दुःखात्मकत्वाद् विषयत्वहेतोर्द्रष्टा हि दृश्यात्मतया न दृष्टः॥
वही, १८५॥

३. ''''बुद्धिर्निश्चयात्मिका विज्ञानं तच्चाध्वसायलक्षणमन्तःकरणस्य धर्मः। तन्मयो निश्चयविज्ञानैः प्रमाणस्वरूपैर्निर्वर्तित आत्मा विज्ञानमयः''''''सर्वबुद्धिविज्ञानानां च महत्तत्त्वं कारणम्।
तै० भा०, पृ० १३८–४०।

४. बुद्धिर्बुद्धीन्द्रियैः सार्धं सवृत्तिः कर्तृलक्षणः।
विज्ञानमयकोशो स्यात् पुंसः संसारकारणम्।
अनुव्रजच्चित्प्रतिबिम्बशक्तिर्विज्ञानसंज्ञः प्रकृतेर्विकारः।
ज्ञानक्रियावानहमित्यजस्रं देहेन्द्रियादिष्वभिमन्यते भृशम्॥
वि० चू० १८६–८७।

स्वयं भी उन गुणों से युक्त जैसा हो जाता है। जैसे कि शुद्ध वह्नि सदा एक-रूप होता हुआ भी लौह-खण्डों में संसक्त होकर उन्हीं के समान आकृति-विकृति वाला हो जाता है।[1]

किन्तु यह भी आत्मा नहीं, क्योंकि स्थायी नहीं, क्योंकि आत्मा का बुद्धि से सम्बन्ध मिथ्याज्ञानपूर्वक ही है, जिस (सम्बन्ध) की सम्यक् ज्ञान से निवृत्ति सम्भव है।[2] विज्ञानमय आत्मा मलिन जल के सदृश है, जिसमें मलस्थानीया बुद्धि है और जल स्थानीय आत्मा। जड़वस्तु-घटित होने से विज्ञानमय रूप भी कोश ही है, आत्मा नहीं। क्योंकि विज्ञान परिच्छेद रूप है, दृश्य है, जड़ है (अनात्मवस्तु का कार्य होने से) अतः तन्मय (उसमें मिला हुआ—अध्यस्त) आत्मा वास्तव में (शुद्ध) आत्मा नहीं है।[3]

प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय कोश मिलकर जीव का सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर कहलाते हैं। विवेकचूड़ामणि में इसे 'पुर्यष्टकमय' कहा है जिसमें (१) पञ्च कर्मेन्द्रिय (२) पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, (३) पञ्च प्राण, (४) पञ्चतन्मात्राएं, (५) मन, (६) बुद्धि, (७) उद्भूत अविद्या, (८) काम-कर्म (संस्कार)—संगृहीत हैं। यही आत्मा की अनादि उपाधि है।[4]

श्रुति कहती है 'विज्ञानमय का भी अन्तर्वर्त्ती आत्मा आनन्दमय है।'[5] आचार्य शङ्कर ने विवेकचूड़ामणि में आनन्दमय का विवरण करते हुए कहा है कि तमस् (अविद्या) का, आत्मा के आनन्द पक्ष के प्रतिविम्ब से युक्त रूप आनन्दमय कोश है, जिसका प्रकाश प्राणि-

---

१. भुङ्क्ते विचित्रास्वपि योनिषु व्रजन्नायाति निर्यात्यध ऊर्ध्वमेषः।
अस्यैव विज्ञानमयस्य जाग्रत्स्वप्नाद्यवस्थाः सुखदुःखभोगः॥
देहादिनिष्ठाश्रयधर्मकर्मगुणाभिमानः सततं समेति।
विज्ञानकोशोऽयमतिप्रकाशः प्रकृष्टसान्निध्यवशात् परात्मनः।
अतो भवत्येष उपाधिरस्य यदात्मधीः संसरति भ्रमेण॥
....
उपाधिसम्बन्धवशात् परात्माप्युपाधिधर्माननुभाति तद्गुणः।
अयोविकारानविकारिवह्निवत् सदैकरूपोऽपि परः स्वभावात्॥
वही, १८९–९०,–९३॥

२. सम्बन्धः स्वात्मनो बुद्ध्या मिथ्याज्ञानपुरस्सरः।
विनिवृत्तिर्भवेत्तस्य सम्यग्ज्ञानेन नान्यथा॥ वि० चू० २०३॥
....

३. जलं पङ्कवदस्पष्टं पङ्कापाये जलं स्फुटम्।
अतो नायं परात्मा स्याद् विज्ञानमयशब्दभाक्॥
विकारित्वाज्जडत्वाच्च परिच्छिन्नत्वहेतुतः।
दृश्यत्वात् व्यभिचारित्वान्नानित्यो नित्य इष्यते॥ वही २०६–८॥

४. वागादिपञ्च श्रवणादिपञ्च प्राणादिपञ्चाभ्रमुखानि पञ्च।
बुद्ध्याद्यविद्यापि च कामकर्मणी पुर्यष्टकं सूक्ष्मशरीरमाहुः॥ वही ९८॥

५. तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः।
तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव॥ तै० उ० २।५।१॥

मात्र के अपने प्रति व अपने अनुकूल के प्रति प्रियताबोध में होता है, पुण्य कार्य का संस्कार जगने पर सुखानुभव के रूप में प्रकट होतां है। आनन्दमय कोश की शुद्ध स्फूर्ति सुषुप्तावस्था में उत्कट (सबसे अधिक स्पष्ट) होती है। जाग्रत् व स्वप्न में इष्ट-दर्शन आदि से आनन्दमय की ईषत् (थोड़ी सी) स्फूर्त्ति होती है, वही हर्ष रूप में अनुभूत होती है।[1]

यह आनन्दमय भी वास्तविक आत्मा नहीं है, सोपाधिक होने से। यहाँ साक्षात् अविद्या ही उपाधि है, उसके कार्य नहीं। यही कारण-शरीर है। इस शरीर में स्थित, इससे पृथक् जो निषेधावधि (जहाँ जाकर सभी निषेध समाप्त हो जाते हैं) स्वयंज्योतिः, तीनों अवस्थाओं का साक्षी, बोध-स्वरूप आनन्दस्वरूप (विज्ञानमय व आनन्दमय नहीं) वस्तु है, वह आत्मा है।[2]

आचार्य शङ्कर द्वारा प्रकट किये गये विचारों को ही कुछ और स्पष्ट करते हुए विद्यारण्य ने पञ्चदशी में प्रतिपादित किया है।[3] सिद्धान्त में अन्तर नहीं है। विवेकचूड़ामणि में मनोमय कोश में मन के साथ ज्ञानेन्द्रियों का ग्रहण किया है। फिर विज्ञानमय में बुद्धि के साथ बुद्धीन्द्रिय का संग्रह कहा है, उससे कुछ भ्रम होता है कि दोनों में कोई अन्तर है क्या? उसे विद्यारण्य ने यह कहकर दूर किया है कि संशयात्मक मन सत्त्वगुणी ज्ञानेन्द्रियों के साथ मनोमय कोश है, और उन्हीं इन्द्रियों के साथ निश्चयात्मिका बुद्धि का योग विज्ञानमय कोश है।

इन सब कोशों में से प्रथम दो आत्मा के सत्-पक्ष से सम्बद्ध हैं, मध्यस्थ दो चित्-पक्ष से और अन्तिम एक आनन्द-पक्ष से—यह कहा जा सकता है।

---

१. आनन्दप्रतिबिम्बचुम्विततनुर्वृत्तिस्तमोजृम्भिता।
स्यादानन्दमयः प्रियादिगुणकः स्वेष्टार्थलाभोदयः ॥
पुण्यस्यानुभवे विभाति कृतिनामानन्दरूपः स्वयम्।
भूत्वा नन्दति यत्र साधु तनुभृत्पात्रः प्रयत्नं विना ॥
आनन्दमयकोशस्य सुषुप्तौ स्फूर्तिरुत्कटा।
स्वप्नजागरयोरीषदिष्टसन्दर्शनादिना ॥ वि० चू० २०९-१०।

२. नैवायमानन्दमयः परात्मा सोपाधिकत्वात् प्रकृतेर्विकारात्।
कार्यत्वहेतोः सुकृतक्रियाया विकारसङ्घातसमाहितत्वात् ॥.... वही २११........

३. पं० द० १।३३-३७, ३।१-९ ॥

५. जीव का एकत्व-अनेकत्व

मूल, शुद्ध, परम, चैतन्य का अविद्या या उसके कार्य में आभास या प्रतिबिम्ब रूप से प्रतिफलन होकर, या असीम का सीमित वस्तु द्वारा अवच्छेद होकर जो जीव-पदार्थ उद्भूत हुआ, या अनादि रूप से ही वर्तमान है, वह जीव एक ही है—मूल चैतन्य के एक होने से, अथवा प्रतीयमान स्थिति के अनुसार असंख्य (नाना) जीव हैं ? यह प्रश्न अद्वैत-सम्प्रदाय के सभी विचारकों की दृष्टि का विषय बना है। विचार-प्रयोजिका दृष्टि के अनुसार कुछ ने मूलतः जीव एक ही मानकर अनुभूति के अनुरोध से उसी की विभिन्न प्रतिछवियों या विभिन्न आधारों में विभिन्न अभिव्यक्तियाँ मानी हैं, एवं कुछ ने प्रतीयमान स्थिति को प्रधानता देते हुए वास्तव में ही अनेक जीव होना स्वीकार किया है। इसी के अनुसार इस विषय में दो धारायें बनी हैं—एक जीववाद और नाना जीववाद। जगत् की स्थिति के विषय में जहाँ दृष्टि-सृष्टिवाद अभिमत है वहीं एक-जीववाद भी मान्य है, वाचस्पति प्रस्थान में इसका अपवाद है, सृष्टि-दृष्टि या साधारण सृष्टिवाद में नाना-जीववाद ही अनुकूल होने से मान्य है।

(क) एकजीववाद

सिद्धान्त :—ब्रह्म का अविद्या में प्रतिफलन या आभास जीव (वास्तविक, व्यावहारिक) है। उसी का अविद्याकार्य-भूत अन्तःकरणों में पुनः प्रतिफलन या छाया हैं अनेक जीव (प्रतीयमान, प्रतिभासिक)।

आचार्य शङ्कर ने, बृहदारण्यकभाष्य, छान्दोग्यभाष्य तथा शारीरकभाष्य में एक ही ब्रह्म के अविद्या-उपाधि स्वीकार करने पर मूलतः एक ही जीव-रूप होना सूचित किया है।[1] किन्तु ब्रह्म में जीवभाव लाने वाली उपाधि 'अविद्या व उसका कार्य' इस प्रकार कही गई है। तथा अन्तःकरणोपाधिक जीव कहने वाली स्पष्टोक्तियाँ एक-जीव-वाचक वचनों की अपेक्षा अधिक हैं। अतः एकजीववाद में भाष्यकार का स्वरस प्रतीत नहीं होता। अन्तःकरण सहित अविद्या जीव की उपाधि है और केवल अविद्या ईश्वर की। इस प्रकार कारणोपाधि के नाते प्रत्येक जीव में ईश्वर की स्थिति उपपन्न हो जाती है।

आचार्य सुरेश्वर के बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक में किये गये जीव-सम्बन्धी प्रतिपादनों में भी **'अनेन जीवेनात्मना'** श्रुति, ब्रह्म व जीव में औपाधिक-मात्र भेद होने की युक्ति, तथा ब्रह्म का आभास ही जीव का स्वरूप कहा[2] होने से—मूलतः जीवभाव एक ही उन्हें मान्य है ऐसा अर्थ अवश्य प्रतीत होता है किन्तु सर्वदा भाष्यकार के स्वाभिमत के अनुरूप ही व्याख्यान करने वाले वार्तिककार का वस्तुतः अभिमत एक-जीववाद नहीं—यह इसी स्थल पर **'घटादिषु'** तथा **'स्वाभासान्'** में बहुवचन के प्रयोग से लक्षित होता है।

---

१. बृह० भा० १।४।१०, छा० भा० ६।३।२, ब्र० शां० भा० १।३।१९ ॥

२. स्वाभासवर्त्मनैवैतत् स्वात्माज्ञानजभूमिषु।
इतं बहुत्वमेकं सद् वियद् यद्वद् घटादिषु ॥
एतेभ्योऽसौ समुत्थाय स्वाभासानात्मजन्मना।
याति क्षेत्रज्ञतामीशः कूटस्थोऽपि ह्यविद्यया ॥ बृ० भा० वा० १।२।१२७,१३७ ॥

किन्तु अप्पयदीक्षित ने सिद्धान्तलेशसंग्रह में एकजीववाद के प्रसङ्ग में आचार्य शङ्कर एवं सुरेश्वर के मतों का तदनुरूप ही अभिप्राय उद्धृत किया है।

सर्वज्ञ मुनि का अपना अभिमत एकजीववाद ही है, इसीलिये संक्षेप-शारीरक में बन्ध-मोक्ष-व्यवस्था का निरूपण करते समय सर्वप्रथम एकजीववाद के अनुसार निरूपण किया है, उसके वाद 'एके' 'अपरे' कहते हुए अन्य मत कहे हैं। तदनुसार यह समस्त प्रपञ्च अविद्योपहित जीव के ही अन्तःकरण का परिणाम है। 'अजामेकां'···[१] श्रुति से अविद्या एक कही गई है, उसमें प्रतिबिम्बित जीव भी एक ही है। मुक्त-बद्ध, ज्ञानी-अज्ञानी इत्यादि विविधता उस एक जीव की ही स्वप्न के समान मनःकल्पना भर है।[२]

आनन्दबोध ने न्यायमकरन्द में सुदृढ़ तर्कपूर्ण शैली से 'क्षेत्रज्ञ-भेद-निरास' प्रकरण में एकजीववाद की स्थापना की है। उसके लिए पूर्वपक्ष में, आपाततः प्रतीयमान, तथा साङ्ख्य, न्याय आदि नानात्मवादी मतों की अभिमत स्थिति को कुछ नैयायिक-परिभाषानुगत विकल्पों में समेटते हुए कहा है—आत्मा (जीवार्थक) अनेक हैं, क्योंकि—(१) द्रव्यत्व से इतर जाति (आत्मत्व) के आधार भेद से (जाति अनेक व्यक्ति होते हैं) श्रावण से अतिरिक्त विशेष गुण (ज्ञान का) अधिकरण होने से, जो इस हेतु से युक्त है, वह उक्त साध्य (अनेकत्व) से भी युक्त है, जैसे घट आदि घटत्व जाति (जो द्रव्यत्व से इतर जाति है) के आधार-भेद से नाना हैं, श्रावण से इतर विशेष गुण—रूप—का अधिकरण होने से। अथवा (२) आत्मत्वजाति के आधारभेद से ही आत्मा नाना हैं, शरीर व आत्मा के सम्बन्ध के सम्बन्धी होने से, शरीर के समान। सम्बन्ध का आश्रय सम्बन्धी कहलाता है, उस सम्बन्ध के आश्रय दो हैं—शरीर व आत्मा। इनमें से शरीर का अनेक होना प्रत्यक्षसिद्ध है, उसी से आत्मा का भी अनेक होना सिद्ध होता है। अथवा (३) विवदित शरीर अपनी संख्या से संख्येय आत्मा द्वारा आत्मवान् हैं, शरीर होने से, भली प्रकार ज्ञात शरीर के समान। प्रत्येक शरीर में उसकी संख्या द्वारा गिने जाने वाले आत्मा हैं, तो जितने शरीर हैं उतने आत्मा हैं।[३]

---

१. ········स्वाविद्यया जीवभावमापन्नस्यैव ब्रह्मणः पर्वपञ्चकल्पकत्वात्, ईश्वरोऽपि सह सर्वज्ञत्वादिधर्मैः स्वप्नोपलब्धदेवतावज्जीवकल्पित इत्याचक्षते।
सि० ले० सं०, पृ० १२०।
श्वे० ४।५।

२. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां········।

३. मुक्तामुक्तो विद्वदज्ञौ त्वदन्यावाकाशादिक्ष्मावसानं च विश्वम्।
स्वाविद्योत्थस्वान्तनिष्पन्दनं तद् विज्ञातव्यं मा ग्रहीरन्यथैतत्॥
कालोऽतीतोऽनादिरेष्यन्ननन्ते मुक्तामुक्तौ तत्र पूर्वं तथोर्ध्वम्।
तस्मादेतद् दुर्घटं शङ्कसे चेन् मा शङ्किष्ठाः स्वप्नदृष्टान्तदृष्टेः॥
सं० शा० २।१२८-२९।

४. आत्मा द्रव्यत्वव्यतिरिक्तजात्याधारभेदेन नाना, अश्रावणविशेषगुणाधिकरणत्वात् यदुक्तसाधनं तदुक्तसाध्यं यथा घटादि। आत्मा आत्मत्वजात्याधारभेदेन नाना शरीरासम्बन्धित्वात् शरीरवत्। विवादपदानि शरीराणि स्वसंख्यासंख्येयात्मभिरात्मवन्ति शरीरत्वात् सम्प्रतिपन्नशरीरवत्।
न्या० म०, पृ० ५-६।

इस प्रकार आरम्भ किये गये पूर्वपक्ष में ही यह भी कह दिया गया है कि ये सब अनुमान आगमविरुद्ध नहीं, जिससे कि अप्रामाणिक कहे जा सकें। एक ही आत्मा कहने वाली श्रुतियों का तात्पर्य या तो परमात्मा का एक होना बताने में है, या अभिन्न देश-काल वाले आत्माओं में गौण रूप से (उपचरित) ऐक्य कहा गया है। अथवा जैसे आत्मा के अरूप होने का **'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्'**[1] श्रुति से विरोध नहीं, वैसे ही ऐकात्म्यश्रुतियों का भी क्षेत्रज्ञभेद से विरोध नहीं········इत्यादि।

उत्तर पक्ष में इन सबका खण्डन करते हुए कहा है—आत्मा के नानात्व-साधक आत्मा अनुमान का अश्रावणविशेषगुणाधिकरणत्व हेतु असिद्ध है, क्योंकि वेदान्त मत में ज्ञान को आत्मा का गुण माना ही नहीं जाता। नित्य वस्तु का अनित्य गुण से युक्त होना यहाँ स्वीकृत नहीं। तथा, द्रव्यत्व से व्यतिरिक्त जाति तो सत्ता भी है, अतः हेतु अनेकान्त है, फिर वेदान्त में जातिपदार्थ स्वीकृत ही नहीं, अतः आत्मत्व जाति की संभावना ही नहीं। कहे गये सम्बन्धाधारत्व को हेतु बनायें तो आकाशादि में भी अनेकता प्रसक्त होगी—उनसे सम्बन्ध-युक्त घट-पट आदि की अनेकता की अपेक्षा से। शरीर-संख्या-संख्येयत्व हेतु भी सिद्धसाधन, अनेकान्त, भागासिद्धि आदि अनेक दोषों से ग्रस्त है। तथा आद्योपान्त सभी हेतु श्रुतिबाधित विषय वाले हैं। ऐकात्म्यबोधक श्रुतियाँ परमात्मा के ही ऐक्य की वाचक हों, ऐसा नहीं है। जलचन्द्रादि दृष्टान्तों से प्रत्येक भूत में प्रतिभासमान पुरुषभेद का अपाकरण श्रुति ने ही कर दिया है, तथा परमात्मा व जीवात्मा में तत्त्वतः भेद है भी नहीं (तत्त्व एक ही होने से) अतः परमात्मा के ऐक्य का कथन भी जीव के ऐक्य का बोधक है।[2]

अन्य भी अनेक श्रुतियाँ दी हैं, जिन सबको यहाँ प्रस्तुत करना विस्तार-भय से सम्भव नहीं।

प्रकटार्थविवरण में अधिक युक्ति-प्रत्युक्ति न करते हुए, एक ही आत्मा को प्रतीयमान सभी जीवों का स्वभाव कहा गया है।[3]

आनन्दानुभव ने न्यायरत्नदीपावली में जीवभेद के साधक प्रमाण का अभाव कहकर आत्मा के नानात्व का खण्डन किया है, और प्रत्येक क्षेत्र (पञ्चकोशयुक्त शरीर) में भिन्न-भिन्न आत्मा होना अस्वीकार किया है।

---

१. श्वे० ३।८।

२. यदप्यभाणि (आत्मा द्रव्यत्वव्यतिरिक्तापरजात्याधारभेदेन नाना श्रावणविशेषगुणाधिकरणत्वाद् यदुक्तसाधनं तदुक्तसाध्यं यथा घटादि) इति, तदप्यचारु, हेतोरसिद्धत्वाद्, न खल्वात्मैकत्ववादिनो विशेषगुणाधिकरणतात्मनोऽङ्गीकुर्वते येनायं हेतुः सिध्येत्,······'यदपीदमवादि—'आत्मोक्तविद्यया नाना शरीरात्मसम्बन्धसम्बन्धित्वाच्छरीरवद्' इति, तदपि न पेशलं, सत्तादिनानैकान्त्याद्, अथोक्तविधसम्बन्धाधारत्वं हेतुः, तथाप्यन्यथासिद्धः; कार्यादेरपि कार्य्यताधीनत्वादुक्तविधया नानात्वस्य, अवश्याश्रयणीयं चैतद् अन्यथाऽऽकाशादेरपि तत्सम्बन्धाधारत्वादनेकताया दुष्परिहरत्वाद्।········न्या० म०, पृ० १९-२२।

३. सर्वेषां जीवानामेक एवात्मा स्वभावः। प्र० वि० २।१।१, पृ० ३९०।

युक्तिपूर्वक जीव का एक होना सिद्ध हो जाने पर भी संसार में एक ही समय किसी को दुःख, किसी को सुख का अनुभव होना अथवा अन्य अनेक प्रकार के अनुभव होना देखा जाता है, यदि जीव एक ही हो तो यह विविध अनुभव एक साथ कैसे हो ? इस पर आनन्दानुभव ने कहा है कि अनुभव-वैचित्र्य आत्मा के अनेक होने का साधक नहीं, **'नानात्मानो व्यवस्थातः'** यह सूत्र भी आत्म-नानात्वार्थक नहीं (क्यों ? इसे स्पष्ट नहीं किया गया)। सुख-दुःखादि द्वारा आत्मा के भेद की व्यवस्था करने में अन्योन्याश्रयता होती है, क्योंकि धर्मियों के भेद की सिद्धि होने पर ही धर्मों की व्यवस्था होगी और धर्म-व्यवस्था सिद्ध होने पर धर्मिभेद सिद्ध होगा। इसके अतिरिक्त अनुभव-वैचित्र्य की व्यवस्था आत्मा के भेद के विना भी उपपन्न हो सकती है। जैसे न्यायमत में एक ही आकाश सभी क्षेत्रों में कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न रूपों में पृथक्-पृथक् शब्द-ग्रहण में हेतु वनता है, वैसे ही एक ही अविद्योपहित आत्मा अन्तःकरणों के अवच्छेद-भेद से सुख-दुःखादि पृथक्-पृथक् भोगों से युक्त होता है। अतः अन्तःकरणों का भेद ही सुख-दुःख-व्यवस्था का साधक है। और आत्मा का अनेक होना तो वल्कि उक्त व्यवस्था का वाधक ही होगा। क्योंकि आत्मा के विभुत्व का तो अपलाप किया नहीं जा सकता, न्यायादि मतों में भी वह (विभुत्व) स्वीकृत होने से, और जव सभी आत्मा सर्वगत हों तो सुख-दुःख-व्यवस्था वन ही नहीं पड़ती।[1]

इसके वाद और भी वहुत युक्ति-प्रत्युक्ति-प्रस्तार द्वारा यही सिद्धान्त स्थापित किया है कि अन्तःकरण-भेद से औपाधिक ही जीवभेद है, वास्तव में जीव एक ही है। इसी में **'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः'**, **'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः'** इत्यादि श्रुतियों तथा ब्रह्मसूत्रों का तात्पर्य पर्यवसित है।[2]

चित्सुखाचार्य ने तत्त्वप्रदीपिका में वन्धमोक्षव्यवस्था (कोई मुक्त हो चुका, कोई वद्ध है, संसारी है, कोई वन्ध-छेदन के लिये यत्नरत है—इत्यादि) को भी सुख-दुःखानुभव के साथ आत्मा के प्रतीयमान भेद का साधक वनाते हुए, आत्मा को एक मानने की अनुपपत्ति का सयुक्तिक पल्लवन किया है, इस विस्तृत पूर्वपक्ष में प्रतिवादी-पक्ष की यथासम्भव सभी युक्तियों का संग्रह करके अन्त में प्रत्येक का परिहार करके एकजीववाद का ही समर्थन किया है। उसमें एक नई युक्ति यह दी है कि एक ही अग्नि में जैसे एक साथ दाहकता, पाचकता, प्रकाशकता आदि में विरोध नहीं होता, अतः एक धर्मी में एक ही समय अनेक धर्म रहना संभव है। फिर 'एक ब्रह्म ही अपनी अविद्या द्वारा संसारी होता है, एवं विद्या से मुक्त होता है'—इस शङ्कराचार्य तथा वार्त्तिककार के वचन के तात्पर्य का पल्लवन करते हुए स्वप्न-

---

१. धर्मिभेदसिद्धौ हि धर्मव्यवस्था सिद्ध्येत्। तत्सिद्धौ च धर्मिभेदसिद्धिः। किञ्चेयं व्यवस्थाऽन्यथाऽप्युपपद्यते। तथा हि केषाञ्चिदेक एवाकाशः सर्वक्षेत्रेषु कर्णावच्छिन्नं श्रोत्रं व्यवस्थितशब्दग्रहणहेतुः तथात्मा सर्वान्तःकरणावच्छिन्नः सुखदुःखादिभोगभेदवान्। यद् वा सुखदुःखादिपरिणाम्यन्तःकरणभेदाद् व्यवस्थोपपद्यते। किञ्चान्येषामेवेयं व्यवस्था दुस्स्था। न्या० र० दी, पृ० ३४८–३५०।

२. न्या० र० दी पृ० ३५१–३६४।

दृष्टान्त से समस्त वन्ध-मोक्षादि व्यवस्था का उपपादन किया है। अन्त में 'व्यवस्था' तथा 'विरोध' को ही युक्ति-वल से 'दुःस्थ' (अनवस्थित) ठहरा दिया है।[1]

रामाद्वय ने वेदान्तकौमुदी में पहले आचार्यों द्वारा कही गई युक्तियों को ही अपने शब्दों में पुनः रखते हुए आत्मनानात्व का निरास करके ऐकात्म्यसमर्थन किया है। प्रमुख युक्ति है कि परतत्त्व (ब्रह्म) का एक होना तो किसी भी प्रकार असिद्ध नहीं, जीव व पर में भेद औपाधिक ही है, अतः जीव एक ही है। उसी को श्रुति-समन्वय तथा आनन्दवोध की युक्तियों द्वारा पुष्ट किया है।[2]

विद्यारण्य ने विवरण-प्रमेयसंग्रह में, विवरण में कही गई द्विविध जीवभावापादक उपाधि की सङ्गति दिखाने में कहा है कि अविद्योपाधिक जीव मानने पर वह एक व सर्वगत होता हुआ भी अन्तःकरण में ही सम्वद्ध होता है, जैसे एक गोत्व जाति पृथक्-पृथक् गो-व्यक्तियों में अभिव्यक्त होती है। अनेक गो-व्यक्ति अनेक स्वभावों के होते हैं, पृथक्-पृथक् सुख-दुःखादि भोगते हैं, पर उनकी अनेकता गोत्व जाति की एकता को नहीं व्याहत करती। ऐसे ही जीव चैतन्य अविद्योपाधिक अतएव एक है, वही पृथक्-पृथक् अन्तःकरणों में संसक्त हुआ पृथक्-पृथक् सुख-दुःख आदि का अनुभव करता है।[3]

नृसिंहाश्रम ने वेदान्ततत्त्वविवेक में अविद्या में प्रतिविम्वित आत्मा को ही जीव का स्वरूप मानते हुए, एक विम्व का एक ही उपाधि में एक ही प्रतिविम्व युक्त है—इस युक्ति से एकजीववाद को ही अपना अभिमत कहा है। अनुमान दिया है—देवदत्त-शरीराभिमानी जीव यज्ञदत्तशरीराभिमानी से भिन्न नहीं है, सर्वज्ञत्व का अधिकरण न होते हुए चेतन होने से, या यज्ञदत्त के समान ही अल्पज्ञ होने से।[4]

शङ्का उठती है कि इसी की तुल्य युक्ति से देवदत्त, यज्ञदत्त आदि के अन्तःकरणों के भी अभेद का अनुमान हो सकता है, जो कि असत्य है, अतः उक्त जीवाभेद-वोधक अनुमान भी उचित नहीं। इसके उत्तर में नृसिंहाश्रम ने कहा है कि मन का अभेद तो स्वयं वाधित है, जीवाभेद का वाधक नहीं। एक ही उपाधि होना असिद्ध नहीं, जीव के उपाधिभूत अज्ञान के

---

१. ....व्यवस्थानुपपत्तेश्च दुर्निरूपतया भेदासाधकत्वात्। व्यवस्थाशब्देन धर्मभेदमात्राभिधाने दाहपाकादेरिव धर्मिभेदासाधकत्वात्। भिन्नाधिकरणधर्मभेदाभिधाने चान्योन्याश्रयत्वात्।........विरोधस्य विचारासहत्वात्......

त० प्र०, पृ० ५८५।

२. वे० कौ०, पृ० ९२–९४, २७२–७७।

३. यथा सर्वगताऽपि गोत्वादिजातिः सास्नादिमद्व्यक्तावुपरज्यते, नान्यत्र, तद्वत्।...

वि० प्र० सं०, पृ० २५१।

४. अविद्याप्रतिविम्वात्मा तत्प्रतिविम्बप्रतियोगिकभेदवान्न भवति, एकबिम्बैकोपाधित्वात्, यदेवं तदेवम्। यथैकस्मिन् दर्पणे एकस्य मुखप्रतिबिम्बः। देवदत्तशरीराभिमानी जीवो न यज्ञदत्तशरीराभिमानिभेदवान् सर्वज्ञत्वानधिकरणत्वे सति चेतनत्वात्, तद्वत् किञ्चिज्ज्ञत्वादिति वा। वे० त० वि०, पृ० ३८८–९०।

अनेक होने में कोई प्रमाण न होने से। 'मायया ह्यन्यदिव' श्रुति[1] से अविद्या तथा उसमें स्थित चित्प्रतिविम्व रूप जीव का एक होना कहा गया है। एक जीव मानने में लाघव होने से 'मायाभिः'.....'श्रुति[2] को अन्यार्थपरक मानना चाहिये। 'अजामेकां'....श्रुति का भी एकजीव-वाद में सीधा अर्थ लेना सम्भव है, अतः प्रतिपुरुष के लिये एक अविद्या है ऐसा व्याख्यान नहीं करना पड़ता। (किन्तु इस से उसी श्रुति की आगामी पङ्क्ति के 'जहात्येनां....अजोऽन्यः'—का विरोध आता है, इस पर विचार नहीं किया गया)।

'जीव की उपाधि माया-कार्य है और ईश्वर की उपाधि कारण-रूपा माया है'[3] इस वाक्य का प्रमाता के उपाधिभूत अन्तःकरणभेद में ही अभिप्राय है। अहमनुभव में भी वह प्रमाता ही अनुभूत होता है। जीव के एक ही होने पर भी, लौकिक-वैदिक व्यवहार के लिये प्रमाता-कर्ता-भोक्ता-भेद कल्पित हैं। अन्तःकरण स्वतन्त्र उपाधि नहीं है।[4]

यदि जीव एक ही है तो चैत्र ही मैत्र क्यों नहीं होता है—ऐसी शङ्का तो देह को आत्मा समझने वाला ही कर सकता है। और चैत्र का आत्मा मैत्र का आत्मा नहीं है इसकी प्रत्यक्ष प्रतीति तो हो नहीं सकती। तथा, चैत्र द्वारा चेष्टा किये जाने के समय, मैत्र द्वारा वही चेष्टा न किया जाना भी एक ही आत्मा के निखिल शरीरों से सम्बन्ध का साधक ही हो सकता है, एक शरीर में ही हाथ उठने के समय नियत रूप से पैर न उठने के समान। अथवा प्रयत्नादि तो अन्तःकरण व उससे विशिष्ट के ही धर्म हैं, चैतन्य के नहीं।[5]

एकजीववाद के विरुद्ध एक वड़ी शङ्का यह उठती है कि यदि एक ही जीव है तो शुक, आदि की मुक्ति श्रुत है, अतः वे मुक्त हो चुके तो इस समय संसार की उपलब्धि होनी ही नहीं चाहिये। इसके उत्तर में अन्य विचारकों द्वारा कही हुई व्याख्यायें (शुकादि को भी परम मुक्ति न होना, जीवन्मुक्तिमात्र होना, ब्रह्मलोक में अवस्थान आदि) उद्धृत करके नृसिंहाश्रम ने अन्त में अपना मत कहा है कि—मुक्त-दृष्टि से तो किसी भेद का अवकाश ही नहीं है, या मुक्त हो जाने पर कोई भेद कहीं रहता ही नहीं—यही, "एक ही जीव है, उसकी मुक्ति होने पर

---

१. नृ० उ० ९।
२. इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। बृह० उ० २।५।१९॥
३. 'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।' त्रि० म० ना० ४।८॥
४. ....प्रमातृपाधिभेदाभिप्रायत्वादस्य वाक्यस्य।....एकस्मिन्नपि जीवे लौकिकवैदिक-व्यवस्थितव्यवहाराय प्रमातृकर्तृभोक्तृभेदस्यावश्यकत्वात्। तत्र चान्तःकरणाति-रिक्तोपाध्यसम्भवात्।....इति जीवो न भिद्यते। वे० त० वि०, पृ० ३९८-९९।
५. न चैवं चैत्रो न भवति मैत्र इति प्रतीतिर्भेदसाधिका, एवं शङ्कमानस्य देहात्मवाद-प्रसङ्गात्। न च चैत्रात्मा न भवति मैत्रात्मेति प्रत्यक्षा प्रतीतिः संभवति। नन्वानु-मानिकीयं प्रतीतिः। एकस्मिन्नेव समये चैत्रश्चेष्टते न मैत्रः, एवं तयोर्विरुद्धा चेष्टा दृश्यते....इति सिद्धो विरुद्धधर्मवत्वादात्मनो भेद इति मैवम्, सिध्यत्वेवं निखिल-शरीरसम्बन्धः, तद्भेदस्तु नैव सिद्ध्यति। एकस्मिन्नपि प्रयत्नतदभावविरुद्धप्रयत्ना-दीनामनेकावच्छेदेनोपपत्तेः। प्रयत्नादेरन्तःकरणतद्धर्मविशिष्टधर्मत्वाच्च।
वही, पृ० ३९९-४०२।

सबकी मुक्ति हो जाती है"—यह कहने का अभिप्राय है। और शुक आदि की मुक्ति अर्थवाद मात्र है।[1]

मधुसूदन सरस्वती ने सिद्धान्तविन्दु में नृसिंहाश्रम की प्रथम युक्ति के अनुसार ही कहा है कि अज्ञान से उपहित विम्वचैतन्य ईश्वर है और अज्ञान में प्रतिविम्वित चैतन्य जीव है अथवा शुद्ध चैतन्य ईश्वर है, अज्ञानोपहित चैतन्य जीव है। यह जीव एक ही है, अज्ञान के एक होने से। यही जीव अपने आवरक अज्ञान द्वारा जगत् का स्रष्टा है। देह-भेद से जीवभेद की प्रतीति भ्रम ही है।[2]

अद्वैतसिद्धि में दृष्टि-सृष्टिवाद के प्रतिपादन के वाद कहा है कि विश्व-स्वप्न का द्रष्टा एक ही है, उसके अनेक होने में कोई प्रमाण न होने से। प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् 'मैं सुखी हूँ' 'मैं दुःखी हूँ' 'मैं संसारी हूँ' इत्यादि प्रतीतियों का कारण है एक ही ब्रह्म का अविद्या रूप उपाधि की मिथ्या स्वीकृति से संसरण। वही अविद्योपाधिक संसरणशील ब्रह्म जीव है। उसी को प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् अहंवुद्धि होती है।[3]

शङ्का उठाई है कि यदि एक ही जीव है तो उसके सोने पर समस्त जगत् की अप्रतीति आपन्न होगी, जव कि एक व्यक्ति के सो जाने पर दूसरे व्यक्तियों को संसार की प्रतीति पहले की तरह ही वनी रहती है। इसके उत्तर में कहा है कि समष्टि का अभिमानी वह एक मुख्य जीव अभी सोया नहीं, वह प्रलयकाल में ही सोता है, तव जगत् प्रतीत नहीं होता।

प्रतीयमान नाना व्यक्ति उस एक जीव के ही अनेक अन्तःकरणों के अवच्छेद से प्रतीत होने वाले जीवाभास हैं, जैसे स्वप्न में 'मैं सुखी हूं, दूसरा दुःखी है, तीसरा उदासीन है' इत्यादि प्रतीति के विषय-भूत अनेक व्यक्ति आभासमात्र ही होते हैं। इस अन्तःकरणावच्छिन्न जीवाभास के सोने पर केवल उसी के प्रति जगत् अप्रतीत होता है, अन्यों के प्रति नहीं, क्योंकि उनकी अवच्छेदक अवधि की निद्रावृत्ति द्वारा लीन अवस्था नहीं आई। जो जीवाभास सोते हैं, उनमें भी जाग्रत् के संसार की कारण (अविद्या) रूप से स्थिति रहती है, जव तक मूल उपाधि (अविद्या) ही लीन न हो जाय। इसीलिये सुप्त जीवाभास पुनः जागकर पहले जैसा ही जगत् देखता है।[4]

---

१. मुक्तदृष्ट्या कोऽपि भेदो न विषयीक्रियत इत्येको जीव एकमुक्त्या सर्वमुक्तिरित्यस्याभिप्रायः.........। वे० त० वि०, पृ० ४११।

२. अज्ञानोपहितं विम्वचैतन्यमीश्वरः। अज्ञानप्रतिविम्वितं चैतन्यं जीव इति वा, अज्ञानानुपहितं चैतन्यमीश्वरः, अज्ञानोपहितं च जीव इति वा मुख्यो वेदान्तसिद्धान्ते एकजीववादाख्यः। सि० वि०, पृ० ४८-४९।

३. स च द्रष्टा एक एव, तन्नानात्वे मानाभावात्।.........अविद्यावशाद् ब्रह्मैवैकं संसरति। स एव जीवः। तस्यैव प्रतिशरीरमहमित्यादिवुद्धिः। स्वाप्नशरीरे 'अयं सुखी अयं दुःखी' इत्यमेव यत्र वुद्धिर्नत्वहं सुखीत्यादि, तत्तु निर्जीवम्। यत्र त्वहमित्यादि तत् सजीवम्।......... अ० सि०, पृ० ५३९।

४. न चैवं तस्मिन्नेकस्मिन्नेव जीवे सुप्ते समस्तजगदप्रतीत्यापातः, समष्ट्यभिमानिनो

'ब्रह्म ही जीव है अतः एक ही जीव है' यह युक्ति ठीक नहीं क्योंकि तब ब्रह्म का ही बन्ध व मोक्ष प्रसक्त होगा, जिससे उसके निर्विकार होने की श्रुति से विरोध होगा।—ऐसी शङ्का उठाकर उत्तर दिया गया है कि मुक्ति तो ब्रह्म का स्वरूप ही है और बन्ध आविद्यक है, अतः इनमें कोई विरोध नहीं। तथा मृगतृष्णा द्वारा कल्पित जल से मरुभूमि गीली नहीं हो जाती।[१]

शरीर अनेक होने पर भी उनमें एक ही जीव स्वीकार्य है। भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों में अभेदाध्यास से उस-उस अन्तःकरण को लेकर प्रत्यक्त्व परात्त्व, 'मैं' 'तू' 'वह' इत्यादि प्रतीतियों की विषयता की व्यवस्था उपपन्न हो जाती है।[२]

एक ही जीव का भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों में अवच्छेद मान लेने से ही एक व्यक्ति के सुख-दुःख का दूसरे को भान न होना सङ्गत है, एवं एक को शुक्ति में दिखाई देनेवाले रजत का बाध होने पर उसी एक के प्रति भ्रम-बाध द्वारा सभी के रजतभ्रम दूर नहीं हो जाते।

यदि ऐसा है तो अन्तःकरणावच्छेद से ही ब्रह्म-साक्षात्कार हो और उसी प्रकार मुक्ति भी हो तो शुकादि की मुक्ति कहने वाले श्रुति-वचनों को अर्थवाद रूप नहीं मानना पड़ेगा। इस विचार को अस्वीकार करते हुए कहा है कि ब्रह्मसाक्षात्कार कार्यसहित अज्ञान की निवृत्ति-रूप होता है, अन्तःकरण उस समय रहता ही नहीं।

कुछ श्रुतियों को लेकर यह शङ्का उठाई है कि **'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः'**[३] में अविद्या **'रमणीयचरणाः'**[४] में कर्म-बन्ध, **'सति सम्पद्य न विदुः'**[५] में सुषुप्ति **'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः'** में तत्त्वज्ञान—इत्यादि सभी चेतनधर्म अनेकों में कहे गए हैं, इसका उत्तर दिया है कि 'अनादि माया से सोया हुआ जीव जब जागता है'[६] में एकवचन से प्राप्त एकत्व का विरोध होने से, उदाहृत श्रुतियां अनेकत्वपरक नहीं हैं, सार्वजनीन भ्रम से सिद्ध अनेकत्व का अनुवाद-मात्र करती हैं।

एक और शङ्का एकजीववाद के विरुद्ध उठती है कि इस संसार भ्रम का प्रमुख कल्पक कौन है अर्थात् मुख्य जीव कौन है और जीवाभास कौन है इसका निश्चय न होने से, बहुल-आयास-साध्य मोक्ष के लिये किसी की प्रवृत्ति ही न होगी। इसके उत्तर में कहा गया है कि

मुख्यजीवस्यासुप्तत्वात्। तस्मिन् लयकाले प्रसुप्ते जगदप्रतीतेः। अन्तःकरणावच्छिन्ने जीवाभासे तु सुप्ते तमेव प्रति जगदप्रतीतिः, न त्वन्यानपि प्रति। वही, पृ० ५३९।

१. अथ ब्रह्मण एव जीवत्वेन तस्यैव बन्धमोक्षाविति तस्य नित्यमुक्तत्वादिश्रुतिविरोधः, न, मुक्तेः स्वस्वरूपत्वेन बन्धस्य चाविद्यकत्वेन तदविरोधः। न हि मृगतृष्णिकाकल्पितोदकेन स्वभावशुष्का मरुभूमिरार्द्रा भवति। वही, पृ० ५४०।

२. ....भिन्नभिन्नान्तःकरणाभेदाध्यासेन तत्तदन्तःकरणमादाय प्रत्यक्त्वपराक्त्वाहमित्यादिबुद्धिविषयत्वव्यवस्थोपपत्तेः।.... वही।

३. कठ० १।२।५, मु० उ० १।२।८।

४. छा० उ० ५।१०।७।

५. वही, ६।९।२।

६. मां० का० १।१६।

प्रत्येक शरीर में 'मैं बद्ध हूं' ऐसा निश्चय स्वानुभवसाक्षिक (अपने अनुभव से सिद्ध) है, अतः मोक्ष के लिये प्रवृत्ति सम्भव ही है। तथा चैत्र-मैत्रादि में कौन वन्ध का कल्पक है इस प्रश्न का विषय कौन है ? क्या किसी शरीर द्वारा अवच्छिन्न चैतन्य ? या समस्त भेदरहित चैतन्य ? प्रथम हो ही नहीं सकता स्वयं कल्पित होने से, द्वितीय लें तो अनिश्चय ही नहीं रहता क्योंकि वह एक ही है।

इसी प्रकार युक्ति-प्रसार करते हुए अन्त में कहा है कि निष्कृष्ट सिद्धान्त यही है कि अविद्योपाधिक एक ही जीव है।[1]

प्रकाशानन्द ने वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली में 'अजामेकां···अजो ह्येको' श्रुति की शब्दशः स्पष्ट व्याख्या करते हुए, इसी को प्रमुख आधार बनाकर एकजीववाद का प्रतिपादन किया है। श्रुति में जीव का एक होना वहुधा कथित है एवं यहां 'हि' के प्रयोग से उस एकत्व पर बल दिया गया है।[2] एक ही व्यक्ति का एक ही निद्रा-दोष अपार स्वप्नजगत् की सृष्टि करता हुआ देखा ही जाता है, जिस स्वप्न में उस व्यक्ति से पृथक् न केवल अनेक जड़ वस्तुएं देखी जाती हैं, अपितु अनेक जड़ चेतन व्यक्ति भी नाना क्रियाओं में रत दिखाई देते हैं। अतः एक ही जीव द्वारा समस्त प्रपञ्च के कल्पित होने तथा नाना शरीरों के सजीव होने में कुछ भी अनुपपत्ति नहीं है।[3]

उक्त श्रुति के चतुर्थ पाद 'जहात्येनां भुक्तभोगाम् अजोऽन्यः' के 'अन्य' पद से एकजीववाद का विरोध प्रतीत होता है, उसका परिहार प्रकाशानन्द ने 'अन्यः' पद का अर्थ—अविद्या से अन्य, पृथक्—ऐसा करके किया है।[4]

अप्पय दीक्षित ने सिद्धान्तलेशसंग्रह में एकजीववादी आचार्यों के मत का निष्कृष्ट अभिप्राय बताते हुए कहा है कि ब्रह्म एक है (उसमें अवच्छेद या उसका प्रतिविम्ब स्वीकार्य नहीं, वह स्वयं ही अविद्योपहित होकर जीव-पदवाच्य है) अतः एक ही जीव है, अतः एक ही शरीर सजीव है, (जीव से युक्त है) अन्य सब शरीर स्वप्न में देखे जाने वाले शरीरों के समान निर्जीव हैं। समस्त जगत् उसी एक जीव के अज्ञान द्वारा कल्पित है। जैसे जब तक निद्रा की निवृत्ति नहीं होती, तभी तक स्वप्न देखा जाता है, वैसे ही जब तक जीव की अविद्या का नाश नहीं होता, तब तक ही जीव के सब व्यवहार होते हैं।[5]

---

१. अ० सि०, पृ० ५४०–४२।

२. अभेदस्य उपनिषत्प्रसिद्धत्वं युक्तिसिद्धत्वं च प्रसिद्धार्थेन 'हि' शब्देनाह।
वे० सि०, पृ० १७।

३. वन्धमोक्षव्यवस्था स्याद् जीवाभेदे कथं तव।
यथा दृष्टं तथैवास्तु दृष्टत्वात् स्वप्नदृष्टवत्॥ वे० सि० मु०, पृ० १९।

४. अजो जीवोऽविद्यातोऽन्य एव, न तु अविद्यान्तर्भावेन जीवत्वम्। अविद्याया जडत्वात्, जीवस्य च चेतनत्वात्, जीवोपाधित्वेन स्वीकारात् चेति·······।
वही, पृ० १९–२५।

५. एको जीवः, तेन चैकमेव शरीरं सजीवम्। अन्यानि स्वप्नदृष्टशरीराणीव निर्जीवानि। तदज्ञानकल्पितं सर्वं जगत्, तस्य स्वप्नदर्शनवद्यावदविद्यं सर्वो व्यवहारः।
सि० ले० सं०, पृ० १२१।

वन्ध-मोक्ष-व्यवस्था करने का अवकाश नहीं है, क्योंकि जीव एक ही है, और वह वद्ध है। शुक आदि की जो मुक्ति श्रुत है, वह स्वाप्नकालिक अन्य पुरुष की मुक्ति के समान ही है।[1]

अन्य मतों का संग्रह करते हुए अप्पय दीक्षित ने आगे कहा है कि उक्त प्रकार के एकजीववाद का 'अधिकं तु भेदव्यपदेशात्' तथा 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' इत्यादि सूत्रों[2] में प्रतिपादित सिद्धान्त से विरोध होता है, क्योंकि वहाँ जीव से अन्य ईश्वर को ही जगत् का स्रष्टा वताया गया है, तव जीव को सृष्टिकर्ता कैसे माना जाय यह सोचकर कुछ विद्वानों ने ब्रह्म के प्रतिविम्वभूत हिरण्यगर्भ को एक मुख्य जीव माना है, एवं अन्य सवको उस हिरण्यगर्भ के प्रतिविम्वभूत चित्रपट में चित्रित मनुष्य-देह में अर्पित पटाभास के समान जीवाभास कहा है।[2]

यहां भी, प्रत्येक कल्प में हिरण्यगर्भ का भेद होने से किस हिरण्यगर्भ को मुख्य जीव माना जाय इसका कोई विनिगमक नहीं है, इससे सभी हिरण्यगर्भों में मुख्यजीवत्व प्राप्त होने से एकजीवत्व नहीं वन पड़ेगा—ऐसा सोचकर कुछ लोग जीव के मुख्य-अमुख्य विभाग के विना ही, एक जीव द्वारा अनेक शरीरों का अधिष्ठित होना मानते हैं। उनका भाव यह है कि अविद्या में चैतन्य का प्रतिविम्व रूप जीव एक है, क्योंकि चैतन्य एक है और अविद्या भी एक है। वही जीव सव शरीरों में भोग के लिये अधिष्ठित है। अविद्या में ब्रह्म का प्रतिविम्व-रूप जीव हिरण्यगर्भ-शरीर में अधिष्ठित है और उस हिरण्यगर्भ-शरीर में अधिष्ठित जीव प्रतिविम्व-रूप जीवाभास अन्य शरीरों में स्थित है—ऐसा पहले मतवादियों का अभिप्राय था, वह ठीक नहीं, क्योंकि अन्य जीवों के, हिरण्यगर्भ का प्रतिविम्व होने में कोई प्रमाण नहीं है।[3]

अप्पय दीक्षित ने एकजीववाद पर एक नई शङ्का की उद्भावना करके समाधान किया है। वह शङ्का यह है कि यदि सव शरीरों में एक ही जीव है तो, अपने शरीर के अवयव-भेद के समान शरीर का भेद होने पर भी परस्पर के सुख-दुःखादि का अनुभव या कम से कम अनुसन्धान होना चाहिए। अर्थात् जैसे एक शरीर के अभिमानी जीव को 'मेरे सिर में

---

१. वद्धमुक्तव्यवस्थाऽपि नास्ति, जीवस्यैकत्वात्। शुकमुक्त्यादिकमपि स्वाप्नपुरुषान्तर-मुक्त्यादिकमिव कल्पितम्। अत्र च सम्भावितसकलशङ्काप्रक्षालनं स्वप्नदृष्टान्तसलि-लधारयैव कर्तव्यमिति। वहीं॥

२. ब्र० सू० २।१।२२ तथा २।१।३३।
जीवाधिक ईश्वर एव जगतः स्रष्टा न जीवः। तस्याऽऽप्तकामत्वेन प्रयोजनाभावेऽपि केवलं लीलयैव जगतः सृष्टिरित्यादिप्रतिपादयद्भिर्विरोधं च मन्यमाना हिरण्यगर्भ एको ब्रह्मप्रतिविम्वो मुख्यो जीवः। अन्ये तु तत्प्रतिविम्वभूताश्चित्रपट्टलिखितमनुष्य-देहार्पितपटाभासकल्पा जीवाभासाः संसारादिभाजः।
सि० ले० सं०, पृ० १२२-२३।

३. हिरण्यगर्भस्य प्रतिकल्पं भेदेन कस्य हिरण्यगर्भस्य मुख्यं जीवत्वमित्यत्र नियामकं नास्तीति मन्यमाना एक एव जीवो विशेषेण सर्वं शरीरमधितिष्ठति।
वही, पृ० १२३।

पीड़ा है, मेरे हाथ कोमल पुष्प का स्पर्श कर रहे हैं, मैं उसकी सुगन्ध ले रहा हूं, मेरे एक पाँव में कांटा चुभा है दूसरा स्वस्थ है' इत्यादि पृथक्-पृथक् अवयवों के सुख-दुःख आदि का एक 'मैं' के साथ जुड़ा हुआ अनुभव होता है, वैसे ही, यदि सब शरीरों में एक ही जीव अधिष्ठित है तो—'राम के शरीर में मुझे वेदना है, श्याम के शरीर में मैं सुखी हूँ' ऐसा अनुभव होना चाहिये। यह होता नहीं, अतः एकजीववाद असङ्गत है।

इसके उत्तर में अप्पय दीक्षित ने कहा है कि यद्यपि पूर्वजन्म के शरीर तथा इस जन्म के शरीर का अधिष्ठाता जीव एक है यह सभी को सम्मत है, तब भी जन्मान्तरीय सुख-दुःखादि का अनुसन्धान इस शरीर में नहीं देखा जाता। अतः सुख-दुःखादि का व्यापक अनुभव न होने में शरीरभेद ही निमित्त है, जीवभेद नहीं।[1]

(ख) अनेकजीववाद

अनुभूयमान स्थिति से ही तत्त्व-विचार को आरम्भ करने वाले आचार्य एकजीववाद की प्रक्रिया में दुरूहता एवं गौरव (दीर्घता) देखकर साक्षात् अन्तःकरणों को ही जीव की उपाधि मानते हैं, इससे जितने अन्तःकरण हैं, उतने ही जीव हैं। परमार्थतः भले ही एक अद्वितीय ब्रह्म है, किन्तु आवरण-विक्षेपमयी अविद्या की संभावना रहने तक व्यावहारिक ही क्षेत्र (या दशा) है, और परम तत्त्व पर सभी प्रकार से विपरीतता का अध्यास करने वाली अविद्या एक को अनेक रूप बनाने में समर्थ है ही। 'जीव' का अस्तित्व या जीवभाव आविद्यक ही है, इसे तो अस्वीकार किया नहीं जा सकता। तब आविद्यक जीवों को अनेक ही मानने में कोई सिद्धान्त-क्षति है नहीं, प्रत्युत इसी में पूरी तात्त्विक स्थिति को समझना सुगम है, एक ही जीव को अनेक शरीरों में अधिष्ठित मानना अथवा एक वास्तविक जीव को अन्य सब जीवाभास मानना अवश्य क्लिष्टकल्पना है, इसी अभिप्राय से भामती-प्रस्थान के आचार्यों ने अनेक-जीववाद स्वीकार किया है। अधिकांश श्रुतियों का शाब्दिक अर्थ अनेक-जीववाद का ही पृष्ठपोषक है, उनकी अन्यथा व्याख्या का भार भी इस मत में नहीं पड़ता। जगद्व्यवहार की व्यवस्था के लिए एकजीववाद में भी अन्ततः अन्तःकरण-कृत अवच्छेद या अतिशय मानना ही पड़ता है, और जीव-भाव का व्यवहार-दशा रहने तक ही रहना स्वीकार्य है, तथा उपाधि-रहित कोई जीवरूप है ही नहीं, जो कि आचार्य शङ्कर ने शब्दशः कहा है।[2] तथापि गौड़पाद, भाष्यकार, वार्त्तिककार, मण्डन व वाचस्पति-प्रस्थानी आचार्यों के अतिरिक्त प्रायः सभी आचार्यों ने एकजीववाद का ही समर्थन किया है। चित्सुखाचार्य एवं मधुसूदन सरस्वती ने दोनों ही पक्षों की समर्थक युक्तियाँ दी हैं।

---

१. न चैवं शरीरावयवभेद इव शरीरभेदेऽपि परस्परसुखाद्यनुसन्धानप्रसङ्गः, जन्मान्तरीयसुखाद्यनुसन्धानादर्शनेन शरीरभेदस्य तदनुसन्धानप्रयोजकत्वक्लृप्तेः।

वही, पृ० १२४।

२. परमार्थतस्तु न जीवो नाम बुद्ध्युपाधिसम्बन्धपरिकल्पितस्वरूपव्यतिरेकेणास्ति।

ब्र० शां० भा० २।३।३० पृ० ५११।

श्रुति वचन—'जैसे अग्नि से क्षुद्र स्फुलिंग निकलते हैं वैसे ही इस आत्मा से सब प्राण (प्राणधारी जीव) उदित होते हैं।'[1]

'यथा सुदीप्ताद् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः'[2] इत्यादि अनेक ही जीव होना कहते हैं। एकजीववाद के अनुकूल कुछ श्रुतियों के आग्रह से अन्य सबको अनुवादक कहना क्यों उचित माना जाय ? इसके उत्तर में सभी एकजीववादी आचार्यों का प्रमुख तर्क यही है कि क्योंकि व्रह्म एक है और अविद्या भी एक है अतः उपहित या उपाधि के अधीन चैतन्य रूपी जीव भी एक ही है। व्यावहारिक स्थिति यदि उससे विरुद्ध है तो इसके समाधान के लिये जीवाभास, एक जीव का अनेक शरीरों से सम्वन्ध, अन्तःकरण से अवच्छेद आदि अनेक युक्तियाँ दी जा सकती हैं।

एकजीववादी आचार्यों को उक्त विविध कल्पनाओं में लाघव तथा अनेक जीव और उनकी अनेक ही अविद्यायें (वाचस्पति मत) मानने में अधिक पदार्थ-कल्पना-रूप गौरव दिखता है, यही एक हेतु एकजीववाद के समर्थन में प्रयोजक प्रतीत होता है। अथवा भामती प्रस्थान में नाना जीव अपने-अपने प्रपञ्च के कल्पक माने गये हैं। इस प्रकार जीव-नानात्व के साथ जगत्-नानात्व की भी कल्पना का गुरुतर होना ही भामतीप्रस्थान के प्रति अरुचिनिमित्त होते हुए एकजीववाद का प्रसूतिस्थल वना है।

तटस्थ दृष्टि से देखें तो एकजीववाद में वन्धमोक्ष व्यवस्था की उपपत्ति की प्रक्रिया गुरुतर है, तो अनेक जीववाद में नाना प्रपञ्चों की परस्पर व्यवस्था दुष्कर है, साथ ही ईश्वर को जीवकल्पित मानने में श्रुतिविरोध का आभास भी है। उधर एकजीववाद में व्यवहारभूमि में जीव के एकत्व की सिद्धि के लिये समस्त जगद्-व्यवहार के कल्पित होने की युक्तियाँ दी जाती हैं जो अजातवाद में ही कथञ्चित् उपपन्न हो सकती हैं, किसी भी प्रकार की व्यावहारिक जगत्कल्पना में नहीं। जव कि अजातवाद के प्रतिपादनों में तो कल्पित भी नाना ही जीव अभिमत हैं।

भाष्यकार एवं सभी अनुयायी आचार्यों को जीवन्मुक्ति अभिमत है, वह एकजीववाद में उपपन्न नहीं। इसके अतिरिक्त, जीव के एकत्व की साधक प्रायः सभी युक्तियों का आधार जीव का लक्ष्यार्थ ही है। उस लक्ष्यार्थ की एकता तो सभी वेदान्तियों को अभिमत है, जीव के वाच्यार्थ के एक या अनेक होने में ही वाद-भेद है। वाच्यार्थ की एकता लक्ष्यार्थ की एकता-साधक युक्तियों से सिद्ध नहीं होती। व्यावहारिक दशा में जीवभाव देहेन्द्रियसङ्घात के अनुसार अनेकों में होना अनुभवसिद्ध है।

आचार्य गौड़पाद ने माण्डूक्यकारिका में जीवभाव का उदय दिखाते समय जीव शब्द में वहुवचन का ही प्रयोग किया है, महाकाश से अनेक घटाकाशों के समान आत्मा में जीवों

---

१. यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेव अस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः········ व्युच्चरन्ति। वृह० उ० २।१।२०।

२. मु० उ० २।१।१।

का उदय कहा है, एवं उसी रीति से, पुनः आत्मा में विलय भी कहा है।[१] घटाकाश जैसा परिच्छेद-युक्त होना ही आत्मा का जीव होना है। फिर कहा है कि एक घटाकाश के धूलि व धुएँ आदि से युक्त होने पर सारे घटाकाश वैसे नहीं हो जाते, उपाधिकृत निमित्त से जीवों में व्यावहारिक भेद है ही।[२]

योगवासिष्ठ में जीवों का अनेक, अनन्त (संख्या की दृष्टि से) होना शब्दशः कहा गया है। चैतन्य की संसार-भावना से ऊहित (अनुमान द्वारा कल्पित) कोटि-कोटि जीव हैं, जो ब्रह्म से उसी प्रकार निर्गत हैं एवं निर्गत होते रहते हैं जैसे निर्झर से जल-कण। ये असंख्य जीव अपने-अपने पहले जन्मों के संस्कार-वासनाओं के कारण विवश होकर शृङ्खलाबद्ध के समान भिन्न शरीरों में जन्म लेते हैं, अनेक दशायें भोगते हैं।[3]

आचार्य शङ्कर ने शारीरकभाष्य में जीवविषयक विचार के सभी स्थलों पर जीव शब्द एकवचन में ही लिया है अवश्य, किन्तु एकजीववाद में पोषित एकजीवत्व-सिद्धान्त के प्रति आग्रह एवं जीवनानात्व की अस्वीकृति के प्रत्यायक कोई कथन वहाँ नहीं हैं। जीव एक हैं या अनेक इसे पृथक् रूप से विचार का लक्ष्य न बनाकर प्राप्त जीवत्व के स्वरूप-विचार में ही समस्त विचार का ध्येय केन्द्रित है। तथापि **'जन्माद्यस्य यतः'** [४] के भाष्य में संसार का स्वरूप कहते समय उसे 'अनेक कर्त्ता व भोक्ताओं से युक्त' कहा है। इन अनेक कर्त्ता आदि का व्याख्यान टीकाओं में अनेक जीव-रूप से ही किया गया है।

वाचस्पति मिश्र ने भामती में अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को ही जीव-पदार्थ माना है, यह देखा जा चुका है। अन्तःकरणों के अनेक होने से जीव नाना हैं, और उनमें आश्रित अविद्यायें भी नाना हैं, जिन सबका विषय ब्रह्म है, जो विषय होने के नाते ही उन सब अविद्याओं का प्रवर्तक है, और उनके कार्य-भूत प्रपञ्च-विवर्त का अधिष्ठान है। भामतीकार ने जीवभाव की व्याख्या के समय तो जीव शब्द एकवचन में प्रयुक्त किया है,[५] अन्यत्र सर्वत्र बहुवचन का ही प्रयोग है।

---

१. आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः।
घटादिवच्च संघातैर्जातावेतन्निदर्शनम् ॥
घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा।
आकाशे सम्प्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि ॥ मां० का० ३।३–४ ॥

२. यथैकस्मिन् घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते।
न सर्वे संप्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः ॥ वही ३।५ ॥

३. एवं जीवाश्चितो भावा भवभावनयोहिताः।
ब्रह्मणः कल्पिताकारा लक्षशोऽप्यथ कोटिशः ॥
स्ववासनादशावेशादाशाविवशतां गताः।
दशास्वतिविचित्रासु स्वयं निगडिताशयाः ॥ यो० वा० ४।४३।१–३ ॥

४. ब्र० सू० १।१।२।

५. जीवात्मैवाङ्गुष्ठमात्रः। स खल्वन्तःकरणाद्युपाधिकल्पितो भागः परमात्मनः।
भा० १।३।२४ पृ० ३१५। शेष अगले पृ० पर

वाचस्पति-मत में विप्रतिपत्ति या युक्ति-सङ्गति न होना रूप दोष केवल अन्तःकरण व अविद्या के परस्पराश्रय को लेकर है, जिसका निवारण भामतीकार ने बीजाङ्कुर-दृष्टान्त से ही अनेक बार किया है। मण्डन मिश्र ने अनुपपत्ति को अविद्या का साधक ही माना है और कहा है कि अविद्या व उसके सम्बन्ध को लेकर कुछ भी अनुपपन्न है ही नहीं।[१]

६. जीव का कर्तृत्व-भोक्तृत्व

'यहाँ कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा करें'।[२]
'आत्मा मन व इन्द्रियों से युक्त होकर भोक्ता होता है'।[३]
'दो पक्षी एक वृक्ष पर रहते हैं, जिनमें से एक उस वृक्ष के फल को चखता है'।[४]
'यही द्रष्टा, श्रोता, स्वाद लेने वाला, सूंघने वाला, स्पर्श करने वाला, मनन करने वाला, कर्म करने वाला, जानने वाला, कर्म करने वाला विज्ञानात्मा पुरुष है'।[५]
'यह कर्म जिसका है उसे जाने'।[६]
'अच्छे कर्म करने वाले अच्छी देह प्राप्त करते हैं'।[७]
'पुण्य कर्मों से वह पवित्र होता है, पाप से कलुषित'।[८]
'जैसे पूर्व कर्म वाला होता है, वैसा ही कर्म यहाँ करता है, जैसा कर्म करता है, वैसा फल भोगता है'।[९]

नित्या जीवात्मानो न विकाराः········ वही पृ० ६०२।
जीवभावस्तस्य ब्रह्मणो नाद्यनिर्वचनीयाविद्योपधानभेदादेकस्यैव बिम्बस्य दर्पणाद्युपाधिभेदात् प्रतिबिम्बभेदाः।········ वही पृ० ६२३।

१. न हि मायायां काचिदनुपपत्तिः, अनुपपद्यमानार्थैव हि माया········ ब्र० सि०, पृ० १०।
२. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्। ईश० २।
३. आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ कठ० १।३।४॥
४. द्वा सुपर्णा····तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति। मु० उ० ३।१।१॥
५. एष हि द्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता स्प्रष्टा मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। प्रश्न ४।९॥
६. यस्य वै तत्कर्म स वेदितव्यः। कौषी० ४।१९।
७. रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्येरन्। छा० उ० ५।१०।७॥
८. पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। बृह० उ० ३।२।१३॥
९. यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते। यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते। तदेव सक्तः सह कर्मणैति। बृह० उ० ४।४।५-६॥

'कर्म तथा विद्या उसके साथ जाते हैं'[१]—इत्यादि अनेक श्रुतियों में जीवात्मा का कर्म से सम्बन्ध, कर्तृत्व, भोक्तृत्व नियत रूप से कहा गया है।

दूसरी ओर—'कर्म का जीव पर लेप नहीं होता है'[२]

'वह कर्म से न बढ़ता है, न घटता है'[३]

'प्रकृति के गुणों द्वारा ही सब कर्म किये जाते हैं, अहङ्कार से मोहित आत्मा उनका कर्ता स्वयं को समझता है'[४]—इत्यादि श्रुति-स्मृति वचनों से ज्ञात होता है कि कर्तृत्व आत्मा का धर्म किसी भी प्रकार हो ही नहीं सकता। यदि किसी भी प्रकार कर्म से आत्माका सम्पर्क है ही नहीं तो उनका प्रभाव फिर आत्मा पर क्यों पड़ता है? क्यों पाप कर्म करके आत्मा पापी होकर बुरे देह धारण करता है, और अच्छे कर्मों से अच्छे लोकों में जाता है, तथा आत्मा के लिंग शरीर के साथ-साथ क्यों कर्म संस्कार 'आशय' रूप में सम्पृक्त रहते हैं, इसका समाधान नहीं मिलता।

आचार्य शङ्कर ने शारीरक भाष्य में कहा है कि आत्मा में 'तद्गुण-सारप्रधान' (तद्=बुद्धि के, गुण=इच्छा-द्वेषादि, ही सार हैं जिस के, ऐसा संसारित्व ही सम्भव है। यहाँ संसारित्व का अर्थ है कर्मकर्तृत्व तथा उसके अनुसार फलभोक्तृत्व की परम्परा)। बुद्धि के गुणों के विना केवल आत्मा तो अकर्त्ता, अभोक्ता, असंसारी व नित्य-मुक्त है। उसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि रूप संसारित्व बुद्धिरूप उपाधि के धर्मों के अध्यास के कारण ही है।[५] कौषीतकि उपनिषत् में कहा गया है कि बुद्धि (-रूप उपाधि) द्वारा ही शरीर पर समारूढ़ होकर जीव सुख-दुःख का अनुभव करता है।[६] बुद्धि का संयोग आत्मा में तव तक वना ही रहता है, जव तक वह संसारी रहता है। तत्त्वज्ञान से ही संसारित्व तथा बुद्धि-संयोग दोनों एक साथ निवृत्त होते हैं। जव तक यह बुद्धि-रूप उपाधि का सम्बन्ध है, तभी तक जीवत्व है, संसारित्व है। वास्तव में तो बुद्धि-रूप उपाधि के सम्बन्ध से परिकल्पित स्वरूप से अतिरिक्त कोई जीव वस्तु है ही नहीं।[७]

---

१. तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते। वृह० उ० ४।४।२॥

२. न कर्म लिप्यते नरे। ईश० २।

३. न वर्द्धते कर्मणा नो कनीयान्। वृह० उ० ४।४।२३।

४. प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते॥ गी० ३।२७।

५. न हि बुद्धेर्गुणैर्विना केवलस्यात्मनः संसारित्वमस्ति। बुद्ध्युपाधिधर्माध्यासनिमित्तं हि कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं संसारित्वमकर्तुरभोक्तुश्चासंसारिणो सत आत्मनः।
ब्र० शां० भा० २।३।२९, पृ० ५०९।

६. प्रज्ञया शरीरमारुह्य········। कौषी० ३।६।

७. परमार्थतस्तु न जीवो नाम बुद्ध्युपाधिसम्बन्धपरिकल्पितस्वरूपव्यतिरेकेण।
ब्र० शां० भा० २।३।३०, पृ० ५११।

अगले सूत्रों[1] के भाष्य में आचार्य शङ्कर ने कहा है कि यह जीव कर्ता होना ही चाहिये, क्योंकि तभी विधि शास्त्र ('होम करें' 'दान करें' आदि) सार्थक होता है। कर्त्ता ही न हो तो कर्त्तव्य का विधान उपपन्न नहीं होता। जीव कर्त्ता हो तभी 'यह द्रष्टा श्रोता बोद्धा, कर्ता है' यह वचन सार्थक होता है।[2]

यदि बुद्धि में ही कर्तृत्व मान लें जैसा कि 'विज्ञान यज्ञ करता है' श्रुति कहती है, तो ठीक नहीं, क्योंकि बुद्धि तो करण है, उसकी करण शक्ति हटाकर कर्तृ-शक्ति माननी होगी, तथा 'अहं' प्रतीति का विषय भी फिर उसे मानना पड़ेगा, जब कि वही (बुद्धि ही) अहं-प्रतीति की घटक है, स्वविषयता तो विरुद्ध है। तथा बुद्धि ही कर्त्री (कर्तृत्वसंपन्न) हो तो उसके लिये और किसी कारण की कल्पना करनी पड़ेगी, क्योंकि समर्थ होने पर भी कर्ता करण से युक्त होकर ही कार्य में प्रवृत्त हुआ करता है। एवं ऐसा कर्तृत्व बुद्धि में मान लें तो नाम-मात्र में विवाद रहता है, वस्तु में अन्तर नहीं आता।[3]

इसके अतिरिक्त, यदि आत्मा (जीव) कर्ता न हो तो ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये वेदान्त में प्रतिपादित श्रवण-मनन-निदिध्यासन आदि किसके लिये होंगे ? बुद्धि तो मुक्ति की अधिकारिणी है नहीं। श्रुति में जो 'विज्ञान यज्ञ करता है' कहा है, वहाँ विज्ञान का अर्थ विज्ञानमय (जीव) है।

इससे अगले सूत्र-भाष्य में प्रचुर-विचारपूर्वक सिद्ध किया है कि आत्मा में कर्तृत्व स्वाभाविक (अग्नि में उष्णता के समान) नहीं, उपाधिनिमित्तक ही है। कहा है, जैसे लोक में बढ़ई अपने कार्य के उपकरण लिए हुए काम करता हुआ श्रान्त होता है, वही अपने घर जाकर कुल्हाड़ी आदि छोड़कर कार्यरहित होकर सुखी होता है, वैसे ही अविद्या द्वारा प्रस्तुत द्वैत से सम्पृक्त आत्मा जाग्रत् व स्वप्न अवस्थाओं में दुःखी रहता है। उस श्रम की निवृत्ति के लिए सुषुप्ति में कार्य-करण-सङ्घात को छोड़कर सम्प्रसन्न होता है। और मुक्ति-दशा में तो अविद्या से भी छूटकर परम सुखी होता है।[4] अर्थात् जब तक करण रहें तभी तक आत्मा में कर्तृत्व है। जीव के तो स्वरूप में ही करण प्रविष्ट हैं, अतः जीव कर्त्ता अवश्य है।

---

१. (कर्त्रधिकरण)। ब्र० सू० २।३।३३-३९।

२. कर्ता चायं जीवः स्यात्। एवं हि 'यजेत' 'जुहुयात्' इत्येवंविधं शास्त्रमर्थवद् भवति अन्यथा तदनर्थकं स्यात्। तद्धि कर्तुः सतः कर्तव्यविशेषमुपदिशति।........ वही, पृ० ५१४।

३. यदि पुनर्विज्ञानशब्दवाच्या बुद्धिरेव कर्त्री स्यात् ततः शक्तिविपर्ययः स्यात्। करण-शक्तिर्बुद्धेर्हीयेत कर्तृशक्तिश्चापाद्येत। सत्यां च बुद्धेः कर्तृशक्तौ तस्या एवाहंप्रत्यय-विषयत्वमभ्युपगन्तव्यम्, अहङ्कारपूर्विकाया एव प्रवृत्तेः सर्वत्र दर्शनात्........ततश्च संज्ञामात्रे विवादः स्यात्, न वस्तुभेदः कश्चित्। वही, पृ० ५१६–१७।

४. यथा च तक्षोभयथा। ब्र० सू० २।३।४०।
न स्वाभाविकं कर्तृत्वमात्मनः संभवति, अनिर्मोक्षप्रसङ्गात्,.....नैवं मन्तव्यं स्वाभाविकमेवात्मनः कर्तृत्वमग्नेरिवौष्ण्यमिति। यथा तु तक्षा लोके वास्यादिकरणहस्तः

वाचस्पति मिश्र ने भामती में कहा है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि समस्त चेतन-धर्म रूप से प्रतीत होने वाले धर्म त्वंपदार्थ (जीवतत्त्व) के अर्थमल हैं। जिन्हें वह तत् पदार्थ के साथ अभिन्न होता हुआ त्याग देता है, तभी असंग अकर्ता होता है।[1]

इस कथन का तात्पर्य यह है कि 'त्वं' पदार्थ या जीव संघटना की दृष्टि से एक मिश्रित वस्तु है, विशुद्ध नहीं, यह तो स्वीकार्य है ही। उस मिश्रणात्मक वस्तु में जो शुद्ध चैतन्यांश है, उसी के स्वरूप में असंगत्व, अकर्तृत्व आदि पर्यवसित हैं, और अचेतन अविद्या रूप मन अंश में ही शुद्ध-विरोधी समस्त धर्म निहित हैं, दोनों के परस्पर अध्यास से ही जीव-पदार्थ निष्पन्न है। और कर्तृत्व केवल जड़ वस्तु में नहीं हो सकता दण्ड, मृत्तिका आदि कभी घट के कर्ता नहीं होते, अथवा चाक तथा उसका घूमना, जिनसे स्वतः क्षण-क्रम से शरावों का निकलते आना या रूपायित होना देखने में आता है, वह भी उन शकोरों का कर्त्ता नहीं कहलाता। सांख्य मत में अवश्य प्रकृति मात्र में संसरण व मोक्ष कहा जाता है, किन्तु उससे पुरुष के अनुभूयमान संसारित्व की युक्तिसङ्गत उपपत्ति नहीं होती, एवं वेदान्त में अविद्या द्वारा उपहित स्वरूप वाला जीव मान्य होने से वास्तव आत्मा ब्रह्म से (कम से कम व्यवहार दशा तक) अन्य ही त्वं-पदार्थ ('जीव') की कल्पना सार्थक है, जो परमार्थ दृष्टि से ब्रह्म होते हुए भी व्यवहार-दशा में उससे भिन्न जैसा ही रहता है। इस भेद को आविद्यक, आध्यासिक मान लेने के कारण अद्वैत तत्त्व का भी व्याघात नहीं होता, और जीवात्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व-प्रतिपादक श्रुतियां सार्थक होती हैं।

भाष्यकार के अन्तिम तर्क (तक्षा के समान करणयुक्त ही आत्मा कर्ता है) को और अधिक स्पष्ट करते हुए भामतीकार ने कहा है कि यद्यपि कर्तृविभक्ति केवल कर्त्ता के लिये प्रयुक्त होती है, तथापि आत्मा का कर्तृत्व कर्म व करण के उपधान को लेकर है, शुद्ध का नहीं, जो परशु द्वारा वृक्ष काटने वाला है, वह अकेला (परशु से रहित रूप में) 'काटने वाला' नहीं होता।[2]

'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्'[3] सूत्र पर युक्तियों का ही अनुसरण करते हुए प्रकटार्थविवरण

कर्ता दुःखी भवति, स एव स्वगृहं प्राप्तो विमुक्तवास्यादिकरणः स्वस्थो निर्वृतो निर्व्यापारः सुखी भवत्येवमविद्याप्रत्युपस्थापितद्वैतसम्पृक्त आत्मा स्वप्नजागरयोः कर्ता दुःखी भवति, स तच्छ्रमापनुत्तये स्वमात्मानं परं ब्रह्म प्रविश्य विमुक्तकार्य-करणसङ्घातो कर्ता सुखी भवति सम्प्रसादावस्थायाम्।...तस्मात्कर्तृत्वमप्यात्मन उपाधिनिमित्तमेवेति स्थितम्। वही, पृ० ५१७–२१।

१. विगलितपराग्वृत्त्यर्थत्वं पदस्य तदा त्वमिति हि पदेनैकार्थत्वे त्वमित्यपि यत्पदम्। तदपि च तदा गत्वैकार्थ्यं विशुद्धचिदात्मतां त्यजति सकलान् पदार्थमलान् निजान्॥ भा० १।१।४, पृ० १२५।

२. यद्यपि कर्तृविभक्तिः केवले कर्तरि श्रूयते, तथापि कर्मकरणोपधानकृतमस्य कर्तृत्वं न शुद्धस्य, न हि परशुसहायश्छेत्ता केवलश्छेत्ता भवति। भा० २।३।४०, पृ० ६१८।

३. ब्र० सू० २।३।३३।

में कहा गया है—जीव का पारमार्थिक रूप ब्रह्म है, कर्तृत्व औपाधिक है। अविद्या में प्रतिबिम्बित चिद् धातु जीव है, उसी में अविद्याजन्य कर्तृत्वादि-सम्बन्ध है, और स्वरूप-भेद का अभाव होने से आत्मा से अतिरिक्त कोई भोक्ता नहीं है।[1] सांख्य बुद्धि में कर्तृत्व मानता है, पुरुष में भोक्तृत्व, वह न्यायसङ्गत नहीं। और जीव का कर्तृत्व केवल शास्त्रार्थ की अनुपपत्ति से कल्पित नहीं, श्रुति द्वारा कहा भी गया है।[2]

उपाधि के उद्भव-अभिभव से दुःखादि का उद्भवादि कहे जाने से भी औपाधिक कर्तृत्व आत्मा में है।[3]

विद्यारण्य ने विवरणप्रमेयसंग्रह में अन्तःकरण या 'अविद्याकार्य' को उपाधि मानने के प्रयोजन की आलोचना में, जीव के कर्तृत्व की उपपत्ति भी एक प्रयोजन कहा है।[4]

नृसिंहाश्रम ने अद्वैतदीपिका में कहा है कि अन्तःकरण ही कर्ता व भोक्ता दोनों है, उसके द्वारा ही जीव भी भोक्ता, कर्ता, ज्ञाता आदि बनता है स्वरूपतः नहीं। **'पिप्पलं स्वाद्वत्ति'** अंश से अन्तःकरण और **'अभिचाकशीति'** से क्षेत्रज्ञ अभिप्रेत है, ऐसी ही व्याख्या पैङ्गिरहस्य ब्राह्मण में की गई है।[5] अचेतन (जड़) अन्तःकरण में भोक्तृत्व कैसे सम्भव है ? यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि श्रुति तो चेतन के अभोक्ता होने का ही प्रतिपादन करती हुई, चेतन के समानाधिकरण भोक्तृत्व की प्रतीति को समझाने के लिये, चैतन्य की छाया लिए अन्तःकरण में ही भोक्तृत्व है—इस तथ्य का अनुवाद करती है।[6] अर्थात्

---

१. अविद्याप्रतिबिम्बितस्यैव चिद्धातोस्तदुत्थकर्तृत्वादिसम्बन्धः स्वरूपभेदाभावाभिप्रायेण चान्यो भोक्ता नास्ति। प्र० वि० २।३।४०, पृ० ६४०।

२. वृत्तिव्याप्ते हि विषये प्रतिबिम्बितमात्मचैतन्यं विषयोपलब्धिः। तत्र यद्यपि प्रतिबिम्बमेव निरूप्यमाणेऽपि तथापि बिम्बाधीनं प्रतिबिम्बमित्यस्ति लोकानुभवः, तद्वदात्मनोऽपि चित्प्रतिबिम्बनिमित्तत्वेन व्यावहारिकमुपलब्धृत्वं न तूपलब्धिक्रियैश्रयत्वेनेति भावः। वही पृ० ६४४।

३. अहं करोमीति अहङ्कारसामानाधिकरण्येन कर्तृत्वमनुभूयते। न चानुभूयमानगतो धर्मोऽनुभवितुरारोपमन्तरेण भवितुमर्हतीति भावः।····यस्मात् प्रतीयमानं मिथ्या···· कर्त्रन्तःकरणप्रतिबिम्बिततया मिथ्यैवात्मनः कर्तृत्वम्। तयोश्च तादात्म्यात्तदैकरूप्यावभासः। वही, पृ० ६४४–४५।

४. न तावज्जीवे कर्तृत्वादिप्रपञ्चोऽनुमानादिगम्यः अपरोक्षत्वात्········। वि० प्र० सं०, पृ० ३३७।

५. पिप्पलं स्वाद्वत्तीति श्रुतिः ब्रह्मस्वरूपस्य सतो जीवस्य बुद्ध्युपाधिकृतं भोक्तृत्वमनुभवसिद्धमनुवदति केवलस्वरूपेण तस्यैवाभोक्तृत्वं दर्शयितुं न भोक्तृत्वपरा। अत एवायं मन्त्रो पैङ्गिरहस्यब्राह्मणेनास्मदुक्ताभिप्रायेण व्याख्यातः। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति सत्त्वम् (अन्तःकरणं) अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीतीति ज्ञः (क्षेत्रज्ञः—जीवः)। अ० दी०, पृ० ५२-५३।

६. नहीयं श्रुतिरचेतनस्य भोक्तृत्वं वदति, तथा सत्युभयपरत्वेन वाक्यभेदप्रसङ्गात्। अपि तु चेतनस्याभोक्तृत्वमेव प्रतिपादयति चैतन्यसमानाधिकरणभोक्तृत्वप्रतीति-

जीव वस्तुतः भोक्ता नहीं है, उसमें प्रतीत होता हुआ भोग स्फटिक में प्रतीत होने वाली लालिमा के समान औपाधिक है। और वह उपाधि है अन्तःकरण, जो कि चैतन्य की छाया लेकर चेतन-जैसा बन जाता है।[1]

मधुसूदन सरस्वती ने सिद्धान्तविन्दु में, जीवात्मा के स्वरूप के विषय में चार्वाक् से लेकर वेदान्त तक सभी मतों का संग्रह करते हुए कहा है कि किन्हीं (वैशेषिक, नैयायिक व मीमांसक) के मत से त्वंपदार्थ (जीव) कृतिमान् (कर्त्ता) भोक्ता (कर्मफल व सुख-दुःख आदि का भोग करने वाला) जड़ और विभु है। भाट्ट मीमांसक उसे कर्त्ता, भोक्ता, जड़ तथा बोधरूप भी मानते हैं। सांख्य व योग में उसे केवल ज्ञानरूप तथा भोक्ता माना गया है, कर्त्ता नहीं। और अद्वैत-मत में अविद्या से कर्तृत्वादि अवस्थाओं को प्राप्त होने वाला, वस्तुतः निर्धर्मक परमानन्दबोध ही त्वंपदार्थ है।[2]

'मैं मनुष्य हूँ', 'कर्ता हूँ', 'भोक्ता हूँ' यह प्रतीति सभी के प्रति प्रसिद्ध होने पर भी मिथ्या ही प्रतीति है क्योंकि श्रुति व युक्ति से बाधित है। श्रुतियाँ आत्मा को अकर्त्ता-अभोक्ता बताती हैं। और युक्ति से भी आत्मा में वास्तविक कर्तृत्व मानने पर कभी मोक्ष न होने की संभावना हो जाती है। क्योंकि समस्त गुणों की निवृत्ति ही मोक्ष है, कर्तृत्व आदि स्वाभाविक गुण रूप से वर्तमान रहें तो मोक्ष नहीं हो सकता।[3] अतः अविद्या ही उसे कर्त्ता-भोक्ता जैसा दिखाती है, वह स्वरूपतः न कर्त्ता है न भोक्ता।

इस विषय पर सबसे अधिक विश्लेषण आचार्य शङ्कर ने ही किया है, अन्य प्रायः सब विद्वानों ने उसका खण्डशः अनुवाद मात्र किया है, सभी के निष्कर्ष रूप में यही कहना उचित प्रतीत होता है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि शुद्ध आत्मा के धर्म तो नहीं हैं, किन्तु जीव

स्तर्हि कथमित्याशङ्क्य चैतन्याभोक्तृत्वप्रमित्यर्थमेव चिच्छायाग्राह्यन्तःकरणगतमनुवदति। वही, पृ० ५४।

१. जीवो वस्तुतोऽभोक्तैव तस्मिन् प्रतीयमानो भोगः स्फटिकलौहित्यवदौपाधिकः। उपाधिश्च क इत्याकांक्षायां चित्प्रतिविम्बाश्रयतया लब्धचेतनभावो दुःखादिपरिणाम्यन्तःकरणमेवेति तयोरन्य इतिश्रुतिरनुवदति। अ० दी० वि० पृ० ५५।

२. कर्त्ता भोक्ता जडो विभुरिति वैशेषिकतार्किकप्रभाकराः। जडो बोधात्मक इति भाट्टाः। भोक्तैव केवलबोधात्मक इति सांख्याः पातञ्जलाश्च। अविद्यया कर्तृत्वादिभाक् परमार्थतो निर्धर्मकः परमानन्दबोध एवेत्यौपनिषदाः। सि० वि०, पृ० १२।

३. अहं मनुष्यः कर्ता भोक्तेत्यादिप्रतीतिस्तावत्सर्वजनप्रसिद्धा। सा च न स्मृतिः अपरोक्षावभासत्वाद् भेदाग्रहपूर्वकत्वाच्च नापि प्रमा श्रुतियुक्तिबाधितत्वात्। 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः (बृह० ४।३।७) य आत्मा सर्वान्तरः (वही ३।४।१) योऽशनायापिपासे शोकं मोहम्'''अत्येति (वही ३।५।१) असङ्गो ह्ययं पुरुषः (वही ४।३।१५) इत्याद्या अकर्त्रभोक्तृपरमानन्दब्रह्मरूपतामात्मनो दर्शयन्ति। युक्तयश्च—विकारिणः परिच्छिन्नत्वेनानात्मत्वापत्तेः·······कर्तृत्वादेर्वास्तवत्वे अनिर्मोक्षप्रसङ्गात्''इत्याद्याः। सि० वि० पृ० ३१–३५।

के धर्म अवश्य हैं। आचार्य मधूसूदन ने जो 'त्वंपदार्थ' में स्वाभाविक कर्तृत्व का निषेध किया है, वह उसके लक्ष्य शुद्ध चैतन्यांश को लेकर ही उपपन्न है। 'त्वं' का वाच्यार्थ अहमर्थ से भिन्न नहीं, अहमर्थ का स्वरूप स्वयं मधुसूदन ने अद्वैतसिद्धि में चिदचिद्ग्रन्थि सिद्ध किया है। जीव-पदार्थ भी वही है, केवल शुद्ध अंश का नाम जीव नहीं। क्योंकि अन्तःकरण के साथ अयुतसिद्ध होकर ही चैतन्य जीव होता है। जिस दशा में आत्मा मात्र होते हुए जीव अकर्ता-अभोक्ता होता है—असङ्ग होने के कारण, उस दशा में वह 'जीव'पदवाच्य है ही नहीं। जब तक आत्मा अविद्या में प्रतिबिम्बित या आभासित या अविद्याकार्य अन्तकरण के अवच्छेद से युक्त है, तभी तक वह जीव-पदवाच्य है, उसी अवस्था में अविद्या द्वारा ब्रह्म का संसरण होता है, संसरण दशा में ही ब्रह्म का जीवत्व (जीवभाव) है और संसरण के अर्थ में कर्तृत्व-भोक्तृत्व ही घटक रूप से निविष्ट हैं। अतएव जीव में स्वाभाविक ही कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्वीकार्य है, आत्मा या ब्रह्म में आविद्यक या औपाधिक।

—: ० :—

त्वं नित्यमुक्तपरिशुद्धविशुद्ध आत्मा कूटस्थ आदिपुरुषो भगवाँस्त्र्यधीशः।
यद्बुद्धचवस्थितिमखण्डितया स्वदृष्टचा द्रष्टा स्थितावधिमखो व्यतिरिक्त आस्से॥
यथैव सूर्यः पिहितः स्वछायया छायां च रूपाणि च सञ्चकास्ति।
एवं गुणेनापिहितो गुणांस्त्वमात्मप्रदीपो गुणिनश्च भूमन्॥
त्वमेक आद्यः पुरुषोऽद्वितीयस्तुर्यः स्वदृग्हेतुरहेतुरीशः।
प्रतीयसेऽथापि यथाविकारं स्वमायया सर्वगुणप्रसिद्धचै॥
देहाद्युपाधेरनिरूपितत्वाद् भवो न साक्षान्न भिदात्मनः स्यात्।
अतो न बन्धस्तव नैव मोक्षः स्यातां निकामस्त्वयि नोऽविवेकः॥
कर्तास्य सर्गादिषु यो न बध्यते न हन्यते देहगतोऽपि दैहिकैः।
द्रष्टुर्न दृग्यस्य गुणैर्विदूष्यते तस्मै नमोऽसक्तविविक्तसाक्षिणे॥
अजाय जनयित्रेऽस्य ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।
परावरात्मन् भूतात्मन् परमात्मन् नमोऽस्तु ते॥

षष्ठ परिच्छेद

जगत्

१. जगत्-स्वरूप-सम्बन्धी विचारधारा का क्रम-विकास

(क) उपनिषदों में जगत् का स्वरूप

उपनिषदों में जगत् ब्रह्म द्वारा अपने प्रसार रूप में वर्णित है। जैसे मिट्टी के पिण्ड से विभिन्न मिट्टी के पात्र बनते हैं, मिट्टी रूप से ही स्थित रहते हैं, फिर (नष्ट होने पर) मिट्टी में ही मिल जाते हैं, किसी भी नाम व आकृति में रहते समय उनका तत्त्व मिट्टी ही होता है, और मिट्टी क्या है जान लेने पर उन विविध नाम-रूपों में स्थित तत्त्व को भी जान लिया जाता है, ऐसे ही यह समस्त जगत् ब्रह्म से ही उत्सृष्ट है, ब्रह्म में ही स्थित है, व ब्रह्म में ही लीन हो जाता है।[1] मकड़ी की भांति ब्रह्म अपने में से ही, जाल की भाँति, प्रपञ्च को उत्पन्न करता है, फिर अपने में ही समेट लेता है। स्वयं ही इस विश्व के आगे, पीछे, ऊपर, नीचे, भीतर, बाहर सब ओर स्थित है।[2] दूसरी ओर उपनिषदों में ऐसे वाक्यों की प्रधानता है जिनमें ब्रह्म या आत्मतत्त्व ही एकमात्र वस्तु है, उससे इतर कुछ है ही नहीं, अथवा असत्य है।[3] इन दोनों पक्षों का समन्वय करते हुए कहा जा सकता है कि केवल ब्रह्म ही सत्य है, यह तथ्य होने पर भी जगत् की अनुभूयमान प्रतीति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता था— इसीलिये कहा गया कि ब्रह्म की सत्ता से अतिरिक्त जगत् की सत्ता नहीं है। जगत् जो भी है वह ब्रह्म में से ही उत्पन्न हुआ है, उसी में स्थित है, उसी में लीन हो जाता है। उससे बाहर कुछ नहीं।

जैसे कि मिट्टी में से नाना पात्र उत्पन्न होते हैं, मिट्टी ही उनका सार है जब तक वे स्थित हैं, और मिट्टी में ही उनका लय भी होता है। तत्त्व मिट्टी ही है, विविध पात्र उसके

---

१. यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। छा० ६।१।४।

२. यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि
तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥ बृह० उ० १।१।७॥

३. अतोऽन्यदार्त्तम्। बृह० उ० ३।४।२।
नेह नानास्ति किञ्चन। वही ४।४।१९।

नाम व रूप मात्र हैं।[1] इससे कहीं यह अर्थ न निकाला जाय कि जगत् भी वैसा ही सत्य है जैसा ब्रह्म, क्योंकि मिट्टी व पात्रों की सत्यता एक जैसी होती है, इसके लिये कहा गया कि ब्रह्म से अतिरिक्त सब असत्य है। ब्रह्म अनाम-अरूप है। अतः नाम व रूप असत्य हैं। जगत् नाम-रूपात्मक ही है अतः असत्य है। इस पर शङ्का उठ सकती है कि सत् कारण से असत् कार्य कैसे उत्पन्न हो सकता है, जब कि सर्वत्र कार्य व कारण समान ही सत्ता वाले देखे जाते हैं। इस पर उत्तर दिया जा सकता है कि मिट्टी से उत्पन्न घट आदि भी मिट्टी के समान स्थायी नहीं, ये तो नाम व आकृतियाँ मात्र हैं, जो मिट्टी में ही उदित, स्थित व लय हुआ करती हैं, वही स्थिति ब्रह्म में जगत् की है, केवल इतने से अंश में यह दृष्टान्त है। ब्रह्म अविक्रिय है, अतः जगत् उसका विकार नहीं, जैसे मिट्टी का विकार घट आदि होते हैं। जगत् की प्रतीति व प्रकृति अपने आश्रय ब्रह्म से विपरीत है, वैसे ही जैसे चेतन शरीर से उत्पन्न नख लोम आदि की प्रकृति विपरीत (अचेतन, जड़) हुआ करती है। इसलिये आनन्द, अद्वय, निर्गुण, अविक्रिय तत्त्व से असत्, जड़, दुःखमय, नाना, त्रिगुणात्मक, सदा विकारशील, जगत् के उत्पन्न होने व उसी में स्थित आदि होने में कोई असङ्गति नहीं।

परम-सत्य तत्त्व जिसका कारण है, वह जगत् 'आर्त' (असत्य) है। यह कथन विरुद्ध जान पड़ता है। चेतन शरीर से जो नख लोम आदि उत्पन्न होते हैं, वे भले ही अचेतन हैं किन्तु असत्य तो नहीं, वे शरीर के समान ही उत्पत्ति-विनाश-युक्त हैं, और दृश्य, स्पृश्य आदि हैं। अतः ब्रह्म से इतर सब कुछ (जो कि सभी के अनुभव का विषय है) का असत्य होना स्पष्ट नहीं होता। इसीलिये प्रकृत दर्शनक्षेत्र में आकर अद्वैतचिन्तन में जगत् के स्वरूप की व्याख्या भ्रम में दिखने वाली वस्तु, स्वप्न में दिखने वाले नाना पदार्थ अथवा जादूगर द्वारा दिखाए गए इन्द्रजाल के दृष्टान्तों से की गई। तदनुसार जगत् का स्वरूप मिथ्या, अनिर्वचनीय माना गया। इसका सर्वसाधारण अनुभव से अत्यन्त विरोध देखकर तथा उपनिषदों के सृष्टि-विषयक प्रतिपादन की मर्यादा रखने के लिये कुछ आचार्यों ने सत्ता के तीन रूप माने हैं—प्रथम पारमार्थिक या वास्तविक (ब्रह्म की स्वरूपभूत सत्यता), द्वितीय व्यावहारिक (जागते समय अनुभव में आने वाले सभी पदार्थ, जो यथार्थ ज्ञान के विषय हों) तृतीय प्रातिभासिक (स्वप्न में अनुभव में आने वाले पदार्थ तथा भ्रम के विषय)। जगत् के स्वरूप व सत्ता के विषय में जो पहली धारणा (जगत् को इन्द्रजाल सदृश कहने वाली) है, उसमें सत्ता के दो ही रूप (प्रथम व तृतीय) माने गये हैं। द्वितीय को भी तृतीय में ही समाविष्ट कर लिया गया है। अथवा उनमें अन्तर करना अनावश्यक माना गया है।

(ख) अद्वैत वेदान्त पर बौद्ध प्रभाव का आकलन

जगत्-स्वरूप के सम्बन्ध में उक्त विचारों पर बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन व चन्द्रकीर्त्ति का प्रभाव स्पष्ट जान पड़ता है। नागार्जुन ने माध्यमिक सूत्रों में कहा है कि बुद्ध अपने धर्म

---

१. सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः। छा० उ० ६।८।४।
यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं
स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। वही ६।१।४॥

का उपदेश दो सत्यों का आधार लेते हुए करते हैं। एक सत्य वह जो व्यावहारिक पूर्वकल्पना-भावनाओं, धारणाओं पर आधारित और मोह से उद्भूत है, उसे संवृतिसत्य कहा गया है। और द्वितीय सत्य वह जो विशेषधर्म रहित, अविशिष्ट, अन्तिम, चरम है, उसे पारमार्थिक सत्य कहा गया है।[१]

चन्द्रकीर्त्ति ने माध्यमिकसूत्रभाष्य में कहा कि संवृति है 'सब ओर से ढकने वाला' और अज्ञान ही संवृति है क्योंकि सभी पदार्थों के तत्त्व (वास्तविक स्वरूप) को ढकता है। इसके अतिरिक्त 'प्रतीत्यसमुत्पाद' को भी चन्द्रकीर्त्ति ने संवृति का अर्थ कहा है।[२] इस अभिप्राय से समस्त अनुभवगम्य जगत् जिसे हम देखते व कहते सुनते हैं, एक ऐसी अज्ञानाच्छादित प्रतीति है। जागतिक अनुभव में इसका बाध नहीं होता, किन्तु क्योंकि प्रत्येक सत् दिखाई पड़ने वाली वस्तु अन्य सत्त्व से उत्पन्न होती है, वह भी पुनः अन्य सत्त्व से उत्पादित है, और क्योंकि हम एक वस्तु का विशेष धर्म या गुण उसे दूसरी वस्तु से संबद्ध किये बिना नहीं कह सकते, जिससे वह उत्पन्न है, और वे भी पुनः अन्य से उत्पन्न हैं, अतः उनका भी विशेषधर्म निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार किसी भी वस्तु का यथार्थ स्वभाव या विशेष धर्म निश्चित नहीं किया जा सकता, अतः कहा नहीं जा सकता।[3]

संवृति भी द्विविध कही गई हैं—तथ्यसंवृति (व्यावहारिक सत्ता के समकक्ष) तथा मिथ्यासंवृति (प्रातिभासिक सत्ता के समकक्ष)। तथ्यसंवृति का दूसरा नाम लोकसंवृति भी है,[४] मिथ्यासंवृति का अलोकसंवृति।

नागार्जुन के मतानुसार तत्त्वतः सब शून्य है, पर समस्त जागतिक व्यवहार स्वप्न-व्यवहार के समान अथवा मृगतृष्णा के समान चलता है। यह जगत् न आकाश-कुसुम के समान अविद्यमान है, न परमार्थतः सत्य है, पर लोकसंवृति सत्य है। शुक्तिरजत आदि भ्रमगत पदार्थ अलोकसंवृति सत्य हैं।[५]

---

१. द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥ भा० सू० २४।८॥

२. अज्ञानं हि समन्तात् सर्वपदार्थतत्त्वाच्छादनात् संवृतिरित्युच्यते।
भा० सू० भा० २४।८, पृ० ४९२।

३. द्र० दासगुप्त—भारतीय दर्शन का इतिहास खण्ड २, पृ० ४।

४. सा च संवृतिर्द्विविधा लोकत एव। तथ्यसंवृतिर्मिथ्यासंवृतिश्चेति। तथा हि किंचित्प्रतीत्यजातं नीलादिकं वस्तुरूपमदोषवदिन्द्रियैरुपलब्धं लोकत एव सत्यम्। मायामरीचिप्रतिबिम्बादिषु प्रतीत्यसमुपजातमपि दोषवदिन्द्रियोपलब्धं यथास्वतीर्थिकसिद्धान्ते कल्पितं च लोकत एव मिथ्या। तदुक्तम्।
विनोपघातेन यदिन्द्रियाणां षण्णामपि ग्राह्यमवैति लोकः।
सत्यं हि तल्लोकत एव शेषं विकल्पितं लोकत एव मिथ्या॥ बो०पं०, पृ० ३५५।

५. मा० सू० २३।८।

चन्द्रकीर्त्ति ने भी माध्यमिकसूत्रभाष्य में जगद्-व्यवहार को स्वप्न-व्यवहार के समान कहा है और जगत्-प्रतीति को विपर्यास।[1] बौद्ध मत में इस विपर्यास के अधिष्ठान रूप से भी कोई सत् तत्त्व नहीं स्वीकृत है। यहीं अद्वैत वेदान्त का बौद्ध दर्शन से मौलिक भेद है। गौड़पाद व शङ्कर दोनों का कथन है कि निरास्पद भ्रम संभव नहीं।[2]

नागार्जुन ने सभी वस्तुओं की परस्पर निर्भरता का जाल दिखलाकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि क्योंकि किसी भी वस्तु का कोई स्वभाव या धर्म सुनिश्चित नहीं किया जा सकता, अतः किसी भी ऐसी वस्तु का अस्तित्व नहीं माना जा सकता जो सबके मूल में सुनिश्चित रूप से स्थित हो। सब वस्तुओं की परस्पर निर्भरता व सम्पृक्तता को ही नागार्जुन ने शून्यता कहा है। क्योंकि ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो दूसरी के सन्दर्भ के बिना बताई जा सके, निरपेक्ष स्वभाव वाली हो। इसीलिये जो कुछ भी प्रतीति-गोचर है, सब आभास है, असत्य है, इनका आधारभूत कोई सत्य नहीं है।[3]

अद्वैत वेदान्त में निरधिष्ठान भ्रम भी नहीं हो सकता और परम सत्य ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है अतः वही प्रतीतिमात्र-स्वरूप वाले, अधिष्ठानसापेक्ष स्वभाव व सत्ता वाले जगद्भ्रम का अधिष्ठान है यही दृढ़ किया गया है। जगत् को मिथ्या, प्रतीतिमात्र क्यों माना जाय इस पर पृथक् युक्तिप्रसार नहीं किया गया। अधिक बल यही कहने व सिद्ध करने में लगा हुआ है कि समस्त जागतिक प्रतीतियाँ व इनके विषय भ्रम में प्रतीत वस्तु तथा स्वप्न के समान मिथ्या हैं। भ्रम का विशद विश्लेषण अध्यास एवं अप्रमा प्रकरणों के अन्तर्गत हुआ है। भ्रम-विश्लेषण में ही जगत्-प्रतीति का विवेचन साधित माना गया है। भ्रम में प्रतीयमान वस्तु के समकक्ष ही जगत् की भी सत्ता परमार्थ-सत्ता से न्यून स्तर की मानी गई है। इसके पीछे उद्दिष्ट भावना यही जान पड़ती है कि तत्त्वज्ञान से नानात्व या जगत् का विलुप्त (अत्यन्ताभाव) हो जाना असम्भव या अनुपपन्न है, यदि जगत् तत्त्व के समान सत्य हो।

ज्ञान द्वारा अज्ञान का ही विलोप सम्भव है, अतः जगत् अज्ञानस्वरूप ही है। 'सत्य' का लक्षण एक अद्वितीय तत्त्व में ही चरितार्थ होता है। अतः नानाप्रतीतिमय जगत् 'सत्य' नहीं।

(ग) जगत् के मिथ्या होने का अभिप्राय

पूर्वोक्त कारण से जगत् का सत्य न होना तो सिद्ध है। उसके अतिरिक्त जगत् शब्द से भी 'जो निरन्तर उत्पत्ति आदि विकारों को प्राप्त होता है' यही अर्थ निकलता है।[4] कोई जागतिक पदार्थ एक मुहूर्त्त के लिये भी एक ही रूप से स्थित नहीं रहता, प्रतिक्षण परिवर्तन-

---

१. मा० सू० भा० २३।१३।

२. प्रभवः सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः। मां० का० १।६॥
न हि निरास्पदा रज्जुसर्पमृगतृष्णिकादयः क्वचिदुपलभ्यन्ते केनचित्।
मां० का० भा०, पृ० ४६।

३. द्र० दासगुप्त भा० द० इ० खण्ड २, पृ ७।

४. गम्लृ + क्विप्=जगत्। गच्छति उत्पत्तिस्थितिलयान् प्राप्नोतीति जगत्।

शील है। परिवर्तन का अर्थ है वर्जन या त्यागपूर्वक अवस्थान अर्थात् पहले भाव का त्याग करते हुए दूसरे भाव में संक्रमण। यही जगत् का स्वभाव है। महर्षि पतञ्जलि ने भी महाभाष्य में कहा है कि यहाँ (जगत् में) कुछ भी क्षण भर के लिये भी अपने आप में स्थित नहीं रहता।[1] प्रथम अध्याय में आचार्य शङ्कर द्वारा उपनिषद्भाष्य में कहा हुआ सत्य होने का तात्पर्य देखा गया—'जो जिस रूप से बुद्धि का विषय बना है या निश्चित है, उस रूप को कभी न त्यागे वही सत्य है।[2] उसके विपरीत ही जगत् दिखाई देता है, अतः जगत् सत्य नहीं, यह सुनिश्चित है।

जो सत् या सत्य नहीं वह असत् या असत्य है यह निर्णय तत्काल उपस्थित होता है। किन्तु जगत् के स्वरूप के विषय में वह नहीं लिया जा सकता। क्योंकि जो है ही नहीं वह उपलब्ध नहीं होता अर्थात् ज्ञात नहीं होता, जगत् प्रतिक्षण अनुभवगोचर है, अतः इसे सर्वथा असत्य नहीं कहा जा सकता। और आचार्य शङ्कर द्वारा कहा गया उक्त सत्यत्व एक प्रकार से जगत् में दिखता भी है क्योंकि जगत् का सदा ही जगत्=गतिशील, परिवर्तनात्मक होना निश्चित है, इस रूप का त्याग कभी नहीं होता।

इसके अतिरिक्त जगत् के मूल रूप से ही अनन्त सत्ता या सत्स्वभाव ब्रह्म को पाया गया। आदि व अन्त में जो जैसा है, मध्य में भी वह वैसा ही है, ऐसा नियम है। उपनिषदों में जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म से कही, स्थिति व लय भी ब्रह्म में कही, अतः आदि व अन्त में जगत् का सत् होना ही प्राप्त होता है। किन्तु उपनिषदों के सृष्टि-प्रतिपादक वाक्यों का नानात्व-निषेधक वाक्यों से किसी भी प्रकार समन्वय नहीं होता यदि उन (सृष्टि-प्रतिपादक-वाक्यों) का अपने शब्दों द्वारा कहे गये अर्थ में ही तात्पर्य हो। ब्रह्म से इतर का आर्त होना तथा ब्रह्म का निर्गुण, निर्धमक, निष्क्रिय होना अनुपपन्न होता है यदि वह सचमुच जगत् का उत्पादक, पालक, संहर्त्ता आदि हो तथा जगत् भी वास्तव में उसका कार्य हो। इसी के लिये अद्वैत-निष्ठ आचार्यों ने माया नाम की एक अद्भुत विचित्र शक्ति की कल्पना की जो न ब्रह्म से भिन्न है न अभिन्न, न सत् न असत्, न उभयात्मक, इसीलिये अनिर्वचनीय है। इस शक्ति के क्रिया-कलाप रूप से ही ब्रह्म के जगत्स्रष्टा आदि होने की तथा जगत् के ब्रह्म से उत्पन्न, उसी में स्थित व लीन होने की व्याख्या की गई। और वास्तव में यह जगत् है क्या ? यह प्रश्न उठने पर, जो वस्तु न 'है' कही जा सके न 'नहीं है' कही जा सके, जो प्रतीत भी हो और फिर बाधित भी हो वह भ्रमस्थल पर सीपी में दिखते हुए रजत के समान ही हो सकती है, इसलिये जो न सत् है, न असत् अपने मूल या अधिष्ठान से न भिन्न है न अभिन्न—वह वस्तु इसी के समान स्वभाव वाली माया का ही कार्य हो सकती है, अतएव अनिर्वचनीयता ही उसका भी स्वभाव है। इसी को मिथ्या भी कहा गया है। मिथ्या होने का अर्थ असत् होना नहीं। भ्रमस्थल में प्रतीत होने वाला रजत क्या है ? इस पर चर्चा करते हुए विभिन्न दार्शनिकों ने जो सत्ख्यातिवाद प्रस्तुत किया उसका उद्देश्य वास्तव में जगत् के स्वरूप का विश्लेषण ही है यह देखा जायेगा (ज्ञान-

---

१. प्रवृत्तिः खल्वपि नित्या। नहीह कश्चिदपि स्वस्मिन्नात्मनि मुहूर्त्तमप्यवतिष्ठते।
पा० महा० ४।१।१।

२. यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत् सत्यम्। तै०भा०२।११, पृ०१०३।

मीमांसा में)। प्रथम छः वादों का खण्डन होते हुए अन्त में अद्वैत वेदान्त का अनिर्वचनीय ख्यातिवाद ही विजयी बनता है। जिसका सार है कि भ्रमस्थल पर दिखाई देने वाला रजत कुछ नया ही पदार्थ है जो अवश्य ही उस सीपी पर ही उत्पन्न हुआ है, स्थित है और वहीं पर लीन भी हो जाता है किन्तु जो सीपी जैसा सत् नहीं है और आकाश-कुसुम जैसा असत् भी नहीं है, सत् व असत् दोनों एक साथ होना संभव नहीं, तथा जो देखने वाले के शुक्ति-विषयक अज्ञान का कार्य है, और उक्त प्रकार से सत्, असत्, सदसत्, इत्यादि प्रकारों से विलक्षण ही है, उसे अनिर्वचनीय या मिथ्या संज्ञा दी गई। उस शुक्तिरजत के समान ही जगत् का होना (सत्ता) निर्गुण निधर्मक अद्वितीय परमतत्त्व के अनुकूल है, अतः विभिन्न अद्वैती आचार्यों ने विविध प्रकार से कहा कि जगत् मिथ्या है, अज्ञान द्वारा कल्पित है, शुक्ति में रजत के समान जगत् ब्रह्म में अध्यस्त है, प्रपञ्च का स्वरूप व सत्ता अनिर्वचनीय हैं, जगत् ब्रह्म का विवर्त है। आचार्य शङ्कर से प्रकाशात्मा पर्यन्त प्रायः सामान्य रूप से ही जगत् का मिथ्या, आध्यासिक, प्रातिभासिक, अनिर्वाच्य, विवर्तात्मक आदि होना कहा गया। पद्मपादाचार्य ने पञ्चपादिका में मिथ्या शब्द का अर्थ अनिर्वचनीय है, ऐसा कहा।[1]

विद्यारण्य ने पञ्चदशी में ब्रह्म, माया और जगत् की धारणाओं का परस्पर समन्वय श्रुतिवचनों के अत्यधिक अनुकूल व सरल युक्ति से पुष्ट रूप से कहते हुए जगत् के अनिर्वचनीय होने का अभिप्राय स्पष्ट किया है। कहा है कार्य की उत्पत्ति से पहले मिट्टी में स्थित छिपी हुई शक्ति कुम्हार आदि की सहायता से विकार स्वरूप वाली हो जाती है, वह शक्ति कार्य तथा आश्रय दोनों से विलक्षण है। पृथुबुध्न-उदर वाले आकार का घड़ा कार्य है, उसका आधार है शब्द आदि पाँच गुणों से युक्त पृथिवी (मिट्टी), पर शक्ति जो घट रूप से प्रकट हुई, वह उन दोनों के समान नहीं है। कुम्हार के व्यापार से पहले का अंश (मिट्टी का गोला या केवल मिट्टी) घट नहीं है, कुम्हार के पश्चात् प्रकट होने वाले गोल-पन व मोटाई में ही घड़ापन है। यह घड़ा मिट्टी से पृथक् नहीं क्योंकि मिट्टी से पृथक् रूप से नहीं दिखाई देता, और मिट्टी से अभिन्न भी नहीं है, क्योंकि कुम्हार की चेष्टा से पहले यह मिट्टी नहीं दीखता, अतः उपर्युक्त रीति का कार्य भी शक्ति के ही समान अनिर्वचीय है। यही अव्यक्तावस्था में शक्ति है, व्यक्त अवस्था में विभिन्न आकृतियों, रंगों व घट-सकोरा आदि नामों वाला पदार्थ-समूह है।[2] ऐन्द्रजालिक में स्थित माया भी पहले नहीं प्रकट होती, उसकी इच्छा होने पर

---

१. मिथ्याशब्दोऽनिर्वचीयतावचनः। पं० पा०, पृ० २३।

२. पृथुबुध्नोदराकारो घटः कार्योऽत्र मृत्तिका।
शब्दादिभिः पञ्चगुणैर्युक्ता शक्तिस्त्वतद्विधा ॥
कुलालव्यापृतेः पूर्वो यावानंशः स नो घटः।
पश्चात्तु पृथुबुध्नादिमत्त्वे युक्ता हि कुम्भता ॥
स घटो न मृदो भिन्नो वियोगे सत्यनीक्षणात्।
नाप्यभिन्नः पुरा पिण्डदशायामनवेक्षणात् ॥
अतोऽनिर्वचनीयोऽयं शक्तिवत्तेन शक्तिजः।
अव्यक्तत्वे शक्तिरुक्ता व्यक्तत्वे घटनामभृत् ॥ पं० द० १३।३०-३६।

विविध आकृतियाँ व नाम लेकर प्रकट होती हैं। इसी प्रकार मायामयत्व से विकार का झूठापन और विकार के आधार मिट्टी रूप से वस्तु का सच्चापन श्रुति ने कहा है। वाणी से उत्पन्न नाममात्र विकार है। वह घड़ा-सकोरा आदि विकार सत्य नहीं हैं, किन्तु स्पर्श, गन्ध आदि गुणों से युक्त मिट्टी ही सत्य है। ऐसे ही संसार-रूप विकार असत्य है। इस विकार की अप्रकट अवस्था माया भी असत्य है, केवल उसका आधार ब्रह्म सत्य है। इस प्रकार व्यक्त, अव्यक्त तथा उनका आधार आपाततः त्रिविध वस्तुएँ हैं, जिसमें पहली दो में समय के भेद से पर्याय (परस्पर रूप-परिवर्तन) हुआ करता है, और तीसरा सदैव एक सा रहता है, वही सत्य है, परिवर्तनशील प्रथम दोनों मिथ्या हैं। सारहीन व भासमान व्यक्त पदार्थ उत्पत्ति-विनाशवान् हैं।[1] सत्य, ज्ञान, आनन्द स्वभाव वाला ब्रह्म है, नाम व रूप स्वभाव वाला संसार है, यह माया का विलास है। जो माया अपने आश्रयत्व की अपेक्षा से ब्रह्म को ऐन्द्रजालिक-सा रूप व ईश्वर आदि नाम देती है, विषयत्व की अपेक्षा से उसी पर अपना विविध क्रिया-कलाप रूपी प्रपञ्च फैलाती है।

विद्यारण्य द्वारा की गई उक्त जगत् के स्वरूप व ब्रह्म से उसके सम्बन्ध की आलोचना में अनिर्वचनीयता व मिथ्यात्व की जो धारणा स्फुटित हुई है, उसमें उपनिषदों के जगत्-सम्बन्धी प्रतिपादन को प्रायः यथायथ रखते हुए अद्वैत-सम्प्रदाय के अभिमत रूप में ढाला गया है।

विद्यारण्य द्वारा दी गई घट-पट आदि पदार्थों की अनिर्वचनीयता की युक्ति का ही अत्यन्त परिष्कृत रूप परवर्ती आचार्यों (विशेष रूप से चित्सुख व मधुसूदन) के मिथ्यात्व-विश्लेषण में दिखाई देता है। अथवा (यदि 'पञ्चदशी' को 'चित्सुखी तत्त्वप्रदीपिका' का परवर्ती माना जाय तो) चित्सुखाचार्य की तर्क-प्रधान शैली से कही गई युक्ति को पञ्चदशीकार ने सर्वथा नवीन व सुगम शैली में प्रस्तुत किया है। इस युक्ति की एक वहुत महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें शुक्ति-रजत के दृष्टान्त को छोड़कर व्यावहारिक रूप से ही अनुभूत पदार्थों का भी मिथ्या होना सिद्ध किया जाता है।

चित्सुखाचार्य एवं मधुसूदन सरस्वती ने द्वैत या जगत् के मिथ्यात्व की धारणा को द्वैत-सत्यता मानने वाले दार्शनिकों के विरुद्ध स्थापित करने के लिये सुदृढ़ युक्तियों द्वारा मिथ्यात्व का तात्पर्य समझाया है, मिथ्यात्व का सुनिश्चित लक्षण बनाया है जो किसी भी युक्ति से खण्डित न हो सके।

---

१. ऐन्द्रजालिकनिष्ठाऽपि माया न व्यज्यते पुरा।
पश्चाद् गन्धर्वसेनादिरूपेण व्यक्तिमाप्नुयात् ॥
एवं मायामयत्वेन विकारस्यानृतात्मताम्।
विकाराधारमृद्वस्तुसत्यत्वं चाब्रवीच्छ्रुतिः ॥
....
व्यक्ताव्यक्ततदाधार इति त्रिष्वाद्ययोर्द्वयोः।
पर्यायः कालभेदेन तृतीयस्त्वनुगच्छति ॥ वही, १३।३७-४० ॥

चित्सुखाचार्य ने तत्त्वप्रदीपिका में कहा है कि सभी पदार्थों के आश्रय रूप से अभिमत वस्तुओं में स्थित अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व होना ही उन पदार्थों का मिथ्या होना है।[1] अर्थात् घट-पट आदि सभी पदार्थों के आश्रयों मिट्टी, तन्तु आदि में उन घट-पट आदि का अत्यन्ताभाव है। मिट्टी में घड़ा नहीं है, क्योंकि घड़े के गुण, क्रिया, आदि नहीं है। घड़े से अपेक्षित उपयोग में मिट्टी नहीं आ सकती, अतः मिट्टी में स्थित अत्यन्ताभाव ("मिट्टी में घड़ा नहीं है") का प्रतियोगी ही है घड़ा, ऐसा होना ही उसका मिथ्यात्व है, क्योंकि धागों या मिट्टी से अन्यत्र तो कहीं भी वस्त्र या घड़े का रहना हो नहीं सकता। अब उक्त युक्ति से सिद्ध होता है कि तन्तु आदि में भी वे घट आदि नहीं हैं, तब तो पट आदि का होना सम्भव हीं नहीं, अर्थात् जब पट न तन्तुओं में हैं, न अन्यत्र है तो बलात् सिद्ध होता है कि पट आदि हैं ही नहीं। इसी का पारिभाषिक कथन है कि घट-पट आदि समस्त जगत् मिथ्या है।[2]

जगत् के मिथ्यात्व के प्राचीन दृष्टान्त शुक्तिरजत को भी चित्सुखाचार्य ने नये ढंग से लिया है कि ब्रह्म से इतर निखिल प्रपञ्च कार्य है, अतः व्यवहारदशा में अपने कारण के उसी प्रकार आश्रित है जैसे शुक्ति में रजत, और ब्रह्म सत्य वस्तु है किसी का कार्य नहीं, वही सबके आधार रूप से जाना जाता है, उसका कोई आधार नहीं, अतः उसमें मिथ्यात्व कभी नहीं प्रसक्त हो सकता।[3]

मिथ्यात्व को अनुमान प्रमाण से सिद्ध करते हुए कहा है—अवयवी अपने अवयवों में स्थित अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है, अवयवी होने से, अन्य अवयवी के समान इसी से वह मिथ्या है, इसी प्रकार सभी अवयवी मिथ्या हैं, केवल निरवयव वस्तु ब्रह्म ही सत्य है।[4]

मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में पञ्चपादिका से लेकर तत्त्वप्रदीपिका पर्यन्त के सभी मिथ्यात्व-लक्षणों का संग्रह करके माध्व आदि द्वैतियों की ओर से सम्भावित प्रत्येक प्रति-युक्ति या आपत्ति की आशङ्का करते हुए उसका सुदृढ़ युक्ति-पूर्वक खण्डन करते हुए पांच प्रकार से मिथ्यात्व का लक्षण कहा है।

---

१. सर्वेषामपि भावानामाश्रयत्वेन सम्मते।
प्रतियोगित्वमत्यन्ताभावं प्रति मृषात्मता॥ त० प्र० १।७॥

२. पटादीनां भावानां स्वाश्रयत्वेनाभिमतास्तन्त्वादयो ये तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितैव तेषां मिथ्यात्वम्। न हि तेषामन्यत्र सत्ता सम्भविनी। तत्रापि चेत् सा न स्यात् तदा गले पादुकान्यायेन मृषात्वमेव पर्यवस्येत। वही, पृ० ६७।

३. न च निराश्रयेषु नित्येषु भावेषु सा नास्तीति लक्षणस्याव्याप्तिः, ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य कार्यतया कारणाश्रितत्वस्य व्यवहारदशायां रजतादेरिव शुक्त्याद्याश्रित-तायाः स्वीकारात्। नाप्यतिव्याप्तिः, सत्यस्य ब्रह्मणो निराश्रयत्वात् तस्य तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितायाः शङ्कितुमप्यशक्यत्वात। वही, पृ० ६७-६८।

४. अंशिनः स्वांशगात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिनः।
अंशित्वादितरांशीव दिगेवैष गुणादिषु॥ वही १।८॥

(१) सदसदनधिकरणत्व रूप अनिर्वाच्यत्व का ही मिथ्यात्व है ।[१]
(२) प्रतिपन्न उपाधि में त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी होना मिथ्यात्व है ।[२]
(३) ज्ञान द्वारा निवर्त्य होना मिथ्यात्व है ।[३]
(४) अपने आश्रय में स्थित अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होना मिथ्यात्व है ।[४]
(५) सद्विविक्तत्व ही मिथ्यात्व है ।[५]

(घ) जगत्-सम्बन्धी प्रतिपादन में दृष्टिभेद

सदा असङ्ग, नित्य-शुद्ध-बुद्ध आत्मतत्त्व के अविद्यासान्निध्य या उपधान के विषय में प्रवृत्तविचार जिस प्रकार कुछ लौकिक दृष्टान्तों के आधार से प्रसृत हो कर अनेक 'वाद'—रूप धारण कर चुका है (जिनकी विस्तृत चर्चा चतुर्थ परिच्छेद में की गई है) उसी प्रकार प्रतीयमान जगत् के उत्पत्ति-स्थिति-नाश एवं स्वरूप के विषय में भी विचारक-मति-वैचित्र्य अथवा साधक-अधिकार के अनुसार अनेक दृष्टियों से विचार हुआ है, एवं अनेक दृष्टिकोणों से कुछ दृष्टान्तों के साहाय्य से प्रमुख रूप से तीन वाद बने हैं । वे दृष्टान्त हैं—

१. शशश्रृङ्ग आदि अलीक पदार्थ २. अलातचक्र या गन्धर्वनगर अथवा इन्द्रजाल ३. शिला, सुवर्ण आदि में आकृति ४. मनःकल्पना ५. स्वप्न ६. प्रतिविम्व ७. मृगतृष्णा, भ्रान्ति ८. सीपी में रजत आदि । इन दृष्टान्तों को लेते हुए जगद्-निरूपक वाद हैं —

१. **अजातवाद**—जगत् न था, न है, न होगा । जगत् की सत्ता या स्वरूप अलीक है ।

२. **दृष्टिसृष्टिवाद**—दृष्टि के क्षण एवं स्तर में ही सृष्टि है उससे इतर नहीं । जगत् सत्ता प्रातिभासिक है ।

३. **सृष्टिदृष्टिवाद**—ईश्वर-रचित जो क्रमविशेष से उत्पन्न एवं विनष्ट होता है । जगत् सत्ता व्यावहारिक है ।

उक्त दृष्टान्तों में से प्रथम तीन अजातवाद को विशेष इष्ट हैं और द्वितीय तीन दृष्टि-सृष्टिवाद के अभीष्ट हैं, अन्तिम दृष्टान्त का उपयोग तीनों वादों में हुआ है, किन्तु उसकी पृष्ठ-भूमि में दृष्टिकोण भिन्न हैं अथवा इस दृष्टान्त का उपयोग तीनों वादों में भिन्न भूमिकाओं व अंशों में है । तथाहि—

१. बालू (सिकता) में जल अथवा सीपी में रजत न था, न है, न होगा—इतने ही अंश से भ्रम अजातवाद का दृष्टान्त बना । किन्तु भ्रम के कारणभूत नेत्रदोष, दूरी, सादृश्य आदि का सर्वथा अपलाप सरलयुक्ति-सङ्गत नहीं और अविद्यमान का अधिक विश्लेषण-विचार

---

१. सदसदनधिकरणत्वरूपमनिर्वाच्यत्वम् । अ० सि०, पृ० ४८ ।
२. प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं वा मिथ्यात्वम् । वही, पृ० ९४ ।
३. ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा मिथ्यात्वम् । वही, पृ० १६० ।
४. स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं वा मिथ्यात्वम् । तच्च स्वात्यन्ताभावाधिकरण एव प्रतीयमानत्वम् । अतः पूर्ववैलक्षण्यम् । वही, पृ० १८२ ।
५. सद्विविक्तत्वं वा मिथ्यात्वम् । सत्त्वं च प्रमाणसिद्धत्वम् । वही, पृ० १९५ ।

उसकी विद्यमानता के प्रति आस्था का सूचक है, इसीलिये अजातवादी शिला में मूर्त्तित्व या स्वर्ण में आभूषणाकृति को दृष्टान्त बनाते हैं। वह भी भ्रम का ही एक रूप है, किन्तु उक्त आपत्ति से युक्त है। शिला या स्वर्ण आदि में स्वयं में आकृति और तदनुरूप नाम न कभी उत्पन्न हुए हैं, न होंगे, किन्तु प्रतीत हैं, यह सर्वथा युक्तिसङ्गत तथ्य है। किन्तु स्वर्णत्व में आकृतित्व का या आकृति-सत्त्व का प्रवेश न होने पर भी सर्वथा आकृति-रहित स्वर्ण की धारणा दुष्कर है। किसी न किसी आकृति का स्वर्ण के साथ बना ही रहना जगत् में ब्रह्मतुल्य स्थिरता या समवाय का आक्षेपक है, इस अरुचि से अस्थिरता-प्रवण दृष्टान्त—अलातचक्र एवं असत्ता-अलीकता-प्रवण दृष्टान्त—शशशृङ्गादि लिये गये। 'अलीक'-पथ से जगत् को सर्वथा अविद्यमान,—अनुत्पन्न तक पहुँचाने में ही अजातवाद की कृतकृत्यता है।

२. जब, जितने समय तक, जो देखनेवाला सीप आदि न देखकर उस स्थान पर रजत आदि देख रहा है, तब उतने ही समय तक, उस द्रष्टा के लिये, वहाँ रजत विद्यमान है; द्रष्टा की दृष्टि ने ही उसे वहाँ उत्पन्न किया है एवं दृष्टि ही उसका बाध या नाश भी करती है।—इतने अंश से भ्रम दृष्टिसृष्टिवाद का दृष्टान्त है। किन्तु यहाँ भी द्रष्टा से पृथक् कोई दृश्य सीप आदि पदार्थ तो अपेक्षित है ही, जिसे यथार्थ न देखने के कारण 'कुछ और' देखा जाता है। द्वैताभास-निमित्तक इस अरुचि के कारण दृष्टिसृष्टिवाद का अधिक अनुकूल दृष्टान्त बना है स्वप्न, अथवा कल्पना। वहाँ द्रष्टा की ही निद्रा (—अविद्या) अथवा चित्त से अतिरिक्त कुछ भी अपेक्षित नहीं और प्रत्येक द्रष्टा की निद्रात्मक दृष्टि अथवा चित्त की समकालीन समसत्ताक ही सृष्टि उपपन्न होती है, तथा अविद्या या चित्त की समाप्ति से ही सृष्टि का अन्त होता है।

३. द्रष्टा के अज्ञान द्वारा सीप आदि के स्थान पर किसी न किसी प्रकार का रजत आदि उत्पन्न हो जाता है। वही तब तक दिखाई देता एवं तदनुरूप क्रिया का प्रयोजक बनता है, जब तक यथार्थ ज्ञान उस अज्ञान को समाप्त नहीं कर देता है। वस्तु के बिना प्रतीति होती नहीं, सीप आदि के चाकचिक्यादि के बिना रजत आदि नहीं देखे जाते, और देखी जाती हुई वस्तु का सर्वदा बना रहना आवश्यक नहीं—ऐसे सर्वाङ्ग-विश्लेषण सहित भ्रम शून्यवाद को निराकृत करते हुए ब्रह्माधिष्ठानक जगद्विवर्त के प्रतिपादन में सृष्टिदृष्टिवाद का दृष्टान्त बना है।

जगत्-निरूपण के थोड़े भी विश्लेषणात्मक विचार में उतरते ही अजातवाद दृष्टिसृष्टिवाद के स्तर में आ जाता है, अतः दोनों को सर्वथा पृथक् करना कठिन है, क्योंकि दोनों के दृष्टान्त प्रायः समान ही हो जाते हैं, फिर भी दृष्टिकोण का अन्तर अवश्य रहता ही है।

२. अजातवाद

"वह भीतर-बाहर सभी ओर से अज है"[१]—कहते हुए मुण्डकोपनिषद् में अजातवाद का बीज है। छान्दोग्यश्रुति में नाम-रूप को वाचारम्भण-मात्र दिखाते हुए सुवर्ण से इतर या सुवर्ण में कुण्डलादि आकृति के न होने का दृष्टान्त देकर विकार की अवस्तुता या अनस्तित्व प्रतिपादित किया गया। वहीं अजातवाद की व्याख्या का सूत्रपात है।[२] प्रकट रूप से सर्वप्रथम योगवासिष्ठ में बहुशः विशद निरूपित होता हुआ अजातवाद माण्डूक्यकारिका में दार्शनिक परिभाषान्तर्गत स्पष्ट स्वरूप में आया है। परमाचार्य गौड़पाद अजाति को ही स्वाभिमत मानते हुए उत्तम दृष्टि कहते हैं।[३] उसी दृष्टि स्तर से आचार्य शङ्कर ने भी अपरोक्षानुभूति एवं विवेकचूड़ामणि आदि साक्षात् साधकोपयोगी ग्रन्थों में जगद्-विवेचन किया है। योगवासिष्ठादि इन सब ग्रन्थों में इस उत्तम दृष्टि से किया गया विचार बहुधा समान शब्दावली में व्यक्त हुआ है, अतः इन्हें एक साथ देखना उचित ही होगा।

जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ है, न था, न होगा ही। जो अजात है, उसकी उत्पत्ति के विषम में वाद-विवाद किया जाता है।[४] जो न कभी उत्पन्न होता है, न विनष्ट होता है, जिस में जन्ममृत्यु का अवकाश ही नहीं उस अज का ही एकमात्र अस्तित्व है, वह कैसे अपने स्वभाव को छोड़कर अन्यथाभाव धारण करेगा? स्वभाव का अपलाप तो कभी नहीं होता।[५] अतः उत्पत्ति की सिद्धि ही संभव नहीं।

उत्पत्ति को उत्पादक और उत्पाद्य की अपेक्षा है; जो एकमात्र सत् है और जो कभी सत् नहीं उनमें कार्यकारण-भाव सम्भव नहीं। असत् का कारण है, न सत् पदार्थ असत् का

---

१. स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। मुं० उ० २।१।२॥

२. वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्, मृत्तिकेत्येव सत्यम्।........
छा० उ० ६।१।४–६॥
वागालम्बनमात्रं नामैव केवलं न विकारो नाम वस्त्वस्ति परमार्थतो मृत्तिकैव तु सत्यं वस्त्वस्ति॥ वहीं, शां० भा०॥

३. एतत् तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते।
मां० का ४।७१। यो० वा० ६।२।१४६।१८॥

४. जगन्नाम्ना न चोत्पन्नं न चास्ति न च दृश्यते। यो० वा० ३।७।४०॥
तस्माद् राम जगन्नासीन्न चास्ति न भविष्यति। यो० वा० ४।२।८॥
अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः।
अजातो ह्यमृतो भावो मर्त्यतां कथमेष्यति? मां० का० ३।२०॥
अजातस्यैव धर्मस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः।
अजातो ह्यमृतो धर्मो मर्त्यतां कथमेष्यति॥ वही ४।६॥

५. न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथञ्चित् भविष्यति॥ वही ३।२१,४।७॥

कारण है, क्योंकि न तो असत् पदार्थ असत् का कारण है, न सत् पदार्थ असत् का कारण है, असत् तो सत् का कारण हो ही नहीं सकता और सत् पदार्थ सत् का भी कार्य या कारण नहीं, क्योंकि सत् एक ही है तथा नित्य है।[1]

हेतु व फल के पौर्वापर्य का अज्ञान (न जाना जाना) उन दोनों की अनुपपत्ति का ही प्रकाशक है, क्योंकि यदि सचमुच कोई कार्य उत्पन्न हुआ ऐसा ग्रहण हो तो उसके कारण का भी ग्रहण होना चाहिये। कोई भी वस्तु अपने आप या दूसरे के द्वारा या दोनों द्वारा उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि सत्, असत् या सदसद् ऐसी किसी वस्तु की उत्पत्ति संभव नहीं।[2]

इस प्रकार सहज प्रश्न उठता है कि 'उत्पत्ति नहीं हो सकती' कहने भर से तथ्य का अपलाप कैसे हो जायेगा, मिट्टी से घड़ा उत्पन्न हुआ, पिता से पुत्र उत्पन्न हुआ ऐसी प्रतीति सभी को होती है। इसका उसका उत्तर आचार्य शङ्कर ने उक्त श्लोक के भाष्य में दिया है कि 'उत्पन्न होता है' ऐसा शब्द व प्रत्यय (प्रतीति) मूढ़ (अविवेकी) को ही होता है। विवेकी तो उनकी परीक्षा करके देखते हैं कि वे सत्य हैं या मिथ्या। और तब शब्द व उसकी प्रतीति का विषयभूत घड़ा, पुत्र आदि वस्तुएँ केवल शब्दमात्र ही हैं यही बोध होता है। यही वाचारम्भण श्रुति से प्रमाणित है।[3]

ऐसे अजातवाद में सृष्टि-प्रतिपादक श्रुतियों का विरोध होगा ऐसी शङ्का का समाधान जिज्ञासु के अधिकार-भेद एवं सृष्टि के स्तर-भेद द्वारा दो प्रकार से कहकर सब प्रकार से युक्तियुक्त एवं सुनिश्चित में ही श्रुति के अभिप्राय का पर्यवसान दिखाया गया है और तात्त्विक अद्वैत ही वस्तुतः सर्वथा अविरोधी है यह स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है।[4]

माण्डूक्य-कारिका में कहे गये कारण–कार्य-विचार का ही समकक्ष रूप योगवासिष्ठ में प्राप्त है। तदनुसार ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है, वह अपनी ही सत्ता में सदा स्थित है, न

---

१. नास्त्यसद्धेतुकमसत् सदसद्धेतुकं तथा।
सच्च सद्धेतुकं नास्ति सद्धेतुकमसत् कुतः॥ वही ४।४०॥

२. हेतोरादिः फलं येपामादिर्हेतुः फलस्य च।
हेतोः फलस्य चानादिः कथं तैरुपवर्ण्यते॥ वही ४।१४॥
स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद् वस्तु जायते।
सदसत् सदसद् वापि न किञ्चिद् वस्तु जायते॥ वही ४।२२॥

३. अस्ति जायत इति प्रत्ययः शब्दश्च मूढानाम्। तावेव शब्दप्रत्ययौ विवेकिभिः परीक्ष्येते किं सत्यमेव तावुत मृषेति। यावता परीक्ष्यमाणे शब्दप्रत्ययविषयं वस्तु घटपुत्रादिलक्षणं शब्दमात्रमेव तत्। वाचारम्भणम् इति श्रुतेः। मां० का० भा०, २।१७–१८॥

४. मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदिताऽन्यथा।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन॥
अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते। तेषामुभयथा द्वैतं तेनायं न विरुध्यते॥
भूततोऽभूततो वाऽपि सृज्यमाने समा श्रुतिः।
निश्चितं युक्तियुक्तं च यत्तद्भवति नेतरत्॥ मा० का० ३।१५,१८,२३॥

किसी का बीज है न कारण (= न उपादान, न निमित्त)। ब्रह्म व जगत् में किसी भी प्रकार कारण-कार्य-भाव नहीं है, न बीज-अङ्कुर-भाव है, क्योंकि यदि जगत् का कारण हो तो वह अनिङ्गित-अनाभास कैसे होगा ?[1] बीज अपने बीजरूप को छोड़ कर ही अङ्कुर रूप धारण करता है, ब्रह्म कभी स्वरूप से च्युत नहीं होता, विकृत नहीं होता।[2] बीज के भीतर जो अङ्कुर की सत्ता है वह बीजरूपा ही है। ब्रह्म के भीतर यदि जगत् हो तो वह ब्रह्म-रूप ही हो सकता है, जगत्-रूप नहीं।[3] विकार व आकार से रहित वस्तु से विकारी तथा आकृति-भासुर वस्तु उत्पन्न नहीं होती, अतः ब्रह्म जगत् का कारण नहीं है।[4] क्योंकि जगत् का कोई कारण व कर्त्ता नहीं है, अतः यह उत्पन्न ही नहीं हुआ है। बुध (तत्त्वज्ञ) के लिये कहीं कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ है, अतः उत्पादविषयक प्रश्न का ही अवकाश नहीं। न कुछ आधेय है, न उसका आधार, न ब्रह्माण्ड है न उसका रचयिता ब्रह्मा, परमाकाश के समान तत्त्व स्वच्छ ही अवस्थित है।[5]

इसीलिये ब्रह्म को जगत् का कारण कहा जाना केवल वाग्-विलास या शास्त्र-व्यवहार के लिये ही है, वह व्यवहार भी वस्तुतः निरर्थक ही है।[6] जो वस्तु आरम्भ में थी नहीं, उत्पन्न हुई नहीं, नष्ट होती दिखती नहीं, वह निश्चय ही नहीं है। जो आरम्भ और अन्त में जैसा

---

१. न किञ्चिज्जायते शान्तान्न किञ्चित् प्रविलीयते।
स्वसत्तायां स्थितं ब्रह्म न बीजं न च कारणम्॥
शुद्धानुभवमात्रं तत् तस्मादन्यन्न विद्यते।....
यदि कारणतापत्तियोग्यं शान्तं पदं भवेत्॥
अनिङ्गितमनाभासमप्रतर्क्यं कथं भवेत्।
अतो न कारणं नैव बीजं ब्रह्म कदाचन॥ यो० वा०, ६।९७।१,२,८,९॥

२. बीजं जहद्बीजवपुः फलीभूतं विलोक्यते।
ब्रह्माजहन्निजवपुः फलं बीजे च संस्थितम्॥ वही ४।१८।२४॥

३. बीजेऽङ्कुरोऽङ्कुरतया संश्रितो नोपलभ्यते।
बीजोदरे तु या सत्ता बीजमेव हि सा भवेत्॥
ब्रह्मणोऽन्तर्जगत्तैवं जगत्तैवोपलभ्यते।
अस्ति चेत्तद्भवेन्नित्यं ब्रह्मैवाविकारि तत्॥ वही ६।१९५।३४-३५॥

४. अविकारादनाकाराद्विकार्याकृतिभासुरम्।
उदेतीति किलास्माभिर्नैव दृष्टं न च श्रुतम्॥ वही ६।१९५।३६॥

५. नाधेयं तत्र नाधारो न दृश्यं न च द्रष्टृता।
ब्रह्माण्डं नास्ति न ब्रह्मा न च वैतण्डिका क्वचित्॥
न जगन्नापि जगती शान्तमेवाखिलं स्थितम्॥ वही ३।१३।५०-५१॥

६. तेन जातं ततो जातमितीयं रचना गिराम्।
शास्त्रसंव्यवहारार्थं न राम परमार्थतः॥ वही ४।४०।१७॥

होता है, अवश्य मध्य में भी वैसा ही होता है।[1] जिसका कारण न हो उसकी उत्पत्ति और स्थिति नहीं, कोई सत्ता ही नहीं।[2] अतः जगत् नामक कुछ भी दृश्य या द्रष्टा उत्पन्न नहीं हुआ है। केवल चिदाकाश अपने आप में ही स्थित है।[3]

तब भी नित्यप्रति सभी को होने वाली विविध प्रतीतियाँ क्यों हैं, यदि कुछ उत्पन्न ही नहीं हुआ ?—इसके लिये उक्त 'अजाति' की स्थिति से नीचे उतरकर कहना पड़ा है कि आत्मा स्वयं अपनी माया से मोहित हुआ विविध-पदार्थसमूह के रूप में विकल्पित हो रहा है, जो कुछ भी प्रतीत होता है वह स्वप्न में देखे गये पदार्थों जैसा ही है। जाग्रत्-काल के पदार्थ भी वास्तव में स्वप्न-तुल्य ही हैं।[4] अल्पकालिकता और दीर्घकालिकता के अतिरिक्त स्वप्न-जाग्रत् में कोई अन्तर नहीं।

स्वप्न में अनुभूयमान भी भूमि आदि पदार्थ जैसे असत् होते हैं, वैसे ही वस्तुतः जाग्रत् में भी हैं। यही स्थिति कल्पना की है, काल्पनिक दृश्य जैसे वस्तुतः कुछ भी नहीं, वैसे ही समस्त जगत् भी कल्पनामात्र ही है,[5] स्वप्न अथवा कल्पना के समान भीतर की वस्तु बाहर

---

१. न चोत्पन्नं न च ध्वंसि यत् किलादौ न विद्यते।
उत्पत्तिः कीदृशी तस्य नाशशब्दस्य का कथा ॥ वही ३।११।५ ॥
आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा। वही ४।४५।४५ ॥
आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा ॥ मां० का० २।६ ॥

२. तत्सर्वं कारणाभावान्न जातं न च विद्यते। यो० वा० ६।५३।१५१ ॥
यदकारणकं तस्य सत्ता नेहोपपद्यते ॥ वही ....१६ ॥

३. एवं न किञ्चिदुत्पन्नं दृश्यं चिज्जगदाद्यपि।
चिदाकाशे चिदाकाशं केवलं स्वात्मनि स्थितम् ॥ वही ३।२१।२४ ॥

४. जाग्रद्वृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत्।
वहिश्चेतोगृहीतं सद्युक्तं वैतथ्यमेतयोः ॥ मां० का० २।१० ॥
....
मायैषा तस्य देवस्य यया सम्मोहितः स्वयम्। वही २।१९ ॥
स्वप्नजागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः।
भेदानां हि समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना ॥ वही २।५ ॥
जाग्रत्स्वप्नदशाभेदो न स्थिरास्थिरते विना।
समः सदैव सर्वत्र समस्तोऽनुभवोऽनयोः ॥ यो० वा० ४।१९।११ ॥

५. यथा स्वप्नेऽवनिर्नास्ति स्वानुभूतापि कुत्रचित्।
तथेयं दृश्यता नास्ति स्वानुभूताप्यसन्मयी ॥ यो० वा० ६।२।१६१,६२ ॥
अनुभूतान्यपीमानि जगन्ति व्योमरूपिणि।
पृथ्व्यादीनि न सन्त्येव स्वप्नसङ्कल्पयोरिव ॥ वही ३।१५।६ ॥
समस्तं कल्पनामात्रमिदम्। वही ६।२।२१०,११ ॥
अव्यक्ता एव येऽन्तस्तु स्फुटा एव च ये बहिः।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषस्त्विन्द्रियान्तरे ॥ मां० का० २।१५ ॥

देखी जाती है, और भीतर उन वस्तुओं का न होना अनुभव-सिद्ध है।[1] जगत् में स्वप्न जितनी स्थिरता या सत्यताभास भी अजातवाद को सह्य नहीं, अतः तुच्छता या अवस्तुता की ओर ले जाने वाले अन्य अनेक दृष्टान्त भी एक साथ कहे गये हैं—माया (इन्द्रजाल), गन्धर्वनगर, मृग-मरीचिका, दृष्टि-भ्रान्ति, वन्ध्यापुत्र या आकाशवन, शून्य में वेताल, अलात-चक्र आदि। माया द्वारा भी असत् का जन्म नहीं होता, तत्त्वतः होना तो दूरापास्त है, अतः जगत् वास्तव में तो उत्पन्न हुआ ही नहीं। जिस को जगत् का भास है, उसे भी जैसा इन्द्रजाल आदि का भास होता है, वैसा ही जगत् का भास समझना चाहिये, वास्तव में तो यह वन्ध्यासुत-कल्प ही है।[2]

इनके अतिरिक्त अजातवाद के हार्द के अनुकूल दृष्टान्त हैं स्वर्ण में कुण्डल आदि नाम, रूप या आकृति न होते हुए भी नाम-रूपाधारित ही व्यवहार चलना, अथवा जल में तरङ्ग उठना-रहना-गिरना। आकृति या तरङ्ग स्वर्ण आदि या जल से भिन्न कुछ भी नहीं, तब भी भासित होते हैं, विभिन्न क्रिया-कलाप के प्रयोजक होते हैं, वैसे ही शुद्ध चिन्मात्र ब्रह्म ही नानात्मक जगत्रूप में दिखाई देता हुआ स्वतः अपने-आप में ही विराजमान है। स्वर्ण में आभूषणत्व नहीं, कोई आकृति भी नहीं, वैसे हो ब्रह्म में जगत् नहीं।[3] माण्डूक्यकारिका में

---

१. रूपालोकमनस्कारैं रन्ध्रैर्वहिरिव स्थितम्।
सृष्टिं पश्यति योऽन्तः सरसीमिव पर्वतः॥ यो० वा० ६।२।२२,२७॥
वाह्यमाभ्यन्तरं भाति स्वप्नार्थोऽत्र निदर्शनम्॥ वही, ३।४४।२०॥
विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतम्।
पश्यन्नात्मनि मायया वहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया॥ (दक्षिण० स्तो० १)।

२. स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेपु विचक्षणैः॥ मां० का० २।३१॥
मायामात्रं दृशो भ्रान्तिः शून्याः स्वप्नानुभूतयः। यो० वा० ३।५७।५४।
यथा गन्धर्वनगरं तथा संसृतिविभ्रमः। वही ६।१।३३।४५।
ऋजुवक्रादिकाभासमलातस्पन्दितं यथा।
ग्रहणग्राहकाभासं विज्ञानस्पन्दितं तथा॥ मां० का० ४।४७।
मृगतृष्णाम्बु + इवासत्यम्। यो० वा० ४।१।७।
जलत्वेन मरीचिका। अप० ७३।
यथा नास्ति मरौ जलम्। वही ३।७।४३।
यथा नीरः मरुस्थले। वही ६१।
यथा नास्ति नभोयक्षः। यो० वा० ३।७।४४।
यथैव शून्ये वेतालः। अप० ६२।
वन्ध्यापुत्रव्योमवने यथा न स्तः कदाचन।
जगदाद्यखिलं दृश्यं तथा नास्ति कदाचन॥ यो० वा० ३।११।४॥
असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते।
वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते॥ मां० का० ३।२८॥

३. यथा सौवर्णकटके दृश्यमानमिदं स्फुटम्।

यह दृष्टान्त कभी नहीं लिया गया है। किन्तु चित्त की कल्पना के अतिरिक्त जगत् का कोई अस्तित्व नहीं यह भलीभाँति दिखाया है। (यो०वा० तथा मां० का० १ में)।

जो है ही नहीं उसका कारण खोजना व्यर्थ है। तब भी प्रतीति के अनुरोध से यदि कारण की कल्पना करनी ही हो तो अविद्या का कार्यभूत चित्त ही जगत् का मूल है।[1] जैसे जल धारा, ऊर्मि, फेन, कण, हिम इत्यादि रूप धारण करता है, वैसे ही चित्त समस्त नानात्व का रूप धारण किये हुए है। जगत् कल्पना है और चित्त कल्पक।[2] सचराचर जगत् मन की ही रचना एवं दृश्य है। तथा मनोनाश ही जगत् का नाश है। मन ही अविद्या है।[3]

इस प्रकार परमतत्त्व को तात्त्विक ही स्थिति से देखने वाले आचार्यों ने पहले तो उससे इतर या उसी के अवर रूप की सम्भावना को ही अस्वीकार किया है, फिर व्यावहारिक दशा वाले साधकों की प्रतीति के अनुरोध से किसी प्रकार जगत् का होना माना भी तो उसे अलीक पदार्थों के तुल्य कहा। और भी अधिक व्यावहारिक होने गये तो अवस्तुतता-प्रवण दृष्टि से ही प्रातिभासिक सत्ता पर्यन्त उतरे। यहीं से वस्तुतः दृष्टिसृष्टिवाद का क्षेत्र आरम्भ हो गया।

अजातवादिनी दृष्टि का क्षेत्र योगवासिष्ठ, माण्डूक्यकारिका एवं आचार्य शङ्कर के अपरोक्षानुभूति, विवेकचूड़ामणि आदि ग्रन्थों तक ही रहा, शारीरक आदि भाष्यों तथा उत्तर-कालीन विचारकों द्वारा इसका प्रसार नहीं किया गया क्योंकि यह व्यावहारिक स्थिति से सर्वथा असंस्पृष्ट है और विचार तो व्यवहार व परमार्थ के सम्बन्ध या उनके मध्यवर्ती व्यवधान को लेकर ही हो सकता है। तथापि तत्त्व की ओर से जगत् को देखने वाले विचारकों की वाणी में अजातवाद का विवेचन-पक्ष दृष्टिसृष्टिवाद के रूप में प्रकट हुआ। अतः दृष्टिसृष्टि-वाद के भी आकर-ग्रन्थ उपर्युक्त ही बने।

कटकत्वं तु नैवास्ति जगत्त्वं न तथा परे ॥ यो० वा० ३।११।८ ॥
हेम्न्यूर्मिकारूपधरेऽप्यूर्मिकात्वं न विद्यते।
यथा तथा जगद्रूपे जगन्नास्ति च ब्रह्मणि। वही ३।२१।३३ ॥
कटकत्वं यथा हेम्नि तरङ्गत्वं यथाम्भसि। वही ३।२१।६५ ॥
यथा कनके कुण्डलाभिधा। अप० ६० ॥

१. चित्रमात्रमयी शून्या व्योममात्रशरीरिका।
सङ्कल्पमात्रनगरी भ्रान्तिमात्रात्मिका सती ॥ यो० वा० ४।४०।१० ॥

२. धाराकणोर्मिफेनश्रीर्यथा संलक्ष्यतेऽम्भसः।
तथा विचित्रविभवा नानातेयं हि चेतसः ॥ वही, ३।११०।४८ ॥

३. मनोमनननिर्माणमात्रमेतज्जगत्त्रयम्। वही ४।११।२३ ॥
मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत् किञ्चित् सचराचरम्। मां० का० ३।३१ ॥
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥
चित्तमेव सकलभूताऽम्बरकारिणीमविद्यां विद्धि। सा विचित्रकेन्द्रजालवशादिदमुत्पा-दयति। यो० वा० ३।११६।१८ ॥
मनोविजृम्भणमिदं संसार इति सम्मतम्। वही ४।४७।४८ ॥

अजातवाद में जब जगत् की प्रातिभासिकी सत्ता भी सत्तात्वेन सह्य नहीं, तो उस जगत् के उत्पादक, उत्पत्ति-प्रक्रिया, स्वरूप, प्रतिकर्मव्यवस्था आदि का विवेचन दूरापास्त या निरवकाश है। तत्त्व की ओर से जगत् का विश्लेषणात्मक विवेचन करने में ही दृष्टिसृष्टिवाद का उद्भव है, यह कहा जा चुका है।

२. दृष्टिसृष्टिवाद

(क) सामान्य निरूपण

दृष्टि = अविद्या या अविद्याकार्य की वृत्ति रूप ज्ञान के सम समय में ही सृष्टि अर्थात् पदार्थ (विषय) की उपपत्ति होती है, उस ज्ञान के स्थितिकाल पर्यन्त ही उस सृष्टि की भी स्थिति होती है। सम्पूर्ण जगत् = ईश्वर से लेकर तृण पर्यन्त, ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप से इतर रूप वाला सभी कुछ, ऐसी ही (दृष्टि-समकालीन) सृष्टि है, तत्त्वतः कुछ नहीं (मिथ्या) है। जो वस्तु बिना सामग्री के उत्पन्न हो जाती है, अथवा दिखाई देती है, वह मिथ्या होती है, जैसे जादू द्वारा दिखाई हुई वस्तुयें, अथवा स्वप्न में देखे हुए पदार्थ। स्वाप्न पदार्थों का मिथ्या होना सभी के प्रति सिद्ध है, एवं उस मिथ्या होने का अर्थ—कुछ भी न होते हुए सचमुच होने के समान प्रतीत होना, अनुभव में आना—सभी समझते हैं। उस स्वाप्न-प्रतीति तथा जाग्रत् दशा में उसके मिथ्यात्वबोध को दृष्टान्त बनाकर तत्त्वव्याख्याता उत्तम जिज्ञासु के प्रति कहते हैं कि देश काल आदि के लेश से भी अस्पृष्ट ब्रह्म में (क्योंकि उसके सिवा कहीं कुछ है ही नहीं अतः उसी में) जो कुछ भी देखा जाता है, जो देश-काल से अनुबद्ध है, वह सब मिथ्या है, माया का परिणाम है, ब्रह्म का विवर्त है। वस्तु में परिवर्तन होकर उसका अन्य प्रकार का दिखना परिणाम कहलाता है, और वस्तु के यथापूर्व बने रहते हुए ही अन्य प्रकार का दिखना विवर्त है, जैसे रस्सी में सांप दिखना।

वस्तुतः सत् एक ही होने पर भी, प्रतीति के अनुरोध से द्विविध सत्ता स्वीकार्य है—पारमार्थिक और प्रातिभासिक। जैसे जाग्रत् के प्रति स्वप्न प्रातिभासिक है, वैसे ही परमार्थ दृष्टि से जाग्रत् भी प्रातिभासिक है। प्रतिभास ही है शरीर जिसका—वही प्रातिभासिक शब्द का अर्थ है, अर्थात् ज्ञातैकसत् होना (ज्ञात रूप से ही सत् होना) अथवा ज्ञानकाल में ही रहना, ज्ञानभिन्न समय में न रहना। स्वप्न में जो कुछ देखा जाता है वह तभी तक रहता है जब तक स्वप्न चलता है, एवं उतना ही होता है, जितना देखा जा रहा है, वैसे ही जाग्रत् दशा में भी हमारे इन्द्रिय-गम्य क्षेत्र के अन्तर्गत जिस समय जितनी वस्तुएँ रहती हैं, उस समय उतनी ही वस्तुएँ हमारे प्रति 'हैं' कही जा सकती हैं, उनसे इतर के होने का कोई निर्धारक नहीं। दृष्टिसृष्टिवादी कहते हैं कि ज्ञान-गम्य क्षेत्र से इतर कहीं कुछ नहीं है, और जो

कुछ यह ज्ञान-गम्य प्रतीत हो रहा है, वह भी वास्तव में है नहीं। जैसे स्वप्न की वस्तुएँ दिखती, स्पर्श करती अनुभव में आती हुई भी 'होती' नहीं हैं, अविद्यावृत्ति का परिणाम एवं चेतन का विवर्त होना ही उनका स्वरूप हैं। ठीक वैसा ही यह जगत् है।

दृष्टिसृष्टिवाद के अनुसार, श्रुति में जो ब्रह्म या परमात्मा से क्रमशः आकाशादि की सृष्टि वर्णित है, उसका अभिप्राय अद्वैतबोधन में ही है, सृष्टि के प्रतिपादन में नहीं, सारे पदार्थ (पद= नाम, अर्थ = रूप) परमात्मा के विवर्त हैं। जो सृष्टि का क्रम वर्णित है, वह भी उसी के विपरीत क्रम से सृष्टि का ब्रह्म में ही लय दिखाकर अद्वैत को पुष्ट करने के अभिप्राय से ही है। यही अभिप्राय उन सृष्टि-पदार्थों की परस्पर कार्य-कारणता कहने का भी है, वास्तव में सृष्टि में कोई क्रम नहीं है, सारे पदार्थ अविद्या से ही उत्पन्न हैं—ठीक स्वप्न की भाँति। जैसे स्वप्न में पुत्ररहित व्यक्ति को भी कदाचित् अपने पुत्र-पौत्र आदि दिखाई देते हैं, और उनमें कारणता-कार्यता का भी बोध होता है—वही स्थिति जाग्रत् में भी है।

यहाँ सहज शङ्का उठती है कि फिर हमें जाग्रत् व स्वप्न का अन्तर दिखता ही क्यों है ? आज हम जिस प्रकार का जगत् देखते हैं, रात्रि में सात घण्टे सो कर व अनेक स्वप्न देखकर पुनः जागते हैं तो फिर वही सब देखते हैं, जो सोने से पहले देख रहे थे। और पुनः सोने पर निश्चित रूप से वे सब वस्तुएँ नहीं देखते जो कल के स्वप्न में देखी थीं, अतः स्वप्न पदार्थों से जाग्रत् पदार्थों को विलक्षण मानना ही पड़ता है। किन्तु, दृष्टिसृष्टिवाद के अनुसार सम्पूर्ण संसार-प्रवाह एक दीर्घ स्वप्न ही है जो अनादि है, इसी के अन्तर्गत जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थायें व इनके भेद भी कल्पित ही हैं। एक स्वप्न के भीतर भी कभी-कभी स्वप्न देखा जाता है, उन दोनों स्वप्नों में यदि कोई अन्तर किया जा सके तो वैसा ही अन्तर सांसारिक जाग्रत् व स्वप्न में भी है, किन्तु वह भेद कहा नहीं जा सकता। और देखा भी जाता है कि जाग्रत्काल में स्वप्न व सुषुप्ति नष्ट होते हैं, स्वप्न में जाग्रत् व सुषुप्ति तथा सुषुप्ति में जाग्रत् व स्वप्न नष्ट रहते हैं। अज्ञानवशतः यह समझा जाता है कि स्वप्न व सुषुप्ति के समय जाग्रत्-काल के गृह-परिवार धन आदि पदार्थ नष्ट नहीं होते, इनका ज्ञान ही दूर होता है, इसीलिये पुनः जाग्रत् में पहले जाग्रत् के ही विद्यमान पदार्थों का ज्ञान होता है। वास्तव में तो सारे पदार्थ चैतन्य का विवर्त हैं, अविद्या का परिणाम हैं। जिस काल में जो पदार्थ प्रतीत होता है, उसी समय अधिष्ठान चैतन्य पर आश्रिता अविद्या के तमोगुण अंश का विषयरूप परिणाम होता है और अविद्या के ही सत्त्वगुण का ज्ञानरूप। ये दोनों साथ ही उत्पन्न होते हैं, साथ ही विनष्ट भी होते हैं, जो कार्यकारणभाव तथा अल्प व चिर-स्थायित्व जाग्रत्पदार्थों में देखने में आता है, वह भी उन पदार्थों के साथ ही उत्पन्न हुआ है व साथ ही नष्ट हो जानेवाला है।

दृष्टिसृष्टिवाद में सारे अनात्मपदार्थ प्रातिभासिक हैं, प्रतीति से भिन्न काल में इनकी सत्ता नहीं है। ये सभी साक्षिभास्य हैं, इनमें दिखाई देने वाली प्रमाता-प्रमेय-प्रमाण की त्रिपुटी भी ज्ञान-समकालीन ही है।

जाग्रत् में प्रतीत होने वाले—(१) किसी पदार्थ में मिथ्यात्व, (२) किसी का नाश या क्षीणता, (३) किसी की उत्पत्ति व वृद्धि, (४) शास्त्रज्ञान से परम पुरुषार्थ की

प्राप्ति—इत्यादि सभी ज्ञान स्वप्न की भाँति मिथ्या हैं। स्वप्न में भी (१) अल्प समय में बहुकाल की प्रतीति होना, (२) जाग्रत् की भाँति पदार्थों के स्थायित्व की प्रतीति, तथा (३) उनसे सब प्रकार का भोग होना देखा जाता है। अतः जाग्रत्-पदार्थ स्वप्न से किसी प्रकार पृथक् नहीं।

शङ्का होती है कि यदि वस्तुस्थिति ऐसी ही है तो शास्त्र द्वारा संसार व जीव के बन्धन का अनादि कहा जाना और तत्त्वज्ञान द्वारा मोक्ष होना, अनेकों का मुक्त हो जाना—इत्यादि प्रतिपादन निरर्थक ही कहलायेंगे। दृष्टिसृष्टिवादी की दृष्टि में सच ही ये शास्त्र भी मिथ्या हैं, जीव द्वारा कल्पित हैं। परमार्थतः आत्मा सदा असङ्ग एकरस है, न कोई मुक्त है न बद्ध। अविद्या और उसके परिणाम से चैतन्य का किसी भी प्रकार सम्बन्ध नहीं, अतः बन्ध से लेकर शास्त्रनिर्दिष्ट मुक्ति पर्यन्त सभी प्रतीति स्वप्न की भाँति मिथ्या है, तथा इस प्रतीति का अनादि काल से चला आना भी मिथ्या ही है।

प्रश्न उठता है कि कोई, कभी, कहीं, सोता है, तभी तो स्वप्न देखता है, अर्थात् स्वप्न की संरचना के लिए भी निद्रा, सोने वाला, निद्रा व उस व्यक्ति का सम्बन्ध हो सकना—इतनी बातें कम से कम आवश्यक हैं, एकमात्र असङ्ग आत्मा ही तत्त्व है और वह सर्वदा वैसा ही है, तो जगत्-प्रतीति के लिये उक्त सब दशायें कैसे पूरी होंगी ? इसके उत्तर में दृष्टिसृष्टिवादी कहते हैं कि प्रश्न-मात्र आविद्यकदशा-पर्यन्त है, तत्त्व में प्रश्न आदि का अवकाश नहीं, और जागने से पूर्व सोया हुआ व्यक्ति किसी प्रकार कभी नहीं समझ सकता कि जागना क्या है ? और वह स्वयं क्या है ? अनादि माया रूपिणी निद्रा टूटने पर फिर किसी अनुपपत्ति का अवकाश नहीं रहता। और निद्रित अवस्था में जो भी अनुपपत्तियाँ हैं, वे सब अविद्या की साधिका ही हैं।

तब भी, सत्य-ज्ञान-आनन्द स्वरूप वह परम तत्त्व सोया ही क्यों—इसका उत्तर सोने को अनादि मान लेने के सिवा कुछ नहीं दिया जाता। और प्रश्न बना ही रहता है कि अविद्या यदि अनादि है तो कल्पित कैसे ? यदि कल्पित नहीं तो द्वैत की सत्यता प्राप्त होगी।

शाङ्कर-अद्वैत-सिद्धान्त की सीमाओं में यह प्रश्न समाहित नहीं होता, किन्तु आगम में अविद्या को आत्मा या परमतत्त्व की तिरोधान शक्ति माना होने से उक्त प्रश्न का उत्तर मिलता है कि आत्मतत्त्व का ही एक स्वभाव है कभी अपने अपरिच्छेद को भूलकर सङ्कुचित-सा हो जाना, फिर अपनी ही अनुग्रह शक्ति द्वारा इस भूल से उत्पन्न सङ्कोच को मिटाकर अपने वास्तविक स्वरूप में आ जाना। यही बात उपनिषदों में बहुधा कही गई है, माण्डूक्य-कारिका में स्पष्ट है।[1]

---

१. भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे।
देवस्यैव स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ॥ मां० का० १।९ ॥
कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः ॥ वही, २।१२ ॥

(ख) उत्पत्ति और उत्पादक

दृष्टिसृष्टिवाद के नाम से ही सूचित होता है कि दृष्टि की उत्पत्ति ही सृष्टि की उत्पत्ति है एवं दृष्टि ही सृष्टि की उत्पादिका है।[1] उस दृष्टि का भी उत्पादक कारण कहना हो तो चित्त द्वारा अविद्या या अविद्यामूलक चित्त ही निखिल जगत् के कारण हैं, सब चित्त की ही रचना है, और चित्त को यहाँ अविद्या से अभिन्न माना गया है[2] यह अजातवाद-प्रसङ्ग में देखा जा चुका है।

(ग) जगत् का स्वरूप

आचार्य गौड़पाद ने माण्डूक्यकारिका में कहा है कि सृष्टि का स्वरूप स्वप्न या माया (जादू) के समान है, अर्थात् कुछ न होते हुए दिखाई देना।[3] स्वप्न के समान होने से सभी जागतिक पदार्थ मिथ्या हैं, वितथ (जो है, उससे विपरीत अथवा जो दिखता है, उससे विपरीत) हैं। स्वाप्न पदार्थ जिन-जिन कारणों से मिथ्या सिद्ध होते हैं, वे सब दशायें जाग्रत् में भी हैं, अतः यह भी मिथ्या हैं।[4] जो आदि व अन्त में नहीं है, वह मध्य में भी वैसा ही है, अतः प्रपञ्च असद्-रूप ही है, तब भी अवितथ (सत्य) जैसा दिखाई देता है। जाग्रत्-पदार्थ तो सप्रयोजन होते हैं, जाग्रत् दशा में खाये गये अन्न-पान क्षुधा के निवर्तक होते हैं यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि जाग्रत् में उदरपूर्ति करके सोये हुए को भी स्वप्न में कदाचित्, क्षुधा-पीड़ा व दुर्भिक्षादि कष्ट देते हैं, दोनों ही दशाओं में तात्कालीन अनुभूति समान ही होती है।[5] स्वप्नावस्था में भी मनोरथ आदि चित्त के भीतर कल्पित पदार्थों का असत् होना एवं बाह्य का सत् होना जान पड़ता है, पर दोनों एक ही समान असत् हैं, उसी प्रकार

---

१. मिथ्यादृष्टय एवेमाः सृष्टयो मोहदृष्टयः। — यो० वा० ३।६२।५४ ॥
खाद्रिद्यूर्वीनदीश्रेण्यो दृष्टिसृष्ट्या पुनः पुनः ॥
सैवान्येव विचित्रेयमविद्या परिवर्तते ॥ — वही ३।११४।५६ ॥
अतो दृष्टिसृष्टं किलेदम्। — शतश्लोकी—८१ ॥

२. वि० चू० १६९—७०॥

३. स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः। — मां० का० २।३१ ॥

४. वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिणः।
अन्तःस्थानात्तु भावानां संवृतत्वेन हेतुना ॥
....
अन्तः स्थानात्तु भेदानां तस्माज्जागरिते स्मृतम्।
यथा तत्र तथा स्वप्ने संवृतत्वेन भिद्यते ॥ — वही २।१,४ ॥

५. आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥
सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते।
तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥ — वही २।१।६-७ ॥

जाग्रत् में भी दोनों प्रकार के पदार्थों का मिथ्या मानना ही उचित है। जो आन्तरिक पदार्थ कल्पनाकाल तक ही रहने वाले हैं, और जो बाह्य पदार्थ द्विकालिक हैं वे सभी कल्पित हैं, क्योंकि उनमें भेदक कुछ नहीं है।[1]

योगवासिष्ठ में गौड़पाद के आशय का ही प्रस्तार है। कहा गया है—जो वस्तु दिखती तो है, किन्तु उसका कोई कारण नहीं है, वह विभ्रम स्वरूप ही होती है यह जगत् उसी प्रकार का है, अतः विभ्रम ही इसका स्वरूप है।[2] सृष्टि संविदात्मा (ज्ञानस्वरूप आत्मा) में स्थित स्वप्न ही है, जो नाना आकृतियों में आभासित है। यह माया (जादू) है, मनोराज्य है, भ्रान्ति है, स्वप्न है, अलातचक्र है, मृगमरीचिका है।[3] जो वस्तु आदि तथा अन्त में सत्य है, नित्य है, वही सत् है, वही वर्तमान में सत् है, जगत् में ये दशायें पूरित नहीं होती, अतः वह सत्य नहीं है। जो आदि तथा अन्त में नहीं है, वह वर्तमान में भी नहीं है, असत् है। जगत् आदि तथा अन्त में नहीं है, पर वर्तमान में प्रतीत हो रहा है, अतः असत् भी नहीं है। इस प्रकार यह जगत् न सत्य है, न असत्य; न उत्पन्न, न अनुत्पन्न; यह तो अर्थ व ज्ञानों का समवाय-रूप इन्द्रजाल या स्वप्नजाल के समान, रज्जु में सर्प के समान भ्रान्तिमात्र है।[4] प्रतीति-मात्र ही इस का उदय, स्थिति व लय है। प्रतिभास ही इस जगत् की सत्ता है, इससे अतिरिक्त कुछ नहीं।[5]

आचार्य शङ्कर ने विवेकचूड़ामणि में संसार का स्वरूप दृष्टिसृष्टिवाद के अनुकूल कहा है कि संसार स्वप्न ही है, मन द्वारा कल्पित है, काल्पनिकत्व ही इसका स्वरूप है, अध्यास भी कल्पित ही है।

सुरेश्वराचार्य ने भी वृहदारण्यकभाष्यवार्त्तिक में अनेक वार दोहराया व सिद्ध किया है कि अवास्तविकता ही संसार का स्वरूप है। संसार 'काकोलूकनिशावत्' है, अज्ञ के प्रति

---

२. चित्तकला हि येऽन्तस्तु द्वयकालाश्च ये बहिः।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषो नान्यहेतुकः॥ वही २।१४॥

३. यस्त्वकारणको भाति स्वभावो हि विजृम्भते।
सर्वरूपेण सङ्कल्पगन्धर्वनगरादिवत्॥ यो० वा० ६।५४।१६॥

३. तस्मात् स्वप्नवदाभासः संविदात्मनि संस्थितः। वही, ६।१९५।४४॥
मायेयं स्वप्नवद्भ्रान्तिर्मिथ्यारचितचक्रिका।
मनोराज्यमिवालोलसलिलावर्तसुन्दरी॥ वही ४।७४।४१॥

४. आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।....
आदावन्ते च यत्सत्यं वर्तमाने सदेव तत्।.... वही ४।४५।४५-४६।
एवं न सन्नासदिदं भ्रान्तिमात्रं विभासते। वही ३।४४।२७॥
रिक्तं न विश्वशब्दार्थैरनन्यद् ब्रह्मणि स्थितम्।
न तत्सत्यं न चासत्यं रज्जुसर्पभ्रमो यथा॥ वही ३।४४।३३॥

५. प्रतिभाससमुत्थानं प्रतिभासपरिक्षयम्।
यथा गन्धर्वनगरं तथा संसृतिविभ्रमः॥ वही ६।३३।४५॥

तत्त्व असत् है और विज्ञ के प्रति जगत् असत् है।[1] अज्ञान द्वारा कल्पित होना ही जगत् का स्वरूप है, शुक्ति में रजत की भाँति ब्रह्म में समस्त अनात्मवस्तु अध्यस्त है।

सर्वज्ञात्म मुनि ने संक्षेपशारीरक में स्वप्न के दृष्टान्त से ही जाग्रत् पदार्थों का भी मिथ्यात्व सिद्ध करके स्वप्न व जाग्रत् दोनों को ही समान रूप से मिथ्या कहा है। जाग्रत् व स्वाप्न प्रपञ्चों में भेद इतना ही है कि स्वाप्न प्रपञ्च का वाध प्रमाता के रहते हो जाता है, जाग्रत्-प्रपञ्च का वाध तत्त्वज्ञान का उदय होने पर ही होता है।[2]

मधुसूदन सरस्वती तथा प्रकाशानन्द ने अपने ग्रन्थों (सिद्धान्तविन्दु, अद्वैतसिद्धि तथा वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली) में—'जगत् की सत्ता प्रतीतिसमकालीना या प्रातिभासिक ही है, रज्जु सर्प, शुक्तिरजत, स्वाप्न पदार्थ आदि के समान'—इसी मत को अपना अभिमत सिद्ध किया है।

इस प्रकार सम्पूर्ण अद्वैतसम्प्रदाय में दृष्टिसृष्टिवादी विचारकों ने एक-जैसे ही दृष्टान्तों द्वारा जगत् की प्रतिभासिक ही सत्ता तथा मृगमरीचिका या विभ्रम जैसा स्वरूप कहा है।

(घ) प्रतिकर्मव्यवस्था

जो प्राणी जो भी कर्म करता है, वही उस कर्म के अनुरूप फल भोगता है, ऐसा शास्त्र का विधान है, दूध से ही मक्खन निकलता है, जल से नहीं, भोजन करने से ही क्षुधा-निवृत्ति होती है, खाद्य पदार्थों की कल्पना से नहीं, कोई सोचे या न सोचे, दिन के पश्चात् रात आ ही जाती है—ऐसा सभी का अनुभव है, सारा संसार इसी प्रकार के अनेक दृढ़ नियमों से वँधा हुआ है, जो किसी के भ्रम या कल्पना की अपेक्षा नहीं रखते। तथाकथित उत्तम दृष्टिकोण से सभी के अनुभव में आती हुई इस संसार-व्यवहार-व्यवस्था की व्याख्या कैसे होगी, यह समस्या सभी दृष्टिसृष्टिवादी आचार्यों के सामने थी। इसे सुलझाने में गौड़-पाद से लेकर प्रकाशानन्द तक सभी प्रमुख आचार्यों ने प्रायः स्वप्न-दृष्टान्त को ही सर्वथा साधक बनाया है। मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में साधारणसृष्टिवादी तथा सृष्टि को व्यावहारिक या यथार्थ ही मानने वाले मतों द्वारा संभावित आपत्तियों के उत्तर देते हुए दृष्टिसृष्टिवाद की प्रतिकर्मव्यवस्था का विस्तार से प्रतिपादन किया है। प्रधान साधकता यहाँ भी स्वप्न-दृष्टान्त में ही है।

जगत् की प्रातीतिक (प्रातिभासिक) ही सत्ता मानने पर नियत कारण से नियत वस्तु का नियत समय उत्पन्न होना उपपन्न नहीं, तथा स्वर्गादि के लिए यागादि का श्रौत-

---

१. काकोलूकनिशेवायं संसारोऽज्ञात्मवेदिनोः।

बृ० भा० वा० १।४।३१३ ॥

२. अवोधतः सकलमेव हि सत्यमिथ्या-भ्रान्तिप्रमाणनिवर्त्यनिवर्तकत्वम्। स्वप्नेऽपि दृष्टमिदमेवमिहापि जाग्रत्-काले भवत्वखिलमापरमात्मवोधात् ॥

सं० शा० २।२३ ॥

विधान अयुक्त है—इसके उत्तर में कहा गया है कि स्वप्न में प्रयुज्यमान कार्यकारणभाव-बोधक वाक्य के समान ही यह सब उपपन्न है।[1]

शङ्का उठाई गई है कि इस सिद्धान्त के अनुसार घटज्ञान से पहले घट है ही नहीं, तो घट से चक्षु-सन्निकर्ष से ही घटज्ञान होना, पट आदि घट से अतिरिक्त वस्तुओं के सन्निकर्ष से अन्य ही (पट का ही) ज्ञान होना, घट ज्ञान न होना—यह व्यवस्था अनुपपन्न रहती है। तथा सीप में चाँदी का भ्रम होने के स्थल पर सीप का 'यह' अंश भी दृष्टि-सृष्टिवाद में चाँदी के समान ही 'यह चाँदी है' ज्ञान से पहले नहीं रहता, अतः सम्प्रयोग (इन्द्रिय-सन्निकर्ष) आदि हेतुओं से उत्पन्न होना—यह अध्यास का तटस्थ लक्षण तथा सत्य वस्तु का मिथ्यावस्तु के सम्भेद (तादात्म्य जैसा मिश्रण) से अवभास—ऐसा स्वरूप-लक्षण भी नहीं बन पाता, क्योंकि दृष्टिसृष्टिवाद में सीप के इदमंश की भी सत्यता नहीं कहीं जा सकती।—इसके उत्तर में कहा है कि अध्यास का (पहला) तटस्थ लक्षण तो मन्द अधिकारी के लिये है, दृष्टिसृष्टिवाद उत्तम अधिकारी के लिये है, और अध्यास का स्वरूप लक्षण इस वाद में भी सम्भव है, क्योंकि इदमंश से अवच्छिन्न चैतन्य तो यहाँ भी सत्य वस्तु ही है, मिथ्या रजत का उससे सम्भेद अवभासित होता है।[2] पुनः शङ्का उठाई है कि 'यह रजत है' ऐसे ज्ञान के समय सीप का अभाव ही है तो अध्यास ही क्यों होगा और हो भी तो उसे शुक्तिविषयक अज्ञान का कार्य कैसे कहा जा उकता है। उत्तर दिया गया कि 'यह रजत है' इस ज्ञान के समय भले ही शुक्ति का अभाव हो, पर उसका अज्ञान तो रहता ही है। सत्ताकाल के समान सत्ता के अभाव काल में भी अज्ञान का अभाव नहीं होता है।[3]

प्रत्येक प्रतीति के समय ही यदि उसका विषय उत्पन्न होता है, तो 'यह रजत है' तथा 'यह रजत नहीं है' इन भिन्न-भिन्न समय उत्पन्न होने वाली प्रतीतियों के विषय भी भिन्न-भिन्न होंगे, तब इनमें बाध्य-बाधक भाव कैसे होगा ? इस पर उत्तर दिया गया कि

---

१. प्रतीतिमात्रशरीरत्वेन नियतकारणाजन्यत्वे श्रुतिषु स्वर्गाद्यर्थं ज्योतिष्टोमादिविधेः ब्रह्मसाक्षात्कारार्थं श्रवणादिविधेराकाशादेर्वाय्वादिहेतुत्वस्य चोक्तिरयुक्तेति चेत् - न, स्वाप्नकार्यकारणभावबोधकवाक्यवद् उपपत्तेः। अ० सि० पृ० ५३४॥

२. अथैवं घटादेः स्वज्ञानात् पूर्वमसत्त्वेन प्रतिकर्मव्यवस्थानुपपत्तिः, अधिष्ठानस्यापि शुक्तीदमंशस्य रूप्यादिवद् इदं रजतमिति ज्ञानात् प्रागसत्त्वेन संप्रयोगादिहेतुत्रयजन्यत्वरूपाध्यासतटस्थलक्षणस्य सत्यस्य वस्तुनो मिथ्यावस्तुसम्भेदावभास इत्यस्य स्वरूपलक्षणस्य चायोग इति—चेन्न, प्रतिकर्मव्यवस्थायाः सम्प्रयोगादिहेतुत्रयजन्यत्वरूपाध्यासतटस्थलक्षणस्य च मन्दाधिकारिविषयत्वात्। सत्यस्य वस्तुनो मिथ्यावस्तुसम्भेदावभास इति स्वरूपलक्षणं तु दृष्टिसृष्टिपक्षेऽप्यविरुद्धम् न हीदमंशावच्छिन्नं चैतन्यं न वस्तु। न वा मिथ्यारूपस्य तेन सह न सम्भेदावभासः।
वही, पृ० ५३४॥

३. ""इदं रूप्यमिति ज्ञानकाले शुक्तित्वस्याभावेऽपि तदज्ञानस्थित्यविरोधात्। न हि सत्ताकाल इव सत्ताविरहकालेऽपि अज्ञानं विरुध्यते। वहीं।

भिन्न होने पर भी दोनों प्रतीतियों के विषय समान रूप वाले हैं, अतः स्वाप्न बाध्य-बाधकों के समान यहाँ भी उपपत्ति होगी।[1]

जैसे शुक्ति में दिखने वाला रजत मिथ्या है, वैसे ही उसका बाध भी मिथ्या है, तब मिथ्या वस्तु से ही किसी मिथ्या का बाध कहना ठीक नहीं। इसका उत्तर है कि अधिककालीनता ही बाध में प्रयोजक है, उसके रहते प्रातिभासिक से भी प्रातिभासिक का बाध हो सकता है।[2]

सुषुप्ति, मूर्च्छा आदि में जीव-ब्रह्म-विभाग तथा संसार प्रतीत (ज्ञात) नहीं होता, तो दृष्टिसृष्टिपक्ष के अनुसार वह अविद्यमान हो हो जाता है यही कहना होगा, उसका अर्थ होगा सुषुप्ति आदि के समय मुक्ति ही हो जाना, फिर पुनः प्रबोध होने पर जीव, जगत् व ब्रह्म का विभाग ज्यों का त्यों (पूर्ववत्) प्रतीत होने लगता है, तब तो मोक्ष के पश्चात् भी पुनरावर्तन की सम्भावना बनी रही। इसका उत्तर दिया है कि जीव-ब्रह्म विभाग, अज्ञान इत्यादि अनादि वस्तु तथा नित्यवस्तु (ब्रह्म) दृष्टिसृष्टि नहीं है। नित्य तो सृष्ट है ही नहीं और अनादि अनादिकाल से ही है, दृष्टिसमकालीन नहीं। मोक्ष भी ब्रह्म-स्वरूप होने से दृष्टिसृष्टि नहीं।[3]

दृष्टिसृष्टिवादी के अनुसार केवल चैतन्यरूपा दृष्टिसृष्टि नहीं, किन्तु वृत्तिविशिष्ट चैतन्यरूपा या वृत्तिरूपा दृष्टि ही सृष्टि है, तो वह भी किसी अन्य की दृष्टि की सृष्टि है, इसी क्रम से अनवस्था होगी। इसके उत्तर में कहा है कि केवल चैतन्य को दृष्टि का अर्थ मानने से यद्यपि सृष्टि के दृष्टिसमसत्ताक होने के नाते घट आदि प्रपञ्च में नित्यता आपन्न होती है, तथापि वृत्त्युपहित चैतन्य ही दृष्टि शब्द का अर्थ है, और वृत्ति स्वयं ही उपाधि है, किसी अन्य की दृष्टि की सृष्टि नहीं। (इस वृत्ति व उससे विशिष्ट या उपहित चैतन्य का अभिप्राय ज्ञानमीमांसा में देखा जायेगा)।[4]

एक बड़ी आपत्ति उठती है कि 'यह वही घड़ा या वस्तु है' इस प्रकार की ऐक्य-प्रत्यभिज्ञा का दृष्टिसृष्टिपक्ष से विरोध होता है, क्योंकि पूर्वकाल में प्रतीत घट तो इस समय है नहीं, और यह एकता-प्रत्यभिज्ञा भ्रान्ति भी नहीं है, कोई बाधक न होने से। यदि बाधक

---

१. भिन्नविषयत्वेऽपि विषययोः सारूप्यात् स्वप्नबाध्यबाधकयोरिव बाध्यबाधकभावोपपत्तेः। वही।

२. बाध्यान्यूनसत्ताकत्वमेव बाधकत्वे प्रयोजकम्, नत्वधिकसत्ताकत्वम्''व्यावहारिकेण व्यावहारिकबाधवत् प्रातिभासिकेन प्रातिभासिकबाधाविरोधात्। वही।

३. जीवब्रह्मविभागादेरनादित्वेन दृष्टिसृष्टित्वानभ्युपगमस्योक्तत्वात्। न च सुषुप्तं प्रति संस्कारादेरप्यभावेन तस्य पुनः प्रबोधायोगः कारणात्मना संस्कारादेः सत्त्वात्। वही पृ० ५३४-३५।

४. चैतन्यमात्रस्य दृष्टित्वे यद्यपि तत्समानसत्ताकतया घटादेः सदातनत्वापत्तिः, तथापि वृत्त्युपहितचैतन्यमेव दृष्टिशब्दार्थः। वृत्तावपि वृत्तिरेव स्वरूपरूपा चैतन्योपाधिरिति नानवस्था। वही, पृ० ५३५।

के बिना भी क्षणभेद को लेकर इस प्रतीति का भ्रान्ति होना सम्भव हो तो घट आदि में प्रतिक्षण भेद तथा आत्मा में भी प्रत्येक क्षण भेद प्रसक्त होगा (बौद्धों के आलयविज्ञान के सदृश ही आत्मा का स्वरूप हो जायेगा)।

इसका उत्तर दिया गया कि—'यहाँ कुछ भी अनेक नहीं है' इत्यादि श्रुति द्वारा प्रपञ्च के मिथ्यात्व का निश्चय हो जाने पर रज्जु-सर्प आदि के समान प्रतिभासमात्र ही शरीर वाला होना, प्रतिभासकाल से अतिरिक्त काल में उस विषय की सत्ता रहने में बाधक है, अतः आत्मा से भिन्न एवं विभिन्न कालों से सम्बद्ध वस्तुओं में एकता की प्रत्यभिज्ञा भ्रान्ति ही है। और आत्मा में ऐक्यप्रतीति तथा एककालावच्छेद से (एक ही प्रतिभासकाल में वर्तमान) घट आदि में ऐक्यप्रत्यभिज्ञा भ्रान्ति नहीं है, क्योंकि इनके अभेद का कोई बाधक नहीं है। किन्तु एक ही क्षण में एक ही स्थान पर दो व्यक्तियों को प्रतीत घट आदि के एक होने की प्रतीति (जैसे 'राम के द्वारा देखे हुए घट को ही श्याम देख रहा है') भ्रान्ति है। क्योंकि प्रतिभास प्रत्येक व्यक्ति का पृथक्-पृथक् है। एक व्यक्ति के भ्रम से सिद्ध (बनी) वस्तु का दूसरे को ज्ञान नहीं हो सकता।[1]

३. सृष्टिदृष्टिवाद

(क) सामान्य निरूपण

यह जगत् ईश्वराश्रिता माया द्वारा रचित है, अथवा ईश्वर ने मायाशक्ति द्वारा इस जगत् को बनाया है। यह एक क्रमविशेष से उत्पन्न हुआ है, और उसी के विलोम क्रम से ईश्वर में ही लय हो जाता है। ईश्वर की ही सत्ता के आधार पर इसकी स्थिति रहती है।

जगत् की ज्ञात व अज्ञात सभी वस्तुयें अपनी-अपनी कारणसामग्री से उत्पन्न होती हैं, सभी पदार्थ अपने नियत समय पर उत्पन्न हुए रहते हैं, उनका ज्ञान कभी भी हो।

प्रपञ्च के आरम्भक छः पदार्थ अनादि माने गये हैं—(१) अधिष्ठानभूत ब्रह्मचैतन्य (२) ईश्वर (३) जीव (४) जीव व ईश्वर का भेद (५) अविद्या (६) अविद्या का विशुद्ध चैतन्य से सम्बन्ध। इनके अतिरिक्त समस्त जागतिक पदार्थ उत्पत्ति, विनाश, वृद्धि, क्षय इत्यादि विकारशील हैं।

---

१. ननु ऐक्यप्रत्यभिज्ञाविरोधः.........न, 'नेह नाने' त्यादिश्रुतिभिः प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वेऽवधृते रज्जुसर्पादिवत् प्रतिभासमात्रशरीरत्वमेव प्रतिभासकालातिरिक्तकालसत्त्वे बाधकम्, अतो भिन्नकालानामात्मभिन्नानां प्रत्यभिज्ञा भ्रान्तिः।......

वही, पृ० ५३५।

तीन प्रकार की सत्ता स्वीकार्य हैं, ब्रह्म की पारमार्थिक, जाग्रत् दशा में अनुभव में आने वाले प्रपञ्च की व्यावहारिक, एवं स्वप्न में तथा भ्रमस्थल पर दिखाई देने वाले पदार्थों की प्रातिभासिक सत्ता है। ऐसा मानने से तत्त्व का अद्वयत्व अक्षुण्ण रहते हुए ही, सांसारिक समस्त व्यवहार की समञ्जस व्याख्या हो सकती है, कहीं भी युक्ति-व्याघात नहीं होता।

(ख) उत्पत्ति व उत्पादक (सृष्टिदृष्टिवाद के अनुसार)

आचार्य गौड़पाद ने माण्डूक्यकारिका में कहा है कि जो भी पदार्थ विद्यमान होते हैं उनकी उत्पत्ति हुई है यह सुनिश्चित है। वीजात्मक प्राण ही सबकी उत्पत्ति करता है। इसकी व्याख्या में आचार्य शङ्कर ने श्रुतियुक्ति-सहित सिद्ध किया है कि समस्त पदार्थ अपनो उत्पत्ति के पहले प्राणात्मक वीज रूप से सत् थे। यह प्राण और कुछ नहीं ब्रह्म या आत्मा ही है।[1]

यह सृष्टि कहाँ से, क्यों व कैसे उत्पन्न हो गई ऐसी जिज्ञासा की कल्पना करके गौड़-पाद ने तत्कालीन चिन्तकों के मतों का संग्रह किया है। तदनुसार कोई ईश्वर की विभूति (विशेष रूप से होना) सृष्टि है—ऐसा मानते हैं। कोई सत्यसङ्कल्प सत्यकाम प्रभु (ईश्वर) की इच्छा को ही सृष्टि मानते हैं, कोई इसे काल से उत्पन्न मानते हैं, कोई इसे स्वप्न या माया (जादूनगरी) के समान मानते हैं। अन्त में स्वयं कहा है कि देव (ईश्वर) तो आप्तकाम है, उसे किसी प्रकार की स्पृहा क्यों होगी, सृष्टि उसका स्वभाव ही है।[2]

आत्मा अपनी माया से स्वयं ही इन सव पदार्थों की कल्पना करता है और वही इन सवको जानता है (जाने विना कल्पना नहीं की जा सकती)। आत्मा अपने भीतर विशेष (संस्कार या सूक्ष्म) रूप से अवस्थित सभी लौकिक, अपने से अन्य (—स्वरूप वाले=मिथ्या) पदार्थों को नाना रूप देता है, और फिर वहिश्चित्त (वाहर की ओर प्रवृत्तिशील) होकर पृथ्वी आदि नियत व अनियत पदार्थों की उनके नामों-सहित कल्पना करता है।[3]

वह सवसे पहले जीव की कल्पना करता है, वाद में पृथक्-पृथक् विविध वाह्य व आभ्यन्तर पदार्थों की कल्पना करता है।[4]

वास्तव में सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति गौड़पाद को मान्य नहीं, इसलिये उक्त प्रकार से सृष्टि की उत्पत्ति, कारण व क्रम आदि का उल्लेख (निरूपण) करने पर भी अन्त में यही

---

१. प्रभवः सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः।
सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंऽशून् पुरुषः पृथक् ॥ मां० का० १।६ ॥

२. मां० का० ७–९।

३. कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया।
स एव वुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः ॥
विकरोत्यपरान् भावानन्तश्चित्ते व्यवस्थितान्।
नियतांश्च वहिश्चित्त एवं कल्पयते प्रभुः ॥ वही २।१२–१३।

४. जीवं कल्पयते पूर्वं ततो भावान् पृथग्विधान्।
वाह्यानाध्यात्मिकांश्चैव यथाविद्यस्तथास्मृतिः ॥ वही २।१६।

कहा है कि नाना वस्तुओं की उपलब्धि (ज्ञान-विषयता) और व्यवहारादि व्यवस्था को देखते हुए जो लोग इन सब पदार्थों की सत्ता मानते हैं, एवं 'अजाति' (किसी का भी कभी भी उत्पन्न न होना) में सन्दिग्ध हैं (संशय रखते हैं) उनके लिये ही तत्त्वज्ञों ने 'जाति' (पदार्थों को उत्पत्ति) का उपदेश किया है।[1]

आचार्य शङ्कर ने शारीरकभाष्य में सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान् ब्रह्म को जगत् का कारण कहा है। ब्रह्म शब्द से यहाँ ईश्वर ही अभिप्रेत है, ऐसा रत्नप्रभाकार ने स्पष्ट कर दिया है।[2] फिर ईक्षत्यधिकरण में[3] जगत्-सृष्टि के प्रति ईक्षणकर्तृत्व किसमें है—इस विषय पर सांख्य मत के विरोध में भाष्यकार ने भी सिद्ध किया है कि ईक्षण (सङ्कल्प–) कर्त्ता जड़ प्रधान नहीं, चेतन ईश्वर हीं है। वही जगत् का कारण है।

किसी कार्य के प्रति प्रमुख दो कारण होते हैं—एक उपादान, जो उस कार्य के रूप में परिणत होता है और दूसरा निमित्त, जो उपादान का उपयोग करते हुए कार्य की रचना करता है। जगद् रूपी कार्य के प्रति ये दोनों कारण कौन-कौन हैं, इस विषय में शारीरकभाष्य में प्रकृत्यधिकरण[4] में ब्रह्म (ईश्वर) को ही जगत् का उपादान व निमित्त दोनों होना सिद्ध किया गया है। इसके लिये प्रमुख प्रमाण बनाया है श्रुतियों को। तदनुसार श्रुति में किसी एक के ज्ञान से सबका ज्ञान होना कहते हुए ब्रह्मवस्तु का निरूपण आरब्ध है। यह एक के ज्ञान से सबका ज्ञान तभी सम्भव है यदि वह एक 'सबका' उपादान हो क्योंकि उपादान ही अपने कार्यों में सर्वदा रहता है, जैसे घड़ा सकोरा आदि में मिट्टी। निमित्त कारण सर्वदा कार्य का अन्वयी नहीं होता जैसे कुम्हार के बिना भी घड़ा आदि देखे जाते हैं। अतः ब्रह्म को जगत् का उपादान मानने पर ही श्रौत प्रतिज्ञा सार्थक होती है।[5] 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते……'[6] में 'यतः' शब्द की पञ्चमी विभक्ति का अर्थ प्रकृति (उपादान कारण) है,

---

१. उपलम्भात् समाचारादस्तिवस्तुत्ववादिनाम्।
जातिस्तु देशिता बुद्धैरजातेस्त्रसतां सदा॥ वही ४।४२।

२. अस्ति तावद् ब्रह्म……सर्वज्ञं सर्वशक्तिमच्च। ब्र० शां० भा०, पृ० ३०।
पूर्वोक्तसर्वज्ञत्वादिविशेषणकमीश्वरं मुक्त्वा जगत उत्पत्त्यादिकं न सम्भवतीति…।
र० प्र०, पृ० १०८।

३. ब्र० सू० १।१।५-११।

४. वही, १।४।२३-२७।

५. प्रकृतिश्चोपादानकारणं च ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निमित्तकारणं च। न केवलं निमित्तकारणमेव। प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधात्।…प्रतिज्ञा तावत् 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवति…' (छा० ६।१।२) इति। तत्र चैकेन विज्ञातेन सर्वमन्यदपि विज्ञातं भवतीति प्रतीयते। तच्चोपादानकारणविज्ञाने सम्भवति उपादानकारणाव्यतिरेकात् कार्यस्य। निमित्तकारणाव्यतिरेकस्तु कार्यस्य नास्ति, लोके तक्षणः प्रासादव्यतिरेकदर्शनात्। ब्र० शां० भा० १।४।२३, पृ० ३२९।

६. तै० उ० ३।१।१।

फिर 'उसने कामना की'[1] में कर्तृत्व, 'मैं बहुत हो जाऊँ'[2] में भी प्रकृतित्व कहा होने से आत्मा ही जगत् का कर्त्ता तथा प्रकृति दोनों है। और भी अनेक श्रुतियों से, व ब्रह्म में ही जगत् की उत्पत्ति-स्थिति व लय कही जाने से ब्रह्म में ही उभयकारणता सिद्ध होती है।

उपसंहारदर्शनाधिकरण में[3]—अद्वितीय ब्रह्म से ही जगत् रूपी नाना वैचित्र्यपूर्ण रचना नहीं हो सकती, क्योंकि जगत् में कुम्हार आदि किसी कार्य की उत्पत्ति के लिये दण्ड, चाक, मिट्टी आदि उपकरण जुटा कर ही घट आदि बनाते हैं, ब्रह्म में यह सम्भव नहीं—ऐसी आशङ्का उठाकर कहा गया है कि 'उसका न कोई कार्य है न कारण'[4] आदि श्रुतियों के अनुसार वह अकेला ही सर्वसमर्थ है, उसकी सामर्थ्य में वैचित्र्य-प्रयोजकत्व की अभिव्यञ्जिका है अविद्याशक्ति। जैसे दूध स्वयं ही दही बन जाता है, जल उपल बन जाता है, वायु या अग्नि या मिट्टी कभी दही या हिम नहीं बन सकते, चाहे जितने प्रयोजक साधन हों। इससे स्पष्ट होता है कि दूध में ही दही होने का सामर्थ्य है, उसी प्रकार ब्रह्म में जो जगत् भी हो सकने का सामर्थ्य है, वही उसकी अविद्याशक्ति है, उससे अतिरिक्त किसी उपकरण की ब्रह्म को अपेक्षा नहीं। इसी की सिद्धि में फिर मकड़ी, पद्मिनी आदि द्वारा अपनी सामर्थ्य-मात्र से उत्पत्ति व उत्पादकता का दृष्टान्त दिया है।[5]

इस पर प्रश्न उठता है कि ब्रह्म तो निरवयव वस्तु है, यदि उसमें जगत् हो सकने का सामर्थ्य है, और उसके लिये किसी अन्य प्रयोजक की अपेक्षा नहीं है, जैसा कि जल स्वयं ही हिम हो जाता है, तो–क्योंकि जगत् अनुभव में आ रहा है तो सम्पूर्ण ब्रह्म ही जगत् बन गया है—ऐसा मानना होगा। किसी अंश से वह जगत् है और किसी अंश से ब्रह्म ही है यह तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि श्रुति ने ही ब्रह्म को निरवयव बताया है।

इस आपत्ति की आशङ्का करके भाष्यकार ने समाधान किया है कि श्रुति में जैसे जगत् की ब्रह्म से उत्पत्ति वर्णित है वैसे ही, विकार से भिन्न रूप से ब्रह्म की नित्य अवस्थिति भी श्रुति में कही गई है, प्रकृति (कारण) तथा विकृति (कार्य) का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है, और दोनों स्थितियों की युगपत् सम्भावना श्रुति ने ही स्पष्ट कही है।[6]

---

१. वही २।६।१।

२. छा० उ० ६।२।३।

३. ब्र० सू० २।१।२४–२५।

४. श्वे० ६।८।

५. स्वयमपि हि क्षीरं यां च यावतीं च परिणाममात्रामनुभवति तावत्येव त्वर्यते त्वौष्ण्यादिना दधिभावाय। यदि च स्वयं दधिभावशीलता न स्यात् नैवौष्ण्यादिनाऽपि बलाद्दधिभावमापद्येत। नहि वायुराकाशौ वौष्ण्यादिना बलाद्दधिभावमापद्येते। साधनसामग्र्या च तस्य पूर्णता सम्पाद्यते। परिपूर्णशक्तिकं तु ब्रह्म। न तस्यान्येन केनचित् पूर्णता सम्पादयितव्या।

ब्र० शां० भा० २।१।२४ पृ० ३८५।

६. न तावत् कृत्स्नप्रसक्तिरस्ति। कुतः ? श्रुतेः। यथैव हि ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिः श्रूयते,

इसके अतिरिक्त ब्रह्म में उभयकारणता तथा इस कारण–रूप से पृथक् भी रहने की सिद्धि में युक्तियाँ भी दी हैं, जिनमें कुछ श्रुतियों पर ही आधारित हैं, और कुछ स्वतन्त्र हैं। कहा है कि (१) श्रुति में हृदय ब्रह्म का स्थान कहा गया है और सुषुप्ति में जीव का ब्रह्म ('सत्') के साथ एक हो जाना कहा गया है, यदि सम्पूर्ण ब्रह्म कार्य (जगत्) रूप में परिणत हो जाय तो उक्त बातें सम्भव नहीं, क्योंकि जीव रूप विकृत ब्रह्म तो सदा प्राप्त है, यदि तब अविक्रिय ब्रह्म हो ही नहीं तो जीव किसके साथ एक होगा।[1]

(२) श्रुति ही ब्रह्म (के होने) में एकमात्र प्रमाण है और वही ब्रह्म का कार्यरूप होना तथा निरवयव होना दोनों कहती है। यह विरुद्ध नहीं है, क्योंकि लौकिक मणि-औषधि आदि की शक्तियाँ भी काल व निमित्त की विलक्षणता से परस्पर विरुद्ध अनेक कार्य करती देखी जाती हैं, उनमें भी केवल तर्क से यह नहीं ज्ञात होता कि इस वस्तु की इतनी ही शक्तियाँ हैं, ये इनके सहायक हैं—इत्यादि; तो अचिन्त्य प्रभाव वाले ब्रह्म के सामर्थ्य का तर्क द्वारा निरूपण कैसे हो सकता है।[2]

(३) और फिर विरोध इसलिये भी नहीं है कि ब्रह्म में विक्रिय (परिणामी–उपादान) व अविक्रिय (विशुद्ध) रूपभेद वास्तविक नहीं, किन्तु अविद्याकल्पित रूप-भेद से वस्तु सावयव नहीं हो जाती। जैसे तिमिर रोग से नेत्र का प्रकाश दूषित होने पर चन्द्रमा अनेक दिखाई पड़ते हैं, किन्तु वास्तव में चन्द्रमा अनेक नहीं होता। ऐसे ही अविद्या-कल्पित नाम-रूप-भेद वाग्विलास मात्र हैं, तत्त्वतः कुछ नहीं है, ब्रह्म की निरवयवता की इससे क्षति नहीं होती।[3]

(४) अपने स्वरूप के हटे विना ही एक अद्वितीय ब्रह्म में नाना वैचित्र्यमयी सृष्टि कैसे हो सकती है, इसका सरल सा दृष्टान्त है—स्वप्नद्रष्टा।[4],

---

एवं विकारव्यतिरेकेणापि ब्रह्मणोऽवस्थानं श्रूयते। प्रकृतिविकारयोर्भेदेन व्यपदेशात् 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२)...। वही २।१।२७, पृ० ३८८।

१. तथा हृदायतनत्ववचनात् सत्सम्पत्तिवचनात् च। यदि कृत्स्नं ब्रह्म कार्यभावेनोपयुक्तं स्यात् 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छा० ६।८।१) इति सुषुप्तिगतं विशेषणमनुपपन्नं स्यात् विकृतेन ब्रह्मणा नित्यसम्पन्नत्वादविकृतस्य च ब्रह्मणोऽभावात्।... वही, पृ० ३८८-८९।

२. शब्दमूलं च ब्रह्म शब्दप्रमाणकं.........शब्दश्चोभयमपि ब्रह्मणः प्रतिपादयत्यकृत्स्नप्रसक्तिं निरवयवत्वं च। लौकिकानामपि मणिमन्त्रौषधिप्रभृतीनां देशकालनिमित्तवैचित्र्याच्छक्तयो विरुद्धानेककार्यविषया दृश्यन्ते....किमुताचिन्त्यस्वभावस्य ब्रह्मणो रूपं विना शब्देन न निरूप्येत। वही, पृ० ३८९।

३. अविद्याकल्पितरूपभेदाभ्युपगमात्। ह्यविद्याकल्पितेन रूपभेदेन सावयवं वस्तु सम्पद्यते। न हि तिमिरोपहतनयनेनानेक इव चन्द्रमा दृश्यमानोऽनेक एव भवति। वही, पृ० ३८९-९०।

४. यत आत्मन्यप्येकस्मिन् स्वप्नदृशि स्वरूपानुपमर्देन वानेकाकारा सृष्टिः पठ्यते......। ब्र० शां० भा० २।१।२८, पृ० ३९०।

(५) निर्गुण होने पर भी ब्रह्म में सभी धर्मों की उपपत्ति है इसीलिये वह जगत् का कारण हो सकता है। यद्यपि सभी पदार्थों के सुख-दुःख-मोहात्मक होने से त्रिगुणात्मक प्रकृति (सांख्याभिमत) में जगत् का कारण होना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है, तब भी अचेतन (जड़) प्रकृति में इस चराचर (जड़-चेतन-मिश्र) जगत् की रचना का सामर्थ्य युक्तियुक्त न होने से चेतन ब्रह्म ही जगत् का कारण है।[1]

आचार्य शङ्कर द्वारा ब्रह्म में जगत् के प्रति उभयकारणता की इतनी व्याख्या होने पर भी कदाचित् यह संशय दूर नहीं होता कि वह जगत् का निमित्त व आधार भले ही हो पर उपादान कैसे होगा ? उपादान तो उपादेय (कार्य) के समान ही गुण-धर्म वाला देखा जाता है, ब्रह्म के तो कल्पित गुण-धर्म भी जगत् से विपरीत हैं। इस पर सुरेश्वर ने बृह० भाष्य-वार्तिक में कहा है कि ब्रह्म का अज्ञात याथात्म्य (तत्त्वतः ब्रह्म जो है उसका ज्ञान न होना) ही जगत् का उपादान है।[2] अथवा जगत् का वास्तविक उपादान है अज्ञान, उसका आश्रय होने से ब्रह्म में भी वही व्यवहार होता है।[3]

ब्रह्म जगत् का उपादान भी है कहने में, ब्रह्म के अंशतः परिणामी होने के विरोध का आचार्य शङ्कर ने दो प्रकार से समाधान किया था—मकड़ी के दृष्टान्त से तथा ब्रह्म को अचिन्त्य प्रभाव वाला कहकर। उससे उक्त संशय को पूरी तरह समाहित न देखकर, अथवा किसी भी प्रकार की परिणामशीलता ब्रह्मतत्त्व में सहन न करके, आचार्य के अभिप्राय को वास्तव में परिणाम-साधक न देखते हुए, प्रकाशात्मा ने पञ्चपादिका-विवरण में कहा है कि जगत् के रूप में ब्रह्म परिणत नहीं होता, बल्कि विवर्तित होता है। एक ही वस्तु का अपने तत्त्व से प्रच्युत न होते हुए पहले से विपरीत, असत्य, अनेक रूपों में अवभास या प्रतीत होना विवर्त है। अतएव जगत् की वर्तमानता से ब्रह्म के स्वरूप में कोई हानि या अन्तर नहीं आता, न ही उसमें कल्पित भी अंश मानने पड़ते हैं। इस विवर्त का आधार होना ही ब्रह्म की उपादानता है।[4] तथा अनिर्वचनीय माया से विशिष्ट रूप से ब्रह्म जगत् का उभयकारण है, यहाँ रज्जु के प्रति संयुक्त सूत्रद्वय के समान मायाविशिष्ट ब्रह्म जगत् के

---

१. वही २।१।२९-३० ॥

२. तत्समुद्रं परं ब्रह्म संविन्मात्रसतत्त्वकम् ।
अविज्ञातात्मयाथात्म्यं हेतुत्वेनेह शब्द्यते ॥
इदं जगदुपादानं सर्वशक्त्यजमव्ययम् ।
स्वात्मैकाज्ञानवृत्तेन ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ बृ० भा० वा० १।२।१२५-२६ ॥

३. अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम् ।
अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते ॥ वही १।४।३७१ ॥

४. एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य पूर्वविपरीतासत्यानेकरूपावभासो विवर्तः।'''व्यवस्थित ब्रह्मवाक्यैरेकवाक्यत्वात् तत्स्वरूपापरित्यागेनैव कार्यरूपापत्तिर्ब्रह्मणो ब्रुवाणा (सृष्टि-श्रुतिः) विवर्तमेव दर्शयति ।'''' पं० पा० वि०, पृ० ६५३–५५ ।

प्रति कारण है, अथवा माया शक्ति से युक्त (सहकृत) ब्रह्म कारण है, या जगत् की उपादानभूता माया का आश्रय होने से ब्रह्म कारण है—तीनों प्रकार से कहा जा सकता है।[1]

(ग) जगत् का उत्पत्तिक्रम

ईश्वर-रचित जगत् किस प्रकार व किस क्रम से उत्पन्न हुआ, अथवा ब्रह्म व अविद्या के सान्निध्य से यह सचराचर स्थूल जगत् किस प्रकार रूपायित हुआ इसका विचार उठने पर आचार्य शङ्कर ने औपनिपद विचार को एकत्र व्यवस्थित रूप देते हुए पञ्चीकरण-प्रक्रिया की व्याख्या की है, वही सम्पूर्ण अद्वैत सम्प्रदाय में अपरिवर्तित भाव से स्वीकृत रही है। वह आचार्य शङ्कर के 'पञ्चीकरण' नामक लघु ग्रन्थ में सविस्तर स्पष्ट प्रतिपादित है, वाद के ग्रन्थों में कहीं, कभी उद्धृत होती हुई सदानन्द यति व गङ्गाधरेन्द्र सरस्वती (दोनों १८ वीं शताब्दी) के ग्रन्थों—क्रमशः वेदान्तसार व स्वाराज्यसिद्धि में पुनः सविस्तर व्याख्यात हुई है।

अविद्या का मूलतत्त्व से द्विविध सम्पर्क है। समष्टि रूप से, माया नाम से, उपाधि वनकर वह ब्रह्म को ईश्वर-संज्ञक वनाती है, और व्यष्टि रूप से उपाधि होकर ब्रह्म को जीव वनाती है। यह व्यष्टि अविद्या जीव का कारण शरीर, आनन्दमय कोश व सुषुप्तिस्थान है। यहाँ जीव की संज्ञा 'प्राज्ञ' है।

मायोपाधिक ईश्वर में 'मैं अनेक होकर उत्पन्न होऊँ' ऐसे सङ्कल्प या 'ईक्षण' रूपी वृत्ति उदित होती है। इससे सबसे पहले सूक्ष्म पञ्चभूत या तन्मात्र उत्पन्न होते हैं। ये त्रिगुणात्मक हैं, माया के कार्य होने से। सत्त्वगुण-प्रधान इन पञ्चतन्मात्राओं (आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी) से पृथक्-पृथक् क्रमशः पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण) उत्पन्न होती हैं। मिलित पञ्चतन्मात्राओं के सात्त्विक अंश से अन्तःकरण (मन, बुद्धि) उत्पन्न होता है। रजोगुणप्रधान आकाश आदि से पृथक्-पृथक् एक-एक से क्रमशः पाँच कर्मेन्द्रिय, मिलित से पाँच वायु या प्राण उदित होते हैं। इन सबसे मिलकर (सप्तदश अवयवों वाला) परलोकयात्रा का निर्वाहक, मोक्ष पर्यन्त स्थायी लिङ्गशरीर उत्पन्न होता है। यह 'पर' व 'अपर' भेद से दो प्रकार का है। 'पर' हिरण्यगर्भ (प्रथम जीव, प्रमुख जीव, समष्टि जीव) का शरीर है, वही महत् भी कहलाता है। 'अपर' व्यष्टि जीवों के 'अहं-भाव' का आश्रय है। अर्थात् 'अपर' लिङ्गशरीर व्यष्टिजीवों का है।

इस लिङ्ग शरीर में से ज्ञानेन्द्रिय व बुद्धि मिलकर विज्ञानमय कोश है, जो ज्ञानशक्तिमान् है। ज्ञानेन्द्रिय व मन मिलकर मनोमय कोश है, जो इच्छाशक्तिमान् है। कर्मेन्द्रिय व प्राण मिलकर प्राणमय कोश है, जो क्रियाशक्तिमान् है। लिङ्गशरीर जीव का स्वप्नस्थान है।

---

१. ...तस्मादनिर्वाच्यमायाविशिष्टं कारणं ब्रह्मेति प्राप्तम्। त्रैविध्यमत्र सम्भवति रज्ज्वाः संयुक्तसूत्रद्वयवद् मायाविशिष्टं ब्रह्म कारणमिति वा, 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इति श्रुतेः मायाशक्तिमद् ब्रह्म कारणमिति वा, जगदुपादानमायाश्रयतया कारणमिति वेति। वही, पृ० ६५२, वि० प्र० सं०, पृ० ६८४।

तन्मात्राओं का पञ्चीकरण होकर (प्रत्येक तन्मात्र का पहले दो भागों में विभाजन, प्रत्येक के आधे खण्ड का पुनः चार-चार भागों में विभाजन, एक तन्मात्र के आधे खण्ड के साथ अन्य चार तन्मात्रों के अष्टमांश मिलकर) पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं, जिनमें क्रमशः एक से लेकर पांच तक गुण प्रकट रहते हैं। (आकाश में केवल शब्द, वायु में शब्द व स्पर्श, अग्नि में शब्द, स्पर्श व रूप, जल में उक्त तीन तथा रस, पृथ्वी में उक्त चार तथा गन्ध)।

इन महाभूतों से चौदह लोकों का ब्रह्माण्ड तथा चार प्रकार के (स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज, जरायुज) स्थूल शरीर अन्नमय कोश हैं। इनमें भी व्यष्टि-समष्टि भाव लेकर, समष्टि स्थूल शरीर के अभिमानी चैतन्य को वैश्वानर या विराट् संज्ञा दी गई है। और व्यष्टिस्थूल शरीर के अभिमानी चैतन्य को विश्व कहा गया है। यह स्थूल शरीर जीव का जाग्रत्-स्थान है।

इन सृष्ट पदार्थों में से पंचतन्मात्र द्विविध लिङ्गशरीर तथा हिरण्यगर्भ के स्थूल शरीर की उत्पत्ति में ईश्वर का साक्षात् कर्तृत्व है, इतर प्रपञ्च की उत्पत्ति में हिरण्यगर्भ द्वारा, ऐसा एक मत है। जिसका आधार है—**'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'** यह श्रुति।

(घ) प्रतिकर्मव्यवस्था

ये आकाशादि भूत, लोक, घट-पट आदि स्थूल भौतिक पदार्थ जो यथायोग्य कार्य-कारणभाव से युक्त हैं, प्रत्यक्ष-अनुमान आदि प्रमाणों से सिद्ध हैं, ब्रह्म-ज्ञान से पहले तक अनुभव में आते हैं—ये परमार्थतः सत् ब्रह्म में कल्पित रूप से आश्रित, व उसी को विषय करने वाले, अथवा जीव में आश्रित रहते हुए ब्रह्म को विषय करने वाले, विविधशक्तिशाली, त्रिगुणात्मक, प्रवाह के सदृश अनादि, सदसद्विलक्षण, एक व अनेक अज्ञान के परिणाम हैं, क्योंकि इन पदार्थों की सत्ता उस अज्ञान की सत्ता के समान है। यही आकाश आदि प्रपञ्च परमार्थ सत्, सभी कुछ के अधिष्ठान ब्रह्म का विवर्त है, क्योंकि उससे विषम सत्ता वाला है।

ऐसी स्थिति में जब जिस व्यक्ति के इन्द्रिय-सन्निकर्ष से जिस वस्तु को विषय करने वाली वृत्ति उदित होती है, तब उस वृत्ति द्वारा उस विषय से अवच्छिन्न चैतन्य के आवरण का भङ्ग होता है, तब उस विषय का उस व्यक्ति को ज्ञान होता है, अन्य विषय, अन्य समय, अन्य व्यक्ति के ज्ञान का कर्म नहीं बनता। जिस लिङ्गशरीर से अवच्छिन्न चैतन्य अन्तःकरण से आध्यासिक तादात्म्य के कारण, जो-जो कर्म करने का अभिमान करता है, उसी लिङ्गशरीर से अवच्छिन्न चैतन्य को उन-उन कर्मों के फल का भोग करना होता है। किसी के द्वारा किये गये कर्म का फल किसी दूसरे को नहीं भोगना पड़ता। इस प्रकार प्रतिकर्मव्यवस्था बिना किसी बाधा के उपपन्न होती है। इसी से, एक ही घट-पट आदि के बहुत समय तक स्थित रहने से एक ही विषय का अनेक द्रष्टाओं द्वारा देखा जाना, अनायास सम्भव होता है। बौद्धों के अभिमत क्षणिकवाद का, प्रत्यभिज्ञा से सूचित वस्तु-स्थायित्व को आधार बनाकर, खण्डन करने वाले सूत्र, भाष्य आदि सृष्टिदृष्टिवाद में ही समञ्जस होते हैं।

इन परिच्छेदों में अद्वैत-वेदान्त-सम्मत तत्त्वमीमांसा (वस्तुतः तत्त्व क्या है, कैसा है; अनुभूयमान स्थिति क्या है व क्यों है) की एक स्थूल रूपरेखा प्रस्तुत हुई; जिसे आधार बनाते हुए आगामी ६ परिच्छेदों में ज्ञान-सम्बन्धी समग्र विचार (—ज्ञान तत्त्वतः क्या है ? स्वरूपतः क्या और कैसा है ? कितने प्रकार का है ? ज्ञान का प्रयोजन क्या है ? क्षेत्र कहाँ तक है ? पर्यवसान कहाँ है ?—इत्यादि विश्लेषण—) किया जायेगा।

—: o :—

प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले।
प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रभो॥

एतन्नानाविधं विश्वमात्मसृष्टमधोक्षज।
आत्मनाऽनुप्रविश्यात्मन् प्राणो जीवो बिभर्ष्यजः॥

त्वय्यव्ययात्मन् पुरुषे प्रकल्पिता
लोकाः सपाला बहुजीवसङ्कुलाः।
यथा जले सञ्जिहते जलौकसो-
ऽप्युदुम्बरे वा मशका मनोमये॥

विश्वोद्भवस्थाननिरोधकर्म ते
विकर्तुरङ्गीकृतमप्यपावृतः।
युक्तं न चित्रं त्वयि कार्यकारणे
सर्वात्मनि व्यतिरिक्ते च वस्तुनः॥

त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान् विभो
वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात्।
त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुद्ध्यते
त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः॥

कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्तात्
चेतोऽलिवद् यदि नु ते पदयोः रमेत।
वाचश्च नस्तुलसिवद् यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः
पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः॥

ॐ

द्वितीय पक्ष--ज्ञानमीमांसा
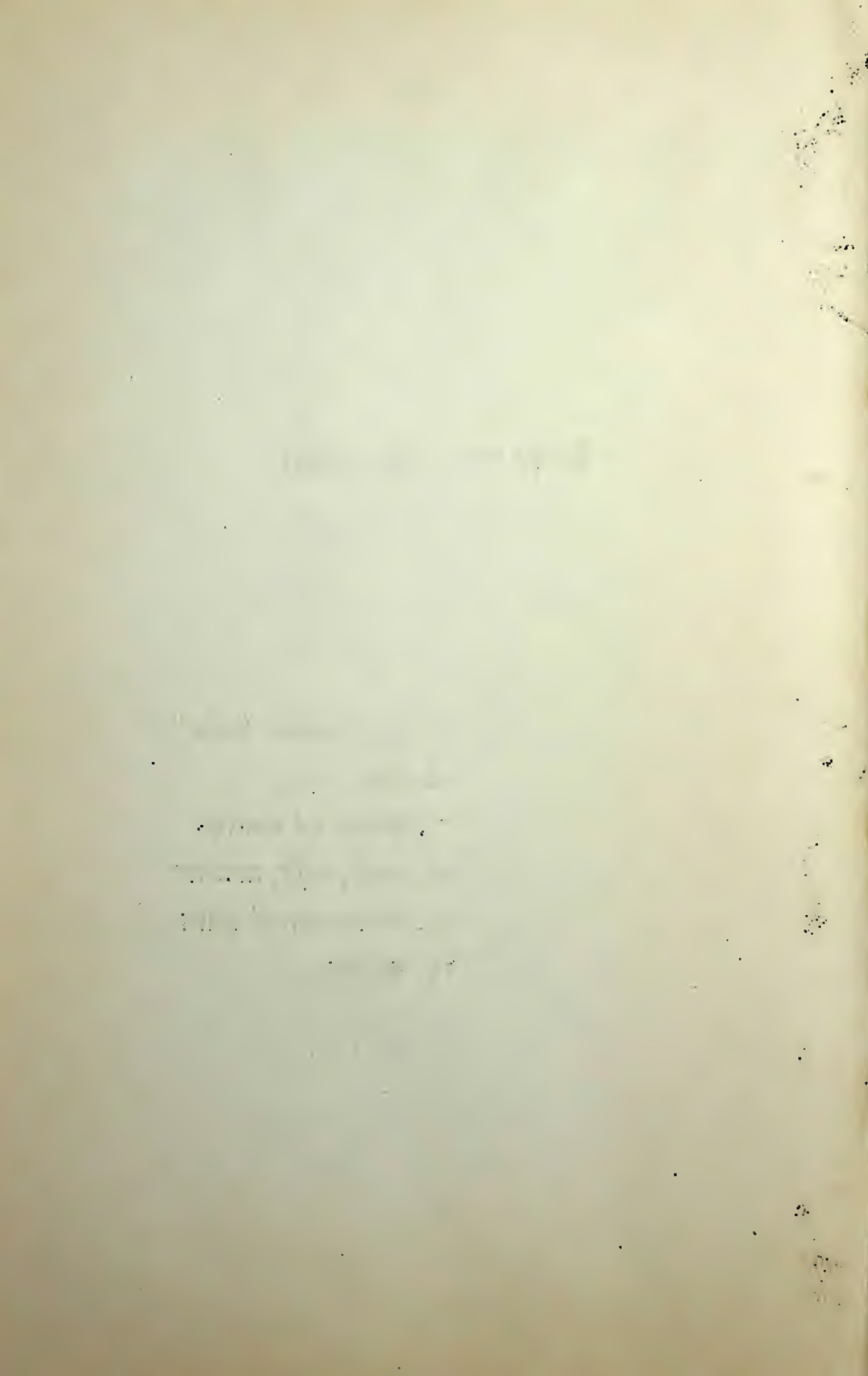
सप्तम परिच्छेद

ज्ञान (सामान्य विचार)

१. विषय-प्रवेश

पारमार्थिक दृष्टि से एक ही तत्त्व है, जो सजातीय, विजातीय, स्वगत भेदों से रहित है, सत्य है, चैतन्य है, आनन्द है, निर्गुण है, निष्क्रिय है, असङ्ग है, अव्यपदेश्य है, अपनी ही महिमा में स्वयं स्थित है। वहाँ विचार का अवकाश नहीं। क्योंकि विचार के लिए विचारक तथा विचार्य की अपेक्षा है। इन दोनों की स्थिति एक अनिर्वचनीय भूल की रचना है, जिसके कारण 'अव्यपदेश्य' ही विचारक तथा विचार्य रूप से सजा है। विचार्य द्विविध हैं, एक अव्यपदेश्य का वास्तविक स्वरूप, दूसरा अनिर्वचनीय भूल (अविद्या) द्वारा दिखाया जाता हुआ विपरीत रूप। विचार का क्षेत्र है व्यवहार दशा, जिसमें दो प्रकार की वस्तुयें तो नियत हैं—एक विचारक स्वयं तथा उसकी कोटि के अन्य चेतन अनुभविता, दूसरा अनन्त पदार्थों से भरा जगत्, जिसमें वह रहता है, जीवन धारण करता है, 'विचारक' बन पाया है। विचार का आरम्भ होता है इस प्रश्न को लेकर कि विचारक स्वयं कौन है ? उसका परिवेश रूप यह जगत् क्या है ? तथा इन दोनों में सम्बन्ध क्या है व कब तक है ? तत्त्वमीमांसा से उत्तर मिलता है कि क्योंकि तत्त्व एक ही है, (जिसे कहना ही हो तो 'ब्रह्म' कहा जा सकता है) अतः विचारक भी उस तत्त्व से पृथक् नहीं, उसका परिवेष नानात्मक है। सत्य एक है अतः नाना को मिथ्या मानना होगा। इस परिवेष का भी तत्त्व वह एक ही है, उसी की सत्यता से यह स्थित है, उसी के चैतन्य से यह प्रकाशित है, प्रवृत्तिशील है। इस परिवेष से विचारक का सम्बन्ध भी फिर उस एक तत्त्व से पृथक् कुछ और नहीं हो सकता। स्थूल रीति से कहें तो इन दोनों में सम्बन्ध यही है कि एक ही तत्त्व से ये दोनों अनुप्राणित हैं, प्रकाशित हैं। किन्तु इतने से अन्तिम प्रश्न का पूरा समाधान नहीं होता, क्योंकि एक ही आधार पर स्थित होने से अतिरिक्त भी कुछ सम्बन्ध इन दोनों में परस्पर दिखाई देता है, कुछ ऐसा सम्बन्ध कि एक के बिना दूसरे की कोई सार्थकता नहीं, स्थिति ही नहीं, यह कहना भी असत्य नहीं। वह सम्बन्ध है एक (चेतन) पक्ष द्वारा दूसरे (अचेतन) का उपयोग, व्यवहार। इसके भी मूल में है एक के द्वारा दूसरे का जाना जाना; एक के प्र.त दूसरे का प्रकट होना। इस प्रकार 'जानना' ही वास्तव में तृतीय प्रश्न का उत्तर है। यह 'जानना' ही विचार का उत्स है। अतः 'जानना' क्या है—यही विचार का सर्वप्रथम विषय भी होने योग्य है।

अद्वैतवेदान्त की तत्त्वमीमांसा से एक सुनिश्चित निर्णय प्राप्त हुआ कि तत्त्व एक ही है। उसके स्वरूप का एक परिचय या पक्ष यह है कि वह चैतन्य है, ज्ञान है, ज्योतिः है। यहाँ

विचारक व परिवेष में संयोजक-रेखा या सेतु भी 'ज्ञान' नाम से ही जाना गया, कि विचारक कोटि का पक्ष परिवेशकोटि के पदार्थों को जानता है, तव उनका उपयोग या त्याग आदि करता है, यही इन दोनों में सम्वन्ध है। अव प्रश्न उठता है कि (१) एकमात्र तत्त्व का स्वरूपभूत ज्ञान तथा विचारक व परिवेष का सम्वन्धभूत ज्ञान क्या एक हीं वस्तु है ? (२) परमतत्त्व तथा विचारक-परिवेष (जीव-जगत्) की वस्तुता में जितना-सा (पारमार्थिक व व्यावहारिक होने का) अन्तर है वह भी इन स्वरूप व सम्वन्ध-रूप ज्ञानों में है या नहीं ? (३) जो तत्त्व विचारक व परिवेष के अस्तित्व की भित्ति है, वही क्या इन दोनों में परस्पर उक्त सम्वन्ध की भी भित्ति है ? तथा (४) अनिर्वचनीय भूल से रचित इन दोनों (जीव-जगत्, चेतन-चैत्य) के अधिष्ठान रूप से गूढ़ (छिपा हुआ स्थित) एक तत्त्व ही क्या इनके परस्पर सम्बन्ध (ज्ञातृ-ज्ञेय भाव के घटक ज्ञान) रूप में प्रकट है ?—इन सभी प्रश्नों के उत्तर स्वीकारात्मक हैं, यह प्रस्तुत परिच्छेद में देखा जायेगा।

२. ज्ञान का स्तर-विभाग

(क) नित्य व अनित्य ज्ञान

ज्ञान के प्रमुख दो रूप हैं—एक परमतत्त्व का चित्पक्ष, दूसरा दैनिक जीवन में अनुभव में आने वाला उत्पत्ति-नाश से युक्त ज्ञान।[1] इन्हें नित्य व अनित्य अथवा स्वरूपभूत (अजन्य) तथा जन्य ज्ञान भी कहा जाता है। वास्तव में ज्ञान का अर्थ चैतन्य ही है, जो परमतत्त्व का स्वरूप है। किसी का कार्य न होना उसमें निसर्गसिद्ध है, क्योंकि वह स्वयंप्रकाश है, वह किसी क्रिया का फल नहीं है। द्वितीय है ज्ञान का व्यावहारिक रूप, जिसमें एक-एक वस्तु का ज्ञान उत्पन्न होना व समाप्त होना चलता रहता है। एक क्षण में एक व्यक्ति एक ही वस्तु को जानता है, उसका ज्ञान वीतने पर दूसरी को। पर वास्तव में तो ज्ञानवस्तु (अखण्ड चैतन्य-परमतत्त्व) में अनित्यता किसी भी प्रकार सम्भव नहीं। ऐसी स्थिति में ज्ञान में अनित्यता व अनेकता के अनुभव तथा व्यवहार के प्रयोजक का सन्धान प्रकृत ज्ञान वस्तु की किसी अनित्यता व अनेकता की सम्भावना से युक्त उपाधि की कल्पना करवाता है, ठीक वैसे ही जैसे परमतत्त्व की अद्वयता का व्यावहारिक नानात्मक जगत् के अनुभव से विरोध, नानात्व तथा विपरीतता वना सकनेवाली अविद्या का कल्पक वना है। ज्ञान में जन्यता व अनित्यता लानेवाली उपाधि भी अविद्या व उसके कार्य का ही एक रूप-विशेष है, जिसे वृत्ति नाम दिया

१. दृष्टिर्द्विधा पारमार्थिकी अपारमार्थिकी च। तत्र पारमार्थिकी दृष्टिरात्मनः स्वरूपम् —अन्या शब्दाद्याकारनिर्भासवती जन्मविनाशवती च। नै० सि० चं० पृ० ९०।

गया है। इस का स्वरूप-विश्लेषण होने पर देखने में आयेगा कि ज्ञान को उसके तात्त्विक स्वरूप से इतर अन्य सभी आकार देने की भित्ति यह वृत्ति-वस्तु ही है। ज्ञान-विश्लेषण प्रसङ्ग में उठने वाले सभी प्रश्नों की समाधायिका भी यही है, तथा इसका सम्यक् विश्लेषण करने पर इस निर्णय पर पहुँचना भी असत्य नहीं होता कि सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा विलय भी वृत्ति के ही रूप व कार्य हैं।

(ख) ज्ञान के चार स्तर या रूप--परमतत्त्व का चित्पक्ष अपने तात्त्विक स्वरूप से लेकर दैनिक व्यवहार के स्तर पर्यन्त चार रूपों में स्थित है, जिनमें से चतुर्थ रूप सभी के प्रति व्यक्त है, शेष तीनों क्रमशः सूक्ष्मतर विचार द्वारा जाने जाते हैं।

प्रथम स्तर या रूप है—अद्वितीय परमतत्त्व का स्वरूपभूत चैतन्य, जो अपनी महिमा में स्वयं ही स्थित है, जहाँ किसी के प्रकाशित होने का अवकाश नहीं, प्रकाश-मात्र ही स्थित है, प्रकाशक व प्रकाश्य के विकल्प से अस्पृष्ट।[1]

द्वितीय है मायोपाधिक 'ईश्वर'—पदार्थ का स्वरूपचैतन्य; जो उसके 'सर्वज्ञ' व 'सर्ववित्' होने का हेतु है, जिसके 'ज्ञानमयं तपः' से सम्पूर्ण जगत् रूपायित है।[2] इसके अतिरिक्त 'साक्षि;' शब्द से कही जानेवाली चैतन्य की अवस्था भी ज्ञान के द्वितीय स्तर में निवेश्य है। जहाँ साक्षिपदार्थ एक ही अभिमत है वहाँ वही साक्षिचैतन्य, जहाँ ईश्वरकोटिक व जीवकोटिक दो साक्षिरूप अभिमत हैं वहाँ प्रथम साक्षिचैतन्य, ज्ञान का द्वितीय स्तर है। पञ्चदशीकार द्वारा कहा हुआ कूटस्थचैतन्य भी इसी कोटि का है।

---

१. यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते, विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेषु अनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद् यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः। छा० उ० ३।१३।७॥
परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्। प्रश्न० १।८॥
ईशानो ज्योतिरव्ययः। श्वे० ३।१२॥
ज्योती रसोऽमृतम्। मै० ६।३५॥
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। तै० उ० २।१।१॥
प्रज्ञानं ब्रह्म। ऐत० ५।३॥
स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः यदि वा न महिम्नीति। छा० उ० ७।२४।१॥

२. यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः। मु० उ० १।१।९॥
स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति। कठ० २।१।४॥
प्रमेयादित्रयं यस्मात् परस्परविलक्षणम्।
आत्मानं लभते सत्यः सोऽध्यक्षोऽत्राभ्युपेयताम्॥
असङ्कुचितचित्पद्मः प्राज्ञे स्वप्नप्रबोधवत्।
तथा प्रफुल्लबोधाब्जः प्राज्ञवत् स्वप्नबोधयोः॥ बृ० सं० वा० १०८४–८५॥
अन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षीत्यादावनेकधा।
कूटस्थ एव सर्वत्र पूर्वाचार्यैर्विनिश्चितः॥ पं० द० ८।२४॥

इस स्तर में जगत् के प्रत्येक पदार्थ का सभी दिशाओं से ज्ञान सर्वदा उदित रहता है, किन्तु ज्ञातृ-भाव किसी में नहीं रहता। किन्तु कोई भी पदार्थ किसी भी प्रकार से अज्ञात नहीं रहता।

ज्ञान का तृतीय स्तर है—जीवभावापन्न चैतन्य की वह अवस्था, जहाँ या जिस में वह विशेष रूप से कोई एक वस्तु जानते या न जानते हुए भी सामान्य रूप से वहुत कुछ जानता है, अथवा उसके ज्ञानक्षेत्र में प्रमुख रूप से कोई एक या दो विषय ही रहने पर भी उससे अतिरिक्त अनेक कुछ का ज्ञान वना रहता है, जिसे वह अस्वीकार नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ जव हम सामने की ओर दूर किसी वृक्ष पर बैठे पक्षी को देख रहे होते हैं, तव किसी के पूछने पर हम यही कहते हैं कि अमुक पक्षी को देख रहे हैं, किन्तु उसी समय उस पूरे वृक्ष को, उसमें लगे फूलों व फलों को, उसके आस-पास उगे बहुत से पौधों को, ऊपर व पार्श्व में नीले आकाश को, अपने से लेकर उस वृक्ष पर्यन्त के बीच में स्थित और भी वहुत-कुछ को हम देख रहे हैं, दूरी को पहचान रहे हैं। दूर व समीप की ध्वनियाँ सुन रहे हैं, अपने शरीर के भीतर की क्रियाओं से भी अनभिज्ञ नहीं। इतना ही नहीं, कितनी ही वीती घटनायें व भविष्य में संभावित बातें हम जान ही रहे होते हैं। उस दृष्टि के लक्ष्यभूत पक्षी से इतर इतना सव कुछ जान रहे हैं, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार का वहुत कुछ जानना हमारे जागने व स्वप्न देखने के समय तो स्पष्ट अनुभव में आता ही है, सुषुप्ति में भी हमारी चेतना या संज्ञान का कोई पक्ष अवश्य जगा रहता है, जो नींद के समय भी सुख-दुःख आदि का अनुभव कराता है, और जिसके कारण जागने पर हम वीते हुए नींद के समय के सुख-दुःख का विवरण अपने ही उद्‌गारों ("मैं सुख से सोया, इतने समय तक मैंने कुछ नहीं जाना, मेरा मन प्रसन्न है") में पाते हैं। वही हमारा अखण्ड जाग्रत् वोध या भान ज्ञान की तृतीय कोटि है। साक्षि-पदार्थ के विवेचन में 'सभी विषय ज्ञात रूप से या अज्ञात रूप से साक्षिचैतन्य के विषय होते ही हैं', ऐसा 'अज्ञात रूप से' विकल्प देने में यही जीवकोटिक साक्ष्य प्रयोजक जान पड़ता है। इसके अन्तर्गत आता है—भूत, वर्तमान तथा भावी विषयों का समग्र रूप से प्रतीत होना, ज्ञानगम्य विषयमात्र के प्रति ज्ञाता की उन्मुखता, ग्राहकता, जागृति; जैसे कोई चित्र देखते समय सम्पूर्ण चित्र का एक समग्र वोध, जिसके विच्छिन्न छोटे-छोटे टुकड़ों को वह ज्ञान पकड़ता रहता है, जिसे स्थूल व्यवहार में 'ज्ञान' समझा जाता है। जैसे 'मैं पक्षी देखता हूँ' 'आकाश देखता हूँ' इत्यादि। इस प्रकार की समग्र प्रतीति या जैव समष्टिज्ञान ही ज्ञान की तृतीय कोटि है। इसे जीवसाक्षी या 'भान' नाम दिया जाता है।[1]

---

१. य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्। कठ० २।१५॥
अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति। मु० ३।१।१॥
जीवो नाम अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यम्, तत्साक्षी तु अन्तःकरणोपहितचैतन्यम्; अन्तःकरणस्य विशेषणत्वोपाधित्वाभ्यामनयोर्भेदः।... प्रकृते चान्तःकरणस्य जडतया विषयभासकत्वायोगेन विषयभासकचैतन्योपाधित्वम्। अयञ्च जीवसाक्षी प्रत्यात्मं

शेष अगले पृष्ठ पर

ज्ञान का चतुर्थ स्तर है 'भास' अर्थात्—विच्छिन्न प्रतीति, पृथक्-पृथक् विषयों का ज्ञान। यही ज्ञान का वह स्तर है जिससे सभी भलीभाँति परिचित हैं व जिस के लिए 'मैं……जानता हूं' ऐसा व्यवहार किया जाता है। इसी ज्ञान का 'विषय न होना' तथा 'विषय होना' वस्तुओं के 'अज्ञात' व 'ज्ञात' विशेषण का हेतु होता है। प्रथम दो स्तरों में किसी भी विषय में सर्वथा अज्ञात होने का अवकाश ही नहीं था, तृतीय स्तर में ज्ञात होते हुए भी अज्ञातत्व व्यवहार की किञ्चित् सम्भावना थी, इस चतुर्थ स्तर में वही ज्ञात है जो उस क्षण में जाना जा रहा है, उसके पहले व बाद के क्षणों में वह वस्तु तथा न जानी जा रही सभी वस्तुयें अज्ञात ही रहती हैं। ज्ञान का प्रथम स्तर सदा-सर्वदा एकरस, अखण्ड, अनन्त है, द्वितीय स्तर 'द्वितीय' (माया–) सापेक्ष होने के कारण कदाचित् विलीन होने की सम्भावना से युक्त है। तृतीय स्तर में अज्ञात होने का भाव कुछ स्फुटतर है, एवं चतुर्थ में एक-एक ज्ञात से अतिरिक्त सभी कुछ के अज्ञात होने की स्थिति है। तृतीय व चतुर्थ स्तरों में अविद्या का आवरणकृत्य क्रमशः सघन हो उठा है।

जीव के लिए ठीक वर्तमानकाल में जानी जा रही वस्तु के सिवा अन्य सभी कुछ अज्ञानावरण से ढका रहता है, अथवा जीव व विषयों के मध्य आवरण सदा बना हुआ है। जिस विषय पर से यह आवरण जितने समय के लिये हटता है, उस जीव को उस वस्तु का उतने समय के लिए ज्ञान हो जाता है। इसीलिये व्यवहार जगत् में जो वस्तु जिस समय—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, त्वक् तथा मन—इनमें से किसी भी माध्यम द्वारा—जिस व्यक्ति (असीम की सीमाक्रान्त अभिव्यक्ति=जीव) से सम्बद्ध होती है, उसी वस्तु का उसी व्यक्ति को ज्ञान होता है।

प्रथम खण्ड में जीव तथा विषय (जगत्) दोनों की निष्पत्ति या संरचना समझी गई, जिससे इन दोनों की तात्त्विक स्थिति स्पष्ट है। वह यही कि—एक अखण्ड सच्चिदानन्द-घन परमतत्त्व ही अविद्या के प्रभाव से जीव व जगत् रूप में विद्यमान है। वह तत्त्व प्रकाश-स्वरूप है, तब भी जीव के प्रति जगत् प्रकाशित नहीं है, क्योंकि जीव व जगत् का रूपायण करने के पश्चात् भी वह अविद्या इन दोनों पर छायी हुई है, अतः स्वरूपतः इन दोनों के अपने-अपने स्थान पर प्रकाशित रहने पर भी एक के प्रति दूसरा प्रकाशित नहीं है। अपने-

---

नाना; एकत्वे तु मैत्रावगते चैत्रस्याप्यनुसन्धानप्रसङ्गः। वे० प० पृ० ९६-९७।

भूतस्यागोचरत्वे प्रणिहितमनसो भाविनोऽप्येवमेव
सामस्त्येन प्रतीतं यदपि भवति मे चापरोक्षत्वरूपम्।
सन्देहस्पर्शलेशश्च विरमति यतो हि स्वयंसिद्धसत्त्वे
सर्वप्रामाण्यभूमिर्मदनुभवजगद् भानचैतन्यमेतत् ॥ १ ॥
आकाशो दिव्य एको हि परमविपुलो मेघसन्तानम्लानः
पारावारः स एकोऽपरिमितमहिमा वीचिविक्षोभपूर्णः।
एकं ज्योतिर्हि विश्वे जगति वितनुते तत्र नानास्फुलिङ्गः
एकं भानं वरेण्यं ततमपि च ततो वृत्तयो वै विचित्राः ॥३॥ P.W. पृ० ३, ५१ ॥

अपने स्थान पर प्रकाशित होने का अर्थ है अधिष्ठान के प्रति अध्यस्त वस्तु का प्रकट होना। स्थूल, सूक्ष्म व कारण देहों या पञ्चकोशों के अधिष्ठान-चैतन्य के प्रति ये सदा प्रकाशित हैं या वह अधिष्ठान चैतन्य इन अध्यस्त कोशादि की स्थिति रहने पर्यन्त इनका अवभासक है। इन अधिष्ठान चैतन्य तथा कोश आदि में परस्पराध्यास होने से निष्पन्न जीव 'मैं' बोध में प्रकट होता है। इस 'मैं' बोध का विषय जाग्रत्, स्वप्न व सुषुप्ति दशाओं में क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म व कारण देह के अवच्छेद या उपाधि से उपहित चैतन्य रहता है। इन देह-कोशादि से व्यतिरिक्त अन्य समस्त विषयों (घट-पट आदि) का अधिष्ठान ब्रह्मचैतन्य इन सब का अवभासक है। ये—मैं बोध के विषय से व्यावृत्त सब पदार्थ—'यह' बोध (इदंवृत्ति) के विषय हैं। इन पदार्थों का अपने अधिष्ठान के साथ इतरेतराध्यास नहीं है, अर्थात् चैतन्य में ये पदार्थ अध्यस्त हैं किन्तु चैतन्य इन में अध्यस्त नहीं है, इसीलिये ये चेतन नहीं है। और इसीलिये अपने से अतिरिक्त किसी के प्रति प्रकट होने या किसी से सम्बद्ध होने के लिये इन में प्रवृत्ति का अवकाश या संभावना ही नहीं है, अपने अधिष्ठान के प्रति ये निसर्गतः सदा प्रकट हैं। दूसरी ओर जीव, चैतन्य तथा अविद्या या अविद्याकार्य के अन्योन्याध्यास का फल है, अतः चैतन्य + जड़=चेतन है, अपने से इतर रूप से अध्यस्त सभी कुछ को जानने के लिये प्रवण है।

किन्तु इन चेतन तथा अचेतन पदार्थ-वर्गों के मध्य अविद्या का एक पक्ष—आवरण द्विस्तरीय (twofold) हो कर स्थित है, जो एक ओर से चेतन को तथा दूसरी ओर से विषयों को ढके हुए है, दोनों को पृथक् किये हुए है। यह मध्यस्थ आवरण कब, क्यों व कैसे हटता है, तथा जीवको विविध विषयों का ज्ञान कैसे होता है, इसका विश्लेषण ही वेदान्त की प्रमाणमीमांसा (Epistemology) का मूल-प्रश्न है; और इसका उत्तर है 'वृत्ति' की धारणा।

—: ० :—

नमो विज्ञानमात्राय सर्वप्रत्ययहेतवे।
पुरुषेशप्रधानाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये॥

शश्वत्स्वरूपमहसैव निपीतभेद-
मोहाय बोधधिषणाय नमः परस्मै।
विश्वोद्भवस्थितिलयेषु निमित्तलीला-
रासाय ते नम इदं चकृमेश्वराय॥

ॐ

अष्टम परिच्छेद

वृत्ति

१. स्वरूप

'वृतु वर्तने + क्तिन्' इस व्युत्पत्ति से निष्पन्न वृत्तिशब्द का शाब्दिक अर्थ होता है—अस्तित्व, कोई विशेष स्थिति या अवस्था। दार्शनिक वाङ्मय में यह शब्द अनेक दिशाओं व अनेक दृष्टियों से प्रयुक्त हुआ है। यहाँ केवल ज्ञान के सन्दर्भ में वृत्ति का अभिप्राय समझना अभीष्ट है।

ज्ञान-सन्दर्भ में वृत्ति का प्रत्यय (Concept) सांख्य-योग तथा अद्वैतवेदान्त में विशेष महत्त्व के साथ आलोचित हुआ है। दोनों दर्शनों के ज्ञान-विश्लेषण में बहुत कुछ समानता है अतः वेदान्त की ओर से ज्ञान-सम्बन्धी विचार करते समय सांख्य-योग के भी समकक्ष स्थलों का विचार तथा इनकी परस्पर तुलना प्राप्त हो ही जाती है।

(क) विभिन्न आचार्यों के वृत्ति-स्वरूप-विषयक उल्लेख

अद्वैतवेदान्त में वृत्ति की धारणा को समझने के लिये पहले आचार्य-परम्परा की वृत्ति-स्वरूप-विषयक उक्तियाँ देख लेना उचित होगा।

शङ्कराचार्य—अन्तःकरण का परिच्छेद—किसी भी सीमा में आ कर तदाकार होना—वृत्ति है।[1] अन्तःकरण की विशेष प्रकार से स्थिति या अवस्था-विशेष वृत्ति है।[2]

प्राण या करण (आन्तर हो या बाह्य कोई भी) का कार्यानुकूल व्यापार, किसी भी प्रकार का व्यापार या व्याप्रियमाणावस्था वृत्ति है।[3]

---

१. नित्यस्वरूपचैतन्यत्वे प्राणाद्यनर्थत्वमिति चेन्न, गन्धादिविषयविशेषपरिच्छेदार्थत्वात्। ब्र० शां० भा० २।३।१८, पृ० ५००।

२. यस्यावधानानवधानाभ्यामुपलब्ध्यनुपलब्धी भवतस्तन्मनः। कामादयश्चास्य वृत्तयः कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा''''। वही० २।३।३२, पृ० ५१३।
सर्वार्थविषयं त्रैकाल्यवृत्ति मनस्त्वेकमनेकवृत्तिकम्, तदेव वृत्तिभेदात् क्वचिद् भिन्न-वद् व्यपदिश्यते—मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चेति। वही २।४।६, पृ० ५४४।

३. न वायुः प्राणो नापि करणव्यापारः। पृथगुपदेशात्। वृत्तिवृत्तिमतोश्चाभेदात्। न हि करणव्यापार एव सन् करणेभ्य पृथगुपदिश्येत। वही २।४।९ पृ० ५४९।
वाग्वृत्तिर्मनसि संपद्यते''''वृत्तिद्वारेणैव सर्वाणीन्द्रियाणि मनोऽनुवर्तन्ते। वही ४।२।१–२ पृ० ८२४–२५।

सुरेश्वर—बुद्धि (अन्तःकरणार्थक) का परिणाम वृत्ति है। परिणाम से अभिमत है, बुद्धि के विषयोन्मुख होने पर तदनुकूल आकार लेना। ये बुद्धिपरिणतियाँ शब्द, स्पर्श, सुख, दुःख, आदि सभी विषयों के आकार वाली, क्षणभङ्गुरा, आत्मा की अपेक्षा से ही विषयों को प्रकाशित करने वाली, वाह्य, सीमित होती हैं।[१]

बुद्धि व उसकी वृत्तियाँ तप्तायःस्फुलिङ्ग जैसी हैं। अग्निस्थानीय है चैतन्य।[२] रूपादि-विषयाभासा, चक्षु आदि के प्रति समाश्रिता अन्तःकरणवृत्ति लौकिकी दृष्टि है, वह क्रियमाण है, अतः उसके जन्म-नाश इत्यादि विकार होते हैं। आत्मदृष्टि जन्मादि से रहित नित्य है।[३] प्रत्यक्चिदाकार जीवचैतन्य में बुद्धि का वाह्य विषयादि तथा आभ्यन्तर सुख-दुःखादि हेतु-निबन्धन, आगम-अपाय-धर्मवान् आकार उत्पन्न होता रहता है, यही वृत्ति-ज्ञान है।[४]

प्रकटार्थकार—संवित् (चित्पक्ष की अपेक्षा से आत्मा का नाम) का व्यञ्जक मन का परिणाम धी (वृत्ति) है।

मन सत्त्वप्रधान अविद्याकार्य है। सत्त्व का धर्म प्रकाश है। चक्षु आदि इन्द्रिय के सम्मुख उपस्थित विषय के ही सम्पर्क में आकर मन का तदनुकूल परिणाम होता है।[५]

---

१. येनैवास्या भवेद्योगः सुखकुम्भादिना धियः।
तं विदन्ती तदैवान्यं वेत्ति नातो विकारिणी॥
परिणामिधियां वृत्तं नित्याक्रमदृगात्मना।
षड्भावविक्रियामेति व्याप्तं खेनाङ्कुरो यथा॥ नै० सि० २।८१–८२॥
सावशेषपरिच्छेदिन्यत एव न कृत्स्नवित्।
नो चेत् परिणमेद् बुद्धिः सर्वज्ञा सात्मवद् भवेत्॥ वही ८७॥
शब्दाद्याकारनिर्भासा क्षणप्रध्वंसिनी····सर्वाकारा····अस्वार्था····सापेक्षा····पराची ····सावधिर्धी····। वही २।६९–७७॥

२. अपि प्रत्यक्तमो नित्यं भास्वच्चैतन्यबिम्बितम्।
बुद्धितद्वृत्तयश्चैवं तप्तायोविस्फुलिङ्गवत्॥ बृ० भा० वा० १।४।८३४॥

३. अन्तःकरणवृत्तिर्या चक्षुरादिसमाश्रया।
रूपादिविषयाभासा लौकिकी दृष्टिरुच्यते॥
तस्याक्षक्रियमाणत्वाज्जन्मनाशादिसङ्गतिः।
आत्मदृष्टिस्त्वियं नित्या जन्मनाशादिवर्जिता॥ वही ३।४।१४९–५०॥

४. स्यात्स्नौ प्रत्यक्चिदाकारे वाह्यहेतुनिबन्धनः।
आकारो जायते बुद्धेरागमापायधर्मवान्॥ वही, १५३॥

५. मनःपरिणामः संविद्व्यञ्जको ज्ञानम्।
'धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव' इति च श्रुतिः।
धीशब्दवाच्यज्ञानपरिणामवन्मनोऽन्वाही संवेदनं च विषयावच्छिन्नं चैतन्यभेद-प्रकाशनशक्तिमत् सत्त्वप्रधानं मनः अदृष्टादिसहकृतं दीर्घप्रभाकारेण स्वकर्मदेशं सरीसर्ति·······। प्र० वि० १।१।१ पृ० ३३–३४।

विद्यारण्य—अन्तःस्था धी (बुद्धि) इन्द्रिय द्वारों से बारम्बार बाहर आती है, वही वृत्ति है।[1]

आत्मा को विषयज्ञान का रूप देने वाला अन्तःकरण का विषयज्ञानानुकूल परिणाम वृत्ति है।[2]

नृसिंहाश्रम—विषयज्ञान के अनुकूल मनोदशा ही वृत्ति है। विषय के आकार में परिणति रूपा वृत्ति अन्तःकरण का धर्म है, यही 'कामः सङ्कल्पः·····'श्रुति में 'धी' शब्द से कही गई है।[3]

ज्ञानोत्तम—अन्तःकरण की वृत्तियाँ अनेक हैं, क्योंकि विषय अनेक हैं। ये वृत्तियाँ क्रमवद्-द्रष्ट्री, क्षणप्रध्वंसिनी, इन्द्रियधर्मों (दर्शन-श्रवणादि) से युक्त, सुख-दुःख मोह—शयन—स्मरण आदि से युक्त, सर्वाकारा, परार्था, सापेक्षा, पराची (बहिःप्रवणा) सीमितद्रष्ट्री, प्रतिविषयसम्बन्धिनी होती हैं।[4]

मधुसूदन सरस्वती—किसी भी प्रकार के विषय-ज्ञान के लिए अन्तःकरण का अपने ही स्थान पर अथवा इन्द्रियादि द्वारों से बाहर निकल कर विषयदेश तक पहुँच कर (उसे व्याप्त करने तक) जो परिणाम होता है, वही वृत्ति है।[5]

धर्मराजाध्वरीन्द्र—तैजस अन्तःकरण इन्द्रिय द्वारा बाहर निकल कर घट आदि विषय-पर्यन्त जा कर उसी विषय के तुल्य आकार में परिणत हो जाता है, जैसे सरोवर का

---

१. अन्तःस्था धी सहैवाक्षैर्बहिर्याति पुनः पुनः। पं० द० १०।१७॥

२. ज्ञायतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्या बुद्धिवृत्तिर्ज्ञानम्········अध्यासपरिनिष्पन्नान्तःकरण-सम्पिण्डितस्य आत्मनो ज्ञानाकारपरिणामो युज्यते। वि० प्र० सं० पृ० ५८१।

३. जानामीत्याद्यनुभवो वृत्तिमेव विषयीकरोति। सा चान्तःकरणधर्मः 'कामः सङ्कल्पः' श्रुतेः, परिशेषात् च। वे० त० वि० पृ० २३९-४०।

४. आत्मनः समस्तद्वैतासंस्पर्शित्वे सति बुद्धेः परिणामित्वं युक्तम्। अतीतानागतेहत्यान् सर्वगोचरान् बुद्धिः युगपद्यस्मान्न वेत्ति तस्मात् क्रमद्रष्टृत्वादियं परिणामिनी। क्रमवत्कतिपयसिद्धकार्यदर्शनान्यथानुपपत्त्या क्रमवत् कतिपयपरिणामः कल्प्यते। नै० सि० चं० २।७०।

यदा बुद्धिर्बाह्येन कुम्भादिनान्तरेण सुखादिना च सम्बद्धा सती कुम्भादिकं वेत्ति तदैव पटादिकं दुःखादिकं न वेत्ति। वही २।८१।

प्रतिविषयं बुद्धयः स्वतो भिद्यन्ते····बुद्धिः परिणामिनीति यतोऽत एव कतिपयपरि-च्छेदिनी। वही २।८७।

५. शरीरमध्ये स्थितः सर्वशरीरव्यापकः सत्त्वप्राधान्येन सूक्ष्मभूतारब्धोऽन्तःकरणाख्योऽ-विद्याविवर्तो दर्पणादिवदतिस्वच्छो नेत्रादिद्वारा निर्गत्य योग्यान् घटादिविषयान् व्याप्य तत्तदाकारो भवति द्रुतताम्रादिवत्।····देहविषयमध्यवर्ती दण्डायमानस्तद्-भागो वृत्तिज्ञानाख्यः। सि० वि० पृ० ५६-५७।

जल छिद्र में से निकल कर नाली द्वारा क्यारी में जा कर उसी क्यारी का आकार ले लेता है, यह परिणति ही वृत्ति है।[1]

(ख) वृत्ति शब्द का निष्कृष्ट अर्थ—

इन सभी प्रतिपादनों से, निष्कृष्ट रूप में अवश्य ही 'वृत्ति' शब्द का अर्थ–(१) ज्ञान-गम्य विषयों के अज्ञान (विषय या प्रमाता किसी में भी स्थित) के नाशक, अथवा (२) विषय के ज्ञान (प्रकाश) के अनुकूल, अन्तःकरण का परिणाम–होता है। ऐसा अर्थ होने पर सभी (परोक्ष तथा अपरोक्ष) घट-पटादि ज्ञानों में वृत्ति के अर्थ का प्रसार हो जाता है। किन्तु–(१) सुख-दुःख के ज्ञान, (२) ईश्वर के जगत्-सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान, (३) शुक्तिरजतादि-विषयक भ्रमज्ञान (४) स्वाप्नवस्तु-विषयक ज्ञान, (५) सुषुप्ति में अनुभव में आने वाले सुख तथा अज्ञान के ज्ञान एवं (६) प्रत्यभिज्ञारूप ज्ञान–में 'वृत्ति' के उक्त अर्थ का प्रसार नहीं हो पाता, अथ च ये सभी ब्रह्म के स्वरूपभूत नित्यज्ञान नहीं हैं, अतः वृत्तिरूप अनित्यज्ञान ही हैं।

इन सभी ज्ञानरूपों में वृत्ति के अर्थ के प्रसार के लिए—बाह्य या अन्तर किसी भी वस्तु के प्रति 'है' तथा 'जाना जा रहा है' ऐसे अनुभव या शब्द-प्रयोग रूप व्यवहार को जो उत्पन्न कर सके, ऐसा, अविद्या या अविद्याकार्य (अन्तःकरण) का परिणाम वृत्ति है—यह कहना होगा। इससे वृत्तिशब्द के शाब्दिक (स्थिति) तथा पारिभाषिक (ज्ञानानुकूल-अवस्था) दोनों प्रकार के अर्थ संगृहीत हो सकते हैं।

(ग) वृत्ति-स्वरूप की धारणा का विकास—

विभिन्न आचार्यों की वृत्ति-स्वरूप विषयक उक्तियाँ ऊपर ऐतिहासिक क्रम से रखी गईं। इससे वृत्ति के स्वरूप-विषयक धारणा का विकास सामने आता है। प्रारम्भिक आचार्यों के प्रतिपादन में चित्त या मन (अन्तःकरण) का स्पन्द मात्र अथवा चित्त, प्राण व इन्द्रिय का कार्य के अनुकूल व्यापार व प्रवणता–मात्र उन-उनकी वृत्ति है। सुरेश्वर के प्रतिपादन में वृत्ति का अर्थ बुद्धि (अन्तःकरणार्थक) की परिणति, और वह भी किसी विषय के अनुकूल आकार लेना रूप परिणति—ऐसा सबसे पहले मिलता है। चैतन्य से वृत्ति का सम्बन्ध भी सुरेश्वर ने तप्त लोहे के स्फुलिङ्ग के दृष्टान्त से बहुत स्पष्ट कहा है। उसी में चैतन्य की अभिव्यक्ति का आधार (उपकरण या माध्यम) होना रूप वृत्ति का उपयोग भी सूचित किया गया। जन्म-नाश-वती कह कर वृत्ति की अस्थिरता तथा परमतत्त्व के स्वरूप से अन्य जैसे दिखने वाले व्यावहारिक अनित्य ज्ञानों की सम्भाविका होना कहा गया। प्रकटार्थकार ने उसे स्पष्ट शब्दों में चैतन्य का अभिव्यञ्जक मनःपरिणाम कहा; वृत्ति ही क्यों चैतन्य की अभिव्यक्ति का माध्यम है, इसका हेतु शब्दशः प्रथम बार कहा। फिर वृत्ति की निष्पत्ति भी प्रथम बार खोल कर कही। उसमें वृत्ति बनने की सम्भावना ऐसे ही स्थल के लिये है, जहाँ विषय सम्मुख हो।

---

१. तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते; स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते। वे० परि० पृ० ४६-४७।

क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान की व्याख्या ही प्रकटार्थकार का उद्देश्य था। प्रकाशात्मा का भी वही उद्देश्य था, अतः वृत्ति का स्वरूप उसी के अनुकूल कहा गया। विद्यारण्य से आरम्भ करके परवर्ती अधिकतर आचार्यों ने वृत्ति के लिये विषय का सम्मुख होना नियामक न मान कर किसी भी प्रकार के विषयज्ञान के अनुकूल मनःपरिणाम को वृत्ति माना, इससे सभी अनित्य ज्ञानों को अपेक्षित अनित्यता-प्रयोजकता की समस्या समाहित हुई है। और वृत्ति का स्वरूप पुनः प्राचीन आचार्यों (गौड़पाद व शङ्कर) के अनुरूप ही ठहरा, अवश्य ही अधिकाधिक विवृत रूप में प्रतिपादित हुआ।

(घ) वृत्ति का 'द्रव्यत्व'

इस प्रकार वृत्ति का स्वरूप उसकी आकृति, उत्पत्ति व स्थिति की ओर से देखा गया। आचार्य नृसिंहाश्रम ने अद्वैतदीपिका में वृत्ति का स्वरूप उसकी प्रकृति की ओर से निर्धारित करने के लिये न्याय-वैशेषिक व मीमांसक मतों की ओर से पूर्वपक्ष उठाया है कि यह वृत्ति है क्या वस्तु—द्रव्य, गुण या कर्म ? इस पर चली चर्चा वस्तुतः जन्य ज्ञान को ले कर है; वह ज्ञान वेदान्त व सांख्ययोग में वृत्ति पर ही अवलम्बित होने से, ज्ञान-सम्बन्धी चर्चा वृत्ति-चर्चा में ही पर्यवसित होती है।

लोक में (जन्य-) ज्ञान नाम से सर्वप्रथम जो अर्थ समझा जाता है, वह—विषय व व्यक्ति के सम्पर्क की एक स्थितिविशेप, तथा उस स्थिति के प्राप्त होने का व्यापार—इतना ही है। इसमें से प्रथम अंश ले कर ही न्यायवैशेपिक सिद्धान्त में ज्ञान को आत्मा में रहने वाला एक गुण माना गया है।[1] जो ईश्वर में सर्वदा बना रहता है (नित्य है), तथा अन्यत्र आत्मा, मन, इन्द्रिय तथा विपय का संयोग होने पर आत्मा में उत्पन्न होता है। जिस क्षण उत्पन्न होता है, उसके दूसरे क्षण वना रहता है, तथा तीसरे क्षण विनष्ट हो जाता है। द्वितीय अंश को ले कर मीमांसक ज्ञान को मानसी क्रिया मानते हैं।

सांख्य-योग में वृत्तिरूप ही ज्ञान है, और वह द्रव्य माना गया है। इसका स्पष्ट प्रतिपादन विज्ञानभिक्षु ने योगवार्त्तिक में किया है। वृत्ति का स्वरूप बताते हुए कहा है 'व्युत्थान दशा में चित्त की वृत्तियाँ दीप की शिखा की भाँति द्रव्यरूप, क्षणभङ्गुर, चित्त की अवस्था-परिणति रूप, मूषा (धातु गलाने का पात्र) में रखे हुए पिघले तांबे के समान अपने से संयुक्त होने वाले विषय का ही आकार ले लेनेवाली होती हैं। वे त्रिगुणात्मक अन्तःकरण से उत्पाद्य होने के कारण उसी के अनुरूप शान्त, घोर व मूढ़ स्वभाव वाली होती हैं।[2] ये

---

१. बुद्ध्यादिषट्कं सङ्ख्यादिपञ्चकं भावना तथा।
धर्माधर्मौ गुणा एते ह्यात्मनःस्युश्चतुर्दश। कारि० ३२-३३॥
ज्ञानाधिकरणमात्मा।''''नित्यज्ञानाधिकरणत्वमीश्वरत्वम्।
त० सं०, त० दी०, पृ० १२।

२. व्युत्थाने याश्चित्तस्य वृत्तयो दीपस्य शिखा इव द्रव्यरूपा भङ्गुरा अवस्थापरिणामा मूषानिषिक्तद्रुतताम्रवत् स्वसंयुक्तार्थाकारास्त्रिगुणकार्यत्वात् सुखदुःखमोहाश्रयतया शान्तघोरमूढाख्या भवन्ति ताभिरविशिष्टा अविलक्षणा वृत्तयः।
योग वा० १।४ पृ० २०।

वृत्तियाँ अन्तःकरण का गुण नहीं, स्वयं द्रव्यरूपा हैं, ऐसा सांख्यसूत्र भी है। जैसे अग्नि का भाग होते हुए भी विस्फुलिङ्ग पृथक् वस्तु ही होता है, अग्नि का गुण नहीं।[1] पुनः विज्ञान-भिक्षु ने अन्यत्र कहा है कि 'जो दीपक के समान हृदय में स्थित है उसकी ये अनन्त रश्मियाँ हैं' इस स्मृति से वृत्ति को रश्मि की समानता प्राप्त है, अतः वह (वृत्ति) प्रभा के समान द्रव्य ही है।[2]

वेदान्त में (जन्य) ज्ञान न गुण है, न क्रिया, न पारिभाषिक अर्थ में द्रव्य[3] ही, प्रत्युत वृत्ति पर आरूढ़ चैतन्य (चैतन्य होने के नाते) आत्मा का स्वरूप ही है, जन्यता-मात्र वृत्ति-प्रयुक्त है। वृत्ति के तादात्म्य से ही ज्ञान की उत्पत्ति व समाप्ति कही जाती है।

इसी पृष्ठभूमि के आधार पर नृसिंहाश्रम ने नैयायिक की ओर से प्रश्न उठाया है कि न्यायाभिमत ज्ञान के समान वृत्ति आत्मा का गुण है यह नहीं कह सकते, क्योंकि गुण तो निष्क्रिय होता है।[4] वृत्ति द्रव्य भी नहीं, क्योंकि द्रव्य होने पर वह आत्मा में समवेत नहीं हो सकती; अन्तःकरण में समवेत द्रव्य भी वृत्ति को नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कार्य (उत्पाद्य) द्रव्य अपने आश्रय से अन्यत्र नहीं जा सकता। वेदान्ती की अभिमत वृत्ति अन्तःकरण के साथ ही विषयदेश में जाती है ? या स्वयं अकेली ही जाती है ? या विषय देश में ही उत्पन्न होती है ? इनमें से द्वितीय कल्प तो पूर्वोक्त युक्ति से खण्डित हो गया। प्रथम ठीक नहीं क्योंकि मूर्त द्रव्य का एक साथ दो देशों से सम्बन्ध नहीं हो सकता और यदि अन्तःकरण शरीर को छोड़-कर जाये तो मरण ही प्राप्त होगा। तृतीय भी ठीक नहीं, क्योंकि विषय देश में वृत्ति का उपादान (अन्तःकरण) नहीं रहता अतः वहाँ वृत्ति की उत्पत्ति नहीं हो सकती।[5]

---

१. वृत्तिश्च गुणो न भवति 'भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः सम्बन्धार्थं सर्पती' ति सांख्यसूत्राद्, भागो विभक्तांशोऽग्निविस्फुलिङ्गवदिति।
वही १।४ पृ० २०।

२. अनन्ता रश्मयस्तस्य दीपवद् यः स्थितो हृदि। वही १।७, पृ० २८।

३. द्रव्यत्वं गुणयोगिता। कारि० २४॥
गुणक्रियाश्रयत्वं द्रव्यत्वम्। (स० सि० प० सं०)

४. गुणादिर्निर्गुणक्रियः। कारि० १४॥
द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः। कारि० ८६॥

५. अथ केयं वृत्तिर्यस्या निर्गमनं निरूप्यते ? न तावत्पराभिमतज्ञानवदात्मगुणः। तस्य निष्क्रियत्वात्। नापि द्रव्यम्। तस्यात्मसमवायानुपपत्तेः। आत्मनो द्रव्यासम-वायित्वात्। नाप्यन्तःकरणसमवेतं द्रव्यम्। कार्यद्रव्यस्य स्वाश्रयं विनान्यत्रागम-नात्। स्वाश्रयेण सहैव गच्छतीति चेन्न। मूर्तद्रव्यस्य युगपद्विरुद्धदेशसम्बन्धा-सम्भवेन पूर्वदेशविश्लेषे मरणप्रसङ्गात्। देहावच्छिन्नात्मनो वियोगस्यैव मरणत्वात्। न च विषयदेश एव वृत्तिरारभ्यत इति वाच्यम्। तदुपादानस्यान्तःकरणस्य तत्राभावात्। अ० दी० पृ० १५७।

भाट्ट मीमांसक ज्ञान को क्रिया रूप मानते हैं, उस पर नैयायिक कहते हैं कि वृत्ति क्रिया भी नहीं। क्योंकि उसे परिस्पन्दलक्षणा क्रिया मानें या परिणामलक्षणा, फिर दोनों ही ओर वह आत्मा में समवेता है या अन्तःकरण में समवेता ? किसी भी प्रकार से बात नहीं बनती क्योंकि आत्मा में न परिस्पन्द हो सकता है, न परिणाम। अन्तःकरण में इन दोनों की सम्भावना है भी, तो ये दोनों ही आश्रय को छोड़ कर नहीं चलते।[1]

वेदान्ती ज्ञान (जन्य हो चाहे अजन्य) में गुण-गुणी-विभाग को किसी भी प्रकार नहीं सहते; क्योंकि चैतन्य ही ज्ञान है और वह एकमात्र तत्त्व आत्मा का स्वरूप ही है, केवल व्यवहार दशा में दृश्यमान ज्ञान की आगन्तुकता तथा विविधता की उपपत्ति के लिये वृत्ति-पदार्थ की कल्पना की गई है, और वह वृत्ति भी गुण या क्रियारूपा नहीं, अपने आश्रय (देह) में स्थित ही अन्तःकरण की—चक्षु आदि के समान दूर देश में स्थित वस्तु का ग्रहण करने में एवं उस वस्तु का आकार धारण करने में समर्थ—अवस्थिति या परिणति वृत्ति है। वह वृत्ति चक्षु आदि निमित्त का सम्बन्ध पा कर प्रत्यक्ष स्थल में विषय को व्याप्त कर लेती है, अनुमिति आदि स्थलों पर ऐसा नहीं करती, क्योंकि वहाँ इसका सहकारी इन्द्रिय-सम्बन्ध नहीं होता, इसलिए वृत्ति को स्वीकार करने पर भी इन्द्रियों की सार्थकता बनी रहती है।[2] प्रश्न होता है कि विस्तीर्णावस्था रूपा वृत्ति अन्तःकरण से अभिन्न है या भिन्न ? प्रथम हो तो इन्द्रिय निरर्थक होंगे, द्वितीय हो तो पुनः वह द्रव्य है या गुण है या क्रिया ?—ऐसे विकल्प उठेंगे—इस आपत्ति का, वृत्ति के स्वरूप में चक्षु का दृष्टान्त दे देने से, परिहार हो गया। तथा कार्य को सदसत् मानने वाले मत में ही यह उपालम्भ हो सकता है, अनिर्वचनीयवाद में नहीं। क्योंकि चक्षु आदि की वास्तव में वृद्धि (विषय तक चक्षु-रश्मि जाना) तो नैयायिक ही मानते हैं, अतः यह बढ़ा हुआ रूप अपनी प्रकृति से भिन्न है या अभिन्न, इसका निरूपण न हो सकना वहीं दोषापादक है। वेदान्ती तो कारण का ही, सत्त्व-असत्त्वादि प्रकारों से अनिरूपणीय रूप से विवर्त्तित होना मानते हैं, अतः उनके लिए यह दोष नहीं।

वृत्ति यदि द्रव्य हो तो अन्तःकरण से अधिक देश में नहीं रह सकती—ऐसी आपत्ति उठी थी, वह ठीक नहीं, क्योंकि सभी कार्य-द्रव्य अपने समवायी देश से अधिक देश में रहने वाले देखे जाते हैं, जैसे कि प्रथम तन्तु से आरब्ध पट उस तन्तु के देश से अन्य देश में भी रहता है। यदि कहें कि जहाँ तक पट है वहाँ तक उसके उपादान तन्तु भी रहते हैं, तो वेदान्त में भी ब्रह्मरूप उपादान विषय देश में रहता ही है। अतः वृत्ति अन्तःकरण का ही अवस्थाविशेष होने के नाते द्रव्य ही है।[3]

---

१. अतएव न क्रियापि वृत्तिरात्मनि परिस्पन्दपरिणामयोरसम्भवात्। अन्तःकरणगतयोश्च तयोराश्रयं विना अगमनादिति चेत्। अ० दी० पृ० १५८।

२. अन्तःकरणस्य स्वाश्रयस्थस्यैव चक्षुरादेरिव देशान्तरप्राप्तोल्कावस्थावृत्तिरित्युच्यते। सा च चक्षुरादिनिमित्तसम्बन्धात् प्रत्यक्षस्थले विषयव्यापिनी भवत्यनुमेयादौ तु नैवम्। तत्सहकारिण इन्द्रियसम्बन्धस्यैवाभावात्। वही, पृ० १५८।

३. कार्यस्य सदसत्त्ववादिमत एवास्योपालम्भस्य प्रसङ्गात्। अनिर्वचनीयवादेऽस्यानवकाशत्वात्॥ शेष अगले पृष्ठ पर

इस पर शङ्का उठती है कि यदि वृत्ति अन्तःकरण की ही अवस्थाविशेष होने के नाते द्रव्य कही जाती है, तो प्रतिक्षण विषयज्ञानों का नाश कैसे होता है, द्रव्य तो क्षणिक नहीं होता; और प्रतिक्षण उसके विनाश के हेतु का निरूपण भी नहीं हो सकता। दूसरी वृत्ति का उदय ही पहली वृत्ति का निरासरूप होता है, यह नहीं कह सकते, क्योंकि एक द्रव्य से युक्त उपादान में दूसरा द्रव्य नहीं आरब्ध होता। इसके उत्तर में नृसिंहाश्रम ने ही कहा है कि एक वृत्ति के विनाश में दूसरी वृत्ति हेतु हो, ऐसा नहीं है। अपितु वृत्ति के हेतु इन्द्रियादि + मनः संयोग आदि का विनाश ही—कारण के विनाश से कार्य का विनाश होने के नियम से—वृत्ति के विनाश में हेतु है।[1]

२. वृत्ति कल्पना की अनिवार्यता

(क) सामान्य तथा नैयायिक रीति से विचार

तत्त्वमीमांसा तथा व्यावहारिक अनुभव से जो ज्ञान के नित्य व अनित्य भेद से दो रूप मिले, उनमें से द्वितीय की समञ्जस व्याख्या के लिये, अथवा जीव के प्रति जगत् के विभिन्न पदार्थों के पृथक्-पृथक् विच्छिन्न ज्ञान की अन्यथा सम्भावना न होने से, परमतत्त्व के स्वरूप-भूत ज्ञान की किसी उपाधि की कल्पना आवश्यक है, जो ज्ञान में अनित्यता, उत्पत्ति-नाश-शीलता का निर्वाह कर सके। वह उपाधि है वृत्ति, जो जीव की उपाधि की ही अवस्था परिणति स्वरूप है, ऐसा सामान्य रूप से समझा गया। अब विशेष रूप से इस बात की मीमांसा करना अभीष्ट है कि न्याय आदि दर्शनों में जब बिना वृत्ति-पदार्थ माने भी खण्ड ज्ञानों का निर्वाह चलता है तो सांख्य व वेदान्त में इस नयी वस्तु की कल्पना क्यों की गई? इस प्रश्न का सीधा उत्तर हो सकता है कि प्रत्येक दर्शन के अनुसार तात्त्विक स्थिति पृथक्-पृथक् है, अतः उनकी ज्ञान-विश्लेषण सम्बन्धी आवश्यकतायें भी पृथक् हैं, एक दर्शन के सिद्धान्तों को लेकर दूसरे पर आक्षेप करने का वस्तुतः अवकाश ही नहीं है। तब भी विभिन्न दर्शनों में परस्पर आक्षेप-प्रतिक्षेप चलते ही रहे हैं। न्यायादि द्वारा उठाये गये इस विचार से तटस्थ व्यक्ति में भी यह प्रश्न उदित हो ही जाता है कि वेदान्त में भी वृत्ति पदार्थ

कार्यद्रव्यमात्रस्य स्वसमवायिदेशादधिकदेशत्वाच्च।
अतोऽन्तःकरणवृत्तिस्तस्यैवावस्थाविशेषो द्रव्यम्। वही पृ० १५८-१५९।

१. ननु यदि वृत्तिरन्तःकरणस्यैवावस्था-विशेषो द्रव्यमित्युच्येत, तदा कथं प्रतिक्षणं विषयज्ञानानां विनाशः। द्रव्यस्याक्षणिकत्वात् तद्विनाशहेतोरनिरूपणाच्च। न चोत्तरवृत्त्या पूर्ववृत्तिनिरास इति वाच्यम्। एकद्रव्यवति द्रव्यान्तरानारम्भादिति चेन्न तु वृत्तिविनाशे वृत्त्यन्तरं हेतुः। वही पृ० १५९–६०

की कल्पना का विशेष प्रयोजन व लाभ क्या है ? यहाँ समस्त प्रपञ्च (जिसमें जीव तथा जगत् दोनों समाविष्ट हैं) को एक परमतत्त्व पर अध्यस्त माना गया है, उस अधिष्ठानतत्त्व का स्वरूप है चैतन्य, जिसे स्वयं ज्ञान-रूप माना गया है, वही समय-समय पर किसी-किसी विषय के अज्ञान को दूर कर दे सकता है, (१) पृथक्-पृथक् विषयज्ञान के लिए स्वयंप्रकाश को कोई और माध्यम क्यों खोजना पड़े ? तथा, माध्यम रूप से जिस वृत्ति वस्तु की कल्पना की जाती है उसका स्वरूप कहा गया अविद्या या अन्तःकरण के अवस्थाविशेष को। जड़ अविद्या का कार्य अन्तःकरण जड़ ही है, इसीसे (२) वृत्ति भी जड़ है, अप्रकाशरूप है, वह कैसे कहीं से अज्ञान का निवारण कर सकती है ? तथा, (३) वृत्ति के होने में प्रमाण भी क्या है ? प्रत्यक्ष का विषय तो यह वनती नहीं, अतः वृत्ति के होने पर ही विषय-सम्वन्धी अज्ञान निवृत्त होता है इसका निश्चय होने का भी कोई साधन नहीं। यदि पृथक् विषयों का ज्ञान उत्पन्न व समाप्त होते रहने के अनुभव को चिह्न मानकर उसके कारण रूप से वृत्ति का अनुमान करें, तो वृत्ति के स्थान पर मन का इन्द्रिय आदि से सम्बन्ध होने को ही उक्त कारण मान लिया जा सकता है। न्याय आदि में वही माना भी है, फिर नये वृत्तिपदार्थ की कल्पना क्यों की जाय ? यदि कहें कि अज्ञान का निवर्त्तक चैतन्य ही है, वृत्ति उसकी सहकारिणी है, तथा अनादि-अनन्त चैतन्य में, विषयज्ञानों में दिखने वाले सादित्व, जन्यत्व, सान्तत्व की उपपत्ति के लिए वृत्ति की कल्पना अनिवार्य है, तो यह सब तो समनस्क इन्द्रियसंप्रयोग (सन्निकर्ष) को भी चैतन्य का माध्यम या उपाधि वना कर हो सकता है, फलभूत अनुभव तो—'घटज्ञान से घटविषयक अज्ञान दूर हुआ' या 'राम ने घट को जाना' इत्यादि दोनों दशाओं (इन्द्रिय-सन्निकर्ष से चैतन्य विशेषित हो, या वृत्ति उपाधि द्वारा अभिव्यक्त हो) में समान ही रहेगा।

ऐसे ही अनेक सम्भावित प्रश्नों का उत्तर नृसिंहाश्रम द्वारा अद्वैतदीपिका में इस विषय पर की गई चर्चा में मिलता है। तदनुसार—

(१) अनुगत (आपाततः एक ही श्रेणी के) कार्यों में कोई वैसा ही अनुगत (अनेक विभिन्नों में नियत रूप से रहने वाला कोई एक पदार्थ, जैसे मणिमाला में सूत्र) कारण अवश्य हुआ करता है। वैसी अनुगत-रूपता समनस्क भी इन्द्रियसंयोग में नहीं है, (क्योंकि नैयायिक-मत से—घट के प्रत्यक्ष में चक्षु-संयोग है, तो ध्वनि के प्रत्यक्ष में कर्णसमवाय····इत्यादि पृथक्-पृथक् सन्निकर्ष हैं, फिर परोक्षज्ञानों में भी इसी प्रकार विविधता है, सभी सादि-सान्त ज्ञानों में अनुगत कोई एक रूप प्राप्य नहीं)। यदि कहें कि किसी न किसी प्रकार का इन्द्रियसम्बन्ध तो प्रत्येक ज्ञान में अनुगत है ही, तो ठीक नहीं क्योंकि वह तो व्यासङ्गकालीन इन्द्रिय-संयोग में भी रहता है। अर्थात् इन्द्रियसंयोग अतिप्रसक्त धर्म है, और ऐसा धर्म कहीं कारणता का अवच्छेदक (या निर्धारण में विशेषक) नहीं होता।[1] यदि समनस्क इन्द्रियसंयोग को अनुगत

---

१. अनुगतकार्यं ह्यनुगतमेव कारणमन्वयव्यतिरेकाभ्यां निरूपयते। तच्चानुगतिरूपं चक्षुःसम्प्रयोगादिषु न सम्भवति प्रत्येकं तेषामननुगतत्वात्। न 'चेन्द्रियसंयोगत्वमनुगतम्। तस्य व्यासङ्गकालीनेन्द्रियसम्प्रयोगेऽपि गतत्वात्। अतिप्रसक्तस्य कारणतानवच्छेदकत्वात्। न च समनस्केन्द्रियसम्प्रयोगत्वमनुगतम्। तथा मनसः सहकारिणस्तत्कार्यनिरूपितकारणतानवच्छेदकत्वात्। अ० दी० पृ० १२५–२६।

कहो तो जो मन का सहकारी है, वह मन के कार्य से निरूपित कारणता का अवच्छेदक नहीं होता।

यदि कहें—वाह्येन्द्रिय सम्प्रयोग रूप से इन्द्रियसंयोग ही कारण है, और मन सहकारी है, जिसके अभाव में, व्यासङ्ग-दशा में अज्ञान-निवृत्ति नहीं होती—तो भी ठीक नहीं, क्योंकि आत्म-विषयक अज्ञान की निवृत्ति के स्थल पर वह असम्भव है।[1]

(२) यदि कहें कि मन ही प्रत्येक अविद्यानिवृत्ति में रहने वाला अनुगत कारण है, और रूप रस आदि की अविद्यानिवृत्ति में चक्षु आदि विशेष कारण हैं, इस प्रकार ज्ञान-मात्र में मन एक अनुगत कारण है—तो भी ठीक नहीं क्योंकि व्यासङ्ग-स्थल पर चक्षु तथा मन आदि के रहने पर भी कार्य नहीं देखा जाता। यदि कहें कि वहाँ चक्षु-मन के रहने पर भी अर्थ से संयोग न होने से ही अज्ञान हटना रूप कार्य नहीं होता—तो प्रश्न होगा कि संयोग भी तो अतीन्द्रियवस्तु है, वह हुआ या नहीं कैसे जाना जायेगा ?[2] यही दोष वृत्ति मानने के पक्ष पर उठाया गया था, पर दोनों ओर दोष समान होने पर वह गणनीय नहीं होता, और संयोग पक्ष में पुनः सन्निकर्ष की षड्विधता प्रत्यक्ष के लिये तथा अनुमानादि के लिए अन्य कारण कथनीय होने से, वह पक्ष दुर्वल (गौरवदोष-ग्रस्त) है। इसलिए व्यासङ्गकाल में जिसके न होने से अज्ञान-निवृत्ति नहीं होती एवं अन्य स्थलों में जिसके होने से अज्ञान-निवृत्ति होती है, वैसी अन्तःकरणवृत्ति माननी ही चाहिए। अतः सादि, सान्त ज्ञानों की उपपादिका वृत्ति ही हो सकती है, उसी को जन्यज्ञान का हेतुत्वावच्छेदक मानना सर्वथा उपयुक्त है।[3]

(३) वृत्ति अप्रकाशरूपा=जड़ है, इससे उसकी ज्ञान-हेतुत्वावच्छेदकता में क्षति नहीं होती, क्योंकि विषय के अज्ञान में वृत्ति द्वारा निवर्त्यता होते हुए भी प्रकाश द्वारा ध्वस्त होना वना ही रहता है। अज्ञाननिवृत्ति में प्रतियोगी होने के नाते अज्ञान कारण है। वह केवल प्रकाश द्वारा निवृत्त नहीं होता।[4] जैसे मन्द प्रकाश के साथ अन्धकार वना रहता है, तीव्र

---

१. अस्तु तर्हि वाह्येन्द्रियसम्प्रयोगत्वेनेन्द्रियसम्प्रयोगस्तत्र कारणं, मनसः सहकारिणो विरहाद्व्यासङ्गेऽविद्यानिवृत्तिविरह इति चेत्। न, आत्माविद्यानिवृत्तिस्थले तदसम्भवात्। वही पृ० १२७।

२. ननु मन एवाविद्यानिवृत्तिमात्रेऽनुगतं कारणं रूपाद्यविद्यानिवृत्तौ च चक्षुरादिकमपि विशेपकारणमिति चेन्न। व्यासङ्गे मनसश्चक्षुरादेश्च सत्त्वेऽपि कार्यादर्शनात्। ननु तदा मनसश्चक्षुरादिसंयोगाभावात् कार्याभाव इति चेन्न। तस्यातीन्द्रियस्य व्यतिरेकग्रहायोगात्। अ० दी० वि० पृ० १२९।

३. तस्माद्व्यासङ्गे यद्विरहादज्ञाननिवृत्तिविरहो यत्रेन्द्रियाणामन्वयव्यतिरेकौ सान्तः-करणवृत्तिरेपितव्या। अ० दी० पृ० १२९।

४. सर्वथाप्युपयुज्यतेऽविद्यानिवृत्तौ वृत्तिः। एतेन तस्याः प्रकाशनिवर्त्यत्वेऽपि चैतन्य-निवर्त्यत्वेन प्रकाशनिवर्त्यत्वानपायात्। प्रकाशमात्रजन्यत्वस्य प्रतियोगिजन्या-विद्यानिवृत्तावसम्भवात्। अ० दी० पृ० १३१।

प्रकाश से निवृत्त होता है, वैसे ही विषय व विषयी (ज्ञेय व ज्ञाता) के मध्यस्थ अज्ञानावरण से आवृत होने के नाते मन्द बने हुए विषयावच्छिन्न ब्रह्म-चैतन्य तथा अन्तःकरणावच्छिन्न जीव-चैतन्य स्वतः उस आवरण को दूर करते हुए विषय-ज्ञान को उत्पन्न नहीं करते; क्योंकि यदि वे दोनों प्रकाश स्वरूपतः—प्रकाश होने के नाते ही—अज्ञान के नाशक हों तो कभी किसी विषय का अज्ञान रह नहीं सकता, अतः एक अन्य उपाधि को लेकर ही चैतन्य 'विषयज्ञान' बनता है या जीव के प्रति विषय का प्रकाश होता है। वह उपाधि वृत्ति है। जैसे कि सूर्यकान्त मणि को उपाधि बनाकर ही सूर्यकिरणें तृण आदि की दाहिका बनती हैं, वैसे ही वृत्ति पर आरूढ़ चैतन्य ही विषय के ज्ञान का हेतु बनता है, वृत्तिसहकृत या वृत्तिविशिष्ट या वृत्त्युपहित चैतन्य ही अज्ञान का विरोधी है यह मानने से ही विषयों का कादाचित्क ज्ञान उपपन्न होता है। प्रत्येक विषय का ज्ञान होने में पृथक्-पृथक् वृत्तियाँ हुआ करती हैं, जो अन्य विषय से इन्द्रियादि द्वारा सम्पर्क होने पर बदल जाती हैं, इसीसे 'वह घट को जानता है', 'घट स्फुरित होता है', 'वह उसे जान रहा है', 'पर्वत पर अग्नि है', 'इस वाक्य का यह अर्थ है' इत्यादि ज्ञान के विभिन्न आकार-भेद सम्भव होते हैं।

यह नैयायिक परिपाटी से वृत्ति-कल्पना की सार्थकता देखी गई, साथ ही तटस्थ मस्तिष्क में उठने वाले प्रश्नों का भी वेदान्त-सिद्धान्त के अनुकूल युक्ति से समाधान हुआ। स्वयं वेदान्त में भी इस वृत्ति-उपाधि की कल्पना की अनिवार्यता को दृढ़ करने के लिये आचार्यों द्वारा सिद्धान्त व स्थिति का भलीभाँति विश्लेषण करते हुए इस विषय पर प्रभूत विचार किया गया है। जो प्रारम्भिक ग्रन्थों (भाष्य, पञ्चपादिका, नैष्कर्म्यसिद्धि, भामती आदि) में सूत्ररूप से तथा उत्तरकालीन ग्रन्थों (पञ्चपादिकाविवरण, विवरणप्रमेयसंग्रह, अद्वैतदीपिका, सिद्धान्तबिन्दु, सिद्धान्तलेशसंग्रह, वेदान्तपरिभाषा आदि) में विस्तार से प्राप्त होता है। प्रकाशात्मा के पञ्चपादिकाविवरण में सब से पहले यह विषय अत्यन्त सुगठित व सरल शैली में वर्णित है, जिसमें इस सम्बन्ध की पहली चर्चाओं के अभिप्राय का सङ्कलन तथा उत्तरवर्ती चर्चा में देखी जाने वाली विभिन्न धाराओं का बीज दिखाई पड़ता है, अतः इसे देख लेना उपयोगी होगा।

(ख) प्रकाशात्मा द्वारा वेदान्त की रीति से वृत्ति की अनिवार्यता की स्थापना

विचार यों उठा है कि स्वयंप्रकाश चैतन्य प्रदीप आदि के समान अपने से संसृष्ट सभी वस्तुओं का प्रकाशक होना ही चाहिये, उसके लिये (विषयप्रकाश के लिये) किसी अन्तः-करण व वृत्ति की उपाधि की कल्पना क्यों की जाय ? अन्तःकरणवृत्ति से संसृष्ट विषय से अन्यत्र संयुक्त (या वर्तमान) भी चैतन्य उसे प्रकाशित नहीं करता यह कहना तो ठीक नहीं क्योंकि प्रकाश का संसर्ग होना ही तो वस्तु की प्रकाशमानता है, और प्रकाश की सन्निधि ही उसका संसर्ग है। जैसे दीपक की प्रभा जहां तक फैली हो वहाँ तक की वस्तुयें प्रकाशित रहती हैं। यदि कहें कि—चैतन्य असङ्ग है, अतः विषयों से उसका संसर्ग होता ही नहीं, अतः वे प्रकाशित नहीं होते, तो वह असङ्गता अन्तःकरण से भी चैतन्य का संसर्ग क्यों होने

देगी, तब उसके अवस्थाविशेष रूप वृत्ति के द्वारा भी विषय-प्रकाश कैसे हो सकता है।[1] यदि कहें कि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य (जीव) प्रतिबिम्बस्थानीय है, परिच्छिन्न (सीमित) है, वह अपने से संसृष्ट ही विषय को प्रकाशित कर सकता है। ब्रह्म बिम्बस्थानीय है, सर्वगत (व्यापक) है अतः सभी कुछ को प्रकाशित करता ही है। पर जैसे मुख की स्वच्छता मलिन दर्पण में पड़े प्रतिबिम्ब में नहीं आती वैसे ही ब्रह्म का सर्वप्रकाशकत्व जीव में नहीं है—यह भी ठीक नहीं क्योंकि उस स्थिति में विषयावच्छिन्न चैतन्य तो ब्रह्म है, जीव नहीं, तो सर्वज्ञत्व की भाँति विषय-प्रकाशकता भी जीव में नहीं आ सकती, क्योंकि वह अन्तःकरण उपाधि से परिच्छिन्न है, घट-पट आदि से संसृष्ट नहीं है।[2] यह भी नहीं कह सकते कि जीव की उपाधि (अन्तःकरण) तथा विषय का परस्पर सम्बन्ध (वृत्ति द्वारा) होने पर दोनों से अविच्छिन्न चैतन्य भी परस्पर संसृष्ट हो जाते हैं, उसी से जीव को विषय का अवभास हो जायेगा—क्योंकि वैसा ही हो तो ब्रह्म के सर्वगत होने से, अन्तःकरण का सदा ही उस से संसर्ग वर्तमान है, इससे जीव व ब्रह्म चैतन्यों का अभेद सदा ही व्यक्त है, तो ब्रह्म की सर्वज्ञता जीव में प्राप्त होगी ही।[3] यदि कहें कि—जीवचैतन्य (अविद्योपाधिक जीव मानने के पक्ष में) सर्वगत होने पर भी अविद्या द्वारा आवृत होने कारण स्वयं भी (उस सर्वगत रूप से) प्रकाशित नहीं है, इसीलिये ढके दीपक की भांति विषयों को प्रकाशित करने में असमर्थ है; अवश्य ही अविद्या द्वारा चैतन्य का आवरण बड़े पात्र द्वारा दीपक को ढकने के समान नहीं, अंगुली द्वारा सूर्य को ढकने के समान है, तब भी सूर्य की प्रकाशकता के समान चैतन्य का विषयावभास रुक ही जाता है। अन्तःकरण-वृत्ति द्वारा अत्यन्त सीमित अंश में या किसी एक विषय के प्रति उक्त आवरण का अभिभव होने पर उतने से अंश में अभिव्यक्त हुआ चैतन्य किसी एक विषय को ही प्रकाशित करता है। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अन्तःकरण तो अविद्या का कार्य है, वह

---

१. ननु स्वयंप्रकाशमानस्य प्रदीपादिवत् स्वसंसर्ग्यशेषवस्तुप्रकाशित्वे प्राप्ते कथमहङ्कारोपाधिनियमः कल्प्यते ? न चान्तःकरणपरिणामसंसृष्टविषयादन्यत्र चैतन्यमुपरक्तमपि न प्रकाशयतीति युक्तम्। प्रकाशसंसर्गस्यैव प्रकाशमानताभिधानात्। विषयान्तरेषु चैतन्यस्यासङ्गितया नोपरागः इति चेत्, अन्तःकरणेऽपि तर्ह्यसङ्गितया नोपरागः इति तदुपाधिनापि न किञ्चिदपि प्रकाशेत। पं० पा० वि० पृ० ३०८।

२. अन्तःकरणावच्छिन्नो हि जीवः प्रतिबिम्बस्थानीयः परिच्छिन्नः तत्संसृष्टमेव विषयं प्रकाशयेत्। ब्रह्म तु बिम्बस्थानीयं सर्वगतत्वात् सर्वमवभासयिष्यति। न च ब्रह्मणि सर्वदर्शित्वं मुखावदातत्ववत् जीवमनुगच्छति। जीवगतं वा किंचिज्ज्ञत्वं मुखश्यामत्वादिवत् न ब्रह्मानुगच्छतीति सर्वमुपपन्नमिति। नैतत्सारम्—तथा सति विषयावच्छिन्नचैतन्यस्य ब्रह्मचैतन्यतया अहङ्कारावच्छिन्नजीवानुषङ्गाभावात् सर्वज्ञत्वमिव विषयावभासोऽपि जीवस्य न स्यात्। वही० पृ० ३०९।

३. ननु जीवोपाधेरन्तःकरणस्य विषयस्य च परस्परान्वयादुभयावच्छिन्नमपि चैतन्यमन्योन्यसंसृष्टमिति युक्तो जीवस्य विषयावभास इति। नैतद्युक्तम् तथा सति सर्वगतेन ब्रह्मणा नित्यसंसृष्टमन्तःकरणमिति तदुपाधौ जीवब्रह्मचैतन्याभेदाभिव्यक्तेः ब्रह्मसार्वज्ञ्यं जीवस्य नित्यवत् प्रकाशेत॥ वही० पृ० ३०९–१०।

कैसे अपने उपादान (घटक कारण) अज्ञानावरण का अभिभव कर सकता है ? इसलिये वृत्ति रूप उपाधि मानने से भी जीव को कदाचित् किञ्चित् (कभी, किसी विषय का) ज्ञान होने की व्याख्या सम्भव नहीं ।[1]

इस के उत्तर में प्रकाशात्मा कहते हैं—वृत्ति रूप उपाधि मानना ही उचित है । क्योंकि जीव (अविद्योपाधिक) सर्वगत होने पर भी (चैतन्य रूप से) असङ्ग ही है, अतः सब से संयुक्त नहीं । प्रकाश स्वसंयुक्त ही वस्तु को प्रकाशित करता है । ब्रह्म सभी कुछ का उपादान (अधिष्ठान होने के नाते) है, इसलिये अपने से अभिन्न जगत् को स्वयं के समान ही प्रकाशित करता है, जीव किसी का उपादान नहीं, अतः प्रकाशित नहीं करता ।[2] जीवचैतन्य अविद्योपाधिक होने के नाते सभी विषयों से अव्यवहित ही रहता हुआ भी असङ्ग होने के कारण उनसे असंसृष्ट है, पर अन्तःकरणों में सदा अभिव्यक्त है । जैसे गोत्व आदि जाति व्यापक हैं, पर स्वभावतः उन का सम्बन्ध अश्व आदि के साथ न हो कर सास्नामान् गोव्यक्ति में ही होता है । अथवा जैसे दीप-ज्योति वायु-आकाश-रस-गन्ध आदि के स्थानों में व्याप्त रहती हुई भी 'रूप' से ही संसृष्ट हो कर उसी को प्रकाशित करती है, ऐसे ही चैतन्य भी स्वभाव-विशेष के कारण अन्तःकरण में ही संसृष्ट होता है, अन्यत्र नहीं । जैसे केवल अग्नि द्वारा न जलाये जा सकने वाले हरे तृण आदि भी लोहे में वसी अग्नि (तपे लोहे) द्वारा जलाये जाते हैं, वैसे ही केवल जीव-चैतन्य द्वारा प्रकाशित न होने वाले विषय अन्तःकरण-वृत्ति पर आरूढ़ उसी चैतन्य द्वारा प्रकाशित होते हैं । अतः वृत्ति को विषय-प्रकाश के लिये उपाधि मानना उचित ही है ।[3]

---

१. अथ मतम्—सर्वगतमपि चैतन्यमविद्यावृतत्वात् स्वयमपि तावत् न प्रकाशते । न च स्वयमप्रकाशमानः चैतन्यप्रकाशः प्रदीपवत् प्रकाश्यमवभासयितुं क्षमः । अंगुलिमात्रेणादित्यवत् परिच्छिन्नेनापि अज्ञानेन सर्वगतमपि चैतन्यं तिरोधीयते । तत्रान्तःकरणोपरागेणावरणाभिभवात् तत्रैवाभिव्यक्तं चैतन्यं किञ्चिदेव प्रकाशयतीति । तदपि न युक्तं कार्यभूतेनान्तःकरणेन स्वोपादानाज्ञानाभिभवायोगात् । तस्मात् न युक्तं किञ्चिज्ज्ञत्वे अहङ्कारोपाधिवर्णनमिति । वही० पृ० ३१० ।

२. युक्त एवायमुपाधिः । सर्वगतस्यापि जीवस्यासङ्गितया सर्वेणासंयोगात् । प्रकाशस्य च संयुक्तवस्त्वभासित्वात् । ब्रह्म तु सर्वोपादानतया स्वात्माभिन्नं जगदात्मानमिवावभासयति । न तु जीवः, अनुपादानत्वात् ॥ वही० पृ० ३१०–११ ।

३. यथा गोत्वादयो जातिविशेषाः केसरादिमद्व्यक्त्यन्तरप्रदेशसंनिहिता अपि स्वभावविशेषादश्वादिव्यक्त्यसङ्गितया तैरनभिव्यक्ता अपि सास्नादिमत्पिण्डसङ्गितया अभिव्यज्यन्ते । यथा वा प्रदीपप्रभा वाय्वाकाशरसगन्धादिप्रदेशव्यापिन्यपि स्वभावविशेषात् तानि न प्रकाशयन्ती रूपसंसर्गितया तदेव प्रकाशयति । एवं चैतन्यमपि स्वभावविशेषादन्तःकरणे संसृज्यते नान्यत्रेति युक्तम् । यथा च केवलेन वह्निना न दाह्यमपि तृणादि अयःपिण्डसमारूढेन दह्यते तथा अहङ्कारसमारूढेनात्मना केवलेनाप्रकाश्या अपि विषयाः प्रकाश्यन्ते इति युक्तमहङ्कारोपाधिवर्णनम् ॥ वही० पृ० ३११–१२ ।

जीव को अन्तःकरणोपाधिक अतएव परिच्छिन्न मानने के पक्ष में भी विषय-प्रकाश के लिये वृत्ति अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। इसे सिद्ध करते हुए प्रकाशात्मा ने कहा है, कि परिच्छिन्न होने के कारण जीव सभी कुछ को प्रकाशित नहीं कर सकता। उसके अवच्छेद के निमित्त अन्तःकरण के परिणाम (वृत्ति) द्वारा अभेद की अभिव्यक्ति हो जाने से विषयावच्छिन्न चैतन्य भी जीवचैतन्य ही हो रहता है, इसी से ब्रह्म के प्रति प्रकाशित विषय जीव के प्रति भी प्रकाशित हो जाता है।[1]

विषय-प्रकाश में वृत्ति की उपयोगिता व अनिवार्यता का एक अन्य विकल्प से निरूपण करते हुए प्रकाशात्मा ने कहा है कि जीव अज्ञान से आवृत होने के कारण स्वयं भी (अपने सर्वव्यापी रूप से) प्रकाशित नहीं होता और विविध विषयों को भी प्रकाशित नहीं करता। अन्तःकरण का उपराग होने पर (अन्तःकरण वृत्ति से विषय के संसृष्ट होने के समय विषयावच्छिन्न चैतन्य के इस स्वच्छ द्रव्य में,—स्फटिक में जवा के रक्तवर्ण की भांति,—उपरक्त हो जाने पर) विषय का आवरण दूर होने से वहीं पर अभिव्यक्त हुआ जीवचैतन्य संसृष्ट विषय को प्रकाशित करता है।[2]

विवरणकार के उक्त प्रतिपादन में वृत्ति की अनिवार्यता को दृढ़ करने वाली तीन प्रमुख युक्तियां हैं, जो जीवके स्वरूप की विभिन्न मान्यताओं के अनुसार हैं—

(१) प्रकाश संयुक्त वस्तु को ही प्रकाशित करता है। जीव को अविद्योपाधिक मानने के पक्ष में—वह सर्वगत होने पर भी असङ्ग है केवल अन्तःकरण के अवच्छेद से उसकी प्रकाशरूपता (व प्रकाशकता) अभिव्यक्त है, इस अन्तःकरण का जब विषयाकार परिणाम (वृत्ति) होता है तो इसी माध्यम से जीवचैतन्य का विषय से सम्बन्ध होता है। वृत्ति पर आरूढ़ ही वह विषय से संसृष्ट हो कर उसे प्रकाशित करता है। अतः विषय से प्रकाशक चैतन्य का सम्बन्ध कराने के लिये वृत्ति अनिवार्य है।

(२) विषय का प्रकाशक जीव नहीं ब्रह्म ही है, क्योंकि वही सब विषयों का उपादान (अधिष्ठान रूप से) है, अपने ऊपर अध्यस्त जगत् को अपने समान ही प्रकाशित करता है। इस दृष्टि का जीव को परिच्छिन्न मानने वाले पक्ष में उपयोग है। वहाँ अन्तःकरण ही जीव की उपाधि है। उसके विषयाकार परिणाम द्वारा विषयावच्छिन्न चैतन्य तथा अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य के अभेद की अभिव्यक्ति होती है, इससे ब्रह्म के द्वारा प्रकाशित विषय जीव द्वारा प्रकाशित होता हुआ दिखता है। अभेद की अभिव्यक्ति के लिये वृत्ति की अपेक्षा है।

---

१. अथ वा, सोपाधिकत्वाज्जीवः परिच्छिन्नो न सर्वमवभासयति। जीवावच्छेदनिमित्तान्तःकरणपरिणामसंसर्गकृताऽभेदाभिव्यक्तित्वात् विषयावच्छिन्नचैतन्यस्य जीवचैतन्यता च न विरुध्यते। वही, पृ० ३१५।

२. अज्ञानावृतः स्वयमप्रकाशमानतया विविधविषयाननवभासयन् अन्तःकरणोपरागादावरणतिरोधाने तत्रैवाभिव्यक्तः तत्संसृष्टमेव विषयमवभासयति। वही, पृ० ३१६–१७।

(३) जीव को व्यापक मानें या परिच्छिन्न, दोनों ही दशाओं में वह अज्ञानावृत है ही, अतः न स्वयं वास्तविक रूप में प्रकाशित होता है न विषयों को प्रकाशित करता है। अन्तःकरण का विषय से सम्वन्ध होने पर वह आवरण दूर होता है, तब अन्तःकरण की विषयाकार में परिणति-रूपा वृत्ति में अभिव्यक्त चैतन्य विषय को प्रकाशित करता है। उक्त आवरणभङ्ग वृत्ति के विना नहीं होता।

३. वृत्ति की कार्यप्रणाली

विवरणकार के उक्त प्रतिपादन में वृत्ति के उपयोग या प्रयोजन सम्वन्धी जो तीन युक्तियाँ देखी गईं उन्हें ही वृत्ति की कार्यप्रणाली, या विषय-ज्ञान में वृत्ति के उपयोग की तीन विधायें माना जा सकता है, उन्हें संक्षेप में कहें तो—जीव को विषयज्ञान होने में वृत्ति—(१) चित् के साथ विषय का सम्वन्ध कराती हुई, या (२) कल्पित भेद वाले चैतन्यों के अभेद की अभिव्यक्ति द्वारा, अथवा (३) चैतन्यों (अन्तःकरणावच्छिन्न तथा विषयावच्छिन्न) के मध्यस्थ आवरण के भङ्ग या अभिभव द्वारा विषय-ज्ञान को सम्भव वनाती है।

ऐसा कहा जाता है कि इनमें से प्रथम विवरण-प्रस्थान का अभिमत है, द्वितीय सुरेश्वर प्रस्थान का, तथा तृतीय वाचस्पति-प्रस्थान का। किन्तु द्वितीय व तृतीय को इन प्राचीन आचार्य-नामों के साथ संयुक्त करना प्रमाणसिद्ध नहीं, क्योंकि वार्त्तिक तथा भामती में इनका उल्लेख नहीं मिलता। तृतीय की तात्त्विक पृष्ठभूमि अवश्य वाचस्पति-मत के अनुरूप है। किन्तु द्वितीय के सुरेश्वर मत से योग का आधार नहीं मिलता। तीन मतों के नाम से तीनों का ही प्रतिपादन सिद्धान्तलेशसङ्ग्रह में किया गया है; मधुसूदन सरस्वती द्वारा सिद्धान्तविन्दु में प्रथम तथा तृतीय का संक्षिप्त स्पष्ट सङ्कलन एवं तृतीय का विस्तृत विवेचन किया गया है, धर्मराजाध्वरीन्द्र ने भी वेदान्तपरिभाषा में प्रथम व तृतीय का उल्लेख किया है, द्वितीय का वृत्ति के प्रयोजन के रूप में वर्णन न करके प्रत्यक्ष के निरूपण में ही प्रकारान्तर से उपयोग किया है।

अव उक्त तीनों विधाओं को पृथक्-पृथक् विस्तार से देखना प्रसङ्गप्राप्त है।

(क) चित्सम्वन्ध या चिदुपराग

(१) विवरण-प्रस्थान या विम्बप्रतिविम्ववाद में जीव का व्यवहार में प्रकट स्वरूप है अन्तःकरण में प्रतिविम्वित चैतन्य; इसे प्रथम खण्ड में देखा जा चुका है। पद्मपादाचार्य ने पञ्चपादिका में कहा है कि 'अनात्म (जड़) वस्तुओं के प्रति अज्ञान का आवरणकृत्य नहीं

है, क्योंकि वहाँ उसको कल्पना व्यर्थ है।'[१] अर्थात् विषय जड़ हैं इसीलिये स्वयं प्रकाशित नहीं होते, अज्ञान से ढके नहीं हैं। इस स्थिति में जीव को विषय का ज्ञान होने के लिये जीव-चैतन्य का विषय से सम्बन्ध-भर होना अपेक्षित है, और वह सम्बन्ध जीवत्व लाने वाली उपाधि (अन्तःकरण) के अवस्थाविशेष (वृत्ति) द्वारा ही होता है।[२] जैसे अन्धकार में पड़े घट को दीपक की दीर्घ प्रभा (झरोखे में से आती हुई ज्योति) अवगुण्ठित करके उसे प्रकाशित करती है[३] तव देखने वाला व्यक्ति घट को देखता है, ऐसे ही तैजस अन्तःकरण की वृत्ति जड़ विषय को व्याप्त करके उसे 'अभिव्यक्तियोग्य' बनाती है[४] तव जीवचैतन्य उसे प्रकाशित करता है। यही जीव को विषय का ज्ञान होना है, जो अन्तःकरणवृत्ति द्वारा ही उत्पादित है।[५] जीवचैतन्य (-रूपी प्रकाश) द्वारा जड़ विषय को व्याप्त कर लिया जाना ही चित्सम्वन्ध है। इसे पद्मपादाचार्य ने अन्यत्र जपाकुसुम व स्फटिक के दृष्टान्त से स्पष्टतर निरूपित किया है। तदनुसार जैसे स्वच्छ स्फटिक में समीपस्थित जपाकुसुम की रक्तिमा की छाया पड़ने पर वह स्फटिक लाल दिखता है, वैसे ही विषय को व्याप्त करने वाले अन्तः-करण के अवस्थाविशेष में अभिव्यक्त जीवचैतन्य (-रूप प्रकाश) से सम्वद्ध विषय प्रकाशित होता है। यह उपराग (समीप स्थित वस्तु का गुण ले लेना) ही विषय व जीवचैतन्य का सम्वन्ध है, जिससे विषय जीव के प्रति प्रकाशित होता है।[६]

'चिदुपराग' की उक्त व्याख्या पद्मपादाचार्य ने अवश्य अन्य ही प्रसङ्ग में की है, किन्तु विषयज्ञान-प्रसङ्ग में चित्सम्वन्ध के ही अर्थ में चिदुपराग शब्द का उल्लेख वहुधा किया है, अतः दोनों को एक क्रम में वैठा लेना अनुचित नहीं प्रतीत होता। किन्तु 'उपराग' का अर्थ 'सम्वन्ध'-मात्र परवर्ती विद्वानों द्वारा लिया गया है, 'उपराग' शब्द से कहे गये सम्वन्ध के विशेष रूप का ग्रहण नहीं किया गया, संभवतः इसीलिये नैयायिक आदि प्रतिवादियों की

---

१. सा च न जडेषु वस्तुषु तत्स्वरूपावभासं प्रतिवध्नाति। प्रमाणवैकल्यादेव तदग्रहणसिद्धेः। पं० पा० पृ० २८।

२. एवम्भूतस्य अहङ्कर्तुरिदमंशस्य ज्ञानसंशब्दितो व्यापारविशेषः सकर्मकत्वात् कर्म-कारकाभिमुखं स्वाश्रये कञ्चिदवस्थाविशेषमादधाति, स्वाश्रयविकारहेतुत्वात् क्रियायाः। स च प्राप्नोतिक्रियाहितकर्तृस्थविशेषवत् कर्मसम्वन्धो ज्ञातुः ज्ञेयसम्वन्धः इति गीयते। पं० पा० पृ० ११४-१५

३. यथा तमसाऽवगुण्ठितो घटः प्रदीपप्रभावगुण्ठनमन्तरेण न प्रकाशीभवति, एवम्। पं० पा० पृ० ५८।

४. विषयव्यापकस्तद्भागो विषयस्य ज्ञानकर्मत्वसम्पादकमभिव्यक्तियोग्यमित्युच्यते। वि० प्र० सं० पृ० २४४।

५. ततश्चात्मनोऽन्तःकरणावस्थाविशेषोपाधिजनितो विशेषो विषयानुभवसंशब्दितो विषयस्यापरोक्षैकरसः फलमिति क्रियैकविषयता फलस्य युज्यते। पं० पा० पृ० ११६।

६. ......तदेवं स्फटिकमणावुपधानोपराग इव चिदात्मन्यपि अहङ्कारोपरागः। पं० पा० पृ० १०२।

ओर से प्रश्न उठाया गया है कि वह 'सम्बन्ध' कौन सा है ? अप्पय दीक्षित द्वारा सिद्धान्त-लेशसंग्रह में 'उपराग' शब्द का प्रयोग भी केवल 'सम्बन्ध' अर्थ में ही किया गया है, इसी-लिये 'वह विषयोपराग क्या है ?'—प्रश्न उठा कर उत्तर में विविध सम्बन्धों की ज्ञान-प्रसङ्ग में सम्भावना-असम्भावना पर विचारों का सङ्कलन किया गया है। धर्मराजाध्वरीन्द्र ने तो वृत्ति के कार्य या प्रयोजन-सम्बन्धी इस मत की चर्चा इसे 'सम्बन्धार्थी' कहते हुए ही की है।

(२) यहाँ प्रश्न उठता है कि यह कौन सा सम्बन्ध है ? सम्बन्ध तीन प्रकार का मान्य है—१. स्वरूपसम्बन्ध २. अभेद या तादात्म्य ३. संयोग। इनमें से पहला वृत्ति द्वारा कराया जाता हो यह नहीं हो सकता, क्योंकि दो अवच्छेदकों (जीवत्व तथा विषयत्व) से अवच्छिन्न (औपाधिक भेदवाले) चैतन्यों का स्वरूपतः एक होना ही उनका स्वरूप सम्बन्ध है, और वह सर्वत्र स्वतःसिद्ध है।

द्वितीय (अभेद या तादात्म्य) सम्बन्ध भी वृत्ति द्वारा उत्पन्न किया जाने वाला नहीं। क्योंकि जो वस्तुयें पहले से ही अभिन्न हों, उन्हीं में यह सम्बन्ध रहता है, आगन्तुक तादात्म्य नहीं हुआ करता। और भी, जीवचैतन्य विषयों का उपादान नहीं है, अतः इनमें तादात्म्य असिद्ध है।

तृतीय (संयोगसम्बन्ध) भी यहाँ सम्भव नहीं, क्योंकि उसके लिये दोनों या कम से कम एक वस्तु में क्रिया रहनी आवश्यक है, किन्तु यहाँ दोनों ही वस्तुयें निष्क्रिय हैं—विषय जड़ है अतः उससे अवच्छिन्न चैतन्य विषय स्थल पर ही स्थित है; तथा जीव (अविद्याप्रति-बिम्बित चैतन्य जीव है इस पक्ष को लेते हुए) सर्वव्यापी है।

(३) (क) शारीरकभाष्य में वृत्ति का जैसा उपयोग प्रतिपादित हुआ है, उससे वृत्ति के कार्यभूत ज्ञानानुकूल सम्बन्ध का स्वरूप विषय-विषयि-भावरूप ही प्रतीत होता है। वृत्ति की उत्पत्ति से पहले विषय तथा जीव में विषय-विषयि-भाव सम्बन्ध नहीं रहता, वृत्ति के पश्चात् ही उत्पन्न होता है, और तभी जीव को विषयानुभव होता है,—ऐसा इस पक्ष का अभिप्राय है। नैयायिक भी आत्मा (जीव) व विषय में यह विषय-विषयिभाव सम्बन्ध ही मानते हैं।

(ख) अप्पयदीक्षित ने सिद्धान्तलेशसङ्ग्रह में उक्त मत के विरुद्ध विवरणकार का अभिमत कहकर एक मत का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार विषयविषयिभाव सम्बन्ध तो सभी ज्ञानों में होता है, केवल उसी की नियामिका वृत्ति को मानें तो वृत्ति का देह से निकल कर विषय देश पर्यन्त जाना व्यर्थ होगा, क्योंकि विषय-विषयिभाव तो परोक्षज्ञानों व उनके विषयों में भी रहता है, केवल उतना ही वृत्ति का कार्य नहीं, प्रत्युत—(१) विषय के सन्निहित (अत्यन्त समीप स्थित) जीवचैतन्य के साथ तादात्म्यापन्न वृत्ति (जीव में आध्यासिक तादात्म्य अन्तःकरण का है और वृत्ति अन्तःकरण से अभिन्न है अतः वृत्ति का भी जीव में आध्यासिक तादात्म्य उपपन्न है) का विषय से संयोग होने पर (२) विषय-सन्नि-हित जीवचैतन्य का भी वृत्ति के विषय के साथ संयोग होने से (३) जो विषय-संयुक्तवृत्ति-

तादात्म्य रूप परम्परासम्वन्ध होता है, वही चिदुपराग का अर्थ है, जिसे वृत्ति कराती है।[१] स्वयं प्रकाशात्मा ने चिदुपराग की परम्परासम्वन्ध रूप से व्याख्या नहीं की है।

(ग) सिद्धान्तलेशसंग्रह में ही इस प्रसङ्ग में एक अन्य मत का उल्लेख है, जिसके अनुसार विषयप्रकाश के लिये विषय के साथ जीव का साक्षात् ही सम्वन्ध मानना चाहिये। वृत्ति का विषय के साथ संयोग होने के बाद वृत्ति रूप विशेषण प्राप्त होने से (वृत्ति के अवच्छेद से) वृत्ति के अधिष्ठान जीव का भी विषय से संयोगज-संयोग रूप साक्षात् सम्वन्ध होता है, जैसा कि वृक्ष की शाखा का नदी के तरङ्ग से संयोग हो तो वृक्ष व नदी का संयोग माना जाता है।[२]

(४) वृत्ति द्वारा जीव व विषय में उत्पन्न किया जाने वाला सम्वन्ध कौन सा है? इस प्रश्न का सर्वाधिक समञ्जस समाधान धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्तपरिभाषा में किया है। पद्मपाद, प्रकाशात्मा तथा विद्यारण्य द्वारा प्रतिपादित मत का ही निष्कृष्ट अभिप्राय अत्यन्त स्पष्ट रूप से धर्मराज ने प्रकट किया है। तदनुसार—जीव का स्वरूप अविद्योपाधिक चैतन्य मानने के पक्ष में वह (जीव) अपरिच्छिन्न है इस कारण भले ही सभी वस्तुओं से स्वयं ही सर्वदा सम्बद्ध है, तब भी उसे (जीव को) विषय का भास ('यह घट है' ऐसा कह सकने के लिये अपेक्षित ज्ञान) होने के लिये उस सामान्य सम्वन्ध से अतिरिक्त एक विशेष सम्वन्ध की आवश्यकता है। वह है जीव चैतन्य तथा विषय में व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव सम्वन्ध।[३] इसमें व्यङ्ग्य का अर्थ है अभिव्यक्त होने वाला। अभिव्यक्त होने का अभिप्राय है—प्रतिविम्वित होना। व्यञ्जक का अर्थ है अभिव्यक्त करने वाला, किन्तु यहाँ इसका अभिप्राय है—प्रतिविम्वग्राही होना। अतः व्यङ्ग्य-

---

१. विषयविषयिभावमात्रनियामिका वृत्तिश्चेदनिर्गताया अप्यैन्द्रियकवृत्तेस्तन्नियामकत्वं नातिप्रसङ्गावहमिति तन्निर्गमाभ्युपगमवैयर्थ्यापत्तेः स नाभिसंहितः। किन्तु विषयसन्निहितजीवचैतन्यतादात्म्यापन्नाया वृत्तेर्विषयसंयोगे तस्यापि तद्द्वारकः परम्परासम्वन्धो लभ्यते इति स एव चिदुपरागोऽभिसंहितः।

सि० ले० सं० पृ० १४७–४८।

२. साक्षादपरोक्षचैतन्यसंसर्गिण एव सुखादेरापरोक्ष्यदर्शनाद् अपरोक्षविषये साक्षात्संसर्ग एष्टव्यः। तस्माद् वृत्तेर्विषयसंयोगे वृत्तिरूपावच्छेदकलाभात् तदवच्छेदेन तदुपादानस्य जीवस्यापि संयोगजसंयोगः सम्भवति। कारणाकारण-संयोगात् कार्याकार्यसंयोगवत् कारणाकारणसंयोगस्यापि युक्तितौल्यैनाभ्युपगन्तुं युक्तत्वाद्।

सि० ले० सं० पृ० १४८–४९।

३. तत्राविद्योपाधिकोऽपरिच्छन्नो जीवः, स च घटादिप्रदेशे विद्यमानोऽपि घटाद्याकारापरोक्षवृत्तिविरहदशायां न घटादिकमवभासयति; घटादिना समं सम्वन्धाभावात् तत्तदाकारवृत्तिदशायां तु भासयति; तदा सम्वन्धसत्त्वात्.........न हि वृत्तिविरहदशायां जीवस्य घटादिना सह सम्वन्धसामान्यं निषेधामः, किं तर्हि? घटादिभानप्रयोजकं सम्वन्धविशेषम्। स च सम्बन्धविशेषो विषयस्य जीवचैतन्यस्य च व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावलक्षणः कादाचित्कस्तदाकारवृत्तिनिबन्धनः।

वे० प० पृ० ३२६–२७।

व्यञ्जकभाव सम्बन्ध जीव व विषय में होने का अर्थ हुआ—जीवचैतन्य का विषय में प्रतिबिम्बित हो जाना। यही जीवचैतन्य का विषय से विशेष सम्बन्ध है, जिससे जीव को विषय का ज्ञान होता है। यह सम्बन्ध वृत्ति के बिना सम्भव नहीं, क्योंकि अन्तःकरण तो तैजस (अतएव स्वच्छ) द्रव्य होने के कारण जीव-चैतन्य को अभिव्यक्त करने (चैतन्य का प्रतिबिम्ब धारण करने) में स्वतः ही समर्थ है; किन्तु घट-पट आदि विषय वैसे नहीं, अर्थात् अस्वच्छ द्रव्य होने के कारण ये (विषय) जीवचैतन्य का प्रतिबिम्ब धारण नहीं कर सकते। किन्तु जब घटाकारा वृत्ति द्वारा घट का अन्तःकरण से सम्बन्ध होता है तब १. वृत्ति घट की जड़ता को अभिभूत कर देती है, और २. अन्तःकरण अपने समान अपने से संयुक्त घट में भी चैतन्य को अभिव्यक्त करने की योग्यता ला देता है, जैसे अस्वच्छ दीवाल भी विशेष तैल आदि से युक्त हो तो उसमें प्रतिबिम्बग्रहण की योग्यता आ जाती है।[1] इस प्रकार जीवचैतन्य-रूपी प्रकाश से सम्बन्ध होने पर विषय प्रकाशित होता है। इस अभिव्यञ्जकत्व की सिद्धि वृत्ति के बिना नहीं हो सकती।

जीव को अन्तःकरणोपाधिक (अत एव) परिच्छिन्न मानने के पक्ष में तो जीव का विषय से सम्बन्ध वृत्ति द्वारा ही सम्भावित है। सम्बन्ध वहाँ भी उक्त व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव ही मान्य है।

इस प्रकार जीव-स्वरूप को व्यापक (अविद्योपाधिक) तथा सीमित (अन्तःकरणोपाधिक) मानने वाले दोनों पक्षों में—जहाँ वृत्तिमान् अन्तःकरण ही (साक्षात् या परम्परा से) जीव को 'ज्ञाता' बनाता है (अगले प्रकरण में इस का स्पष्टीकरण होगा) तथा सारे आविद्यक प्रपञ्च का अधिष्ठान ब्रह्मचैतन्य है—वृत्ति का प्रयोजन जीव से विषय का ज्ञानानुकूल सम्बन्ध कराना ही है।

(ख) अभेदाभिव्यक्ति

इस विधा के स्वीकारक पक्ष के सम्मुख वस्तुस्थिति यह है कि सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म पर अध्यस्त है, अर्थात् ब्रह्मचैतन्य समस्त जगत् का अधिष्ठान है। अध्यस्त के प्रति अधिष्ठान ही उपादान है, और अधिष्ठान के प्रति अध्यस्त सर्वथा प्रकट है। अधिष्ठान रूप उपादान होते समय ब्रह्म व्यापक उपाधि माया से उपहित है, अतः समस्त घट-पटादि से उसका सर्वदा सम्बन्ध है, इसीलिये समस्त विषय उसके प्रति सर्वदा प्रकट हैं। जीव अन्तःकरणोपाधिक

---

१. तैजसमन्तःकरणं स्वच्छद्रव्यत्वात् स्वत एव जीवचैतन्याभिव्यञ्जनसमर्थम्, घटादिकन्तु न तथा; अस्वच्छद्रव्यत्वात्। स्वाकारवृत्तिसंयोगदशायान्तु वृत्यभिभूतजाड्यधर्मकतया वृत्युपहितचैतन्याभिव्यञ्जनयोग्यताश्रयतया च वृत्युदयानन्तरं चैतन्यमभिव्यनक्ति। तदुक्तं विवरणे—अन्तःकरणं हि स्वस्मिन्निव स्वसंसर्गिण्यपि घटादौ चैतन्याभिव्यक्तियोग्यतामापादयती 'तिदृष्टंचास्वच्छद्रव्यस्यापि स्वच्छद्रव्यसम्बन्धदशायां प्रतिबिम्बग्राहित्वम्। यथा कुड्यादेर्जलादिसंयोगदशायां मुखादिप्रतिबिम्बग्राहिता। घटादेरभिव्यञ्जकत्वंच तत्प्रतिबिम्बग्राहित्वम् चैतन्याभिव्यक्तत्वं तत्र प्रतिबिम्बितत्वम्। वे० प० पृ० ३२७–२८।

चैतन्य है, अतः परिच्छिन्न है; अधिष्ठान या उपादान रूप से विषयों से सम्वद्ध नहीं है, अतः उसके प्रति विषय प्रकाशित नहीं है। ऐसी स्थिति में जीव के प्रति किसी भी विषय का स्फुरण होने के लिए किसी प्रकार जीवचैतन्य का विषय के अधिष्ठान चैतन्य से अभेद अभिव्यक्त होना अपेक्षित है। तत्त्वतः (चैतन्य-मात्र रूप से) तो जीव-ब्रह्म में भेद नहीं है, अभेद ही है, तब भी अन्तःकरण तथा विषय रूप पृथक्-पृथक् उपाधियों द्वारा वह अभेद छिपा हुआ है, व्यक्त नहीं है। इसलिए जीव के प्रति विषय का प्रकाश होने के लिये जीव की उपाधि का ही कुछ ऐसा परिणाम या अवस्था-विशेष स्वीकार्य है, जिसमें उक्त वस्तुतः वर्तमान ही अभेद अभिव्यक्त हो उठे। जिससे, विषय जीव के प्रति वैसा ही प्रकट हो जाय, जैसा कि वह अपने अधिष्ठानचैतन्य के प्रति प्रकट है। देह से निकल कर विषय स्थल पर्यन्त गई हुई वृत्ति दोनों चैतन्यों का अभेद—इन दोनों उपाधियों (वृत्ति रूप अन्तःकरण तथा विषय) के एक-देशस्थ होने से हुई उपहितों की एक-देशस्थता द्वारा—अभिव्यक्त करती है।

यह अभेदाभिव्यक्ति-रूप वृत्ति-प्रयोजन चिदुपराग या सम्वन्ध को वृत्ति-प्रयोजन मानने वाले मत का ही एक विशदीकृत एवं जीव को परिच्छिन्न मानने के पक्ष के अनुकूल रूप है। धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्त-परिभाषा में इसी प्रकार से इसका निरूपण भी किया है। [1]

इस अभेदाभिव्यक्ति का स्वरूप क्या है—इस पर अप्पयदीक्षित द्वारा सिद्धान्तलेशसंग्रह में संगृहीत मतों में से एक के अनुसार (१) जैसे नाली द्वारा सरोवर व क्यारी के जल में एक होना व्यक्त होता है (सरोवर का जल क्यारी में आ जाय तो दोनों स्थलों पर एक ही जल है, यह जाना जाता है) वैसे ही विषयावच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य का वृत्ति द्वारा एकीभाव होना ही अभेदाभिव्यक्ति है।[2] तात्पर्य यही है कि यद्यपि उपाधि ही उपधेयों में भेद कराती है किन्तु यदि वह एकदेशस्थ हो जाय (दो उपाधियाँ तथा दो उपधेय एकत्र एक ही स्थान पर हों) तो उपाधि भेदक नहीं रहती। जैसे घड़ा यदि कमरे में हो तो घड़े का आकाश तथा कमरे का आकाश पृथक् नहीं होते, अथवा एक पात्र के जल में दूसरे पात्र का जल पड़ जाय तो दो पृथक् जल नहीं रहते। ऐसे ही अन्तःकरण व विषय रूप उपाधियाँ भिन्न होने पर भी वृत्ति द्वारा उन दोनों से अवच्छिन्न चैतन्य एकदेशस्थ हो जाते हैं, इससे उनका अभेद व्यक्त होता है, तब विषय अपने अधिष्ठान के प्रति प्रकट रहता हुआ, अधिष्ठान से व्यक्त अभेद वाले जीव के प्रति भी प्रकट हो जाता है। अप्पयदीक्षित ने इसे

---

१. परिच्छिन्नत्वपक्षे सम्वन्धार्थत्वं निरूप्यते। तथाहि अन्तःकरणोपाधिको जीवः। तस्य च न घटाद्युपादानता; घटादिदेशासम्वन्धात्, किन्तु ब्रह्मैव घटाद्युपादानम्, तस्य मायोपहितचैतन्यस्य सकलघटाद्यन्वयित्वात्। अतएव ब्रह्मणः सर्वज्ञता। तथा च जीवस्य घटाद्यधिष्ठानब्रह्मचैतन्याभेदमन्तरेण घटाद्यवभासासम्भवे प्राप्ते तदवभासाय घटाद्यधिष्ठानब्रह्मचैतन्याभेदसिद्धयर्थं घटाद्याकारवृत्तिरिष्यते।

वे० प० पृ० ३२८–२९।

२. कुल्याद्वारा तडागकेदारसलिलयोरिव विषयान्तःकरणावच्छिन्नचैतन्ययोर्वृत्तिद्वारा एकीभावोऽभेदाभिव्यक्तिः।

सि० ले० सं० पृ० १५२।

अन्य प्रकार से कहा है कि यद्यपि विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य ही विषय का अवभासक होता है, जीव नहीं; तब भी विषयस्थल पर्यन्त गई हुई वृत्ति द्वारा विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य का अन्तःकरणावच्छिन्न जीवचैतन्य के साथ एकीभाव होने पर उक्त ब्रह्मचैतन्य में भी जीवत्व सम्भव हो जाता है। इसीलिये 'जीव विषय का प्रकाशक है' ऐसी प्रतीति उपपन्न होती है।[1]

यद्यपि विषय का उपादान होने के नाते ब्रह्मचैतन्य ही विषय का प्रकाशक हो सकता है, जीवचैतन्य वैसा (उपादान) न होने के कारण प्रकाशक नहीं, तथापि वृत्ति द्वारा ब्रह्म-चैतन्य व जीवचैतन्य में एकीभाव होने से जीवचैतन्य भी विषय का उपादान बन जाता है। इसीसे जीव में विषय का प्रकाशक होने की प्रतीति अनुपपन्न नहीं।

यहाँ आपत्ति उठती है कि जैसे दर्पण के रहते दर्पण में पड़े प्रतिबिम्ब और ग्रीवास्थ मुख (बिम्ब) का वस्तुतः एक होना अभिव्यक्त नहीं होता, क्योंकि वहाँ बिम्ब-प्रतिबिम्ब का भेद ही स्पष्टरूप से भासता है, ऐसे ही विषय व अन्तःकरण रूप व्यावर्तक उपाधियों के रहते उनसे उपहित चैतन्यों का अभेद कैसे अभिव्यक्त होगा ? यदि वृत्ति द्वारा दोनों चैतन्यों के अभेद की अभिव्यक्ति मानी जाय तो विषयावच्छिन्न ब्रह्म में भी जीवत्व प्राप्त होने पर विषय के प्रति अधिष्ठानता न रहेगी, तब विषय का प्रकाशित न होना ही आपन्न होगा।[2]

इन कारणों से अभेदाभिव्यक्ति का उक्त स्वरूप मान्य नहीं। प्रत्युत (२) विषय का अधिष्ठान ब्रह्मचैतन्य विषय से संसृष्ट वृत्ति के अग्रभाग में विषय को प्रकाशित करने वाला अपना प्रतिबिम्ब डालता है। इस प्रतिबिम्ब का ही वृत्ति में प्रतिबिम्बित जीवचैतन्य के साथ अभेद वृत्ति-कृत अभेदाभिव्यक्ति है। जैसे दीपक की प्रभा अपने स्थान से निकल कर लम्बी हो कर विषय तक जाती है, वैसे ही अन्तःकरण की वृत्ति अन्तःकरण से लेकर विषय तक अवि-च्छिन्न रूप से जाती है। इस वृत्ति का विषय के साथ सम्बद्ध भाग अग्रभाग कहा जाता है। इस अग्रभाग में पड़े हुए ब्रह्म के विषयप्रकाशक प्रतिबिम्ब के साथ जीवरूप प्रतिबिम्ब—जो कि वृत्ति में आरूढ़ रूप से विषयदेश में भी उपस्थित है—का एकदेशस्थ होने के नाते एकीभाव होता है, यही अभेदाभिव्यक्ति है। ऐसा एक मत है।[3]

---

१. यद्यपि विषयावच्छिन्नं ब्रह्मचैतन्यमेव विषयप्रकाशकम्, तथापि तस्य वृत्तिद्वारा एकीभावेन जीवत्वं सम्पन्नमिति जीवस्य विषयप्रकाशोपपत्तिरिति।

वही, पृ० १५२-५३।

२. बिम्बस्थानीयस्य विषयावच्छिन्नस्य ब्रह्मणः प्रतिबिम्बभूतेन जीवेन एकीभावो नाभेदाभिव्यक्तिः। व्यावर्तकोपाधी दर्पण इव जाग्रति तयोरेकीभावायोगात्। वृत्तिकृताभेदाभिव्यक्त्या विषयावच्छिन्नस्य ब्रह्मणो जीवत्वप्राप्तौ ब्रह्मणस्तदा तद्विषय-संसर्गाभावेन तद्द्रष्टृत्वासम्भवे सति तस्य सर्वज्ञत्वाभावापत्तेश्च।

वही, पृ० १५३–५४।

३. विषयावच्छिन्नं ब्रह्मचैतन्यं विषयसंसृष्टाया वृत्तेरग्रभागे विषयप्रकाशकं प्रतिबिम्बं समर्पयतीति तस्य प्रतिबिम्बस्य जीवेनैकीभावोऽभेदाभिव्यक्तिः॥

वही पृ० १५४-५५।

वस्तुतः प्रथम विधा (चिदुपराग) में वृत्ति का विषयपर्यन्त बहिर्गमन आवश्यक है और द्वितीय विधा (अभेदाभिव्यक्ति) में सीधे मन का ही विषय से सम्बन्ध सम्भव होने से वह आवश्यक नहीं। यही इस (अभेदाभिव्यक्ति-पक्ष) की विशेषता है।

(ग) आवरणभङ्ग—

ब्रह्म का ही अविद्या में प्रतिविम्ब जीव है, अथवा अविद्योपाधिक चैतन्य जीव है, अतएव सर्वगत है, अविद्या के विक्षेप-पक्ष द्वारा प्रस्तुत समस्त जागतिक पदार्थों से सर्वदा सम्बद्ध है, इस मत में जोव को सदा सर्वविषयक ज्ञान होना प्रसक्त है क्योंकि वह उन पदार्थों के अधिष्ठान से अभिन्न है। तथा अविद्या का आश्रय जीव है इस मत में तो जीव ही जगदध्यास का अधिष्ठान है। अतः उसके प्रति सभी विषयों का सर्वदा प्रकाश प्रसक्त है। इस कारण इन दोनों मतों में सभी विषयों को आवृत करनेवाला अविद्या का एक (अथवा अनेक) रूप माना जाता है, जो विषयों को जीव के प्रति अज्ञात वनाता है। इस अज्ञान रूप आवरण का हटना जीव को विषय का ज्ञान होने के लिये अपेक्षित है। इस अपेक्षा को पूरा करना ही अन्तःकरणवृत्ति का फल है।

आवरण का स्वरूप, तथा अभिभव का अर्थ

यहाँ,- आवरण क्या है ? उसका हटना क्या है ? ये दो प्रमुख प्रश्न उठते हैं। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने सिद्धान्तविन्दु में इस पक्ष का अपने अभिमत रूप से विस्तृत विवेचन किया है। अप्पयदीक्षित ने सिद्धान्तलेशसंग्रह में विस्तार से, धर्मराज (वेदान्तपरिभाषाकार) ने संक्षेप से उसका सङ्कलन तथा गङ्गाधरेन्द्रसरस्वती ने स्वाराज्यसिद्धि में पुनः उसके सदृश ही, नई युक्तियों सहित प्रतिपादन किया है। इन सब के द्वारा की गई चर्चा में से निष्कृष्ट रूप में उक्त प्रश्नों में प्रथम (आवरण क्या है ?) का उत्तर द्विविध मिलता है—(१) अन्तःकरण की वृत्ति के अभाव से युक्त अज्ञान, विद्यमान तथा प्रकाशमान वस्तु में भी 'नहीं है', 'नहीं प्रकाशित है' ऐसी प्रतीति को उत्पन्न करने में समर्थ हो कर आवरण कहलाता है।[१] यह आचार्य मधुसूदन का मत है। इसकी तात्त्विक पृष्ठभूमि है—भामतीप्रस्थान में सम्मत जीव-जगत् का स्वरूप व स्थिति; जहाँ जीव अविद्या का आश्रय होते हुए भी अन्तःकरणावच्छिन्न (परिच्छिन्न) चैतन्य है; और जगत् अविद्याविषयीकृत ब्रह्मचैतन्य पर अध्यस्त वस्तुनिचय।

(२) मूल अज्ञान के अधीन उसी के अवस्था-विशेष (वृत्ति के अभाव से जन्य अवस्था)—रूप 'तूल' या 'अवस्था' संज्ञा वाले असंख्य अज्ञान होते हैं। वे ही विषय के आवरण हैं।[२] यह सिद्धान्तविन्दु तथा वेदान्तपरिभाषा में उल्लिखित मत है। अवश्य ही इसकी तात्त्विक पृष्ठभूमि है वाचस्पति मत से प्रभावित विवरणप्रस्थान की सम्मत जीव-जगत्

---

१. प्रमाणजन्यान्तः करणवृत्त्यभावसहकृतमज्ञानं सति भात्यपि वस्तुनि नास्ति न भातीति प्रतीतिजननसमर्थमावरणमित्युच्यते। सि० वि० पृ० ६३।

२. अथवा मूलाज्ञानस्यैवावस्थाभूतान्यज्ञानानि घटादिविषयावरणानि।
सि० बि० पृ० ६४।

की स्थिति। तदनुसार जगत् का उपादान अज्ञान ब्रह्म में ही आश्रित है, उसीको विषय करता है, उसके शक्तिद्वय ब्रह्म को ही आवृत करते हुए विवर्तित करने में कृतकृत्य है। उसी मूल अज्ञान का ही आवरण-पक्ष पुनः अध्यस्त जड़विषयों को आवृत नहीं करता। जीव अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य है, अतः व्यापक है; अथ च सभी जड़ विषय सर्वदा जीव के प्रति प्रकाशित नहीं, इस की उपपत्ति के लिये शुद्ध विवरण-प्रस्थान में तो व्यापक जीव को असङ्ग मानते हुए अन्तःकरण के अवच्छेद से वृत्ति द्वारा किये गये सम्बन्ध को ही विषयज्ञान का नियामक माना गया है। किन्तु वाचस्पति-प्रस्थान से प्रभावित विचारकों ने अज्ञान के ही एक अन्य रूप की धारणा प्रस्तुत की है जो (अज्ञान का रूप) विषयों के ज्ञान का प्रतिबन्धक है।

द्वितीय प्रश्न (आवरण का हटना क्या है?) का उत्तर आवरण-स्वरूप के प्रथम पक्ष में चार प्रकार से, तथा द्वितीय पक्ष में दो प्रकार से मिलता है। तदनुसार यदि आवरण एक ही व्यापक संकोचविकासशील वस्तु है तो अन्तःकरणवृत्ति उदित होने पर—(१) उसकी आवरणशक्ति प्रतिबद्ध हो जाती है; वह रहता हुआ भी न रहने के समान हो जाता है; आवरणरूप कार्य को उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाता है; यही उसका अभिभव, तिरस्कार या तिरोभाव है। क्योंकि वृत्ति का अभाव ही अज्ञान को आवरण-पदवाच्य बनाता है, इसलिये वृत्ति का उदय होने पर वह आवरक नहीं रहता, अज्ञान नष्ट नहीं हो जाता।[1] अथवा (२) आवरक अज्ञान के एक अंश या देश का विषयस्थल पर नाश होता है, सम्पूर्ण का नहीं, जैसे घने अन्धकार के एक देश का जुगनू के प्रकाश से विनाश होता है, बाकी अन्धकार ज्यों का त्यों बना रहता है। और जुगनू का प्रकाश न रहने पर पुनः उस स्थल को भी अन्धकार ढक लेता है।[2] इसे स्वाराज्यसिद्धि में अधिक स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वृत्ति द्वारा आहृत ज्ञान (वृत्ति पर आरूढ़ जीवचैतन्य) विषयदेश पर स्थित अज्ञानांश को उतने समय के लिये ऐसा नष्ट कर देता है जैसे कि उतने अंश का छेदन करके विषय-पर्यन्त पहुँच जाता है। फिर अज्ञान का ऐसा स्वभाव है कि अन्तःकरणवृत्ति के विषयदेश से हटते ही वह वृत्ति-कृत छिद्र पुनः पूरित हो जाता है। तथा जैसे दीप की एकमुखी प्रभा जिस वस्तु पर जितने समय के लिये पड़ती है, उस वस्तु पर उतने समय के लिए अन्धकार नहीं रहता, प्रभा के हटते ही अन्धकार पुनः उस वस्तु को घेर लेता है अर्थात् अन्धकार प्रकट हो जाता है। क्योंकि वृत्ति-संयुक्त स्थल में अन्धकार अपने कार्य में अक्षम रहते हुए भी विद्यमान तो है ही, वस्तुतः हट नहीं जाता अर्थात् नष्ट नहीं हो जाता। अथवा (३) अज्ञान समस्त विषयों को ढकनेवाली

---

१. वृत्तौ जातायां त्ववच्छेदकाभावाद् विद्यमानमप्यविद्यमानसममेवेति न स्वकार्यसमर्थमज्ञानम्। तेनाभिभूतमित्युच्यते। सि० बि० पृ० ६२।
अविद्योपहितचैतन्यस्य जीवत्वपक्षे घटाद्यधिष्ठानचैतन्यस्य जीवरूपतया जीवस्य सर्वदा घटादिभानप्रसक्तौ घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यावरकमज्ञानं मूलाविद्यापरतन्त्रमवस्थापदवाच्यमभ्युगपगन्तव्यम्। एवं सति न सर्वदा घटादेर्भानप्रसङ्गः; अनावृतचैतन्यसम्बन्धस्यैव भानप्रयोजकत्वात्। वे० प० पृ० ३२४।

२. चैतन्यमात्रावारकस्याज्ञानस्य विषयावच्छिन्नप्रदेशे खद्योतादिप्रकाशेन महान्धकारस्येव ज्ञानेनैकदेशेन नाशः। सि०ले०सं० पृ० १५७।

एक विस्तृत चटाई के समान है, (यही आवरणाभिभव है) और वृत्ति के हटते ही पुनः उस विषय पर भी बिछ जाती है। अथवा (४) आवरक अज्ञान में किसी विषय के आकार में परिणत वृत्ति से सम्पृक्त अवस्था वाले उस विषय से अवच्छिन्न चैतन्य को आवृत न करने का स्वभाव ही आवरणाभिभव है।[1]

अवस्था अज्ञानों को आवरण मानने के पक्ष में—(१) विषय को ढके हुए एक अवस्था अज्ञान का वृत्ति पर आरूढ़ चैतन्य से नाश हो जाता है, अन्य सब—एक की मृत्यु से भयभीत अन्य अनेक सैनिकों के समान वहाँ से दूर हट जाते हैं; मारनेवाले शत्रु के समान वृत्ति के हट जाने पर पुनः शेष सब अज्ञान उस विषय को घेर लेते हैं।[2] इसी स्थिति को कुछ विद्वान् अन्य अज्ञानों की आवरणशक्ति का प्रतिबन्ध या पराभव भी कहते हैं। तदनुसार जब तक वृत्ति बनी रहती है तब तक अन्य अज्ञानों की आवरणशक्ति प्रतिबद्ध रहती है।[3] अथवा (२) न्यायमत में जैसे ज्ञानों के समसंख्यक ज्ञानप्रागभाव स्वीकृत हैं। ये प्रागभाव अनेक होने पर भी एक ज्ञान की उत्पत्ति से उसके एक ही प्रागभाव का विनाश होता है, अन्य सब बने रहते हुए भी विषय के ज्ञान को रोकते नहीं, वैसे ही एक वृत्तिज्ञान के उदय से एक ही अवस्था अज्ञान नष्ट होता है, अन्य अज्ञानों के रहते हुए भी विषय का अवभास होता ही है।[4]

इस पक्ष की विशेषता—

मधुसूदन के पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा किये गये वृत्ति-कार्य सम्बन्धी विवेचन में एक त्रुटि दिखाई देती है कि वृत्ति को जन्यज्ञान-मात्र के लिये चैतन्य की उपाधि मानना युक्तिसिद्ध होने पर भी वृत्ति का उपयोग दिखाते समय केवल प्रत्यक्षज्ञान को ही दृष्टि में रखा गया है। 'वृत्ति विषय-विषयिभाव की ही नियामिका हो तो उसका विषयस्थल तक जाना व्यर्थ होगा, तथा अनुमिति आदि के विषय भी प्रकाशित (प्रत्यक्ष) हो जायेंगे'। 'वृत्ति चिदुपराग (विषय को व्याप्त किये हुए वृत्तिभाग में विषयावच्छिन्न चैतन्य के प्रतिबिम्ब से जीव रूपी चैतन्यप्रतिबिम्ब का सम्बन्ध या विषयसंयुक्तवृत्तितादात्म्य रूप परम्परासम्बन्ध) के लिए है।' या 'विषयावच्छिन्न चैतन्य से जीवचैतन्य के अभेद को व्यक्त करने के लिये वृत्ति होती है।' इत्यादि कथनों का निष्कृष्ट अभिप्राय यही निकलता है कि वृत्ति-कल्पना का प्रयोजन केवल प्रत्यक्ष ज्ञानों को सम्भव बनाना है जो कि वृत्ति की व्यापक धारणा के अनुरूप नहीं, अथवा जिस के रहते वृत्ति को ज्ञान-मात्र में अनुगत एक कारण कहना उपपन्न नहीं होता।

---

१. कटवत् संवेष्टनं वा। वही, पृ० १५७।
अतः चैतन्यमात्रावारकस्याप्यज्ञानस्य तत्तदाकारवृत्तिसंसृष्टावस्थविषयावच्छिन्नचैतन्यानावारकस्वस्वाभाव्यमेवाभिभवः। वही, पृ० १५८।

२. भीतभटवदपसरणं वाऽभिभवः। वही, पृ० १५७।

३. वृत्तौ जातायां त्ववच्छेदकाभावाद् विद्यमानमपि अविद्यमानसममेवेति न स्वकार्यसमर्थमज्ञानम्। तेनाभिभूतमित्युच्यते। सि० वि० पृ० ६२।

४. अज्ञानस्य ज्ञानप्रागभावस्थानीयत्वेन यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीत्यभ्युपगमादेकेन ज्ञानेनैकस्यैवाज्ञानस्य नाशाद्""""। सि० वि० पृ० ६४।

आचार्य मधुसूदन ने वृत्ति की व्यापक प्रयोजनीयता के स्वरूप को स्पष्टतर बताने व विवरण-प्रस्थान के वृत्ति-उपयोग की अव्याप्ति को दूर करने के लिये सिद्धान्तबिन्दु में प्रश्न उठाया है कि आवरण का अभिभव या नाश (विषयज्ञान में वृत्ति के उपयोग की तृतीय विधा के अनुसार) केवल प्रत्यक्ष स्थल में होता है या परोक्ष में भी होता है। यदि अनुमान आदि परोक्ष प्रमाणों से उत्पन्न ज्ञानों में भी आवरणभङ्ग हो कर ही विषय ज्ञात होता हो तो शङ्ख में पीलापन दिखाई देना आदि प्रत्यक्ष भ्रम के स्थल पर श्वेतता के अनुमान से ही पीलेपन की निवृत्ति हो जानी चाहिये, क्योंकि अधिष्ठान का अज्ञान ही भ्रम का उपादान होता है (आगे प्रसङ्ग आने पर इसे कहा जायेगा) और वह अज्ञान सफेदी के अनुमान से दूर हो गया। यदि अनुमान आदि में विषय का आवरक अज्ञान नहीं हटता तो 'पर्वत में अग्नि है' ऐसा कहा नहीं जा सकता, प्रत्युत 'अग्नि नहीं है' यही कहा जायेगा।

इसका समाधान करते हुए आवरण के दो रूप कहे गये हैं—एक असत्त्वापादक आवरण जो 'यह नहीं है' कहने का प्रयोजक होता है, दूसरा—अभानापादक आवरण जो 'यह प्रतीत या प्रकाशित नहीं हो रहा' कहने का निमित्त बनता है। पहला आवरण अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य में रहता है, इससे विद्यमान वस्तु में सत्ता के ज्ञान का प्रतिबन्ध होता है। सत्ताज्ञान प्रमाता (वृत्तिमान् अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य) में रहता है, उसका प्रतिबन्धक आवरण भी वहीं रहना चाहिये क्योंकि वैयधिकरण्य (भिन्न आधारों में स्थित वस्तुओं में प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव सम्भव नहीं। दूसरा अभानापादक आवरण विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य पर रहता है। क्योंकि विषय का भान या प्रकाश उसी पर अवलम्बित है, अतः उसे रोकने वाला आवरण भी वहीं रहना उचित है।[1] इस प्रकार आवरण द्विविध है, क्योंकि "मैं घट को नहीं जानता हूँ" इस प्रकार के अज्ञान-बोध में अहमर्थ (जीव) तथा घट दोनों के ही अवच्छेद का अनुभव होता है।

(अन्तःकरण-) वृत्ति प्रत्यक्ष व परोक्ष सभी ज्ञानों में होती ही है, जीव में स्थित विषय में असत्त्वापादक आवरण को प्रत्येक ज्ञान हटाता है, अभानापादक आवरण उक्त तीनों दृष्टियों के अनुसार विषय स्थल पर जा कर उसे व्याप्त करनेवाली वृत्ति द्वारा ही नष्ट होता है।

(घ) तीनों उपयोगों की सम्मिलित अपेक्षा

जीव के स्वरूप के विषय में तीन पक्षों के अनुसार ज्ञानप्रक्रिया में वृत्ति के उपयोग या प्रयोजन भी उक्त तीन प्रकार से देखे गये। तटस्थ दृष्टि से 'जीव को विषयज्ञान होना'

---

१. द्विविधमावरणम्। एकमसत्त्वापादकमन्तःकरणावच्छिन्नसाक्षिचैतन्यनिष्ठम्। अन्यदभानापादकं विषयावच्छिन्नब्रह्मचैतन्यनिष्ठम्। घटमहं न जानामीत्युभयावच्छेदानुभवात्। तत्राद्यं परोक्षापरोक्षसाधारणप्रमाणज्ञानमात्रेण निवर्तते। अनुमितेऽपि वह्न्यादौ नास्तीति प्रतीत्यनुदयात्। द्वितीयं तु साक्षात्कारेणैव निवर्तते। यदाश्रयं यदाकारं ज्ञानं तदाश्रयं तदाकारमज्ञानं नाशयतीति नियमात्। परोक्षज्ञानस्य च विषयेन्द्रियसंनिकर्षाभावेनान्तःकरणमात्राश्रयत्वात्। अपरोक्षज्ञानस्यैव विषयेन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्वेन विषयान्तःकरणोभयनिष्ठत्वात्। वही, पृ० ६५-६६।

रूप घटना को देखा जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी सम्भावक रूप से अभिमत वृत्ति के उक्त त्रिविध उपयोग परस्पर सापेक्ष होते हुए मिलित रूप से उक्त एक ही कार्य (जीव को विषय का ज्ञान) के साधक हैं। क्योंकि जीव व विषय के भेदक या उनका परस्पर प्रकाश होने के प्रतिवन्धक आवरण का अभिभव हुए विना जीवचैतन्य व विषयचैतन्य का अभेद अभिव्यक्त नहीं हो सकता। और वह आवरण का भङ्ग या अभिभव भी चिदुपराग विना सम्भव नहीं, केवल वृत्ति जड़ पदार्थ ही होने के कारण अज्ञान को दूर नहीं कर सकती, उस (वृत्ति) पर आरूढ अवस्था में अज्ञान का विरोधी वनने वाला चैतन्य (प्रकाश) ही अज्ञानावरण को हटा सकता हैं, उसके लिये उस चैतन्य का विषय से विशेष सम्बन्ध अपेक्षित है ही।[1]

यह त्रिविध प्रयोजनों का मिलित उपयोग कहना अपसिद्धान्त नहीं, क्योंकि तीनों प्रयोजनों की पृष्ठभूमि जो त्रिविध जीवस्वरूप हैं—

(१) अविद्या में प्रतिविम्वित चैतन्य—एक जीव

(२) अन्तःकरण में प्रतिविम्वित चैतन्य—अनेक जीव

(३) अन्तःकरण से अवच्छिन्न (ब्रह्म से पृथक्, सीमित) तथा

अविद्या का आश्रय चैतन्य—अनेक जीव

—उनका भी ज्ञान-प्रक्रिया में अन्ततः समान ही उपयोग देखा जाता है। अविद्योपाधिक चैतन्य-रूप व्यापक, किन्तु असङ्ग जीव भी अन्तःकरणोपाधिक रूप से ही, 'ज्ञाता' वनता है क्योंकि अन्तः-करणावच्छेद से जीव ही अनावृत कहा गया; अतः उसका व्यापक रूप आवृत माना ही गया है, भले ही विषयों पर आवरण न माना हो।[2] उस स्थिति में केवल चित्सम्वन्ध ही वृत्ति का प्रयोजन कहे जाने पर भी अर्थतः आवरणभङ्ग भी विषय की 'जड़ता के अभिभव' रूप से प्राप्त हो ही जाता है, जड़ता का अभिभव करती हुई वृत्ति विषय में अभिव्यक्तियोग्यता (चित्प्रतिविम्वग्राहिता) लाती है यह विवरणमत के विवेचन में देखा जा चुका है। अन्तःकरण को दर्पण रूप से चित्-प्रतिबिम्ब-ग्राहक उपाधि कहें या घट के द्वारा आकाश के समान चैतन्य को सीमित, ब्रह्मचैतन्य से पृथक् करनेवाला (अवच्छेदक) कहें—इससे स्थूल व्यवहार में कोई अन्तर नहीं पड़ता। व्यावहारिक स्थिति में तो परिच्छिन्न ही जीव के सामने असंख्य विषयों से भरा जगत् है, जिसमें से एक समय एक-एक विषय का ज्ञान उसे हुआ करता है, यह सीमित चैतन्य के प्रति सीमित विषय-प्रकाश ही व्यावहारिक ज्ञान (वृत्तिज्ञान) है। इसलिये वृत्ति के प्रयोजन के विषय में विचार करते समय अन्तःकरण को किसी भी प्रकार से जीव की उपाधि मानें, जीव में ज्ञातृत्व अन्तः-करण द्वारा ही आता है—यह सभी पक्षों में स्वीकृत है। अतः पूर्वोक्त प्रकार से तीनों ही वृत्ति-

---

१. अभेदाभिव्यक्तिर्न भवति विना वृत्त्यभिभवं
न सोऽपि स्यान्नूनं सति चिदुपरागस्य विरहे।
अतस्तद्वादे तु द्वितयमपि चेदं किल यथा—
ऽविनाभावाद्भङ्गः खलु चिदुपरागेऽस्ति तमसः। बो० सि० पृ० ३१७।

२. सा च न जडेषु वस्तुषु तत्स्वरूपावभासं प्रतिवध्नाति। पं० पा० पृ० २८।

प्रयोजन एक साथ सार्थक हैं, विकल्प से नहीं। इसीलिये सिद्धान्तविन्दु में आचार्य मधुसूदन का कथन है कि 'जिस पक्ष में अन्तःकरणावच्छिन्न जीव है और जिसमें सर्वगत, असङ्ग, अविद्याप्रतिबिम्ब जीव है उन दोनों ही पक्षों में (१) अन्तःकरणवृत्ति प्रमातृचैतन्य के उपराग के लिये तथा (२) विषयगत चैतन्य के आवरण का भङ्ग करने के लिये होती है।'[1] इस आवरणभङ्ग का भी उद्देश्य है—प्रमातृचैतन्य व प्रमेयचैतन्य के (३) अभेद की अभिव्यक्ति; क्योंकि उसके विना प्रमाता जीव के प्रति विषय का प्रकट होना सम्भव नहीं; क्योंकि विषय का अधिष्ठान-भूत चैतन्य ही विषय का प्रकाशक है, उससे अभिन्न होकर ही जीव विषय-प्रकाशक वनता है; अथवा समस्त जगत् जिस चैतन्य पर अध्यस्त है उसी के प्रति सर्वदा प्रकट है। जब कोई प्रमाता वृत्ति द्वारा उस अधिष्ठानचैतन्य से अभिन्न होता है, तब अध्यस्त वस्तु के जिस अंश के अवच्छेद से जिस प्रमाता का अभेद अभिव्यक्त हुआ है, उसी प्रमाता के प्रति वह अंश प्रकट हो जाता है; घट-पट आदि नाना विषय जगत् के वे अंश ही हैं, जिनका आकार धारण करके, परिच्छिन्न अन्तःकरण की परिच्छिन्न ही वृत्ति, प्रमाता (अन्तःकरण-प्रयुक्त ही प्रमातृत्व होने से वह भी परिच्छिन्न ही है) का, घट-पटादि परिच्छिन्न विषयों के अधिष्ठान रूप से स्थित ब्रह्मचैतन्य से, अभेद अभिव्यक्त करती है। इसीसे परिच्छिन्न विषय-ज्ञान घटित होता है।

अवश्य ही उक्त तीनों वृत्ति-प्रयोजनों की पूरी सार्थकता उसी विषयज्ञान में है, जिससे 'यह घट है' (या 'यह अमुक वस्तु है') ऐसा व्यवहार होता है। 'वहाँ अग्नि है' 'इस वस्तु का यह नाम है' 'दिन में न खाने वाला देवदत्त अवश्य रात में खाता है' 'यहाँ घट नहीं है' इत्यादि व्यवहार कराने वाले अन्य ज्ञानों में वृत्ति के केवल तृतीय प्रयोजन (आवरणाभिभव) का उपयोग है, वह भी आंशिक रूप से ही है। (सभी परोक्षज्ञानों में केवल असत्त्वापादक आवरण की निवृत्ति होती है)।

—: ० :—

विना येन न किञ्चित् स्यात् समस्ता अपि वृत्तयः।
अनस्तमितसम्बोधस्वरूपं तं स्तुमः शिवम् ॥
स्वसंवेदनसंसिद्धव्यवहारवशेन यः।
नित्यं महेश्वरः सिद्धः सिद्धानां तं स्तुमः शिवम् ॥

ॐ

---

१. यस्मिन् पक्षेऽन्तःकरणावच्छिन्नो जीवः यस्मिंश्च पक्षे सर्वगतोऽसङ्गोऽविद्याप्रतिबिम्बो जीवः तत्रोभयत्र अपि प्रमातृचैतन्योपरागार्था विषयगतचैतन्यावरणभङ्गार्था चान्तःकरणवृत्तिः। सि० वि० पृ० ५९।

नवम परिच्छेद

वृत्तिभेद एवं ज्ञानघटक

१. त्रिविध विभाजन

वृत्ति के स्वरूप-निरूपण में देखा गया कि तत्त्व (चैतन्य) की उपाधि का ज्ञान के अनुकूल परिणाम या अवस्था-विशेष वृत्ति का अर्थ है। इसी में से वृत्ति के भेद या प्रकार देखने के लिये भी दृष्टिभेद का सङ्केत मिलता है। अवस्था किस की ? तथा ज्ञान कैसा ? ये दोनों प्रश्न परस्पर सापेक्ष होते हुए सामने आते हैं तथा उत्पत्ति-विनाशशील ज्ञान के प्रकारों के प्रयोजक वृत्ति-प्रकारों की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। प्रथम प्रश्न वृत्ति के आश्रय या उत्पत्तिस्थल की ओर से वृत्ति-भेद देखने की ओर प्रवृत्त करता है, और द्वितीय ज्ञान की प्रकृति को ओर से वृत्ति के दो प्रकार के भेद दिखाता है, जिन में से एक प्रकार विभिन्न जीवनदशाओं में होने वाले ज्ञान की प्रयोजिका रूप से, और दूसरा सामान्य रूप से जीवन में अनुभूत सभी ज्ञान-प्रकारों की प्रयोजिका रूप से, वृत्ति के भेद दिखाता है। इन सब प्रकार के वृत्तिभेदों व उनके कार्यों को तालिका तथा वृक्ष में देखना सुकर होगा।

(क) उपाधि (अज्ञान) के विविध रूपों की दृष्टि से—
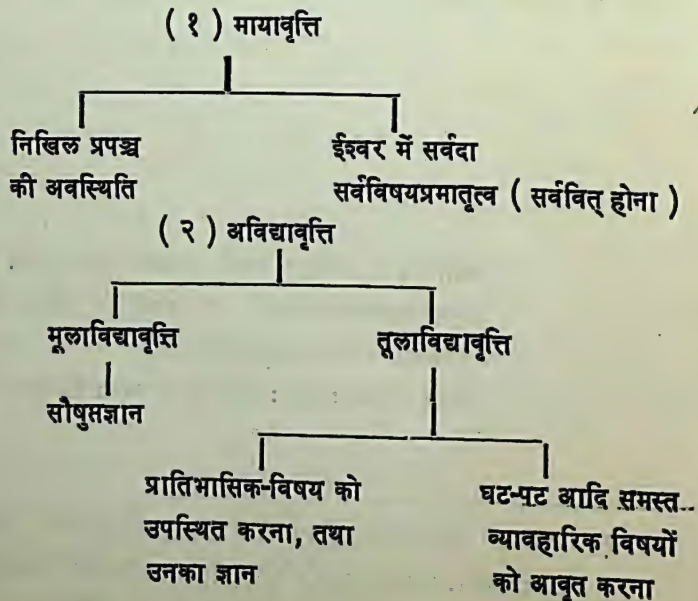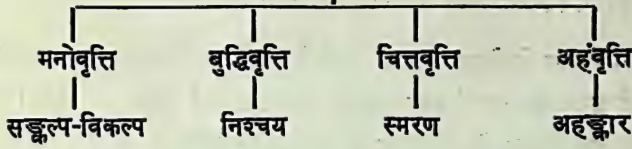
(ख) विभिन्न जीवनदशाओं की दृष्टि से

(१) जाग्रद्-वृत्ति—जाग्रद्दशा में होने वाले सभी ज्ञानों की सामान्य प्रयोजिका; यह वास्तव में अन्तःकरणवृत्ति का ही नामान्तर है।

(२) स्वप्न-वृत्ति—स्वप्नदशा में होने वाले ज्ञान व ज्ञेय दोनों की सम्भाविका। यह तूलाविद्या का नामान्तर है।

(३) सुषुप्तिवृत्ति—सुषुप्तिदशा में होने वाले ज्ञान की प्रयोजिका, यह मूलाविद्यावृत्ति का ही नामान्तर कहा जा सकता है।

(ग) खण्डज्ञान या विच्छिन्न प्रतीति के प्रकारों की दृष्टि से
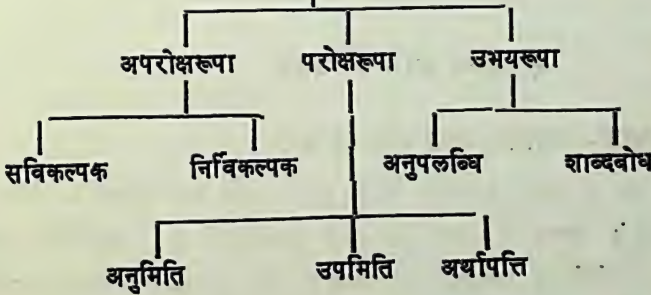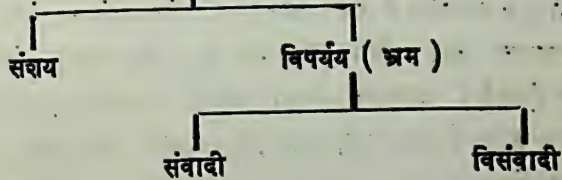
(३) स्मृतिरूपा वृत्ति

(४) प्रत्यभिज्ञारूपा वृत्ति

उपर्युक्त सभी वृत्तिभेद वास्तव में जन्यज्ञान के ही विभिन्न रूप हैं। जन्यज्ञान क्योंकि वृत्ति पर ही अवलम्बित है, अतः ज्ञानों के भेद से ही वृत्ति के भेद भी स्वभावतः स्वीकार्य हैं; तथा वृत्ति की आलोचना में ज्ञान की आलोचना ही स्वतः प्रसक्त हो जाती है, क्योंकि वृत्ति की धारणा का उदय ही ज्ञान के सन्दर्भ में हुआ है। और व्यावहारिक दशा की समाप्ति से

पहले क्षण तक वृत्ति व ज्ञान का अयुतसिद्ध सम्बन्ध है, अतः वृत्ति-विचार में ज्ञान-विश्लेषण को किसी भी प्रकार विवेच्य सीमा से बाहर नहीं कहा जा सकता।

ज्ञान का विशेष विश्लेषण आरम्भ करने से पहले उसके घटकों का स्वरूप स्पष्ट होना आवश्यक है। वे घटक हैं—ज्ञा (धातु) ज्ञप्ति, ज्ञाता, ज्ञान (करण) व ज्ञेय। इन्हीं के कुछ विशेषित (तथा ज्ञान-विचार में अधिकतर प्रयुक्त) नाम व रूप हैं—प्रमा, प्रमिति, प्रमाता, प्रमाण व प्रमेय। इन्हीं पदों व उनके अर्थों का विश्लेषण सबसे पहले प्राप्त है। उसके पश्चात् उपर्युक्त वृत्तिभेदों की (क) तथा (ख) विधाओं का विवरण प्रस्तुत किया जायेगा। (ग) विधा का विवरण अति-विस्तीर्ण होने से आगामी तीन अध्यायों में विभक्त है।

२. जन्य ज्ञान के घटक

(क) 'ज्ञा' व 'प्रमाङ्'—धात्वर्थ, तथा ज्ञप्ति या प्रमा

ज्ञा (मूल रूप या धातु स्थानीय स्थिति) का मुख्य अर्थ वेदान्त में चित्-तत्त्व ही है। किन्तु धातु के समान ही शुद्ध चित्-तत्त्व अव्यवहार्य है। अतः जैसे धातु से विभिन्न प्रत्यय लग कर विभिन्न व्यवहार्य शब्द बनते हैं, वैसे ही शुद्ध चित्-तत्त्व का अविद्या (—रूपी कृदन्त) से कैसा भी (तात्त्विक हो नहीं सकता अतः आध्यासिक ही) सम्बन्ध होने पर अविद्या के ही विभिन्न कार्यों (अन्तःकरण तथा, स्वयं अविद्या व माया की वृत्तियों) के अवच्छेद से ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञप्ति आदि रूपायित होते हैं। ये सब रूप बनने से पहले ज्ञा का 'धातु' होना प्रबल होता है (जैसे ब्रह्म में ईश्वरत्व या जगत्कारणत्व का उन्मेष होता है) तदनुसार उसका अर्थ हो जाता है एक क्रिया-विशेष, जिससे प्रभावित विभिन्न कारक (कर्ता, कर्म, करण) हैं—ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान; तथा जिससे निष्पन्न फल है ज्ञप्ति या बोध।

'ज्ञा' का अर्थ क्रिया-विशेष कहने में मीमांसक सिद्धान्त का पुट अवश्य आ जाता है, और अद्वैतसम्प्रदाय में इसका विरोध बहुधा देखा जाता है, किन्तु जहाँ-जहाँ ज्ञा या ज्ञान (भावार्थक) को गुण, धर्म या क्रिया रूप कहने का युक्ति-प्रसार-पूर्वक विरोध करते हुए ज्ञान के स्वरूप के सम्बन्ध में न्याय, साङ्ख्य तथा मीमांसक मतों का खण्डन किया गया है, वहाँ-वहाँ ज्ञान या उसके पर्याय शब्द के मुख्य ही अर्थ का ग्रहण है, जो कि वेदान्त में आत्मा का

स्वरूप ही है।[1] न्याय में ज्ञान आत्मा के विशेष गुणों में से एक है;[2] साङ्ख्य में केवल बुद्धि का व्यापार या धर्म है;[3] मीमांसा में एक मानसी क्रिया है।[4]

व्यवहार के अनुरोध से वेदान्त में ज्ञान द्विविध माना गया है—नित्य व अनित्य अथवा स्वरूपात्मक तथा वृत्तिज्ञान, यह पहले देखा जा चुका है। उनमें से पहला ही 'ज्ञान' का मुख्य वास्तविक अर्थ है, वही सर्वथा अन्य-निरपेक्ष होने से स्वप्रकाश है, अखण्ड है, एक ही है। द्वितीय व्यावहारिक खण्डज्ञान—घट-पट आदि पृथक्-पृथक् विषयों का उत्पन्न व समाप्त होता रहने वाला ज्ञान है, वही ज्ञा का द्वितीय, गौण अर्थ है। वास्तव में इसमें ज्ञान शब्द का प्रयोग औपचारिक ही है, ऐसा कहा गया है।[5] इस उपचरित अर्थ को लेकर ही ज्ञा धातु क्रियाविशेष की वाचक होते हुए ज्ञाता आदि की निष्पादक बनती है। ज्ञाता आदि के स्वरूप की ऐसी ही व्याख्या वेदान्त में की गई है, यह प्रसङ्गतः देखा जायेगा।

इस अनित्य ज्ञान (भावार्थक) वस्तु के साधक आयामचतुष्टय (साक्षी को भी इस का तटस्थ साधक मान लेने पर आयाम-पञ्चक) का विश्लेषण करने से पहले 'ज्ञा' के अर्थ के साथ 'प्र'—उपसर्ग-पूर्वक 'माङ्' धातु के अर्थ की तुलना व सम्बन्ध विचारणीय है, क्योंकि ज्ञान के सन्दर्भ में प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण व प्रमिति या प्रमा शब्दों का ही अधिकतर प्रयोग मिलता है।

माङ् धातु मापने के अर्थ में पठित है, तो प्र + माङ् का अर्थ हुआ प्रकृष्ट रूप से मापना। इधर ज्ञा का अमुख्य अर्थ है घट-पट आदि पृथक्-पृथक् वस्तुओं को जानना। एक अखण्ड अदृश्य अधिष्ठान पर ये असङ्ख्य पृथक्-पृथक् छोटी-बड़ी-वस्तुयें अध्यस्त होती हुई ज्ञेय बनती हैं—यह अद्वैतसिद्धान्त है। अध्यास का अर्थ देखा गया था, सत्य व अनृत का सम्भेद या मिश्रण; इन दृश्यमान वस्तुओं का तथ्य भी—सत्य ब्रह्मवस्तु तथा मिथ्या अविद्या का विचित्र (अनिर्वचनीय) सम्भेद होने से उद्भूत नाम व रूप ही है—यही औपनिषद सिद्धान्त है। रूप या आकार है परिच्छेद या सीमा का सूचक, और परिच्छेद या सीमा के अर्थ का भी दूसरा नाम है माया (**'अमेयो मीयते यया'**) इधर ज्ञान का मुख्य अर्थ है ब्रह्मचैतन्य तो अमुख्य अर्थ है सीमित चैतन्य, खण्डज्ञान। इस खण्डज्ञान का विश्लिष्ट स्वरूप विषय से अवच्छिन्न-

---

१. चैतन्यप्रधानवृत्तिवचनो जानातिः। भा० १।१।५, पृ० १६९।
ज्ञानमित्यजडो बोधस्तदाभासा वा चित्तवृत्तिः सत्यार्था यथायोगमाश्रयणीया। उभयत्र ज्ञानशब्दप्रयोगादेको मुख्योऽर्थः, अपरो वाच्य इति। इ० सि० पृ० ६९।

२. आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता ...... विभुर्बुद्ध्यादिगुणवान् ..... कारि० ४७,५०।
सोऽयमनुभव आत्मगुणं इति तार्किकाः प्राभाकराश्चाहुः।
वि० प्र० सं० पृ० १९८।

३. बुद्धिव्यापारो ज्ञानम्। सां० त० कौ० पृ० ९।

४. ननु ज्ञानं नाम मानसी क्रिया। ब्र० शां० भा० १।१।१।
परिणामक्रियाफलत्वात् क्रियाफलयोरैक्यविवक्षया कर्मेति भाट्टाः।
वि० प्र० सं० प० १९८।

५. तदुक्तं विवरणेऽन्तःकरणवृत्तौ ज्ञानत्वोपचारादिति। वे० प० पृ० ३१।

विषय रूप आकार में आकारित उसीका अधिष्ठानभूत चैतन्य ही है, यह यथासमय देखा जायेगा। और वही है प्रकृष्ट माप की दशा में चैतन्य, वही प्रमा-पदार्थ है। 'ज्ञा' धातु के प्रयोग में वही ज्ञान या ज्ञप्ति है। 'बुध्' के प्रयोग में वह बोध, 'अनुभू' की ओर से वह अनुभव या अनुभूति है।

किसी भी प्रकार से कहा जाय, एक विशेष माप में आया हुआ चैतन्य, ज्ञा अथवा उसकी समानार्थक सभी धातुओं (के अमुख्य प्रयोग में) से निष्पन्न फल है। वह विशेष माप है—विषय-संसृष्ट अन्तःकरण की वृत्ति (विषयाकार परिणाम)। इसे विभिन्न आचार्यों की ज्ञान-सम्बन्धिनी उक्तियों में स्पष्ट देख सकते हैं।

वाचस्पति मिश्र की भामती में उक्ति है—'तत्त्व का परिच्छेद प्रमा है'।[1] 'कर्त्ता में स्थित, अन्तःकरण का प्रमेय-प्रवण चित्स्वभाव परिणाम प्रमा है'।[2] इसी से मिलता-जुलता तथा अधिक स्पष्ट प्रमालक्षण वाचस्पति ने तत्त्ववैशारदी में कहा है—'पुरुष में स्थित, व्यवहार का निमित्त, अनधिगत विषय का बोध प्रमा है'।[3] प्रकटार्थकार के शब्दों में—'संविद्व्यञ्जक मनःपरिणाम प्रमा है'।[4] विमुक्तात्मा का इष्टसिद्धि में कथन है—'ज्ञान शब्द से अजड़ बोध या उसके आभास से युक्त चित्तवृत्ति समझनी चाहिए'। इन में से पहला वाच्य (मुख्य) अर्थ है, दूसरा अमुख्य।[5]

प्रकाशात्मा के पञ्चपादिकाविवरण में कहा गया—'अन्तःकरण का परिणाम विशेष, जो कि विषय के अवच्छेद से चैतन्य की उपाधि है, वही भाव-व्युत्पत्ति से संवेदन, अर्थ का प्रकाश या ज्ञप्ति कहलाता है।[6] अवश्य ही वृत्तिगत ज्ञानत्व उपचरित है, वास्तव में ज्ञाता के प्रति अर्थ का प्रकाश ही ज्ञान है, और वह आत्मा का ही रूप या आत्माश्रित है'।[7]

मधुसूदन के सिद्धान्तबिन्दु में कहे गये शब्दों में 'प्रमा पद का अर्थ विषयगत अभि-

---

१. तत्त्वपरिच्छेदः प्रमा। भा० १।१।१ पृ० ४०।

२. अन्तःकरणपरिणामभेदश्च प्रमेयप्रवणः कर्तृस्थश्चित्स्वभावः प्रमा।
भा० १।१।१, पृ० ४२।

३. अनधिगततत्त्वबोधः पौरुषेयो व्यवहारहेतुः प्रमा।
त० वै०, सां० यो० द० पृ० २७।

४. मनःपरिणामः संविद्व्यञ्जको ज्ञानम्। प्र० वि० १।१।१, पृ० ३३।

५. ज्ञानमित्यजडो बोधस्तदाभासा वा चित्तवृत्तिः सत्यार्था....। इ० सि० ६९।

६. अन्तःकरणपरिणामविशेषश्चैतन्यस्य विषयावच्छेदोपाधिः करणव्युत्पत्त्या ज्ञानं भावव्युत्पत्त्या तु संवेदनमेव अर्थप्रकाशो ज्ञप्तिः ज्ञानमित्युच्यते।
पं० पा० वि० पृ० ५७२।

७. ज्ञातुरर्थप्रकाशस्य ज्ञानत्वात्। तस्य चात्माश्रयत्वात्। अन्तःकरणपरिणामे ज्ञानत्वोपचारात्। वही पृ० २०३।

व्यक्तियोग्यता (जिसे विद्यारण्य ने वृत्ति का विषयव्यापी भाग कहा है)[1] से अवच्छिन्न चैतन्य है।[2]

गोविन्दानन्द ने रत्नप्रभा में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है—प्रमा का साक्षात् अर्थ है बोध। वह यदि नित्यज्ञानस्वरूप हो तो उसका कोई करण (प्रमाण) या आश्रय (प्रमाता) नहीं हो सकता। केवल वृत्ति जड़ होने के कारण प्रमा नहीं कहला सकती। अतः वृत्ति द्वारा व्यञ्जित या 'इद्ध' बोध, या बोध द्वारा इद्ध (बोध से तदात्म हुई या बोध-प्रतिबिम्बवाली) वृत्ति प्रमा है।[3]

(ख) प्रमा—विशेष अर्थ

यह तो हुआ प्रमा शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य व सामान्य अर्थ, जो कि अनित्यज्ञान के अर्थ के पूर्णतया समकक्ष है। इससे अतिरिक्त कुछ विशेष अर्थ भी इसके साथ जुड़ा हुआ है, जिस का वाचक हो कर प्रमा शब्द ज्ञान की अपेक्षा सङ्कुचित अर्थ वाला हो जाता है। वह है—प्रमा शब्द से सूचित ज्ञान का यथार्थ होना, अबाधित तथा अनधिगत विषय वाला होना। अर्थात् ज्ञान अनेक प्रकार का हो सकता है, होता है। उसमें से वही ज्ञान प्रमा है, जो 'यथा अर्थ' हो—विषय के ठीक अनुरूप हो, अर्थात् जो वस्तु ज्ञान का विषय बन रही है, वही वस्तु वहाँ हो, जहाँ इन्द्रियसन्निकर्ष हुआ है।

इसी को और अधिक स्पष्ट करके कहा गया कि जिस ज्ञान का विषय अबाधित हो। अर्थात् जिस वस्तु का ज्ञान हुआ है, इस ज्ञान के अनुसार ज्ञाता विषय-स्थल पर पहुँचे तो उस वस्तु का निषेध सम्भावित न हो। जैसे 'वह चाँदी है' इस ज्ञान के समय यदि सचमुच चाँदी वहाँ हो, उसी का इन्द्रिय द्वारा ग्रहण हो कर उक्त ज्ञान हुआ हो तो उक्त ज्ञान प्रमा होगा, यदि वहाँ चाँदी न हो कोई अन्य ही चमकीली वस्तु पड़ी हो तो उसे देख कर उत्पन्न हुआ 'यह चांदी है' ज्ञान प्रमा न होगा, अप्रमा होगा।[1]

'अबाधित' का अभिप्राय दूसरे प्रमा-ज्ञान द्वारा बाधित न होना, मिथ्या न सिद्ध किया जाना—भी कहा जाता है, किन्तु वैसा अर्थ लेने से आत्माश्रय दोष होता है, क्योंकि प्रमा के लक्षण में अपेक्षित किसी अर्थ की स्पष्टता में पुनः 'प्रमा'-पदार्थ का प्रवेश होता है। अतः बाधित का अर्थ अपने अधिष्ठान के तत्त्वज्ञान से निवर्त्य अविद्यारूप ही उपादान वाला होना

---

१. विषयव्यापकस्तद्भागो विषयस्य ज्ञानकर्मत्वसम्पादकमभिव्यक्तियोग्यमित्युच्यते। वि० प्र० सं० पृ० २४४।

२. विषयगताभिव्यक्तियोग्यत्वभागावच्छिन्नश्चिदंशः प्रमितिः। सि० बि० पृ० ५८।

३. प्रमा यदि नित्यचिन्मात्रं तर्हि आश्रयत्वायोगः, करणवैयर्थ्यं च। यदि वृत्तिमात्रं, जगदान्ध्यप्रसङ्गः वृत्तेर्जडत्वात्। अतो वृत्तीद्धो बोधः प्रमा। र० प्र० १।१।१, पृ० ४७–४८।

१. प्रमात्वम् अनधिगताबाधितार्थविषयकज्ञानत्वम्। वे० प० पृ० १५।

है—और वैसा न होना अबाधित होना है (इसकी विशेष चर्चा अप्रमा-प्रकरण में की जायेगी) एवं उसी विषय का ज्ञान प्रमा है।[1]

अबाधित होने के अतिरिक्त जो विषय अनधिगत भी हो, अर्थात् यह ज्ञान होने से पहले तक गृहीत, अवगत, ज्ञात न हुआ हो, ऐसे ही विषय का ज्ञान प्रमा है—ऐसा भी कुछ आचार्यों का आग्रह है। यह कहने में उनका उद्देश्य है प्रमावृत्ति को स्मृतिवृत्ति से पृथक् करना, अथवा विषय के अनुभव को उसकी स्मृति से पृथक् प्रकार का ज्ञान समझाना। केवल अबाधित-विषयता या यथार्थता तो स्मृतिरूप ज्ञान में भी रहती है। यथार्थता को ही प्रमात्व का नियामक मानें तो स्मृति व प्रत्यभिज्ञा भी प्रमावृत्ति के ही अन्तर्गत आ सकती हैं। न्याय-दर्शन में यही अभिमत भी है। किन्तु वेदान्त में अनुभवरूप ज्ञान को ही प्रमा मानने के प्रति आग्रह है।

प्रमा के वाच्य ज्ञान में 'अनधिगत विषयवाला होना' विशेषण देने पर एक ही वस्तु के अधिक समय तक बने रहने वाले (धारावाहिक) ज्ञान के स्थल पर प्रथम क्षण का ज्ञान तो प्रमा के अन्तर्गत रहता है, द्वितीय-तृतीय क्षण के ज्ञान फिर उस गृहीत ही वस्तु के ग्राहक होने के कारण प्रमा नहीं कहलायेंगे, जबकि वस्तु का प्रदर्शन वे भी करते ही हैं, अतः प्रमाज्ञान ही कहलाने योग्य हैं—ऐसी आपत्ति उठती है। धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्तपरिभाषा में इसका परिहार दो प्रकार से किया है—(१) प्रत्येक क्षण के ज्ञान को क्षणभेद से भिन्न तथा क्षण-विशिष्ट रूप से नवीन ही विषय का ग्राहक कह कर।[2] ऐसा कहने का प्रयोजक है—'लोक में ऐसी कोई प्रतीति नहीं होती जिसमें काल का भान न रहता हो'—ऐसा मीमांसक सिद्धान्त, या 'प्रतीतियों के समय-विशेष-विषयक होने से'—ऐसा न्यायपरिशुद्धि का कथन।[3] वेदान्त में भी काल-पदार्थ को इन्द्रियवेद्य माना गया है, और काल प्रत्येक क्षण के भेद से भिन्न होता है। उसीसे विशिष्ट विषय भी भिन्न होता रहता है, अतः द्वितीय-तृतीय आदि क्षणों के ज्ञान भी अनधिगत ही विषय के ग्राहक होने से प्रमा ही हैं।

इस पर ऐसी आपत्ति की सम्भावना बनी रहती है कि काल का सामान्य रूप से ज्ञान तो होता है, किन्तु प्रत्येक क्षण का पृथक्-पृथक् ज्ञान तो अनुभव में आता नहीं। ऐसा ही वाचस्पतिमिश्र ने भी न्यायवार्तिकतात्पर्य-टीका में कहा है।[4]

---

१. बाधितत्वं च स्वाधिष्ठानतत्त्वज्ञाननिवर्त्याविद्योपादानकत्वं न तु विपरीतप्रमाविषयत्वम्, तेनात्माश्रयप्रसङ्गः। परि० प्र० पृ० १९–२०।

२. नीरूपस्यापि कालस्येन्द्रियवेद्यत्वाभ्युपगमेन धारावाहिकबुद्धेरपि पूर्वपूर्वज्ञानाविषयतत्तत्क्षणविशेषविषयकत्वेन न तत्राव्याप्तिः। वे० प० पृ० २२।

३. 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र कालो न भासते'……समयविशेषविषयत्वात् प्रत्ययानाम्……। परि० प्र० पृ० २०।

४. न च कालभेदेन धारावाहिकत्वं धारावाहिकानामिति वाच्यम्, परमसूक्ष्माणां कालकलादिभेदानां पिशितलोचनैरस्माभिरनाकालनात्। न्या० वा० ता० पृ० २१, परि० प्र० पृ० २०।

इस कारण धारवाहिकज्ञान के प्रमात्व की उपपत्ति अन्य प्रकार से कही जाती है कि (२) वेदान्त सिद्धान्त में धारावाहिक स्थल पर पृथक्-पृथक् अनेक ज्ञान माने हो नहीं गये हैं, प्रत्युत जब तक किसी भी वस्तु का ज्ञान बना रहता है, तब तक एक ही वृत्ति (जिस से अवच्छिन्न चैतन्य अनित्यज्ञान-पदार्थ है) रहती है। अन्तःकरण की वृत्ति का क्षणिक ही होना नियत नहीं है। जब तक इसके विरुद्ध दूसरी वृत्ति नहीं उदित होती तब तक एक ही वृत्ति बनी रहती है, इसी से वृत्ति में प्रतिफलित चैतन्य रूप ज्ञान भी एक ही बना रहता है।[1]

यह 'अनधिगत' विशेषण प्रमा-लक्षण में जोड़ने में मीमांसक प्रभाव है। वेद की अपौरुषेयता व सर्वश्रेष्ठ प्रामाण्य की सिद्धि, तथा वेद को 'अनुवाद' से पृथक् करने के उद्देश्य से ही अज्ञातार्थज्ञापकत्व प्रमा-लक्षण कहा गया है। जो विषय अन्य किसी भी ज्ञान-साधन से नहीं जाना जा सका है, अतः अज्ञात है उसका ज्ञान वेद कराता है। यह अज्ञात अर्थ का ज्ञापक होना जिस प्रमाण में जितनी उच्चकोटि का हो, उस का प्रमाण्य उतना ही अधिक है। सभी पौरुषेय ज्ञान अन्य ज्ञानसाधनों द्वारा जाने जा सकने वाले अथवा सामान्य रूप से ज्ञात ही विषयों के ज्ञापक होते हैं, वेद द्वारा ज्ञापित अर्थ अन्य सब प्रकार से अज्ञेय व अज्ञात होता है, अतः वेद का प्रामाण्य सब से अधिक है। उक्त प्रकार से लौकिक ज्ञान ज्ञातार्थज्ञापक ही होते हैं अतः 'अनुवाद' रूप हैं, वेद ही वास्तव में अज्ञातार्थज्ञापक हैं अतः प्रमाण हैं—यही अभिप्राय उक्त प्रमालक्षण में अन्तर्निहित है। वेदान्त में **'व्यवहारे भाट्टनयः'** ऐसी नीति होने से प्रमा-सम्बन्धी मीमांसक-सिद्धान्त यथायथ रूप से अभ्युपगमवाद से स्वीकार कर लिया गया है।

अद्वैतसम्प्रदाय के प्राचीन आचार्य इस अनधिगतता को अनावश्यक और किसी अंश तक असम्भव भी मानते हैं। सुरेश्वर के बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक तथा सर्वज्ञात्मा के संक्षेप-शारीरक में लम्बे युक्ति-प्रसार से अज्ञातता को असम्भव सिद्ध किया गया है, (इस की कुछ चर्चा 'प्रमेय'–प्रतिपादन में की जायेगी)। रामाद्वय ने वेदान्तकौमुदी में सिद्ध किया है कि अनधिगत विशेषण के बिना भी अनुभव रूपा प्रमावृत्ति को स्मृति से पृथक् रखा जा सकता है, क्योंकि तात्कालिक असाधारण-सामग्री से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही अनुभव है, वही प्रमा है। प्रत्युत्पन्न (उसी समय उत्पन्न होने वाले) सन्निकर्ष (विषय + इन्द्रिय + अन्तःकरण + जीव) आदि प्रमा के असाधारण कारण हैं। स्मृति तो भूतकाल में उत्पन्न हुए संस्कारों के उद्बोध से उत्पन्न होती है। उद्बोध में भी प्रत्युत्पन्नता तो है, पर असाधारणकारणता नहीं है, क्योंकि सभी कारण उद्बुद्ध हो कर ही वास्तव में कारण बना करते हैं, अतः उद्बोध सभी कारणों के साथ युक्त है, किसी एक के साथ नहीं, अतः वह असाधारण नहीं हो सकता। अतः स्मृति व प्रमाण के फल पृथक् ही हैं।[2]

---

१. किञ्च सिद्धान्ते धारावाहिकबुद्धिस्थले न ज्ञानभेदः, किन्तु यावद्घटस्फुरणं तावद् घटाकारान्तःकरणवृत्तिरेकैव, न तु नाना; वृत्तेः स्वविरोधिवृत्त्युत्पत्तिपर्यन्तं स्थायित्वाभ्युपगमात्। तथा च तत्प्रतिफलितचैतन्यरूपं घटादिज्ञानमपि तत्र तावत्कालीनमेकमेवेति। वे० कौ० पृ० ६–७।

२. यथार्थोऽनुभवः प्रमा।....तात्कालिकासाधारणकारणविशिष्टसामग्रीजन्यं च ज्ञानमनु-

रामाद्वय ने पुनः कहा है कि यथार्थ अनुभव को ही प्रमा कहना ठीक है, इससे धारावाहिक स्थल में प्रमालक्षण की अव्याप्ति को हटाने के लिये तत्तत्कालविशिष्ट विषय की ग्राहकता के रूप से अतिसूक्ष्म काल को भी प्रत्यक्ष मानने की कष्टकल्पना नहीं करनी पड़ती।[1]

वेदान्तपरिभाषाकार ने मीमांसक व नैयायिक प्रभावों के अनुरूप प्रमा के स्मृतिव्यावृत्त व स्मृति-साधारण दो लक्षण कहे हैं—क्रमशः—

१—अनधिगत-अबाधितअर्थ-विषयक ज्ञान होना।

२—अबाधितअर्थ-विषयक ज्ञान होना।

किन्तु अद्वैतवेदान्त की मौलिकता के अधिक अनुरूप प्रमालक्षण की व्याख्या रामाद्वय की ही प्रतीत होती है।

(ग) ज्ञाता व प्रमाता

ज्ञा + तृच् + सु—व्युत्पत्ति से निष्पन्न ज्ञाता पद का शाब्दिक अर्थ है—ज्ञा धातु के अर्थ का आधार या आश्रय। ज्ञा का प्रथम अर्थ है चैतन्य, आत्मतत्त्व। उसका कोई आधार या आश्रय है नहीं, क्योंकि वह स्वयं ही निखिल जगत् का अधिष्ठान है। द्वितीय अर्थ क्रिया-विशेषपरक है, किन्तु उस क्रिया का आश्रय (क्रिया द्वारा प्रभावित एवं उसके कर्ताकारक के स्थान वाला आश्रय तृच् प्रत्यय से बोधित है, वैसा) साक्षात् चैतन्य हो नहीं सकता, क्योंकि वह निष्क्रिय, अविकारी, निर्धर्मक है। क्रिया अविद्या का कार्य है, आविद्यक ही वस्तु में सम्भव है। आविद्यक ही वस्तु क्रिया का आश्रय हो सकती है, इसलिये 'मैं' तथा 'यह' वर्गों में विभक्त विश्व के 'मैं' से बोधित वर्ग में स्थित चैतन्य के आविद्यक अवच्छेद—अन्तःकरण को ही ज्ञा धातु की अर्थभूत क्रिया का आश्रय मान लिया जाय—यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञा का अर्थ चैतन्यप्रधान-वृत्तिपरक है।[2] जड़ वस्तु में इसका आश्रय होना सम्भव नहीं। इस प्रकार न तो केवल चैतन्य ज्ञाता पद का अर्थ कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें कर्तृत्व या क्रियाश्रयत्व नहीं है, और न ही जड़ वस्तु अन्तःकरण ज्ञाता हो सकता है, क्योंकि ज्ञान चेतनपरक है, अचित् उसका आश्रय नहीं हो सकता, इसलिये ज्ञा अंश से आत्मा तथा तृच् अंश से अन्तःकरण अर्थ लेकर इन्हीं दोनों के परस्पर सम्भेद (आध्यासिक तादात्म्य) से आकलित या उद्भूत चिदचिद्-ग्रन्थि—अहमर्थ (जीव) को ही 'ज्ञा + तृच् + सु' से निष्पन्न सम्मिलित ज्ञाता पद का अर्थ मानना उचित है।

भवः। स्मृतेश्चासाधारणकारणं संस्कारः। आत्मान्तःकरणादीनां ज्ञानान्तरसाधारण्यात्। स च चिरकालोत्पन्नो न तु प्रत्युत्पन्नः। उद्बोधश्च नासाधारणं कारणम् उद्बुद्धानामेव सर्वत्र कारणत्वात्। अनुभवस्य तु चतुष्टयसन्निकर्षादसाधारणम्, तच्च प्रत्युत्पन्नम्। ततस्स्मृतिप्रमाणफलयोर्विवेकः। वे० कौ० पृ० ६–७।

१. ....यथार्थोऽनुभवः प्रमा इत्येव साधीयः। वे० कौ० पृ० ८।

२. चैतन्यप्रधानवृत्तिवचनो जानातिर्न चाचेतने वृत्तिमात्रे दृष्टचरप्रयोगः।
भा० १।१।१, पृ० १६१।

'प्र + मा' के साथ तृच् का योग केवल अन्तःकरण को लेकर भी सम्भव है—यदि प्रमा का वाच्य अर्थ (मापना) लिया जाय। प्रमा का विशेष अर्थ (ज्ञा के समकक्ष, वोध रूप) लेने पर प्रमाता पद का अर्थ भी चिदचिद्ग्रन्थि ही होगा। प्रमाता के स्वरूप का ऐसा ही प्रतिपादन विभिन्न आचार्यों की उक्तियों में मिलता है।

सुरेश्वराचार्य का वृ० भा० वार्तिक में कथन है कि वृत्तिमान् अन्तःकरण से अवच्छिन्न चिदात्मा प्रमाता है,[1] इसे ही अधिक स्पष्ट करते हुए पद्मपादाचार्य ने पञ्चपादिका में कहा है कि अन्तःकरण की अवस्थाविशेष रूप उपाधि से होने वाला आत्मा का विशेष (रूपातिशय) प्रमाता है।[2] प्रकाशात्मा ने इस के विवरण में कहा है—विषय से संसृष्ट अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य प्रमाता है, अथवा अन्तःकरण की अवस्थाविशेप (वृत्ति) रूप उपाधि से आत्मा में लाया गया विशेप रूप प्रमातृत्व है, उससे युक्त आत्मा प्रमाता है।[3]

प्रकटार्थकार ने ऊपर की गई चर्चा के अनुरूप कहा है कि उपलम्भ (वोध, अर्थ की अवगति) रूप क्रिया का आश्रय होने के नाते आत्मा उपलव्धा (ज्ञाता) नहीं, प्रत्युत चित्प्रतिविम्व (-रूपा प्रमा) का निमित्त होने के नाते ही आत्मा उपलव्धा है, कर्ता वास्तव में अन्तःकरण ही है। इसमें प्रतिविम्वित होने भर से आत्मा में भी मिथ्या ही कर्तृत्व आ जाता है। अन्तःकरण से आत्मा का तादात्म्याध्यास है, इसीसे अन्तःकरण का धर्म कर्तृत्व आत्मा में भी कर्तृत्व का अध्यास कर देता है, या अन्तःकरण के आध्यासिक तादात्म्य से ही आत्मा में कर्तृत्व का अध्यास होने से वह प्रमाता वनता है।[4]

विद्यारण्य ने विवरणप्रमेयसंग्रह में प्रकटार्थविवरण तथा पञ्चपादिकाविवरण (दोनों) के आशय को लेते हुए कहा है कि देह के भीतर स्थित अन्तःकरण के परिणाम के भाग में अभिव्यक्त (प्रतिविम्वित) चैतन्य प्रमाता है, अथवा चित् की अभिव्यक्ति से युक्त परिणामी

---

१. तत्तद्वृत्तिमदन्तःकरणावच्छिन्नश्चिदात्मा मातृदशामाविशति।
बृ० सं० वा० २३१, शा० प्र० पृ० ७०।
न हि संविदनारूढः प्रमात्रादि प्रसिध्यति। संविन्मात्रैकयाथात्म्यात् प्रमात्रादेरनात्मनः॥ बृ० भा० वा० १।४।२८२॥

२. एवम्भूतस्य (परस्पराध्यासपरिनिष्पन्नस्य) अहङ्कर्तुरिदमंशस्य ज्ञानसंशब्दितो व्यापारविशेपः सकर्मकत्वात् कर्मकारकाभिमुखं स्वाश्रये कञ्चिदवस्थाविशेषमादधाति। पं० पा० पृ० ११५-११६॥
अहङ्कर्ता स्वांशचैतन्यवलेन व्यापाराविष्टतया च प्रमाता इत्युच्यते।
पं० पा० पृ० ११६–१७।

३. अन्तःकरणस्य कर्तृत्वात् तदवच्छिन्नः प्रमाता।....सर्वगतस्याप्यात्मनोऽविद्यावृतप्रकाशस्य परिच्छिन्नान्तःकरणपरिणामोपाध्यभिव्यक्त्यपेक्षया विपयविशेषं प्रति प्रमातृत्वम्। पं० पा० वि० पृ० ३०६–७।

४. आत्मनोऽपि चित्प्रतिविम्वनिमित्तत्वेन व्यावहारिकमुपलव्धृत्वं न तूपलव्धिक्रियाश्रयत्वेन। प्र० वि० २।३।४० पृ० ६४४।

अहङ्कार (अहमर्थ का अन्तःकरण-प्रधान रूप) प्रमाता है।[१] वेदान्तपरिभाषाकार ने भी इसी के अनुरूप प्रमातृचैतन्य का स्वरूप कहा है।[२]

(जन्य–) ज्ञान के सन्दर्भ में किये गये विचार में प्रमाता शब्द ही अधिकतर प्रयुक्त हुआ है। सामान्य रूप से ज्ञाता व प्रमाता शब्द पर्याय की भाँति ही प्रयुक्त हुए हैं। कभी-कभी इनकी घटक धातु की प्रकृति के अनुसार इनके अर्थ में अन्तर भी किया गया है। वह अन्तर ज्ञान व प्रमा के अन्तर की भाँति सामान्य-विशेष रूप ही है। अर्थात् ज्ञाता शब्द भ्रम या प्रमा किसी भी तरह से वृत्तिज्ञान के आश्रयत्व से युक्त अन्तःकरण से अवच्छिन्न या वैसे (प्रातिभासिक या व्यावहारिक कैसे भी विषय से संसृष्ट) अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्य का द्योतक है, और प्रमाता शब्द प्रमावृत्ति के ही आश्रय का द्योतक है। यह भी कहा जा सकता है कि उक्त दोनों धातुओं के प्रथम अर्थों को दृष्टि में रखने पर चैतन्यप्रधान अहमर्थ या अहमर्थ के चैतन्यांश पर बल देना हो तो वह अहमर्थ का चिदंश ज्ञाता पद का अर्थ है, और अहमर्थ का अचिदंश प्रबल हो तो वह अहमर्थ या उस दशा का अहमर्थ, प्रमाता पद का वाच्य है।

(घ) प्रमाण

'प्रमीयतेऽनेन' अर्थ में प्र + मा धातु से ल्युट्[३] प्रत्यय लग कर प्रमाण शब्द निष्पन्न है, और 'प्रमा का करण' इसका शाब्दिक अर्थ है। प्रमा का अर्थ देखा जा चुका है। उसी के करण कारक[४] रूप में प्रमाण का सामान्य अर्थ प्राप्त होता है। प्रमा का सामान्य व मुख्य अर्थ है चैतन्य। वह अनादि है, उसका कोई करण–जनक कैसे हो सकता है? यह शङ्का उठती है, पर उसका उत्तर भी प्राप्त है; वह यह कि भले ही स्वरूपतः चैतन्य अनादि है, पर उस रूप में तो वह व्यवहार दशा में किसी के अनुभव में आता नहीं, जब भी प्रतीत होता है तब किसी उपाधि के माध्यम से ही आता है। चैतन्य को अभिव्यक्त करने वाली उपाधि अन्तःकरणवृत्ति को माना गया है, वही इन्द्रिय-विषय-सन्निकर्ष व अन्यान्य द्वारों से समय-समय पर उत्पन्न हुआ करती है, उस प्रकार से कादाचित्क अभिव्यक्ति वाला होने के कारण चैतन्य सादि भी कहला सकता है। और उस दशा में ही उसमें 'विषय का प्रकाश' होना रूप 'प्रमा'–पदार्थता आती है। इसे देखा जा चुका है। चैतन्य की इस दशा का जो भी असाधारण कारण हो, वही प्रमाण कहलाने योग्य है।

---

१. देहावच्छिन्नान्तःकरणभागोऽहङ्काराख्यः कर्त्तेत्युच्यते।....कर्तृभागावच्छिन्नश्चिदंशः प्रमाता।....यत्तूक्तमहङ्कारस्य जडत्वादात्मनो परिणामित्वान्न प्रमाता सिध्यतीति तदसत्। चिदभिव्यक्तिविशिष्टः परिणामी अहङ्कारः प्रमाता।

वि० प्र० सं० पृ० २४४–४६।

२. अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं प्रमातृचैतन्यम्। वे० प० पृ० ४४।

३. ल्युट् च। पा० सू० ३।३।११५।
करणाधिकरणयोश्च। पा० सू० ३।३।११७।

४. साधकतमं करणम्। पा० सू० १।४।४२।

'प्रमा' के विशेष अर्थ (अबाधित तथा अनधिगत विषय का ज्ञान) के साथ प्रमाण का भी विशेष अर्थ है—अज्ञात अर्थ का ज्ञान कराने वाला अज्ञात या अनधिगत विषय का प्रकाश कराने में सबसे अधिक अनुकूल प्रमाता का व्यापार, क्रिया या प्रचेष्टा।

वह करण प्रमा को उत्पन्न करने में सबसे अधिक सक्षम व अनिवार्यकारक है क्या ? इस पर अनेक मतवाद हैं। किसी व्यक्ति को किसी वस्तु का ज्ञान होने में (व्यक्ति व वस्तु में एक के प्रति दूसरे के प्रकट होने की घटना में) मध्यस्थ दो हुआ करते हैं—(१) इन्द्रियाँ (२) मनोवृत्ति (वृत्ति, जानने वाले के शरीर से विषय-पर्यन्त फैली हुई हो या शरीर के भीतर ही अन्तःकरण किसी अन्य माध्यम से विषयाकार में परिणत हुआ हो, ज्ञान-मात्र में रहती अवश्य है)। ये दोनों ही ज्ञान की उत्पत्ति में साधक हैं। इनमें से प्रमा या बोध के प्रति जो अधिक अनिवार्य हो, वही 'साधकतम' कहलाने के योग्य होने से करण होगा।

प्रमा या बोध अनेक प्रकार से उत्पन्न होता है, यह अनुभव से सिद्ध है, तथा विश्लेषण द्वारा छः रूपों में विभाजित भी है। उन सभी में किसी न किसी प्रकार से इन्द्रिय का उपयोग अवश्य है, किन्तु अन्ततः अनिवार्य एवं प्रमा के सर्वाधिक सन्निकट रहती है प्रमेयाकार मनो-दशा ही, अतः वही प्रमा का करण, प्रमाण का साक्षात् अर्थ, कहलाने योग्य है। तब भी इन्द्रिय या वृत्ति में प्रमा के प्रति कौन अधिक अनिवार्य या साधकतम है, इसका कोई नियत नियामक निरूपित न हो सकने से, आचार्य शङ्कर ने शारीरकभाष्य में कहा है—'जो भी उपलब्धि का साधन हो, वृत्ति या और कुछ, उसे ही हम करण मानते हैं'[1] एक स्थान पर इन्द्रियों को 'करणद्वार' कहा है।[2] अन्यत्र कहा है—'आत्मा, इन्द्रिय व विषय भी उपलब्धि के साधन हैं, किन्तु उपलब्धि का प्रमुख कारण है मन; क्योंकि उसी के अवधान या अनवधान पर विषय की उपलब्धि या अनुपलब्धि नितान्त निर्भर है'।[3]

भामती, रत्नप्रभा तथा वेदान्तपरिभाषा में भी पहले न्याय-दृष्टि अपनाते हुए इन्द्रियों को ही प्रमाण कहा गया है।[4] पञ्चपादिका तथा पं० पा० विवरण में प्रमाता के

---

१. वृत्तिमात्रस्य करणत्वोपपत्तेः। यदेव ह्युपलब्धिसाधनं वृत्तिरन्यद् वा तस्यैव नः करणत्वं, संज्ञामात्रे विवादः। ब्र० शां० भा० २।४।७, पृ० ५४७।

२. सर्वैः करणद्वारैरिदं वेदेदं वेदेति विज्ञानेनानुसन्धानात् तद्रूपत्वसिद्धिः।
ब्र० शां० भा० २।३।१८ पृ०।

३. अन्तःकरणमवश्यमस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा.......आत्मेन्द्रियविषयाणामुप-लब्धिसाधनानां सन्निधाने सति नित्यमेवोपलब्धिः प्रसज्येत। तस्माद् यस्यावधाना-नवधानाभ्यामुपलब्ध्यनुपलब्धी भवतस्तन्मनः।
ब्र०शां०भा० २।३।३२,पृ० ५१३।

४. न सुषुप्तौ प्रमातृत्वापत्तिः, करणोपरमात्। र० प्र० १।१।१, पृ० ४७।
यत आत्मनः करणानि करणेभ्यश्च भूतानि इति प्रतीयते....।
भा० २।३।१५, पृ० ५९८।
ननु चैतन्यमनादि, तत् कथं चक्षुरादेस्तत्करणत्वेन प्रमाणत्वम्....। वे०प० पृ०२८।

व्यापार को प्रमाण कहा गया है।[१] वहाँ प्रमाता का अर्थ अहमर्थ का अन्तःकरणप्रधान पक्ष है। उस के व्यापार का अर्थ है चित्प्रतिविम्वसहिता वृत्ति। उसी का प्रमाण-पदार्थ होना सव से अधिक उपपन्न है, क्योंकि वृत्ति ही अपने ऊपर आरूढ़ चैतन्य का विषय के साथ सम्बन्ध करा के विषय के आवरण अज्ञान को दूर करती है, उसी के अगले क्षण कपड़े का ढक्कन हटने से दीपक की लौ के द्वारा घड़े के प्रकट होने के समान विषयावच्छिन्न चैतन्य के द्वारा विषय प्रकाशित हो जाता है। इस प्रकार वृत्ति के ही अगले क्षण प्रमा का उदय होता है, तथा इन्द्रियसंयोगादि सभी कुछ रहने पर भी किसी कारण से अन्तःकरण की विषय के आकार में परिणति रूपा वृत्ति न हो तो प्रमा का उदय नहीं होता। इस से वृत्ति में 'साधकतम' होना सिद्ध होता है।

न्याय में 'करण' की परिभाषा या लक्षण है—व्यापारवान् होते हुए किसी कार्य के प्रति असाधारण कारण होना। इस दृष्टि से प्रमा के विभिन्न भेदों के अनुसार उनके असाधारण कारण भी इन्द्रिय या इन्द्रियसम्पर्क, लिङ्ग या लिङ्गज्ञान इत्यादि पृथक्-पृथक् हैं, वे ही उन-उन प्रमाओं के प्रति करण हैं। प्रमाता का व्यापार (वृत्ति) तो सभी में व्यापार-स्थानीय है, जो कि—'उससे उत्पन्न होते हुए उसके कार्य को उत्पन्न करने वाला होना व्यापारत्व है'[२]—के अनुसार इन्द्रियादि करणों से उत्पन्न हो कर उनके कार्य प्रमा को उत्पन्न कराती है।

विज्ञानभिक्षु ने योगवार्तिक में करण का लक्षण किया है—'फलयोगाव्यवच्छिन्न-कारण होना'[३] अर्थात् जिस कारण का फल से अव्यवच्छिन्न (किसी दूरी, व्याघात या व्यवधान से रहित) योग हो वही करण है, इसके अनुसार भी वृत्ति में ही करणता सिद्ध होती है, जो सांख्य, योग तथा वेदान्त में समान रूप से मान्य है। अवश्य ही प्रमाणभेद का प्रयोजक है वृत्ति का विषय से सम्पर्क कराने वाले माध्यम का भेद। किन्तु इसी नाते उस माध्यम को ही करण मानना ठीक नहीं, क्योंकि उसके द्वारा फल की उत्पत्ति होने के वीच वृत्ति अनिवार्य रूप से अपेक्षित है।

श्रुति, स्मृति व अन्य (न्यायादि) दर्शनों में वहुधा चक्षु आदि इन्द्रिय व धूम आदि लिङ्ग को ही करण माना गया है, अतः श्रुति-स्मृति के अविरोध के लिये तथा 'तुष्यतु दुर्जन-न्याय' से योगवार्त्तिककार ने एक और व्यवस्था दी है, वह यह कि 'यह घट है' ऐसी बुद्धि-वृत्ति प्रथम (अमुख्य) प्रमा है, उसके प्रति करण हैं ये इन्द्रिय आदि, और पौरूषेयवोध रूपा मुख्य प्रमा के प्रति करण है स्वयं वृत्ति ही। दो प्रमा होने की बात विज्ञानभिक्षु की कल्पना नहीं, इसके लिये उनके द्वारा प्रमाण रूप से उद्धृत किया गया है सांख्यसूत्र **'द्वयोरेक-तरस्य वाऽपि असन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा'**।[४]

---

१. प्रमाणं तु प्रमातृव्यापारः फललिङ्गो नित्यानुमेयः। पं० पा० पृ० ८८।
२. तज्जन्यस्तज्जन्यजनको व्यापारः। तर्क० पृ० ५०।
३. करणलक्षणं चात्र फलयोगाव्यवच्छिन्नकारणत्वम्। यो० वार्त्ति० पृ० २९।
४. यो० वार्त्ति० पृ० २९।

अतएव वृत्ति को ही प्रमाण-पदार्थ मानना सर्वथा युक्त है ।

(ङ) विषय, ज्ञेय, प्रमेय

(जन्य-) ज्ञान का अभिप्राय—विषय के आकार में आकारित या परिणत अन्तःकरण-वृत्ति में प्रतिफलित चैतन्य जाना तो प्रश्न उठा कि इस 'विषय' पद का अर्थ क्या है ? साथ ही, उस का तत्त्व क्या है ? स्वरूप क्या है ?

प्रमा का विशेष (पारिभाषिक) अभिप्राय देखा—अवाधित तथा अनधिगत विषय का ज्ञान, या यथार्थ अनुभव । इसके साथ ही आनुषङ्गिक रूप से अप्रमा या भ्रम तथा स्मृति के लक्षण भी सामने आये—वाधित अर्थ-विषयक या अयथार्थ ज्ञान भ्रम है, तथा पहले अनुभूत ही विषय का संस्कारोद्वोध द्वारा पुनः ज्ञान होना स्मृति है,—तो प्रश्नपरम्परा और आगे वढ़ी कि क्या है वह वस्तु जो अधिगत-अनधिगत आदि विशेषणों से युक्त हो कर ज्ञान के सभी प्रकारों के स्वरूप में समाई हुई है ? तथा ज्ञान से उस वस्तु का सम्वन्ध क्या है ? उस वस्तु के विशेषण वने हुए अधिगत-अनधिगत, वाधित-अवाधित आदि शब्दों का अर्थ क्या है ? इन विशेषणों से रहित व सहित वस्तुस्वरूप क्या है ? ज्ञेय, प्रमेय शब्दों का अर्थ क्या है ? और क्यों है ?

वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में विषय शब्द का व्युत्पत्ति-पूर्वक अर्थ करते हुए कहा है—'विषिण्वन्ति, विषयिणनुवध्नन्ति, स्वेन रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्तीति यावत्'[1] अर्थात् विषयी को वांधते हैं, अनुवद्ध करते हैं, अपने रूप से निरूपणीय वना देते हैं, वे विषय हैं । सांख्य में प्रकृति की सत्ता के कारण पहले पदार्थ की स्थिति स्वीकृत है, अतः ज्ञान वाद की वस्तु है, अतः विषय 'अनु'-वन्धक कहे गये । किन्तु इतने से उक्त सभी प्रश्नों का समाधान नहीं मिलता । घट-पट, सुख-दुःख आदि स्थूल-सूक्ष्म पदार्थ विषय पद के वाच्य हैं, क्योंकि वे विषयी के वन्धक या 'अनुवन्धक' हैं । इस कथन से यह स्पष्ट नहीं होता कि वह विषयी कौन है ? उस में पुनः विषय शब्द निविष्ट है । 'स्वेन रूपेण...' अंश से विषयी का अर्थ वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य रूप ज्ञान ही प्रतीत होता है, और वन्धन की व्याख्या में यह कहा होने से विषय का अर्थ घट-पटादि नाम-रूप युक्त पदार्थ ही प्रतीत होते हैं, जो आकाश में घटाकाश, मेघाकाश आदि नाम देने के प्रयोजक घट, मेघ आदि की भांति अखण्ड विभु अद्वितीय चैतन्य-तत्त्व में घटज्ञान, पटज्ञान आदि संज्ञायें दिलवाते हैं ।

वस्तुतः ज्ञेय, प्रमेय या विषय क्या है ? ज्ञान से उसका क्या सम्वन्ध है इस पर उदित विचारधारा के तीन स्रोत हैं—

(१) ज्ञेय ज्ञान के समकक्ष सत्ता वाले, ज्ञान से सर्वथा भिन्न, अतिरिक्त ही स्वरूप वाले पदार्थ हैं । ज्ञान आत्मा का एक गुण है, और प्रमेय आत्मा के समान ही स्थिति वाले पदार्थ हैं । 'मैं घट को जान रहा हूं' या 'मुझे घट का ज्ञान है ।' इत्यादि सभी प्रतीतियों व अनुव्यवसायों में ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेय का पृथक्-पृथक् अस्तित्व सूचित होता है । ज्ञाता व

---

१. सां० त० कौ० पृ० ९ ।

ज्ञेय द्रव्य-कोटिक हैं, ज्ञान गुण-कोटिक। ज्ञेय की स्वतन्त्र स्थिति माने विना ज्ञानों के विविध व नाना होने की कोई उपपत्ति नहीं होती। (यह नैयायिक मत है)।

(२) ज्ञेय वस्तुतः कुछ नहीं ज्ञानधारा के ही कल्पित आकार मात्र हैं। चित्त से पृथक् कोई अर्थाभास नहीं है। वाह्य पदार्थ कोई है ही नहीं, भ्रान्ति से ज्ञान ही नील आदि ज्ञेय रूपों में प्रतीत होता है। जाग्रदवस्था में भी स्वप्नगत पदार्थों के समान शब्द-स्पर्श आदि वाह्य पदार्थ हैं ही नहीं। जो नहीं है, उसका ज्ञान होना विपर्यास कहलाता हो तो भले कहलाये, पर जो है ही नहीं उसके अनुरूप या विपरीत ज्ञान होना भी कोई अर्थ नहीं रखता। चित्त का यह स्वभाव ही है कि घट-पट आदि निमित्तों के न होने पर भी उसकी प्रतीति होती है अतः प्रतीति न भ्रम है न यथार्थ, प्रतीतिमात्र है। (यह विज्ञानवादी बौद्धों का मत है)।

वेदान्त के अजातवाद की दृष्टि भी वहुत कुछ इसी के अनुरूप है कि—परमार्थतः न 'चित्त' है न 'चेत्य'। न अनित्य वृत्यात्मक ज्ञान है न उसके अनुमित या साध्य ज्ञेय हैं। जो है वह अद्वैत आत्मतत्त्व ही है।[1]

(३) आचार्य गौड़पाद की माण्डूक्यकारिका में व्यक्त इस दृष्टि का विज्ञानवाद से अन्तर भी वहुत है। वह यह कि अजातवाद का उक्त अभिमत पारमार्थिक स्थिति की ही दृष्टि से है, व्यवहारदशा में तो ज्ञेय का पृथक् अस्तित्व मानना ही पड़ता है, क्योंकि गौड़पाद के शब्दों में—'प्रज्ञप्ति सनिमित्तक ही होती है। निमित्त हैं वाह्य विषय। ज्ञान को वाह्य-विषययुक्त न मानें तो युगपत् वर्तमान शब्द, स्पर्श आदि द्वैत का नाश ही हो जायेगा—उसका कोई उपयोग या प्रयोजन न रहने से। इसके अतिरिक्त अग्नि से जलना, शिशिर में हिम के स्पर्श से अन्य प्रकार के कष्ट की उपलब्धि होना आदि स्थलों में उपलब्धि से पृथक् कोई दाहक आदि हुए विना उक्त प्रतीतियाँ असम्भव हैं, अतः वाह्य अर्थों की स्थिति माननी होगी।[2]

अत्यन्त संक्षेप में कहें तो प्रथम दृष्टि में चित्त एवं चेत्य दोनों की स्वतन्त्र युगपत् सत्ता है, द्वितीय में चेत्य चित्त द्वारा कल्पित है, एवं तृतीय में चित्त और चेत्य दोनों कल्पित हैं।

माण्डूक्यकारिका के उक्त अंश के भाष्य में आचार्य शङ्कर ने कहा है कि शब्दादि की प्रतीति का नाम प्रज्ञप्ति है। वह किसी निमित्त से ही प्रयुक्त होती है, वह निमित्त विषय ही है, जो स्वयं भिन्न-भिन्न होते हुए उस प्रज्ञप्ति का भी विविध व नाना होना उपपादित करता

---

१. चित्तं न संस्पृशत्यर्थं नार्थाभासं तथैव च।
अभूतो हि यतश्चार्थो नार्थाभासस्ततः पृथक्॥
तस्मान्न जायते चित्तं चित्तदृश्यं न जायते।
तस्य पश्यन्ति ये जातिं खे वै पश्यन्ति ते पदम्॥ मां० का० ४।२६, २८।

२. प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमन्यथा द्वयनाशतः। संक्लेशस्योपलब्धेश्च परतन्त्रास्तिता मता॥
मां० का० ४।२४।

है। अतः प्रज्ञप्ति अपने से अतिरिक्त विषय से युक्त है। प्रतीति की विचित्रता ही द्वैत है, और वह (प्रतीति-विचित्रता) विषयों के वैचित्र्य द्वारा ही प्रयुक्त हो सकती है। स्वयं प्रज्ञप्ति तो केवल प्रकाशमात्रस्वरूपा है, उसकी विचित्रता नील-पीत आदि बाह्य आलम्बनों की विचित्रता के सिवा, केवल स्वभाव-भेद से ही होनी सम्भव नहीं। जैसे स्फटिक नीले-पीले रंग वाली वस्तुओं के सान्निध्य के विना नीला-पीला नहीं हो सकता।[1]

शारीरकभाष्य में भी कहा है कि व्यावहारिक दृष्टि से ज्ञान प्रमाणजन्य, यथाभूत-वस्तुविषयक तथा वस्तुतन्त्र ही है।[2] वस्तु हो, तभी उस पर आधारित, उसे विषय करने वाला ज्ञान हो सकता है।

सुरेश्वर का कथन है--कि आकारवान् वस्तु के सम्पर्क के बिना ज्ञान में आकार आ नहीं सकता।[3]

इसी प्रसङ्ग में भामतीकार ने कहा है कि व्यावहारिक दृष्टि से तत्त्व की परिसमाप्ति प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय तथा प्रमिति इन चार विधाओं में होती है। केवल विज्ञानस्कन्ध को तत्त्व मानने में ये चारों होना सम्भव नहीं, यद्यपि तत्त्वभूत अनुभव (चैतन्य, आत्मा) से तत्त्वतः अन्य (भिन्न) अनुभाव्य, अनुभविता व अनुभवन नहीं हैं, तब भी बुद्धि (अन्तःकरण) पर आरूढ़ रूप (औपाधिक रूप) से प्रमाण-प्रमेय-फल आदि व्यवहार चलता है, पारमार्थिक यह नहीं है। ब्रह्मवादी वित्ति (ज्ञान) के ही आकार-मात्र विषयों को नहीं मानते किन्तु इनको अनिर्वचनीय सत्ता मानते हैं।[4]

यही तीसरी दृष्टि है। ज्ञेय के अस्तित्व के बिना ज्ञानों को विविधता व आकारवान् होने की कोई उपपत्ति नहीं, और ज्ञान तथा ज्ञेय दोनों का पृथक् अस्तित्व मानें तो अद्वैत-

---

१. निमित्तकारणं विषय इत्येतत् सनिमित्तत्वं सविषयत्वं स्वात्मव्यतिरिक्तविषयतेत्येतत् प्रतिजानीमहे। न हि विविषया प्रज्ञप्तिः स्यात्। अन्यथा निर्विषयत्वे शब्दस्पर्शनीलपीतादिप्रत्ययवैचित्र्यस्य द्वयस्य नाशतोऽभावः प्रसज्येतेत्यर्थः।...न हि प्रज्ञप्तेः प्रकाशमात्रस्वरूपाया नीलपीतादिबाह्यालम्बनवैचित्र्यमन्तरेण स्वभावभेदेनैव वैचित्र्यं सम्भवति। स्फटिकस्येव नीलाद्युपाश्रयैर्विना वैचित्र्यं न घटत इत्यभिप्रायः। मां० का० भा० ४।२४, पृ० २२०--२१॥

२. ज्ञानं तु प्रमाणजन्यं यथाभूतवस्तुविषयं च....वस्तुतन्त्रमेव हि तत्। ब्र० शां० भा० ३।२।२१, पृ० ६२६-२७।

३. न ह्याकारमनालिङ्ग्य ज्ञानमाकारवत् क्वचित्। बृ० भा० वा० १।४।४५२॥

४. अथ प्रमाता प्रमाणं प्रमेयं प्रमितिरिति हि चतसृषु विधासु तत्त्वपरिसमाप्तिः।... न ह्यस्ति सम्भवो विज्ञानमात्रं तत्त्वं चतस्रो विधाश्चेति।....यद्यप्यनुभवान्नान्योऽनुभाव्योऽनुभवनं च; तथापि बुद्ध्यारूढेन बुद्धिपरिकल्पितेनान्तस्य एवैष प्रमाणप्रमेयफलव्यवहारः प्रमातृव्यवहारश्चेत्यपि द्रष्टव्यम्, न पारमार्थिक इत्यर्थः।....न हि ब्रह्मवादिनो नीलाद्याकारां वित्तिमभ्युपगच्छन्ति, किन्त्वनिर्वचनीयं नीलादीति। भा० पृ० ५४१।

सिद्धान्त का व्याघात होता है। ज्ञान व ज्ञेय रूप से द्वैत तथा अनन्त ज्ञेय एवं उस के अनुरोध से अनन्त ज्ञान होने से वस्तु का अनन्त नानात्व ही प्रथित होता है। अतः ज्ञेय का निरूपण न ज्ञान से पृथक् भिन्न वस्तु के रूप में हो सकता है, न अभिन्न रूप से ही। उभयमिश्रित (भिन्न भी हो अभिन्न भी) कोटि सम्भव नहीं। इसलिए किसी भी एक निश्चित कोटि या प्रकार के अन्तर्गत ज्ञेय का निरूपण न हो सकने से वह (ज्ञेय) मिथ्या है, अनिर्वचनीय ही उसकी सत्ता है; परमार्थ सत् ज्ञान ही है ऐसा वेदान्त-सिद्धान्त है।[1]

तात्त्विक दृष्टि से निखिल ज्ञेय की अनिर्वचनीय ही सत्ता है; व्यावहारिक दृष्टि से ज्ञेय की द्विविध सत्ता है—व्यावहारिक व प्रातिभासिक। जाग्रत् दशा में घट-पट आदि यथाभूत वस्तुओं (या पञ्चीकरण से घटित वस्तुओं) की व्यावहारिक सत्ता है, तथा शुक्ति के स्थान पर दिखने वाले रूप्य, रज्जु के स्थान पर सर्प आदि की प्रातिभासिक सत्ता है। स्वप्न-दशा में प्रतीयमान सभी कुछ की प्रातिभासिक ही सत्ता है। सुषुप्ति दशा में केवल जीव की व्यावहारिक सत्ता रहती है, शेष सब कुछ सुषुप्त के प्रति रहता ही नहीं, उनकी ग्राहिका वृत्तियों का विलय रहने से। इस प्रकार ज्ञाता-ज्ञेय आदि व्यवहार रहने पर्यन्त द्विविध ज्ञेय सम्भावित है—व्यावहारिक व प्रातिभासिक।

प्रश्न उठता है कि वास्तव में जो तत्त्व है, वस्तु है, वह ज्ञेय है या नहीं? उत्तर द्विविध मिलते हैं। 'जिस के जाने जाने पर यह सभी कुछ जाना जाता है'[2] इस प्रतिज्ञा से तो उस में ज्ञेयता प्रतीत होती है। 'आत्मा ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य तथा निदिध्यासन करने योग्य है,'[3] इस वाक्य में भी दर्शन, श्रवण, मनन आदि विविध वृत्तियों की विषयता उसमें स्पष्ट रूप से कही गई है, किन्तु 'जिसके द्वारा यह सब कुछ जाना जाता है उसे किस के द्वारा जाने' 'विज्ञाता को किस से जाने'[4] 'वह अग्राह्य है, अदृश्य है....'[5] 'जिस का मनन मन नहीं कर सकता'[6] इत्यादि वाक्य उस की ज्ञेयता को असम्भव बताते हैं।

अतः उत्तर समस्यारूप ही है। आचार्य शङ्कर, वाचस्पति तथा मधुसूदन सरस्वती ने प्रभूत विचार करते हुए इस समस्या को सुलझाया है। उनके सुविस्तृत प्रतिपादनों का आपाततः अभिप्रायसार यही है कि ब्रह्म स्वयंप्रकाश ही वस्तु है, अतः विशुद्ध रूप से वह ज्ञेय नहीं ही है, किन्तु ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय व्यवहार तो व्यवहारदशा पर्यन्त ही है, और समस्त

---

१. ज्ञेयस्य ज्ञानानात्मकत्वेनेव तदात्मकत्वेनापि निरूपणानर्हतया मिथ्यात्वेन ज्ञानमेवैकं परमार्थसदिति वेदान्तमतम्। खण्ड० भाग २, द० स० पृ० १।

२. (यस्मिन्) विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति मु० उ० १।३।
येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति। छा० उ० ६।१।३।

३. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यःश्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। बृह० उ० २।४।५॥

४. येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्....विज्ञातारमरे केन विजानीयात्। बृह० उ० ४।५।१५॥

५. यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्...। मु० उ० १।१।६॥

६. यन्मनसा न मनुते...। केन० १।५॥

शास्त्र भी व्यावहारिक ही हैं, अतः वेदान्तजन्यावृत्ति का विषय होने के नाते उपहित ब्रह्म ज्ञेय है। उपहितरूप से ही वह वृत्ति का विषय होता है, स्वरूपतः या विशुद्ध रूप से नहीं। अतः वह भी व्यावहारिक कोटि के ज्ञेय के ही अन्तर्गत है।

इन प्रतिपादनों को कुछ और सूक्ष्मता से देखें तो ब्रह्म की ज्ञेयता के सम्बन्ध में भामती एवं विवरण प्रस्थानों का यह अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है एवं एकाङ्गी-विचार-जनित समस्या भी सुलझती है। विवरण प्रस्थान वृत्तिव्याप्ति द्वारा शुद्ध ब्रह्म ही ज्ञेय है, ज्ञेयता वृत्ति-व्याप्ति-रूपा ही है, फल-रूपा नहीं ऐसा मानता है। भामती प्रस्थान में वृत्तिव्याप्तता को भी धर्म ही मानते हुए उसका व्याप्य भी अज्ञान को ही कहा गया। वृत्ति द्वारा व्याप्त होते ही अज्ञान ध्वस्त हो जाता है, अतः शुद्ध ही ब्रह्म ज्ञेय है। ज्ञानरूपता ही ज्ञेयता है। किसी भी प्रकार हो अज्ञाननिवृत्ति का आधार होना ही ब्रह्म की ज्ञेयता है। वह शुद्ध में भी सम्भव ही है।

यह ज्ञेय प्रमेय होता है जब अनधिगत तथा अबाधित हो, इसमें से अबाधित विशेषण तो नियत व सर्वमान्य है। वेदान्त में इसका अर्थ है कि जिस वस्तु का अपने अधिकरण में निषेध न हो सकता हो, जैसे रज्जु में रज्जु का ही ज्ञान हो तो इसके बाद यह कहने का अवसर नहीं आ सकता कि यहाँ रज्जु न थी न है। जब कि रज्जु के स्थान पर सर्प का ज्ञान हो तो बाद में कहा जाता है कि यहाँ सर्प न था न है—यह अपने अधिकरण में अपने निषेध का प्रतियोगी होना ही[1] बाधित होना है। तात्त्विक दृष्टि से तो सम्पूर्ण जगत् ही अपने प्रतिपन्न (स्वीकृत या प्रतीयमान) अधिकरण (ब्रह्म) में अपने निषेध का प्रतियोगी है, क्योंकि ब्रह्मावगति होने पर प्रपञ्च न था, न है, न होगा यही स्थिति होती है। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से, ब्रह्मज्ञान होने से पहले तक बाध न होना (उक्त प्रकार के निषेध का प्रतियोगी न बन सकना) ही वस्तुओं की अबाधितता है। और ब्रह्मज्ञान से इतर ज्ञानों द्वारा निषेध-प्रतियोगी होना बाधितता।

अनधिगत विशेषण के विषय में विवाद है। सुरेश्वराचार्य तथा सर्वज्ञात्मा आदि कुछ आचार्य विषय में अज्ञातता को असम्भव मानते हैं, क्योंकि उसका ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि जड़ वस्तुएँ स्वयंप्रकाश नहीं, अतः उनको व उन में स्थित किसी गुण-धर्म को जानने के लिये प्रमाण-वृत्ति की आवश्यकता है, घटनिष्ठा अज्ञातता भी घट के प्रति वृत्ति की प्रवृत्ति हुए बिना कैसे जानी जायेगी और वृत्ति हो जाने पर तो घट ज्ञात ही कहलायेगा, अज्ञात नहीं। और किसी वस्तु के प्रति प्रमाण की प्रवृत्ति होना ही उस वस्तु की उससे पहले की अज्ञातता का अनुमापक है—यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रमाण की प्रवृत्ति के पश्चात् वह वस्तु जो पहले अज्ञात थी, अब प्रमाण के बल से ज्ञात हुई है, इसका निर्णय नहीं हो सकता। अज्ञातत्व का ज्ञान प्रमाणप्रवृत्ति से पहले न हो तो घटज्ञान में प्रमाणफलता सिद्ध नहीं होती क्योंकि सन्देह रहता है कि यह प्रमाण से ज्ञात हुआ या स्वभावतः ज्ञात हुआ। और यह पहले अज्ञात था इसका ग्राहक कुछ है नहीं।[2] जिसने पहले मलिन दशा में वस्त्र को

---

१. प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वम्। अ० सि० पृ० ९४॥

२. वस्त्वज्ञातं समुद्दिश्य तत्प्रमित्सन्ति मानिनः।
ज्ञातत्वकार्यतश्चातः सिद्धं तत्फलतोऽथवा॥ शेष अगले पृष्ठ पर

न देखा हो वह उसे धुलने पर देखे तो निश्चयपूर्वक नहीं समझ सकता कि यह वस्त्र पहले ही धवल था या धुलने से धवल हुआ है"...इत्यादि अनेकों युक्तियों से ज्ञेय वस्तु में कोई अज्ञातता रहने का खण्डन किया गया है।[1] फिर सिद्धान्त में कहा है कि अज्ञान चैतन्य में ही अध्यस्त है, अतः उसी में रहता है, घट आदि वस्तु में नहीं। उस आत्मगत अज्ञातता को लेकर ही 'घट अज्ञात था' ऐसा व्यवहार निभता है। अर्थात् वस्तु से अवच्छिन्न चैतन्य में अज्ञातता है, वही स्वाश्रयावच्छेदकत्व सम्बन्ध से घट आदि पर आकर उनके प्रति अज्ञातत्व व्यवहार को उत्पन्न करती है। और प्रत्यक्ष आदि प्रमाण घट आदि से अवच्छिन्न आत्मा के ही अज्ञान की निवृत्ति करते हैं।[2]

३. वृत्तिभेद-विवरण

(क) मायावृत्ति

साधारणसृष्टिवाद में यह समस्त जगत् एक तत्त्व के 'ईश्वर' रूप के 'ईक्षण' का फल है। ईक्षण का अर्थ है सङ्कल्प। वह मन का धर्म है। मन (अन्तःकरण) चैतन्य की लघु उपाधि है, जो 'जीव' रूप का निष्पादक है। 'ईश्वर' की उपाधि है मन की मूल-कारण-भूत अविद्या, उसी का विक्षेपांश-प्रधान रूप से नाम है माया। जीवों के सङ्कल्प उनकी उपाधि

षष्ठगोचरवन्नेदमज्ञातत्वं समीक्ष्यते।
न च प्रत्यक्षवत्सिद्धं स्वानुभूतिसमाश्रयात्। बृ० भा० वा० १।४।२८६,२८८॥
नाज्ञाततावगतिरस्ति जडेषु पूर्वं मेयेषु तत्स्फुरणकारणवर्जितत्वात्।
मानोदयान्न हि पुरा किमपीह मानं नापि प्रमेयबलतो जडता हि तस्य॥
नापि प्रमाणमवबोधकमस्ति किञ्चित् मानोदयात् पुर इति स्फुटमभ्युपेयम्।
नाज्ञातमनवगम्य पुरा प्रवेशात् मानस्य किञ्चिदपि मानबलेन बोद्धुम्।
शक्नोति कश्चिदपि मानबलेन बुद्धं किं वा स्वभाव इति निश्चयहेत्वभावात्॥
सं० शा० २।१६-१८॥

1. प्रक्षालनेन धवलं किमिदं बभूव किं वा पुरापि धवलं स्वयमेव वस्त्रम्।
इत्येवमेष न विवेक्तुमलं कदाचिद् यो दृष्टवान्न मलिनं वसनं पुरस्तात्॥
सं० शा० २।१८-२०॥
2. घटाद्यच्छिन्नमज्ञातमात्मानं संश्रित्य विषयीकृत्य व्यावहारकाले तदज्ञाननिवृत्तौ अभिव्यक्तचिद्भास्यघटादिव्यवहारजननात्"...(न प्रत्यक्षादिवैयर्थ्यम्)।
सा० सं० २।२१, पृ० १२॥

अन्तःकरण की वृत्ति होते हैं, अतः ईश्वर का ईक्षण माया की वृत्ति है, यह कहना अनुचित नहीं। वृत्ति का स्वरूप देखा गया ज्ञाता की उपाधि का ज्ञानानुकूल ज्ञेयाकार परिणाम। निखिल ज्ञेय (जगत्) ब्रह्म का विवर्त है। विवर्त का अर्थ होता है अध्यस्त वस्तु, जैसे भ्रम-स्थल पर सीपी में चाँदी। भ्रमविश्लेपण-प्रसङ्ग में सविधि देखा जायेगा कि अध्यस्त वस्तु अज्ञान का परिणाम ही होती है, तथा अविद्या की ही वृत्ति एक साथ भ्रमज्ञान तथा उसका ज्ञेय रजत बनती है। ऐसे ही समस्त जगत् माया का परिणाम है। माया (मूल उपाधि) की ही वृत्ति जगद् रूप से स्थित है।

दृष्टिसृष्टिवाद में तो दृष्टि ही सृष्टि है, या दृष्टिरूपा ही सृष्टि है, अतः उस द्रष्टा की दृष्टि (ज्ञान-ज्ञेयाकार वृत्ति) ही निखिलज्ञेय की उपस्थापिका है एवं वही उनकी ग्राहिका भी है, यह मान्य ही है। वहाँ जगत् की प्रातिभासिक ही सत्ता स्वीकृत है, इससे भी मूल उपाधि का ही द्विविध परिणाम जगत् की स्थिति व ज्ञान हैं, अतः वृत्तिरूप ही हैं।

निखिल ज्ञेय का सार्वदिक् त्रैकालिक ज्ञान ईश्वर-पदार्थ में स्वीकृत है। उसका सर्वज्ञ व सर्ववित् होना उसकी उपाधि के ज्ञानानुकूल परिणाम के बिना सम्भव नहीं। प्रकटार्थकार ने ईश्वर के सर्ववित् होने की ऐसी ही व्याख्या की है। तदनुसार जैसे जीव के उपाधिभूत अन्तः-करण के परिणाम (वृत्तियाँ) चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करते हैं, वैसे ही ब्रह्म की ईश्वर-त्वापादक उपाधि (माया) के परिणाम चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करते हैं, उनमें प्रतिबिम्बित स्फुरण (ज्ञानफल रूप चैतन्य) तीनों कालों में रहने वाले प्रपञ्च को अपरोक्ष रूप से ही विषय करते हैं, इसीसे ईश्वर सर्ववित् है।[1]

तत्त्वशुद्धिकार ने प्रकटार्थकार की रीति से ही ईश्वर को सम्पूर्ण प्रपञ्च का सर्वदा साक्षात्कार होने की सम्भावना बताई है। विद्यमान वस्तु-विषयक साक्षात्कार से उत्पन्न संस्कार के आश्रय रूप से, भूतकालीन सम्पूर्ण प्रपञ्च के अवभास को सम्भव मानते हुए, ईश्वर के सर्वज्ञ-त्व को उपपादित किया है। इसके अतिरिक्त—सृष्टि के पूर्वकाल में जीवों के अदृष्टवश सृज्यमान सम्पूर्ण पदार्थों की वृत्ति रूप से माया का परिणाम होता है, इससे माया में प्रतिबिम्बित होने से मायोपाधिक ब्रह्म में भी माया की वृत्ति के प्रति कर्तृत्व की सिद्धि होने से, अनागत वस्तु-विषयक ज्ञान उपपन्न है, अतः ईश्वर का सर्वज्ञत्व—त्रिविधपरिच्छेदरहित ज्ञातृत्व—सिद्ध है।[2]

---

१. प्रकटार्थकारास्त्वाहुः—यथा जीवस्य स्वोपाध्यन्तःकरणपरिणामाश्चैतन्यप्रतिबिम्ब-ग्राहिण इति तद्योगात् ज्ञातृत्वम्, एवं ब्रह्मणः स्वोपाधिमायापरिणामाश्चित्प्रतिबिम्ब-ग्राहिणः सन्तीति तत्प्रतिबिम्बितैः स्फुरणैः कालत्रयवर्तिनोऽपि प्रपञ्चस्यापरोक्षेणा-वकलनात् सर्वज्ञत्वमिति। सि० ले० सं० पृ० १३८–३९।

२. तत्त्वशुद्धिकारास्तूक्तरीत्या ब्रह्मणो विद्यमाननिखिलप्रपञ्चसाक्षात्कारसम्भवात् तज्जनितसंस्कारवत्तया च स्मरणोपपत्तेरतीतसकलवस्त्ववभाससिद्धिः, सृष्टेः प्राङ् मायायाः सृज्यमाननिखिलपदार्थस्फुरणरूपेण जीवादृष्टानुरोधेन विवर्तमानत्वात् तत्साक्षितया तदुपाधिकस्य ब्रह्मणोऽपि तत्साधकत्वसिद्धेः अनागतवस्तुविषयविज्ञानो-पपत्तिरिति सर्वज्ञत्वं समर्थयन्ते। वही पृ० १३९।

विद्यारण्य ने पञ्चदशी में ईश्वर की उपाधि शुद्धसत्त्वगुणप्रधानप्रकृति नाम से माया को कहा है।[1] सत्त्वगुण ज्ञान-प्रकाशस्वभाव है, उस के शुद्ध होने का अभिप्राय है आवरणस्वभाव तमोगुण से अभिभूत न होना। अथवा ईश्वर के प्रति माया का आवरणकृत्य नहीं है, अतएव ईश्वर सर्वज्ञ है, तथा विक्षेपकृत्य द्वारा सृष्ट सभी पदार्थ ईश्वर के प्रति सदा प्रकट हैं, अतः वह सर्ववित् है।

(ख) अविद्यावृत्ति—

जीव चैतन्य को अविद्या का आश्रय मानने के पक्ष में (वाचस्पति-प्रस्थान में) उसी अविद्या की ही द्विविध परिणति है जगत् की स्थिति व उसका ज्ञान। क्योंकि उस दशा में दृष्टि-निरूपिता सृष्टि ही मान्य है, जागतिक वस्तुओं की अज्ञात सत्ता (न जाने जाते समय भी उनका रहना) मानने का कोई प्रयोजन नहीं।

अविद्या अथवा अन्तःकरण किसी को भी जीवचैतन्य की उपाधि मानने के पक्ष (विवरणमत) में उस (जीव) को स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाओं में होने वाले समस्त ज्ञान में तथा जाग्रत् में भ्रमज्ञान में अविद्यावृत्ति का उपयोग है।

(१) स्वाप्नज्ञान—

स्वप्न-विचार में दो पहलू हैं। स्वाप्नवस्तुयें क्या हैं तथा उनका ज्ञान कैसे होता है ? आचार्य शङ्कर द्वारा माण्डूक्योपनिषद् भाष्य में कहा गया है कि जाग्रद्दशा में सक्रिय दसों इन्द्रियों से युक्त मनोवृत्तियां बाह्यविषयों से सम्बद्ध होती हुई, चित्त में वैसे ही संस्कार उत्पन्न करती हैं। चित्रित वस्त्र के समान इस प्रकार के संस्कारों से युक्त हुआ वह मन अविद्या, कामना व कर्म के कारण बाह्य साधन (इन्द्रिय व स्थूल पदार्थों) की अपेक्षा के बिना ही प्रेरित होकर जाग्रत् के समान ही भासने लगता है।[2]

'यहाँ मन अपनी महिमा का अनुभव करता है'।[3] 'मन ही रथ, अश्व, स्थान आदि की सृष्टि कर लेता है'[4] इत्यादि अनेक श्रुतियों में स्वप्न को मन की ही सृष्टि कहा गया है।

पञ्चपादिकाकार ने स्वप्नदशा का निरूपण करते हुए कहा है कि निद्रा-दोष से उपप्लुत या कलुषित मन अदृष्ट (पहले किये हुए धर्म-अधर्म के फल) द्वारा उद्बोधित संस्कारों से सहकृत हो कर मिथ्या अर्थ-विषयक ज्ञान उत्पन्न करता है।[5]

---

१. सत्त्वशुद्धयविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः ॥ पं० द० १।१६ ॥

२. जाग्रत्प्रज्ञानैकसाधना बहिर्विषयेवावभासमाना मनःस्पन्दनमात्रा सती तथाभूतं संस्कारं मनस्याधत्ते। तन्मनस्तथा संस्कृतं चित्रित इव पटो बाह्यसाधनानपेक्षम-विद्याकामकर्मभिः प्रेर्यमाणं जाग्रद्वदवभासते। मां० उ० भा० पृ० ३१-३२।

३. अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। प्रश्न० ४।५।

४. रथान् रथयोगान् च सृजते। बृह० उ० ४।३।१९।

५. तदिह निद्रादोषोपप्लुतं मनः अदृष्टादिसमुद्बोधितसंस्कारविशेषसहकार्यनुरूपं मिथ्यार्थविषयं ज्ञानमुत्पादयति। पं० पा० पृ० ५६।

इन उक्तियों में—स्वाप्न वस्तुयें मन की ही सृष्टि हैं, तथा उनका ज्ञान मन की ही वृत्ति—यही अभिप्राय प्रतीत होता है। किन्तु बाह्य इन्द्रिय आदि माध्यम के बिना अन्तःकरण-वृत्ति बनती नहीं, तथा अन्तःकरणवृत्ति यथार्थ ही ज्ञान उत्पन्न करती है (यह आगे देखा जायेगा); जब कि स्वाप्न ज्ञान, बिना वास्तविक विषयों के उत्पन्न होने से कल्पनात्मक या भ्रम-तुल्य ही है।

ऐसे ही तर्क से प्रेरित हो कर पद्मपादाचार्य ने अन्यत्र, अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य में आश्रित अविद्या को स्वाप्न पदार्थों व उन के ज्ञान का आलम्बन बताया है।[1] किन्तु इतने से स्थिति का स्पष्टीकरण नहीं हुआ, एक अन्य सम्भावना-मात्र सामने आई।

आचार्य मधुसूदन ने सिद्धान्तबिन्दु में स्वप्न का सर्वाधिक विश्लेषण तथा उसके दोनों पक्षों की समञ्जस व्याख्या की है। तदनुसार—(१) जाग्रदवस्था में भोग उत्पन्न कराने वाले कर्मों का क्षय होता है (२) स्वप्नावस्था में भोग कराने वाले कर्मों का उदय होता है, (३) तब 'निद्रा' नाम की तामसी वृत्ति (अविद्या के तमस् अंश की अवस्थाविशेष) से स्थूल देह का अभिमान (उस में अपना तादात्म्य) दूर होता है, (४) इन्द्रियां निश्चेष्ट हो कर मन में लीन हो जाती हैं, (५) उस जीवचैतन्य के लिये विश्व भी विलीन सा हो जाता है।[2] तब भी जाग्रत् दशा के समान ही सभी प्रकार के चर-अचर पदार्थों का ज्ञान हुआ करता है और उन से सुख-दुःख का अनुभव भी। यह इन्द्रिय व विषयों के अभाव में भी होने वाली प्रतीति स्वप्न है, जिस का निमित्त हैं अन्तःकरण में स्थित वासनायें (जाग्रत् अवस्था में अनुभूत वस्तुओं के संस्कार)।[3]

स्वाप्नवस्तुयें व उन के ज्ञान का स्वरूप क्या है इस विषय में दो मत कहे गये हैं—जो सूत्ररूप में पञ्चपादिका में प्राप्त हैं। (१) स्वप्न में मन ही सभी पदार्थों के आकार में परिणत होता है, तथा ये पदार्थ अविद्या की वृत्ति द्वारा जाने जाते हैं। अथवा निद्रा से कलुषित मन की वृत्तियां स्वाप्न पदार्थों की घटक हैं तथा अविद्या की वृत्तियों द्वारा ये पदार्थ जाने जाते हैं।[4] (२) अविद्या ही, भ्रमस्थल में शुक्तिरजत के समान निद्रावृत्ति के समय, स्वप्न के पदार्थों के आकार में परिणत होती है, तथा अविद्या की ही ज्ञानानुकूल परिणति रूप वृत्ति द्वारा वे पदार्थ जाने जाते हैं, भ्रमज्ञान के समान।[5] स्वयं मधुसूदन द्वितीय मत का ही

---

१. तस्य च तदवच्छिन्नापरोक्षचैतन्यस्थाविद्याशक्तिरालम्बनतया विवर्तते। वहीं।

२. जाग्रद्भोगजनककर्मक्षये स्वाप्नभोगजनककर्मोदये च सति निद्राख्यया तामस्या वृत्त्या स्थूलदेहाभिमाने दूरीकृते सर्वेन्द्रियेषु निर्व्यापारतया लीनेषु विश्वोऽपि लीन इत्युच्यते तदा स्वप्नावस्था। सि० बि० पृ० १०७।

३. तत्रान्तःकरणगतवासनानिमित्त इन्द्रियवृत्त्यभावकालीनोऽर्थोपलम्भः स्वप्नः। वहीं।

४. तत्र मन एव गजतुरगाद्याकारेण विवर्तते अविद्यावृत्या च ज्ञायत इति केचित्। वहीं।

५. अविद्यैव शुक्तिरजतादिवत् स्वप्नाद्यर्थाकारेण परिणमते, ज्ञायते चाविद्यावृत्त्या इत्यन्ये। वहीं।

समर्थन करते हुए कहते हैं कि पदार्थाध्यास तथा ज्ञानाध्यास के उपादान रूप से सर्वत्र अविद्या ही मानी गई है।[1] अतः मूलतः सब अविद्या का ही प्रपञ्च या विस्तार है, तब भी व्यावहारिक जाग्रत्-स्वप्न व्यवस्था के लिये उस अविद्या के ही कार्य अन्तःकरण में स्थित जाग्रद् अवस्था के संस्कारों को स्वाप्न पदार्थों तथा उन के ज्ञान का निमित्त मान कर कदाचित् उन्हें मन का ही परिणाम कह दिया जाता है। जाग्रत् अवस्था में व्यावहारिक घट आदि के ज्ञान के समय मन घड़े के आकार के समान आकार ग्रहण करता है, 'इदं रजतम्' इस प्रातिभासिक रजत के ज्ञान के समय अविद्या ही शुक्ति के स्थान पर प्रातिभासिक रजत के रूप में परिणत होती है, अथवा व्यावहारिक रजत के आकार के सदृश आकार ग्रहण करती है, मन नहीं। उसी तरह स्वाप्न पदार्थाकार-सदृश आकार को अविद्या ही ग्रहण करती है, मन नहीं। इस अर्थ में तो कोई विवाद नहीं है। किन्तु ये स्वाप्न पदार्थ उत्पन्न किस प्रकार हुए इस विषय में दो मत हैं—(१) अविद्या के सहकार से मन ही ने स्वाप्न पदार्थों की कल्पना की है, वे किसी के परिणाम नहीं। (२) जागृति में जैसे शुक्ति को अधिष्ठान बना कर अविद्या रजत के आकार से परिणत होती है, वैसे ही स्वप्न में चैतन्य को अधिष्ठान कर के अविद्या ही विविध वस्तुओं के आकार से परिणत होती है।[2]

भाव यह है कि ब्रह्म से लेकर शशशृङ्ग तक के पदार्थों की चार श्रेणियाँ कही जा सकती हैं—(१) पारमार्थिक, (२) व्यावहारिक (३) प्रातिभासिक (४) बौद्ध। प्रथम ब्रह्म है, जो न किसी का विवर्त है न परिणाम, अतः सत्य है, अन्य तीन अनृत हैं। द्वितीय भूत-भौतिक प्रपञ्च है—यह आत्मा का विवर्त और मूला अविद्या का परिणाम है। तृतीय रज्जुसर्प शुक्तिरजत आदि हैं—ये रज्जु आदि अथवा उन के अन्तर्गत चेतन के विवर्त और तूलाविद्या के परिणाम हैं। चतुर्थ शशशृङ्ग आदि हैं—ये मन के विवर्त अथवा मन के अन्तर्गत चेतन के विवर्त हैं, किसी के भी परिणाम नहीं हैं।

स्वप्न के प्रसङ्ग में स्वाप्न वस्तुयें उक्त पदार्थ-चतुष्टय में चतुर्थ हैं—यह प्रथम पक्ष है, तृतीय हैं यह द्वितीय पक्ष है। द्वितीय ही युक्तिसङ्गत है, क्योंकि अद्वैतवेदान्तसिद्धान्त में जो परिणाम होता है वह किसी का विवर्त भी हुआ करता है। अतः परिणाम विवर्त का व्याप्य है। एवं जो विवर्त होता है वह मूलाविद्या या तूलाविद्या का परिणाम होता है। इस प्रकार विवर्त परिणाम का व्याप्य है—यह नियम है। अतः स्वाप्न पदार्थ किसी के परिणाम नहीं यह मत ठीक नहीं।

---

१. कः पक्षः श्रेयान् ? उत्तरः। अविद्याया एव सर्वत्राप्यर्थाध्यासज्ञानाध्यासोपादानत्वेन कल्पितत्वात्। मनोगतवासनानिमित्तत्वेन क्वचिन्मनःपरिणामत्वव्यपदेशात्।

सि० वि० पृ० १०८।

२. अविद्यासहकारेण मनसा केवलं कल्पिताः, न तु कस्यापि परिणामभूता इत्येकः पक्षः। यथा जागृतौ शुक्तिरजतस्थले शुक्तिमधिष्ठानत्वेन स्वीकृत्य अविद्या रजताकारेण परिणता भवति तथा स्वप्ने चैतन्यमधिष्ठानत्वेन स्वीकृत्याविद्या तादृशविषयाकारेण परिणता भवतीति द्वितीयः।

वि० प्र० पृ० १०७-८।

स्वाप्नपदार्थों के ज्ञान के विषय में प्रसङ्गतः चर्चा उठा कर कहा गया है—यदि मन स्वप्न में दृश्यपदार्थों के आकार में परिणत नहीं होता तो स्वप्न में भी वह (मन) ही द्रष्टा रहेगा, तब वृह० उप० में **'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः'** कह कर कहा गया आत्मा का स्वयंज्योतिष्ट्व व्यर्थ होगा। ऐसी शङ्का उचित नहीं; क्योंकि वाह्य इन्द्रियों की वृत्तियों (व्यापार) के अभाव में मन द्रष्टा नहीं हो सकता, क्योंकि वाह्य इन्द्रियों की सहायता से ही मन विषय का ग्राहक बनता है, अन्यथा नहीं; और वृत्तिसहित अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाता होता है, यह भी नियम है। अतएव यद्यपि स्वप्नावस्था में अन्तःकरण विद्यमान है, तथापि वृत्ति के अभाव से उसमें प्रमातृत्व नहीं है।[1]

अर्थात् अविद्या की वृत्ति मन में स्थित संस्कारों की सहायता से, अथवा 'यह' आकारवाली (इदमाकारा) मनोवृत्ति की सहायता से उत्पन्न होती है, स्वप्न में मन ही गज़, अश्वादि के आकार में परिणत होता है, अतः मन का दृश्यकोटि में प्रवेश होने से दृश्यत्वरूप से ही मन का उपयोग है, दृशिकरणता रूप से नहीं (—ज्ञान के साधन रूप से नहीं) अतः आत्मा का स्वयंज्योति होना सिद्ध होता है।[2] (इस प्रकार प्रथम मत के अनुसार तो व्यवस्था ठीक रहती है) परन्तु अविद्या ही शुक्तिरजत आदि रूप में तथा स्वाप्न पदार्थों के रूप में भी परिणत होती है, इस द्वितीय मत में मन का दृश्यकोटि में प्रवेश नहीं है, तो उसे ज्ञान का करण मानना होगा तब आत्मा (जीव) स्वयंज्योति कैसे सिद्ध होगा ?[3] ऐसी शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि भले ही मन वहाँ है एवं दृश्यकोटि में प्रविष्ट नहीं, तब भी इन्द्रियवृत्तियों के अभाव में मन प्रमाता नहीं बनता अतः स्वाप्नपदार्थों का दर्शन मनोवृत्ति नहीं, अविद्यावृत्ति के सहकार से जीवसाक्षी द्वारा ही वे प्रकाशित होते हैं।[4]

---

१. ननु मनसस्तदा दृश्याकारपरिणामानभ्युपगमे द्रष्टृत्वसंभवेनात्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वासिद्धिरिति चेन्न; वहिरिन्द्रियवृत्त्यभावेन तदानीं मनसो ग्राहकत्वात्। तत्सहकारेणैव तस्य ग्राहकत्वनियमात्। सवृत्तिकान्तःकरणावच्छिन्नस्यैव चैतन्यस्य प्रमातृत्वनियमात् तदाऽन्तःकरणसत्त्वेऽपि प्रमात्रभावः। सि० बि० पृ० १०९।

२. अविद्यावृत्त्यङ्गीकारेण मनोवृत्त्यभावेऽपि मनः संस्कारसहायेनैवेदमाकारमनोवृत्तिसहायेनैव च तादृशाविद्यावृत्तिजननेन तदानीं मनसो ज्ञानकरणत्वस्यासत्त्वात्। स्वप्नावस्थायां तु अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति (वृह० ४।३।९) इति श्रुत्यात्मनः स्वप्नकाले स्वयंज्योतिष्ट्वमुच्यते। स्वप्ने हि मन एव गजतुरगाद्याकारेण परिणमत इति दृश्यकोटिप्रविष्टत्वात् दृश्यत्वेनैव मनस उपयोगो न तु दृशिकरणतयेति स्वयंज्योतिष्ट्वं सिद्ध्यति। अत एव तत्रत्या गजाश्वादयो विषयाः साक्षिग्राह्या इत्युच्यन्ते। बि० प्र० पृ० १०९।

३. परं तु 'अविद्यैव शुक्तिरजतादिवत् स्वाप्निकार्थाकारेण परिणमते' इति द्वितीयमते मनसो न दृश्यकोटिप्रविष्टत्वम्। अतस्तदानीं मनस उपयोगः शुक्तिरजतज्ञान इव वाच्य इति स्वयंज्योतिष्ट्वमात्मनस्तदानीं न सिध्यति। वहीं।

४. वृत्त्यभावात् तदानीं मनसो न प्रमातृत्वसंभवः। एवं च स्वाप्नप्रपञ्चो न प्रमातृभास्यः, अपि त्वविद्यावृत्तिसहकारेण साक्षिभास्यः। वहीं।

इस प्रकार स्वाप्न पदार्थों का परिणामी उपादान कारण अविद्या ही है तथा उनका ग्रहण अविद्यावृत्ति। उन के देखने आदि अनुभव को संभव बनाता है साक्षिचैतन्य।

इन स्वाप्न पदार्थों का अधिष्ठान क्या है ? इसकी चर्चा करते हुए तथा जीवचैतन्य को ही अधिष्ठान सिद्ध करते हुए, यह स्पष्ट किया गया है कि स्वाप्नज्ञान को जो अविद्यावृत्ति कहा गया वह मूल अविद्या की वृत्ति नहीं, उस के अवस्था-रूप या तूला-अविद्या की वृत्ति है। जीवचैतन्य को सर्वदा भासमान माना गया है (अविद्योपाधिक जीव व्यापक होते हुए भी सर्वत्र व्यक्त नहीं, अन्तःकरण के अवच्छेद से ही व्यक्त है—ऐसी स्वीकृति होने से) वह अधिष्ठान कैसे बनेगा ? (अंशतः अज्ञात ही वस्तु अधिष्ठान हो सकती है) इस शङ्का के उत्तर में आचार्य मधुसूदन ने कहा है कि जीवचैतन्य में भी स्वप्नाध्यास के अनुकूल व्यावहारिक देह के ज्ञान के विरोधी अज्ञान का अवस्था या तूल रूप स्वीकृत है।[१] यह तूलाविद्या या अवस्था-अज्ञान प्रत्येक ज्ञान के लिये पृथक्-पृथक् हैं। स्वप्न में ये जीवचैतन्य पर अध्यस्त अश्व, रथ आदि का ज्ञान कराते हैं, और जाग्रत् में भ्रमस्थल पर मिथ्यावस्तु का ज्ञान बनते हैं, तथा व्यावहारिक यथार्थ ज्ञानों के पहले उनके विषय घट-पट आदि को ढकने वाले आवरण बनते हैं।

यह स्वप्न तथा जाग्रत्-दशाओं में, (तूल) अविद्यावृत्ति का उपयोग देखा गया। अब सुषुप्ति दशा तथा उस में होने वाले ज्ञान में अविद्यावृत्ति का उपयोग देखना प्राप्त है।

(२) सौषुप्त ज्ञान

जाग्रत् व स्वप्न अवस्थाओं में घूमता हुआ, स्थूल-सूक्ष्म विषयभोग करता हुआ जीव थक कर एक ऐसी अवस्था में पहुँचता है जहाँ वह न कुछ चाहता है, न कुछ भी जानता है, स्वप्न भी नहीं देखता, केवल आनन्द का भोग करता है। उस के प्रज्ञान घनीभूत रहते हैं। यह गाढ़ निद्रा की अवस्था है, जिसे सुषुप्ति नाम दिया गया है।[२] श्रुति कहती है कि यह अवस्था जीव के अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त होने से होती है,[३] उस समय यह समस्त व सम्प्रसन्न होता है।[४]

---

१. तत्रापि स्वप्नाध्यासानुकूलव्यावहारिकसङ्घातभानविरोध्यवस्थाज्ञानाभ्युपगमात्। स्वप्नदशायां चाहं मनुष्य इत्यादिप्रातीतिकसङ्घातान्तरभानाभ्युपगमात्। शय्यायां स्वपिमीति शय्यान्तरभानवत्।

सि० वि० १११-११३।

२. यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः। मा० उ० ५।६। तद् यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो''विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षी, संलयायैव धृयत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति,''''। बृह० उ० ४।३।१९।

३. सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति, स्वमपीतो भवति। छा० उ० ६।८।१॥

४. एतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः भवति। छा० उ० ८।६।३॥

इनकी व्याख्या में आचार्य शङ्कर ने कहा है कि वहाँ जाग्रत् व स्वप्न अवस्था के मन के स्पन्दन अविविक्त, घनीभूत हो जाते हैं; मनका विषय व विषयी रूप से स्फुरित होने के आयास का दुःख दूर होने से वह निरायास अतः सुखी होता है;[१] क्यों निरायास होता है ? इसके लिए कहा गया कि वह तब समस्त होता है अर्थात् उसकी सभी करणवृत्तियाँ उपसंहृत होती हैं—अन्तःकरण व इन्द्रिय निश्चेष्ट रहते हैं। इसलिये विषयों के सम्पर्क से प्राप्त मलिनता न रहने से वह सम्यक् प्रकार से प्रसन्न होता है। इसीलिए अन्तःकरण के भी उपसंहृत हो जाने से वह स्वप्न भी नहीं देखता,[२] न बाह्य विषयों को जानता है, न भीतर का कुछ भी जानता है।[३] इसके अतिरिक्त इस तृतीय अवस्था में जीव के सुखी रहने व कुछ भी न जानने का हेतु यह भी है कि सुषुप्ति में जीव सत्-चित्-आनन्दात्मक ब्रह्म में ही स्थित होता है, ब्रह्म से अभिन्न रहता हुआ; इसीलिए कुछ नहीं जानता, क्योंकि उससे पृथक् कुछ होता ही नहीं जिसे वह जाने।[४]

यहाँ शङ्का उठती है कि यदि वास्तव में सुषुप्तिस्थान ब्रह्म है, और ब्रह्म से अभिन्न होकर रहने की दशा सुषुप्ति है, तो एक बार सुषुप्त हुआ जीव पुनः जागता कैसे है ? क्योंकि तत्त्वतः तो जीव व ब्रह्म एक ही हैं, उपाधिवशतः इन में भेद-व्यवहार है, सुषुप्ति में होने वाले तथाकथित अभेद (सत्सम्पत्ति) में यदि वह उपाधि नष्ट हो जाती हो, तो जो जीव सोया था उसी का पुनः जागना सम्भव नहीं जैसे कि जलराशि में कोई बूंद मिल जाने के पश्चात् उसी बूँद का उसमें से निकलना असम्भव है।[५]

इसका उत्तर श्रुति में मिलता है कि 'यह सम्पूर्ण प्रजा सत् को प्राप्त होकर यह नहीं जानती कि हम सत् को प्राप्त हो रहे हैं। अतः सुषुप्ति से पूर्व वे इस लोक में व्याघ्र, सिंह, कीट,

---

१. स्वप्नजाग्रन्मनःस्पन्दनानि प्रज्ञानानि घनीभूतानीव सेयमवस्था विवेकरूपत्वात् प्रज्ञानघन उच्यते।....मनसो विषयविषय्याकारस्पन्दनायासदुःखाभावादानन्दमयः ....अत्यन्तानायासरूपा ह्रीयं स्थितिरनेनानुभूयत इत्यानन्दभुक्। एषोऽस्य परम आनन्दः (बृह० ४।३।३२) इति श्रुतेः। मा० उ० भा० पृ० ३४-३५ ॥

२. समस्त इति, उपसंहृतसर्वकरणवृत्तिरित्येतत्। अतो विषयसम्पर्कजनितकालुष्याभावात् सम्यक् प्रसन्नः भवति। अतएव विषयाकाराभासं मानसं स्वप्नप्रत्ययं न विजानाति। छा० उ० भा० पृ ८३४ ॥

३. न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्। बृह० उ० ४।३।२१ ॥

४. सता सम्पन्नो भवति प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः.... वहीं।
न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यद् विजानीयात्। यत्र वा अन्यदिव स्यात् तत्रान्योऽन्यत् पश्येद्........अन्योऽन्यद् विजानीयात्। सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति....। बृह० उ० ४।३।३०-३२ ॥

५. यदा हि जलराशौ कश्चिज्जलबिन्दुः प्रक्षिप्यते जलराशिरेव स तदा भवति, पुनरुद्धरणे च स एव जलबिन्दुर्भवति इति दुःसम्पादम्। तद्वत् सुप्तः परेणैकत्वमापन्नः सम्प्रसीदतीति न स पुनरुत्थातुमर्हति। ब्र० शां० भा० ३।२।९, पृ० ६१०।

पतङ्ग आदि जो भी होते हैं, वे ही पुनः (सुषुप्ति के पश्चात्) हो जाते हैं।[1] यहाँ 'नहीं जानते' में अविद्या रूप उपाधि के बने रहने का सङ्केत है और वहुवचन तथा पृथक्-पृथक् प्राणिनाम कहने से, जीवभाव के नानात्व के प्रयोजक अन्तःकरण के भी किसी न किसी रूप से रहने का कङ्केत है। इसके भाष्य में आचार्य शङ्कर ने कहा है कि कर्म व ज्ञान की वासना (संस्कारों) से अङ्कित हुए ही जीव सत् में प्रविष्ट होते हैं; इसीलिये पुनः जागने पर उन्हीं भावों से युक्त हो जाते हैं।[2] शारीरकभाष्य में किये गये प्रतिपादन के अनुसार सुषुप्ति में जीव की उपाधि विनष्ट नहीं हो जाती, उपशान्त (या अभिभूत) रहती है। इतना ही स्वरूपापत्ति का अभिप्राय है।[3] इसीलिये विन्दु के जलराशि में प्रविष्ट होने जैसी स्थिति यहाँ नहीं है कि पुनरुत्थान न हो सके; क्योंकि वहाँ तो विन्दु के पृथक् होने का कोई कारण नहीं रहता, यहाँ तो ब्रह्म व जीव में विवेक रखने वाले कर्म व अविद्या रहते हैं। सुषुप्ति व जाग्रत् अवस्थाओं में एक ही उपाधि वीज व अङ्कुर की भाँति रहती है।[4] इसे ही परवर्ती आचार्यों ने सुषुप्ति में वासना-सहित अन्तःकरण की कारणरूप से स्थिति कहा है।[5]

इस अवस्था से पुनः जागृति में लौटने वाला व्यक्ति कहता है 'मैं सुख से सोया, इतने समय तक कुछ नहीं जाना'। इस कथन के प्रयोजक अनुभव का हेतु क्या है? सुषुप्ति के उपर्युक्त विवरण से इतना तथ्य स्पष्ट है कि सभी वाह्य व आभ्यन्तर ज्ञान-साधन (इन्द्रियां व अन्तःकरण) उस समय निश्चेष्ट, स्तब्ध थे; तभी तो स्वयंज्योतिः आत्मा के रहने पर भी 'कुछ नहीं जाना गया'। किन्तु तव भी यह कैसे जाना गया कि मैं कुछ नही जान रहा हूँ। अन्तःकरण की भी विलीन दशा में 'मैं' का वोध रहा, सुख तथा अज्ञान का अनुभव रहा,

---

१. इमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति ॥ त इह सिंहो वा व्याघ्रो वा····कीटो वा····मशको वा यद्भवन्ति तदाभवन्ति ॥

छा० उ० ६।९।२-३ ॥

२. त इह लोके यत्कर्मनिमित्तां यां यां जातिं प्रतिपन्ना आसुर्व्याघ्रादीनां व्याघ्रोऽहं सिंहोऽहमित्येवं ते तत्कर्मज्ञानवासनाङ्किताः सन्तः सत्प्रविष्टा अपि तद्भावेनैव पुनराभवन्ति····युगसहस्रकोट्यन्तरिताऽपि संसारिणो या पुरा भाविता वासना सा न नश्यति। छा० उ० भा० पृ० ६४१-४२ ॥

३. स्वप्नजागरितयोस्तूपाधिसम्पर्कवशात् पररूपापत्तिमिवापेक्ष्य तदुपशमात् सुषुप्तेः स्वरूपापत्तिर्विवक्ष्यते।····उपाधेरुपशान्तत्वात् सत्येव सम्पन्नो न विजानातीति युक्तम्। ब्र० शां० भा० ३।२।७, पृ० ६०८–९।

४. युक्तं तत्र विवेककारणाभावाज्जलविन्दोरप्यनुद्धरणम्, इह तु विद्यते विवेककारणं कर्म चाविद्या चेति वैषम्यम्।····स एवायमुपाधिः स्वापप्रवोधयोर्वीजाङ्कुरन्यायेन।

ब्र० शां० भा० ३।२।८, पृ० ६१२।

५. एवं जाग्रत्स्वप्नभोगद्वयेन श्रान्तस्य जीवस्य तदुभयकारणकर्मक्षये ज्ञानशक्त्यवच्छिन्नस्य सवासनान्तःकरणस्य कारणात्मनाऽवस्थाने सति विश्रामस्थानं सुषुप्त्यवस्था।

सि० वि० पृ० ११९-२०।

इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इनकी स्मृति देखी जाती है, जो अनुभव के विना असम्भव है। जीवचैतन्य की अभिव्यञ्जक उपाधि की अवस्थाविशेप-रूपा वृत्ति के विना कोई ज्ञान सम्भव नहीं।

ऐसी स्थिति में अन्तःकरण की कारणभूता मूल अविद्या की ही सौपुप्तज्ञान आकार वाली वृत्ति को सुख व अज्ञान का अनुभव माना गया है, जो जाग्रद् दशा में होने वाली सुषुप्तिकालीन सुख-दुःख व अज्ञान आदि की स्मृति के करण—सुखादि विपयक संस्कार—को उत्पन्न करती है।

शङ्का होती है कि संस्कार रूप से स्थित अन्तःकरण की ही वृत्ति को सौपुप्त अनुभव क्यों न माना जाय, नई अविद्यावृत्ति की कल्पना क्यों की जाय ?

इस के उत्तर में कहा जा सकता है कि अन्तःकरणवृत्ति का कार्य है विपय-निष्ठ अज्ञान-रूप आवरण का भङ्ग करना। सुषुप्ति में यदि अन्तःकरणवृत्ति हो, तो विपय को ढकने के स्वभाव वाला अज्ञान निराकृत ही हो जायेगा, तव वह स्वयं विपय कैसे वनेगा ? इसीलिये यह मानना पड़ता है कि सुपुप्ति में अन्तःकरण कार्याभिव्यञ्जक क्रियाशील रूप से विद्यमान नहीं रहता। अतः उसकी वृत्ति नहीं होती।

आचार्य मधुसूदन ने सिद्धान्तविन्दु तथा अद्वैतसिद्धि में सौपुप्त अनुभव का विश्लेपण करते हुए कहा है कि सुपुप्ति दशा में जीवसाक्षी की उपाधि अविद्या की ही तीन वृत्तियाँ होती हैं, जो साक्षी, सुख तथा अवस्था-अज्ञान—इन तीनों को विपय करती हैं।[1] इसी के फलस्वरूप अविद्या में लीन अन्तःकरण में इन तीनों के अनुभव का संस्कार अनुस्यूत होता है एवं वही (संस्कार) जाग्रद् दशा में उद्‌वुद्ध हो कर स्मृति उत्पन्न करता है। यह अविद्यावृत्ति समूहा-लम्बनरूपा एक ही होती है ऐसा न्यायरत्नावली तथा अद्वैतसिद्धि में विकल्प से माना गया है।[2] अन्यथा तीन को विपय करने वाली तीन अविद्या-वृत्तियां मानी जाती हैं, क्योंकि अन्तः-करण के उद्‌वुद्ध, सचेष्ट रहने के समय ही, विपय व विपयी दोनों में अनुस्यूत एक ही अन्तःकरण-वृत्ति होना सम्भव है।

प्रश्न उठता है कि मूलाज्ञान को विपय करने वाली अविद्यावृत्ति से ही 'कुछ नहीं जाना' ऐसे स्मरण की उपपत्ति हो सकती है, तो अवस्था-अज्ञान-विपयक वृत्ति क्यों मानी जाय ?

इसका उत्तर न्यायरत्नावलीकार ने दिया है कि मूलाज्ञानाकारा अविद्यावृत्ति से अनेक विपयक अज्ञान की स्मृति उपपन्न नहीं होती। मूलाज्ञान केवल शुद्धब्रह्मविपयक ही होता है।

---

१. न किञ्चिदवेदिपमिति कारणमात्रोपलम्भः सुपुप्तिः। तत्र जाग्रत्स्वप्नभोग्यपदार्थ-ज्ञानाभावेऽपि साक्ष्याकारं सुखाकारमवस्थाऽज्ञानाकारं चाविद्याया वृत्तित्रयमभ्यु-पेयते। सि० वि० पृ० १२०।

२. साक्ष्यज्ञानसुखाकारास्तिस्रोऽविद्यावृत्तयः, सुषुप्त्याख्या एकैव वा वृत्तिरित्यन्यदेतत्। अ० सि० पृ० ५५९।

आकारत्रयोपहितरूपभेदसम्भवादित्यभिप्रायः। न्या० र० पृ० १९६।

नाना विषयों को विषय करने वाला अवस्था-अज्ञान ही माना गया है।[1] मूलाज्ञानाकारा अविद्यावृत्ति भी सुषुप्ति में रहती है अवश्य, क्योंकि प्रलय से इतर सभी कालों में वह विद्यमान रहती है। सो कर उठे व्यक्ति को 'मैं मूढ़ था' ऐसा स्मरण होना उक्त मूलाज्ञानाकारा अविद्यावृत्ति में प्रमाण है।[2]

इस प्रकार नाना विषयों से विशेषित अज्ञान के स्मरण ('.....कुछ नहीं जाना') के लिये अवस्थाज्ञानाकारा अविद्यावृत्ति तथा नानाविषयों से अविशेषित अज्ञान के स्मरण ('इतने समय तक मैं मूढ़ था') के लिये मूलाज्ञानाकारा अविद्यावृत्ति सुषुप्ति में स्वीकार्य है।

और एक प्रश्न उठता है कि जिसको जिस काल आदि से विशिष्ट रूप से अनुभव होता है, उसको वैसी ही स्मृति होती है, जैसे 'यह घट' इस अनुभव की 'वह घट' ऐसी स्मृति होती है। किन्तु सुषुप्ति में वैसी वृत्ति न रहने से जाग्रत् में 'सुख से सोया' ऐसा अनुभव ही हो सकता है, इसे स्मृति नहीं कह सकते—भूतकाल का उल्लेख इसमें न रहने से। अभिप्राय यह कि जागे हुए व्यक्ति को सुपुप्तिकालीन अनुभव से उत्पन्न जो स्मरण होता है, वह 'तत्तावलम्बी' नहीं होता (भूतकाल के वैशिष्ट्य का ग्रहण नहीं करता) और भूतकालीनता के उल्लेख विना स्मरण की उपपत्ति नहीं।

इसके उत्तर में मधुसूदन कहते हैं कि अन्तःकरण के उपराग के समय जो अनुभव होता है, उसी में कालवैशिष्ट्य का ग्रहण होता है। सुपुप्ति में अन्तःकरण के लयप्राप्त होने के कारण उसमें अन्तःकरणोपरागकालीन अनुभवजन्यता नहीं रहती। इसीलिये सुपुप्तिकालीन अनुभव से उत्पन्न स्मरण में उस काल का ('तत्ता' का) उल्लेख नहीं रहता। देश-काल आदि से विशिष्ट रूप से जो सविकल्पक अनुभूति होती है, वह सुपुप्ति में सम्भव नहीं।[3]

शङ्का उठती है कि सौपुप्त अनुभव में अहङ्कार अविद्यमान रहने से अज्ञानांश में देश-काल-वैशिष्ट्य भासित नहीं होता, तो अज्ञान के सविपयकत्व तथा ज्ञानविरोधित्व का भी भान न होगा। उत्तर है कि यह इष्टापत्ति है। सुपुप्ति में अज्ञान स्वरूपतः ही भासमान है, सविपयकता आदि धर्मों का वैशिष्ट्य भासित नहीं होता। इस पर पुनः शङ्का होती है कि जागने पर होने वाले स्मरण के प्रथम अंश 'कुछ भी' से अज्ञान की सविपयकता तथा द्वितीय

---

१. न किञ्चिदवेदिपमित्यनेकपदार्थविपयकज्ञानस्मृतेर्मूलाज्ञानेनानुपपत्तेः तस्य चिन्मात्रविपयकत्वात्।
वहीं।

२. मूलाज्ञानाप्यविद्यावृत्तिः सुषुप्ताववश्यं वाच्या प्रलयान्यकाले सर्वदैव तत्स्वीकारात्। एतावत्कालं मूढोऽहमस्वाप्समिति नानाविपयविशेपितरूपेणाज्ञानस्य जागराद्यन्यकाले तत्त्वाज्ञानकाले स्मरणात्।
वहीं।

३. अन्तःकरणोपरागकालीनानुभवजन्यत्वाभावाच्च न तत्तोल्लेखाभावेऽपि स्मरणत्वानुपपत्तिः। स्मरणे तत्तोल्लेखनियमाभावाच्च।

सि० वि० पृ० १२१।

अंश 'नहीं जाना' से ज्ञानविरोधिता प्रकट होती है। इसकी उपपत्ति के लिये सुषुप्ति को सविकल्पक मानना होगा।[1]

इस के उत्तर में मधुसूदन कहते हैं कि निर्विकल्पक ज्ञान द्वारा सविकल्पक स्मृति किसी भी प्रकार सम्भव नहीं। स्मृतअज्ञान में जो सविषयता व ज्ञान-विरोधिता भासित होती है, वह सुषुप्तिकालीन अनुभव का फल नहीं, जाग्रत्कालीन अनुभव की तुलना का फल है। स्मरण केवल अज्ञान के स्वरूप का ही होता है।

प्रश्न उठता है कि सुषुप्ति में अहङ्कार तो रहता नहीं (अन्तःकरण वृत्तिरहित होने से) तो 'मैं सुख से सोया' ऐसी स्मृति कैसे होती है? इसके उत्तर में मधुसूदन कहते हैं कि अहङ्कार का स्मरण नहीं होता, जागने के समय ही अहङ्कार का अनुभव होता है; और वह साक्षिचैतन्य द्वारा घटित होता है।[2]

और एक शङ्का उठती है कि सुषुप्ति में अज्ञान के अनुभविता रूप से साक्षी ही विद्यमान रहता है, अहमर्थ नहीं; किन्तु जागने पर जो अज्ञानादिविषयक स्मृति होती है उसका आश्रय अहमर्थ को माना जाता है, वही अनुभव-सिद्ध भी है। इस प्रकार सौषुप्त अनुभव तथा उसके स्मरण के आश्रय भिन्न-भिन्न हो जाते हैं, अतः अनुभव व स्मृति में जो सामानाधिकरण्य का नियम है, वह सुषुप्ति में व्यभिचरित होता है।[3]

इसका उत्तर है कि सुषुप्ति दशा में साक्षिचैतन्य अज्ञान का अनुभविता है, तथा जागने पर स्मरण भी साक्षिचैतन्य को ही होता है, किन्तु तब साक्षिचैतन्य में उद्‌बुद्ध अहङ्कार का अध्यास होने से अहङ्कार ही स्मृति का आश्रय है, ऐसा भ्रम होता है, जैसे कि एक ही दर्पण में एक साथ मुख तथा जवाकुसुम की लालिमा का प्रतिविम्ब पड़ रहा हो तो मुख ही लाल है ऐसी प्रतीति होती है। यहाँ भी अहङ्कार व स्मरण साक्षिचैतन्य में अध्यस्त होने से अहङ्कार को स्मरणाश्रय समझ लिया जाता है।[4]

(ग) जीवन की विभिन्न दशायें व वृत्ति

संसार में जीव को अपनी चेतना के तीन रूपों का परिचय मिलता है, उनके नाम हैं

---

१. ननु सौषुप्तानुभवे यद्यज्ञानांशे देशादिवैशिष्ट्यं न भाति, अहङ्काररूपकारणाभावात्, (तदा) सविषयकत्वाज्ञानत्वयोरपि वैशिष्ट्यं तत्र न भायात्। इष्टापत्तौ च न किञ्चिदवेदिषमिति स्मृतौ तदुल्लेखानुपपत्तिः। न्या० र० पृ० १९६।

२. अहङ्कारस्तूत्थानसमय एवानुभूयते, सुषुप्तौ जीवत्वेन तस्यानावृतत्वात् स्मरणानुपपत्तेः। सि० वि० पृ० १२२।

३. ननु तथाप्यज्ञानादिस्मृत्यनाश्रयतया अहङ्कारस्य साक्षिभास्यत्वानुपपत्तिः। अज्ञानाद्यनुभवानाश्रयत्वात्। न्या० र० पृ० १९७।

४. मुखप्रतिविम्बाश्रये दर्पणे जपाकुसुमलौहित्याध्यासेन रक्तं मुखमिति प्रतीतिवदहङ्काराश्रयतया साक्षिचैतन्यस्य स्मरणाश्रयत्वादहं सुखमस्वाप्समिति सामान्याधिकरण्यप्रतीतिः। न पुनरहं सुखीतिवदाश्रयतया। सि० वि० पृ० १२३–२४।

जाग्रत्, स्वप्न व सुपुप्ति । ये तीनों ही जीवन की शृङ्खला हैं, इन से वाहर किसी जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। यह चेतना शब्द ज्ञानार्थक ही है । वह ज्ञान परिवर्तनशील होने के कारण तत्त्व के स्वरूपात्मक नित्यज्ञान से भिन्न ही होगा। स्वरूप से इतर ज्ञान वृत्तिरूप ही है अतः जाग्रत्, स्वप्न, सुपुप्ति वृत्ति के ही तीन रूप हैं, अथवा व्यापक रूप से तीन वृत्तियां ही हैं। विज्ञान-भिक्षु ने योगवार्तिक में इन्हें बुद्धि (अन्तःकरण) की वृत्तियां ही कहा है ।[1] योगवासिष्ठ में इन्हें चेतना के तीन रूप[2] तथा चित्त या मन (अन्तःकरण अर्थ में) की वृत्तियां कहा गया है ।[3] युक्ति से भी इन का वृत्तिरूप होना सिद्ध होता है। वृत्ति पद का यहाँ वहुत व्यापक अर्थ है, अथवा जाग्रद्वृत्ति कहने में सम्पूर्ण जाग्रद्दशा कही जाती है, जिस में असंख्य विविध वृत्तिज्ञान समाविष्ट हैं। ऐसे ही स्वप्नवृत्ति व सुपुप्तिवृत्ति या निद्रावृत्ति कहने में उन पूरी दशाओं से अभिप्राय है । वे दशायें अवश्य चैतन्य की उपाधि की भूमिकायें या विशेष परिणतियां ही हैं, तथा वैसी होते हुए विशेष ही प्रकार के ज्ञान-समूहों को उत्पन्न करती हैं या भिन्न-भिन्न कोटि के अनुभवों की निमित्त हैं, इसीलिये वृत्ति-पदवाच्य हैं। जीवचैतन्य अपनी उपाधि (अन्तःकरण) की स्थूल, सूक्ष्म व कारण अवस्थाओं में क्रमशः रहने वाली जाग्रत्, स्वप्न व सुपुप्ति रूप परिणति या वृत्ति से तादात्म्यापन्न (अभिन्न) हो कर, उपनिषदों में कही गई क्रमशः विश्व, तैजस, प्राज्ञ संज्ञावाला होता है ।

इन तीनों व्यापक वृत्तिभेदों का पृथक् विवरण अपेक्षित नहीं क्यों कि वह अन्य विधाओं में ही समाविष्ट है; केवल एक दृष्टि-भेद के कारण इन्हें पृथक् दिखाया गया है ।

—: ० :—

यद्यन्निरुक्तं वचसा निरूपितं धियाऽक्षभिर्वा मनसा वोत यस्य ।
मा भूत् स्वरूपं गुणरूपं हि तत्तत् स वै गुणापायविसर्गलक्षणः ॥
यस्मिन् यतो येन च यस्य यस्मै यद् यो यथा कुरुते कार्यते च ।
परावरेषां परमं प्राक् प्रसिद्धं तद् ब्रह्म तद्हेतुरनन्यदेकम् ॥
न यस्य मायागुणचित्तवृत्तिर्भिर्निरीक्षतो ह्यण्वपि दृष्टिरज्यते ।
ईशे यथा नोऽजितमन्युरंहसां कस्तं न मन्येत जिगीषुरात्मनः ॥
सर्वेन्द्रियगुणद्रष्ट्रे सर्वप्रत्ययहेतवे ।
असताच्छाययोक्ताय सदाभासाय ते नमः ॥

ॐ

---

१. जाग्रत्स्वप्नसुपुप्तं च गुणतो वुद्धिवृत्तयः । योः वार्त्ति॰ पृ॰ ३९ ॥
२. जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्यं त्रयं रूपं हि चेतसः । यो॰ वा॰ ६।१२४।३६ ॥
३. अङ्कुरस्य यथा पत्रलतापुष्पफलश्रियः ।
मनसोऽस्य तथा जाग्रत्स्वप्नविभ्रमभूमयः ॥
स्वचित्तवृत्तिरेवेह जाग्रत्स्वप्नदृशोदितम् ।
रसावेशादुपादत्ते शैलूष इव भूमिकाम् । ॥ यो॰ वा॰ ३।११०।४६, ४९ ॥

दशम परिच्छेद

अप्रमा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा

१. अप्रमा

(क) अप्रमा शब्द के सामान्य व विशेष अर्थ, तथा अप्रमा-भेद—

जो वृत्तिज्ञान प्रमाणजन्य न हो, वह अप्रमा होता है, यही इसका सामान्य अर्थ है। इससे स्वीकृत छहों प्रमाणों से न उत्पन्न होने वाले स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञा आदि ज्ञानभेदों का भी अप्रमा कोटि में समावेश होता है, और न्याय दर्शन में तथा उससे प्रभावित अद्वैती आचार्यों के मत में वह स्वीकृत भी है। किन्तु प्रमा का स्वरूप विचार करते समय जो प्रमालक्षण या प्रमापदार्थ (यथार्थ ज्ञानत्व) सामने आया, उसको देखते हुए उक्त लक्षण उचित नहीं प्रतीत होता, अतः प्रमा के अर्थ में ही नञ् का योग कर के अप्रमा का अर्थ करना ठीक होगा। तदनुसार (१) जिस ज्ञान के विषय का व्यवहारदशा में ही बाध हो जाय अथवा (२) जो ज्ञान यथार्थ न हो—विषय के अनुरूप न हो, विषय व ज्ञान का आकार एक न हो वह ज्ञान अप्रमा है। इसके अतिरिक्त (३) जो ज्ञान निश्चयात्मक न हो वह भी प्रमा कोटि में न जा सकने के कारण अप्रमा ही कहलाने के योग्य है।

अतः अप्रमा का निष्कृष्ट अर्थ होगा—(१) अयथार्थज्ञान (२) बाधित विषयवाला ज्ञान अथवा (३) अनिश्चयात्मक ज्ञान। इसके प्रथम विशेषण के अनुसार तो समस्त जागतिक प्रतीति अप्रमा ही है, इसे अध्यास-प्रकरण में, तथा जगत् के स्वरूप की दृष्टि-सृष्टिवाद के अन्तर्गत चर्चा में भलीभाँति देखा जा चुका है। किन्तु प्रमाण-प्रमेय आदि की स्थिति व्यवहार-दशा-पर्यन्त ही है, इसलिए अनित्य या जन्यज्ञान के भेद रूप से जो अप्रमा है, उसका विषय व्यवहारदशा में ही बाधित (अपने आश्रय में निषेध का प्रतियोगी) हो जाता है, और प्रमाज्ञान का विषय परमतत्त्वज्ञान या पारमार्थिक यथार्थ ज्ञान या स्वरूपभूत ज्ञान का उदय होने पर ही बाधित होता है—ऐसा अन्तर प्रमा और अप्रमा में स्वीकार किया गया है।

अथवा तात्त्विक स्थिति के पारमार्थिक दृष्टिकोण से चित्तत्त्व के अतिरिक्त सभी ज्ञान अप्रमा हैं, ज्ञानाभास हैं। यह भी कहा जा सकता है कि पारमार्थिक दृष्टि से तो विशुद्ध ज्ञान ही तत्त्व है, वह प्रमा-अप्रमा आदि संज्ञा-विकल्पों से अस्पृष्ट है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से जिस ज्ञान का विश्लेषण व विचार किया जाता है वह लौकिक प्रातिदैनिक अनुभव में आनेवाला ज्ञान वृत्तिज्ञान है। उसी के ये प्रमा-अप्रमा भेद सम्भव हैं; जिनकी नियामकता इन (१) वृत्तियों के उत्पादक माध्यम तथा (२) इनके विषय—इन दोनों घटकों में रहने पर भी द्वितीय (विषय) में ही अधिकांश केन्द्रित है। इसे 'प्रत्यक्ष', प्रकरण में भी देखा जायगा।

अप्रमाज्ञान अपने स्वरूप की दृष्टि से दो प्रकार का है, तथा फल की दृष्टि से भी दो प्रकार का है। पहले दो प्रकार हैं—संशय तथा विपर्यय, दूसरे दो प्रकार हैं—संवादी तथा विसंवादी।

(ख) संशय—

धुन्धले प्रकाश में दूर स्थित किसी सूखे वृक्ष के ठूंठ (स्थाणु) को देख कर देखने वाला व्यक्ति समझ नहीं पाता कि यह दूर से दिखाई देती हुई वस्तु कोई मनुष्य है, या सूखे वृक्ष का तना ही है। इस प्रकार के अनिर्णीत ज्ञान को संशय कहा जाता है। पारिभाषिक रूप से कहा जाय तो एक ही धर्मी (वस्तु) का परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मों से विशिष्ट रूप से ज्ञान संशय है, जैसे सामने दिखाई देती हुई किसी ऊँची, खड़ी, वस्तु में वृक्ष के धर्मों (वृक्ष की आकृति आदि) को तथा मनुष्य के धर्मों (खड़ा होना) को देखना, अथवा मनुष्य और वृक्षत्व दोनों को वारी-वारी से वहां एक ही वस्तु में समझना एवं उन में से किसी एक का निश्चय न कर पाना संशय है।

विषय-प्रकाश के अपरोक्ष-परोक्ष विभाजन के प्रसङ्ग में देखा गया था कि किसी भी वस्तु को अज्ञात बनाने वाले दो प्रकार के आवरण होते हैं—असत्त्वापादक तथा अभानापादक। संशय-स्थल पर अन्तःकरण इन्द्रियादि द्वार से उस विषय तक जाता है, या विषय का ग्रहण करता है, अन्तःकरणवृत्ति वनती है। किन्तु इन्द्रिय में कोई दोष रहने के कारण अथवा प्रकाश की मन्दता तथा उस वस्तु की दूरी के कारण यह वृत्ति उस वस्तु के असत्त्वापादक आवरण को हटा देने के पश्चात् अभानापादक आवरण को पूरी तरह नहीं हटा पाती। इसलिये 'वहां कुछ है' इतनी सी (निर्विकल्पकज्ञान-रूपा) निश्चित प्रतीति होने पर भी 'वह क्या है' इस का निश्चय नहीं हो पाता, अर्थात् इन्द्रिय का कार्य—वस्तु व अन्तःकरण को सम्मुखीनता—हो जाने के पश्चात् मन (अन्तःकरण का सङ्कल्प-विकल्प-कारी पक्ष) द्वारा उस वस्तु के वहां होने का, तथा उस की ऊंची लम्वी आकृति का ग्रहण हो जाने पर, जव वह वस्तु, विशेष धर्मों (एक वस्तु को दूसरी वस्तु से भिन्न रूप से समझाने वाले उस वस्तु के गुण, जैसे खड़ी वस्तु में वृक्षत्व, मनुष्यत्व आदि) का ज्ञान होने के लिये वुद्धि (अन्तःकरण का वस्तु-स्वरूप-निर्णयात्मक पक्ष) के सामने प्रस्तुत होती है, तव उक्त दोषों के प्रभाव से इस वस्तु में वर्तमान किसी एक गुण के आधार पर, उस गुण से युक्त अनेक वस्तुओं के संस्कार चित्त (अन्तःकरण का संस्काररक्षक पक्ष) में से उद्‌वुद्ध होते हैं। सामने दिखाई देती हुई आकृति के साथ इन विविध संस्कारों का सम्बन्ध वैठाता हुआ जो अनेक आकारों वाला ज्ञान उदित होता है, वही संशय है। अर्थात् एक धर्मी का नाना, विरुद्ध-धर्म-विशिष्ट ज्ञान संशय है। पारिभाषिक शब्दों में संशय का परिष्कृत लक्षण है—'एकधर्मावच्छिन्न विशेष्यता से निरूपित परस्परविरुद्ध-प्रकारक ज्ञान संशय है।[1]

---

१. स संशयो मतिर्या स्यादेकत्राभावभावयोः ॥ एकधर्मिकविरुद्धभावाभावप्रकारकं ज्ञानं संशयः।
कारि० १३०, सि० मु० पृ० १११।

शेष अगले पृष्ठ पर

समूहालम्बन (अनेक वस्तुओं को एक साथ विषय करने वाले) ज्ञान में भी नाना धर्मों का ज्ञान रहता है, किन्तु उस में धर्मी एक नहीं होता, इसलिये संशय उस से पृथक् है।

संशय के भेद—अर्वाचीन विद्वानों में कोई संशय को द्विकोटिक व चतुष्कोटिक भेद से दो प्रकार का भी मानते हैं, जैसे 'स्थाणु है या नहीं है' यह द्विकोटिक संशय है; एवं 'स्थाणु है या पुरुष है' कहने में दोनों दशाओं के साथ 'या नहीं है' भी जुड़ा रहने से चार कोटि बन जाती हैं। वास्तव में संशय में दो ही कोटि होती हैं—भाव या विधि कोटि (यह स्थाणु है ?) तथा अभाव या निषेध कोटि 'या नहीं है,' 'या कुछ और है' ?) ।

संशय के कारण—यह संशयज्ञान होने में त्रिविध अपूर्ण ज्ञान कारण बना करता है—

(१) साधारणधर्मविशिष्ट धर्मी का ज्ञान।

(२) असाधारणधर्मविशिष्ट दो धर्मियों का ज्ञान।

(३) विप्रतिपन्न व्यक्ति के वाक्य-श्रवण से उत्पन्न ज्ञान। इन में से कोई-सा उपस्थित होने पर दो कोटियों का स्मरणात्मक् उदय होता है। एवं जब तक विशेषज्ञान न हो जाय तब तक यह उभयकोटिक ज्ञान संशय कहलाता है। विशेष-ज्ञान होने पर निश्चय (व्यवसाय) हो जाता है, तब संशय नहीं रहता।

अथवा केवल कोटिद्वय का स्मरण तथा धर्मी से इन्द्रियसन्निकर्ष ये दो ही कारण संशय-ज्ञान को उत्पन्न करते हैं। कोटिद्वय के स्मरण में कारण होता है—उभयसाधारण धर्म का ज्ञान।

(ग) विपर्यय—

इस शब्द का अर्थ है विपरीत ज्ञान। योग-परिभाषावली में इस का स्वरूप है—'अतद्रूपप्रतिष्ठ मिथ्याज्ञान'।[1] यही अर्थ लेते हुए वेदान्त में **'अतस्मिंस्तद्रूपावभासः'** तथा मिथ्या वस्तु का ज्ञान इत्यादि अध्यास या भ्रम के लक्षण कहे गये हैं जिन्हें अध्यास-प्रकरण में देखा गया। भ्रम ही विपर्यय का अर्थ है।

जगत् की प्रतीति तथा जगत् के मूल में स्थित वास्तविक तत्त्व का किसी न किसी प्रकार का वैपरीत्य प्रायः सभी भारतीय दर्शनों की आलोचना का विषय बना है। वास्तव में उस तात्त्विक परिस्थिति की व्याख्या के लिये ही भ्रम को दृष्टान्त बना कर दार्शनिक विचारकों ने उसी के पुङ्खानुपुंख विश्लेषण द्वारा उक्त मूल समस्या (तत्त्व व प्रतीति का विपरीत होना) का समाधान किया है। इसे छठे अध्याय में कहा गया है। उसी का विशेष विवेचन अब प्रसङ्ग-प्राप्त है। विभिन्न दर्शनों के अभिमत सिद्धान्तों के अनुकूल इस भ्रमज्ञान का विश्लेषण होने के कारण इसकी व्याख्यायें विविध हैं। वेदान्त के भ्रमज्ञान-विश्लेषण की पृष्ठभूमि में वे सभी मतवाद अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

....स्वाकारविरुद्धाकारसमवलज्ञानाविरोधित्वस्यैव संशयपदार्थत्वात्।

वे० त० वि० पृ० २६।

१. विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्। यो० सू० १।८।

भ्रमज्ञान-विषयक ये मतवाद ख्यातिवाद नाम से प्रसिद्ध हैं। 'ख्याति' का शाब्दिक अर्थ है ज्ञान-मात्र। किन्तु दार्शनिक भाषा में यह भ्रमज्ञान अर्थ में रूढ़ हो गया है, इसका कारण यही है कि जागतिक ज्ञान-मात्र को ले कर ही जो विश्लेषण आरम्भ हुआ वही अन्त में भ्रमज्ञान-विश्लेषण में परिणत हो गया। प्रारम्भिक प्रश्न यही था कि जो कुछ भी ज्ञात हो रहा है वह हैं 'क्या' ? और 'हैं' क्या ? इन्हीं के उत्तर में कुछ बौद्धों का कथन था कि यह शून्य है, अर्थात् कुछ भी नहीं है तब भी ज्ञात हो रहा है, जैसा कि भ्रमज्ञान में होता है। विज्ञानवादी बौद्धों का मत था कि जो भी तत्त्व है, वही ज्ञात हो रहा है। न्यायवैशेषिक व सांख्य का उत्तर था कि यह परमाणुओं से आरब्ध वस्तु या प्रकृति का विविध परिणाम है, और 'है' ही, इसीलिये ज्ञात हो रहा है। भ्रम में तो जो है उसी का विपरीत रूप से या अन्य के रूप से ज्ञान होता है। माध्व आदि द्वैतवादी कहते हैं कि सब जगह सब कुछ है, अतः जो भी दिखता या ज्ञात होता है, वह सच्चे विषय का ही ग्रहण है। इन सबका खण्डन करते हुए अद्वैत-वेदान्ती कहते हैं कि भ्रमस्थल में, तथा तात्त्विक दृष्टि से जगत्-प्रतीति में भी, अनिर्वचनीय ही वस्तु गृहीत व ज्ञात होती है। इस प्रकार ज्ञान के विषय का विश्लेषण ही ख्यातिवादों का उद्देश्य है। इस प्रकार सात वाद हैं :—

(१) असत्ख्याति (शून्यवादी बौद्ध)
(२) सदसत्ख्याति (सांख्य)
या विपरीतख्याति
(३) सत्ख्याति (मध्व आदि द्वैती)
(आगे के तीन वाद सत्ख्याति के ही रूपभेद हैं, विमुक्तात्मा ने इष्टसिद्धि में यही कहा भी है।[१])
(४) आत्मख्याति (विज्ञानवादी बौद्ध)
(५) अन्यथाख्याति (न्याय-वैशेषिक)
(६) अख्याति (पूर्वमीमांसक प्राभाकर)
(७) अनिर्वचनीयख्याति (अद्वैतवेदान्त)

इनमें क्रमशः पहले-पहले मतों की त्रुटियों का मार्जन करते हुए सप्तम में आकर भ्रम-ज्ञान की सर्वाधिक स्पष्ट व पुनः संशयों के अवकाश से रहित व्याख्या प्रस्तुत हुई है। तथा यह अनिर्वचनीयख्याति का सिद्धान्त ही अद्वैतवेदान्त के अध्यासवाद की भित्ति होते हुए वास्तव में अद्वैतसिद्धान्त का निर्वाहक है।

उक्त वादों में से प्रमुख पांच (१, ४, ५, ६, ७) में परस्पर खण्डन-मण्डन-परम्परा बहुत ही विस्तीर्ण है, जिसकी सर्वाङ्ग चर्चा तो यहां सम्भव नहीं, तब भी प्रथम से सप्तम तक विचारधारा का क्रमविकास देखने के लिये इन सभी का संक्षिप्त परिचय अनुपयोगी न होगा।

---

१. रजतं भाति यद्भ्रान्तौ तत्सदेके परे त्वसत्। इ० सि० १।२, पृ० ३९।
तत्र सत्पक्षस्त्रिधा भिन्नः—आत्मख्यातिरख्यातिरन्यथाख्यातिरिति।
इ० सि० पृ० ४०।

(१) असत्ख्याति

यह शून्यवादी बौद्धमत है। इस मत के अनुसार सभी वस्तुयें तत्त्वतः अभावरूप ही हैं, क्योंकि आदि व अन्त में जो वस्तु जैसी हो मध्य में भी वह वैसी होती है। समस्त सांसारिक पदार्थ न अपनी उत्पत्ति से पूर्व हैं, न विनाश के पश्चात् रहते हैं, अतः आदि व अन्त में अभाव या शून्यरूप होने के कारण मध्य में भी तत्त्वतः वे असत् ही हैं। जो कुछ भी 'है' कहलाता है वह वर्तमानकाल-युक्त होता है, और यह वर्तमानत्व भी कुछ है नहीं, क्योंकि यह भी निर्देश से पहले 'भविष्यत्' और निर्देश के पश्चात् 'अतीत' होता है। यह वर्तमान होना, भावी होना, अतीत होना भी वस्तुतः कुछ है नहीं अर्थात् असत् या शून्य ही है। ज्ञान की एक शक्ति अविद्या है जो असत् वस्तु का प्रकाशन करने में समर्थ है। इस विषय में बौद्ध मत का उल्लेख करते हुए आनन्दबोध ने न्यायमकरन्द में तथा वाचस्पति मिश्र ने भामती में प्रायः समान ही शब्दों में कहा है कि विषय में प्रकाशित होने की कोई सामर्थ्य न रहने पर भी ज्ञान ही ऐसा है कि विषय अपने प्रत्यय (ज्ञान) की सामर्थ्य से ही प्राप्त स्वरूप वाला रहता हुआ असत् (शून्य) होते हुए ही प्रकाशित होता है। असत् को प्रकाशित करने की शक्ति ही अविद्या है।[1]

आनन्दबोध ने इसे कुछ अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि असत् का प्रतिभास उस असत् वस्तु की अपनी सामर्थ्य से नहीं होता, जिससे कि ज्ञेय का 'होना' (सत्ता) मानना पड़े; प्रत्युत जो अपनी प्रतीति-मात्र से प्राप्त है, (क्योंकि प्रतीति होती है, इसलिये अनुमान होता है कि वह कुछ है, बस इतना भर ही उसका होना है), किसी दृष्टान्त द्वारा भी जिस का होना सिद्ध नहीं किया जा सकता, जिसका स्वरूप समझाया नहीं जा सकता, ऐसा विज्ञान ही असत् का प्रकाशन है; जगत् का समस्त व्यवहार इन असत् के प्रकाशनों से ही चल रहा है। तब भी व्यवहार के अनुरोध से घट-पट आदि वस्तुओं में सांवृतिक (व्यवहारोपयोगी) सत्यता है, और शुक्ति में दिखाई देने वाले रजत में वह भी नहीं है। इस प्रकार की अत्यन्त असत् वस्तु को अवभासित करने वाला ज्ञान विभ्रम कहा जाता है।[2]

असत् का प्रतिभास या ज्ञान होना असम्भव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यदि सत् वस्तु का ही ज्ञान होने का नियम हो तो यह 'अमुक वस्तु नहीं है' ऐसा अनुभव क्यों हो।

---

१. विषयस्य समस्तसामर्थ्यस्य विरहेऽपि ज्ञानमेव तत्तादृशं स्वप्रत्ययसामर्थ्यासादिता-दृष्टान्तसिद्धस्वभावभेदमुपजातमसतः प्रकाशनं तस्मादसत्प्रकाशनशक्तिरेवास्या-विद्येति। भा० पृ० २२।

२. अत्यन्तमसन्तमर्थमवभासयन्ती संविदेव विभ्रम इत्याचक्षते, तथाह नेदमिति बाधावबोधवशादसत्तैवात्यन्तिकी रजतस्य अवभासते, न चासतो नरविषाणवदप्रकाश इति चतुरस्रम्; न खल्वत्र ज्ञेयसामर्थ्यमाद्रियामहे येनैष समस्तसामर्थ्यविरहिण्यसति न स्यादित्युच्येतापितु स्वप्रत्ययासादितादृष्टान्तसिद्धस्वभावभेदं विज्ञानमेवासतः प्रकाशनं तथा चास्यासत्प्रकाशनशक्तिरविद्येति गीयते। न्या० म० पृ० १०२–३।

वास्तव में असत् ही रजत इन्द्रियादि के दोष से सत् आकार में ज्ञात होता है, यही भ्रम है, तथा उसका तत्त्वभूत न होना (असत्त्व) ही भ्रम के बाधक ज्ञान द्वारा कहा जाता है।[1]

इसी प्रसङ्ग में विमुक्तात्मा ने इष्टसिद्धि में कहा है कि विभ्रम में तुच्छ (अत्यन्त असत्) ही रजत भासित होता है। तभी भ्रम दूर होने (बाध) के समय 'यह रजत नहीं है' ऐसा ज्ञान होता है। यह बाधरूप ज्ञान किसी वस्तु का नाश नहीं करता, अपितु तत्त्व (वस्तुस्थिति) को बताता भर है। बाधक ज्ञान होने पर रजत न होता है, न ज्ञात होता है, इसलिए पहले भी वह नहीं ही था, न होते हुए भी ज्ञात हो रहा था, वही भ्रम था।[2]

असत्ख्यातिखण्डन

वाचस्पतिमिश्र द्वारा भामती में, आनन्दबोध द्वारा न्यायमकरन्द में, विमुक्तात्मा द्वारा इष्टसिद्धि में तथा मधुसूदन सरस्वती द्वारा अद्वैतसिद्धि में असत्ख्याति के खण्डन में कही गई युक्तियों को शून्यवादी युक्तियों के उत्तर में अपेक्षित क्रम से कहना सुकर होगा।

पूर्वपक्षी माध्यमिक (बौद्ध) कहते हैं कि (१) 'यह रजत नहीं है' इस ज्ञान से रजत का न होना ही सूचित होता है, अतः वह असत् ही रजत 'यह रजत है' इस प्रतीति में विषय बना था। इस पर वेदान्ती कहते हैं कि 'यह रजत नहीं है' इस ज्ञान से व्यावहारिक रजत के अभाव की ही सूचना होती है, अथवा व्यावहारिक रजत का अभाव ही उक्त प्रतीति का ज्ञाप्य विषय है।[3]

पूर्वपक्षी की एक बड़ी युक्ति थी कि (२) ज्ञान में असत् को प्रकाशित करने की शक्ति है, इस पर सिद्धान्ती विकल्प उठाते हैं कि उस शक्ति का शक्य क्या है? (उस शक्ति का उपयोग कहाँ है?) यदि कहो असत् ही उसका शक्य (उपयोगस्थल) है तो वह असत् इस विज्ञान में रहने वाली शक्ति का कार्य है या इसके द्वारा ज्ञाप्य है? यदि कार्य है तो फिर असत् कैसे? और असत् है तो इसके कारणभूत शक्ति में प्रकाशसामर्थ्य कैसी? न ही इसे ज्ञाप्य या प्रकाश्य कहा जा सकता है, क्योंकि इस 'इदं रजतं' भ्रम से अतिरिक्त तो कोई अन्य असद्विषयक भ्रम इस शक्ति से उत्पन्न होता नहीं। क्योंकि प्रकाश्य का अर्थ है उक्त शक्ति द्वारा जनित ज्ञान का विषय। अब इस शक्ति द्वारा जन्य ज्ञान कोई अन्य है, या इस शक्ति का

---

१. असतश्चेन्न प्रतिभासः कथं तर्हि बाधानुभवो युज्येत। तत्र हि नेदमित्यसद्रूपमेव अवभासते, एवं च सम्भवत्येवासतोऽपि स्वरूपेणावभासो न तु सद्रूपेणेत्यपि युक्तं, यस्मात्सदाकाराकलितस्यैव रजतस्य तत्त्वतो सद्रूपता बाधधिया बोध्यते।
न्या० म० पृ० १०३–४।

२. तुच्छमेव रूप्यं भाति, तस्य नेदं रजतमिति बाधात् तुच्छतावगमात्। न च बाधो वस्तु नाशयति, तत्त्वनिवेदकत्वाद् ज्ञानस्य। बाधकज्ञाने हि सति रूप्यं न भाति नास्ति च।
इ० सि० १।५२, पृ० १५४॥

३. यत्तावद् 'बाधावबोधादसत्तैवावभातरजतस्यावेद्यते' इति तत् 'नेदं रजतम्' इत्यवबोधस्य लौकिकपरमार्थरजताभावविषयतया बाधकभावोपपादनेन पराकरिष्यामः।
न्या० म० पृ० १०४॥

आश्रयभूत ज्ञान यहाँ अभिमत है ? यदि कोई दूसरा ज्ञान उपलब्ध हो तो उसके प्रकाश के लिए पुनः अन्य ज्ञान की अपेक्षा होने से अनवस्था होगी।[1]

पूर्वपक्षी कहते हैं कि (३) असत् का प्रकाश विज्ञान का स्वरूप ही है तब सिद्धान्ती कहते हैं कि फिर यह अपनी आश्रिता शक्ति का शक्य नहीं हो सकता, और शक्य के बिना शक्ति का कोई अर्थ नहीं।[2] पूर्वपक्षी कहते हैं कि (४) शक्ति न सही अपने प्रत्यय (प्रतीति) से आसादित (प्राप्त) स्वरूप वाला विज्ञानवस्तु ही असत् का प्रकाश है। सिद्धान्ती कहते हैं कि 'असत् का' कहने के लिये जो सम्बन्ध अपेक्षित है, वह सत् व असत् में कोई सम्बन्ध न हो सकने के कारण सम्भव नहीं। बौद्ध कहते हैं (५) असत् के अधीन निरूपित होना ही असत् के साथ ज्ञान का सम्बन्ध है। इस पर सिद्धान्ती कहते हैं कि जो असत् है, है ही नहीं, सभी उपाख्याओं से रहित है (कहा ही नहीं जा सकता) उसका निरूपण फिर कैसा ? किसी अनुषङ्ग के विना तो निरूप्य-निरूपक-भाव होता नहीं। गोत्वादि का निरूपण भी उनके गौ आदि व्यक्तियों को लेकर ही होता है। असत् का तो कोई अनुषङ्ग है नहीं, तब ज्ञान का निरूपण उसके अधीन कैसे होगा ? असत् किसी का आधार नहीं हो सकता अतः उसमें कोई प्रतीति आहित नहीं होती जो उसकी कहलावे।[3]

बौद्ध कहते हैं (६) असत् के विना विज्ञान या प्रतीति हो नहीं सकती, प्रतीति होती है इसी से उसका निरूपक असत् भी मानना होगा। सिद्धान्ती कहते हैं कि विज्ञान न असत् से उत्पन्न होता है, न उससे अभिन्न है, न उसके द्वारा निरूपित है, तब कैसे उससे अविनाभूत (उसके विना न रहने वाला) है ?[4] यदि कहें कि (७) वेदान्त में भी नरशृङ्ग, आकाशकुसुम आदि शब्दों से बना वाक्य सुनकर कुछ प्रतीति होती है, वैसी ही रजत की

---

१. याऽसौ असत्प्रकाशनशक्तिर्विज्ञानवर्तिनी किमस्याः शक्तेः शक्यमिति। यद्यसदेवेति मतं, किमेतत् कार्यमाहोस्वित् ज्ञाप्यं, न तावत् कार्यमसतस्तत्त्वानुपपत्तेः प्रकाशन-शक्तिताव्याघाताच्च। नापि प्रकाश्यं प्रकाशान्तरानुपलम्भादनवस्थापाताच्च।
न्या० म० पृ० १०५॥

२. विज्ञानस्वरूपमेवासतः प्रकाश इति चेत्, न तर्ह्यसौ स्वाश्रयायाः शक्तेः शक्यभावं भजते, न चान्तरेण शक्यं शक्तिर्युक्तिमती। वही पृ० १०६॥

३. स्वप्रत्ययासादितो विज्ञान एवासतः प्रकाश इति चेत्, कः पुनरेष सदसतोः सम्बन्धः असदधीननिरूपणत्वमसता सतो ज्ञानस्य सम्बन्ध इति चेद् अहो बतायमसत्यप्यस्य निरूपणमायतत इति महान् व्यामोहः। न चान्तरेणानुषङ्गमस्ति सम्भवो निरूप्य-निरूपकभावस्य, गोत्वादयो हि खण्डादिभिरनुशक्ता एव निरूप्यन्ते। न चासतोऽ-नुषङ्गान्तरमस्तीति कथमिदं तदधीननिरूपणं विज्ञानं, न च असति प्रत्ययः किञ्चिद् आधत्ते येनायं तदीयः स्याद् असत आधारत्वानुपपत्तेः।
न्या० म० पृ० १०६-७॥

४. अथाप्यसदन्तरेण प्रत्ययो न प्रथत इति मन्येत, अहो महानस्य प्रमादो, यदसावत-द्रुत्पत्तिरतदात्मा च प्रत्ययस्तदविनाभूत इत्यभिधत्ते। न्या० म० पृ० १०८॥

भी क्यों न मानें ?—तो उत्तर है कि नरशृङ्ग की प्रतीति नहीं होती वह विकल्पमात्र है, उसे वस्तु की अपेक्षा नहीं है और भ्रम में, जैसे शुक्ति में रजत दिखता है, वैसे वहाँ मनुष्य में सींग दिखता हो ऐसा नहीं है।[1]

(८) असत् नाम की कोई वस्तु सिद्ध ही नहीं है, उसकी ख्याति तो किसी भी प्रकार नहीं हो सकती फिर भ्रमस्थल में वह असत्-सत् रूप से जाना जाता है, उसे असत् रूप से जानना भ्रम की निवृत्ति है, यह कहना उपेक्षणीय ही है।[2]

(२) सदसत्ख्याति व उसका खण्डन

यह सांख्यसिद्धान्त है। वाचस्पतिमिश्र ने भामती में इसका उल्लेख किया है। कहा है कि वस्तुओं का तत्त्व दो प्रकार का है सत्त्व तथा असत्त्व; पहला स्वरूपतः होता है दूसरा परतः (अन्य की अपेक्षा से)। वस्तु सदसदात्मक है, उसमें स्वरूप व अन्य के रूप की अपेक्षा से कभी कोई सत्त्व देखता है कोई असत्त्व।[3] शुक्ति में जो रजतज्ञान होता है उसमें सत् एवं असत् दोनों का ही ज्ञान होता है; क्योंकि 'यह रजत है' इस प्रतीति में 'यह' अंश तक का ज्ञान किसी भी प्रकार गलत या झूठा या सत्यभिन्न नहीं, सुतरां उतने अंश में सत् ही है। जो रजत-अंश है, वह वहाँ (जहाँ सीप पड़ी है) है नहीं, जो नहीं है वह असत् है, उसी का यह ज्ञान है। अतः 'यह रजत है' यह सत् तथा असत् दोनों का एक साथ ज्ञान है। यही सदसत्ख्याति का अभिप्राय है।

किन्तु यह किसी भी प्रकार ठीक नहीं, क्योंकि— (१) यहाँ सत् होने तथा असत् होने का अभिप्राय निर्धारित नहीं। यदि प्रसिद्ध अर्थ लिया जाय तो असत् हैं तुच्छ आकाश-कुसुम आदि। उनकी ख्याति (प्रतीति) कभी होती नहीं। तथा (२) जो असत् है, वह तो है नहीं, तो एक वस्तु से दो ज्ञान कैसे उत्पन्न होंगे ? 'यह' तथा 'रजत' पद के वाच्य दो पदार्थ वहाँ हों, तभी तो दो ज्ञान हों। वहाँ तो वस्तु (सीप) एक ही है।

(३) सत्ख्याति

द्वैतवादी या जगत् को सत्य ही समझने वाले विचारकों का मत है कि **'सर्वं सर्वात्मकं विश्वम्'** के अनुसार शुक्ति के अवयवों के साथ ही रजत के अवयव भी सदा रहते हैं। वे दोनों

---

१. यत्पुनर्नरविषाणदृष्टान्तोऽपि साध्यसम एव तस्यापि तदभिधानादवभासमानत्वादिति तदप्यप्रेक्षकाभिधानम् अनाद्यविद्याविनिर्मितालीकाकारविकल्पविज्ञानोदयमन्तरेणाखिलसामर्थ्यविरहिणोऽसतस्तत्र तत्र प्रकाशगोचरभावानिरूपणात्....न हि नरि शृङ्गं भाति गवीव। न्या० म० १०८-९।

२. असतोऽसिद्धत्वादेव तस्य ख्यातिर्दूरोत्सारिता तस्या विषयाभावात्। अतोऽसतोऽप्रसिद्धत्वात् असतस्सद्रूपेण ख्यातिर्भ्रमस्तस्य चासत्त्वबोधनं बाधः....इत्यादि मनोरथमात्रम्। इ० सि० ११६२, पृ० १६९।

३. द्विविधं च वस्तूनां तत्त्वं—सत्त्वमसत्त्वं च। तत्र पूर्वं स्वतः, परं तु परतः। यथाहुः—
स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके।
वस्तुनि ज्ञायते किञ्चिद् रूपं कैश्चित्कदाचन॥ भा० १।१।१, पृ० २३॥

ही अवयव समान रूप से सत्य हैं। शुक्ति में स्थित रजतपरमाणुओं से दोषयुक्त नेत्रसम्बन्ध होता है, इसलिये वहाँ सीप न दिख कर चांदी ही दिखती है। अथवा उस पुरःस्थित वस्तु में सभी प्रकार के परमाणु विद्यमान हैं, उनमें से शुक्ति-परमाणु उद्भूत रूप वाले हैं, अतः शुक्ति ही सामान्य इन्द्रिय-संयोग से दिखाई पड़ती है, और उपयोग में आती है। दोषयुक्त इन्द्रियसम्पर्क (दोष चाहे इन्द्रिय में हो, चाहे सम्पर्क में, चाहे दोनों में) होने पर तथा चमकीलेपन के सादृश्य के कारण वहाँ शुक्ति के परमाणुओं को ढकते हुए रजत के परमाणु उद्भूत रूप वाले हो जाते हैं, अतः सचमुच का रजत उत्पन्न हो जाता है। इन्द्रिय द्वारा इस सद्योजात रजत का ही ग्रहण होता है। तब ज्ञान होता है—'यह रजत है।' फिर इस शुक्ति वस्तु में रजत-परमाणुओं को उद्भूत रूप में लाने में जो निमित्त (कारण) बने थे वे दोष (दूरत्व आदि) दूर होने पर वह रजतपरमाणुओं का उद्भूत रूप में आना (–सत्य रजत की उत्पत्ति) पुनः मिट जाता है, इसलिए वह सद्योजात रजत विनष्ट हो जाता है और सत्य रजत प्राप्त नहीं होता, तब ज्ञान होता है—'यह रजत नहीं है।'

विमुक्तात्मा ने इष्टसिद्धि में अत्यन्त संक्षेप में सत्ख्यातिवाद का अभिप्राय कहा है कि नृश्रृङ्ग या उस के समान शब्दमात्र से कही जाने वाली वस्तुओं की प्रतीति नहीं होती, भ्रम में शुक्ति के स्थान पर रजत प्रतीत हो रहा है, अतः वह रजत शशश्रृङ्ग आदि के समान तुच्छ या अलीक नहीं है, इसलिये सत् ही है। ख्याति ही उसकी सत्ता में प्रमाण है।[1]

विमुक्तात्मा ने कहा है कि भ्रम में प्रतीत होने वाले रजत को किसी न किसी प्रकार सत् मानने का पक्ष तीन प्रकार का है—

(१) आत्मख्याति	(क्षणिक सत्ता वाले विज्ञान के ही आकार सभी ज्ञेय हैं, वही रजत भी है)।
(२) अन्यथाख्याति	(जो शुक्ति इन्द्रियसन्निकृष्ट है, वही रजत के रूप से दिख रही है)।
(३) अख्याति	(शुक्ति सामान्य रूप से दिख रही है, रजत की स्मृति हो रही है, इन दोनों ज्ञानों के अन्तर का ग्रहण नहीं हो रहा है।)

सत्ख्यातिखण्डन

भ्रम में प्रतीत होनेवाला पदार्थ सत् भी नहीं है, क्योंकि यदि वह सत् होता तो निषेध का प्रतियोगी न होता अथवा उसका बाध न होता। सत् होते हुए उसका बाधित होना विरुद्ध है। यही प्रमुख युक्ति चित्सुखाचार्य ने तत्त्वप्रदीपिका में सत्ख्याति का निरास करते हुए दी है।[2] इसके पश्चात् सत्ख्याति पक्ष के ही अन्यथाख्यातिवाद की ओर से तर्क-प्रसार करते हुए

---

१. असतो नृश्रृङ्गादेः प्रतिभासासम्भवात् प्रतिभासमानत्वाच्च इदं रजतं सद् इत्याद्ये पक्षे युक्तिः। इ० सि० पृ० ३९।

२. नापि सत्, नेदं रजतमित्यादिबाधविरोधात्। यत्र बाध्यते ततोऽन्यत्रास्तीति चेत् न; तत्र प्रमाणानिरूपणात्। त० प्र० पृ० १२३।

सत्ख्याति-खण्डन किया है, केवल द्वैति-सम्मत सत्ख्याति के खण्डन में विशेष प्रयास नहीं किया गया। तब भी सत्ख्याति के ही प्रतिपादन के तथ्यों को लेकर भी उसका खण्डन सम्भव होता है। जिसमें प्रधान दो युक्तियाँ हैं :

(१) यदि प्रत्येक वस्तु के परमाणु प्रत्येक वस्तु में वर्तमान हों तो स्वयं उस वस्तु के स्वरूप का निर्माण व निर्धारण कैसे होगा ? इस पर प्रतिपक्षी कह सकते हैं कि परमाणु तो स्थूलवस्तु नहीं, अतः वे कोई स्थान घेरते नहीं, अतः सर्वत्र सर्वविध परमाणुओं का रहना असम्भव नहीं। वस्तुविशेष में उसी के परमाणुओं को उद्‌भूत रूप मिलना ईश्वरेच्छा से निर्धारित है। भ्रमस्थल पर दोषवशात् उसका अतिक्रम होता है, तभी रज्जु में सर्प के परमाणु उद्‌भूत होकर सच्चा सर्प ही वहाँ उत्पन्न हो जाता है, जो कि दोष के शिथिल होने पर विनष्ट भी हो जाता है। इसका उत्तर है कि दोष द्वारा ईश्वरेच्छा के अतिक्रमण की कल्पना ठीक नहीं।

(२) यदि सच्चा ही रजत वहाँ उत्पन्न हुआ हो तो वह समीपस्थित दूसरे व्यक्ति को मिल जाना चाहिये, क्योंकि भ्रान्त व्यक्ति तो अभी दूर ही है, और सत्य रजत के परमाणुओं को उद्‌भूतरूप मिलने से सच्चा रजत उत्पन्न हो ही चुका है। एक ही समय किसी व्यक्ति के प्रति वह सच्चा रजत हो और दूसरे के प्रति न हो ऐसी सत्यता तो वास्तव में सत्यता हो ही नहीं सकती। यदि यह दोष से ही उद्‌बुद्ध होने वाली कोई और सत्यता है तो फिर इसे, सभी के द्वारा अनुभव की जाने वाली वस्तुओं की सत्यता से पृथक् ही मानना होगा।

सत्ख्याति के विरोध में एक सामान्य युक्ति यह भी है कि भ्रमस्थलों में द्रव्य-मात्र के परमाणु रहना कदाचित् सम्भव भी हो किन्तु क्रियायुक्त जीव-तुल्य या सजीव वस्तु तथा अतिविस्तीर्ण गन्धर्वनगर आदि की परमाणु-कल्पना तो अशक्य है। अतः भ्रमस्थल में भी किसी विद्यमान सत् वस्तु का ही ज्ञान होता है यह कहना युक्ति-सिद्ध नहीं।

(४) आत्मख्याति

यह विज्ञानवादी बौद्ध-मत है। स्थूल रूप से विज्ञानवाद का सिद्धान्त यह है कि क्षणिक विज्ञानों की धारा (एक के बाद दूसरे ज्ञानों का उत्पन्न होते रहना) ही तत्त्व है। विज्ञान तत्त्व का त्रिविध परिणाम होता है—विपाक, मनन व विषयविज्ञप्ति रूप से। कुशल-अकुशल कर्मवासना के परिपाक से आक्षेप के अनुरूप फल की प्राप्ति विपाक है; जो स्थूल अनुभव में 'मैं' रूप से चलती हुई विज्ञानधारा है, यही आलयविज्ञान है। द्वितीय है मन, जिस का स्वभाव है मनन या वृत्ति। यह आलयविज्ञान पर आश्रित है और उसी को आलम्बन (विषय) बना कर कार्य करता है। तृतीय परिणाम है विषयप्रत्यवभास। जो मुख्यतः ६ प्रकार का होता है—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द व धर्म को लेते हुए। इनके आधार हैं स्थूल, सूक्ष्म घट-पट आदि पदार्थ, जो कि तत्त्वतः विज्ञानधारा ही हैं, वास्तव में कुछ नहीं। इनका नाम प्रतीत्यसमुत्पाद है। विज्ञान ही एक मात्र तत्त्व या अर्थ है, उससे पृथक् कुछ नहीं है, वह (विज्ञान) ही विविध आकारों या सभी वस्तुरूपों में ख्यात या प्रतीत होता है, अतः अपना-आप ही ख्यात होने से ज्ञान-मात्र आत्मख्याति है। पुनः विज्ञान वस्तुतः आन्तरवस्तु है, सूक्ष्म है, वह बाह्य व स्थूल रूप से जान पड़ता है यही भ्रम है, जो समस्त जगत् के लिये समान है।

आनन्दवोध ने न्यायमकरन्द में, विमुक्तात्मा ने इष्टसिद्धि में, आनन्दानुभव ने न्याय-रत्नदीपावली में तथा चित्सुखाचार्य ने तत्त्वप्रदीपिका में आत्मख्यातिपक्ष से जिन युक्तियों का उल्लेख किया है, उन्हें यहाँ क्रमशः देखेंगे।

'वाह्य' अनादि अविद्या-वासना द्वारा आरोपित अलीक है। घट, पट, शुक्ति आदि सभी वस्तुएँ ऐसी अलीक ही हैं, अथवा ये सभी ज्ञान के आकार मात्र हैं, वास्तव में वाह्य व ज्ञेय रूप से कुछ नहीं है। इन्हीं में एक ज्ञानाकार पर दूसरे ज्ञानाकार का आरोप हो कर 'यह रजत है' ऐसा भ्रम होता है। अथवा ज्ञान रूप ही रजत, वासना (पहले अनुभव के संस्कार) से प्राप्त हो कर दोष के कारण वाहर दिखाई पड़ता है। इसलिये सच्चे ही रजत को विपय करने वाला ज्ञान मिथ्या वाह्यता को विषय करने के कारण असत्यविपयवाला होने से भ्रान्ति कहलाता है।[1] अतः यह (भ्रमस्थल में दिखता हुआ) रजत सत्य ही है एवं ज्ञानात्मक ही है। वाहर (शुक्तिस्थल पर) यदि रजत की सत्ता संभव नहीं तो वह वुद्धि में है, क्योंकि भीतर-वाहर कहीं भी इस रजत की सत्ता न हो तो यह आकाशकुसुम के समान होगा, तव उसको प्रतीति अनुपपन्न होगी। 'यह रजत नहीं है' ऐसा जो वाघ होता है वह रजत के वाहर होने (वहिष्ट्व) का ही निपेध करता है, रजत का नहीं।[2]

विमुक्तात्मा ने आत्मख्याति पक्ष को सवसे अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है। तद-नुसार ज्ञान का आकार होना ही वस्तु का स्वरूप है। ज्ञान आन्तर वस्तु है, अतः रजत आदि सभी कुछ आन्तर ही है। 'यहाँ वाहर रजत दिखाई देता है' इसमें से दिखाई देना तो ठीक ही है, वाहर होना ही भ्रान्ति है।, 'यह रजत नहीं है' कहने से उस वाह्य स्थित होने का ही वाध होता है। एक अंश (वाह्यता) में ही वाध की उपपत्ति संभव रहते पूरे अर्थ या दूसरे अंश में भी वाध की कल्पना करने से गुरुता ही वढ़ती है। अतः धी (विज्ञान) का वासनाकृत रूप ही स्वरूप है जिसका, ऐसा रजत वहाँ है ही। वही ख्यात होता है, अतः ज्ञान-मात्र आत्मख्याति है।[3]

आत्मख्यातिखण्डन

ज्ञान का आकार रूप ही रजत भ्रमस्थल में भी दिखाई पड़ता है यह कहना ठीक नहीं क्योंकि—(१) रजत आन्तर (ज्ञान के सुख-दुःख आदि आकारों के समान) वस्तु हो ऐसा अनुभव किसी को नहीं होता। भ्रमस्थल मे अथवा यथार्थ स्थल में रजतादि की आन्तरता

---

१. नापि सत्, नेदं रजतमित्यादिवाधविरोधात्। यत्र वाध्यते ततोऽन्यत्रास्तीति चेत् न; तत्र प्रमाणानिरूपणात्। त० प्र० पृ० १२३।

२. धीरूपं हि रूप्यं वासनाप्राप्तं दोपाद् वहिरिवेत्यवभाति। अतः सत्यरूप्यविपयमपि ज्ञानं मिथ्यावहिष्ट्वगोचरमसत्यविषयं भ्रान्तिश्चेत्युपपद्यते। न्या० र० दी० पृ० १६०।

३. ····अस्तु तर्हि वुद्धौ, स्वरूपेणासतो गगनारविन्दादिवदप्रतिभासात्, नेदं रजतमिति वाघस्येदन्तामात्रगोचरत्वाद् द्वयोर्वाधकल्पनायां गौरवात्। नेदं रजतम् इति च रजते वाधादर्शनात्। त० प्र० पृ० १२६।

२०

किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं, तब कैसे कहा जा सकता है कि रजत वस्तुतः ज्ञानाकार (आन्तर वस्तु) है, उसका बाहर दिखाई देना हो भ्रम है। और (२) यदि ऐसा मानें तो सभी ज्ञानों में भ्रम होना ही प्रसक्त होता है, फिर यथार्थ तथा अयथार्थ का अन्तर क्या होगा। (३) और यदि रजत आन्तर हो तो 'मैं सुखी हूँ' के समान 'मैं रजत हूँ' या 'मुझ में रजत है' ऐसी प्रतीति होनी चाहिये। (४) 'यह रजत है' ऐसी रजत के बाह्य होने की प्रतीति नहीं होनी चाहिये।

इस विषय में विमुक्तात्मा तथा चित्सुखाचार्य की युक्तियाँ विशेष महत्त्व की हैं। आत्मख्यातिवाद का तर्क था कि अत्यन्त (बाहर-भीतर सर्वत्र)—असत् (अलीक) का भान नहीं हो सकता, रजत का भान है, अतः बुद्धि रूप से रजत को सत् मान लेना होगा। चित्सुखाचार्य ने तत्त्वप्रदीपिका में कहा है कि उक्त तर्क असङ्गत है। क्योंकि (५) जैसे (आत्मख्यातिवाद के अनुसार) अत्यन्त असत् (अलीक) बाह्यता (इदन्ता) का भास रजत में हो जाता है, उसी प्रकार अत्यन्त असत् रजत का भी प्रतिभास क्यों नहीं हो सकेगा।[1]

प्रतिपक्षी का दूसरा तर्क था कि आत्मख्यातिवाद में केवल इदन्ता का ही बाध मानने से लाघव है, वेदान्त में इदन्ता तथा रजत दोनों का बाध होने से कल्पनागौरव है—यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि (६) कल्पना के समय अवश्य लघुमार्ग लिया जाता है किन्तु यहाँ 'यह रजत है' ज्ञान से 'यह' पन तथा रजतत्व से विशिष्ट रजत की प्रसक्ति तथा 'यह रजत नहीं है' इस अनुभव से उसका बाध प्रमाण से सिद्ध है, कल्पनीय नहीं। अतः कल्पनालाघव का न्याय यहाँ नहीं चलता।[2]

(७) 'विज्ञान से अभेद न मानने पर रजत में अपरोक्षता उपपन्न नहीं'—यह कहना भी सङ्गत नहीं, क्योंकि जैसे बाह्यता विज्ञानरूप नहीं, फिर भी उसमें अपरोक्षता होती है, वैसे ही रजत में अपरोक्षता क्यों न होगी?[3]

(८) यदि आरोपित रजतादि की सत्ता बुद्धि में मानी जायेगी, तब तो गुञ्जासमूह में आरोपित अग्नि को बुद्धि में सत् मानने पर, इस बुद्धि की आधार रूप देह जलने लगेगी। यदि कहें कि वह अग्नि बुद्धि में वस्तुतः सत् नहीं, अतात्त्विक है, फिर दाह क्यों प्रसक्त होगा? तब तो रजत न बाहर सत् है न भीतर, अतः अनिर्वचनीय ही मानना पड़ेगा।[4]

---

१. अत्यन्तालीकाया अपि बाह्यतायाः प्रतिभासवदत्यन्तासतोऽपि रजतादेः प्रतिभासोपपत्तेः। त० प्र० पृ० १२८।

२. न च नेदं रजतमितीदन्तामात्रमेव बाध्यते, कल्पनालाघवादिति न्याय्यम्; इदं रजतमिति प्रतिपन्नविशिष्टरजतस्य नेदं रजतमिति बाधस्य चानुभवसिद्धतया कल्पनीयत्वाभावात्। अत एव कल्पनालाघवन्यायानवतारात्। वहीं।

३. न च संविदैक्यमन्तरेणापरोक्षत्वानुपपत्तिः, बाह्यतावत् तदुपपत्तेः। वहीं।

४. किञ्चारोपितं बुद्धौ चेत्, गुञ्जापुञ्जादौ दहनसमारोपे देहदाहप्रसङ्गः। बुद्धावपि तस्यातात्त्विकत्वादप्रसङ्ग इति चेत्, तर्हि न तद्बहिः सन्नान्तरित्यत्यन्तासदनिर्वचनीयं वा स्यात्, गत्यन्तराभावात्। त० प्र० पृ० १२८–२९।

(९) 'इन्द्रियसम्प्रयोग के विना अपरोक्ष होने से' (रजत विज्ञानात्मक ही है, वाह्य कुछ नहीं, असत् भी नहीं) यह हेतु वाह्यता (इदन्ता) में भी है, किन्तु वहाँ विज्ञानाकारता रूप साध्य नहीं है, अतः यह हेतु व्यभिचारी है। इसलिये सिद्ध होता है कि समारोपित रजत आदि न सत् है, न असत्। (१०) उसे सदसत् उभयरूप भी नहीं मान सकते, क्योंकि सद्-रूपता व असद्रूपता दोनों नितान्त विरुद्ध धर्म हैं, एकत्र नहीं रह सकते। यदि विरोध नहीं और दोनों धर्म एक साथ रह सकते हों, तव तो 'यह रजत है' ज्ञान न भ्रान्ति होगा न उसका वाध ही हो सकेगा, क्योंकि दोनों ज्ञान ('यह रजत है', तथा 'यह रजत नहीं है') सत्यविषयक ही होंगे।[1] यदि कहा जाय कि (११) रजतवस्तुतः उभयाकार है, किन्तु 'यह रजत है' ज्ञान उसके केवल एक (सत्) ही आकार को ग्रहण करता है, अतः वह भ्रान्ति है, तव तो वाध ज्ञान को भी भ्रम ही मानना पड़ेगा; क्योंकि वह भी रजत के केवल एक (असत्) आकार को विषय करता है। केवल इतना ही नहीं; अपितु किसी भी ज्ञान में उभयाकार-ग्राहकता न होने से सभी को भ्रम ही कहना पड़ेगा।[2]

आनन्दानुभव ने न्यायरत्नदीपावली में कुछ नई युक्तियाँ दी हैं—(१२) यदि रजत 'धी' रूप ही हो तो भ्रम के विना भी दिखना चाहिये; किन्तु दिखता नहीं, अतः वह अवाह्य नहीं। (१३) वाहर स्थित होना भर ही भ्रम हो तो वह वाहर होना भी यदि वास्तव में नहीं ही है, तो असत् की ही ख्याति कही जायेगी। (१४) और फिर यह वाहर स्थित होना भी यदि वेद्य हो तो ज्ञान का आकार ही होगा, तव अन्य ज्ञानाकार शुक्ति से इसका विरोध क्या, या पार्थक्य क्या ? रजतज्ञान में अयथार्थता तथा शुक्तिज्ञान में यथार्थता क्यों ? यदि वह वेद्य नहीं तो फिर वाधज्ञान द्वारा निषेध किस का होगा ? अतः विमत रजत आदि ज्ञानरूप नहीं हैं, वाह्य हैं, भ्रान्ति के विना प्रसिद्ध होने से, तथा दोष के कारण हुए ज्ञानवाला होने से, उनके सामने स्थित होने (पुरोवर्तित्व) के समान।[3]

---

१. सम्प्रयोगमन्तरेणापरोक्षत्वादिति हेतुर्वहिष्ट्वेऽप्यवुद्धयाकारे वर्तत इति सव्य-भिचारः। तस्मान्नासत् नापि सत् समारोपितम्, नापि सदसद्रूपम्, विरोधात्। अविरोधे वा न भ्रान्तिवाधौ, द्वयोरपि परमार्थविषयत्वात्।

त० प्र० पृ० १२९।

२. उभयाकारस्यैकाकारप्रतिभासो भ्रम इति चेत्; तर्हि वाधस्यापि भ्रमत्वप्रसङ्गः। तस्याप्येकाकारविषयत्वात्। सर्वज्ञानानां च सर्वात्मनाऽनवभासकत्वाद्भ्रान्तित्व-प्रसङ्गो दुर्वारः स्यात्। वहीं।

३. यदि धीरूपं रूप्यं तदा भ्रान्तिं विनापि दृश्येत। न तु दृश्यते। अतो न तद-वाह्यम्। नापि धीरूपम्। तस्य धीरूपतासाधनं तु वहिष्ट्वप्रतीतिवाधितम्। वहिष्ट्वस्य असतः ख्यातिप्रसङ्गात्............। किञ्च वहिष्ट्वमपि वेद्यं चेदवाह्यं धीरूपं च ते स्यात्। अवेद्यं च ते न निषिध्येत।........विमतं न धीरूपं वाह्यं च, भ्रान्तिं विना सिद्धत्वात् दोषप्रयुक्तभानवत्त्वाच्च तत्पुरोवर्तित्ववत्।

न्या० र० दी० १६१-६४।

(५) अन्यथाख्याति

नैयायिक एवं भाट्टमीमांसक मतों में भ्रम एक ज्ञान से विशिष्ट दूसरा ज्ञान है, जो यथार्थ (वस्तु के अनुरूप) नहीं है। सीप में रूपा दिखने के स्थल पर—सामने पड़ी वस्तु से इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर पहले 'यह' इस आकार का सामान्यज्ञान होता है; इन्द्रियदोष तथा दूरत्व आदि कारणों से उस वस्तु के विशेष अंश शुक्तित्व का ग्रहण नहीं होता, केवल उसके चमकीलेपन का ग्रहण होता है; यह चमकीलापन चाँदी के समान होने से तथा चाँदी के प्रति इष्टसाधनता (उपयोगिता) ज्ञान रहने से, सामान्य ज्ञान 'यह है' के पश्चात् उठी हुई विशेष अंश की जिज्ञासा 'यह क्या है' के फलस्वरूप ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष[1]—से दुकान या घर पर स्थित चाँदी का अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार 'यह' अंश में सामने पड़ी वस्तु का सामान्य ज्ञान, तथा 'रजत' अंश में सचमुच के रजत (जो दुकान आदि में स्थित है) का ज्ञान होता है, इसीलिये दोनों अंश मिलाकर यह रजतत्व-प्रकारक विशिष्ट ज्ञान हो जाता है, जब कि वास्तव में वहाँ शुक्तित्व प्रकारक वस्तु है। जो वस्तु जैसी (जिस विशेषण से युक्त) है, उसका उसी रूप से ज्ञान न होकर अन्य (दूसरी किसी वस्तु के विशेषण से युक्त) रूप ज्ञान होना ही भ्रम है। यही ज्ञान की अयथार्थता (जैसा अर्थ—वस्तु—है, वैसा न होना) है।

आनन्दबोध ने न्यायमकरन्द में अन्यथाख्याति पक्ष को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि सामने स्थित वस्तु-विषयिणी प्रवृत्ति के असफल होने पर प्रवृत्ति के समय वहाँ रजत के आरोप की कल्पना अवश्य करनी पड़ती है। वह रजत अत्यन्त असत् नहीं माना जा सकता क्योंकि वैसे पदार्थ का तो प्रतिभास होता नहीं, और जो है ही नहीं उसका बाध भी क्या होगा, यदि है (सत् है) तो उसका बाध नहीं हो सकता—इन सब अनुपपत्तियों के कारण यही मानना चाहिए कि सीप का टुकड़ा ही दूषित नेत्र द्वारा गृहीत होने पर किसी अन्य ही वस्तु (रजत) के रूप से अवभासित होता है।[2] बाद में जो 'यह रजत नहीं है' ऐसी प्रतीति होती है; वह उस रजत की अत्यन्त असत्ता को सूचित नहीं करती, अपितु सन्निहित 'यह'—प्रतीति के आस्पद (शुक्ति) में रजत के तादात्म्य का निषेध करती हुई, रजत की असन्निहितता का ही अर्थतः प्रतिपादन करती है। सीप का अपना वास्तविक आकार गृहीत नहीं होता, और

---

१. न्याय मत में स्वीकृत ज्ञान का एक साधन, जिसके द्वारा एक बार वस्तु पहचान ली जाने पर संसार में उस जाति की सभी वस्तुयें जान ली जाती हैं, एवं इस ज्ञान के ही बल पर कभी एक ही इन्द्रिय से गृहीत वस्तु के अन्य इन्द्रियों से ग्राह्य गुणों का भी ज्ञान हो जाता है।

२. रजताविवेकनिबन्धनायां पौरस्त्यवस्तुविषयायां प्रवृत्तौ प्रतिषिद्धायामवश्याश्रयणीये च रजतारोपे सति अत्यन्तासतोऽर्थस्य प्रतिभासासम्भवाद् बाधविरोधाच्चात्यन्तिकसत्तानुपपत्तौ अवश्यमाश्रयणीयमेतत्—शुक्तिशकलमेव कामलादिदोषदूषितलोचनालोचितमर्थान्तरं रजतात्मनाऽवभासत इति। न्या० म० पृ० ८१-८२।

वह सीप ही नेत्रदोष के कारण अन्यत्र स्थित रजत के आकार से प्रत्यक्ष भास का विषय बनता है।[1]

इसी प्रसङ्ग में आनन्दानुभव ने न्यायरत्नदीपावली में कहा है कि भ्रान्ति में भी रजत का भास सत् रूप से ही होता है ('यह रजत है'), अतः वह ज्ञान द्वारा बाधित होने वाला कोई और (या नया) रजत नहीं है। कहीं देखा हुआ रजत ही ग्रहण-सामग्री के दोष के कारण सामने पड़ा जैसा दिखता है। सामने पड़ी शुक्ति तथा अन्यत्र पड़े रजत का अन्योन्याभाव ही बाधज्ञान का विषय है। भ्रान्ति में उनमें अन्योन्यात्मकता (एक दूसरे से अभिन्न सा हो जाना) आ जाती है, जो 'यह रजत नहीं' के द्वारा दूर की जाती है, निषिद्ध होती है। अतः शुक्ति ही रजत रूप से भासती है, यही कहना उचित है।[2]

अन्यथाख्याति के अभिप्राय को कुछ और स्पष्ट करते हुए विवरणप्रमेयसंग्रह में विद्यारण्य का पूर्वपक्ष है कि—दूषित इन्द्रिय का शुक्ति से सम्पर्क होने पर दूसरे स्थान (दुकान आदि) तथा दूसरे समय (अतीत) में स्थित रजत, इस स्थान व वर्तमान समय में स्थित शुक्ति में 'यह' ज्ञान द्वारा गृहीत होता है। यदि अन्य देश-काल में स्थित वस्तु का अन्य देशकाल में अन्य वस्तु के रूप में अवभास सम्भव हो तो पहले कभी न देखी गई वस्तु का भी वहाँ ग्रहण सम्भव होगा—यह आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि सादृश्यज्ञान इस अन्यग्रहण का नियामक है, जो अननुभूत वस्तु के साथ सम्भव नहीं।[3]

अन्यथाख्याति खण्डन

अन्यत्र स्थित वस्तु के आकार में सामने स्थित वस्तु प्रतिभात होती है यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि इन्द्रिय की पहुँच के बाहर स्थित वस्तु का सामने स्थित वस्तु में ज्ञान होगा कैसे ? ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष वेदान्त में स्वीकृत नहीं।

आनन्दबोध ने न्यायमकरन्द में अन्यथाख्याति के खण्डन के लिये प्रश्न उठाया है कि इस वाद की अभिमत रज्जु व सर्प की अन्योन्यात्मता (एक दूसरे से अभिन्न हो जाना, जो एक वस्तु का दूसरी वस्तु के आकार से ज्ञान होने के लिये अवश्य कल्पनीय है) क्या सत् रूप से

---

१. न च नेदं रजतमिति बाधावबोधवशादसत्त्वैवात्यन्तिकी रजतस्येति साम्प्रतं, स खलु सन्निहितेदङ्कारास्पदतादात्म्यनिषेधादसन्निहिततामेवास्य अर्थादापादयति न पुनरात्यन्तिकीमसत्ताम्..........शुक्तिशकलस्यैवानाकलितनिजाकारस्य नेत्रदोषवशादेव रजताकारेणापरोक्षप्रतिभासगोचरभावाभ्युपगमात्। न्या० म० ८२-८३॥

२. न ह्यसदनिर्वचनीयं वा रूप्यं भ्रान्तौ भाति। सत्त्वेन भानात्। अन्यथा दृष्टरूप्यस्यापि तद्भ्रमप्रसङ्गाच्च। अतः क्वचिद् दृष्टमेव रूप्यं दोषात् पुरोवर्तित्वेन भ्रान्तौ भाति। बाधोऽपि शुक्तिरूप्ययोरन्योन्याभावविषयः।

न्या० र० दी० पृ० १६४-६५।

३. देशान्तरगतं हि रजतं शुक्तिसम्प्रयुक्तेन दोषोपहितेन्द्रियेण शुक्त्यात्मना गृह्यते। न चैवाननुभूतस्यापि ग्रहणाप्रसङ्गः सादृश्यादेर्नियामकत्वादिति।

वि० प्र० सं० पृ० १२०।

अनुभवगोचर है, या असत् रूप से ? प्रथम ठीक नहीं, क्योंकि ये सामने स्थित तथा अन्यत्र स्थित वस्तुयें परस्पर एक दूसरे की अभावरूप हैं (रज्जु सर्प नहीं है, सर्प रज्जु नहीं है) तो कैसे इनकी अन्योन्यात्मता 'सत्' रूप से अनुभूत होगी। अथवा अन्योन्याभावरूप होते हुए इनमें अभेद कैसे होगा। और यदि किसी प्रकार इनकी अन्योन्यात्मता सच्ची ही है तो फिर वाध (यह रज्जु है, रजत नहीं है) का अनुभव अनुपपन्न होता है। असत् रूप होना भी ठीक नहीं, क्योंकि एक वस्तु में दूसरी वस्तु का असत्त्व ठहरा करता है, यह अन्योन्यात्मता आरोपित स्वरूप वाली होने से कोई दूसरी वस्तु नहीं है, वह इदङ्कारास्पद ('यह' ज्ञान में आश्रित) हो चाहे रजत ही हो, चाहे दोनों से अतिरिक्त घड़ा आदि हो—पहला मानें तो केवल 'यह' ऐसा ज्ञान होगा, 'रजत है' यह नहीं होगा, दूसरा मानें तो आभूषण आदि रूप में ही रजतज्ञान होगा 'यह' रूप से नहीं। स्थानभेद का स्मरण न हो, तव भी केवल 'रजत है' यही ज्ञान होगा 'यह' नहीं। तृतीय पक्ष लेने पर तो 'यह रजत है' ऐसा प्रतिभास हो ही नहीं सकता। इन तीनों प्रकारों से अन्य कुछ कहना हो तो अनिर्वचनीयता ही कहनी होगी।[1]

विमुक्तात्मा ने इष्टसिद्धि में, इस प्रसङ्ग में अनेक नई युक्तियाँ कही हैं। जिन सवका उल्लेख तो यहाँ सम्भ नहीं। उनमें प्रमुख है कि भाव का अन्यथाभाव नहीं हो सकता, जो वस्तु जैसी है, उससे अन्य प्रकार की होकर नहीं दिख सकती।[2] अन्यत्र सत् रजत का यहाँ भास होता है—कहना प्रतीति के विरुद्ध है। अनुभव तो यहीं (सामने स्थित वस्तु में) रजत होने का होता है, न कि अन्यत्र रजत होने का।[3] यदि असत् की प्रतीति नहीं हो सकती

१. हन्त इयमन्योन्यात्मता किं सत्त्वेनानुभवगोचरा उत असत्त्वेन, नाद्यः अन्योन्याभावात्मनोरनयोरैकात्म्यविरोधाद्, वाधानुपपत्तिप्रसङ्गाच्च, नाप्यसत्त्वेन, वस्त्वन्तरमेव हि वस्त्वन्तरस्य असत्त्वमास्थीयते, न चारोपितेयमन्योन्यात्मकता वस्त्वन्तरं, तद्धीदङ्कारास्पदमेव वा भवेद् रजतमेव वा, उभयातिरेकि कुम्भादि वा, पूर्वत्र इदमेव प्रत्ययः स्यान्न पुना रजतमिति, परस्मिन् तु कान्ताकरादौ एव रजतमिति स्यान्न पुनरिदमिति, प्रदेशभेदास्मरणेऽपि रजतमित्येव स्यान्न पुनरिदमिति, तृतीये त्विदं रजतमिति प्रतिभासो दूरनिरस्तावकाश एव, न चास्ति प्रकारान्तरेणोपाख्येयत्वसंभवः, तत्संभवे वा दुर्निवारमनिर्वाच्यत्वं तस्य तन्मात्रलक्षणत्वाद्।

न्या० र० पृ० ८७–८८।

२. संवन्धादेश्च नैव स्यात्तथाभावेऽन्यथाभावः।
न स्वान्यरूपसन्त्यागस्तदा संवन्धिनः क्व तौ॥
अप्यन्यरूपसंत्यागे स्वरूपस्य तथास्थितौ।
नैव स्यादन्यथाभावस्तत्त्यागो नतरां भवेत्॥
तस्मान्नास्त्यन्यथाभावोऽभवतोऽपि भवतोऽपि वा।
न चान्यस्यान्यथाभावो मायामात्रमसौ ततः॥

इ० सि० २।२२–२३, २६। पृ० २२४-२५।

३. यस्तु ब्रूयादन्यत्रैव तद्रूप्यं भाति नेहेति तस्य प्रतीतिविरोधः स्यात्, यतो नान्यत्र भाति रूप्यमिहैव तु भाति।

इ० सि० पृ० १२९।

अतः रजत की प्रतीति ही इस रजत की अन्यत्र सत्ता की कल्पना कर लेती है तो उसी युक्ति से उस रजत के यहीं (जहाँ प्रतीत हो रहा है) होने की ही कल्पना क्यों नहीं की जाती ?[1]

आनन्दानुभव ने न्यायरत्नदीपावली में अन्य युक्तियों के साथ इतना नवीन कहा है कि शुक्ति व रजत का तादात्म्य तो है नहीं (असत् है) उसका भास हो नहीं सकता। और यहाँ से अन्यत्र देखा हुआ ही रजत भ्रान्ति में दिखता है, यह नियम कैसे कहा जा सकता है ? तथा बाध शुक्ति व रजत के तादात्म्य का ही असत् होना कहता है, रजत का निषेध नहीं करता—यह कहना सम्भव नहीं, क्योंकि रजत को किस युक्ति से छोड़ा जायेगा ?[2]

विद्यारण्य ने विवरणप्रमेयसंग्रह में अन्यथाख्याति का खण्डन और नई युक्तियों एवं विश्लेषण द्वारा किया है। तदनुसार—इस अन्यथात्व का अर्थ क्या है ?—(१) ज्ञान का अन्यथा होना, या (२) ज्ञान के फल प्रकटता का या अनुव्यवसाय का अन्यथा होना, या (३) ज्ञान के विषय का अन्यथा होना। (१) पहला पक्ष ठीक नहीं क्योंकि रजताकार ज्ञान हो और उसका आलम्बन शुक्ति हो, यही अन्यथात्व ज्ञान में कहना होगा, उसमें भी फिर पूछना होगा कि शुक्ति में आलम्बन होना क्या है ? ज्ञान को अपना आकार समर्पण करना या ज्ञानजनित व्यवहार (शब्दप्रयोग अथवा इस वस्तु के प्रति प्रवृत्ति आदि) का विषय होना—यही कहा जा सकता है, पर ये दोनों सम्भव नहीं, क्योंकि जो रजत के आकार से घिरा (व्याप्त) है, उस ज्ञान को शुक्ति अपना आकार कैसे देगी ? दूसरा विकल्प लें तो किसी हिंस्र जन्तु को देखने पर किये जाने वाले प्रहार आदि व्यवहार के विषय दण्ड आदि (प्रहारसाधन) उस जन्तु के ज्ञान का विषय कहलायेंगे।[3] (२) फल में भी अन्यथात्व नहीं बन सकता, क्योंकि स्फुरण रूप फल (जो प्रकटतारूप मानने से वस्तुनिष्ठ होता है, अनुव्यवसायात्मक ज्ञानरूप मानने से आत्मनिष्ठ होता है) का भ्रान्तिज्ञान में तथा सम्यक् ज्ञान में स्वरूपतः कोई अन्तर नहीं देखा जाता। (३) वस्तु में अन्यथात्व क्या शुक्ति का रजत के साथ तादात्म्य है ? या शुक्ति का रजत के आकार से परिणाम है ? यदि प्रथम पक्ष मानें तो भी, शुक्ति व रजत का अत्यन्त अभेद है या भेदाभेद है ? दोनों सम्भव नहीं। क्योंकि

---

१. सत्तां चेत्कल्पयेत् ख्यातिरसत्ख्यातेरयोगतः।
यत्र यद्भाति तत्रैव तस्य तां किं न कल्पयेत्॥ इ० सि० १।१४, पृ० १३०।

२. शुक्तिरूप्ययोश्च तादात्म्यमसत् ख्यातीति ते मतम्। अतोऽन्यत्र दृष्टमेव भ्रान्तौ भातीति, न नियन्तुं शक्यम्।····तादात्म्यस्यासत्त्वं बाधो बोधयति न रूप्यस्येति चेन्न। रूप्यत्यागे मानाभावात्। न्या० र० दी० पृ० १६७-६८।

३. किं ज्ञानेऽन्यथात्वं किं वा फले उत वस्तुनि ? नाद्यः रजताकारज्ञानं शुक्तिमालम्बत इति हि ज्ञानेऽन्यथात्वं वाच्यम्। तत्र शुक्तेरालम्बनत्वं नाम किं ज्ञानं प्रति स्वाकारसमर्पकत्वम् ? उत ज्ञानप्रयुक्तव्यवहारविषयत्वम् ? नाऽऽद्यः, रजताकारग्रस्तं ज्ञानं प्रति शुक्त्याकारसमर्पणासम्भवात्। न द्वितीयः, व्याघ्रादिदर्शनप्रयुक्तव्यवहार-विषयस्य खड्गकुन्तधनुरादेर्व्याघ्रादिज्ञानालम्बनत्वप्रसङ्गात्।
वि० प्र० सं० पृ० १२०।

अत्यन्त भिन्न वस्तुओं का वास्तविक तादात्म्य हो नहीं सकता, और अवास्तव तादात्म्य मानें तो गुण-गुणी-आदि स्थल (अत्यन्त अभेद मानने वाले मत में) पर वह सम्भव होने से भ्रान्ति वहाँ भी अतिव्याप्त होगी।[1] परिणाम-पक्ष भी नहीं मान सकते क्योंकि यदि शुक्ति का रजत रूप परिणाम हो जाय तो फिर उसका बाध न होना चाहिये, जैसे दूध के परिणामभूत दधि का ज्ञान बाधित नहीं होता। और फिर भ्रान्तिस्थल पर रजत ही दिखना चाहिये, शुक्ति नहीं। इस पर नैयायिक की ओर से युक्ति दी है कि जैसे कमल के विकास रूप परिणाम का कारण सूर्यप्रकाश अस्त होने पर पुनः कमल मुकुलित हो जाता है, वैसे ही रजतरूप परिणाम का कारण दोष या अज्ञान दूर होने पर पुनः शुक्तिरूप देखा जा सकता है। किन्तु यह ठीक नहीं, जैसे खिला कमल बँधी कली के रूप में हो गया है वैसे ही रजत शुक्तिरूप हो गया है, ऐसी प्रतीति नहीं होती।[2]

इन सब विविध युक्तियों से अन्यथाख्याति भी युक्तिसङ्गत नहीं, यह सिद्ध हुआ।

अख्याति

प्राभाकर मीमांसक सभी ज्ञानों को यथार्थ मानते हैं। जहाँ शुक्ति के स्थान पर रजत दिखाई देता है, वहाँ भी वे भ्रम नहीं कहते। उनके अनुसार वहाँ ग्रहण तथा स्मरण रूप दो यथार्थ ही ज्ञान हैं। 'यह रजत है' प्रतीति में पहला अंश 'यह' तो सामने स्थित वस्तु का ग्रहण है, तथा द्वितीय अंश 'रजत' पहले देखे हुए रजत का स्मरण है, प्रथम का कारण है इन्द्रियसन्निकर्ष और दूसरे का—सादृश्य से उद्‌बुद्ध हुए संस्कार। पहला अंश सामान्य ज्ञान है, दूसरा विशेषज्ञान। दोनों ज्ञानों में जो अन्तर है वह दोष के कारण नहीं जाना जाता। बस यही इस ज्ञान को शुक्ति में शुक्तिज्ञान तथा घट में घटज्ञान इत्यादि अन्य ज्ञानों से पृथक् कर देता है, उस अन्तर के कारण ही इसे भ्रम कह दिया जाता है, वस्तुतः भ्रम का वाच्य कोई ज्ञान नहीं होता।

इनकी प्रक्रिया नैयायिकों के समान ही है। तदनुसार सामने दूर पड़ी वस्तु से इन्द्रियसंयोग के बाद 'यह ज्ञान होने पर, इस वस्तु की चमक रजत के समान होने से, तथा रजत द्वारा इष्टसाधन होता है, यह ज्ञान रहने से, 'यह क्या है' ऐसे अनुसन्धान के फलस्वरूप

---

१. नापि फलेऽन्यथात्वम्, फलस्य स्फुरणस्य भ्रान्तौ सम्यग्ज्ञाने वा स्वरूपतो वैषम्यादर्शनात्। वस्तुन्यपि कथमन्यथात्वम्? किं शुक्तिकाया रजततादात्म्यं किं वा रजताकारेण परिणामः? आद्येऽपि किं शुक्तिरजतयोरत्यन्तं भेदः किं वा भेदाभेदौ? नाद्यः, अत्यन्तभिन्नयोर्वास्तवतादात्म्यासम्भवात्;....शून्यतादात्म्यप्रतीतौ गुणगुण्यादावपि तत्सम्भवेन भ्रान्तित्वं दुर्वारम्। वही, पृ० १२१।

२. परिणामपक्षेऽपि बाधो न स्यात्—विमतं रजतज्ञानमबाध्यम् परिणामज्ञानत्वात्, क्षीरपरिणामदधिज्ञानवत्। ततः क्षीरवदेव शुक्तिः पुनर्न दृश्येत। ननु कमलस्य विकाशरूपपरिणामहेतोः सूर्यतेजसोऽपगमे पुनर्मुकुलीभाववद्रजतपरिणामहेतोर्दोषस्यापगमे पुनः शुक्तिभावोऽस्तु, मैवम्; विकसितमेव मुकुलमासीदितिवद्रजतमेव शुक्तिरासीदिति प्रतीत्यभावात्। वही, पृ० १२२।

पहले देखे हुए रजत के संस्कार उद्बुद्ध होने पर रजत का स्मरण होता है; 'यह' रूप से गृहीत वस्तु का विशेष ज्ञान न रहने के कारण स्मरण रूप विशेषज्ञान वहाँ आकृष्ट हो जाता है, दोष के कारण इन दोनों के भेद का ग्रहण नहीं हो पाता। रजत के स्मरणात्मक ज्ञान का भी वास्तविक रूप 'वह रजत' होता है, उसमें से (दोष के कारण ही) 'वह' अंश प्रकाशित नहीं होता, उसके स्थान पर यहाँ का ग्रहणात्मक 'यह' ज्ञानांश प्रकाशित हो जाता है। इन ग्रहण व स्मरण रूप दो ज्ञानों का भेद प्रकाशित नहीं होता। यह विवेक या भेद की अख्याति ही भ्रम नाम से कही जाती है। बाधज्ञान के समय वह भेद ही प्रकाशित हो जाता है। न कोई वस्तु पहले वहाँ उत्पन्न हुई थी, न बाध से कोई वस्तु विनष्ट होती है।

विमुक्तात्मा ने इष्टसिद्धि में अख्याति का स्वरूप संक्षिप्त व स्पष्ट शब्दों में निरूपित किया है। कहा है—भ्रमस्थल पर, जो शुक्ति के स्थान पर रजत दिखाई देता है, वहाँ न तो असत् रजत की प्रतीति होती है, न कहीं अन्यत्र सत् ही रजत की यहाँ प्रतीति होती है, प्रत्युत स्थिति यह है कि यहाँ दो ज्ञान हैं। इन्द्रियसन्निकर्ष से तो उस वस्तु का 'यह' ऐसे आकारवाला सामान्य ज्ञान होता है। साथ ही चमक के सादृश्य से रजत का संस्कार जग जाने के कारण रजत की स्मृति होती है। उस स्मृति का वास्तविक रूप तो होता है—'वह (पहले देखा हुआ) रजत'—किन्तु यहाँ ज्ञान-प्रक्रिया में दोष रहने के कारण 'वह' अंश लुप्त हो जाता है, केवल 'रजत' अंश रह जाता है। ये दो पृथक्-पृथक् (क्रमशः प्रत्यक्ष व स्मरण रूप) ज्ञान हैं, ऐसा विवेक नहीं रहता, इसी से उस 'यह' ज्ञान के विषय को ही रजत समझ लेना रूप भ्रान्ति उदित होती है। ये दोनों 'यह' ज्ञान तथा रजतज्ञान—यथार्थ ही होते हुए भी परस्पर मिलित होकर उक्त अयथार्थ व्यवहार का प्रवर्तन करते हैं। ज्ञान अयथार्थ नहीं होता। बाद में जो 'यह रजत नहीं है'—ऐसा ज्ञान होता है, वह उक्त विवेक की अख्याति (अन्तर के प्रकाशित न होने) को ही दूर करता हुआ, सीप व रजत के मिलित रूप से प्रवृत्त अयथार्थ व्यवहार को ही निवृत्त करता है, किसी पहले प्राप्त अयथार्थ ज्ञान का बाध नहीं करता।[1]

चित्सुखाचार्य ने तत्त्वप्रदीपिका में अख्यातिपक्ष को नये तर्कों सहित प्रस्तुत किया है। तदनुसार—सभी ज्ञान यथार्थ ही होते हैं, विभ्रम कोई होता ही नहीं। यदि एक ज्ञान का अपने विषय से व्यभिचार (ज्ञान कुछ और हो विषय कुछ और) हो, तो सभी ज्ञानों पर से विश्वास उठ जायेगा। जो पदार्थ अन्य स्थान में है, अथवा जिस का कोई स्वरूप ही नहीं है,

---

१. इदंधीरक्षजा रूप्यधीस्स्मृतिस्तत्प्रमोषतः।
दोषादिदं रूप्यमिति भ्रान्तिस्तदविवेकतः॥ इ० सि० १।७॥

....द्वे एते धियौ नैकैव। तत्रेदमित्यक्षजा पुरोऽवस्थितशुक्तीदमंशविषया। रूप्यधीस्स्मृतिः, सादृश्यादुद्बोधितसंस्कारमात्रजत्वात् कारणान्तराग्रहणात्।....नेदं रजतमिति बाधोऽपि अख्यातिमेव नुदन् शुक्तिरूप्यविवेकेन अन्यथाव्यवहारं निवर्तयति; न त्वयथार्थख्यातिं प्राप्ताम्। तत्प्राप्तेर्निरस्तत्वात्।

इ० सि० पृ० ४१-४२।

उस के साथ तो चक्षु आदि का सम्बन्ध हो नहीं सकता ।[1] और दोष भी असत् वस्तु -विषयक ज्ञान का जनक नहीं हो सकता, क्योंकि दोषों से किसी वस्तु की स्वाभाविक, कार्य उत्पन्न करने वाली शक्ति का निष्प्रभ होना या रुक जाना तो देखा जाता है, पर दोष किसी नयी वस्तु को उत्पन्न कर दे, या जो वस्तु कहीं और है उसे वहां उपस्थित दिखा दे, ऐसा नहीं देखा जाता । प्रतीयमान सम्बन्धियों के सम्बन्ध-व्यवहार में, उन के असंसर्ग का अज्ञान ही हेतु होता है । उस असंसर्ग के अज्ञान से जन्य संसर्ग-व्यवहार मात्र का बाध कर देने में ही बाधक ज्ञान की सार्थकता है ।[2]

इस के पश्चात् अख्यातिवाद की अभिमत शुक्तिरजत देखने की प्रक्रिया कुछ और अधिक स्पष्ट रूप से कह कर विमुक्तात्मा के समान ही अन्त में कहा है कि शुक्ति के प्रत्यक्ष और 'रजत' के स्मरण (इन दोनों ज्ञानों) में न तो स्वरूप से भेद का ग्रहण होता है, न विषय द्वारा । अर्थात् यद्यपि इन दोनों ज्ञानों का स्वरूप भी पृथक्-पृथक् है, और इन के विषय भी पृथक्-पृथक् हैं, पर दोनों के ही भेद का ग्रहण नहीं होता; और ये दोनों निरन्तर (अव्यवहित) उत्पन्न होते हैं । इन्हीं कारणों से, वे दोनों स्वरूपतः यथार्थ होने पर भी अयथार्थ व्यवहार ('यह रजत है') को उत्पन्न करते हैं, इसी से उन में भ्रम होने की प्रसिद्धि होती है । अतएव सभी ज्ञान स्वरूपतः यथार्थ हैं, कोई भ्रमज्ञान नहीं ।[3]

अख्यातिखण्डन—

आनन्दबोध ने न्यायमकरन्द में, विमुक्तात्मा ने इष्टसिद्धि में, चित्सुखाचार्य ने तत्त्व-प्रदीपिका में, आनन्दानुभव ने न्यायरत्नदीपावली में, विद्यारण्य ने विवरणप्रमेयसंग्रह में अत्यन्त विस्तार से अख्याति मत का खण्डन किया है । उन में से कुछ प्रमुख युक्तियां ही देखना यहां सम्भव है ।

---

१. सर्वप्रत्ययानां यथार्थत्वेन विभ्रमाणामेवाभावात् विगीताः प्रत्यया यथार्थाः प्रत्ययत्वात् सम्प्रतिपन्नवदित्यनुमानात्, अन्यथा अन्याकारस्य प्रत्ययस्यान्यालम्बनताया-मनुभवविरोधात्, संविदां स्वविषयव्यभिचारे चानाश्वासप्रसङ्गात्,....असतश्च संसर्गादेः स्फुरणकारणानिरूपणात्, चक्षुरादेश्च संप्रयुक्तमात्रग्राहित्वात् देशान्तर-निवेशिनः स्वरूपासतश्च सम्प्रयोगायोग्यत्वात् ।

त० प्र० पृ० १०३-४ ।

२. दोषाणां च स्वारसिककार्यप्रसवशक्तिप्रतिरोधमात्रहेतुत्वात्.... सर्वत्र च प्रतीयमानयोः संसर्गिणोः संसर्गव्यवहारस्यासंसर्गाग्रहनिबन्धनत्वात्.... असंसर्गाग्रहप्रसञ्जितसंसर्ग-व्यवहारमात्रबाधनादेव बाधकस्य बाधकतोपपत्तेः । त० प्र० पृ० १०४-५ ।

३. ....तयोश्चान्योन्यसंसर्गसाकांक्षसामान्यविशेषालम्बनयोः स्वरूपतो विषयतश्चा-गृहीतासंसर्गयोर्निरन्तरोत्पन्नयोः स्वरूपेण यथार्थयोरप्ययथार्थव्यवहारप्रवर्तकयोर्विभ्र-मत्वप्रसिद्धेरप्युपपत्तेः । तदेवं प्रत्ययानां यथार्थत्वेन स्वरूपतो विभ्रमत्वाभावात् ।

त० प्र० पृ० १०५-६ ।

(१) (दो) ज्ञानों तथा उन के (दो) ज्ञेयों के अन्तर का ग्रहण न होना ही विभ्रम शब्द से कहा जाता है—यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि सभी भावों (पदार्थों) को विभेदस्व-भाव वाला मान लेने पर स्वयंप्रकाश होने के नाते स्फुटतर आभास (प्रतीति) वाले ज्ञानों तथा उन के अधीन प्रकाश वाले अर्थों (ज्ञेयों) में अन्तर का ग्रहण न हो—ऐसा हो नहीं सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि अवभासित होती हुई वस्तु ही भेद का अनवभास है—क्योंकि अवभास और अनवभास रूप विरुद्ध धर्मों की एक में स्थिति सम्भव नहीं।[1]

(२) वस्तुओं व उन के ज्ञानों के विवेक का अवभास न भी हो तो केवल उसी (अनवभास) से रजत चाहने वाले व्यक्ति की 'यह' ज्ञान का विषय वनी वस्तु के प्रति प्रवृत्ति कैसे उपपन्न होगी।

व्यक्ति की चेष्टा या प्रवृत्ति तो किसी ज्ञान (ग्रहण) से उत्पन्न होती है, अग्रहण से नहीं। यदि किसी वस्तु का ग्रहण न होने से भी कोई व्यवहार होना मान लिया जाय तो वह जहां कहीं भी प्रसक्त होगा।[2]

(३) यदि कहें कि ज्ञानों में अविवेक नहीं (क्योंकि आनन्दबोध व विमुक्तात्मा ने विस्तृत तर्क जाल में डालकर उक्त अविवेक को असिद्ध कर दिया है) किन्तु उन के अर्थों का अविवेक व्यवस्था के लिये मान्य है, तो वह भी क्या है ? यदि पूरे अर्थ का ज्ञान न होना अविवेक है तो सभी ज्ञानों को भ्रम कहना होगा क्योंकि किसी भी ज्ञान द्वारा सम्पूर्ण रूप से अर्थ नहीं कहा जाता। अतः इन दोनों (ग्रहण व स्मरण) ख्यातियों के यथार्थ रहते इन में अयथार्थव्यवहार के प्रति कारण होना नहीं आ सकता।[3]

(४) अख्याति का तथाकथित अभिप्राय अन्ततः दो ज्ञानों के अन्तर की ख्याति न होने पर ही ठहरता है। उस पर विमुक्तात्मा पुन. कहते हैं कि गृहीत तथा स्मृत होने वाले अर्थों व ज्ञानों में अविवेक क्यों होगा ? यदि होता है तो सदा ही क्यों न होगा। उनका विवेक

---

१. विभेदस्वभावाभ्युपगमे सर्वभावानां स्वयंप्रभत्वेन स्फुटतरावभासयोः संविदोस्तदधीन-प्रकाशयोश्चार्थयोः कथं विवेकाग्रहवाचोयुक्तिर्युक्तिमती, न खल्ववभासमानभावस्व-भावस्यैवानवभासो भेदस्येति साम्प्रतम्, अवभासानवभासविरुद्धधर्मसंसर्गस्यैकस्मिन्न-सम्भवाद्॥ न्या० म० पृ० ६५।

२. अस्तु वा वस्तुनोस्तत्संविदोर्विवेकानवभासस्तथापि कथं तन्मात्रादिदङ्कारास्पदा-भिमुखी रजतार्थिनः प्रवृत्तिरुपपद्येत, ग्रहणनिबन्धनो हि चेतनव्यवहारो नाग्रहण-मात्राद् युक्तो भवितुमतिप्रसङ्गाद्। न्या० म० पृ० ६६-६७।

३. न ज्ञानयोरविवेकः, किन्तु तदर्थयोरविवेको व्यवस्थाहेतुरिति; कोऽर्थयोरविवेकः। यदि कार्त्स्न्येनाज्ञानं, तर्हि सर्वज्ञानानां भ्रान्तित्वम्। न हि केनचिदपि ज्ञानेन कार्त्स्न्येनार्थो ज्ञायते। अतो यथार्थत्वेनार्थो ज्ञायते। अतो यथार्थत्वे ख्यात्योः नायथार्थव्यवहारहेतुत्वं न्याय्यम्। इ० सि० १।८, पृ० ४३।

किसी अन्य ज्ञान द्वारा होता हो तो, उस ज्ञान को उत्पन्न करने वाला कोई और ज्ञान अपेक्षित होने से अनवस्था होगी।[1]

(५) यदि भ्रम में दिखने वाला रजत स्मृतिरूप है, तो उसे भ्रम क्यों कहा जाय। यदि स्मृति को कहीं भ्रान्ति मान लिया जाय तो सच्ची स्मृति भी भ्रान्ति कहला सकती है। यह भी नहीं कह सकते कि यहां विवेक का ग्रहण न होने से भ्रान्तित्व है, क्योंकि भेद तो प्रतियोगिस्वरूप ही माना गया है, अतः ग्रहण को अग्रहण कैसे कहा जायेगा।[2]

चित्सुखाचार्य ने अख्याति पक्ष में पारिभाषिक दोष-परम्परा दिखा कर उस को अयुक्त ठहराया है। तदनुसार (६) यदि अख्यातिवादी भ्रमज्ञान मानते हों तो उन के सिद्धान्त (कोई ज्ञान भ्रम होता ही नहीं) का वाध होगा, यदि भ्रमज्ञान नहीं मानते तो अख्याति पक्ष की सिद्धि करने में आश्रयासिद्धि दोष है (यदि भ्रम ज्ञान नहीं ही होता तो उस की व्याख्या क्यों करना ?)। यदि भ्रमज्ञान को पक्ष न वना कर अयथार्थ व्यवहार का हेतु वने हुए ज्ञान-विशेष को पक्ष वना कर उक्त दोष हटाया जाय तो सिद्धसाधन दोष होता है। क्योंकि न्यायमत से समस्त व्यवहार का हेतु ईश्वरज्ञान अयथार्थव्यवहार का भी हेतु है और उस ईश्वरज्ञान में यथार्थता सभी को स्वीकृत है। और वेदान्त मत से भी 'यह' अंश को विषय करने वाले वृत्तिज्ञान में यथार्थता सिद्ध ही है।[3]

इस प्रकार विविध युक्तियों से भ्रमज्ञान के व्याख्यापक ये छहों पक्ष (ख्यातिवाद) खण्डित हो जाते हैं, इन सव में दिखने वाले दोषों से वचते हुए अद्वैतवेदान्ती आचार्य भ्रम को अनिर्वचनीयख्याति कह कर स्थिति की सवसे अधिक समञ्जस व्याख्या करते हैं।

७. अनिर्वचनीयख्याति

सर्वप्रथम आनन्दवोध ने न्यायमकरन्द में 'अनिर्वचनीय अर्थ का अवभास विभ्रम है'

---

१. न ग्रहस्मृतितन्मेयविवेकोऽपि ग्रहान्तरात्। अशक्तेरनवस्थानादतो ख्यातिर्भ्रमो मतः॥ गृह्यमाणस्मर्यमाणयोरविवेको भ्रमः, तद्विवेको वाध इति चायुक्तम्। न गृह्यमाण-स्मर्यमाणाविवेको युक्तः ग्रहणस्मरणयोस्सतोः, अन्यथा सदाविवेकप्रसङ्गात्। न हि तयोर्विवेको ग्रहान्तरादशक्तेरनवस्थानाच्च।

इ० सि० २।१५, पृ० २९२।

२. स्मृतिश्चेदियं भ्रान्तिर्न स्यात्। अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। विवेकाग्रहात् सा भ्रान्तिरिति चेन्न, तदसम्भवात्। विवेको हि ज्ञानयोरर्थयोर्वा स्वरूपं त्वयेष्यते। अतस्तद्ग्रहे कथं तदग्रहः।

न्या० र० दी० पृ० १५५।

३. स्वीकारे विभ्रमाणां स्यात् स्वीयसिद्धान्तवाधना। अनभ्युपगमे तेषामाश्रयासिद्धि-रुद्धता॥ (१।११) अयथार्थव्यवहारहेतोर्ज्ञानस्य पक्षीकरणाददोष इति चेत्, न यथार्थस्यापीश्वरज्ञानस्य सर्वव्यवहारहेतोरयथार्थव्यवहारं प्रत्यपि हेतुतया सिद्धसाधन-त्वात्। इदं रजतम् इत्यत्रापि इदमंशविषयस्य वृत्तिज्ञानस्य अयथार्थव्यवहारहेतोर-प्यधिष्ठानविषयस्य वेदान्तिभिर्यथार्थत्वाङ्गीकारात्। त० प्र० पृ० १०६-७।

कहते हुए अनिर्वचनीयख्याति का युक्तिपूर्ण उल्लेख किया है। तदनुसार भ्रम में दिखाई देने वाली वस्तु न सत् होती है, न असत्, न दोनों, बल्कि अनिर्वचनीय होती है।[1]

अनिर्वचनीय होने का अर्थ निर्वचन का अभाव (किसी प्रकार कहा न जा सकना) नहीं है। सत् व असत् कोटियों से पृथक्-पृथक् या दोनों से एक साथ विलक्षण (पृथक्, भिन्न) होना भी अनिर्वचनीयता नहीं है। क्योंकि ऐसा हो तो असत् से विलक्षण होना सत् में, सत् से विलक्षण होना असत् में, सत् व असत् दोनों से विलक्षण होना (उभयाभाव) पृथक्-पृथक् सत् व असत् दोनों में ही प्राप्त होता है, इसलिए पृथक्-पृथक् एक (सत् व असत्) प्रकार से विलक्षण होते हुए दोनों से विलक्षण होना अनिर्वचनीयता है।[2]

ऐसा अनिर्वचनीय पदार्थ सिद्ध होता है अर्थापत्ति प्रमाण से। वह ऐसे कि अत्यन्त असत् शशशृङ्ग आदि वस्तुओं की तो कभी प्रतीति होती नहीं, और वास्तव में सत् (व्यवहार में घट-पट आदि, परमार्थतः चिदात्मा) का कभी बाध (जहाँ घट देखा जा रहा है वहाँ समीप जाने पर घट न मिले, तथा 'आत्मा नहीं है' ऐसा ज्ञान या स्थिति हो) नहीं होता, यहाँ भ्रमस्थल पर दिखाई देने वाली वस्तु प्रतीति का भी विषय होती है, बाध का भी। ये दोनों प्रतीति व बाध एकसाथ मिलना अनुपपन्न है, जब तक कि वास्तविक सत् तथा असत् दोनों से ही विलक्षण प्रकृति की कोई वस्तु न हो। उसी उभयविलक्षण रूप में अनिर्वचनीय वस्तु की कल्पना करना आवश्यक होता है।[3]

यहाँ आपत्ति उठती है कि इस (भ्रम स्थल के) रजत को सत् तथा असत् दोनों से पृथक् माना जायेगा तो अनुभव से विरोध होगा, क्योंकि भ्रम के समय अनुभव होता है कि यह सच्चा ही रजत है, और बाध के समय 'यह रजत नहीं है' का अर्थ है कि रजत असत् है। रजत को यदि दोनों प्रकारों से अलग माना जाय तो इन अनुभवों का विरोध होगा। इसका उत्तर देते हुए आनन्दबोध ने कहा है कि भ्रम में जो रजत प्रतीत होता है, वह अनिर्व-

---

१. आचार्याः पुनरनिर्वचनीयार्थावभासं विभ्रममाचक्षते। न्या० म० पृ० १११।

२. यत्तावत् निर्वचनानर्हतैवानिर्वाच्यतेत्यभ्यधायि तत्रानभ्युपगम एव। यत्तु नापि सदसत्प्रकारविलक्षणता इत्यादि, तत्र यद्यपि एकैकप्रकारवैलक्षण्योभयप्रकारवैलक्षण्ययोः अस्ति व्यभिचारः, तथापि एकैकप्रकारवैलक्षण्यावच्छिन्नोभयप्रकारवैलक्षण्यस्य लक्षणभावे न कञ्चन दोषं पश्यामः।

न्या० म० पृ० ११५।

सत्त्वानधिकरणत्वे सत्यसत्त्वानधिकरणत्वे सति सदसत्त्वानधिकरणत्वम् अनिर्वाच्यत्वं, सदसत्त्वानधिकरणतामात्रस्य सदसतोरेव व्यभिचारादित्यर्थः।

न्या० म०–चि० व्या० पृ० ११५।

३. अस्त्येव खल्वर्थापत्तिः, तथाहि-नात्यन्तासतो नरविषाणस्य प्रतिभासगोचरता, नाप्यत्यन्तासतश्चिदात्मनो बाधसम्भवः, तदिहोभयान्यानुपपत्त्या उभयविलक्षणता रजतादेराश्रीयत इति।

न्या० म० पृ० ११६।

चनीय है, उसमें प्रतीत होने वाली सत्ता भी अनिर्वचनीय है। वाध के समय रजत का उस स्थान से संसर्ग न होना ही जाना जाता है।[१]

विमुक्तात्मा द्वारा इष्टसिद्धि में किये गये प्रतिपादन के अनुसार भ्रमज्ञान तथा वाध-ज्ञान दोनों की व्यवस्था एवं युक्तता तभी रहती है, जव भ्रम में प्रतीत होने वाली वस्तु तथा उसके (भ्रम रूप) ज्ञान को सत्त्व, असत्त्व, सदसत्त्व—इन सबसे रहित पृथक् अनिर्वचनीय, अविद्यात्मक माना जाय,[२] भ्रान्ति में जो कुछ भासित (ज्ञात) होता है, वह वस्तुतः है या नहीं—इसका निर्णायक कोई प्रमाण न होने से, वह अनिर्वचनीय ही है।[३]

आनन्दवोध द्वारा कहे गये अनिर्वाच्यता के अर्थ को कुछ और स्पष्ट करते हुए चित्सुखाचार्य ने कहा है कि सत् असत् आदि तीनों प्रकारों से निश्चयपूर्वक निर्वचन न हो सकना अनिर्वाच्यता है।[४]

एक नई आपत्ति की आशङ्का उठाई है— परस्पर विरुद्ध सत्त्व व असत्त्व के निषेधों का भी समुच्चय (एक साथ एक वस्तु में होना) नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों में से किसी एक (अन्यतर) का निषेध करने पर दूसरे का विधान अनिवार्य हो जाता है—यह आपत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि वेदान्ती उन दो निषेधों का समुच्चय भी तात्त्विक नहीं मानते। सत्त्व आदि प्रतियोगी वचनों से उस रजत आदि की दुर्निरूपता व्यक्त करने के लिये ही सदसद्विलक्षणता कही जाती है। जो रजत आदि प्रपञ्च स्वरूपतः अनिरूप्य है, उसमें कोई तात्त्विक धर्म कैसे रह सकता है ? जहाँ विरोधी धर्मों में से एक का निषेध हो वहाँ अवश्य दूसरे का विधान होगा ऐसा कोई नियम नहीं है।[५]

---

१. यश्चायमनुभवविरोधः 'सदिदं रजतमिति पूर्वानुभवो नेदं रजतमित्युत्तरश्चा-सत्तावलम्बी, सदसद्विलक्षणतायां विरुध्येत इत्यभिहितः, नायमप्यस्ति। तथा हि शुक्तीदन्तासंसर्गवत् तत्तासंसर्गस्याप्यनिर्वाच्यस्यैवावभासनाद् अन्यस्याश्च रजत-सत्ताया अनुपलम्भान्न विरुद्धः प्राचीनोऽनुभवः। न्या० म० पृ० ११७-१८।

२. सत्त्वे न भ्रान्तिवाधौ स्तां नासत्त्वे ख्यातिवाधकौ।
सदसद्भ्यामनिर्वाच्याविद्या वेद्यैस्सह भ्रमाः॥ इ० सि० १।९॥

३. भ्रान्तौ यावत्किञ्चिद्भाति तस्य सर्वस्य भावेऽभावे च प्रमाणाभावादनिर्वचनीयतैवेति सिद्धम्। इ० सि० पृ० १२१।

४. प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न यत्।
गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिनः॥ त० प्र० १।१३॥

५. न च परस्परविरुद्धयोः सदसत्त्वयोर्निषेधसमुच्चयोऽनुपपन्नोऽन्यतरनिषेधस्यान्यतर-विधिनान्तरीयकत्वादिति युक्तम्; निषेधसमुच्चयस्य तात्त्विकत्वानङ्गीकारात्। तत्तत्प्रतियोगिदुर्निरूपतामात्रप्रकटनाय तद्विलक्षणत्वाभिलापः। न हि स्वरूपतो दुर्निरूपस्य किञ्चिदपि रूपं वास्तवं सम्भवति; तथा सति तस्यापि तात्त्विकत्व-प्रसङ्गात्। न चैकतरनिषेधोऽन्यतरविधिनान्तरीयकः। त० प्र० पृ० १३७।

भ्रम में प्रतीत होने वाले रजत का किसी भी प्रकार से निश्चयपूर्वक निर्वचन क्यों नहीं हो सकता इसे और भी अधिक स्पष्ट रूप से समझाते हुए प्रकटार्थविवरण में कहा गया है कि भ्रमस्थल में दिखाई देने वाला रजत सत् ही है, क्योंकि प्रतीत हो रहा है, ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि तब उस (रजत) का यहाँ रहना ही प्राप्त होगा। यदि कहें कि वह रजत अन्यत्र सत् है, तो बहुत दूर होने के कारण चक्षुःसन्निकर्ष की सीमा के बाहर होने के कारण उसे परोक्ष होना होगा। यह नहीं कह सकते कि दोष चक्षुःसन्निकर्ष के विना ही वस्तु को अपरोक्ष बना सकता है, क्योंकि तब तो सभी कुछ का प्रत्यक्ष हो जाना चाहिए।[२] अतः उस रजत का सत् रूप से निरूपण नहीं हो सकता। असत् रूप से भी नहीं, उस दशा में किसी को उसका ज्ञान होना, किसी को न होना तथा गगनकुसुम का ज्ञान न होना, रजत सर्प आदि का होना तथा इनके प्रति प्रवृत्ति आदि की उपपत्ति नहीं होती। फिर यह असत्त्व न अत्यन्त असत् होना है, क्योंकि सत्त्व का आश्रय लेकर ही ज्ञात होता है (यह रजत है)। न सदसदात्मक असत्त्व है—क्योंकि सम्पूर्ण रूप में यह विरुद्ध है, और आंशिक रूप से रजत सत् भी है, असत् भी है, तब किसे भ्रान्ति कहेंगे किसे बाध ? क्योंकि दोनों ही एक-एक अंश में यथार्थ हैं। दोनों से विलक्षण होना भी तत्त्वतः बन नहीं पड़ता, विरोध तथा प्रतीति से पराहत होने के कारण। इसलिये उसे (रजत को) अनिर्वाच्य ही मानना चाहिये।[१] यह शङ्का ठीक नहीं कि—झूठमूठ के रजत को तो कोई चाहता नहीं, फिर उसके प्रति प्रवृत्ति क्यों होगी, और यदि कहें कि उसके मिथ्या होने का ग्रहण नहीं होता, अथवा उसमें सत्य होने का आरोप हो जाने से प्रवृत्ति होती है, तब तो अख्याति व अन्यथाख्याति के ही मत मान लिये गये।—ऐसा नहीं है। वहाँ रजतत्व का निश्चय हो जाने से उसमें इष्टसाधनता का अनुमान हो जाता है, इसीलिए प्रवृत्ति होती है। और प्रवृत्ति की समुचित उपपत्ति तो अन्य मतों में भी नहीं होती।[२]

---

२. सर्वथा वास्तवाकारेण निरूपणासहिष्णुता चानिर्वाच्यता। तथा हि—न तावद्यथावभासं सदेव रूप्यम्, अत्र सत्त्वप्रसङ्गात्। नापि तदन्यत्र सद् अतिविप्रकर्षेणाक्षसन्निकर्षापकर्षेण परोक्षतापातात्, चक्षुरुन्मीलनान्वयव्यतिरेकयोश्चाधिष्ठानदर्शनोपक्षयात्। न च दोषोऽक्षसन्निकर्षनिरपेक्ष एवापरोक्ष्यहेतुर्दृष्टः, सर्वापरोक्ष्यापातात्।
प्र० वि० १।१।१, पृ० ९॥

१. नाप्यत्यन्तासदादरणीयम्, प्रतिभासभेद-प्रवृत्त्योरनुपपत्तेः।......नात्यन्तमसत्त्वम्, तस्य सत्त्वाश्रयणात्। नापि सदसदात्मकम्, विरोधात् कार्त्स्न्येन, अंशाभ्यां तदात्मकत्वे, न भ्रान्तिबाधव्यवस्था आस्थापदं प्राञ्चति, पूर्वोत्तरयोरेकैकांशे यथार्थत्वात्। नाप्युभयवैलक्षण्यात्मता तत्त्वतो जाघटीति, विरोधगन्धधूपितत्वात् प्रतीतिपराहतेश्च। क्वचिद्वैलक्षण्यवाचोयुक्तिरपि तत्तद्रूपनिरूपणासहिष्णुत्वप्रकटनार्था। तस्मादनिर्वाच्यमेव तदाश्रयणीयम्। वही।

२. नन्वनिर्वाच्यत्वे प्रवृत्तिरनुपपन्ना। न हि पुरुषो मिथ्यारजतं वाञ्छति। यदि मिथ्यात्वाग्रहात्सत्यत्वारोपाद्वा प्रवृत्तिः, तर्ह्यायातो ख्यात्यन्यथाख्यातिमतापातो भवताम्; न रजतत्वाध्यवसायात् समीहितसाधनतानुमानेन प्रवृत्तिसम्भवात्। वहीं।

प्रकटार्थकार ने सर्वप्रथम वेदान्तसम्मत भ्रमप्रक्रिया का संक्षिप्त उल्लेख किया है। तदनुसार अज्ञान शुक्तित्व को आवृत करता हुआ रजत के आकार में तथा इस रजत के ज्ञानाभास (क्योंकि ज्ञान वास्तव में अन्तःकरणवृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही होता है जो अयथार्थ नहीं हो सकता, अतः अनिर्वचनीय की प्रतीति ज्ञानाभास ही कहलाने योग्य है) के आकार में परिणत होता है। जैसे कि एक व्यक्ति को ज्ञात होती हुई भी शुक्ति उसके साथ ही खड़े दूसरे व्यक्ति को नहीं दिखती (यदि वह उसे नहीं देख रहा हो)। ऐसे ही एक के अज्ञान से आवृत हुई भी शुक्ति दूसरे के प्रति अनावृत रह सकती है। इसीलिये एक को वहाँ रजत-भ्रम होने पर भी दूसरे को नहीं होता; व्यक्ति के अज्ञान द्वारा उत्पादित अनिर्वाच्य ही रजत को मानने से उक्त व्यवस्था बनी रहती है, अन्य मतों में वह दुष्कर या असंभव-प्राय है।[1]

विद्यारण्य ने विवरणप्रमेयसंग्रह में, प्रकटार्थकार द्वारा कहे गये 'ज्ञानाभास' की धारणा को ज्ञान का तृतीय प्रकार सिद्ध करते हुए विवृत किया है। तथा इसी प्रसङ्ग में अनिर्वचनीय-ख्याति का स्वरूप और अधिक स्फुट किया है।

विज्ञानवादी की ओर से शङ्का उठाई गई है कि वेदान्त-मत में यदि भ्रमस्थल पर रजत की स्मृति मानी जाय तो अख्यातिवाद प्रसक्त होगा, यदि रजत का ग्रहण (प्रत्यक्ष) माना जाय तो आत्मख्याति या अन्यथाख्याति ही प्रसक्त होगी; स्मरण व ग्रहण से अतिरिक्त तो ज्ञान का कोई तीसरा प्रकार होता नहीं। इसके उत्तर में कहा गया है कि—क्या (१) उक्त दोनों से पृथक् (विलक्षण) सामग्री का निरूपण न हो सकने के कारण तीसरा प्रकार असम्भव है ? या (२) विलक्षण ज्ञान के स्वरूप का निरूपण नहीं किया जा सकता इसलिये वह असम्भव है ? या (३) विलक्षण विषय का निरूपण न हो सकने से वह असम्भव है। इनमें से प्रथम विकल्प ठीक नहीं, क्योंकि इन्द्रियसम्प्रयोग, संस्कार तथा दोष रूप सामग्री वहाँ विद्यमान हैं।[2]

यहाँ अख्यातिवाद की ओर से (चित्सुखी में उठाई गई) शङ्का का उल्लेख करते हैं कि दोष तो प्रतिबन्धक ही होते हैं अतः प्राप्त कार्य के उदय को रोकते भर हैं किसी अपूर्व (नये) कार्य को उत्पन्न करने में हेतु नहीं बनते। इसका नवीन युक्तियों से उत्तर दिया है कि उदय का अभाव तो प्रागभावरूप है, नित्य है, किसी का कार्य नहीं, अतः दोष उसका

---

१. अज्ञानं च दोषाधिष्ठानावभासादिसहकृतं शुक्तित्वावरणेन रजताकारेण तद्ज्ञाना-भासाकारेण च विपरिणमते। यथा च मम ज्ञानप्रकाशितापि शुक्तिः पार्श्वस्थस्य न प्रकाशीभवति तथा ममाज्ञानावृतापि तस्यानावृतेति किमनुपपन्नमनिर्वाच्याज्ञान-जरूप्याभ्युपगमे। वही, पृ० ११।

२. ननु तवापि रजतज्ञानस्य स्मृतित्वे स्यादख्यातिर्ग्रहणत्वे चान्यथाख्यातिः आत्मख्याति-र्वा स्यात्, नहि ज्ञानस्य स्मृतिग्रहणाभ्यामन्यः प्रकारः संभवतीति चेद्, मैवम्; किं विलक्षणसामग्र्यनिरूपणात्तदसंभवः ? किं वा विलक्षणज्ञानस्वरूपानिरूपणाद् उत विलक्षणविषयानिरूपणात् ? नाद्यः, सम्प्रयोगसंस्कारदोषाणां सामग्रीत्वात्। वि० प्र० सं० पृ० १२६।

कारण नहीं। किन्तु वात-पित्त आदि के दोष अपूर्व कार्य ज्वर आदि की उत्पत्ति करते ही हैं। तथा दोष संस्कारों का उद्बोधन करा देने भर से अन्यथासिद्ध नहीं कहे जा सकते क्योंकि वह (संस्कारों को जगाना) तो उनका अवान्तर (गौण) व्यापार है। प्रधान व्यापार तो अनिर्वचनीय वस्तु को उत्पन्न करना ही है। जैसे उठना गिरना रूप व्यापार (क्रिया) से युक्त होती हुई कुल्हाड़ी छेदन (कार्य) के प्रति हेतु होती ही है।[1]

इसके बाद अख्यातिवाद की ओर से ही एक अन्य शङ्का की उद्भावना की है, कि—इन्द्रियसम्प्रयोग तो केवल 'यह' अंश का ज्ञान करवा कर सामर्थ्यहीन हो गया (उसमें भ्रम-रूप नया ज्ञान व उसके ज्ञेय को उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं) फिर संस्कार ही शेष रहा जो रजतस्मृति को ही उत्पन्न कर सकता है, नयी वस्तु व ज्ञान को नहीं। अतः रजत की स्मृति ही माननी पड़ेगी, अन्यथा कैसे रजत उत्पन्न होगा और कैसे उसका प्रत्यक्ष जैसा ज्ञान होगा ?[2] इसके उत्तर में विद्यारण्य ने वेदान्तसम्मत भ्रमप्रक्रिया विस्तार से कही है। तदनुसार (१) पहले दोषयुक्त इन्द्रिय से 'यह' अंश को ही विषय करने वाली अन्तःकरणवृत्ति उदित होती है। (२) उसके बाद 'यह' अंश व उसकी ग्राहक वृत्ति में चैतन्य अभिव्यक्त होता है। (३) इस दशा के चैतन्य में विद्यमान अविद्या दोष (पूरी कारण सामग्री में कहीं भी स्थित दोष) से संक्षुब्ध होती है। (४) 'यह' अंश से अवच्छिन्न चैतन्य में रहने वाली अविद्या क्षुब्ध हो कर सादृश्य से उद्बुद्ध हुए रजतसंस्कार की सहायता से रजत के आकार में विवर्तरूप परिणाम को प्राप्त हो जाती है (विवर्तरूप रजत बन जाती है) और (५) वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य में स्थित अविद्या संस्कार से सहकृत हो कर उस रजत को विषय करने वाली वृत्ति बन जाती है। (६) ये दोनों—रजतविवर्त तथा वृत्तिविवर्त अपने-अपने अधिष्ठान रूप में स्थित एक ही साक्षिचैतन्य द्वारा प्रकाशित होते हैं, इसी से रजत का अवभास होता है।[3]

---

१. न च वाच्यं दोषः प्रतिबन्धकत्वेन पूर्वप्राप्तकार्यानुदयस्यैव हेतुर्न त्वपूर्वकार्योदयस्येति; अनुदयस्य प्रागभावरूपस्यानादित्वेन दोषाजन्यत्वात्। वातपित्तादिदोषाणां चापूर्व-कार्योत्पादकत्वदर्शनात्। न च दोषस्य संस्कारोद्बोधकत्वेनान्यथासिद्धिः, तदुद्बोध-स्यावान्तरव्यापारत्वात्। न ह्युद्यमननिपतने कुर्वन् कुठारः छिदिक्रियां प्रत्यहेतुर्भवति। वही, पृ० १२६-२७।

२. ननु सम्प्रयोगस्येदन्तामात्रज्ञानोपक्षीणत्वात् संस्कारस्य स्मृतिजनकत्वेऽपि त्वयाऽत्र स्मृतेरनङ्गीकृतत्वाद् दोषस्य च स्वातन्त्र्येण ज्ञानहेतुत्वादर्शनाद् रजतावभासः कथम् ? वही, पृ० १२७।

३. प्रथमं दोषसहितेनेन्द्रियेणेदन्तामात्रविषयाऽन्तःकरणवृत्तिर्जन्यते, तत इदन्तायां तद्ग्राहकवृत्तौ च चैतन्यमभिव्यज्यते। तच्चैतन्यनिष्ठा चाविद्या दोषवशात् संक्षुभ्नाति, तत्रेदमंशावच्छिन्नचैतन्यस्थाऽविद्या संक्षुभिता सती सादृश्याद्युद्बोधितरूप्य-संस्कारसहायवशाद् रूप्याकारेण विवर्तते। वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्थाऽविद्या तु रूप्य-ग्राहिवृत्तिसंस्कारसहकृता वृत्तिरूपेण विवर्तते; तौ च रूप्यविवर्तवृत्तिविवर्तौ स्वस्वा-धिष्ठानेन साक्षिचैतन्येनावभास्येते इत्येवं रजतावभासः वही १२७-२८०।

यद्यपि इस प्रक्रिया में अन्तःकरणवृत्ति तथा अविद्यावृत्ति ये पृथक्-पृथक् दो ज्ञान हैं, तथापि उन दोनों के विषय सच्चा 'यह' अंश तथा मिथ्या 'रजत' अंश परस्पर तादात्म्ययुक्त होने से एक ही हो जाते हैं, इसीलिए विषयावच्छिन्न फल (प्रकट होना या दिखना) भी एक ही हो जाने से 'यह रजत है' ऐसे आकार वाले ज्ञान का भी एक होना गौण रूप से कह दिया जाता है।[1]

इस प्रकार भ्रम-सम्बन्धी वेदान्त-सिद्धान्त का परिष्कृत प्रतिपादन करके इस प्रसङ्ग के आरम्भ में उठाई हुई शङ्का का सम्पूर्ण निराकरण करने के लिये कहा गया है कि यद्यपि यहाँ इन्द्रियसम्प्रयोग तथा संस्कार एक-दूसरे की अपेक्षा न रखते हुए ही एक अंश में यथार्थज्ञान तथा दूसरे अंश में स्मरण उत्पन्न करने में समर्थ हैं, तब भी इन दो ज्ञानों के निरन्तर हो जाने भर से रजत चाहने वाले की प्रवृत्ति हो जायेगी (जैसा कि अख्यातिवादी कहते हैं) यह नहीं कहा जा सकता। इसलिये इन्द्रियसम्प्रयोग तथा संस्कार से उत्पन्न होने वाले अनुभव व स्मरण से विलक्षण एक मिथ्याज्ञान की कल्पना करनी ही चाहिये।[2]

इस प्रकार विद्यारण्य द्वारा किये गये विवेचन में भ्रम का वेदान्त-सम्मत स्वरूप परिष्कृत रूप में सामने आया है, इसमें भ्रम को वृत्तिद्वयात्मक (दो वृत्तियों से निष्पन्न) कहा गया, जिसमें अख्यातिवाद का प्रभाव होते हुए भी उसके दोषों का प्रवेश नहीं है।

विद्यारण्य-कृत प्रतिपादन में वृत्ति भी दो हैं—एक अन्तःकरण की, दूसरी प्रमाता में स्थित अविद्या की, तथा विवर्त भी दो हैं—एक विषयावच्छिन्न चैतन्य में स्थित अविद्या का मिथ्या रजताकार विवर्त (अर्थाध्यास), दूसरा प्रमाता चैतन्य में स्थित अविद्या का उक्त रजत को विषय सा करता हुआ वृत्त्याकार विवर्त (ज्ञानाध्यास)। फिर इन दोनों को अपने-अपने स्थान पर ही प्रकाशित करता है दोनों का एक ही अधिष्ठान—साक्षिचैतन्य।

इस प्रक्रिया में कुछ गौरव देख कर नृसिंहाश्रम ने वेदान्ततत्त्वविवेक की स्वोपज्ञ 'दीपन' टीका में कुछ भिन्न प्रकार से भ्रम-प्रक्रिया कही है। तदनुसार—(१) दोष से दूषित नयन आदि के द्वारा शुक्ति से सम्बन्ध होने पर (२) अन्तःकरण की विषयदेश को व्याप्त कर लेने वाली 'यह' आकार वाली ही वृत्ति उत्पन्न होती है, वृत्ति द्वारा व्याप्त भी विषय का शुक्तित्व अंश उक्त दोष के कारण प्रतिबद्ध रहता है, उसका आकार वृत्ति नहीं लेती। अतः 'यह है' इतना ही 'इन्द्रियसंयोग' आदि से उत्पन्न अन्तःकरणवृत्ति का आकार होता है, 'यह शुक्ति है' ऐसा नहीं। इसके बाद (३) 'यह' अंश से अवच्छिन्न चैतन्य अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य के

---

१. यद्यप्यत्रान्तःकरणवृत्तिरविद्यावृत्तिश्चेति ज्ञानद्वयम्, तथापि तद्विषयः सत्यानृतयोरिदंरजतयोरन्योन्यात्मतयैकत्वमापन्नस्ततो विषयावच्छिन्नफलस्याप्येकत्वेन ज्ञानैक्यमप्युपचर्यते।

वही, पृ० १२८।

२. यद्यप्यत्र सम्प्रयोगसंस्कारौ निरपेक्षावेव प्रमितिस्मृत्योर्जनने समर्थौ, तथापि प्रमितिस्मृतिनैरन्तर्योत्पत्तिमात्रेण प्रवृत्त्यसम्भवादुभाभ्यां सम्प्रयोगसंस्काराभ्यां जन्यमेकं मिथ्याज्ञानं कल्पनीयम्।

वही, पृ० १२८–२९।

साथ एक ही उपाधि के सम्वन्ध के कारण अभिन्न सा प्रकाशित होता है[1] (यही प्रत्यक्षज्ञान है यह आगे देखा जायेगा)। (४) यहाँ (अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य में) शुक्तित्वरूप विशेष अंश से अवच्छिन्न चैतन्य का आवारक अज्ञान रहता ही है, क्योंकि उसकी निवृत्ति के प्रतिवन्धक आवरण को हटाने वाली शुक्तित्व आकार वाली वृत्ति उदित नहीं हुई है। यह अज्ञान ही 'यह' अंश से अवच्छिन्न चैतन्य में स्थित अज्ञान, सादृश्यदर्शन से जगे संस्कार, अधिष्ठान के सामान्यज्ञान तथा करणदोष से सहकृत हो कर—रजत के आकार में विवर्तित हो जाता है। (५) यह रजत अपने उत्पन्न होने के समय ही सुख आदि के समान अपने आकार में ढली वृत्ति के विना ही (सुखज्ञान के लिये सुखाकारा वृत्ति की आवश्यकता नहीं होती) साक्षी से सम्वद्ध होता हुआ प्रकाशित होता है, अतः प्रातिभासिक है। पहले से उस रजत के वहाँ होने में कोई प्रमाण नहीं है। वह अपनी प्रतीति के साथ ही उत्पन्न, विनष्ट होता है।[2]

इस प्रकार अध्यस्त रजत अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य में स्थित शुक्तित्व-अंश-विषयक अज्ञान का ही विवर्त है तथा उसके ग्रहण के लिये पृथक् अविद्यावृत्ति की आवश्यकता नहीं। दुःख-सुख आदि के सदृश इस रजत को भी साक्षिचैतन्य ही प्रकाशित करता है। अतः एक ही वृत्ति (अन्तःकरण की) तथा एक ही विवर्त से कार्य-निर्वाह हो जाता है।

आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में भ्रम का विश्लेषण व विवेचन सब से अधिक विस्तार से किया है। अद्वैतसिद्धि के प्रथम खण्ड (सम्पूर्ण ग्रन्थ में दो तृतीयांशों से भी अधिक) का शीर्षक ही है 'प्रपञ्च-मिथ्यात्वनिरूपण'। मिथ्यात्व का सीधा अर्थ होता है अनिर्वचनीयत्व, जिसका निदर्शन है भ्रमस्थल ही। सम्पूर्ण जगत् के उत्पत्ति-स्थिति-लय या नाश की व्याख्या में भ्रम (के ज्ञेय तथा ज्ञान दोनों) को दृष्टान्त बनाना यद्यपि अद्वैतसिद्धान्त की निर्वाहक भित्ति है ही, तव भी उसका सवसे अधिक व व्यापक उपयोग अद्वैतसिद्धि में ही किया गया मिलता है। वहाँ कही गई असंख्य नवीन युक्तियों तथा प्राचीनों की नवीन अभिव्यक्तियों का सार भी यहाँ प्रस्तुत करना दुष्कर है। अतः विशेष रूप से भ्रम को ही लेकर किये गये प्रतिपादन में से ही कुछ अंश यहाँ कहे जा सकते हैं।

---

१. दोषदूषितनयनादिना शुक्तीदमंशादेः सम्बन्धे सति अन्तःकरणस्य विषयदेशव्यापिनीदमाकारा वृत्तिर्जायते, न तु शुक्तित्वाकारा, दोषेण प्रतिबन्धात्। ततश्चेदमंशावच्छिन्नविषयचैतन्यमन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्येन एकोपाधिसम्बन्धादभिन्नं प्रकाशते।
त० वि० दी० पृ० ४७६–७७।

२. तत्र शुक्तित्वादिविशेषावच्छिन्नचैतन्यावारकमज्ञानं तिष्ठत्येव, तन्निवृत्तिप्रतिबन्धकावरणविरोधितदाकारवृत्तेरभावात्। तच्च सादृश्यदर्शनादिसमुद्बुद्धसंस्काराधिष्ठानसामान्यज्ञानकरणदोषसहकृतमिदमंशावच्छिन्नचैतन्यस्थं रजताद्याकारेण विवर्तते। तच्च रजतं स्वोत्पत्तिकाल एव सुखादिवत् स्वाकारवृत्तिमन्तरेणैव साक्षिसम्बद्धं सत् प्रकाशत इति प्रातिभासिकम्, पूर्वं तत्सत्त्वे प्रमाणाभावात्।
त० वि० दी० पृ० ४७७।

अख्यातिमत से सर्वथा अस्पृष्ट होने के लिये भ्रम की व्याख्या में वेदान्ती विचारकों ने और एक कदम आगे बढ़कर यह माना है कि 'यह रजत है' यह पूरा भ्रम का ही आकार है, दो पृथक्-पृथक् यथार्थ व अयथार्थ ज्ञानों का सम्मिश्रित योग नहीं। अतः उक्त भ्रमज्ञान का 'यह' अंश भी अध्यस्त या अनिर्वचनीय (-अविद्याविवर्त) ही है। यह धारणा मधुसूदन से पहले ही दृढ़ हो चुकी है क्योंकि अद्वैतसिद्धि में उसका पहले से सिद्ध रूप में ही उल्लेख है, और उसके आधार पर शङ्का-प्रतिशङ्का उठाई गई है।

आचार्य मधुसूदन ने भ्रम को वृत्तिद्वयात्मक ही सिद्ध किया है। तदनुसार अधिष्ठान अंश में अन्तःकरणवृत्ति है, अध्यस्त अंश में अविद्यावृत्ति। दोनों वृत्तियों में तादात्म्य होने से तथा दोनों का एक ही साक्षिचैतन्य द्वारा भान होने से एक ही भ्रमज्ञान फलित होता है, अथवा भ्रम का एक ही आकार रहता है उसमें यथार्थ व अयथार्थ का सम्भेद प्रतीत नहीं होता। और प्रतीति का एक होना सिद्ध होने से अख्याति मत में प्रवेश नहीं होता।[1]

यह शङ्का उठाई है कि उक्त एक प्रतीति में 'यह' अंश को भी अध्यस्त ही मानना होगा क्योंकि वह भ्रमप्रतीति का ही अंश है। तब इस 'यह' के भी दो अंश होंगे (अधिष्ठान व अध्यस्त) अतः 'यह रजत है' में तीन अंश कहने होंगे। फिर स्वप्न में 'यह रजत है' ऐसे भ्रम में चार अंश मानने होंगे (क्योंकि वहाँ देखने वाला भी अध्यस्त ही है)। इसके उत्तर में कहा है कि 'यह' के अध्यस्त होने पर भी उसमें दो अंश नहीं हैं, क्योंकि उसका अधिष्ठान स्वयमप्रकाश है। दो अंश वहीं होते हैं जहां अधिष्ठान के प्रकाश में अन्तःकरणवृत्ति की अपेक्षा हो। इसलिये 'यह रजत है' में तीन अंश नहीं। तथा स्वप्न में चार अंश नहीं क्योंकि वहां 'यह' तथा 'रजत' अध्यसनीय ही हैं और उन का अधिष्ठान है अविद्यावच्छिन्न चैतन्य, जो स्वप्रकाश है। भ्रम या अध्यास मात्र में (सभी भ्रमों में) दो वृत्ति वाला होना नियत नहीं, किन्तु जिस भ्रम के अधिष्ठान के प्रकाशित होने में अन्तःकरणवृत्ति की अपेक्षा हो वहीं भ्रम वृत्तिद्वयात्मक होता है। इसीलिये 'यह रजत नहीं है' ऐसे ज्ञान में तीन वृत्तियां होंगी और स्वाप्नभ्रम में चार वृत्तियां होंगी यह शङ्का नहीं की जा सकती, क्योंकि वहां 'इदं' तथा रजत दोनों ही अध्यसनीय हैं, और उन का अधिष्ठान है अविद्यावच्छिन्न चैतन्य, जो स्वप्रकाश है।[2] यहां शङ्का उठती है कि यह रजत का ज्ञान चक्षु से निकली अन्तःकरण-वृत्ति नहीं है, अविद्या-वृत्ति ही है जो चक्षुजन्य नहीं है, तो मैं 'रजत देख रहा हूँ' ऐसी रजत के चाक्षुष होने की प्रतीति का विरोध होगा। इस का उत्तर देते हुए कहा गया है कि वह रजत चाक्षुष ही इदंवृत्ति

---

१. अधिष्ठानांशे अन्तःकरणवृत्तिः, अध्यस्तांशे चाविद्यावृत्तिः। तस्यां च तादात्म्यस्य भानात् नाख्यातिमतप्रवेशः। अ० सि० पृ० ६५२।

२. ननु एवमिदमंशस्याप्यध्यस्तत्वेन इदमिति द्व्यात्मकम्, इदं रूप्यमिति च त्र्यात्मकम्, स्वप्ने इदं रूप्यमिति ज्ञानं चतुरात्मकं च स्यादिति चेन्न; इदन्त्वस्याध्यस्तत्वेऽपि नेदमिति द्वयात्मकम्, इदन्त्वाद्यधिष्ठानस्य स्वप्रकाशत्वात्। नहि वयं सर्वत्राध्यासे द्वयात्मकतां ब्रूमः। अपि त्वन्तःकरणवृत्तिसव्यपेक्षाधिष्ठानप्रकाशे।

अ० सि० पृ० ६५२।

से अवच्छिन्न चैतन्य में स्थित अविद्या का परिणाम है, इसीलिये उपचार से वह चाक्षुष ही कहा जाता है।[1]

अज्ञान का रूप्याकार ज्ञान-रूप से परिणाम होने पर 'यह रजत है' ऐसी प्रतीति की ज्ञानगत आकार द्वारा ही उपपत्ति हो सकती है, अथवा भावी या अतीत (जो उपस्थित नहीं है) विषय वाले ज्ञान की भांति उपपत्ति सम्भव है, अतः अविद्या का रजत-रूप में भी परिणाम मानना ठीक नहीं। अर्थात् जब अविद्या का केवल ज्ञानाकार परिणाम या प्रतिभास (ज्ञानाध्यास) होने से कार्य चल सकता है तो रजत रूप अर्थात्मक अविद्यापरिणाम क्यों माना जाय ?[2] ऐसी एक मौलिक व महत्त्वपूर्ण शङ्का उठा कर आचार्य मधुसूदन ने अद्वैतवेदान्त को विज्ञानवाद से पृथक् करने वाला तथा वेदान्त में ब्रह्म से इतर सभी कुछ को ब्रह्म का विवर्त मानने के सिद्धान्त का उपपादक उत्तर दिया है, कि—ज्ञानाकार से ही भ्रम की सविषयकता की सम्भावना मान लेने पर बौद्धसाकारवाद तथा उस में देखे गये सभी दोष प्रसक्त होंगे। और अतीत या भावी वस्तुओं का भी ज्ञान होता ही है, अतः विषय की उपस्थिति के विना ज्ञान सम्भव नहीं ऐसा नियम नहीं है। अतः भ्रमस्थल पर भी किसी न किसी प्रकार से वर्तमान (सत्) ही वस्तु की प्रतीति होती है यह नहीं कहा जा सकता।—यह ठीक नहीं, क्योंकि यहां 'यह रजत है' 'मैं रजत देखता हूं' ऐसी प्रत्यक्ष के समान प्रतीति होती है, जो अतीत-विषयक ज्ञान में नहीं होती।[3]

पुनः शङ्का उठाई है कि भ्रमस्थल पर दो वृत्तियां मानने से अनुभव का विरोध होता है, क्योंकि अनुभव तो 'यह रजत है'—ऐसा एक ही ज्ञान होने का है; यदि कहें कि अभेद या तादात्म्य का अध्यास होने के कारण दोनों विषयों के एकतापन्न होने से दोनों ज्ञानों में भी ऐक्य का उपचार होता है—तो इस कथन से एकत्वप्रतिपादक शब्दप्रयोग ('इदं' व 'रजतं' में ऐक्यसूचक समान विभक्ति) का समर्थन हो जाने पर भी अनुभव के विरोध का परिहार नहीं होता। इस के उत्तर में कहा है कि ज्ञानों में ऐक्य के उपचार का अर्थ है उन में भी अभेद का अध्यास होना। इस पर यह आशङ्का होती है कि—विषय का एक होना उस के ज्ञानों में ऐक्याध्यास का निमित्त हो, यह कहीं देखा नहीं जाता, तथा धारावाहिक ज्ञानों में भी अति-व्याप्ति की सम्भावना है—इस पर आचार्य मधुसूदन ने नवीन युक्ति दी है कि 'इदं रजतम्' यह विलक्षण ही नया ज्ञान है, ऐसी कल्पना करने में भी कोई दोष नहीं है। अर्थात् जैसे वहां

---

१. न च रूप्यज्ञानस्याचाक्षुषत्वे रूप्यं पश्यामीति चाक्षुषत्वानुभवविरोधः, चाक्षुषेदं-वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्थाविद्यापरिणामत्वेन चाक्षुषत्वोपचारात्। वहीं।

२. अज्ञानस्य रूप्याकारज्ञानात्मना परिणामे रूप्यमिति प्रतीतेर्ज्ञानगताकारेणैवोपपत्तौ अतीतविषयकज्ञानन्यायेन वोपपत्तौ रूप्यरूपाविद्यापरिणामकल्पना न युक्ता। वहीं।

३. न; ज्ञानाकारेणैव सविषयकत्वे साकारवादप्रसङ्गात्। अतीतविषयवदुपपादनेऽपि अपरोक्षत्वानुपपत्तिः।

अ० सि० पृ० ६५३।

विलक्षण, नवीन रजत की उत्पत्ति स्वीकृत है, वैसे ही 'यह रजत है' इस ज्ञान को भी विवर्त्त हो मान लिया जा सकता है।[1]

अथवा जैसे इदमंशावच्छिन्न चैतन्यगत अविद्या का परिणाम रूप होने के नाते रजत का 'इदं' रूप से भान होता है, वैसे ही इदमाकारा अन्तःकरणवृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य में स्थिता अविद्या का परिणामरूप होने से रूप्यज्ञान का भी इदंज्ञान रूप से भान होता है। तव तो जैसे बाधक के कारण विषयों में भेदज्ञान होता है, वैसे ही ज्ञानों में भी भेदज्ञान प्रसक्त होगा—यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विषयों के भेद के ग्रहण की सामग्री ज्ञानों के भेद के ग्रहण की सामग्री से भिन्न है।[2]

इसी प्रसङ्ग में मधुसूदन ने अन्य एक मत का उल्लेख किया है कि भ्रम के समय जैसे विषयों के ऐक्य का ग्रहण नियत है वैसे ज्ञानों के ऐक्य का ग्रहण होना नियत नहीं, क्योंकि उस के विना भी प्रवृत्ति (भ्रम में दिखती हुई चांदी के प्रति भ्रान्त व्यक्ति का बढ़ना) उपपन्न ही है। इसी प्रकार बाध के समय उन के अनैक्य के ग्रहण का नियम नहीं है।[3]

२. स्मृति

पहले अनुभूत वस्तु के, चित्त में स्थित संस्कार का, उस वस्तु के सदृश कुछ का अनुभव होने पर या अदृष्ट के कारण उद्‌बोध होने पर, उक्त संस्कार को ही निमित्त बना कर उत्पन्न होने वाली अन्तःकरण के चित्त-पक्ष की वृत्ति को स्मृति कहा जाता है। केवल संस्कार से ही उत्पन्न होना स्मृति का लक्षण है जो न्याय व पूर्वोत्तर मीमांसा में समान रूप से स्वीकृत है। योग-दर्शन में इस संस्कार-मात्र-जन्यता को ही 'अनुभूतविषय से अन्य का असम्प्रमोष' (न

---

१. ननु एवं वृत्तिभेदे ज्ञानैक्यानुभवविरोधः। न चाध्यस्तेनाभेदेन विषययोरेकतापन्नत्वात् ज्ञानयोरैक्यमुपचर्यत इति वाच्यम्······ विषययोरभेदाध्यासे ज्ञानयोरप्यभेदाध्यास इत्यस्य उपचारशब्दार्थत्वेनानुभवविरोधाभावात्······ पूर्वोक्तयुक्त्या ज्ञानभेदे सिद्धेऽपूर्वकल्पनायामपि दोषाभावात्। वहीं।

२. यद्वा-यथेदमंशावच्छिन्नचैतन्यगताविद्यापरिणामत्वात् रूप्यमिदन्त्वेन भाति, तथेदमाकारान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यगताविद्यापरिणामत्वेन रूप्यज्ञानमिदंज्ञानत्वेन भाति। न च तर्हि बाधकाद्विषययोरिव ज्ञानयोरपि भेदधीप्रसङ्गः, विषयभेदग्रहज्ञानभेदग्रहयोर्भिन्नसामग्रीकत्वेनापादनस्याशक्यत्वात्। वहीं।

३. केचित्तु—भ्रमकाले विषयैक्यग्रहनियमवत् न ज्ञानैक्यग्रहनियमः; तं विनापि प्रवृत्त्यादुपपत्तेः, तथाच बाधकाले न तदनैक्यग्रहनियमोऽपीति—आहुः। वहीं।

चुराया जाना) कहा गया है।[1] अन्य सभी प्रमाणवृत्तियां पहले न जाने हुए विषय का ही सामान्य रूप से या सामान्य व विशेष दोनों रूप से ज्ञान कराती हैं, किन्तु स्मृति-वृत्ति पहले अनुभव किये हुए ही विषय को उस की अनुपस्थिति के समय मानस रूप से पुनः प्रस्तुत करके तदाकारा हो कर अपने में प्रतिविम्वित चैतन्य द्वारा उस विषय का पुनः ज्ञान कराती है। इस वृत्ति का करण होता है केवल संस्कार,[2] तथा संस्कार के भी उत्थापक होते हैं सदृशदर्शन, चिन्तन, अदृष्ट आदि सहकारी कारण। इन्हें स्वीकार करना अनिवार्य है, नहीं तो संस्कारों के सर्वदा ही चित्त में वर्त्तमान रहने से सर्वदा स्मृति होना प्रसक्त होगा।

संस्कार के उद्वोधक निमित्त (स्मृति के सहकारी कारण) अक्षपाद द्वारा सबसे अधिक संख्या में एकत्र गिनाये गये हैं—(१) प्रणिधान (२) निवन्ध (३) अभ्यास (४) लिङ्ग (५) लक्षण (६) सादृश्यपरिग्रह (७) आश्रयाश्रितसम्वन्ध (८) आनन्तर्य (९) वियोग (१०) एककार्य (११) विरोध (१२) अतिशयप्राप्ति (१३) व्यवधान (१४) सुख (१५) दुःख (१६) इच्छा (१७) द्वेष (१८) भय (१९) अर्थित्व (२०) क्रिया (२१) राग (२२) धर्माधर्म-अदृष्ट।[3]

यह स्मृति-वृत्ति जैन दर्शन से इतर सभी दर्शनों में प्रमाणवृत्तियों के अन्तर्गत नहीं गिनी गई, न ही इसे अप्रमाणवृत्ति माना गया, दोनों से पृथक् ही ज्ञान के रूप में चर्चित हुई है। स्मृति के अधिकतर यथार्थज्ञान की ही उत्पादिका होने पर तथा प्रमाण-लक्षण में विषय के अनधिगतत्व की अनिवार्य व्यपेक्षा न होने पर भी क्यों स्मरणात्मक ज्ञान में प्रमाण शब्द का प्रयोग नहीं किया गया, इसका वीज धर्मशास्त्र के इतिहास में है। वैदिक परम्परा में धर्मशास्त्ररूप से श्रुति का ही मुख्य प्रामाण्य माना जाता है। मनु आदि स्मृतियां श्रुतिमूलक होने के नाते ही प्रमाण मानी गई हैं, अर्थात् उनका स्वतन्त्र प्रामाण्य नहीं है।[4] धर्मशास्त्र के प्रामाण्य की इस व्यवस्था का विचार मीमांसादर्शन में वहुत पुराने समय से होता रहा है। सम्भवतः स्मृतिरूप धर्मशास्त्र की प्रामाण्य-व्यवस्था का ही प्रभाव स्मृतिरूप ज्ञान के प्रामाण्य पर भी पड़ा, इसी से एक साधारण नियम वना दिया गया कि स्मृतिज्ञान स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है, उसका प्रामाण्य उसके कारणभूत अनुभव के प्रामाण्य पर निर्भर है, अतः स्मृति मुख्य प्रमाण नहीं पूर्वविज्ञानविषयक ही ज्ञान स्मृति है।[5]

---

१. अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः। यो० सू० १।११ ॥

२. स्मृतिश्च संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानम् अभिधीयते। शा० दी०, पृ० १२४।

३. प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसम्वन्धानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्वक्रियारागधर्माधर्मनिमित्तेभ्यः। न्या० सू० ३।२।४३ ॥

४. पारतन्त्र्यात् स्वतो नैषां प्रमाणत्वावधारणा।
अप्रामाण्यविकल्पस्तु द्रढिम्नैव विहन्यते ॥ तं० वा० पृ० ६९।

५. पूर्वविज्ञानविषयं विज्ञानं स्मृतिरुच्यते।
पूर्वज्ञानाद्विना तस्याः प्रामाण्यं नावधार्यते ॥ वहीं तं० वा० पृ० ६९।

वेदजीवी मीमांसादर्शन के इस निर्णय का ही प्रभाव सम्भवतः सभी अन्य वैदिक दर्शनों पर पड़ा, इसीलिए वे अपने मन्तव्य की पुष्टि में युक्तियाँ भिन्न-भिन्न देते हुए भी, एक मत से स्मृतिरूप ज्ञान में प्रमाण शब्द का व्यवहार न करने के पक्ष में हैं।

योगदर्शन में वाचस्पति का तत्त्ववैशारदी में कथन है कि सभी प्रमाणवृत्तियाँ अनधिगत हो अर्थ का सामान्य व विशेषरूप से ज्ञान कराती हैं, स्मृति पूर्वानुभव की सीमा का अतिक्रमण नहीं करती, पहले ज्ञात वस्तु को ही, अथवा उससे भी कम अंश को ही विषय करती है, उससे अधिक को नहीं, इसीलिये सूत्रकार ने उसका प्रमाणवृत्ति से पृथक् निर्देश किया है।[1]

भाट्टमीमांसक कहते हैं कि स्मृतिज्ञान पहले अनुभव द्वारा ज्ञात विषय को ही उपस्थित करके कृतकृत्य हो जाता है, किसी अपूर्व अर्थ का प्रकाशक नहीं, केवल गृहीत-ग्राही है इसी से वह प्रमाण नहीं।[2]

अक्षपाद के अनुगामी जयन्त भट्ट ने न्यायमञ्जरी में नई युक्ति दी है कि स्मृतिज्ञान विषयरूप अर्थ से उत्पन्न नहीं होता, अर्थ से भिन्न वस्तु (संस्कार)—अनर्थ—से उत्पन्न होता होता है, अतः अनर्थज होने से वह प्रमाण नहीं।[3]

इस युक्ति का खण्डन श्रीधर ने कन्दली में यह कह कर किया है कि ऐसा अनर्थ होना तो अतीत-अनागत-विषयक अनुमान में भी होता है, तो वह भी प्रमाण न कहला सकेगा।[4]

वाचस्पतिमिश्र ने न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में और एक युक्ति दी है, कि लोकव्यवहार स्मृति को प्रमाण मानने के पक्ष में नहीं है, अतएव उसे प्रमाण नहीं कहा जा सकता।[5] न्यायकुसुमाञ्जलि में उदयनाचार्य ने भी स्मृति को प्रमाण न मानने के पक्ष की पूर्ववर्ती सभी युक्तियों का निरास कर के, वाचस्पति का अनुसरण करते हुए यही कहा है, कि अन्यानपेक्ष

---

१. 'एतदुक्तं भवति-सर्वे प्रमाणादयोऽनधिगतमर्थं सामान्यतः प्रकारतो वाऽधिगमयन्ति, स्मृतिः पुनर्न पूर्वानुभवमर्यादामतिक्रामति, तद्विषया तदूनविषया वा, न तु तदधिकविषया, सोऽयं वृत्त्यन्तराद्विशेषः स्मृतेरिति विमृशति।'

त० वै० १।११।

२. तत्र यत् पूर्वविज्ञानं तस्य प्रामाण्यमिष्यते।
तदुपस्थानमात्रेण स्मृतेः स्याच्चरितार्थता॥ मी०श्लो०वा०अनु०श्लो० १५८।

३. न स्मृतेरप्रमाणत्वं गृहीतग्राहिताकृतम्।
अपित्वनर्थजन्यत्वं तदप्रामाण्यकारणम्॥

न्या० मं० पृ० २१।

४. ये त्वनर्थजत्वात् स्मृतेरप्रामाण्यमाहुः तेषामतीतानागतविषयस्य अनुमानस्य अप्रामाण्यं स्यादिति दूषणम्।

कन्द० पृ० २५७।

५. प्रमासाधनं हि प्रमाणं, न च स्मृतिः प्रमा लोकाधीनावधारणो हि शब्दार्थसम्बन्धः। लोकश्च संस्कारमात्रजन्मनः स्मृतेरन्यामुपलब्धिमर्थाव्यभिचारिणीं प्रमामाचष्टे, तद्धेतुः प्रमाणमिति न स्मृतिहेतौ प्रसङ्गः।

न्या० वा० ता० १।१।१।१ पृ० २१।

होने के कारण अनुभव ही प्रमाणकोटि में गणनीय है, स्मृति नहीं, क्योंकि वह अनुभवसाक्षेप है, और ऐसा मानने का कारण लोकव्यवहार ही है।[1]

जैनदर्शन में स्याद्वादरत्नाकर में उपर्युक्त सभी युक्तियों (गृहीतग्राहिता, अनर्थजत्व, लोकव्यवहार न होना) का निरास करके कहा गया है कि जैसे संवादी होने के कारण प्रत्यक्ष आदि प्रमाण कहे जाते हैं, वैसे ही स्मृति को भी यथार्थ व संवादी होने के नाते प्रमाण ही मानना चाहिये।[2]

स्मृतिज्ञान का अविसंवादित्व तो किसी को भी अमान्य नहीं, मतभेद केवल उसे प्रमाण कहने न कहने में है। और प्रमाण न कहने वा मानने के हेतु सिद्धान्ततः विशेष बलशाली नहीं हैं, इसीलिये उत्तरकालीन वेदान्ती भी स्मृति को प्रमाण-कोटि में ले ही आये हैं, भले ही परम्परा के अनुरोध से प्रमाणों के अन्तर्गत स्मृति की गणना न को हो। इसीलिये धर्मराजाध्वरीन्द्र ने 'प्रमा' का लक्षण करते समय 'स्मृतिसाधारण' व 'स्मृतिव्यावृत्त' ऐसे दो लक्षण कहे हैं।[3]

३. प्रत्यभिज्ञा

किसी पूर्वदृष्ट विषय के पुनः दर्शन के समय जब उस वस्तु का 'यह वही है' ऐसा ज्ञान होता है, उसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। इस का विश्लेषण करने पर सहज ही जाना जाता है कि इस ज्ञान के जनक दो ज्ञान हैं, अथवा इस ज्ञान में ही दो अंश हैं—स्मृति व प्रत्यक्ष, तथा उनके करण-भूत संस्कार व इन्द्रियादि मिलित रूप से इस के करण हैं। यह प्रत्यभिज्ञारूप

---

१. कथं तर्हि स्मृतेर्व्यच्छेदः ? अनुभवत्वेनैव। यथार्थे ह्यनुभवः प्रमेति प्रामाणिकाः पश्यन्ति। 'तत्त्वज्ञानाद्' इति सूत्रणात्। अव्यभिचारि ज्ञानमिति च। ननु स्मृतिः प्रमैव किं न स्याद् यथार्थज्ञानत्वात् प्रत्यक्षाद्यनुभूतिवदिति चेद् न, सिद्धे व्यवहारे निमित्तानुसरणात्। न च स्वेच्छाकल्पितेन निमित्तेन लोकव्यवहारनियमनम्, अव्यवस्थया लोकव्यवहारविप्लवप्रसङ्गात्। न च स्मृतिहेतौ प्रमाणाभियुक्तानां महर्षीणां प्रमाणव्यवहारोऽस्ति पृथगनुपदेशात्। न्या० कु० ४।१।

२. तथाहि-अमुष्या अप्रामाण्यं कुतोऽयमाविष्कुर्वीत, किं गृहीतार्थग्राहित्वात् परिच्छित्तिविशेषाभावात् असत्यातीतेऽर्थे प्रवर्तमानत्वात्, अर्थादनुत्पद्यमानत्वात्, विसंवादकत्वात्, समारोपान्यावच्छेदकत्वात्। प्रयोजनाप्रसाधकत्वाद् वा'....।' स्या० वा० र० ३।४।

३. स्मृतिसाधारणं तु अबाधितार्थविषयकज्ञानत्वम्। वे० प० १, पृ० १९।

बोध उन दोनों की कोटि में नहीं रखा जा सकता क्योंकि दोनों के अभिगम्य से अधिक व्याप्ति वाला है, तथा इसे समूहालम्बनज्ञान भी मानना उचित नहीं क्योंकि इस का फल ऐक्यबोध में पर्यवसित होता है, जो समूह-ज्ञान में नहीं होता। प्रत्यभिज्ञा वृत्ति का फल या अभिगम्य ऐक्य-बोध ही है, जो लोक में 'यह वही श्याम है (जिसे मैं ने अमुक समय अमुक स्थल पर देखा था') तथा वेद के 'सोऽहम्' प्रत्यय में देखा जाता है।

बौद्धदर्शन में प्रत्यभिज्ञा नामक कोई एक ज्ञान नहीं माना गया है क्योंकि वह उन के ही सिद्धान्त (तत्त्व की क्षणिकता) का व्याघातक है, स्थिरत्वप्रतीति का जनक है; अतः बौद्ध कहते हैं कि स्मरण व प्रत्यक्ष ये पृथक्-पृथक् दो ज्ञान ही निरन्तर घटित होने की दशा में प्रत्यभिज्ञा नाम से कहे जाते हैं। उसमें से तत् अंश प्रतीत होने से परोक्ष है अतः स्मरण-ग्राह्य ही है, प्रत्यक्षग्राह्य नहीं हो सकता, इदं अंश निश्चित प्रत्यक्षग्राह्य है। अतः विषयगत परोक्षत्व व अपरोक्षत्व के आधार पर प्रत्यभिज्ञा दो ज्ञानों का समुच्चय ही है, पृथक् कोई नया ज्ञान नहीं।[1]

इसके विरुद्ध न्याय व मीमांसा आदि वैदिक दर्शन प्रत्यभिज्ञा को प्रत्यक्षरूप एक ज्ञान मानते हैं, दो ज्ञानों का समुच्चय नहीं। प्रत्यक्ष में जो वर्तमान-मात्र-विषयकता का नियम है, वह सामान्य नियम है, सामग्री विशेष हो तो उसका अपवाद भी अपसिद्धान्त नहीं। वाचस्पति-मिश्र ने न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में प्रत्यभिज्ञा के प्रत्यक्ष होने का उपपादन करते हुए कहा है कि संस्कार या स्मरणरूप सहकारी के बल से वर्तमान-मात्रग्राही भी इन्द्रिय अतीतावस्था से विशिष्ट वर्तमान को ग्रहण करने में समर्थ है, अतः वैसे इन्द्रिय से प्रत्यभिज्ञारूप प्रत्यक्षज्ञान सम्भव है।[2]

जयन्तभट्ट ने इस विषय में एक नयी युक्ति दिखाई है कि स्मरण-सहकृत इन्द्रिय से उत्पन्न प्रत्यक्ष के बाद उससे भिन्न एक मानसज्ञान होता है, वही प्रत्यभिज्ञा है।[3]

मीमांसक प्रत्यभिज्ञा को प्रत्यक्ष का ही प्रकार-विशेष मानते हैं, जो पूर्वानुभव से जनित संस्कार से सहकृत इन्द्रिय से जन्य है। पार्थसारथि ने शास्त्रदीपिका में प्रत्यक्षप्रकरण में प्रसङ्गतः प्रत्यभिज्ञा का जो प्रतिपादन किया है[4] तदनुसार इस ज्ञान की प्रक्रिया यह है—

---

१. तस्माद् वै एते ज्ञाने स इति स्मरणम्, अयमित्यनुभवः। न्या० मं० पृ० ४४९।

२. मा भूदर्थस्य पूर्वकालवर्त्तितेन्द्रियगोचरा। तथापि स्मरणसहकारिणा संस्कार-सहकारिणा वेन्द्रियेण यज्जनितं ज्ञानं तेन तद्विषयीक्रियत एव। न च यत्स्मरण-सहकारिणेन्द्रियार्थसन्निकर्षेणोपजनितमिन्द्रियार्थसन्निकर्षेणोत्पन्नं न भवति। तथा च नाव्यापकमस्य लक्षणम्। न्या० वा० ता० पृ० १३९।

३. एवं पूर्वविज्ञानविशेषितस्य स्तम्भादेर्विशेषणम् अतीतक्षणविषय इति मानसं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा। न्या० मं० पृ० ४६१।

४. तदेवेदमिति न जातिविकल्पो व्यक्तिप्रत्यभिज्ञा'' 'आगमापायिषु रूपादिषु यदनुया-यिप्रत्यभिज्ञा ज्ञायते तद् द्रव्यम्, प्रत्यभिज्ञा च यथा बदरफलं श्यामावस्थायां रक्तावस्थायाम्''''''। शा० दी० पृ० ११५–११७।

(१) इन्द्रिय द्वारा सम्मुख स्थित विषय का ग्रहण ।
(२) सादृश्यबोध से संस्कारोद्बोध होने पर, उस विषय के पूर्वानुभूत रूप का स्मरण ।
(३) उस स्मर्यमाण रूप से अनुभूयमान रूप में भेद नहीं है—ऐसा आकलन ।
(४) भेदाभाव अर्थात् अभेद या एकत्व-विशिष्ट रूप से उस विषय के वर्तमान रूप का ग्रहण ।

प्रत्यभिज्ञा-सम्बन्धी उपर्युक्त प्रतिपादनों में से बौद्धमत-खण्डन तो सर्वथा अपरिच्छिन्न सत्यतावादी वेदान्त के सर्वथा अनुकूल है। मीमांसक मत भी **'व्यवहारे भाट्टनयः'** स्वीकृति के अनुसार वेदान्त में आपाततः मान्य ही है, किन्तु वास्तव में वेदान्त-सिद्धान्त की प्रकृति के अनुकूल नहीं, जयन्तभट्ट का मत अपेक्षाकृत अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है। क्योंकि उपर्युक्त मीमांसक प्रक्रिया में यही देखने में आता है कि पूर्वानुभूत का संस्कारोद्बोध द्वारा स्मरण तथा वर्तमान का इन्द्रियादि द्वारा ग्रहण होने में भले ही दोनों दशाओं के विशेष अंशों में विषयता आ रही है, तब भी उसे सहकारी स्थान पर रखते हुए प्रत्यभिज्ञावृत्ति का लक्ष्य है एकत्व पर ही, अतः सारी प्रक्रिया पर्यवसित हो रही है ऐक्यबोध में, यह विशेषांशों की अवहेलना-पूर्वक विषय के ऐक्य का ग्रहण एवं तत्प्रयुक्त ऐक्यबोध प्रत्यक्ष आदि अन्य किसी प्रमाण का साक्षात् फल नहीं। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी विकल्पांश का अग्रहण है, गृह्यमाण की अवहेलना नहीं, अतः प्रत्यभिज्ञा उससे विलक्षण सिद्ध होती है।

मीमांसक प्रत्यभिज्ञा को प्रकृति की ओर से ग्रहणस्मरणात्मक एवं फल की ओर से एकत्वविशिष्ट ज्ञान मानते हुए—सविकल्पक प्रत्यक्ष की ही कोटि में ले आते हैं। किन्तु वेदान्त के अन्तिम अभिलक्ष्य की ओर देखते हुए प्रत्यभिज्ञा को एकत्वविशिष्ट ज्ञान मानना उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि, तब 'तत्त्वमसि' वाक्य से जन्य शाब्दबोध की फलरूपा 'सोऽहम्' व 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसी विभिन्न विशेषणों से उपलक्षित आत्मस्वरूप के ऐक्य की अपरोक्षानुभूति या ऐक्य-प्रत्यभिज्ञा भी अखण्डाकारा न हो पायेगी, उसे विशेषण-विशेष्यभाव रूप संसर्ग वा विकल्प को ही ग्राहिका मानना होगा।

अतः प्रत्यभिज्ञा को पृथक् प्रकार की वृत्ति मानना ही उचित है।

—:०:—

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै विवादसंवादभुवो भवन्ति।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने॥
यथा शयानः पुरुषः आत्मानं गुणतत्त्वदृक्।
नाममात्रेन्द्रियाभातं न वेद रहितं परम्॥
एवं त्वां नाममात्रेषु विषयेष्विन्द्रियेहया।
मायया विभ्रमच्चित्तो न वेद स्मृत्युपप्लवात्॥
तं नः समादिशोपायं येन ते चरणाब्जयोः।
स्मृतिर्यथा न विरमेदपि संसरतामिह॥

ॐ

एकादश परिच्छेद

विभिन्न प्रमा व प्रमाण

१. प्रत्यक्ष-प्रमा व प्रमाण

(क) प्रत्यक्षत्व (सामान्य)

प्रमा सामान्य का स्वरूप देखा गया—वृत्तिविशिष्ट चैतन्य या वृत्ति द्वारा अभिव्यक्त विषयज्ञानात्मक चैतन्य। ऐसे ही प्रमाण-सामान्य का स्वरूप देखा गया—चैतन्य की अभिव्यञ्जिका विषयाकारा वृत्ति। यह प्रमा व प्रमाण विशेष रूपों में ६ प्रकार के (वेदान्त सिद्धान्त में) माने गये हैं। यह भी वृत्ति-भेद-सारणी में देखा जा चुका है। उनमें प्रथम हैं प्रत्यक्ष-प्रमा व प्रत्यक्ष प्रमाण।

प्रमादि को सामान्य से विशेष रूप देने वाला यह प्रत्यक्षत्व क्या है? तथा प्रमा व प्रमाण में प्रत्यक्षत्व-प्रकारक व्यवहार का निमित्त क्या है? यह अब विचारणीय है।

इन प्रश्नों पर प्राचीन आचार्यों द्वारा दो प्रकार से विचार किया गया है—(१) ज्ञान (प्रमा) के विषय को ज्ञान के स्वरूप-भेद का नियामक या ज्ञान में विशेषता लानेवाला मानते हुए; (२) ज्ञान के उत्पादक करण को ही ज्ञान के स्वरूपभेद का नियामक या ज्ञान में विशेषता लाने वाला मानते हुए।

ये दो दृष्टियाँ क्यों बनीं, इसका रहस्य यही जान पड़ता है कि वेदान्त में प्रत्यक्ष पद चैतन्य अर्थ में रूढ़ है। इसका भी कारण कहा जा सकता है न्याय में चर्चित प्रत्यक्ष-लक्षण के निष्कृष्ट रूप—'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्'[1] (जिस ज्ञान के उत्पन्न होने में कोई दूसरा ज्ञान करण न बना हो) में निहित धारणा (अन्य ज्ञान के अधीन न होना, स्वतन्त्र ज्ञान होना) की पराकाष्ठा-रूप स्वयंप्रकाशत्व की धारणा को। 'अपनी उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति के लिये किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा न रखना'[2], किसी का ज्ञेय या प्रकाश्य न होते हुए अप-

---

१. सि० मु० पृ० २०७।

२. अपरोक्षव्यवहृतेर्योग्यस्य धीपदस्य नः।
सम्भवे स्वप्रकाशस्य लक्षणासम्भवः कुतः॥ त० प्र० १।१॥

रोक्ष व्यवहार के योग्य होना'[१] स्वयंप्रकाशत्व है—ऐसा चित्सुखाचार्य ने तत्त्वप्रदीपिका में तथा मधुसूदनसरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में निरूपित किया है। 'स्वयंप्रकाशत्व ही चित्त्व है'[२] ऐसा चैतन्य का निरूपण भामतीकार ने किया है। और 'यत्साक्षात्......' श्रुति में स्वयं-प्रकाश चित्तत्त्व को प्रत्यक्षपदार्थ कहा गया है।[३]

प्रत्येक ज्ञान (जन्य हो या नित्य) स्वयंप्रकाश होने के नाते प्रत्यक्ष है। क्योंकि किसी भी ज्ञान का दूसरे ज्ञात द्वारा गृहीत हो कर ज्ञान होना (न्याय मत का अनुव्यवसाय रूप ज्ञान) वेदान्त में स्वीकृत नहीं, क्योंकि वह अनवस्था-प्रवण है। अतः 'ज्ञान' होना (ज्ञानत्व या चित्-त्व) ही ज्ञान के 'प्रत्यक्ष' कहलाने का निमित्त है।[४] यह ज्ञानत्व क्योंकि सभी ज्ञानों में है, अतः 'ज्ञान' रूप से या 'ज्ञान'-अंश (स्वांश) में सभी ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। अवश्य ही उद्देश्य यहाँ वृत्तिज्ञान या जन्यज्ञान ही हैं। किन्तु ज्ञान के 'जनक' तथा 'विषय' अंश क्योंकि विविध हुआ करते हैं, अतः उन्हीं को ज्ञान के 'विशेष' का नियामक माना जा सकता है। अर्थात् स्वतः प्रत्यक्षात्मक होते हुए जिस ज्ञान का विषय अथवा करण भी प्रत्यक्षात्मक हो वही प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है, विषय परोक्ष अग्नि आदि हो या करण व्याप्तिज्ञान आदि हो तो ज्ञान (प्रमा) भी अनुमिति आदि कहलाता है।

इन जनक (करण) तथा विषय में से किस में ज्ञान को विशेषित करने का अधिक वल है—यह प्रचुर विवाद का विषय बना है। इसी से पूर्वोक्त दो दृष्टियों से दो विचारधारायें वहीं। उनमें विषय को प्रधानता देती हुई विवरणप्रस्थान की धारा है और करण को प्रधानता देती हुई भामती प्रस्थान की।[५] इन दोनों में कालक्रम से प्रथम है विवरण-प्रस्थान जहां प्रत्यक्ष विषयकत्व को ज्ञान के प्रत्यक्षत्व का नियामक माना गया है। उसके लिये अपेक्षित है विषय के प्रत्यक्षत्व की व्याख्या। अतः पहले इसी का विचार प्राप्त है।

---

१. अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारविषयत्वयोग्यत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वम्।
अ० सि० पृ० ७६८।

अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं स्वप्रकाशत्वमिति सिद्धम्।
अ० सि० पृ० ७८३।

२. स्वप्रकाशत्वं चित्त्वम्।
अबाधितास्वयंप्रकाशतैवास्य सत्ता......। भा० १।१।१, पृ० २५।

३. यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म। बृह० उ० ३।४।१।

४. ज्ञप्तिगतप्रत्यक्षत्वस्य सामान्यलक्षणं चित्त्वमेव।
वे० प० पृ० १०१।

५. पूर्वाचार्याणामयमाशयः। संविदापरोक्ष्यं न करणविशेषोत्पत्तिनिबन्धनम्, किन्तु प्रमेयविशेषनिबन्धनमित्युपपादितम्।...अन्येषां त्वेवमाशयः करणविशेषनिबन्धन-मेव ज्ञानानां प्रत्यक्षत्वं, न विषयविशेषनिबन्धनम्।
वे० प० पृ० ३४६-४७।

(ख) विषयगत प्रत्यक्षत्व

(१) समस्या का उपन्यास

अपरोक्ष या प्रत्यक्ष शब्द का वेदान्तसम्मत अर्थ है चैतन्य। विषय का अर्थ है वह वस्तु जिसका आकार ले कर अथवा जिसको आलम्बन बना कर कोई भी जन्यज्ञान उत्पन्न होता है। इसके अन्तर्गत घट-पट आदि स्थूल, सुख-दुःख आदि सूक्ष्म,—समस्त अविद्याकार्य (जगत् के सभी पदार्थ) आते हैं, तथा उनके अधिष्ठान रूप से न जाना जाता हुआ—चैतन्य का अद्वयतत्त्व होना—भी आ जाता है।

प्रत्यक्ष या अपरोक्ष शब्द विषय के समानाधिकरण रूप से भी प्रयुक्त होते हैं, जैसे 'यह घट प्रत्यक्ष है' 'यह रज्जु प्रत्यक्ष है', 'अपना सुख दुःख प्रत्यक्ष होता है' इत्यादि। ऐसा कब व क्यों होता है अर्थात् कोई विषय प्रत्यक्ष या अपरोक्ष कब व क्यों कहलाता है ?

विषय या ज्ञेय-पदार्थ के सामान्य निरूपण में देखा जा चुका है[1] कि चैतन्य में अध्यस्त होने के नाते चैतन्य द्वारा प्रकाश्य होना ही किसी भी वस्तु का ज्ञेय होना है। चैतन्य ज्ञानमात्र के प्रत्यक्षत्व का सामान्य लक्षण है। और प्रत्यक्षज्ञान का विषय होने पर ही कोई ज्ञेय (वस्तु) प्रत्यक्ष कहलाता है। अर्थात् विषय की प्रत्यक्षता का हेतु प्रत्यक्ष-ज्ञान का विषय होना है। इस दशा में, सामान्य रूप से सभी ज्ञेय विषय भी प्रत्यक्ष रूप ही होंगे, और ज्ञेय होना ही उनके प्रत्यक्ष होने का हेतु होगा। किन्तु इससे व्यवहार-सिद्धि नहीं होती, क्योंकि किसी विषय को सर्वदा प्रत्यक्ष ही कहा जाये ऐसा नहीं है, जब कि यदि विषय के स्वरूप में ही प्रत्यक्षता निविष्ट हो तो वह सर्वदा प्रत्यक्ष ही कहलाना चाहिये; जब कि देखा जाता है कि अग्नि कभी प्रत्यक्ष है, कभी अनुमेय, कभी शब्द से वोध्य अर्थ है—इत्यादि। अतः 'यह घट प्रत्यक्ष है' इत्यादि कहने का नियत प्रयोजक क्या है ?—इसे विशेष रूप से देखना अपेक्षित है।

विषयगत अपरोक्षता का सीधा अर्थ है विषय में 'अपरोक्ष' कहलाने का भाव होना। अपरोक्ष का अर्थ है—चैतन्य, और विषय चैतन्य पर अध्यस्त अविद्याकार्य हैं अतः जड़ हैं। तो 'विषय के अपरोक्ष होने' का अर्थ हुआ 'जड़ का चैतन्य होना, अर्थात् चैतन्य से अभिन्न हो जाना।' किन्तु आपाततः यह अयुक्त जान पड़ता है, क्योंकि जड़ व चैतन्य विरुद्धस्वभाव हैं, उनमें अभेद कैसा ? पारमार्थिक दृष्टि से तो न भेद की स्थिति है न विषय की। व्यावहारिक दृष्टि में जड़ व चैतन्य का पार्थक्य अकाट्य है। अतः विषय की अपरोक्षता के सहज तथा आचार्यानुमोदित अर्थ को समझने के लिये—(१) चैतन्य के किस रूप से, (२) कैसा अभेद विषय के अपरोक्ष कहलाने का निमित्त है—इसका स्पष्टीकरण अपेक्षित है। वह (स्पष्टीकरण) स्वयं आचार्य-कृत चर्चाओं में ही सुलभ भी है।

(२) विवरण-प्रस्थान से समाधान

पद्मपादाचार्य ने पञ्चपादिका में कहा है कि 'अन्तःस्थित (अन्तःकरण में प्रतिविम्बित या उपहित हो कर स्थित) अपरोक्ष अनुभव (जीव-चैतन्य) से विषय की अपरोक्षता भिन्न

---

१. नवम परिच्छेद।

नहीं। क्योंकि वही अपरोक्षपद का अर्थ है।'[1] उपर्युक्त अयुक्तता की आशङ्का से, इस वाक्य के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए पद्मपादाचार्य ने कहा है कि 'अन्तःस्थित अपरोक्ष से अवगुण्ठित (परिव्याप्त) हो कर ही वाह्य अर्थ (विषय) अनुभूत होता है, अन्यथा जड़ वस्तु का प्रकाश होना असम्भव है। जैसे कि अन्धकार से अवगुण्ठित घड़ा दीपक के प्रकाश से अवगुण्ठित हुए विना प्रकाशित नहीं होता उसी प्रकार।'[2] इसका अभिप्राय है कि जीवचैतन्य से व्याप्त होना ही विषय के प्रत्यक्ष होने का प्रयोजक है। यह केवल प्रत्यक्ष-स्थल पर ही संभव है इसे आगे प्रत्यक्ष-प्रक्रिया में देखा जायेगा।

प्रकाशात्मा ने पञ्चपादिकाविवरण में कहा है कि 'विषय की अपरोक्षता (१) संविद-भेद से, अथवा (२) विषय के अव्यवहित रूप से स्वसंविज्जनक (अपने ज्ञान का जनक) होने से, या (३) प्रमाण की जनक इन्द्रिय से सन्निकृष्ट होने से होती है, क्योंकि इनसे रहित अनुमेय आदि में परोक्षता देखी जाती है।[3] इनमें प्रथम संविदभेद ही वास्तव में वेदान्त-सिद्धान्त का अभिमत है; द्वितीय उसी का कुछ विशद (व्याख्यात) रूप है, तृतीय नैयायिक रीति से प्रभावित है। किन्तु केवल संविदभेद या चैतन्याभेद कहने से, 'किस चैतन्य से' 'कैसा अभेद' ये प्रश्न उठ खड़े होते हैं, क्योंकि ब्रह्मचैतन्य से सम्पूर्ण जगत् (सभी विषयों) का आध्यासिक अभेद तो सर्वदा है, वही विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक हो तो सर्वदा सभी विषयों का प्रत्यक्ष होना प्राप्त होता है।

अप्पयदीक्षित ने परिमल में विवरण-मत उद्धृत करते हुए संविदभेद का अर्थ 'अभिव्यक्त चैतन्य से अभिन्न होना' किया है। और अभेद जड़ विषय का नहीं, विषयावच्छिन्न चैतन्य का अभिमत है। अभिव्यक्त होने का अर्थ है आवरणरहित होना।[4]

(३) विवरणमत पर भामती-प्रस्थान के आक्षेप व उनके समाधान

इस पर शङ्का उठती है कि जीवचैतन्य सदा अभिव्यक्त (अनावृत) माना गया है, उससे विषय चैतन्य का चैतन्यांश में स्वरूपतः अभेद भी सर्वदा है, इस नाते सभी विषयों में अपरोक्षता पुनः प्राप्त होती है। परिमलकार ने इसे ही अन्य रीति से कहा है कि स्वरूपतः वर्तमान अभेद ही विवक्षित हो तो चाक्षुषवृत्ति से पर्वतावच्छिन्न चैतन्य के अभिव्यक्त होने पर

---

१. अन्तरपरोक्षानुभवात् न विषयस्थाऽपरोक्षता भिद्यते। पं० पा० पृ० ५७।

२. अन्तरपरोक्षानुभवावगुण्ठित एव जागरणेऽप्यर्थोऽनुभूयते। अन्यथा जडस्य प्रकाशानुपपत्तेः। यथाऽवगुण्ठितो घटः प्रदीपप्रभावगुण्ठनमन्तरेण न प्रकाशोभवति। पं० पा० पृ० ५८।

३. लोके तावद्विषयस्यापरोक्षता संविदभेदाद्वा विषयस्याव्यवधानतया स्वसंविज्जनकत्वाद्वा प्रमाणकारणेन्द्रियसम्प्रयुक्तत्वाद्वा भवति। पं० पा० वि० पृ० ४०३।

४. अभिव्यक्तचैतन्याभिन्नत्वमर्थापरोक्ष्यम्। क० प० पृ० ५५।

व्यवहित अग्नि भी प्रत्यक्ष हो जानी चाहिये, क्योंकि उससे अवच्छिन्न चैतन्य का पर्वतावच्छिन्न चैतन्य से स्वरूपतः अभेद ही है।[1]

इस आपत्ति का निवारण, प्रकाशात्मा के उपर्युक्त द्वितीय विकल्प से होता है। अनुमेय अग्नि से अवच्छिन्न चैतन्य जीवचैतन्य से अव्यवहित नहीं होता अतः उन दो चैतन्यों में अभेद नहीं होता, अतः वह (अग्नि) प्रत्यक्ष नहीं।

इसे अन्य प्रकार से लेते हुए परिमलकार ने आपत्ति उठाई है कि—यदि कहा जाय कि जब विषयचैतन्य का अभिव्यक्त (जीव)-चैतन्य से अभेद स्फुरित हो तो तभी विषय प्रत्यक्ष होता है, व्यवहित विषयों का जीव-चैतन्य से अभेद स्वरूपतः वर्तमान होने पर भी स्फुरित नहीं, अतः वे, प्रत्यक्ष नहीं होते—तो 'मैं सुखी हूँ', 'दुःखी हूँ' आदि ताद्धर्म्याध्यास के विषय सुख-दुःख आदि अन्तःकरणधर्मों का प्रत्यक्ष न होना आपन्न होता है, क्योंकि उस समय उनमें सद् आनन्द रूप ब्रह्म का अभेद स्फुरित नहीं रहता।[2]

यदि कहें कि विषयगत आवरण की निवृत्ति के अनुकूल चैतन्यों का अभेद विवक्षित है, तो अन्योन्याश्रय दोष आता है, क्योंकि आवरण-निवृत्ति से पहले चैतन्य अपरोक्ष होता नहीं, और विषय का अपरोक्ष रूप से ग्रहण होने से पहले यह जानना सम्भव नहीं कि आवरण-निवृत्ति हुई है या नहीं।[3]

इस प्रकार विवरण-मत को तर्कजाल में डालकर परिमलकार ने सिद्ध किया है कि ज्ञानगत अपरोक्षता के निर्णय से पहले विषय की अपरोक्षता का निरूपण सम्भव नहीं। अतः प्रत्यक्षप्रमा का विषय होना ही विषय की अपरोक्षता का निमित्त है। या उक्त ज्ञान से जन्य व्यवहार ('यह घट है' 'मैं घट देख रहा हूँ' 'मेरे प्रति घट प्रत्यक्ष है' आदि) के योग्य होना ही विषय की अपरोक्षता है। अर्थात् 'यह घट है' इस ज्ञान से जन्य घटव्यवहार के योग्य घट ही प्रत्यक्षघट कहलाता है, अनुमेय वह्नि आदि वैसे नहीं तथा 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसे चरम साक्षात्कार से जन्य जीव-ब्रह्म के अभेदव्यवहार के योग्य हैं, जीवचैतन्य व ब्रह्मचैतन्य, अतः वे अपरोक्ष हैं, इसी प्रकार उनका अभेद भी अपरोक्ष है।[4]

---

१. स्वरूपसदभेदविवक्षायां चाक्षुपवृत्त्यभिव्यक्तपर्वतावच्छिन्नचैतन्येन व्यवहितव्यक्त्यच्छिन्नचैतन्यस्य तेन व्यवहितवह्नेश्च स्वाभाविकाभेदसत्त्वेन व्यवहितवह्नेरप्यपरोक्षत्वापत्तेः। क० प० पृ० ५५-५६।

२. स्फुरदभेदविवक्षायां ताद्धर्म्याध्यासविषये दुःखशोकादौ तदानीं सद्रूपब्रह्माभेदास्फुरणादापरोक्ष्याभावापत्तेः। वही, पृ ५६॥

३. स्वावरणनिवृत्त्यनुकूले चैतन्याभेदवत्त्वविवक्षायामावरणनिवर्तकत्वग्रहणाधीनमापरोक्ष्यग्रहणम् आपरोक्ष्यग्रहणाधीनमावरणनिवर्तकत्वग्रहणमिति परस्पराश्रयापत्तेः। वहीं।

४. एवमपरोक्षज्ञानलक्षणव्यवस्थितौ तज्जन्यव्यवहारयोग्यत्वमर्थापरोक्ष्यमिति तन्निर्वचनम्। वहीं।

(४) धर्मराजाध्वरीन्द्र द्वारा विषयगत अपरोक्षत्व के निमित का निरूपण

विवरण-प्रस्थान के अभिमत विषयापरोक्षत्व पर परिमल-कार द्वारा उठाई गई आपत्तियों से बचते हुए वेदान्तपरिभाषाकार ने विवरण-मत को ही मौलिक रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा है कि प्रमातृचैतन्य के साथ विषय की अभिन्नता ही विषय की अपरोक्षता की नियामिका है।[1] प्रकाशानन्द ने भी वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली में प्रायः इन्हीं शब्दों में कहा है कि प्रमाता से अभिन्न होना ही विषय का अपरोक्ष होना है।[2] पद्मपादाचार्य के 'अन्तःस्थित अपरोक्षानुभव' को यहाँ प्रमाता शब्द से कहा गया है, जो स्पष्टतर है।

'विषय का प्रमाता से अभेद विषय का प्रत्यक्षत्व है' कहने पर दो प्रमुख आपत्तियाँ उठती हैं—(१) जड़ विषय का (प्रमातृ) चैतन्य से अभेद सम्भव नहीं, तथा (२) 'मैं इस वस्तु को देख रहा हूँ 'ऐसे प्रत्यक्षज्ञानात्मक अनुभव में प्रमातृचैतन्य (मैं) के साथ वस्तु का भेद ही जाना जाता है।

इन दोनों का समाधान करते हुए कहा गया है कि अभेद का अर्थ यहाँ ऐक्य नहीं है। प्रमाता की सत्ता से अतिरिक्त विषय की सत्ता न रहना ही दोनों का अभेद है।[3] यह घटित होता है—विषयस्थल पर जा कर उसको व्याप्त करने वाली वृत्ति के द्वारा। क्योंकि वृत्तिरूप में अन्तःकरण के विषय-स्थल पर आ जाने से, (वृत्ति द्वारा अनावृत विषय से सम्बद्ध होने से प्रमातृ-चैतन्य स्वतः वहाँ आ ही जाता है, क्योंकि अन्तःकरण ही चैतन्य में प्रमातृत्व धर्म का समर्पक है। अतः तीनों उपाधियों (अन्तःकरण, वृत्ति तथा विषय, घट आदि)—के एकत्र स्थित होने से दोनों से अवच्छिन्न चैतन्य भी अभिन्न हो जाते हैं। स्वरूपतः तो वे अभिन्न सर्वदा हैं, उपाधिकृत-भेद उक्त वृत्ति द्वारा (उपाधियों के एकदेशस्थ होने से) दूर होने से वह अभेद व्यक्त हो उठता है।

प्रमाता तथा विषय में अनतिरिक्त सत्ता-रूपी अभेद को विषय के प्रत्यक्षत्व का नियामक बनाने का उद्देश्य है प्रमातृचैतन्य में उस विषय का अध्यस्त होना। कहा भी है अधिष्ठान की सत्ता ही अध्यस्त की सत्ता होती है।[4] अधिष्ठान के प्रति अध्यस्त सदा प्रकट होता है। विषय (समस्त प्रपञ्च के 'इदं'-पदार्थों) का अधिष्ठान है ब्रह्मचैतन्य, अतः उसके प्रति सभी विषय सदा प्रकट (अपरोक्ष) हैं, उसी रूप से ब्रह्मचैतन्य साक्षी भी कहलाता है। जीव (प्रमातृचैतन्य) जब उक्त रीति से विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न होता है तब विषय इसमें भी अध्यस्त होता है—अधिष्ठान रूप ही जीव होने से। तभी वह विषय अपरोक्ष (स्वयं से अपृथक्) कहलाने योग्य होता है।[5]

---

१. विषयस्य प्रत्यक्षत्वन्तु प्रमात्रभिन्नत्वम्। वे० प० पृ० ६३।

२. किं तद् अपरोक्षत्वमिति चेत्, वस्तुतः प्रमात्रव्यवहितत्वमेव। वे० सि० मु० पृ० ९६-९७।

३. प्रमात्रभेदो नाम न तावत्तदैक्यम्, किन्तु प्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावः। वे० प० पृ० ६५।

४. अधिष्ठानसत्तातिरिक्ताया आरोपितसत्ताया अनङ्गीकारात्। वही पृ० ६८।

५. घटादेः स्वावच्छिन्नचैतन्याध्यस्ततया विषयचैतन्यसत्तैव घटादिसत्ता। विषय-

इस लक्षण में भी कुछ त्रुटियाँ दिखाई पड़ती हैं, जिनका वारण करते हुए कुछ विशेषण 'प्रमात्रभेद' में जोड़े गये हैं। पहली त्रुटि है—धर्म-अधर्म आदि की अनुमिति के समय इनके प्रत्यक्ष ही कहलाने की सम्भावना (अतिव्याप्ति) क्योंकि धर्मादि से अवच्छिन्न चैतन्य प्रमातृचैतन्य से अभिन्न ही है (अन्तःकरणोपहित चैतन्य—जीवसाक्षि में ही इनका अध्यास रहने से)[1] क्योंकि धर्मादि विषय तथा धर्माकारा अन्तःकरणवृत्ति एक ही स्थल पर है। उपाधियों का एक-देशस्थ होना उपधेय चैतन्य के अभिन्न होने का प्रयोजक कहा गया। सुख-दुःख आदि अन्तःकरणधर्मों को भी तो प्रत्यक्ष माना ही गया है।

इसके उत्तर में कहा गया है कि केवल प्रमात्रभेद विषयप्रत्यक्षत्व का प्रयोजक नहीं प्रत्युत योग्य विषय में स्थित प्रमात्रभेद कहा गया है। विषय के अपने स्वभाव पर निर्भर है कि वह प्रत्यक्ष हो सकता है या नहीं। यह स्वभाव उसकी योग्यता है। सुख-दुःख आदि का स्वभाव है कि वे प्रत्यक्षयोग्य हैं, धर्म आदि वैसे नहीं हैं अतः विषय में योग्यता भी होना अपेक्षित है।[2]

यह एक आपत्ति दूर होने के साथ ही दूसरी आपत्ति सामने आती है कि 'यह रूपवान् घड़ा है' ऐसे प्रत्यक्ष के समय घड़े का परिमाण भी प्रत्यक्ष होना चाहिये क्योंकि वह भी रूप के समान प्रत्यक्षयोग्य है। इसका उत्तर है कि जिस विषय का आकार वृत्ति धारण करे उसी विषय से अवच्छिन्न चैतन्य का प्रमाता से अभेद होगा अतः वही विषय प्रत्यक्ष होगा। अतः प्रमाता में तदाकार वृत्ति से उपहित होना रूप विशेषण रहना अपेक्षित है।[3]

इस पर आपत्ति उठती है कि 'मैं घट को जानता हूँ' ऐसे स्थल पर घटाकार वृत्ति का भी प्रत्यक्ष होना देखा जाता है, किन्तु वृत्ति को विषय बना कर उसका आकार धारण करने वाली वृत्ति तो अनवस्थाभय से मानी नहीं जाती। इसके उत्तर में कहा गया है कि वृत्ति अन्यवृत्ति का विषय हो कर प्रत्यक्ष नहीं होती किन्तु वह स्वयं को ही विषय करती है, अतः स्वविषयक वृत्ति से उपहित प्रमातृ-चैतन्य की सत्ता से अभिन्न सत्ता वाला होना वृत्ति में भी

चैतन्यञ्च पूर्वोक्तप्रकारेण प्रमातृचैतन्यमेवेति प्रमातृचैतन्यस्यैव घटाद्यधिष्ठानतया प्रमातृसत्तैव घटादिसत्ता, नान्येति सिद्धं घटादेरपरोक्षत्वम्।

वही पृ० ६६-६८॥

१. नन्वेवमपि धर्माधर्मादिगोचरानुमित्यादिस्थले धर्माधर्मयोः प्रत्यक्षत्वापत्तिः धर्माधर्माद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमातृचैतन्याभिन्नतया धर्माधर्मादिसत्तायाः प्रमातृसत्तानतिरेकादिति।

वही पृ० ६८।

२. ....योग्यत्वस्यापि विषयविशेषणत्वात्।

वहीं।

३. नन्वेवमपि रूपी घट इत्यादिप्रत्यक्षस्थले घटगतपरिमाणादेः प्रत्यक्षत्वापत्तिः तत्तदाकारवृत्त्युपहितत्वस्यापि प्रमातृविशेषणत्वात्, रूपाकारवृत्तिदशायां परिमाणाद्याकारवृत्त्यभावेन परिमाणाद्याकारवृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्याभिन्नसत्ताकत्वाभावेनातिव्याप्त्यभावात्।

वही, पृ० ६९-७०।

है ही ।[1] यहाँ आपत्ति उठ सकती है कि वृत्ति को स्वविषयता मानें तो वह स्वयंप्रकाश ज्ञान से अभिन्न ही होगी, जबकि वृत्ति जड़ है, ज्ञानत्व उसमें उपचरित है, यह सिद्धान्त है। इसका उत्तर है कि स्वयंप्रकाशता का अर्थ तो किसी के द्वारा प्रकाशित न होना है, किसी का विषय न होना नहीं। स्वयं ब्रह्म में भी चरम वृत्ति की विषयता स्वीकृत ही है। और वृत्ति अपने से अवच्छिन्न चैतन्य (प्रकाश) द्वारा प्रकाश्य है।

वृत्ति की स्वविषयता स्वीकृत होने से ही केवल-साक्षिवेद्य माने गये अन्तःकरण, उसके विविध धर्म (काम, सङ्कल्प, राग, द्वेष इत्यादि) आदि (प्रातिभासिक रजत) के प्रत्यक्ष में भी उस-उस आकार वाली वृत्ति रहने से उक्त विषयगत-प्रत्यक्षत्व-लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती। इसका केवल साक्षिवेद्यत्व से विरोध नहीं, क्योंकि इन्द्रिय, लिङ्गज्ञान आदि प्रमाण-व्यापारों के विना ही साक्षी द्वारा प्रकाश्य होना ही केवल साक्षिवेद्यता से अभिप्रेत है।[2] इसीलिये विवरणकार ने अहमाकारा वृत्ति मानी है। और प्रातिभासिक विषय स्थल पर वैसे विषय के आकार वाली अविद्यावृत्ति मानी गई है। (प्रातिभासिक विषय क्या है और उसका ज्ञान क्या है यह दशम अध्याय में सविस्तर देखा जा चुका है।)

इस प्रकार, विषय के प्रत्यक्षत्व का सब आपत्तियों से रहित, परिष्कृत लक्षण हुआ—अपने आकार वाली वृत्ति से उपहित प्रमातृचैतन्य की सत्ता से अतिरिक्त सत्तायुक्त न होते हुए योग्य तथा वर्तमान होना विषयगत प्रत्यक्षत्व है। अतिरिक्त सत्ता न होने का अभिप्राय व्यावहारिक व प्रातिभासिक सत्ताओं के निषेध में नहीं, प्रमातृचैतन्य में अध्यस्त होने-मात्र में है, अतः इन कल्पित सत्ताभेदों को लेकर उक्त लक्षण पर आपत्ति नहीं उठाई जा सकती।

(ग) ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व

(१) प्रथम दृष्टि—(विवरण-प्रस्थान)

आचार्य शङ्कर ने शारीरकभाष्य में कहा है कि 'ज्ञान वस्तुतन्त्र ही है'।[3] सम्भवतः इससे भी प्रेरित होकर कुछ आचार्यों का यह मत बना कि ज्ञान किसी भी प्रकार उत्पन्न हुआ हो, उसको विशेष रूप देने वाला विषय ही होता है। अर्थात् वृत्तिज्ञानों के प्रमा-अप्रमा स्मृति आदि भेदों के प्रमुख दो नियामकों—वृत्ति के जनक तथा विषय—में से विषय पर ही ज्ञान का स्वरूपभेद अधिक निर्भर है, क्योंकि अबाधित विषयवाला या यथार्थज्ञान प्रमा है

---

१. ननु—एवं वृत्तावव्याप्तिः, अनवस्थाभिया वृत्तिगोचरवृत्त्यन्तरानङ्गीकारेण तत्र स्वाकारवृत्त्युपहितत्वघटितलक्षणाभावादितिचेत्, न; अनवस्थाभिया वृत्तेर्वृत्त्यन्तरा-विषयत्वेऽपि स्वविषयत्वाभ्युपगमेन स्वविषयवृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्यसत्ताभिन्नसत्ता-कत्वस्य तत्रापि सम्भवात्। वही, पृ० ७०–७१।

२. नच—अन्तःकरणतद्धर्मादीनां वृत्तिविषयत्वाभ्युपगमे केवलसाक्षिवेद्यत्वाभ्युपगमविरोध इतिवाच्यम्, न हि वृत्तिं विना साक्षिविषयत्वं केवलसाक्षिवेद्यत्वम्, किन्तु इन्द्रियानु-मानादिप्रमाणव्यापारमन्तरेण साक्षिविषयत्वम्। वही, पृ० ७२।

३. ········केवलं वस्तुतन्त्रमेव तत्। ब्र० शां० भा० १।१।४, पृ०६८।

बाधित विषय वाला या अयथार्थ ज्ञान अप्रमा है, भूतकालीन या गृहीत विषय का ग्राहक ज्ञान स्मृति है, इत्यादि—विषय को देखते हुए ही ज्ञान-प्रकारों के लक्षण किये जाते हैं, तथा अपनी संख्या भूले हुए व्यक्ति को 'तू ही दसवाँ है' वाक्य सुनने पर जो अपने दसवेंपन का बोध होता है, वहाँ करण शब्द होने पर भी ज्ञान अपरोक्ष ही होता है।

इस प्रकार विषय ही ज्ञान के प्रकार-भेद का निर्धारक सिद्ध होता है। अतः अपरोक्ष या प्रत्यक्ष विषयवाला होना ही ज्ञान की अपरोक्षता है—ऐसा अग्निहोत्र यज्वा ने तत्त्व-विवेकदीपन की पूरणी टीका में कहा है।[1] अप्पयदीक्षित ने 'परिमल' में विवरण-प्रस्थान के अभिमत ज्ञानगत-प्रत्यक्षत्व का उल्लेख करते हुए कहा है कि अर्थ (विषय) को अपरोक्ष कह सकने के अनुकूल होना ही उसके ज्ञान की अपरोक्षता है। अर्थात् जिस ज्ञान के उदित होने पर उस ज्ञान के विषय में अपरोक्ष व्यवहार हो सके वही अपरोक्ष ज्ञान है।[2] यह अपरोक्षता नित्य अभिव्यक्त साक्षिचैतन्य, जीवचैतन्य तथा जीव की उपाधि से अपृथक् रूप से प्रकट होने वाले सुख-दुःखादि ज्ञानों में स्वाभाविक है, शेष इन्द्रियजन्य वृत्तिज्ञानों में— इन (वृत्तिज्ञानों) द्वारा अभिव्यक्त प्रमातृचैतन्य व विषयावच्छिन्न चैतन्यों के अभेद का अध्यास ही अपरोक्षता है।[3]

इन सब कथनों का मूल है पञ्चपादिकाविवरण में कहा गया प्रकाशात्मा का वाक्य— 'अर्थ (विषय) से उपहित अपरोक्षसंवित् (विषयाधिष्ठान ब्रह्मचैतन्य) का अवच्छेदक ज्ञान (वृत्तिविशिष्ट चैतन्य) ही प्रत्यक्ष ज्ञान है।'[4] इसीमें विवरण-सम्मत ज्ञानगत अपरोक्षता का स्वरूप भी सामने आता है। तथा हि—प्रत्यक्ष पदार्थ है ब्रह्मचैतन्य, वह समस्त जगत् का अधिष्ठान है, अधिष्ठान के प्रति अध्यस्त वस्तु विषय होती है अतः जगत् ब्रह्मचैतन्य का विषय है, अर्थात् जगत् का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान है ब्रह्मचैतन्य। प्रमाता क्योंकि परिच्छिन्न है अतः वृत्ति परिच्छिन्न ही वस्तु को विषय बनाती है। जब कोई वृत्ति घट से सम्पृक्त होकर उसका आकार लेती है, तो उस वृत्ति से विशिष्ट चैतन्य इस घट से उपहित, इसके अपरोक्षज्ञान (अधिष्ठान भूत ब्रह्म चैतन्य) को व्याप्त कर लेता है, जिसमें उस (ब्रह्मचैतन्य) की अपरोक्षता इस (वृत्तिचैतन्य) में प्रतिबिम्बित हो जाती है। इस स्थिति को प्रत्यक्षप्रमा कहते हैं। यह विषयोपहित अपरोक्षसंवित् का वृत्तिविशिष्ट चैतन्य द्वारा अवच्छेद या व्यापन होने पर उस अपरोक्षसंवित् का वृत्तिचैतन्य में प्रतिफलन हो ज्ञान के अपरोक्ष कहलाने का प्रयोजक है।

यहाँ 'ज्ञान' शब्द उपचार से वृत्ति के लिये ही कहा गया है या वृत्तिविशिष्ट चैतन्य के लिये—इसमें सन्देह बना रहता है, तथा 'अपरोक्षसंवित् का अवच्छेदक ज्ञान' कहने में 'अवच्छेद' का तात्पर्य भी अस्पष्ट है। इस कारण विवरण-मत की ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व की अभिप्रेत धारणा

---

१. वृत्तेरपरोक्षत्वं चापरोक्षार्थविषयत्वम्। वे० त० वि०, पू० पृ० ४४६।
२. ज्ञानस्यापरोक्ष्यमपरोक्षार्थव्यवहारानुकूलज्ञानत्वम्। क० प० पृ० ५५।
३. तत् स्वस्य सुखादेश्च प्रकाशरूपे नित्याभिव्यक्तसाक्षिचैतन्ये वानुगतं स्वाभाविकं, चाक्षुषादिवृत्तिषु तत्तदभिव्यक्तचैतन्याभेदाध्यासोपाधिकम्। वही।
४. अर्थोपाध्यपरोक्षसंविदवच्छेदकं ज्ञानमपरोक्षम्। पं० पा० वि० पृ० ३०६।

स्पष्ट रूप नहीं ले पाई है। यहाँ अपेक्षित व अवशिष्ट स्पष्टता 'वेदान्तपरिभाषा' में निखर आई है, यह यथासमय देखा जायेगा।

(२) द्वितीय दृष्टि–(भामती प्रस्थान)

आचार्य वाचस्पति ने भामती में शब्द अपरोक्ष की चर्चा में कहा है कि अन्य कारण से अन्य कार्य नहीं उत्पन्न हो सकता; नहीं तो कुटज के बीज से कभी वट का अङ्कुर उगना प्रसक्त होगा[1] इसलिये कारण पर ही कार्य का स्वरूप निर्भर है; वट का अङ्कुर तभी उगेगा यदि बीज वट का होगा। अतएव सामान्यतः (स्वांश में) प्रत्यक्ष ही होती हुई कोई भी प्रमा विशेषरूप से प्रत्यक्ष प्रमा तभी कहलाती है जब उसका करण प्रत्यक्षप्रमाण हो।

इसी अभिप्राय से अमलानन्द ने वेदान्तकल्पतरु में कहा है कि अपरोक्ष-प्रमा के हेतु से उत्पन्न होना ही ज्ञान (वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य) के प्रत्यक्षत्व का नियामक है।[2] अप्पय दीक्षित ने कल्पतरुपरिमल में विवरण-मत का अतिविस्तीर्ण खण्डन (जिसे विषयगत प्रत्यक्षत्व के निरूपण में देखा जा चुका है) करने के पश्चात्—'जो अपना विषय नहीं है, उसे विषय करने वाले ज्ञान से न उत्पन्न होने वाला ज्ञान होना ज्ञानगत अपरोक्षत्व है'—ऐसा निर्णय दिया है।[3] अनुमिति, अर्थापत्ति आदि सभी ज्ञान अपने अविषय धूम, अनुपपत्ति आदि के ज्ञान से जन्य होते हैं, केवल प्रत्यक्षज्ञान अन्य किसी ज्ञान से जन्य नहीं होता।

ज्ञानगत अपरोक्षत्व का यह लक्षण इन्द्रियों से जन्य वृत्तियों द्वारा अभिव्यक्त चैतन्यों (घट-पट आदि के प्रत्यक्षज्ञानों) तथा नित्य अभिव्यक्त जीव व साक्षिचैतन्य में भी अनुगत है।[4]

शङ्का उठती है कि उक्त लक्षण का निष्कृष्ट अर्थ 'किसी ज्ञान से जन्य ज्ञान न होना' ही है, जो सामान्य रूप से ज्ञान-मात्र में है और विशेष रूप से प्रत्यक्ष के लिये ही नैयायिक द्वारा कहे जाने पर जिसे विशिष्ट-प्रत्यक्षज्ञान में अव्याप्त ठहराया गया है। वही आपत्ति पुनः प्राप्त होगी। उसके वारण के लिये भामतीप्रस्थानानुग विद्वान् 'ज्ञानाजन्य' अंश के 'ज्ञान' पद का अर्थ विशेष रूप से कहते हैं। तदनुसार प्रत्यक्षज्ञान का विषय न बने हुए वस्तु को अवलम्बन न बना कर उत्पन्न हुआ ज्ञान ही पहले ज्ञान (स्वाविषयविषयकज्ञान) का अर्थ है। वह ज्ञान जिस ज्ञान का जनक नहीं है, वही प्रत्यक्ष ज्ञान है। 'यह नीला घड़ा है' या 'यह

---

१. न चैष साक्षात्कारो''''शब्दस्य प्रमाणस्य फलम् अपितु प्रत्यक्षस्य; तस्यैव तत्फलत्वनियमात्। अन्यथा कुटजबीजादपि वटाङ्कुरोत्पत्तिप्रसङ्गात्।
भा० १।१।१, पृ० ५७।

२. तत्रापरोक्षप्रमाकरणादेव तत्साक्षात्कारः।''''शब्दस्तु नापरोक्षप्रमाहेतुः क्लृप्तः।
वे० क० पृ० ५५–५६।

३. स्वाविषयविषयकज्ञानाजन्यज्ञानत्वं ज्ञानापरोक्ष्यमिति निर्वक्तव्यम्।
क० प० पृ० ५६।

४. तच्चाक्षुषादिवृत्त्यभिव्यक्तचैतन्येषु नित्याभिव्यक्तसाक्षिचैतन्येषु चानुगतम्। वहीं।

दण्डी पुरुष हैं' ऐसा विशिष्ट प्रत्यक्ष भले ही विशेषण (नीलगुण, दण्ड) के ज्ञान से जन्य है, किन्तु वे नीलगुण व दण्ड इन प्रत्यक्ष ज्ञानों के भी विषय हैं ही, अविषय नहीं है।

यहाँ भी छिद्र रह ही जाता है कि जहाँ 'यह दण्डी है' ऐसे विशिष्ट प्रत्यक्ष से पहले 'ये दण्ड व कुण्डल हैं' ऐसा दण्ड व कुण्डल दोनों को विषय करने वाला एक ज्ञान उत्पन्न हुआ है, वहाँ यही ज्ञान विशेषण-ज्ञान रूप से विशिष्ट प्रत्यक्ष का जनक होगा। यहाँ विशेषण ज्ञान का विषय दण्ड व कुण्डल 'दोनों' हैं, पर दण्डी प्रत्यक्ष का विषय केवल दण्ड तथा दण्डधारी पुरुष हैं। अतः यह दण्डीकज्ञान अपने अविषय (कुण्डल) को विषय करने वाले विशेषणज्ञान से जन्य है, अतः इसमें अपरोक्षत्व-लक्षण अव्याप्त है।

इसके उत्तर में परिमलकार ने कहा है कि वस्तुतः (वस्तुगत्या) जो अपना अविषयक है, उसको विषय करना जिस ज्ञान की अन्यज्ञान-जनकता में अवच्छेदक कोटि में प्रविष्ट है, उस ज्ञान से जन्य न होना ज्ञान के प्रत्यक्षत्व के लिए विवक्षित है। उक्त आशङ्कित स्थल पर भले ही विशेषणज्ञान का विषय (कुण्डल) प्रत्यक्ष का अविषय भी है; किन्तु जिस रूप से यह विशेषणज्ञान विशिष्टज्ञान (दण्डी-ज्ञान) को उत्पन्न कर रहा है, उसमें उस प्रत्यक्ष के अविषय अश का कोई उपयोग नहीं है, अतः कुण्डलज्ञान दण्डज्ञान में स्थित दण्डी के ज्ञान की जनकता का अवच्छेदक नहीं है। विशेषणज्ञान का दण्डविषयक होना मात्र दण्डी के ज्ञान के लिये अपेक्षित है। कुण्डलविषयक होना दण्ड को विषय न करने वाले, केवल कुण्डल को विषय करने वाले ज्ञान के प्रति उक्त विशेषणज्ञान की जनकता का प्रयोजक है, अतः लक्ष्य से अन्यून व अनतिरिक्त-स्थल में रहना रूप अवच्छेदकता उस में नहीं, अतः अव्याप्ति नहीं।[1]

इस पर भी एक शङ्का को अवसर मिलता है कि जैसे 'मैं एक हूँ, बहुत होकर उत्पन्न होऊँ' ऐसे ईश्वरकृत ईक्षण को समस्त जन्य वस्तुओं का सामान्य कारण माना गया है, वैसे ही 'इस व्यक्ति को इस समय इस वस्तु का ज्ञान हो' ऐसी ईश्वरेच्छा को जीवों के सभी ज्ञानों के प्रति सामान्य कारण मानना होगा। तब सभी प्रत्यक्षज्ञान भी ईश्वरीय-ज्ञान से जन्य होंगे जो इन प्रत्यक्षों के अविषय को विषय करने वाला नहीं है। अतः सभी प्रत्यक्षज्ञानों में भी उक्त अपरोक्षत्व-लक्षण अव्याप्त हो जायेगा।

इसको दूर करने के लिए परिमलकार ने प्रथम ज्ञान पद में 'स्वसमानाधिकरण' विशेषण जोड़ा है।[2] उक्त ईश्वरेच्छा या ईश्वरीयज्ञान जीव के घट-पट आदि प्रत्यक्ष के समानाधिकरण नहीं, क्योंकि ईश्वरीयज्ञान का अधिकरण ईश्वर है, जैसे घट-पट ज्ञान का अधिकरण जीव-प्रमाता।

---

१. न च विशिष्टज्ञानं विशेषणज्ञानजन्यमित्यभ्युपगमे दण्डकुण्डलोभयस्मृतिजन्यदण्डि-प्रत्यक्षाव्याप्तिः। वस्तुगत्या यः स्वाविषयः तद्विषयत्वं यस्य ज्ञानस्य जनकतायाम-वच्छेदककोटिप्रविष्टं तदजन्यत्वस्य विवक्षितत्वात्, उक्तस्मृतेर्दण्डिप्रत्यक्षे तदविषय-कुण्डलविषयत्वेनाजनकतया तत्रापि लक्षणसत्त्वात्। वहीं।

२. यदीश्वरज्ञानमुपादानगोचरज्ञानतया 'वहु स्यां प्रजायेये' तिवदिदं ज्ञानमस्य स्यादिति

शेष अगले पृष्ठ पर

इस प्रकार भामतीप्रस्थान में ज्ञानगत-प्रत्यक्षत्व का निष्कृष्ट लक्षण हुआ—'स्वाविषय-विषयक-स्वसमानाधिकरण-ज्ञानाजन्यज्ञानत्व'। इस पर भी ब्रह्मविद्याभरण में विवरणप्रस्थान की ओर से आपत्ति उठाई गई है। वह यह कि 'यह इसके पश्चात्कालीन है' 'यह इससे पूर्वकालीन है' ऐसे समय-सम्बन्धी परत्व-अपरत्व के प्रत्यक्ष में उक्त निर्धारण की अव्याप्ति रहती है। क्योंकि अधिक सूर्य-परिस्पन्द-विशिष्ट होना पर (बड़ा) होना है, उसकी अपेक्षा कम सूर्य-परिस्पन्दों से सम्बद्ध होना अपर (छोटा) होना है। उक्त ज्ञान के जनक हैं परत्व-अपरत्व के ज्ञान। ये परत्व आदि सूर्यपरिस्पन्द की अपेक्षा से ही उत्पन्न होते हैं, वर्तमान प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं, अतः कालिक परत्व-अपरत्व का प्रत्यक्ष उक्त प्रत्यक्षत्व-लक्षण के अन्तर्गत नहीं।[1] ऐसे ही द्वित्व आदि के प्रत्यक्ष-स्थल पर भी उक्त लक्षण अव्याप्त है। क्योंकि अपेक्षा बुद्धि (एक यह है, एक यह है) द्वित्व की उत्पादिका है, प्रत्यक्ष का विषय द्वित्व है, अपेक्षा नहीं। अतः द्वित्व-प्रत्यक्ष स्वाविषयविषयक ज्ञान से जन्य ही है।[2]

अतः भामती-सम्मत रीति से भी ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व के प्रयोजक का निर्दोष निर्धारण सम्भव नहीं।

(३) दोनों दृष्टियों के समन्वय-पूर्वक ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का निर्धारण

धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्तपरिभाषा में पूर्वोक्त दोनों प्रस्थानों की चर्चा का सार-अभिप्राय अक्षुण्ण रखते हुए, तथा दोनों पर उद्भावित दोषों से पृथक् रहते हुए मौलिक रीति से ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का निरूपण व उसके प्रयोजक का निर्धारण किया है। तदनुसार, 'ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व' का शब्दार्थ है ज्ञान का प्रत्यक्षात्मक होना, अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान से अभिन्न होना। प्रत्यक्षज्ञान का अर्थ है प्रत्यक्षाभिन्न ज्ञान। पहला 'ज्ञान' है वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य और 'प्रत्यक्षज्ञान' है—ब्रह्मचैतन्य जो समस्त जगदध्यास का अधिष्ठान है। ऐसी स्थिति में, कोई ज्ञान (जन्यज्ञान) कब 'प्रत्यक्षज्ञान' (या प्रत्यक्षप्रमा) कहलाता है का अर्थ है—ज्ञान कब प्रत्यक्षात्मक होता है? इसका अर्थ है—ज्ञान कब प्रत्यक्षज्ञानात्मक होता है? अर्थात्—वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य कब ब्रह्मचैतन्य होता है?

इसका उत्तर वेदान्तपरिभाषाकार ने दिया है कि प्रमाणचैतन्य का विषयचैतन्य से अभेद ही ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है,[3] प्रमाणचैतन्य है अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य और विषयचैतन्य है विषय का अधिष्ठानभूत ब्रह्मचैतन्य। प्रमाता परिच्छिन्न है, वृत्ति भी परि-

---

सङ्कल्परूपतया वा कारणमिष्यते, तदा तज्जन्येषूक्तज्ञानेष्वव्याप्तिवारणाय समानाधिकरणत्वं ज्ञाने विशेषणं देयम्। वहीं।

१. अयमस्मात् परोऽयमस्मादपर इति कालकृतपरत्वापरत्वप्रत्यक्षयोः स्वाविषयविषयक-बहुतरतपनपरिस्पन्दाल्पतरतपनपरिस्पन्दान्तरितजन्मत्वावगाह्यपेक्षाबुद्धिजन्ययोरव्याप्तेः। ब्र० वि० पृ० ४८।

२. अयमेकोऽयमेक इति अपेक्षाबुद्धिजन्यद्वित्वादिसाक्षात्कारे व्याप्तेश्च। वहीं।

३. किं ज्ञानगतप्रत्यक्षत्वस्य प्रयोजकं पृच्छसि ?.........
प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्याभेद इति ब्रूमः। वे० प० पृ० ४४।

च्छिन्न है, अतः ब्रह्मचैतन्य के समस्तजगद्विषयक प्रत्यक्षज्ञान-स्वरूप होने पर भी परिच्छिन्न घट-पट आदि विषयों के अवच्छेद से ही वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य-रूप ज्ञान ब्रह्मचैतन्य-रूप प्रत्यक्ष-ज्ञान से अभिन्न हो सकता है। अतएव पूर्वोक्त प्रश्न का निष्कृष्ट उत्तर है—

ज्ञान तब प्रत्यक्षात्मक होता है, जब वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य विषयावच्छिन्नचैतन्यात्मक होता है, अर्थात् जब वृत्तिचैतन्य विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न होता है।

इस प्रकार स्पष्ट रूप से सिद्ध है कि वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य का विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभेद ही ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का नियामक है। यह अभेद घटित होता है बहिर्गत वृत्ति द्वारा। यहीं वृत्ति के स्वरूप को स्पष्ट करने वाला सभी आचार्यों द्वारा अपनाया गया उदाहरण दिया जाता है कि जैसे तालाब का जल किसी नाली द्वारा निकलकर क्यारी तक जा कर क्यारी का आकार धारण कर लेता है, वैसे ही अन्तःकरण इन्द्रिय द्वारा निकल कर विषयस्थल तक जा कर उसी के आकार में परिणत हो जाता है।[1] (अवश्य ही यह दृष्टान्त तदाकारतामात्र के लिये है, अन्तःकरण तो तैजस वस्तु है, वह रश्मि रूप से ही विषय-पर्यन्त जाता है, देह अन्तः-करणरहित नहीं हो जाती।) तब इस अन्तःकरणवृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न हो जाता है, जैसे कि क्यारी में पहले से स्थित जल तथा नाली द्वारा लाया गया जल एक हो जाते हैं, क्योंकि उनको आकार देने वाली क्यारी एक है। उपाधि या अव-च्छेदकों के अन्तर से पृथक्-पृथक् कहे जाने वाले चैतन्य उपाधियों के एकदेशस्थ हो जाने से अभिन्न हो जाते हैं।[2] तत्त्वतः अभिन्न तो वे सदा हैं; उक्त स्थिति में वे व्यावहारिक रूप से भी अभिन्न हो जाते हैं। जिस प्रमाकरण द्वारा ऐसी स्थिति बनती है उसे ही प्रत्यक्ष-प्रमाण कहते हैं, और वृत्ति व विषय की ऐसी स्थिति से होने वाली ज्ञप्ति ही प्रत्यक्षप्रमा है। यह स्थिति तभी बनती है जब वृत्ति देह से बाहर आकर या सरोवर-स्थानीय अन्तःकरण से बाहर निकल कर विषय-स्थल तक जा कर ही उसे व्याप्त करती है। अनुमिति आदि प्रत्यक्षेतर (परोक्ष) प्रमाओं में करण व विषय से अवच्छिन्न चैतन्य अभिन्न नहीं होते क्योंकि वृत्ति विषयस्थल तक जाती नहीं। अतः उपाधियों की एकदेशस्थता से प्रयुक्त उपधेयों (चैतन्यों) का अभेद नहीं होता।

उक्त प्रकार से 'यह घड़ा है' ऐसे ज्ञान के स्थल पर घटाकारावृत्ति के घटसंयुक्त होने से, घटावच्छिन्न चैतन्य तथा वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य के अभिन्न होने से, उक्त घटज्ञान में प्रत्यक्षत्व है। ऐसे ही सुख-दुःख आदि से अवच्छिन्न चैतन्य और उनके आकार वाली वृत्ति से अवच्छिन्न

---

१. यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान् प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकारं भवति, तथा तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते। वे० प० पृ० ४६–४७।

२. अयं घट इत्यादिप्रत्यक्षस्थले घटादेस्तदाकारवृत्तेश्च बहिरेकत्र देशे समवस्थानात् तदुभयावच्छिन्नं चैतन्यमेकमेव; विभाजकयोरप्यन्तःकरणवृत्तिघटादिविषययोरेकदेश-स्थत्वेन भेदाजनकत्वात्। मठान्तर्वर्त्तिघटावच्छिन्नाकाशो न मठावच्छिन्नाकाशात् भिद्यते। वे० प० पृ० ४७–४८।

चैतन्यों के, नियत रूप से एकदेशस्थ उपाधि-द्वय से अवच्छिन्न होने के कारण, 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि ज्ञानों में प्रत्यक्षत्व है।[1]

यहाँ भी विषयावच्छिन्न चैतन्य के विषय अंश को ले कर दो आपत्तियाँ उठती हैं—(१) 'मैं सुखी था' ऐसी स्मृति भी सुख अंश में प्रत्यक्षज्ञान ही कहलायेगी क्योंकि दोनों उपाधियाँ एकदेशस्थ इसमें भी हैं।

(२) 'तुम धार्मिक हो' ऐसे वाक्य से उत्पन्न स्वनिष्ठ धर्म का ज्ञान भी प्रत्यक्ष कहलायेगा क्योंकि धर्म-अधर्म भी अन्तःकरण-निष्ठ हैं, तो दोनों उपाधियों के एकदेशस्थ होने से उनसे अवच्छिन्न चैतन्य अभिन्न है।

इनके वारण के लिये विषय में 'वर्तमान' तथा 'योग्य' (इन्द्रिय या साक्षी द्वारा प्रत्यक्ष कराये जा सकने योग्य) विशेषण दिये गये हैं। इसलिये—अनुकूल इन्द्रिय या साक्षी द्वारा प्रत्यक्ष कराये जा सकने योग्य होना तथा ज्ञान की उत्पत्ति के समय वर्तमान विषय से अवच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न होना उस विषय के आकार में आकारित अन्तःकरणवृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य रूप ज्ञान का प्रत्यक्ष होना है।

धर्मराजाध्वरीन्द्र के निरूपण में भामतीप्रस्थान का प्रभाव बहुत-कुछ दिखाई देने पर भी, मर्म-अभिप्राय विवरण-मत के ही अधिक निकट प्रतीत होता है।

(घ) प्रत्यक्षप्रमाण

प्रत्यक्षप्रमा का करण प्रत्यक्षप्रमाण है। प्रत्यक्षप्रमा स्वयं चैतन्य ही है; वह नित्य है, उसका कोई करण कैसे होगा। यह शङ्का आपाततः उठती है। किन्तु पहले ही देखा जा चुका है कि प्रमा-मात्र वृत्तिविशिष्ट चैतन्य है, केवल चैतन्य नहीं; अतः वृत्तिरूप उपाधि के उत्पत्ति-नाश को लेते हुए प्रमा-चैतन्य भी उत्पत्ति-मान् हुआ करता है। प्रमा-सामान्य से व्यतिरिक्त प्रत्यक्ष प्रमा के जो ज्ञप्ति व विषय पक्षों की ओर से दो स्वरूप देखे गये, उनमें अन्तःकरण-वृत्ति का उपयोग उनके असाधारण कारण या साधकतम कारक रूप से है, अतः वही करण है। किन्तु यह स्थिति (चैतन्य से तदात्म हुई वृत्ति या वृत्ति से अभिव्यक्त बोध-रूपा प्रमा के प्रति वृत्ति का साधकतम व अव्यवहित कारण होना) तो सभी प्रमाणों में समान हैं,—इसे प्रमाण-सामान्य के निरूपण में देखा जा चुका है। फिर प्रमाविशेष (प्रत्यक्षप्रमा) के प्रति करण होने में वृत्ति में क्या 'विशेष' अपेक्षित है जो उसे अन्य प्रमाणों से पृथक् प्रत्यक्षप्रमाण बनाता है? क्या वृत्ति के उत्पादक कारणों का अन्तर ही इसमें निमित्त है? अर्थात् अक्ष (इन्द्रिय) या इन्द्रिय-विषयसंयोग ही नियतरूप से जिस वृत्ति के उत्पन्न होने में माध्यम या हेतु बना हो वही वृत्ति प्रत्यक्षप्रमाण है? प्रत्यक्ष शब्द की दृष्टि से तो यही उचित जान पड़ता

---

१. अयं घट इति प्रत्यक्षस्थले घटाकारवृत्तेर्घटसंयोगितया घटावच्छिन्नचैतन्यस्य तद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य चाभिन्नतया तत्र घटज्ञानस्य घटांशे प्रत्यक्षत्वम्। सुख-दुःखाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य तद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य च नियमेनैकदेशस्थितोपाधि-द्वयावच्छिन्नत्वान्नियमेनाहं सुखीत्यादिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम्।
वे० प० पृ० ४८–४९।

है, किन्तु सम्पूर्ण प्रत्यक्ष-क्षेत्र में यह व्याप्त नहीं, क्योंकि सुख-दुःख आदि की ज्ञप्ति का करण तथा अन्तिम ब्रह्म-विषयिणी वृत्ति या ब्रह्म-साक्षात्कार का करण इन्द्रिय-जन्य नहीं होता। अतः अपरोक्ष शब्द के अनुकूल, ज्ञाता व बोध के अभेद को अभिव्यक्त करने वाली अन्तःकरण-वृत्ति को ही प्रत्यक्ष वा अपरोक्ष-प्रमा का करण मानना चाहिये।

वृत्ति-कल्पना का प्रयोजन आवरणाभिभव मानने के पक्ष में विषय व प्रमाता के मध्य-स्थित अभानापादक तथा असत्त्वापादक—दोनों आवरणों का अभिभव करने वाली अन्तःकरण-वृत्ति ही प्रत्यक्षप्रमाण है।

वृत्ति का उपयोग चित्सम्बन्ध मानने के पक्ष का भी लक्ष्य यह आवरणाभिभव तथा उसके द्वारा अभेदाभिव्यक्ति ही है—यह देखा जा चुका है। तीनों ही दृष्टियों से, बाह्य विषयों की प्रत्यक्षप्रमा के प्रति करण इन्द्रिय-प्रणाली से बाहर निकलकर विषयस्थल पर गई हुई वृत्ति ही है।

यह वृत्ति स्वयं ही प्रमा का करण नहीं, अतः वृत्ति मात्र प्रमाण नहीं, क्योंकि वृत्ति जड़ वस्तु का कार्य होने से जड़ है। वह अपने समान-जातीय अज्ञान को स्वतः निवृत्त या अभिभूत करने में समर्थ नहीं। प्रमा वृत्तिविशिष्ट चैतन्य है, प्रमाण भी वृत्तिविशिष्ट चैतन्य ही है। वृत्ति का अर्थ है अन्तःकरण का विषयज्ञानानुकूल परिणाम। उस परिणत अन्तःकरण के ही तीन अंशों से अवच्छिन्न होने के नाते चैतन्य के भी तीन रूप व्यवहार की सिद्धि के लिये मानने पड़ते हैं। वे तीन अंश हैं—(१) देह में स्थित अन्तःकरण भाग (२) देह से निकल कर विषय तक गया हुआ अन्तःकरणभाग तथा (३) विषय को व्याप्त किया हुआ अन्तः-करण भाग। व्यापक रूप से ये तीनों ही वृत्ति-पदार्थ हैं, तब भी इनमें से द्वितीय को क्रिया या करण रूप मानते हुए 'वृत्ति' नाम दिया जाता है, प्रथम को कर्ता तथा तृतीय को कर्म। इन तीनों से अवच्छिन्न चैतन्य क्रमशः (१) प्रमातृचैतन्य (२) प्रमाणचैतन्य (३) प्रमेय-चैतन्य कहलाता है। अतः ज्ञाता व ज्ञेय के मध्यस्थ दोनों आवरणों का भङ्ग कर के उन दोनों से अवच्छिन्न चैतन्यों के अभेद को अभिव्यक्त करने के द्वारा विषय को अपरोक्ष बनाने वाली वृत्ति प्रत्यक्षप्रमाण है। अभानापादक आवरण का भङ्ग करना तथा दोनों चैतन्यों के अभेद को अभिव्यक्त करना ही करण-वृत्ति का 'विशेष' है, जो उसे प्रत्यक्ष-प्रमाण बनाता है। अन्य प्रमाओं के प्रति करण बनने वाली वृत्ति (अपने से अवच्छिन्न) चैतन्य की उपाधि बन कर केवल विषय के असत्त्वापादक आवरण (जो प्रमाता में स्थित माना गया है) का ही नाश करती है; विषय में प्रमाता के प्रति अपरोक्षता (जो इन दोनों से अवच्छिन्न चैतन्यों में अभेद अभिव्यक्त होने पर विषय के प्रमातृचैतन्य में अध्यस्त हो जाने से आती है, जिससे कि प्रमाता से अतिरिक्त विषय की सत्ता न रहना—अधिष्ठान से अतिरिक्त अध्यस्त की सत्ता न होने के नियम के अनुसार—घटित होता है) नहीं लाती।

(ङ) प्रत्यक्षज्ञान की प्रक्रिया

किसी व्यक्ति को किसी वस्तु का प्रत्यक्षज्ञान होने का अभिप्राय अद्वैतवेदान्त की तत्त्व-मीमांसा के सिद्धान्तों की दृष्टि से क्या है इसका सर्वप्रथम निरूपण पद्मपादाचार्य के दो वाक्यों

में प्राप्त होता है। उनके प्रत्येक शब्द में बहुत सा अर्थ सन्निविष्ट है, जिसके सामने आये विना पूरा वाक्यार्थ स्पष्ट नहीं होता, अतः आवश्यकतानुसार कोष्ठकों में शब्दों के अभिप्राय के पूरक अंश रखते हुए उन्हें देखने से वेदान्त की तत्त्व-मीमांसा पर आधारित उसकी प्रमाण-मीमांसा का स्वरूप स्पष्ट होगा।

अहङ्कर्ता (जीव—अहमर्थ—चित् आत्मा तथा अचित् अन्तःकरण के अन्योन्याध्यास से निष्पन्न अनुभविता) के इदमंश (जड़ अंश—अन्तःकरण) का ज्ञान शब्द से कहा जाने वाला व्यापार-विशेष (वृत्ति) सकर्मक (कर्म-सापेक्ष) होने के कारण कर्मकारक (स्वयं किसी भी प्रकार क्रिया से सम्बद्ध होते हुए जो प्रधान क्रिया का निष्पादक हो वह कारक होता है, उसमें भी जो कर्ता का ईप्सिततम हो वह कर्म होता है,[1] ज्ञाता व ज्ञान का ईप्सिततम है ज्ञेय विषय अतः वही कर्म है; उस)—के प्रति अभिमुख (सम्बद्ध) होकर (वृत्ति का विषय के प्रति आभिमुख्य ही विषय से सम्बद्ध होना है) अपने आश्रय (वृत्ति का आश्रय—अन्तःकरण) में एक अवस्था-विशेष (विषय से सम्बन्ध) का आधान कर देता है। वृत्ति स्वयं इन्द्रिय-विषय-सन्निकर्ष द्वारा विषय से सम्बद्ध होकर अपने द्वारा अन्तःकरण का विषय से सम्बन्ध कराती है। क्योंकि क्रिया अपने आश्रय में विकार या अतिशय अवश्य ला देती है।

कर्ता में क्रिया द्वारा लाये गये उस अवस्था-विशेष के समान ही, यहाँ 'प्राप्नोति' (ज्ञान या अवगति को यहाँ प्राप्ति शब्द से कहा गया है, वही प्रधान क्रिया है) क्रिया द्वारा कर्ता में लाया गया अवस्था-विशेष (कर्मसम्बन्ध) ही ज्ञाता का ज्ञेय से सम्बन्ध है।[1] अर्थात् कर्ता है अहमर्थ का अन्तःकरणांश, क्रिया है—उसका दीर्घप्रभा रूप परिणाम—वृत्ति, कर्म है—सम्मुख स्थित इन्द्रिय-सन्निकृष्ट विषय। यह हुआ अहमर्थ के अचित् पक्ष की ओर से। अहमर्थ का संघटक दूसरा पक्ष है चिदात्मक, दोनों पक्ष अत्यन्त सम्भिन्न-आध्यासिक तादात्म्य से एकीकृत हैं, अतः प्रथम पक्ष की पूर्वोक्त स्थिति ही इस द्वितीय पक्ष की ओर से बनती है ज्ञाता का ज्ञेय से सम्बन्ध।

इस रीति से अन्तःकरण का तो अपने परिणाम द्वारा विषय से सम्बन्ध हो गया; जीव को विषय का अवभास या प्रत्यक्षज्ञान कैसे होता है, इस पर पद्मपादाचार्य ने कहा है—विषयविशेष से सम्बद्ध हुआ अन्तःकरण एक ओर चैतन्य का अवच्छेदक होता है, और दूसरी ओर अपने व्यापार में आविष्ट होकर प्रधान क्रिया का साधक होता हुआ चैतन्य के विवर्तरूप विषय का आकार लिए हुए कर्मकारक होता है। क्योंकि विषय को व्याप्त करते हुए ही उसमें अभिव्यक्तियोग्यता लाता है। यही उस समय ईप्सिततम है। तब प्रधानक्रिया (वृत्ति) द्वारा उत्पादित प्रमातृ-अवस्था से अवच्छिन्न (अन्तःकरण से अभिन्न जैसा होने के नाते,

---

१. कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म। पा० सू० १।४।४९।

१. अहङ्कर्त्तुरिदमंशस्य ज्ञानसंशब्दितो व्यापारविशेषः सकर्मत्वात् कर्मकारकामिमुखं स्वाश्रये कञ्चिदवस्थाविशेषमादधाति। स्वाश्रयविकारहेतुत्वात् क्रियायाः। स च प्राप्नोतिक्रियाहितकर्तृस्थविशेषवत् कर्मसम्बन्धो ज्ञातुः ज्ञेयसम्बन्धः इति गीयते। पं० पा० पृ० ११४–१५।

उस अन्तःकरण के अवस्था-विशेष-प्रमाता रूप से भी प्रभावित) अपरोक्षता (चैतन्य) से एकरूपा ही विषयस्था (विषय से अवच्छिन्न) अपरोक्षता को अभिव्यक्त करता है। यह अन्तःकरण के अवस्थाविशेष रूप उपाधि द्वारा उत्पादित विशेष (प्रमातृ चैतन्य व विषय-चैतन्य का अभेद, जो इन शब्दों में प्रकाशानन्द व धर्मराजाध्वरीन्द्र ने कहा है) ही विषय का अपरोक्ष अनुभव है।[1]

इसी अंश के 'विवरण' में ज्ञाता के ज्ञेय से सम्बन्ध को स्पष्टतर दिखाते हुए प्रकाशात्मा ने कहा है कि सर्वत्र अविद्यावृत होने से अनभिव्यक्त स्वभाव वाला होने पर भी चैतन्य—अन्तः-करण जिस-जिस अवस्थाविशेष को धारण करता है—उस-उस आकार में अभिव्यक्त हो जाता है। लोहे का टुकड़ा जिस आकृति का हो, उसमें समाई आग भी उसी आकृति की दिखती है। इसलिए विषय-संसृष्ट अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य भी विषय-संसृष्ट ही अवभासित होता है।[2]

प्रमातृरूप से अवच्छिन्न चैतन्य भले ही प्रमाता आकार में भासित हो, पर विषय का अवच्छेद उसमें कैसे आयेगा ? ऐसी शङ्का उठती है। इस पर प्रकाशात्मा कहते हैं कि वृत्ति के संसर्ग से जड़ता का अभिभव होना रूपी अभिव्यक्तियोग्यता विषय में भी आ जाती है, अर्थात् अन्तःकरण अपने समान अपने से सम्बद्ध विषय में भी चैतन्य की अभिव्यक्ति की योग्यता ला देता है।[3]

पुनः शङ्का होती है कि अवच्छेदक भिन्न होने पर चित्प्रकाश भी भिन्न ही होगा, तो विषयावच्छिन्न चैतन्य का प्रमातृचैतन्य से संसर्ग कैसे होगा ? और संसर्ग हुए विना 'मैं ने यह जाना' ऐसा प्रमाता व प्रमेय का सम्बन्ध दिखाने वाला ज्ञान कैसे होगा ? इस पर कहा है कि वृत्ति का सम्बन्ध प्रमाता तथा प्रमेय दोनों ओर है, अतः व्यञ्जक का भेद न होने से व्यङ्ग्य चैतन्य का अभेद हो ही जाता है।[4] यहाँ शङ्का होती है कि यदि दोनों ओर सम्बन्ध समान है तो दोनों चैतन्यों की अभिव्यक्ति भी एक सी होनी चाहिये, और तब घटावच्छिन्न चैतन्य

---

१. तेन विषयविशेषसम्बद्धमेवान्तःकरणचैतन्यस्यावच्छेदकम्। कर्मकारकमपि प्रधान-क्रियासिद्धौ स्वव्यापाराविष्टं चैतन्यविवर्तत्वात् प्रधानक्रियाहितप्रमात्रवस्था-विशेषा-वच्छिन्नपरोक्षतैकरूपामपरोक्षतामभिव्यनक्ति। ततश्चात्मनोऽन्तःकरणावस्था-विशेषोपाधिजनितो विशेषो विषयानुभवसंशब्दितो विषयस्थापरोक्षैकरसः फल-मिति। पं० पा० पृ० ११५–१६।

२. सर्वत्राविद्यावृततया अनभिव्यक्तस्वभावमपि चैतन्यम् अन्तःकरणं येन येनावस्था-विशेषेण विवर्तते तेन तेनाकारेण व्यज्यते। अयःपिण्डेनेव चतुष्कोणत्वाद्यवस्था-विशेषमापद्यमानेन कृशानुः, इति विषयसंसृष्टान्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं तदाकार-मवभासते इति भावः। पं० पा० वि० पृ० ३०५।

३. परिणामसंसर्गादापन्नजाड्याभिभवलक्षणयोग्यत्वमुच्यते। अन्तःकरणं हि स्वस्मिन्निव स्वसंसर्गिण्यपि चैतन्याभिव्यक्तियोग्यतामापादयतीति भावः। वही, पृ० ३०५–६।

४. परिणामस्योभयसंसर्गाद् व्यञ्जकाभेदेन व्यङ्ग्याविच्छेदः। वही, पृ० ३०६।

प्रमाता है या अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य--इसका कोई अन्तर न रहेगा। इस पर कहा है कि कर्ता ही प्रमाता होगा, कर्म प्रमेय, अतः व्यवस्था में कोई व्याघात नहीं। और चैतन्य एक ही होते हुए भी अन्तःकरण के अवच्छेद से प्रमाता है, विषय के अवच्छेद से फल है।[1] इसी की टीका में नृसिंहाश्रम ने प्रमेय व फल (प्रमिति) में अन्तर कहा है कि अज्ञातदशा में विषयावच्छिन्न चैतन्य प्रमेय है, अभिव्यक्त या ज्ञात हो कर वही फल है।[2] पुनः शङ्का उठती है कि 'मैं घट को जान रहा हूँ' ऐसा क्रिया व फल का एक ही आश्रय व विषय वाला होना देखा जाता है, उक्त स्थिति में वह कैसे होगा? परिणामरूपा क्रिया तो अन्तःकरण में समवेत है और फल आत्मा में, अतः दोनों के आश्रय भिन्न हैं तथा जब घट वृत्ति का विषय है तो वृत्ति का अविषय अन्तःकरण आत्मा का विषय होगा, इस प्रकार विषय भी भिन्न हैं।[3]

इसका उत्तर देते हुए कहा है कि यहाँ भी आश्रय-विषय-भेद नहीं है, क्योंकि अन्तःकरण व आत्मा में ऐक्याध्यास होने से दोनों का आश्रय एक है, और चैतन्य में भी घट का अवच्छेद है, इसलिए दोनों की एकविषयता भी है।[4]

पद्मपादाचार्य द्वारा संक्षेप में व गूढ़ रूप से कही गई प्रत्यक्षविषयावभास-प्रक्रिया को विद्यारण्य ने विवरणप्रमेयसंग्रह में भलीभाँति विवृत करके कहा है, उसी को प्रायः यथायथ रूप से धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्तपरिभाषा में तथा सदानन्दयति ने प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि में प्रतिपादित किया है।

विद्यारण्य ने 'विषय ज्ञान' रूपी घटना की विवरण प्रस्थान के अनुसार तात्त्विक पृष्ठभूमि का भी साथ ही निर्देश करते हुए कहा है कि सर्वव्यापक चिद्रूप आत्मा को आवृत करके विद्यमान भावरूप अविद्या विविध जगत् के आकारों में विवर्तित है। इनमें, शरीर के भीतर रहने वाला अन्तःकरण नाम का अविद्याविवर्त अदृष्ट से प्रेरित होकर चक्षु आदि इन्द्रियों के मार्ग से बाहर निकल कर घट आदि विषयों से यथोचित रीति (जिस विषय से इन्द्रिय का जैसा सन्निकर्ष होता हो) से संसृष्ट होकर उन विषयों को व्याप्त करके उसी-उसी आकार में परिणत हो जाता है। जैसे भरे हुए तालाब का जल नाली में से बहता हुआ खेत में जाकर उस खेत के आकार के अनुसार ही चौकोना या गोल आदि हो जाता है, वैसे ही

---

१. कर्तुर्हि प्रमातृता न कर्मणः। तत्रान्तःकरणस्य कर्तृत्वात् तदवच्छिन्नः प्रमाता। ननु चैतन्यस्यैकत्वे प्रमातैव फलमिति। विरुद्धमापन्नमिति; न······'अन्तःकरणावच्छिन्नतया प्रमाता विषयावच्छिन्नतया फलमिति भावः। वहीं।

२. यद्यपि विषयावच्छिन्नचैतन्यमज्ञातं प्रमेयमेव, तथापि तदेवाभिव्यक्तं सत् फलमित्यर्थः। भा० प्र० पृ० ३०६।

३. ननु क्रियाफलयोरन्तःकरणात्मसमवायिनोः भिन्नाश्रयत्वम्, घटान्तःकरणविषयतया च भिन्नविषयत्वमिति क्रियाफलयोरेकाश्रयत्वैकविषयत्वनियमविरोधः इति। पं० पा० वि० पृ० ३०७।

४. न······, विषयेत्याश्रयस्याप्युपलक्षणम्। अन्तः करणात्मनोरैक्याध्यासेनैकाश्रयत्वं चैतन्यस्यापि घटावच्छेदादेकविषयत्वमिति। वहीं।

अन्तःकरण भी विषय के आकार का हो जाता है ।[1] अन्तःकरण जल की तरह धीरे वहने वाला (तरल) पदार्थ नहीं है जिस से कि अत्यन्त दूर प्रदेश में रहने वाले चन्द्रमा, तारा आदि विषयों का ग्रहण व उनके आकार में परिणत होना शीघ्र न हो सके, किन्तु तैजस होने से सूर्य की किरणों के समान, दीर्घप्रभा के समान अतिशीघ्र कहीं भी जा सकता है और वैसे ही सङ्कुचित भी हो सकता है ।[2] रश्मि के समान ही यह अपने आश्रय (देह) तथा विषय के मध्य भी अविच्छिन्न रूप से बना रहता है; देह को छोड़कर नहीं जाता जिससे कि मृत्यु आपन्न हो । इससे अन्तःकरण के तीन भाग बनते हैं, उनमें देह के भीतर स्थित अन्तःकरण-भाग कर्ता तथा उससे अवच्छिन्न चैतन्य प्रमाता होता है, देह और विषय के मध्य स्थित भाग वृत्तिज्ञान नाम की क्रिया है, उससे अवच्छिन्न या उसमें प्रतिविम्बित चैतन्य प्रमाण होता है । विषय को व्याप्त करने वाला भाग, विषय को ज्ञान का कर्म बनाने वाला 'अभिव्यक्ति-योग्य' कहलाता है, उससे अवच्छिन्न चैतन्य प्रमिति है । इन तीनों में जो अन्तःकरण का आकार अनुगत है, उसके प्रमाता, प्रमाण व प्रमेय के सम्बन्ध रूप होने से 'मैं ने इस को जान लिया' ऐसा विशिष्ट व्यवहार भी युक्तियुक्त है । व्यङ्ग्य चैतन्य और व्यञ्जक अन्तःकरण का ऐक्याध्यास होने से एक दूसरे में एक दूसरे के धर्मों का व्यवहार भी विरुद्ध नहीं होता ।[3]

विद्यारण्य द्वारा कही गई इसी प्रक्रिया को अत्यन्त सरल व स्पष्ट शब्दों में श्लोकबद्ध करते हुए सदानन्दयति ने प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि में कहा है ।[4]

---

१. सर्वगतं चिदात्मानमावृत्य स्थिता भावरूपाऽविद्या विविधजगदाकारेण विवर्त्तते । तत्र शरीरमध्ये स्थितोऽन्तःकरणाख्योऽविद्याविवर्त्तो धर्माधर्म-प्रेरितो नेत्रादिद्वारा निर्गत्य यथोचितं घटादिविषयान् व्याप्य तत्तदाकारो भवति । यथा लोके पूर्ण-तटाकस्थमुदकं सेतुगतच्छिद्रान्निर्गत्य कुल्याप्रवाहरूपेण केदारान् प्रविश्य चतुष्कोण-त्वेन त्रिकोणत्वेन वर्त्तुलत्वेन वा तत्तत्केदारानुसारि अवतिष्ठते तद्वत् ।

वि० प्र० सं० पृ० २४३ ।

२. नह्युदकवदन्तःकरणं परिस्यन्दते, येनातिदूरवर्त्तिचन्द्रनक्षत्रध्रुवादिप्राप्तिर्झटिति न सिध्येत् । किं तर्हि सूर्यरश्मिवत्तैजसत्वाद्दीर्घप्रभाकारेण परिणमते । अतएव रश्मिवत् सहसा सङ्कोचोऽप्युपपन्नः ।

वहीं ।

३. तच्च परिणतमन्तःकरणं देहाभ्यन्तरे घटादौ च सम्यग्व्याप्य देहघटयोर्मध्यदेशेऽपि दण्डायमानमविच्छिन्नं व्यवतिष्ठते । तत्र देहावच्छिन्नान्तःकरणभागोऽहङ्काराख्यः कर्तेत्युच्यते । देहविषयमध्यवर्तिदण्डायमानस्तद्भागो वृत्तिज्ञानाभिधा क्रियेत्युच्यते । विषयव्यापकस्तद्भागो विषयस्य ज्ञान-कर्मत्वसम्पादकमभिव्यक्तियोग्यमित्युच्यते । तस्य च त्रिभागस्यान्तःकरणस्यातिस्वच्छत्वाच्चैतन्यं तत्राभिव्यज्यते ।

वही, पृ० २४३–४४ ।

४. अनाद्यविद्या परमात्मतत्त्वमावृत्य सर्वत्र गतं स्थितेयम् ।
अनेकविश्वात्मतया विचित्रा विवर्त्तते भाववपुश्चिदिद्धा ॥ ४६

शेष अगले पृष्ठ पर

(च) प्रत्यक्ष-ज्ञान के प्रकार—

विषयगत एवं ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व के पृथक्-पृथक् निरूपण के समान ही धर्मराजाध्वरीन्द्र ने प्रत्यक्ष-पदार्थ के ज्ञानत्व पक्ष को लेकर दो भेद बताये हैं—ईश्वरसाक्षी, व जीव-साक्षी; और विषयत्व पक्ष को लेकर दो भेद कहे हैं—सविकल्पक व निर्विकल्पक।

इनमें से प्रथम दो की चर्चा पहले की जा चुकी है (सप्तम अध्याय में)। द्वितीय दो यहाँ विवेच्य हैं, व्यावहारिक ज्ञान के सन्दर्भ में इनका विशेष महत्त्व भी है।

विकल्प का अर्थ है विविध कल्प, अनेक प्रकार। प्रकार—विशेषण या अनुवृत्ति; उससे पृथक् वस्तु विशेष्य। इन दोनों का अवगाहन करने वाला ज्ञान सविकल्पक होता है, जो वैसा नहीं, विविध कल्प से रहित है वही निर्विकल्पक है। 'गो' इस आकार का गोत्व-विशिष्ट गौ का ज्ञान केवल गोत्व का गौ में ग्रहण रूप हो तो निर्विकल्पक होता है। अनुवृत्ति-विशिष्ट गोत्व प्रकार का अवगाहक हो तो 'गौ' ऐसा ज्ञान सविकल्पक होता है। जहाँ ग्राहक इन्द्रिय संस्कारोद्बोध से सहकृत नहीं होती वह निर्विकल्पक ज्ञान होता है, तथा संस्कारोद्बोध से सहकृत इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाला ज्ञान सविकल्पक होता है।[1]

तत्र स्थितोऽन्तःकरणं शरीरेऽविद्याविवर्तो नयनादिवृत्या।
निर्गत्य संव्याप्य यथोचितं तद् घटादिवस्त्वस्ति हि तत्तदात्म ॥ ४७
तटाकस्थं जलं सेतुगतच्छिद्राद्यथा स्वयम्।
कुल्यात्मना विनिर्गत्य केदारान् सम्प्रविश्य च ॥ ४८
चतुष्कोणतया तद्वत् त्रिकोणत्वेन वाऽन्यथा।
तत्तत्केदाररूपेण भवतीदं मनस्तथा ॥ ४९
न स्यन्दते मन इदं जलवत्क्रमेण किन्त्वर्करश्मिवदिदं खलु तैजसत्वात्।
दीर्घप्रभाकृतितया परिणाममेति सङ्कोचमेति सहसा रविरश्मिवच्च ॥ ५०
दूरस्थितेन्दुगुरुशुक्रबुधध्रुवादिप्राप्तिर्झटित्यपि ततो मनसोऽस्य सिद्ध्येत्।
क्षीरादिवत् परिणतिस्तत एव सिद्धा चित्तस्य सावयवरूपतयाऽऽदिमत्त्वात् ॥ ५१
तच्चान्तःकरणं तथा परिणतं देहस्य चाभ्यन्तरे
कुम्भादौ विषये च तैजसवपुः संव्याप्य वृत्या स्वया।
मध्येऽच्छिन्नमिदं शरीरघटयोर्दण्डायमानं यतः
सर्वत्र व्यवतिष्ठते तत इदं त्रेधा स्थितं व्यापृतौ ॥ ५२

इत्यादि। प्र० त० चि० पृ० २०२-४।

1. कल्पो विकल्पः—अनेकप्रकारः। तथा चानुवृत्तितद्भिन्नद्विविधप्रकारावगाहि सविकल्पकम्। अतथाविधं किञ्चित्प्रकारावगाहने व्यनुवृत्त्यग्राहि निर्विकल्पकम्। गवादिषु प्रथमपिण्डग्रहणे संस्थानस्यानुवृत्ताकारता न प्रतीयते। द्वितीयादिग्रहणेषु तु तदेवेदं संस्थानम् इत्यनुवृत्तिधर्मविशिष्टत्वं प्रतीयत इति द्वैविध्यम्। संस्कारोद्बोधसहकृतेन्द्रियजन्यज्ञानं सविकल्पकम्, तद्रहितं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकमिति।

अ० त० शु० पृ० १५।

अथवा, विकल्प का अर्थ है संसर्ग या वैशिष्ट्य। जिस ज्ञान का विषय वैशिष्ट्य होता है वह सविकल्पक ज्ञान है। जैसे 'मैं घट को जानता हूँ' इस आकार के ज्ञान का विषय है घट-रूप विशेषण से विशिष्ट घट-ज्ञान। विशेषण-विशेष्य-सम्बन्ध ही वैशिष्ट्य या संसर्ग है। वही उक्त ज्ञान में विषय है। संसर्ग या वैशिष्ट्य का अवगाहक (ज्ञापक) होना ही ज्ञान का विकल्प से युक्त होना है। संसर्ग को विषय न करना, अर्थात् संसर्ग या विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध का ज्ञापक न होना ज्ञान का निर्विकल्पक होना है। ऐसे निर्विकल्पक ज्ञान का उदाहरण है 'यह वही व्यक्ति है' इत्यादि वाक्य से उत्पन्न ज्ञान।[1] विभिन्न देश-कालों से उपलक्षित एक ही व्यक्ति का अभेद ही इस वाक्य का विषय है, तथा उससे जन्य ज्ञान का भी। इसी के आधार पर वेदान्तवाक्य से निर्विकल्पक अपरोक्ष वस्तु के ज्ञान (अपरोक्षानुभूति) की सिद्धि की जाती है। वाक्य-जन्य होने पर भी वह ज्ञान प्रत्यक्षात्मक क्यों है—इसका सीधा उत्तर है कि उसका विषय प्रत्यक्षस्वभाव है। इसकी विशेष चर्चा द्वादश अध्याय में की जायेगी।

ये निर्विकल्पक व सविकल्पक केवल प्रत्यक्षज्ञान के ही भेद नहीं है, अपितु जन्यज्ञान-मात्र के भेद हैं। प्रत्येक विशिष्टज्ञान से पहले 'आलोचनमात्र' या निर्विकल्प ज्ञान अवश्य हुआ रहता है, जिसका स्वरूप है वस्तु के (अविशिष्ट) स्वरूप मात्र का ज्ञान। या स्वरूपमात्र-विषयक ज्ञान।[2]

प्रत्यक्ष के स्वरूप या भेद-रूप में निर्विकल्पक व सविकल्पक मानने के विषय में सामान्य रूप से तीन परम्परायें हैं।

(१) बौद्ध दर्शन में केवल निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रत्यक्ष माना गया है।[3]

(२) जैन तथा सांख्य-योग दर्शनों में प्रत्यक्ष प्रमाण रूप से सविकल्पक को ही स्वीकार किया है। निर्विकल्पक को 'अनध्यवसाय' (अनिश्चय)—रूप मानकर प्रमाण-कोटि से बाहर ही रखा है।[4]

---

१. सविकल्पकं वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं, यथा घटमहं जानामीत्यादि ज्ञानम्। निर्विकल्पकं तु संसर्गानवगाहि ज्ञानं यथा सोऽयं देवदत्तः तत्त्वमस्यादिवाक्य-जन्यं ज्ञानम्।
वे० प० पृ० ७७–७९।

२. अयं घट इति प्रत्यक्षात् पूर्वं स्वरूपमात्रविषयकं यद् ज्ञानमनुभूयते तस्य निर्विकल्पकत्वात् जात्यादीनामपि तादृशं ज्ञानमनुभूयमानं नापलपितुं शक्यते।
परि० प्र० पृ० ७७।

अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्॥ मी० श्लो० वा० ११२ पृ १४७।

३. प्रत्यक्षकल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्। न्या० त्रि० १।४।

४. न तावन्निर्विकल्पकम्; अध्यवसायविकलत्वात् तस्य। प्र०मा० पृ० ३१।
हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थंहि प्रमाणम्''।

शेष अगले पृष्ठ पर

(३) न्याय-वैशेषिक तथा पूर्व-उत्तर-मीमांसा में निर्विकल्पक व सविकल्पक द्विविध प्रत्यक्ष माना गया है।[3]

इनसे भी अतिरिक्त प्रत्यक्ष के और दो प्रकार बताये गये हैं—इन्द्रियजन्य और इन्द्रिय से अजन्य। इन्द्रिय से अजन्य का अर्थ है मन से जन्य या स्वरूपात्मक प्रत्यक्ष-सुख-दुःख आदि का ज्ञान तथा साक्षिरूप नित्यज्ञान।

२. अनुमान

(क) वेदान्ताभिमत प्रक्रियानुसार सामान्य निरूपण—

रसोईघर में तथा अन्य भी अनेक स्थानों में अग्नि के साथ ही धुँए को देखते रहने से देखनेवाले को ऐसी प्रतीति होती है कि जहाँ भी धुआँ दिखाई देता है वहाँ आग अवश्य होती है। इसे किञ्चित् पारिभाषिक शब्दों में कहें तो वह्नि का अधिकरण ही धूम का अधिकरण होता है। इसीसे आगे बढ़कर फिर यह ज्ञान होता है कि जहाँ-जहाँ धूम देखा गया वहाँ-वहाँ अग्नि भी देखी गई। इसलिए जहाँ कहीं धूम होगा वहाँ अग्नि भी अवश्य होगी—इसी स्थिति को—किसी एक वस्तु के अधिकरण में ही दूसरी वस्तु के रहने को, जो स्थान पहली वस्तु का अधिकरण न हो वहाँ दूसरी वस्तु के भी न रहने को—व्याप्ति कहा जाता है। इसमें पहली वस्तु व्यापक होती है, दूसरी व्याप्य। दोनों के मध्य सम्बन्ध है एक (व्याप्य) का दूसरे (व्यापक) के बिना न रहना (अविनाभाव)। यही व्याप्ति है।

इस व्याप्ति का पूर्वार्जित ज्ञान भी कभी किसी वस्तु के ज्ञान का कारण बना करता है, जैसे किसी निर्जन प्रदेश में खड़ा व्यक्ति किसी दूरस्थ स्थान से धूआँ उठता हुआ देखकर यह जान लेता है कि वहाँ पर आग है। यह धूआँ देखकर आग को जान लेना (जन्य) ज्ञान का एक प्रकार-विशेष है, इसके उत्पन्न होने में कारण है—रसोई घर आदि में वह्नि के

तन्निश्चयात्मकम्''''। प्र० मा० १।२,३।

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्। सां० का० ५।

इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्। यो० भा० १।७।

३. इह द्वयी प्रत्यक्षजातिः अविकल्पिका सविकल्पिका चेति। तत्र उभयी इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारीति लक्षणेन संगृहीतापि स्वशब्देन उपात्ता तत्र विप्रतिपत्तेः। तत्र अविकल्पिकायाः पदम् अव्यपदेश्यमिति सविकल्पिकायाश्च व्यवसायात्मकमिति। न्या० वा० ता० पृ० १२५।

आश्रय में ही धूएँ को देखते रहने से उत्पन्न उन दोनों के अविनाभाव-सम्बन्ध का ज्ञान। उस व्याप्तिज्ञान का ज्ञाता (अन्तःकरण) पर सूक्ष्म संस्कार बना हुआ था, वही यहाँ धूआँ देखने से जाग उठा। इससे उस पूर्वगृहीत व्याप्ति—जहाँ आग होती है, वहीं धूआँ होता है—का स्मरण हो आता है, इसी से यह विचार उठता है कि यहाँ धूआँ है तो आग भी अवश्य होगी और इसी युक्ति के वल पर वहाँ आग है, यह ज्ञान हो जाता है।

पहले देखी गई ज्ञान की प्रक्रिया के अनुसार देखें तो धुएँ से चक्षु का संयोग होने पर पूर्वोक्त व्याप्तिज्ञान का संस्कार उद्बुद्ध होकर उक्त युक्ति (धुआँ है तो आग भी अवश्य होगी) उदित होती है—अन्तःकरण व्याप्तिज्ञान के माध्यम से आग से सम्बद्ध होता है—इन्द्रिय के माध्यम से केवल धुएँ से सम्वद्ध होता है, यह धुएँ का दर्शन (प्रत्यक्ष) अपनी व्याप्यता के संस्कार को जगा देता है, इस संस्कार के माध्यम से अन्तःकरण व्यापकत्व से अवच्छिन्न अग्नि का आकार धारण करता है, तव इस वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य अग्नि के असत्त्वावरण (यहाँ कहीं अग्नि नहीं है—ऐसे अग्निविषयक अज्ञान) को हटा देता है, तव वहाँ अग्नि है ऐसा ज्ञान हो जाता है।

इस प्रकार से जिसे दूर देश में स्थित तथा इन्द्रियों द्वारा न देखी जाती हुई आग का ज्ञान होता है, वह उस स्थल तक स्वयं जाता है तो वहाँ अग्नि पाता है, अतः उसके उस ज्ञान द्वारा ज्ञात हुए विषय का वाध नहीं होता, तथा इस ज्ञान से पहले वह व्यक्ति उस अग्नि को नहीं जान पाया था, अतः वह अग्नि अज्ञात या अनधिगत था। ऐसे अगृहीत तथा अबाधित अग्नि-रूप विषय का ज्ञापक होने के कारण, व्याप्ति के संस्कार का उद्वोधक होते हुए व्याप्तिज्ञान के माध्यम से जो अन्तःकरण का अग्न्याकार परिणाम (वृत्ति) हुआ, वह (वृत्ति) प्रमाण है, तथा उसके द्वारा (उस वृत्ति में स्थित चैतन्य द्वारा) जो अग्नि का ज्ञान (अग्नि के असत्त्वापादक आवरण का नाश या अपसरण होने से वृत्त्यवच्छिन्न तथा अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य का एक होना—एक आवरण के हटने से जितनी अनावृत्ति हुई, उतनी को लेकर ही प्रमातृचैतन्य तथा वृत्तिस्थ विषय का अनावृत होना) हुआ वही प्रमा है।

यह प्रमाण तथा प्रमा जिस रीति से उदित होते हैं, उसमें एक ज्ञान के पीछे दूसरा ज्ञान होना प्रविष्ट होने से 'अनु + मा' धातु के प्रयोग से उन की संज्ञा अनुमान तथा अनुमिति दी गई है। यह इनका सामान्य विवरण हुआ। अथवा—किसी एक विषय के ज्ञान के पीछे-पीछे उसके साथ व्याप्ति-सम्वन्ध से सम्बद्ध विषय का ज्ञान होना—यह 'अनु + मा' का सामान्य स्वरूप है। इसे पारिभाषिक शब्दों में कहें तो—जिस ज्ञान (अन्तःकरणवृत्ति) से 'अनुमिति' नाम के अनुरूप यथार्थ ज्ञान (अनुमिति नाम की प्रमा) उत्पन्न हो या प्रकट हो वह—अनुमिति-प्रमा का असाधारण व साधकतम कारण (करण) अनुमान है।

(ख) विभिन्न दर्शनों में अनुमान का स्वरूप—

यह अनुमान प्रमाण न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त सभी में स्वीकृत है, किन्तु इसकी घटक वस्तुओं के स्वरूप को लेकर न्याय तथा वेदान्त सिद्धान्तों में प्रभूत विवाद है। वे हैं—(१) अनुमिति, (२) अनुमान या अनुमिति का करण क्या है ?

(३) अनुमान-प्रक्रिया; इसके अतिरिक्त (४) अनुमान की बीजभूता व्याप्ति के स्वरूप तथा अनुमान के प्रकारों के विषय में न्याय व वेदान्त दर्शनों की, अपनी-अपनी तत्त्वमीमांसा के अनुसार, भिन्न मान्यतायें हैं। वे दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं, अतः उन्हें एक साथ देखना होगा।

(१) अनुमिति

किस प्रमा का नाम अनुमिति है जिसका करण होने के नाते कोई प्रमाण अनुमान कहलाता है ? नैयायिक सिद्धान्त के अनुसार व्याप्ति से विशिष्ट पक्षधर्मताज्ञान (व्याप्ति) से युक्त वस्तुओं में एक-(व्याप्य) पक्ष (जिस स्थल पर किसी दिखाई न देती हुई वस्तु का अनुमान द्वारा ज्ञान किया जा रहा हो) में है, इसके ज्ञान-रूपी लिङ्गपरामर्श (वह्नि का व्याप्य धूम यहाँ पर है) से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान अनुमिति है।[1]

योगसूत्र के व्यास-भाष्य में कहा गया अनुमान का लक्षण न्याय व वेदान्त में कहे गए लक्षणों के पारिभाषिक सीमा-विवादों से मुक्त है तथा वेदान्त के अधिक अनुकूल जान पड़ता है। वह है—'अनुमेय का, अपने तुल्यजातीय स्थलों में अनुवृत्त तथा भिन्नजातीय स्थलों से व्यावृत्त जो सम्बन्ध (लिङ्ग) हैं, उसी को विषय करने वाली (उसे निमित्त बनाकर उत्पन्न होनेवाली) अनुमेय के सामान्य अंश (जैसे वह्निमत्त्व) का ही निश्चय करानेवाली वृत्ति अनुमान है। इसी वृत्ति के प्रतिविम्ब से युक्त चैतन्य अनुमिति रूप फल है।[2]

वेदान्त में—व्याप्तिज्ञानत्व से अवच्छिन्न जनकता से निरूपित जन्यता की आश्रयभूता प्रमा अनुमिति है। अथवा 'व्याप्ति-ज्ञान' होने के नाते ही व्याप्तिज्ञान जिसका जनक है ऐसा ज्ञान अनुमिति है।[3]

सामान्यरूप से यह कहा जा सकता है कि जो विषयज्ञान व्याप्तिज्ञान के द्वारा उत्पन्न हो वह अनुमिति है, किन्तु इससे अनुमिति का स्वरूप सम्यक् लक्षित नहीं होता। क्योंकि व्याप्तिज्ञान तो अपने अनुव्यवसाय एवं व्याप्तिस्मृति का भी जनक है। व्याप्तिज्ञान का अनुव्यवसाय है—'मैं व्याप्ति को जानता हूँ ऐसा प्रत्यक्षात्मक ज्ञान। प्रत्यक्ष के प्रति विषय कारण हुआ करता है, उक्त ज्ञान का विषय है व्याप्तिज्ञान। ऐसे ही स्मृति के प्रति अनुभव कारण होता है, तो व्याप्तिस्मृति के प्रति व्याप्ति का ज्ञान कारण है। इसलिए व्याप्तिज्ञान या व्याप्तिप्रकारक-ज्ञान से जन्य ज्ञान अनुमिति है ऐसा कहने से व्याप्ति के अनुव्यवसाय तथा स्मृति में भी अनुमिति संज्ञा प्राप्त होगी। इसलिए व्याप्तिज्ञान द्वारा जन्य होने में एक विशेषण (अवच्छेदक, सीमानिर्धारक) लगाकर कहा गया है कि जिसके उत्पन्न होने में व्याप्तिज्ञान अपने व्याप्ति-

---

१. परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः। सि० मु० पृ० २०७।
व्यापारस्तु परामर्शः करणं व्याप्तिधीर्भवेत्। अनुमायाम्...। कारि० ६६।
व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीः परामर्श उच्यते। कारि० ६८।

२. अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः संबन्धोयस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्। यो० भा० पृ० ३०-३१।

३. अनुमितिश्च व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्या। (व्याप्तिज्ञानत्वावच्छिन्नजनकता-निरूपितजन्यताश्रयाऽनुमितिरित्यर्थः) वे० प० एवं परि० प्र० पृ० १४३।

ज्ञानत्वरूप से ही कारण हो वही अनुमिति है। अनुव्यवसाय आदि में तो वह विषय या अनुभवरूप से कारण होता है 'व्याप्तिज्ञान रूप से नहीं।' अथवा अनुव्यवसाय के प्रति व्याप्तिज्ञान की जनकता में अवच्छेदक है विषयत्व, स्मृति के प्रति अनुभवत्व तथा अनुमिति के प्रति व्याप्तिज्ञानत्व।

(२) अनुमितिकरण

इस अनुमिति का करण क्या है जिसे अनुमान प्रमाण कहा जायेगा ?

अनुमिति के विवरण में ही यह सूचित हो गया कि व्याप्तिप्रकारक (धूआँ अग्नि का व्याप्य है—ऐसा) ज्ञान अनुमिति का अनिवार्य कारण है। वही करण है या नहीं ? व्यापार से युक्त असाधारण कारण करण होता है। यदि व्याप्तिज्ञान को करण मानें तो व्याप्ति के संस्कार को व्यापार मानना होगा, उससे यह आपत्ति उठ खड़ी होगी कि (१) संस्कार से उत्पन्न होने वाली होने से अनुमिति व्याप्ति-स्मृति के तुल्य ही हो जायेगी, क्योंकि व्याप्ति-संस्कार में अनुमिति का उत्पादक होना तो उसे व्यापार मानने से ही सिद्ध हो जाता है—'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम्'—व्यापार का लक्षण होने से। और (२) इसी के द्वारा कार्य (अनुमिति) सम्भव होने पर इस (व्यापार) का जनक व्याप्तिज्ञान घट की उत्पत्ति होने में कुम्हार के पिता के समान अन्यथासिद्ध ही हो जाता है (जिसके रहे विना कार्योत्पत्ति में कोई क्षति नहीं) जिससे वह करण कहला ही नहीं सकता। किन्तु यह आपत्ति अपरिहार्य नहीं। संस्कारजन्या होने भर से अनुमिति स्मृति-तुल्य नहीं हो जाती जैसे कि संस्कारध्वंस संस्कारजन्य होने पर भी स्मृति नहीं होता।[1] तथा, व्यापार से सहकृत कारणता करण में प्रामाणिक रूप से प्रसिद्ध है; व्यापार से युक्त होना करण के लक्षण में ही प्रविष्ट होने से। अतः व्यापार में स्थित कारणता को लेकर प्रमुख कारण अन्यथासिद्ध नहीं होता,[2] अतः व्याप्तिज्ञान अनुमिति का करण हो सकता है, वही अनुमान-पदार्थ है।

नैयायिक कहते हैं—साध्य (प्रयुज्यमान अनुमान प्रमाण द्वारा जिसका ज्ञान अभीप्सित है—वह्नि) से व्याप्य (—साध्य की व्याप्ति से युक्त) हेतु (व्यापक का चिह्न-धूम) से युक्त पक्ष है—जैसे वह्नि का व्याप्य धूआँ इस पर्वत में है—ऐसा (तृतीय लिङ्गपरामर्श) ही अनुमिति का करण है। रसोईघर में जब धूम व अग्नि की व्याप्ति ज्ञात होती है उस समय धूम का लिङ्गरूप से पहला ज्ञान होता है। फिर वन या पर्वत के समीप जाने पर दूर से उठता हुआ धूआँ दिखाई देता है वह द्वितीय लिङ्गज्ञान है। उसके बाद 'यह पर्वत वह्निव्याप्य धूमवान् है' ज्ञान होता है, इसमें भी धूम ही विषय है अतः यह तृतीय लिङ्गज्ञान है; यही परामर्श है।

---

१. अनुमितिकरणञ्च व्याप्तिज्ञानम्। तत्संस्कारोऽवान्तरव्यापारः।····न च संस्कार-जन्यत्वेनानुमितेः स्मृतित्वापत्तिः, स्मृतिप्रागभावजन्यत्वस्य संस्कारमात्रजन्यत्वस्य वा स्मृतित्वप्रयोजकतया संस्कारध्वंससाधारणसंस्कारजन्यत्वस्य तदप्रयोजकत्वात्। वे० प० पृ० १४४–४८।

२. तदुक्तम्—'व्यापारेण व्यापारिणो नान्यथासिद्धत्वमिति।' परि० प्र० पृ० १४५।

इसी के अनन्तर अग्रिम क्षण में 'पर्वत वह्निमान् है' अनुमिति होती है। अतः यह तृतीय लिङ्ग-परामर्श ही अनुमिति का करण मानना चाहिए।[1]

न्यायमत में असाधारण कारण ही करण है अतः उन्हें मध्यवर्ती व्यापार की अपेक्षा नहीं है।

वेदान्ती उक्त नैयायिकमत को उचित नहीं मानते। क्योंकि पक्षधर्मताज्ञान ('पर्वत धूमवान् है' ऐसा पक्ष में हेतु के रहने के ज्ञान) से रसोईघर में गृहीत व्याप्तिज्ञान का संस्कार जागृत होता है, तब व्याप्ति का स्मरण होते ही अग्नि की अनुमिति हो जाती है। परन्तु लिङ्गज्ञान या हेतु के पक्ष में रहने का ज्ञान होने के बाद भी यदि किसी कारण से व्याप्ति का स्मरण न हुआ तो अनुमिति नहीं होती—इस अन्वय-व्यतिरेक से अनुमिति के प्रति व्याप्तिज्ञान में ही नियत कारणता दिखाई देती है, परामर्श में नहीं, तथा परामर्श होने पर ही अनुमिति हो, परामर्श न हो तो अनुमिति भी न हो—ऐसा नहीं होता, क्योंकि जब पक्षधर्मताज्ञान और व्याप्तिज्ञान के कारण ही अनुमिति होती है तब बिना परामर्श के भी वह होती है, तथा भूत या भावी लिङ्ग से भी अनुमिति हुआ करती है, जहाँ तृतीय लिङ्गपरामर्श सम्भव ही नहीं। इसलिए व्यभिचरित होने के कारण परामर्श में कारणता ही नहीं रहती तो करणता तो दूर की बात है।[2] और भूत व भावी लिङ्गों से भी अनुमिति देखी जाने से 'ज्ञायमान लिङ्ग' या ज्ञान में विषय बनता हुआ लिङ्ग ही अनुमिति का करण है ऐसा प्राचीन नैयायिक मत भी ठीक नहीं। अतः व्याप्तिज्ञान ही अनुमिति का करण है। सिद्धान्तमुक्तावली में व्याप्तिज्ञान को ही अनुमिति का करण तथा परामर्श को व्यापार कहा गया है।[3]

प्रमाण क्या है इसके विश्लेषण में हम देख चुके हैं कि प्रमा के उदय के प्रति साधकतम होती है वृत्ति ही, जो विषय तथा प्रमाता के अज्ञानावरण को हटाती है। वह आवरण असत्त्वापादक तथा अभानापादक भेद से द्विविध होता है, इसे भी प्रसङ्गतः देखा जा चुका है। अनुमिति-स्थल में अनुमान रूपा वृत्ति ही अन्तःकरण के अवच्छेद से (प्रमाता पर से) वह्नि-विषयक असत्त्वापादक आवरण को हटा देती है, इसी से 'वहाँ वह्नि है' ऐसा व्यवहार

---

१. लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्।....व्याप्तिबलेनार्थगमकं लिङ्गम्....तस्य तृतीयं ज्ञानं परामर्शः। तथा हि प्रथमं तावन्महानसादौ भूयो भूयो धूमं पश्यन् वह्निं पश्यति। तेन धूमाग्न्योः स्वाभाविकं सम्बन्धमवधारयति।....अनेन न्यायेन व्याप्तौ गृह्यमाणायां, महानसे यद्धूमज्ञानं तत्प्रथमम्। पर्वतादौ पक्षे धूमज्ञानं द्वितीयम्। ततः पूर्वगृहीतां धूमाग्न्योर्व्याप्तिं स्मृत्वा यत्र धूमस्तत्राग्निरिति तत्रैव पर्वते पुनर्धूमं परामृशति अस्त्यत्र पर्वते वह्निना व्याप्तो धूम इति। तदिदं धूमज्ञानं तृतीयम्।
तर्क० पृ० ७१, ७२, ७७।

२. न तु तृतीयलिङ्गपरामर्शोऽनुमितौ करणम्; तस्यानुमितिहेतुत्वासिद्ध्या तत्करणत्वस्य दूरनिरस्तत्वात्। वे० प० पृ० १४४।

३. व्यापारस्तु परामर्शः करणं व्याप्तिधीर्भवेत्। कारि० ६६।

(जो अनुमिति का आकार है) हो पाता है, ऐसा आचार्य मधुसूदन ने संक्षेपशारीरक की टीका में प्रतिपादित किया है।[1]

'यह स्थल धूम से युक्त है'—ऐसा पक्षधर्मताज्ञान होने पर पहले ही अनुभूत या ज्ञात धूम में वह्नि की व्याप्ति का (व्याप्तिविषयक) संस्कार उद्‌बुद्ध होने पर 'यह' स्थल वह्नि से युक्त है, ऐसी अनुमिति होती है। इस प्रकार उद्‌बुद्ध व्याप्ति-संस्कार ही अनुमिति का करण है, इसके मध्य में (उद्‌बुद्ध संस्कार तथा अनुमिति के बीच) व्याप्ति का स्मरण अथवा 'वह्नि के व्याप्य धूम से यह पर्वत युक्त है ऐसे विशिष्ट-वैशिष्ट्य-बोधात्मक परामर्श की कल्पना करना अनावश्यक एवं व्यर्थ गौरवापादक है। इसीलिए वेदान्तमत में उसे करण नहीं माना गया, क्योंकि उक्त रीति से उसमें सामान्य कारणता भी सिद्ध नहीं होती तो विशेष (असाधारण) कारणता-रूपा करणता तो हो ही नहीं सकती।

(३) अनुमान-प्रक्रिया

नैयायिक तथा वेदान्ती अनुमान-प्रक्रिया (जिसका विवरण कहा जा चुका है) को क्रमशः देखें तो पहले में गौरव तथा द्वितीय में लाघव स्पष्ट सामने आता है :—

न्याय	वेदान्त
१—धुएँ के साथ अग्नि का बार-बार देखा जाना,	१—भूयोदर्शन या सकृद् दर्शन
२—उनमें व्याप्ति का निश्चय होना (यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः)	२—व्याप्तिनिश्चय (करण)
३—व्याप्ति का संस्कार बनना	३—व्याप्ति-संस्कार
४—कहीं धूआँ देखना ('धूम्रवान् पर्वतः')	४—धूमदर्शन
५—व्याप्ति-संस्कार का जगना ('धूमो वह्निनिरूपितव्याप्त्याश्रयः')	५—व्याप्ति-संस्कारोद्‌बोध (सहकारी)
६—व्याप्तिस्मृति	६—अनुमिति
७—तृतीय लिङ्गपरामर्श (वह्निव्याप्यधूमवानयम्)	
८—अनुमिति (पर्वतो वह्निमान्)	

उक्त अनुमान-प्रक्रिया में प्रथम तीन स्तर तो करण के ही सङ्ग्राहक या सङ्घटक हैं। चतुर्थ प्रत्यक्ष ज्ञान है, जो अनुमिति के उपस्थापक अवान्तर व्यापार का प्रयोजक होने के नाते सहकारी कारण कहा जा सकता है। अनुमिति के प्रकट आकार 'पर्वत वह्निमान् है' में भी

---

१. अनुमानरूपवृत्त्याऽन्तःकरणावच्छेदेन वह्निविषयकाज्ञानापसरणात्। वह्निमहं न जानामीत्यनुभवेन वह्नावात्मनि चाज्ञानसाधनात् तदन्यतरावरणभङ्गस्य च वह्नि-व्यवहारहेतुत्वमिति वक्ष्यते।

सा० सं० १।२७, पृ० ३६-३७।

अनुमितित्व वह्निमत्त्वज्ञान (जो अन्ततः वह्निज्ञान में पर्यवसित होता है) में ही है। पर्वत अंश प्रत्यक्षात्मक है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष प्रमाण से ही ज्ञात हो रहा होता है।[1]

(४) व्याप्ति का स्वरूप एवं अनुमानभेद

व्याप्तिज्ञान-रूप अनुमितिकरण की विशेषणभूता व्याप्ति का स्वरूप सामान्य रूप से तो—हेतु का साध्य के आश्रयों में ही रहना, एवं जहाँ साध्य नहीं, वहाँ हेतु का भी न रहना है।[2] इसकी केवलान्वयी स्थल में अव्याप्ति होती है, क्योंकि व्यतिरेक अंश वहाँ लगता नहीं, क्योंकि ज्ञेयत्व, वाच्यत्व आदि का अभाव कहीं नहीं मिलता। तत्त्वचिन्तामणि में उक्त अव्याप्ति से रहित व्याप्तिलक्षण कहा गया है—प्रतियोगी के असमानाधिकरण हेतु के अधिकरण में रहने वाले अभाव के प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न से जो भिन्न हो उसके साथ हेतु का सामानाधिकरण्य व्याप्ति है।[3] जैसे धुएँ के अधिकरण पर्वत में 'अग्नि नहीं है' ऐसा अभाव नहीं मिल सकता, 'घट नहीं है' ऐसा अभाव रह सकता है। उसकी प्रतियोगिता घटनिष्ठा है, प्रतियोगितावच्छेदक है घटत्व, उससे अवच्छिन्न है घट। उससे भिन्न है अग्नि। उसके साथ धुंए का सामानाधिकरण्य है, यही धूम में अग्नि की व्याप्ति है। यह लक्षण केवलान्वयी में अव्याप्त नहीं, क्योंकि इसमें साध्याभाव पद का निवेश नहीं है। इसे ही सिद्धान्तमुक्तावली में सरल शब्दों में कहा है कि हेतुमान् में स्थित अभाव के अप्रतियोगी साध्य के साथ हेतु का सामानाधिकरण्य व्याप्ति है।[4] वेदान्त में—समस्त साधनाश्रयों में आश्रित साध्य के समानाधिकरण होना साधन में साध्य की व्याप्ति है। संसार में जितने भी स्थानों पर धूआँ है उतनों पर अग्नि भी रहता है। अग्नि का अधिकरण ही धूएं का अधिकरण होता है, यही स्थिति धुएँ में अग्नि की व्याप्ति है।[5] वेदान्तसम्मत इस लक्षण में 'अशेष' विशेषण से ही सभी सम्भव दोष निराकृत हो जाते हैं। इस व्याप्ति का ग्रहण होता है—कभी भी, कहीं भी व्यभिचार न देखे जाने के साथ दो वस्तुओं का सहचार देखे जाने से। यह साहचर्य एक बार भी देखा जाना व्याप्ति का ग्राहक हो सकता है, अधिक वार देखना आवश्यक नहीं।[6]

(ग) प्रकार

यह अनुमान वेदान्त में केवल एक ही प्रकार का स्वीकृत है—अन्वयी रूप। नैयायिक केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी भेद भी मानते हैं। वेदान्त में इनका अवकाश

---

१. पर्वतो वह्निमान् इति ज्ञानस्य वह्न्यंश एवानुमितित्वं न पर्वताद्यंशे। तदंशे प्रत्यक्षत्वस्योपपादितत्वात्। वे० प० पृ० १५१।

२. व्याप्तिः साध्यवदन्यस्मिन्नसम्बन्ध उदाहृतः। कारि० ६८।

३. प्रतियोग्यसमानाधिकरण्यात्समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नं यन्न भवति तेन समं तस्य सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः। सि० ल० पृ० १।

४. अथवा हेतुमन्निष्ठविरहाप्रतियोगिना। साध्येन हेतोरैकाधिकरण्यं व्याप्तिरुच्यते। कारि० ६९।

५. अशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्यसामानाधिकरण्यरूपा व्याप्तिः। वे० प० पृ० १५१।

६. सा च व्यभिचारादर्शने सति सहचारदर्शनेन गृह्यते। तच्च सहचारदर्शनं भूयोदर्शनं सकृद्दर्शनं वेति विशेषो नादरणीयः। सहचारदर्शनस्यैव प्रयोजकत्वात्। वे० प० पृ० १५२।

ही नहीं, क्योंकि जहाँ साध्य अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी नहीं होता वैसी अनुमिति का करण केवलान्वयी होता है, वेदान्त में तो समस्त वस्तु ब्रह्म में आरोपित हैं। अतः सभी ब्रह्मनिष्ठ अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी हैं, अतः हेतु के अधिकरण में रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी न हो ऐसा कोई साध्य संभव ही नहीं[1]।

३. उपमान

(क) वेदान्तसम्मत स्वरूप व न्याय से तुलना

सादृश्य-ज्ञान का साधन उपमान प्रमाण है। अमुक वस्तु अमुक के सदृश है इस प्रकार से दो वस्तुओं की सदृशता या एक वस्तु में स्थित दूसरी वस्तु के सादृश्य का आकलन (अवश्य ही तुल्य रीति से किन्हीं वस्तुओं के वैधर्म्य या विलक्षणता का भी आकलन) जिस अन्तःकरणवृत्ति से होता है उसे उपमान प्रमाण कहा गया है। इसे अवश्य ही प्रत्यक्ष, अनुमान आदि से पृथक् करना पड़ता है क्योंकि उनमें से किसी में इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष वर्तमान काल के ही स्थूल-सूक्ष्म विषय से इन्द्रियसन्निकर्ष होकर उदित हुए विषयाकार मनःपरिणाम को कहा गया है, तथा व्याप्तिज्ञान के द्वारा उत्पन्न होने वाले अप्रस्तुत, इन्द्रियासन्निकृष्ट वस्तु के ज्ञान को अनुमिति कहा है। दृश्यमान वस्तु से भिन्न ही किसी वस्तु की इस वस्तु से तुलना कर पाने का इन दोनों में ही कोई अवकाश नहीं। जितना सा, जो कुछ सामने स्थित है या प्राप्त है, उसे ही प्रकाशित करना-भर प्रत्यक्षप्रमाण का कार्य है। इस प्रकाशित या ज्ञात होती हुई वस्तु की, किसी अन्य वस्तु से सम्बद्ध तुलनात्मक (साधर्म्य या वैधर्म्य-रूपा) विशेषता किसी भी प्रकार प्रत्यक्ष का विषय नहीं बन सकती। और अनुमान की तो परिस्थिति ही सर्वथा भिन्न है; अतः इन दोनों से पृथक् ही एक ऐसा प्रमाण मानना अनिवार्य है जो 'सादृश्य' नाम की वस्तु को विषय बना सके; उसके ज्ञान का साधन बन सके; वही है उपमान।

सांख्य में इसे प्रत्यक्ष में ही अन्तर्निविष्ट किया गया है,[2] किन्तु उसमें युक्तिसङ्गति न देखकर न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा-वेदान्त सिद्धान्तों में उपमिति की पृथक् प्रमा रूप से

---

१. तच्चानुमानमन्वयिरूपमेकमेव, न तु केवलान्वयि; सर्वस्यापि धर्मस्यास्मन्मते ब्रह्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेनात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यत्वरूपकेवलान्वयित्वस्यासिद्धेः, नाप्यनुमानस्य केवलव्यतिरेकिरूपत्वम्, साध्याभावे साधनाभावनिरूपितव्याप्तिज्ञानस्य साधनेन साध्यानुमितावनुपयोगात्। वे० प० पृ० १५२–१५६।

२. यत्तु गवयस्य चक्षुःसन्निकृष्टस्य गौसादृश्यज्ञानं तत्प्रत्यक्षमेव अत एव स्मर्यमाणायां गवि गवयसादृश्यज्ञानं प्रत्यक्षम्। सां० त० कौ० पृ० १२०–२१।

तथा उसके करण की पृथक् प्रमाण रूप से गणना की गई है। अवश्य ही, न्याय तथा वेदान्त में उपमिति का स्वरूप नितान्त भिन्न रूप से व्याख्यात है, और उसमें कारण हैं दोनों के प्रयोजनों में भेद। नैयायिक शाब्द ज्ञान के उपजीवक के रूप में उपमान का प्रामाण्य मानते हैं जिसमें कि शब्द का शक्ति-ग्रहण अथवा शब्द का अर्थ क्या है इसे समझना फल होता है। इसीलिये उनके यहाँ पदवाच्यत्वप्रकारिका प्रतीति उपमिति है। सादृश्यज्ञान उसमें साधनमात्र है। मीमांसकों को **'प्रकृतिवत् विकृतिः कर्तव्या'** ऐसे व्यापक अतिदेश में प्रविष्ट 'वत्'—सादृश्य-बोधक शब्द की उपपत्ति तथा अर्थ-स्पष्टीकरण के लिए सादृश्य वस्तु के ज्ञापक की अपेक्षा है, अतएव वे सादृश्यज्ञान के साधक रूप में उपमान् प्रमाण तथा, उसके फल रूप में उपमिति प्रमा को स्वीकार करते हैं। वेदान्ती का लक्ष्य है ब्रह्म की अद्वितीयतत्त्वता को सिद्ध करना, उसके लिये अपेक्षित है ब्रह्म से इतर सभी कुछ के मिथ्यात्व की सिद्धि, और मिथ्यात्व के लक्षण या अर्थ में सन्निविष्ट है—सत्, असत्, सदसत् आदि सभी कोटियों से विलक्षण होना। इस वैलक्षण्य की व्याख्या, सादृश्य-वैधर्म्य की व्याख्या और ज्ञान के बिना संभव नहीं, इसी उद्देश्य से सादृश्य-प्रमा-रूपा उपमिति तथा उसका करण उपमान माना गया है।[1]

(ख) न्याय व वेदान्त की उपमिति-प्रक्रिया

न्याय में पदवाच्यत्वप्रकारिका प्रतीति उपमिति है। गवय शब्द का अर्थ कुछ है, ऐसा सामान्यतः जानने वाले, विशेष रूप से वह क्या है यह न जानने वाले किसी ग्रामीण के पूछने पर कि 'नीलगाय' (गवय) किसे कहते हैं, किसी अरण्यनिवासी ने कहा कि गौ के समान दिखनेवाले शरीरवाला पशु गवय कहलाता है। इसके पश्चात् उस ग्रामीण ने कहीं जङ्गल में गौ के समान पशु देखा, तब सोचा कि यही तो गौ के समान दिखता है। साथ ही याद आया उस अरण्यवासी का कथन 'गौ के समान आकृतिवाला पशु गवय होता है', तब इस ग्रामीण ने जाना या समझा कि यही नीलगाय है या गवय शब्द का अर्थ यही है।

इसमें—(१) गवय में गौ का सादृश्य देखना करण है, (२) आरण्यक के कथन का स्मरण व्यापार है, तथा (३) यह दिखता हुआ पशु गवय-पदवाच्य है, अथवा ऐसा पशु गवय पद का वाच्य (अर्थ) है—यह ज्ञान उपमिति प्रमा है।[2] यह प्रत्यक्ष नहीं क्योंकि इन्द्रिय व्यापार हट जाने के बाद भी यह ज्ञान उत्पन्न होता है; अनुमिति नहीं, क्योंकि व्याप्ति-ज्ञान के बिना ही उत्पन्न होता है; शाब्द ज्ञान भी नहीं क्योंकि यहाँ गवयत्वविशिष्ट का उपस्थापक कोई शब्द नहीं है, प्रत्युत गवय के अर्थ का ग्रहण हो रहा है।

---

१. न्यायसिद्धान्तमञ्जर्यां तु—सादृश्यज्ञानमिव वैधर्म्यज्ञानमप्युपमानमेवेति निरूपितम्, तन्मतानुसारे तु ब्रह्मवैलक्षण्येन च सदसद्विलक्षणत्वरूपमिथ्यात्वनिर्णय उपमानप्रमाण-निरूपणस्य फलम्। परि० प्र० पृ० १७६।

२. ग्रामीणस्य प्रथमतः पश्यतो गवयादिकम्।
सादृश्यधीर्गवादीनां या स्यात् सा करणं मतम्॥
वाक्यार्थस्यातिदेशस्य स्मृतिर्व्यापार उच्यते।
गवयादिपदानां तु शक्तिधीरुपमा फलम्॥ कारि० ७९–८०।

वेदान्त में—सादृश्यप्रमा उपमिति है, उसका करण उपमान है। नगर में या अपने घर में जिसने गौ देखी है, ऐसा व्यक्ति जङ्गल में कदाचित् नीलगाय को देखता है। इस नये पशु से इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर उसे पहले प्रतीति होती है कि यह शरीर गौ के समान है, फिर प्रतीति होती है कि मेरी गौ इस पशु के समान है। इनमें पहली प्रतीति (गवयनिष्ठ गोसादृश्यज्ञान) करण है और दूसरी (गोनिष्ठ गवयसादृश्यज्ञान) फल है।[1]

४. अर्थापत्ति

(क) परिचय व स्वरूप—

कभी-कभी किसी वस्तु का ज्ञान विवश करता है किसी अन्य वस्तु के ज्ञान के लिए, क्योंकि उस दूसरी वस्तु के विना पहली वस्तु तथा उसके ज्ञान का होना उपपन्न-युक्तिसङ्गत नहीं होता, तब इसकी उपपत्ति (युक्तिसङ्गति) के लिए किसी अन्य वस्तु का कल्पना द्वारा ज्ञान कर लेना पड़ता है। अथवा पहली वस्तु की असङ्गति, असमञ्जसता ही सामञ्जस्य कराने वाली किसी वस्तु का ज्ञान करा देती है। जैसे कि—हम देखें कि कोई सामान्य व्यक्ति अच्छा हृष्ट-पुष्ट दिखाई देता है जब कि दिन-भर कुछ भी भोजन नहीं करता। इतना हमारे अनुभव से सिद्ध है कि भोजन ही शारीरिक पुष्टि का कारण होता है। यहाँ देखते हैं कि शारीरिक पुष्टि तो है पर दिन भर भोजन नहीं है, भोजन व पुष्टि के नियत कारण-कार्य-सम्बन्ध का विरोध सामने आता है, यही पुष्टि की असङ्गति है, जो हठात् विवश करती है यह सोचने के लिए कि यह व्यक्ति रात को भोजन करता होगा। इस प्रकार रात में उसका भोजन करना देखे न जानें पर भी जान लिया जाता है—दिन में भोजन न करने पर भी अति पुष्ट बने रहने वाले शरीर को देख कर। यह ज्ञान का एक पृथक् ही मार्ग है, ऐसा मीमांसक तथा वेदान्ती मानते हैं। न्याय-वैशेषिक तथा सांख्य सिद्धान्तों में अनुमान के अनेक प्रकार स्वीकृत हैं, उन्हीं में से एक से इस प्रकार के ज्ञान का निर्वाह कर लिया गया है,[2] किन्तु मीमांसा में

---

१. सादृश्यप्रमाकरणम् उपमानम्। तथाहि—नगरेषु दृष्टगोपिण्डस्य पुरुषस्य वनं गतस्य गवयेन्द्रियसन्निकर्षे सति भवति प्रतीतिः अयं पिण्डो गोसदृश इति, तदनन्तरं च भवति अनेन सदृशी मदीया गौरिति। तत्र अन्वयव्यतिरेकाभ्यां गवयनिष्ठगोसादृश्यज्ञानं करणं गोनिष्ठगवयसादृश्यज्ञानं फलम्। वे० प० पृ० १७६-७७।

२. जीवतश्चैत्रस्य गृहाभावदर्शनेन वहिर्भावस्य अदृष्टस्य कल्पनमर्थापत्तिरभिमता वृद्धानां साऽप्यनुमानमेव।''''सतो गृहाभावदर्शनेन लिङ्गेन वहिर्भावदर्शनमनुमानमेव। सां० त० कौ० पृ० १२२—२५।

उस असमञ्जसता को हटाने के लिये अनुमान से इतर तथा प्रत्यक्षादि से असम्भाव्य ज्ञान की पञ्चम विधा मानना अनिवार्य प्रतीत हुआ।[1] अद्वैतवेदान्त का भी प्रमाण-प्रमेय-विभाग आदि समस्त व्यावहारिक पक्ष भाट्टमीमांसकों का अनुसरण करता है। अतः वेदान्त में भी भाट्ट रीति से ही पञ्चम प्रमा व उसके करण का निरूपण हुआ है। तथा प्रपञ्च के मिथ्यात्व की सिद्धि में अनुमान का प्रवल सहायक वना है यह पञ्चम प्रमाण।

सिद्धान्ततः इसका स्वरूप है—उपपाद्य के ज्ञान द्वारा उपपादक की कल्पना (ज्ञान) तथा इसे संज्ञा दी गई है अर्थापत्ति।[2] यह संज्ञा इस ज्ञान-विधा के करण-रूप तथा फल-रूप दोनों की वोधक है, अपने व्युत्पादक प्रवृत्तिनिमित्त के भेद से। 'अर्थस्य (उपपादकस्य) आपत्तिः' इस षष्ठीतत्पुरुष से अर्थापत्ति-प्रमा कही जाती है तथा 'अर्थस्य आपत्तिः यस्मात् तत्' ऐसे वहुव्रीहि समास द्वारा अर्थापत्ति-प्रमाण कहा जाता है।

किसी के विना जो अनुपपाद्य हो वह उपपाद्य होता है अर्थात् जिसे किसी ऐसी वस्तु की अपेक्षा हो जो इसकी असञ्जसता दूर कर सके, वह उपपाद्य होता है, । तथा जिसके अभाव में कुछ अनुपपन्न है, अर्थात् अनुपपत्ति हटने में जिसकी अपेक्षा है वह उपपादक होता है; जैसे दिन में न खाने वाले का अति हृष्ट-पुष्ट रहना अनुपपन्न है रात्रिभोजन के विना, तो यह पुष्टि उपपाद्य है, और इस पुष्टि की अनुपपत्ति हटने के लिए अपेक्षा है रात्रिभोजन की, तो वही उपपादक है। उपपाद्य का ज्ञान करण वनता है और उपपादक का ज्ञान फल होता है। पूर्वोक्त रीति से ये दोनों अर्थापत्ति शब्द के अर्थ हैं। रात्रिभोजन की कल्पना ही उपपादक अर्थ की आपत्ति रूप प्रमिति है।[3]

---

१. स्मृत्या श्रुतिर्या परिकल्प्यतेऽस्मिन्
लिङ्गादिभिर्या विनियोजिका च।
फलादिभिर्यत् परिपूरणं च,
सम्वन्धकृत् तत्र न किञ्चिदस्ति॥
तत्सर्वमित्याद्यसमञ्जसं स्यात्
न चेदियं स्यादनुमानतोऽन्या।
मी० श्लो० वा० अर्थ० ८७-८८ पृ० ४०७-८।

२. उपपाद्यज्ञानेनोपपादककल्पनमर्थापत्तिः। वे० प० पृ० २३६।

३. येन विना यद् अनुपपन्नं तत् तत्र उपपाद्यम्। यस्य अभावे यस्य अनुपपत्तिः तत् तत्र उपपादकम्। यथा रात्रिभोजनेन विना दिवा अभुञ्जानस्य पीनत्वमनुपपन्नमिति तादृशपीनत्वम् उपपाद्यम्। यथा वा रात्रिभोजनस्य अभावे तादृशपीनत्वस्यानुपपत्तिरिति रात्रिभोजनमुपपादकम्। रात्रिभोजनकल्पनारूपायां प्रमितौ अर्थस्यापत्तिः कल्पनेति पष्ठीसमासेन अर्थात्तिपशब्दो वर्त्तते, कल्पनाकरणपीनत्वादिज्ञाने तु अर्थस्यापत्तिः कल्पना यस्मादिति बहुव्रीहिसमासेन वर्त्तते इति फलकरणयोः उभयोः तत्पदप्रयोगः। वही पृ० २३७-३८।

(ख) प्रकार—

यह अर्थापत्ति दो प्रकार की है—दृष्टार्थापत्ति तथा श्रुतार्थापत्ति। जब अर्थापत्ति का विषय दृष्ट होता है, तब उसे दृष्टार्थापत्ति कहते हैं। जैसे सामने दिखाई पड़ते हुए पदार्थ का पहले 'यह चाँदी है' ऐसा ज्ञान होता है, किन्तु वहाँ जाकर उस वस्तु को हाथ में लेने पर 'यह चाँदी नहीं है' ऐसा ज्ञान होता है। अव 'चाँदी है' ऐसा ज्ञान हुआ था इसलिए मानना पड़ेगा कि वहाँ पर चाँदो थी ही, किन्तु किसी भी प्रकार से उस चांदी को वहाँ से हटाने की कोई क्रिया न होने पर भी दूसरा ज्ञान हुआ है कि यह चाँदो नहीं है। यदि वास्तव में रजत यहाँ रहा होता—जो चाँदी पहले ज्ञान का विषय वनी थी वह सत्य होती, तो अव वही—उस दृष्टि का लक्ष्य वनी हुई वस्तु—'यह रजत नहीं है' ऐसे निषेधात्मक ज्ञान को न उत्पन्न करतो। अथवा सीधे शब्दों में कहें तो अव रजत का निषेध न होता। पहले रजत की प्रतीति तथा अब रजत का निषेध अनुपपन्न हैं, यदि वह रजत सत्य से भिन्न न हो; अथवा उस रजत में सत्यत्व का अत्यन्ताभाव न हो। इस प्रकार की प्रतीति तथा निषेध उसके मिथ्यात्व के कल्पक वनते हैं या रजत के मिथ्यात्व की कल्पना में पर्यवसित होते हैं, अन्यथा (मिथ्यात्व के बिना) अनुपपन्न होने से। यहाँ रजत तथा शुक्ति दोनों ही दृष्ट पदार्थ हैं, अतः यह दृष्टार्थापत्ति है।[1]

जव सुने गये वाक्य के मुख्य अर्थ की अनुपपत्ति के कारण अन्य अर्थ की कल्पना की जाती है तव श्रुतार्थापत्ति होती है। जैसे उपनिषत् से सुना **'तरति शोकमात्मवित्'**—आत्मवेत्ता ज्ञानी शोक (संसार) से पार हो जाता है। इसमें शोक शब्द का वाच्य है समस्त वन्ध, तथा वाक्य का निष्कृष्ट अर्थ है, समस्त वन्ध (संसार) ज्ञान द्वारा निवर्त्य है। यह ज्ञान-निवर्त्य होना रूप अर्थ तब तक सङ्गत या उपपन्न नहीं होता जब तक समस्त बन्ध (प्रपञ्च) को मिथ्या न माना जाय। अतः श्रुति में कहा गया शोक का ज्ञान-निवर्त्यत्व उस (शोक) के मिथ्यात्व का कल्पक है, ज्ञापक है। इस प्रकार श्रुतार्थापत्ति से संसार का मिथ्यात्व जाना जाता है।[2] क्योंकि किसी सत्य वस्तु की निवृत्ति उसके ज्ञान से नहीं हुआ करती; घड़ा, पुस्तक, कलम आदि वस्तुओं का ज्ञान होने पर वे नष्ट नहीं हो जातीं। किन्तु दूर से कोई चमकीली वस्तु देखकर यदि हमें प्रतीति हुई हो कि यह चाँदी है तो समीप जाकर उस चमकीली वस्तु का ज्ञान होने पर हम कहते हैं कि यह चाँदो नहीं है—इस प्रकार उस चमकीलो वस्तु के ज्ञान से उस चाँदी का निवृत्त होना हमारे अनुभव से सिद्ध है, तब

---

१. सा च अर्थापत्तिः द्विविधा दृष्टार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिश्चेति। तत्र दृष्टार्थापत्तिः यथा, इदं रजतमिति पुरोवर्त्तिनि प्रतिपन्नस्य रजतस्य नेदं रजतमिति तत्रैव निषिध्यमानत्वं सत्यत्वेऽनुपपन्नमिति रजतस्य सद्भिन्नत्वं सत्यत्वात्यन्ताभाववत्त्वं वा मिथ्यात्वं कल्पयति। वही पृ० २३८–३९।

२. श्रुतार्थापत्तिः यथा श्रूयमाणवाक्यस्य स्वार्थानुपपत्तिमुखेन अर्थान्तरकल्पनम्, यथा तरति शोकमात्मविदिति। अत्र श्रुतस्य शोकशब्दवाच्यबन्धजातस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वस्य अन्यथानुपपत्त्या वन्धस्य मिथ्यात्वं कल्प्यते। वही पृ० २३९।

उस चाँदी को हम मिथ्या कहते हैं। अथवा कहते हैं कि भूल (अज्ञान) से मैं ने झूठ ही (मिथ्या) चाँदी को देखा था। अर्थात् हम जानते हैं कि मिथ्या वस्तु ही ज्ञान द्वारा निवर्त्य होती है; वह भी इसलिए कि ज्ञान वस्तुतः अज्ञाननिवर्तक है। मिथ्या वस्तु अज्ञानमूलक या अज्ञान का ही कार्य होती है अतः ज्ञान उसका भी निवर्तक हो जाता है। श्रुति समस्त बन्ध को ज्ञाननिवर्त्य कहती है, इस वाक्यार्थ की उपपत्ति तभी हो सकती है यदि बन्ध अज्ञानमूलक व मिथ्या हो।

यह श्रुतार्थापत्ति भी दो प्रकार की है—एक अभिधानानुपपत्ति, दूसरी अभिहितानुपपत्ति। जब हम वाक्य का एक भाग सुन लेते हैं, किन्तु उसकी अर्थयोजना (अन्वय) पूरी नहीं पड़ती, उपपन्न नहीं होती, तब उस अंश के साथ अन्वित होने योग्य किसी अन्य पद या वाक्यांश की कल्पना (अध्याहार) करते हैं, तब उसे अभिधानानुपपत्ति कहते हैं। जैसे 'किवाड़ को' (द्वारम्) इतना सुनने पर उसके अर्थ की उपपत्ति (सङ्गति) के लिए स्वयं ही 'बन्द करो' या 'खोल दो' (प्रसङ्गानुसार) इतना जोड़ लेते हैं। इसे अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें तो—वाक्य में क्रियावाचक पदों को कारकों की आकांक्षा रहती है और कारकों को क्रिया की अपेक्षा रहती है। शाब्द-बोध में आकांक्षा की नियत कारणता के बिना उसके केवल क्रियार्थक या कारकार्थक पद विवक्षित अर्थ को नहीं दिखा सकते। किसी स्थान पर ऐसे पद श्रुत न रहने पर वक्ता के तात्पर्यविषयभूत अर्थ की उपपत्ति के लिए उन अपेक्षित पदों की कल्पना करके अन्वयबोध कर लेना होता है। यह अध्याहार-रूपा कल्पना अभिधानानुपपत्ति-रूपा अर्थापत्ति ही है।[1] इसमें अभिधान शब्द का 'अभिधीयतेऽनेन' व्युत्पत्ति से अर्थ है तात्पर्य। जिस तात्पर्य से शब्दोच्चारण किया हो, उसी तात्पर्यार्थ की अनुपपत्ति होना ही अभिधानानुपपत्ति है।

अभिहितानुपपत्ति-संज्ञक अर्थापत्ति वहाँ होती है जहाँ प्रमाणभूत वाक्य का अर्थ अन्य प्रमाणों द्वारा विरुद्ध दिखने के नाते अनुपपन्न होता है और पूरे वाक्य के अन्य ही अर्थ की कल्पना की जाती है। जैसे 'स्वर्ग चाहने वाला पुरुष ज्योतिष्टोम याग करे' इस वाक्य से याग स्वर्ग का साधन है यह अर्थ निकलता है। किन्तु यह श्रुत्यर्थ ठीक नहीं बैठता, क्योंकि याग तो क्षणिक क्रिया रूप है। उसके समाप्त होते ही तो यजमान को स्वर्ग मिलना नहीं देखा जाता। कारण के ही नष्ट होने पर भविष्य में कार्य उत्पन्न होने का क्या भरोसा? अतः श्रुत्यर्थ अनुपपन्न होता है। तब उसकी उपपत्ति के लिए अपूर्व नामक पदार्थ की कल्पना की जाती है कि यद्यपि याग विनाशी है तथापि वह अपने स्थितिक्षण में ही स्वर्ग के साधनभूत एक विलक्षण अपूर्व (या अदृष्ट) को उत्पन्न करता है तब नष्ट होता है। वह अपूर्व याग व स्वर्ग का मध्यवर्ती व्यापार है। इस व्यापार से युक्त याग से कालान्तर में स्वर्ग रूप फल प्राप्त होता है, इस से 'याग स्वर्ग का साधन है' इस श्रुत्यर्थ की अनुपपत्ति नहीं होती।[2]

---

१. यत्र वाक्यैकदेशश्रवणेऽन्याभिधानानुपपत्त्या अन्वयाभिधानोपयोगिपदान्तरं कल्प्यते, तत्र अभिधानानुपपत्तिः, यथा द्वारमित्यत्र पिधेहीति पदाध्याहारः। वही, पृ० २४०।

२. अभिहितानुपपत्तिस्तु यत्र वाक्यावगतोऽर्थोऽनुपपन्नत्वेन ज्ञातः सन् अर्थान्तरं

अर्थापत्ति स्थल पर सर्वत्र 'यह इसके विना अनुपपन्न है' ऐसा ज्ञान करण वनता है; इसमें निविष्ट अनुपपन्नता क्या है ? इस पर कहा गया है अपने अभाव के व्यापक अभाव का प्रतियोगी होना अनुपपत्ति है ।[1]

जैसे जहाँ भोजन का अभाव होता है वहाँ अति-पुष्टि का भी अभाव होता है, क्योंकि भोजन न हो, कोई शारीरिक दोष भी न हो और शरीर अतिपुष्ट दिखाई दे—यह सम्भव नहीं । इसलिये पुष्टि का अभाव भोजन के अभाव का व्यापक है । इसी प्रकार जहाँ रात्रि-भोजन का अभाव हो वहाँ दिन में भोजन न करने वाले पुरुष के पीनत्व (पुष्टता) का भी अभाव रहता है । दिन में न खाने वाले पुरुष की पुष्टि का अभाव रात्रि-भोजन का व्यापक है । ऐसे व्यापक अभाव का प्रतियोगित्व पीनत्व में होना ही उस (पीनत्व) की अनुपपत्ति है । यही उपपाद्यज्ञान है ।

५. अनुपलब्धि

(क) परिचय व पृथक् प्रमाण रूप से स्थापना—

'अमुक वस्तु यहाँ नहीं है' इस प्रकार की प्रतीति बहुधा सभी को होती है । इस 'न होने' का ही पारिभाषिक नाम है अभाव । यह अभाव अपने प्रतियोगी (जिसका अभाव है) अनुयोगी (जिसमें या जहाँ पर अभाव है) आदि से पृथक् कुछ वस्तु है या नहीं, तथा उक्त प्रकार से होने वाली इस अभाव नामक वस्तु की प्रतीति का उत्पादक क्या है, इसे लेकर विभिन्न दर्शनों में प्रभूत वैमत्य दिखाई पड़ता है ।

न्याय-वैशेपिक, भाट्टमीमांसा तथा अद्वैतवेदान्त सिद्धान्तों में द्रव्य, गुण, कर्म आदि के साथ अभाव की भी एक पदार्थविशेष के रूप में गणना की गई है; सांख्य तथा प्राभाकर मत इसे पदार्थान्तर नहीं मानते; इन दोनों (अभाव को पृथक् पदार्थ मानने तथा न मानने वाले) पक्षों पर उठने वाले 'क्यों' का उत्तर यहाँ अनावश्यक विस्तारजनक होगा । हमारे सामने प्रस्तुत समस्या तो उक्त प्रतीति के उत्पन्न होने की है ।

कल्पयति तत्र द्रष्टव्या, यथा 'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत' इत्यत्र स्वर्गसाधनत्वस्य क्षणिकयागगततयाऽवगतस्यानुपपत्त्या मध्यवर्त्यपूर्वं कल्प्यते ।

वही, पृ० २४१ ।

1. किमिदं तेन विनाऽनुपपन्नत्वम् ?
तदभावव्यापकाभावप्रतियोगित्वमिति ब्रूमः । वही, पृ० २४२ ।

प्राभाकर तथा सांख्य मत है कि किसी वस्तु के होने का ज्ञान तो स्वयं उस वस्तु की अपेक्षा रखता है तथा किसी वस्तु का न होना दूसरी वस्तुओं की अपेक्षा से जाना जाता है। एक वस्तु का अभाव दूसरी वस्तु के भाव से पृथक् नहीं। भूतल पर घट का न होना केवल भूतल का होना ही है। केवल भूतल दिखता है, घट नहीं दिखता—यही वहाँ घट के तथाकथित अभाव का ज्ञान है। केवल अधिष्ठान का दिखना ही आधेय के अभाव का ज्ञान है, और वह प्रत्यक्षात्मक है।

वेदान्ती इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि अधिष्ठान का प्रत्यक्ष ही अभाव का भी प्रत्यक्ष है, तो जिस समय भूतल पर घड़ा रखा हो उस समय भी उसके अभाव का प्रयत्क्ष होना प्राप्त होगा, क्योंकि भूतल का प्रत्यक्ष तो वर्तमान है ही। यदि कहें कि क्योंकि भाववस्तु घट वहाँ है इसलिए अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता, तो कहा जायेगा कि यदि भूतल-पर कपड़ा पड़ा हो, घड़ा न हो तो भी घटाभाव का प्रत्यक्ष न होगा, क्योंकि भूतल केवल-किसी भाववस्तु से रहित तो है नहीं। और यदि केवल भूतल का प्रत्यक्ष ही अभाव का प्रत्यक्ष हो, तो सदा ही असंख्य वस्तुओं का अभाव बना रहता है, अतः उन सभी का ज्ञान होना चाहिए, केवल घट नहीं है या पट नहीं है—ऐसी पृथक्-पृथक् अभाव-प्रतीतियाँ न होनी चाहिए। जबकि अनुभव में ये पृथक्-पृथक् अभाव-प्रतीतियां ही आती हैं, असंख्य वस्तुओं का युगपत् अभाव तो जाना जाता नहीं। अतः अभाव के ज्ञान के विषय में सांख्य व प्राभाकर मत सर्वथा असङ्गत हैं।

अभावों को अधिकरणात्मक मानने का नैयायिक भी विरोध करते हैं। प्राभाकर व सांख्य पक्ष अपने मत में लाघव दिखाते हैं कि भूतल का कैवल्य ही अभाव का स्वरूप है, यह मानने से अभाव की स्वतन्त्र सत्ता नहीं माननी पड़ती,[1] अधिकरण की सत्ता तो पहले ही निश्चित है। इस पर नैयायिक कहते हैं कि अनन्त अधिकरणों से अभिन्नता की कल्पना की अपेक्षा एक अतिरिक्त की कल्पना में ही लाघव है, तथा 'भूतल पर घट नहीं है' ऐसा आधार-आधेय भाव भी तभी उपपन्न होता है।[2]

नैयायिक अभाव को अधिष्ठान से अभिन्न नहीं मानते, पर अधिष्ठान में ही आश्रित उसी के एक विशेषण रूप से रहने वाला धर्म मानते हैं। तथा अभाव के ज्ञान में इन्द्रिय-सम्बद्ध विशेषणता-रूप षष्ठ सन्निकर्ष को हेतु मान कर अभावज्ञान को प्रत्यक्षात्मक माना गया है।[3] क्योंकि किसी भी विषय के गुण, धर्म, विशेषतायें विषय के प्रत्यक्ष द्वारा ही जाने जाते हैं, इसीलिये अभाव-रूप विशेषण भी भूतल के प्रत्यक्ष के साथ ही जाना जाता है, अतः अभाव का प्रत्यक्ष ही होता है। अभाव प्रतियोगी तथा अनुयोगी के भेद से भिन्न-भिन्न

---

१. न हि भूतलस्य परिणामविशेषात् कैवल्यलक्षणादन्यो घटाभावो नाम।
सां० त० कौ० पृ० १३०।

२. नन्वस्तु अभावानामधिकरणात्मकत्वं लाघवादिति चेत् न; अनन्ताधिकरणात्मकत्वकल्पनापेक्षयाऽतिरिक्तकल्पनाया लघीयस्त्वात्। सि० मु० पृ० ७७-७८।

३. विशेषणतया तद्वदभावानां ग्रहो भवेत्। कारि० ६१।

होता है तथा अनुयोगी में प्रतियोगी के आ जाने पर वह अभाव समाप्त हो जाता है, ऐसी स्वीकृति है, अतः सांख्य मत में वेदान्ती द्वारा कहे गये दोष यहाँ नहीं प्राप्त होते। प्रत्येक प्रत्यक्ष के लिए विषय तथा इन्द्रिय का सन्निकर्ष अपेक्षित होता है। अभाव के प्रत्यक्ष में विशेषणता ही सन्निकर्ष है (क्योंकि अभाव अपने अधिकरण में स्वरूप-सम्बन्ध से रहता है, अधिकरण के विशेषण-रूप से ही उसकी स्थिति है, अतः विशेषणता ही उसके सन्निकर्ष का भी रूप माना गया)। भूतल पर घट नहीं है का अर्थ है कि भूतल घटाभाव से विशेषित है (घटाभाववद् भूतलम्)। यह विशेषणता अवश्य प्रतियोगी के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। घटाभाव का प्रत्यक्ष चक्षुःसंयुक्तविशेषणता-सन्निकर्ष से होता है। संख्यात्वादि में रूपाभाव का प्रत्यक्ष संयुक्तसमवेत-विशेषणता से, शब्दाभाव का श्रोत्रवच्छिन्न विशेषणता से....इत्यादि, तथापि विशेषणता रूप से वह एक ही है।[1]

अद्वैती इसका खण्डन करते हैं कि विशेषणता इन्द्रियसन्निकर्ष का कोई प्रकार नहीं हो सकता। क्योंकि विशेषणता ही सन्निकर्ष हो तो उस स्थान के घटाभाव का भी प्रत्यक्ष होना चाहिए जो स्थान दीवाल से छिपा हुआ है, क्योंकि घटाभाववत्ता तो उस भूतल में भी वर्तमान ही है। और यदि विशेषणता के आधार से इन्द्रियसम्पर्क अपेक्षित है अभावप्रत्यक्ष के लिए, तो शब्दाभाव का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि शब्दाभाव-रूप विशेषण का आधार है श्रोत्रवच्छिन्न आकाश ही और उसमें इन्द्रियसम्पर्क होगा नहीं (अपने आप में सम्पर्क क्या?)।[2]

इस पर नैयायिक कहते हैं कि योग्यानुपलब्धि अभाव-प्रत्यक्ष में सहकारी कारण है। योग्यता का अर्थ है—'प्रतियोगीसत्त्वप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्व' अर्थात् प्रतियोगी (घट आदि) की सत्त्व-प्रसक्ति ('यदि घट यहाँ होता') से प्रसञ्जित उपलम्भ ('तो उपलब्ध होता') रूप प्रतियोगी वाला होना अर्थात् वैसे उपलम्भ का अभाव होना। इस योग्यता से विशिष्ट प्रतियोगी के उपलम्भ का अभाव प्रतियोगी के अभाव के प्रत्यक्ष में सहकारी कारण है।

इन्द्रिय-गोचर विषयों को लेकर ही, तथा उनमें भी रूपादि के लिए प्रकाशयुक्त स्थान में ही, उपर्युक्त प्रकार से उपलम्भप्रसक्ति (यदि यहाँ होता तो उपलब्ध होता) हो सकती है,

---

१. यद्यपि विशेषणता नानाविधा—तथाहि भूतलादौ घटाद्यभावः संयुक्तविशेषणतया गृह्यते, संख्यादौ रूपाद्यभावः संयुक्तसमवेतविशेषणतया....तथापि विशेषणतात्वेन एकैव सा गण्यते।

सि० मु० पृ० २४६।

२. न च भेदस्य विशेषणतासन्निकर्ष इति वाच्यम्। व्यवहितप्रदेशेऽप्यभावग्रहण-प्रसङ्गात्। न चाधिकरणेन्द्रियसन्निकर्षोऽपि कारणमिति वाच्यम्। परमते शब्दा-भावस्याप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्।

वहीं।

कर्णवलयावच्छिन्ननभस एव श्रोत्रेन्द्रियत्वात् तस्यैव स्वग्राह्यशब्दाभावाधिकरण-त्वात् स्वेन स्वस्यासन्निकर्षादधिकरणेन्द्रियसन्निकर्षाभावे प्रत्यक्षत्वं न स्यात्।

मे० धि० पृ० २१।

अतः वैसे ही विषयों के अभाव का प्रत्यक्ष होता है, धर्माधर्मादि अतीन्द्रिय विषयों का तथा रूप आदि का प्रत्यक्ष नहीं होता।[1]

इस पर अद्वैती कहते हैं कि नैयायिक द्वारा सहकारी कारण रूप से अभिप्रेत या अपेक्षित योग्यानुपलब्धि को ही अभावज्ञान का करण (प्रमुख कारण) मानना उचित है। अभावज्ञान के लिए विशेषणता रूप एक नया सन्निकर्ष मानना व्यर्थ ही नहीं, असङ्गत भी है, जब कि सहकारी रूप से ही सही, योग्यानुपलब्धि नियत अपेक्षित ही है। तथा अभावज्ञान के लिए प्रवृत्त इन्द्रियवृत्ति तो अधिष्ठान के ग्रहण में ही समाप्त या फलित हो जाती है, उससे भूतल का ही प्रत्यक्ष हो पाता है, अभाव का नहीं, क्योंकि अभाव इन्द्रियगम्य नहीं, अतः प्रत्यक्षप्रमाण का विषय नहीं हो सकता।[2] अभाव के ज्ञान का आकार भी प्रत्यक्ष ज्ञान जैसा नहीं होता ('यह घट का अभाव है' या 'मैं ने घट के अभाव को देखा' ऐसा नहीं कहा जाता)। उपलब्धि का विपरीत (घट यहाँ नहीं है, मैं घट नहीं देख रहा हूं—ऐसा उपलब्धि-निषेधात्मक)—अनुपलब्धि रूप ही आकार अभावप्रतीति का देखा जाता है; प्रत्यक्षात्मक नहीं। परोक्ष-ज्ञान-साधनों में से अनुमान, शब्द तथा अर्थापत्ति अतीन्द्रिय प्रतियोगी वाले अभावों के ज्ञापक बन सकते हैं, पर ऐसी अभावप्रतीति—जो अन्य किसी ज्ञान या ज्ञानकरण से उत्पन्न नहीं होती—के लिये योग्यानुपलब्धि को ही करण मानना उचित है। अथवा वैसे अभाव को अनुपलब्धि प्रमाणगम्य ही मानना चाहिए।[3]

श्लोकवार्त्तिक में कहा गया है कि प्रमाण भावात्मक ही हो ऐसी कोई नियति नहीं है। यदि ज्ञेय अभावात्मक हो तो उसका ज्ञानसाधन भी अभावात्मक ही स्वीकार्य है, भावात्मक नहीं, जैसे कि भावात्मक ज्ञेय के प्रति अभावात्मक ज्ञान में प्रामाण्य नहीं माना जाता। अतः वस्तु के विद्यमान (सत्) होने का ग्रहण कर के तथा प्रतियोगी का स्मरण करके 'नहीं है' ऐसा जो मानस ज्ञान इन्द्रियों के विभिन्न सम्बन्धों की अपेक्षा के विना ही उत्पन्न होता है, वह अनुपलब्धिप्रमाण-गम्या अभावप्रमा है।[4]

---

१. यत्रालोकसंयोगादिकं वर्तते, तत्र 'यदि अत्र घटः स्यात् तर्हि उपलभ्येत'-इत्यापादयितुं शक्यते, तत्र घटाभावादिप्रत्यक्षं भवति। वे० प० पृ० २४७-४८।

२. न तावदिन्द्रियैरेषा नास्तीत्युत्पद्यते मतिः।
भावांशेनैव संयोगो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि॥
ननु भावादभिन्नत्वात् संप्रयोगोऽस्ति तेन च।
न ह्यत्यन्तमभेदोऽस्ति रूपादिवदिहापि नः।
धर्मयोर्भेद इष्टो हि धर्म्यभेदेऽपि नः स्थिते।
मी० श्लो० वा० अभाव० १८-२० पृ० ४१४।

३. ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकारणमनुपलब्धिरूपं प्रमाणम्।
वे० प० पृ० २४३।

४. गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षणात्॥ २७॥ शेष अगले पृष्ठ पर

(ख) करण का स्वरूप—

अभावानुभव के करण-रूप से कही गई योग्यानुपलब्धि का अर्थ या तात्पर्य क्या है ? इसके विश्लेषणपूर्वक समाधान के लिये वेदान्तपरिभाषा में विकल्प उठाये गये हैं कि (१) योग्य प्रतियोगी की अनुपलब्धि—ज्ञान न होना—योग्यानुपलब्धि का स्वरूप है ? या (२) प्रत्यक्षायोग्य अधिकरण में प्रतियोगी की अनुपलब्धि विवक्षित है ? इनमें से प्रथम सम्भव नहीं, क्योंकि वैसा मानने पर स्तम्भ में पिशाच का भेद नहीं जाना जा सकेगा। ऐसे ही 'अधिकरण योग्य हो' यह द्वितीय पक्ष भी सम्भव नहीं, क्योंकि तब आत्मा में धर्म-अधर्म के अभाव का प्रत्यक्ष प्राप्त होगा। क्योंकि पहले में पिशाच प्रत्यक्षयोग्य नहीं, दूसरे में आत्मा प्रत्यक्ष-योग्य है।

इसका परिहार करते हुए कहा है—तर्क से अनुपलब्धि के प्रतियोगी की उपलब्धि की प्राप्ति कर सकना ही अनुपलब्धि की योग्यता है।[1] अनुपलम्भ के सर्वत्र समान होने पर भी जिस अनुपलब्धि के प्रतियोगी (उपलब्धि) की 'यदि वह होता' तर्क से कल्पित सत्ता से 'तो दिखाई देता' यह आपादन किया जा सकता है, वही योग्यानुपलब्धि है, उसी से अभाव का ज्ञान होता है। अर्थात् जिस अनुपलब्धि के विषय में 'अमुक वस्तु यहाँ होती तो दिखाई देती, वह दिखती नहीं, अतः नहीं है' ऐसा कहा जा सकता है वही योग्यानुपलब्धि है; वही अभावप्रमा के लिये अपेक्षित छठा प्रमाण है। क्योंकि स्पष्ट प्रकाश वाले भूतल पर 'यहाँ घड़ा होता तो दिखता, वह नहीं दिखता है अतः नहीं है' यह कह सकते हैं, इसलिए ऐसे भूतल पर जो घटाभाव का ज्ञान होता है, वह अनुपलब्धि-प्रमाण से ही होता है।

नैयायिक पुनः तर्क करते हैं कि वेदान्ती के मत में भी जहाँ अधिकरण व इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है, वहीं अभाव अनुपलब्धिगम्य होता है। तब, वहाँ निश्चित ही इन्द्रिय को ही अभावाकारा वृत्ति का करण मानना चाहिये, क्योंकि इन्द्रिय व अभावज्ञान में अन्वय-व्यतिरेक स्पष्ट है। अतः इन्द्रिय को ही अभावज्ञान में करण मानना चाहिये।[2] इस पर वेदान्ती कहते हैं कि इन्द्रिय का अभाव के साथ सन्निकर्ष नहीं होता। अतः अभावज्ञान में इन्द्रिय को हेतु नहीं कहा जा सकता। अधिकरणज्ञान में ही उसकी चरितार्थता है।

मेयो यद्वदभावो हि मानमप्येवमिष्यताम्। ४५॥
भावात्मके यथा मेये नाभावस्य प्रमाणता॥
तथाऽभावप्रमेयेऽपि न भावस्य प्रमाणता। ४६॥
भावात्मकस्य मानत्वं न च राजाज्ञया स्थितम्॥ ४७॥

मी० श्लो० वा० अभाव० पृ० ४१६–२२।

१. योग्यत्वं तर्कितप्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वम्।

वे० प० पृ० २४९।

२. ननु उक्तरीत्या अधिकरणेन्द्रियसन्निकर्षस्थले अभावस्य अनुपलब्धिगम्यत्वं त्वदनुमतम्; तत्र क्लृप्तेन्द्रियमेव अभावाकारवृत्तावपि करणम्; इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानादिति।

वही० पृ० २५०–५१।

पुनः नैयायिक कहते हैं कि 'भूतले घटो नास्ति' इस अभावानुभव-स्थल में भूतल अंश का प्रत्यक्ष होना तो वेदान्ती व नैयायिक दोनों को सम्मत है। प्रत्यक्ष से वेदान्ती का तात्पर्य है—विषय का प्रमातृचैतन्य से अभेद। उसके लिये यहाँ भूतल पर वृत्ति का निर्गमन आवश्यक ही है। तब भूतलावच्छिन्न चैतन्य के समान भूतलनिष्ठ अभाव से अवच्छिन्न चैतन्य का भी प्रमाता से अभेद होता है। इसलिये अभाव अंश में ही प्रत्यक्षता सिद्ध है।

इस पर वेदान्ती कहते हैं कि अभावप्रतीति (अभावप्रमा) को प्रत्यक्षरूपा मानने में हमें आपत्ति नहीं, किन्तु उसका करण अनुपलब्धिसंज्ञक पृथक् ही प्रमाण है, इन्द्रिय अथवा विषयाकारा वृत्ति रूपी प्रत्यक्षप्रमाण अभावप्रमा का करण नहीं, क्योंकि फलभूत ज्ञान यदि प्रत्यक्षात्मक हो तो उसका करण भी प्रत्यक्ष ही होगा ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि 'तुम ही दसवें हो' इत्यादि वाक्य से उत्पन्न हुए ज्ञान में प्रत्यक्षत्व होने पर भी उस (ज्ञान) का करण शब्दप्रमाण, है प्रत्यक्ष नहीं।

इस पर शङ्का उठती है कि फल यदि एक ही प्रकार का है तो उस फल (ज्ञानरूप) के करण क्यों व कैसे भिन्न प्रकार के होंगे ? उत्तर है—वृत्ति की विजातीयता (-विभिन्न प्रकार का होना) से ही प्रमाण की विजातीयता बनती है, क्योंकि वेदान्त में सर्वसाधारण करणत्व या प्रमाण मात्र का स्वरूप तो वृत्ति ही है। और वृत्ति में अन्तर आता है उसके उत्पादक के भेद से। घटादि के अभाव के आकारवाली वृत्ति इन्द्रिय से नहीं उत्पन्न होती, क्योंकि इन्द्रिय का विषय से सन्निकर्ष नहीं होता, किन्तु घट की अनुपलब्धि रूप पृथक् ही प्रमाण से जन्य होती है। अभावाकारा वृत्ति तथा इतरविषयाकारा वृत्ति में यही भेद है। इन्द्रियाँ अधिकरणों से सम्बद्ध होकर भूतलादि अधिकरणाकार वृत्ति को उत्पन्न कर के चरितार्थ हो जाती हैं। अभाव से उनका सन्निकर्ष संभव नहीं, विशेषणता-सन्निकर्ष अयुक्त है, अतः अभावाकार वृत्ति का जनक पृथक् प्रमाण मानना पड़ता है।[1]

---

१. अभावप्रतीतेः प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्यानुपलब्धेर्मानान्तरत्वात्। न हि फलीभूतज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वे तत्करणस्य प्रत्यक्षप्रमाणतानियतत्वमस्ति; दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्य वाक्यस्य प्रत्यक्षप्रमाणभिन्नप्रमाणत्वाभ्युपगमात्। फलवैजात्यं विना कथं प्रमाणभेद इति चेत्, न; वृत्तिवैजात्यमात्रेण प्रमाणवैजात्योपपत्तेः। तथाच घटाद्यभावाकारवृत्तिर्नेन्द्रियजन्या; इन्द्रियस्य विषयेणासन्निकर्षात्, किन्तु घटानुपलब्धिरूपमानान्तरजन्येति भवत्यनुपलब्धेर्मानान्तरत्वम्। वही पृ० २५३–५४।

६. शब्द

(क) पृथक् प्रमाणता; विशेष महत्त्व; विश्लेषण के दो पक्ष—

शब्द को सुन कर (या उसकी सङ्केतरूपा अक्षरकाया को देखकर) उसके अर्थ का ज्ञान होना जन्य ज्ञानों की प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि कोटियों से सर्वथा पृथक् है। यथार्थ ज्ञान के विविध साधनों में शब्द भी अन्यतम अवश्य है, अतः यह प्रमाणों में भी अन्यतम है। श्रोत्र इन्द्रिय से शब्द का ध्वनि रूप से ही ग्रहण होता है, किसी अर्थ के प्रत्यायक ध्वनि-सङ्घटन-विशेष रूप से नहीं। ध्वनि की आनुपूर्वी के आधार पर वक्ता के अभिप्राय को समझना, अथवा किसी अज्ञात वस्तु या तथ्य को जान लेना—अन्य सभी ज्ञान-विधाओं से विलक्षण है।

इसके अतिरिक्त वेदान्त में इसी (शब्दप्रमाण) का महत्त्व सर्वाधिक है, क्योंकि अन्य किसी भी प्रमाण से जानी न जा सकने वाली (**'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यं·····' 'यन्मनसा न मनुते····' 'येन सर्वमिदं विदितं भवति तं केन विजानीयात्'**) वस्तु (ब्रह्म)—जो कि वेदान्त की एकमात्र प्रतिपाद्य है, तथा चिन्तक–चिन्तन–चिन्त्य सभी कुछ की मूलभूत है,—इसी एक प्रमाण से जानी जाती है। यहाँ प्रश्न हो सकता है—क्यों? उत्तर भी सुलभ है—तत्त्वजिज्ञासु ने नाना प्रपञ्च-विलास में एक ही स्वर का विविध प्रस्तार देखा, जगत् को एक पट पर अङ्कित नानात्मक चित्र समझा, स्वयं को भी उस चित्र की ही एक रेखा रूप समझा, 'उस एक तत्त्व को जानने से सभी कुछ जाना जायेगा' ऐसी घोषणा भी सुनी, किन्तु साथ ही **'यो बुद्धेः परतस्तु सः'** इत्यादि से उस का अज्ञेय होना भी सामने आया। उसे वैसा ही जानकर वाहर लौट आना चाहा तो 'न चेदवेदीर्महती विनष्टिः' इस अर्गला से द्वार रुद्ध मिला। और उसी स्थिति में वारम्वार–**'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्य······निदिध्यासितव्यः'** इत्यादि ने चिन्तक को विवश किया कोई उपाय (उप + इण् + घञ्=समीप पहुँचाने वाला) खोजने के लिए। तव समस्त सृष्टि में से 'वाक्तत्त्व' ही एक ऐसा सूत्र जान पड़ा जो ब्रह्म की ही भाँति निखिल 'व्यवहार' का मूल है, एवं स्वरूपतः (व्यावहारिक दृष्टि से) ब्रह्म के सर्वाधिक सदृश है, निकटतम है, एवं जिसे ब्रह्म से अभिन्न ही कहने अथवा ब्रह्म–पर्याय समझने से भी सिद्धान्तक्षति नहीं होती। वैयाकरण दार्शनिकों ने शब्दब्रह्म को ही मूल तत्त्व माना, मण्डनमिश्र तथा तदनुयायी वेदान्तियों ने भी ब्रह्म को परमा वाक् रूप तथा जगत् को वाग्विवर्त कहा, तथा तत्त्व-प्रेप्सु के प्रति श्रुति भी प्रकट हुई—**'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति'**।[1]

इस कारण वाक्तत्त्व को ब्रह्माधिगम के लिए सर्वप्रमुख आलम्वन समझा गया। इसीलिए वाक्तत्त्व के लौकिक–पारमार्थिक दोनों रूपों का विश्लेषण समेटे हुए शब्द-प्रमाण का वेदान्त में सर्वाधिक महत्त्व है।

(उपर्युक्त कारण से ही) शाब्द-ज्ञान-विश्लेषण के दो अङ्ग हैं; एक—जागतिक व्यावहारिक शब्द-प्रयोग को लेकर, दूसरा—परम प्रतिपाद्य, वेदान्तचिन्तन के परम लक्ष्य—ब्रह्म-वस्तु के ज्ञान तथा उसी के अज्ञान से जन्य निखिल संसार-रूप अनर्थ की निवृत्ति को लेकर।

---

१. ब्र० वि० ७

(ख) शब्द के स्तर-भेद

शब्द-तत्त्व दोनों ओर एक ही है, अवश्य ही स्तर-भेद से भिन्न है। वह स्तर-भेद सम्यक् अभिव्यक्त है श्रुति में—

'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥[1]

वाक् के उन चारों पदों के आगम धारा से प्राप्त नाम हैं—परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी। इन नामों से उद्दिष्ट वाक्तत्त्व के स्वरूप क्रमशः अवरावर हैं, अर्थ के साथ सम्वन्ध की दृष्टि से। तथा हि 'परा' तो स्वयं परमतत्त्व (ब्रह्म)-स्वरूपा ही है, उसमें सम्वन्ध का अवकाश ही नहीं। 'पश्यन्ती' में शब्द व अर्थ का अभेद सम्वन्ध है, शब्द स्वयं अर्थ रूप में प्रकट हो जाता है, 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' 'नित्यः शब्दार्थसम्वन्धः' इत्यादि में कहा गया शब्द व अर्थ का परिपूर्ण अविनाभाव यहीं वस्तुतः सार्थक है। यही मन्त्र-दर्शन (**'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः'**) की स्थिति है, और यही गुरु द्वारा श्रावित वाक्य या शब्द से उसके अर्थ का साक्षात्कार या अपरोक्ष अनुभव होने का रहस्य है। यहाँ शब्द का स्वरूप ही अर्थात्मक, अथवा अर्थ-प्रकाशात्मक है। 'क्लीं' वीजमन्त्र देने में कृष्णतत्त्व दे दिये जाने का यही रहस्य है। यहाँ शब्द व अर्थ में वोध्य-वोधक सम्वन्ध है। शब्द वोधक है, अर्थ वोध्य है और वोधन होता है अभेद द्वारा। वस्तुतः यही अपरोक्षानुभूति की दशा है। इसका विशेष आलोचन बाद में किया जायेगा। मध्यमा स्तर में शब्द का अर्थ से भेदाभेद संवन्ध है—वाच्य-वाचक रूप। शब्द कहा गया, उच्चरित हुआ, तो उसका वाच्य अर्थ श्रोता के प्रति स्फुरित हो गया। अथवा वक्ता ने ही 'अग्निमीळे' कहा तो अग्नि का जलना होने लगा। **'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति'** कथन वाणी के इसी स्तर के लिए है।

यहाँ शब्द का स्वरूप नादात्मक है। नाद है मातृका-भेद या वर्ण-वैचित्र्य या ध्वनि-विभजन रहित शब्द। वह शब्द भीतरी या वाहरी किसी भी वायु के आघात से उत्पन्न न होने पर भी शब्द है, एवं अर्थ-प्रत्यायक है। आघात-स्थान का भेद, वर्ण-संघटन-कृत भेद न रहने के कारण यहाँ शब्द अखण्ड है एवं उसकी वाचकता सीमित नहीं है। इस कारण वक्ता व श्रोता मध्यमा वाणी के अधिकारी हों तो किसी भी भाषा का प्रयोग अर्थ-प्रत्यायक हो जाता है, भले ही वह भाषा कभी भी जानी, सुनी न हो। तथा मध्यमा-वाणी-कृत अर्थ-प्रत्यायन (ज्ञापन) अर्थ को दिखा देना ही होता है। और उसमें भी देश-काल व वस्तु का कोई व्यवधान नहीं होता। उदाहरणार्थ मध्यमा वाणी का प्रयोग करते हुए वक्ता यदि सम्राट् उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव की गाथा कहें तो उस वाणी को ग्रहण कर सकने वाला श्रोता चलचित्र की भाँति उन शब्दों के अर्थ को देख भी पाता है, एवं वह देखना कहे जाते हुए शब्दों से कहीं अधिक होता

---

१. ऋ० सं० १।१६४।४५।

हैं; जैसे—'ध्रुव वन गये' इतना सुनने के साथ-साथ श्रोता देख पाता है कि पंचवर्षीय ध्रुव क्या वेष धारण किये हुए, किस दिशा में, किस स्थान पर, किन वृक्षों व नदी आदि से युक्त स्थान पर गये—इत्यादि। अर्थात् मध्यमा स्तर के शब्द-श्रवण से अन्तःकरण की वृत्ति देश-कालादि सीमाओं से अवरुद्ध न होती हुई, उस शब्द के वाच्य अर्थ पर्यन्त पहुँचती है, और उसका आकार धारण करती है, फलस्वरूप इस वृत्ति पर आरूढ़ चैतन्य से उस विषय-सम्बन्धी अज्ञान-कृत आवरण दूर होने से उस विषय में अधिष्ठान रूप से स्थित चैतन्य द्वारा प्रकाशित विषय इस वृत्ति के मूल अन्तःकरण के प्रति भी प्रकाशित होता है। इस प्रकार शब्द द्वारा विषय का साक्षात् ज्ञान होता है।

इससे शब्द की केवल परोक्ष-प्रमाणता कहना खण्डित होता है, शब्द के स्तर-भेद पर उसके द्वारा जायमान ज्ञान का परोक्षत्व-अपरोक्षत्व निर्भर है—यही तथ्य सामने आता है, और अन्तिमा—वैखरी वाणी का स्वरूप देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि शब्द को परोक्ष प्रमाण कहना केवल वैखरी की दृष्टि से ही उचित है, शेष तीनों शब्द अपरोक्ष प्रमा का ही उदय कराते हैं।

वैखरी—वागिन्द्रिय से उच्चरित, कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न आकाश रूप श्रोत्र से श्रुत, कण्ठ में वाह्य वायु के आघात से उत्पन्न तथा वाह्य वायु द्वारा ही वाहित होकर श्रोत्र पर्यन्त पहुँचने वाला शब्द वैखरी कोटि का कहा गया है, जो वर्ण-भेद से विभक्त है। वाह्य वायु के कण्ठ व श्रोत्र-सम्बन्धी आघात-विशेष ही इस शब्द के स्वरूपघटक हैं। अर्थ से इस कोटि के शब्द का सम्बन्ध वाच्य-वाचक रूप अवश्य है, किन्तु वह वाच्यता व वाचकता कल्पित है, स्वतःसिद्ध नहीं है। इसीलिये केवल आंग्लभाषा जानने वाला व्यक्ति 'अग्नि' 'आगुन्' 'अगोन्' 'आग' 'अग्ग' शब्दों को सुनकर इनका दाहिकाशक्तिविशिष्ट वस्तु रूप अर्थ नहीं समझ सकता। वैखरी में वाच्यता-वाचकता कल्पना-मूलक या कृत्रिम होने के कारण ही इसमें अर्थप्रत्यायन-सामर्थ्य सीमित है। तथा वैखरी वाक् द्वारा कृत अर्थ-प्रत्यायन का स्वरूप भी स्मरणात्मक ही होता है, वस्तु के साक्षात्-ज्ञान जैसा नहीं होता। यहाँ शब्द व अर्थ में पूर्ण भेद है, सम्बन्ध वस इतना ही है कि ध्वनि-सङ्घटन-विशेष रूप किसी शब्द का उच्चारण या श्रवण होने पर उस ध्वनि-सङ्घटन या वर्णानुपूर्वी का जो अर्थ मान लिया गया है, उस अर्थ की स्मरण-रूपा उपस्थिति होती है—इस वर्णानुपूर्वी के उच्चारण-श्रवण से, इसके साथ उस अर्थ के जुड़े होने का संस्कार प्रवुद्ध होने से। जब यह संस्कारोद्वोध अन्तः-करणवृत्ति के विषयभूत अर्थ से सम्बन्ध कराता है, तब उस विषय का असत्त्वापादक आवरण ही दूर होता है, अभानापादक आवरण वना रहता है। अतएव 'मोदक' शब्द सुनकर, संस्कृत भाषा जानने वाले व्यक्ति को मधुररस-युक्त गोलाकार वस्तु का स्मरणात्मक ही ज्ञान होता है, न तो वह वस्तु अवश्य दिख ही जाती है, न ही उसका स्वाद उपलब्ध होता है।

वैखरी कोटि में शब्द व अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक न होने के कारण ही, किस शब्द का क्या अर्थ है यह सीखना पड़ता है। समस्त लौकिक वाग्व्यवहार वैखरी के ही अन्तर्गत है—**'तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति'**।

एकाकी, अद्वितीय, निष्प्रपञ्च, निष्कल ब्रह्म से इतर जो कुछ भी दृश्यमान, अनुभूयमान

है, वह 'व्यवहार' है 'परमार्थ' नहीं, यह सुनिश्चित वेदान्तसिद्धान्त है, अतएव शास्त्र-वेद से लेकर हालिक (श्रमिक) के वाक्य तक का समस्त शब्द-जाल व्यवहार ही है, अतएव विकार रूप है, चरम सत्य नहीं (वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्)। तब भी लोक-व्यवस्था के लिए ही व्यवहार को द्विविध मान लिया गया है—वैदिक या शास्त्रीय तथा लौकिक भेद से। उधर व्यवहार व परमार्थ के संयोजक वाक्तत्त्व का प्रथम 'परा' रूप ब्रह्मस्थानीय रहता हुआ सर्वथा व्यवहारातीत है। 'पश्यन्ती' व 'मध्यमा' वैदिक या शास्त्रीय व्यवहार में ही स्थित हैं। 'वैखरी' वैदिक व लौकिक दोनों ओर समप्रयुक्त है, क्योंकि अधिकांशतया लोक में अनुभूयमान स्थितियों को ही उदाहरण बनाते हुए वेद शाखाचन्द्रन्याय से लोकातीत की ओर प्रवृत्त करते हैं। और लोक में समस्त व्यवहार वैखरी में ही है।

इसीलिए शब्द-ज्ञान-विश्लेषण का (१) प्रथम अङ्ग वैखरी के अन्तर्गत लौकिक प्रातिदैनिक शब्दप्रयोग पर लक्ष्य रखते हुए विचार करना है। (२) द्वितीय अङ्ग होगा लौकिक रीति का शास्त्र में ग्रहण व उपयोग, तथा (३) तृतीय अङ्ग में सिद्ध करनी होगी लौकिकरीति से निष्पन्न होने वाले फल (शब्द से परोक्ष ही प्रमा का उदय) से इतर फल (शब्द से अपरोक्षप्रमा का उदय) की सम्भावना। एवं (४) चतुर्थ अङ्ग होगा अन्तिम जन्यज्ञान (अन्तिम वृत्ति) के कार्य—सविलासाविद्यानिवृत्ति—संसार-प्रविलय की उपपत्ति।

(ग) प्रमाणभूत 'शब्द' का अर्थ—

शाब्दबोध का सीधा अर्थ है शब्द से उत्पन्न होने वाला ज्ञान। इस पर सर्वप्रथम दो प्रश्न उठते हैं—(क) शाब्दज्ञान प्रसङ्ग में 'शब्द' से क्या अभिप्रेत है ? (ख) शाब्दज्ञान की प्रक्रिया क्या है—किसी शब्द से उसके अर्थ का ज्ञान उत्पन्न होने में क्या क्रम रहता है ?

(क) शाब्दज्ञान-चर्चा के उद्देश्यभेद के अनुसार 'शब्द' के अभिप्राय में भी अन्तर है। शब्द के श्रवण से ज्ञान के उत्पन्न होने में दो विधायें देखने में आती हैं, अथवा शब्द दो प्रकार से ज्ञान को उत्पन्न करता है। एक तो किसी वर्णानुपूर्वी के श्रवण से, उसके साथ संयोजित किसी जाति-आकृति-कार्य-विशिष्ट वस्तु का स्मरणात्मक ज्ञान—जैसे 'गौ' शब्द सुनकर सास्ना-सींग-पूँछ वाले चौपाये का स्मरण (केवल स्मरण भी नहीं कह सकते क्योंकि वह तो किसी पहले देखे हुए का ही हो सकता है, गौ शब्द सुनकर तो पृथ्वीतल पर जितने भी गौ हैं उनका एक सामान्य ज्ञान होता है) या 'तुम यह करो' यह सुनकर 'वक्ता मेरे द्वारा यह कार्य कराना चाहता है' ऐसा श्रोता को ज्ञान। दूसरा—अमुक व्यक्ति के मुख से यह शब्द निकला है, तो इसका अर्थ सत्य रूप से स्वीकरणीय है, अथवा अमुक दशा में यह शब्द श्रुत है तो इसका अर्थ अवश्य सत्य रूप से स्वीकार्य है—ऐसी भावना से प्रेरित उन-उन अर्थों का ज्ञान। जैसे—किसी विश्वास पात्र द्वारा—अमुक स्थान पर यह घटना घटी है—ऐसा सुनकर तदनुकूल ज्ञान, या 'ब्रह्मा चतुर्मुख है'—ऐसे वाक्य से ब्रह्मा के चतुर्मुख होने का ज्ञान।

इनमें प्रथम है शब्द का ज्ञानोत्पादक सामान्य रूप, जहाँ 'शब्द' से अभिप्रेत है—वह वर्णानुपूर्वी जिसके उच्चरित होने पर किसी वस्तु का सम्प्रत्यय हो।[१] द्वितीय है शब्द का प्रमाण रूप—यहाँ 'शब्द' का अभिप्राय है—आप्तवचन।[२] योग सूत्र के व्यासभाष्य में कहा गया शब्द प्रमाण (आगमप्रमाण) का लक्षण अधिक स्पष्ट है—आप्त के द्वारा देखा या अनुमान किया गया अर्थ दूसरे व्यक्ति में अपने ज्ञान का संक्रमण करने के लिये शब्द द्वारा कहा जाता है, शब्द से उस अर्थ को विषय करने वाली वृत्ति श्रोता के प्रति आगम प्रमाण है। जिस शब्द के वक्ता ने उस अर्थ को देखा या अनुमान से जाना नहीं है, वह आगम नहीं (प्रमाणवृत्ति को उत्पन्न करने में असमर्थ होने के कारण वह शब्द प्रमाण नहीं)।[३] आप्त के चित्त में स्थित ज्ञान के समान ही ज्ञान की श्रोता के चित्त में उत्पत्ति ही अपने ज्ञान का संक्रमण है।[४] योगवार्तिक में आगम-नाम्नी प्रमाणवृत्ति का लक्षण कहा गया है कि आप्त द्वारा कहे गये अर्थ को विषय करने वाली, आप्त के शब्द से उत्पन्न होनेवाली वृत्ति ही आगम-प्रमाण है।[५] मीमांसा में वेद के अपौरुषेयत्व की भावना दृढ़ होने से आगम के लक्षण में आप्त (यथार्थवक्ता पुरुष) का निवेश अभीष्ट नहीं, अतः 'शब्द द्वारा होने वाला असन्निकृष्ट अर्थ का सम्यक् ज्ञान शास्त्र प्रमाण है' 'शब्द-ज्ञान की अपेक्षा रखते हुए आत्मा व मन के सन्निकर्ष से जो अदृष्ट अर्थ के विषय में ज्ञान उत्पन्न होता है वह शाब्द प्रमाण है' ऐसा लक्षण किया गया है।[६] प्रमाणादि विचार में अधिकांश रूप से भाट्ट-मत के स्वीकारक वेदान्त में भी—जिस वाक्य के तात्पर्य का विषय बना हुआ संसर्ग अन्य प्रमाण से बाधित न हो वह वाक्य प्रमाण है—इस प्रकार 'पौरुषेयता' के निवेश से रहित शाब्द प्रमाण का लक्षण किया गया है।[७]

---

१. येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः। पा० महा० १।१।१, पृ० ११।

२. आप्तोपदेशः शब्दः। न्या० सू० १।१।७।

३. आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वाऽर्थः परत्र स्वबोधसङ्क्रान्तये शब्देनोपदिश्यते, शब्दात्तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः। यस्याश्रद्धेयार्थो वक्ता न दृष्टानुमितार्थः स आगमः प्लवते (प्रमाणवृत्तिजननासमर्थः)। यो० वार्त्ति० यो० भा० १।७ पृ० ३१-३२।

४. आप्तचित्तवर्तिज्ञानसदृशस्य ज्ञानस्य श्रोतृचित्ते समुत्पादः स्वबोधसङ्क्रान्तिः। त० वै० १।७ पृ० ३२।

५. अत्राप्तोक्तार्थविषयिणी शब्दजन्या वृत्तिरित्येव आगमप्रमाणस्य लक्षणम्। यो० वार्त्ति० १।७ पृ० ३२।

६. 'शास्त्रं शब्दविज्ञानाद्यदसन्निकृष्टार्थविज्ञानम्।' इति। शब्दविज्ञानापेक्षादात्ममनस्सन्निकर्षाद्यददृष्टार्थविषयं विज्ञानम्, तत् शास्त्रं नाम प्रमाणम्। प्र० पं० शा० परि० पृ० २२९।

७. यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते तद्वाक्यं प्रमाणम्। वे० प० पृ० १८२।

(घ) शाब्दवोध की प्रक्रिया—

पारिभाषिक शब्दों में—पदार्थ-ज्ञान (शाब्दज्ञान) के स्थल पर पदज्ञान करण है, पदार्थ का ज्ञान व्यापार है,[1] शक्तिज्ञान सहकारी कारण है और शाब्द वोध फल है। व्याकरण के अनुसार सुप या तिङ् प्रत्यय हैं अन्त में जिसके ऐसा शब्द पद है, और न्याय के अनुसार शक्तिविशिष्ट ध्वनि-संघटन-विशेष (वर्णानुपूर्वी) पद है[2]—ये दोनों वेदान्त में भी अविरुद्ध होने के कारण स्वीकृत हैं। ये पद जिस मार्ग से अर्थों के साथ जुड़े होते हैं उस पन्था को या सम्वन्ध को वृत्ति नाम दिया गया है। (वह वृत्ति ही शब्द में स्थित वह सामर्थ्य है जिसके कारण शब्द अर्थ का स्मारक बनता है) अतः पद अपनी शक्ति या वृत्ति के वल से, अपने से सम्वद्ध अर्थ के स्मारक होने के नाते, उन अर्थों के उपस्थापक (समीप ला देने वाले—अर्थों का अन्तःकरण से सम्वन्ध करा देने वाले) होते हैं। 'पदजन्या पदार्थोपस्थिति शाब्द-वोध में कारण है'—कहने का यही अभिप्राय है कि (१) पद के श्रवण-प्रत्यक्ष से, पहले अनुभूत पदार्थ—(उस पद का अमुक अर्थ है यह पहले ही जाना हुआ होने से)—के (२) संस्कार का उद्बोध होकर (३) पदार्थ की स्मृति होती है। पदार्थ के संस्कार के उद्भव या उद्वोध का हेतु पदज्ञान है, क्योंकि संस्कारोद्वोध में सम्वन्धिज्ञान सादृश्यज्ञान तथा चिन्तन कारण हुआ करते हैं, इनमें से पद, पदार्थ का नियत सम्वन्धी होने के नाते संस्कारोद्वोध द्वारा पदार्थ की स्मृति का हेतु होता है। किन्तु यह (पद के ज्ञान से अर्थ का ज्ञान) तभी सम्भव होता है, जव पद व अर्थ के परस्पर सम्वन्ध का ज्ञान हो। उनके सम्वन्ध का ज्ञान न हो तो पद के ज्ञान (श्रवण) से भी अर्थ की स्मृति नहीं होती। अतः पद द्वारा अन्तःकरण का अर्थ (विषय) से सम्वन्ध होने में, और तव उस विषय का ज्ञान होने में निम्नोक्त क्रम है—

(१) श्रवणेन्द्रिय द्वारा शब्द का ग्रहण
(२) शब्द-सामर्थ्य से संस्कारोद्वोध
(३) स्मरण रूप से अर्थ की उपस्थिति
(४) अर्थाकार अन्तःकरण-परिणाम (वृत्ति)
(५) अर्थ (विषय) के असत्त्वापादक आवरण का नाश
(६) विषयज्ञान (शब्द हेतुक होने से)—शाब्द वोध।

श्रवणेन्द्रिय द्वारा पद 'शब्द' का ग्रहण होने में भी—न्यायमत यह है कि वर्णों का समुदाय रूप जो पद है, उसकी एक ही काल में उत्पत्ति सम्भव नहीं, अतः 'पद' का भी प्रत्यक्ष नहीं होता, प्रत्येक वर्ण के साक्षात्कार से संस्कार उत्पन्न होता है। उन सभी संस्कारों से उन वर्णों को विषय करने वाली एक स्मृति होती है, उस स्मार्त पद से फिर पदार्थ की स्मृति होती है।

---

१. पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः।
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी। — कारि० ८१।

२. सुप्तिङन्तं पदम्। — पा० सू० १।४।१४।
शक्तं पदम्। — सि० मु० शब्दखण्ड, पृ० ४४।

अथवा—पूर्व-पूर्व वर्ण के अनुभव से संस्कार होता है, और संस्कारसहित अन्त्यवर्ण के अनुभव से पद का अनुभव होता है, पदानुभव से पदार्थ की स्मृति होती है।

(ङ) पद व अर्थ का सम्बन्ध

पद (या शब्द) के अर्थ से उस सम्बन्ध को 'वृत्ति' नाम दिया गया है जो पदज्ञान को पदार्थज्ञान का कारण बनाता है। वह वृत्तिरूप सम्बन्ध साक्षात् व परम्परा भेद से दो प्रकार का है।

(१) शक्ति—साक्षात् सम्बन्ध का अर्थ है पद के उच्चारण के पश्चात् श्रोता को सर्वप्रथम जिस वस्तु का स्मरण हो, जैसे 'दुग्ध' कहते ही श्वेत, तरल, विशेष गन्ध-स्वाद से युक्त गोरस का स्मरण होता है। यहाँ दुग्ध शब्द का उक्त गोरस से जो सम्बन्ध है उसे मुख्या या शक्तिवृत्ति कहा गया है। इस वृत्ति के आश्रयण से जिस अर्थ का स्मरण हो उसे 'मुख्य' या 'शक्य' कहते हैं।[1]

'इस पद से यह अर्थ समझा जाय' ऐसी ईश्वरेच्छा या लौकिक सङ्केत उस शब्द की उस अर्थ में शक्ति है, ऐसा न्यायमत है।[2] व्याकरण वा पातञ्जल मत में वाच्य-वाचकभाव के मूलभूत पद व अर्थ के तादात्म्यसम्बन्ध को शक्ति माना गया। मीमांसा-वेदान्त में सर्वत्र अपना कार्य करने की सामर्थ्य का नाम ही शक्ति है।[3] जैसे तन्तु में पट बनाने, अग्नि में दाह करने की सामर्थ्य है, वैसे ही पदों में अपने अर्थों का ज्ञान कराने की सामर्थ्य है। इतना ही अन्तर है कि वह्नि आदि पदार्थों की शक्ति द्वारा दाह आदि कार्य होने में उसके ज्ञान की अपेक्षा नहीं है, वह शक्ति ज्ञात हो या अज्ञात, कार्य करती ही है, किन्तु पद की शक्ति ज्ञात हो कर ही अर्थ-स्मारण कार्य करती है।

पद का ज्ञान चाहे श्रवणात्मक हो या स्मरणात्मक, उससे फल में अन्तर नहीं आता। इसी कारण गदाधरभट्ट ने 'शक्तिवाद' में पदज्ञान को ही शक्तिमान् माना है। विषयता सम्बन्ध से जो इस शक्ति का आश्रय हो वह उस पद का शक्य अर्थ कहलाता है। वह कौन है? इस पर विवाद है। न्यायसूत्र में कहा है—सभी पदों की शक्ति आकृति (-अवयवों के संयोग), जाति (अनेक पदार्थों में नित्य रहने वाला एक धर्म) एवं व्यक्ति (जाति का आश्रय) में होती है। तदनुसार घट पद की शक्ति कपालसंयोगसहित घटत्वविशिष्ट घट में है।[4]

---

१. यः शब्दादेव अवगम्यते स प्रथमोऽर्थो मुख्यः मुखमिव भवतीति मुख्यमित्युच्यते। शा० भा० ३।२ १, पृ० ७४६।

२. शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धः। सा चास्मात् शब्दादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छारूपा।....नव्यास्तु शक्तिरिच्छैव। सि० मु० शब्दखण्ड पृ० ५,८।

३. सिद्धान्ते कारणेषु कार्य्यानुकूलशक्तिमात्रस्य पदार्थान्तरत्वात्। वे० प० पृ० १९७।

४. ज्ञाने पदानां शक्तिर्न त्वर्थे, तथा च तज्ज्ञानशक्तत्वं तद्वाचकत्वं...
तज्ज्ञाननिष्ठशक्त्या तद्वाचकत्वम्। शक्ति० पृ० १९-२०।
व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः। न्या० सू० २।२।६८।
जात्याकृतिविशिष्टायां व्यक्तौ शक्तेरैक्यं महर्षेरप्यनुमतम्।' शक्ति० पृ० १९४।

दीधितिकार के मत से सभी पदों की शक्ति व्यक्तिमात्र में है, जाति या आकृति में नहीं। अतः घट पद का वाच्य घट व्यक्ति ही है, घटत्व या कपालसंयोग नहीं। अवश्य ही पद से प्रतीति वाच्य के साथ वाच्यता के अवच्छेदक की भी हो सकती है, वाच्यतावच्छेदक वाच्य के समान ही स्थल पर रहता है न्यून या अधिक में नहीं, अतः घट पद से घटत्व की प्रतीति होना तथा पथिवीत्वादि अवाच्य जातियों की प्रतीति न होना उपपन्न है।[1]

भाट्टमीमांसा का (अतएव वेदान्त का भी) मत यह है कि घटादि पदों की शक्ति जाति में ही है, व्यक्ति में नहीं। शङ्का उठती है कि शाब्दबोध में व्यक्ति का भान तो अनुभव-सिद्ध है, उसके लिए व्यक्ति की उपस्थिति आवश्यक है, वह पद में ही होनी चाहिए अतः जाति के समान व्यक्ति में भी शक्ति माननी चाहिये। इसके उत्तर में भाट्टमीमांसक कहते हैं— गो पद के श्रवण से गोत्व तथा गोव्यक्ति दोनों का ज्ञान भी संभव है, क्योंकि जाति व्यक्ति-विषयक संवित् द्वारा संवेद्य है। जाति व व्यक्ति धर्म-धर्मी-भाव से अभिन्न हैं, अतः एक ज्ञान में दोनों का ज्ञान हो जाता है। जाति का ज्ञान होते ही उसमें व्यक्ति का ज्ञान होता है एवं व्यक्ति में जाति भी भासती है। जाति का ज्ञान सर्वदा व्यक्ति को ले कर ही होता है। प्रत्यक्ष स्थल पर जैसे व्यक्तिघटितसन्निकर्ष द्वारा ही जाति का भान होता है, वैसे ही शाब्द बोध में व्यक्ति को समेटते हुए ही जाति का बोध होता है।[2]

शक्ति के विषय में प्राभाकर मत ऐसा है कि पदों की शक्ति व्यक्ति में स्वरूपतः विद्यमान रहती हुई ही व्यक्ति के ज्ञान में कारण है, और जाति के ज्ञान में वह (पद-शक्ति) ज्ञात होती हुई कारण है। और जाति के शक्तिमत्त्व का ज्ञान होने पर व्यक्तिशक्तिज्ञान के विना भी अविलम्ब व्यक्तिज्ञान हो जाता है।[3] अर्थात् शक्ति जाति अंश में ज्ञात होती हुई, व्यक्ति अंश में अग्नि की दाहिकाशक्ति के समान अज्ञात रहती हुई, शाब्दबोध में क्रमशः जाति व व्यक्ति को समुपस्थित करती है। इसीलिए न्याय में भी ऐसा सिद्धान्त है कि पदार्थ व पदार्थता-वच्छेदक के सम्बन्ध (अन्वय) में शक्ति स्वरूपतः रहती हुई ज्ञानजनक होती है। जानी जाती

---

१. मा भूद्वा गोत्वत्वादिकमवच्छेदकं शक्तिस्तथापि शक्तिज्ञानकारणतायां गुरूशरीर-गोत्वत्वादेर्धर्मिताऽवच्छेदकताऽऽत्मकविषयतानिवेशाद् गौरवं दुर्वारमेव, व्यक्तिशक्ति-वादिना स्वरूपतो गोत्वादिनिष्ठधर्मिताऽवच्छेदकत्वस्यैव निवेशात्....।
शक्ति० पृ० १९७।

....(मीमांसकमतम्) तदसत्। गवादिपदत् स्वरूपतो गोत्वादिज्ञानेऽपि व्याप्यताऽवच्छेदकप्रकारेण तद्ग्रहासम्भवात्....अतो व्यक्तेरेव शाब्दबोधे विशेष्यविधया भानमावश्यकम्। शक्ति० पृ० २१०।

२. शक्तिविषयत्वं शक्यत्वम्, तच्च जातेरेव न व्यक्तेः। व्यक्तीनामानन्त्येन गुरुत्वात्। कथं तर्हि गवादिपदाद् व्यक्तिभानमिति चेत्, जातेर्व्यक्तिसमानसंवित्संवेद्यत्वादिति ब्रूमः। वे० प० पृ० १९९।

३. यद्वा गवादिपदानां व्यक्तौ शक्तिः स्वरूपसती न तु ज्ञाता हेतुः, जातौ तु सा ज्ञाता हेतुः, न तु व्यक्त्यंशे शक्तिज्ञानमपि कारणम् गौरवात्, जातिशक्तिमत्त्वज्ञाने सति व्यक्तिशक्तिमत्त्वज्ञानं विना व्यक्तिधीविलम्बाभावाच्च। वे० प० पृ० २००।

हुई शक्ति का विषय होना ही वाच्य होना है, अतः जाति ही वाच्या है।[1] आचार्य शङ्कर ने भी शारीरकभाष्य में प्रसङ्गतः कहा है—शब्दों का सम्बन्ध आकृति से ही है, व्यक्ति से नहीं। आकृति से यहाँ जाति ही अभिप्रेत है।[2] इसे और परिष्कृत कर के कहें तो—गो पद से गोत्वजाति तथा गोव्यक्ति दोनों का बोध होता है, अवश्य ही 'गो' पद की जो शक्ति गोत्व में है वही ज्ञात होती हुई बोध कराती है, गोव्यक्ति में जो शक्ति है उस का ज्ञान रहना आवश्यक नहीं, उस का स्वरूपतः रहना ही पर्याप्त है। तदनुसार गोत्वप्रकारक गोविशेष्यक शाब्दबोध के प्रति गोत्वविषयिणी गौपदशक्ति का ज्ञान हेतु है, इसे कुब्जशक्तिवाद कहते हैं।[3]

मण्डन मिश्र का मत है कि व्यक्ति का ज्ञान लक्षणा से होता है। यथा-नील शब्द वास्तव में नील रूप—(गुण) का वाचक है। यह नीलपदवाच्य नीलगुण घट द्रव्य से अभिन्न नहीं हो सकता, तब भी 'नीलो घटः' या 'नीलघटः' शब्द-प्रयोग होता है। उसके वाच्यार्थ का ग्रहण न हो सकने से नील शब्द की नीलगुणयुक्त अर्थ में लक्षणा करके 'नीलो घटः' का "नीलगुणविशिष्टो घटः" अर्थ किया जाता है। अर्थात् यहाँ यद्यपि एक ही नील पद से नील गुण तथा तद्विशिष्ट घट दोनों अर्थ प्रतीत होते हैं, पर दोनों में नील पद की शक्ति नहीं मानी जाती, किन्तु नीलगुणविशिष्ट अर्थ का बोध लक्षणा वृत्ति से माना जाता है। वैसे ही घटत्वजातिवाचक घट पद की घटत्वजाति-विशिष्ट घट व्यक्ति रूप अर्थ में लक्षणा समझनी चाहिए। अतः गौ आदि पद से शक्ति द्वारा गोत्व जाति का बोध होता है, लक्षणा से गोव्यक्ति का।[4] पद-शक्ति द्वारा जाति का ग्रहण करने में निश्चय ही लाघव है।

शक्ति विषयक विभिन्न मत—

---

१. अतएव न्यायमते (ऽपि) अन्वयेऽपि शक्तिः स्वरूपसतीति सिद्धान्तः। ज्ञायमानशक्तिविषयत्वमेव वाच्यत्वमिति जातिरेव वाच्या। वहीं।
अत्र भाट्टाः—पदान्न व्यक्तेः स्मरणमनुभवो वा किन्तु आक्षेपादेव व्यक्तिधीः आक्षेपिका च जातिरेव। वहीं।

२. आकृतिभिश्च शब्दानां सम्बन्धो न व्यक्तिभिः। व्यक्तीनामानन्त्यात्सम्बन्धग्रहणानुपपत्तेः। ब्र० शां० भा० १।३।२८ पृ० २४७।

३. जात्यंशे सा ज्ञाता व्यक्त्यंशे च स्वरूपसती हेतुर्लाघवादिति कुब्जशक्तिवादः इति चिन्तामणिः। शक्ति० पृ० २०४।

४. अथवा व्यक्तेर्लक्षणया अवगमः यथा नीलो घट इत्यत्र नीलशब्दस्य नीलगुणविशिष्टे लक्षणा, तथा जातिवाचकस्य तद्विशिष्टे लक्षणा। तदुक्तमनन्यलभ्यः शब्दार्थः इति। वे० प० पृ० २००।

घटत्व में ही घट पद की शक्ति है, जाति के भान में व्यक्ति का भान नियत है, अतः घटत्वविषयिणी शक्ति द्वारा ही घट की उपस्थिति होकर शाब्दबोध होता है।
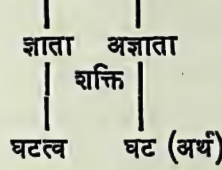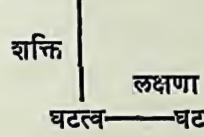
लक्षणा द्वारा घट की उपस्थिति होकर शाब्दबोध। इस शक्ति के ग्राहक उपाय हैं—

(१) व्याकरण (२) उपमान (३) अभिधान
(४) आप्तवाक्य (५) व्यवहार (६) वाक्यशेष
(७) विवरण (८) प्रसिद्ध पद का सन्निध्य।

ये न्यायमत में व्याख्यात हैं।[1] वेदान्त के लिए भी अस्वीकार्य नहीं। किन्तु वेदान्त-परिभाषा में शक्ति को अनुमान–प्रमाण से जानने योग्य ही कहा है—किसी पद से किसी अर्थ का बोध होना ही उस पद की उस अर्थ में शक्ति का ज्ञापक है।[2]

(३) लक्षणा—शब्द का अर्थ से परम्परासम्बन्ध लक्षणा वृत्ति है। परम्परासम्बन्ध का तात्पर्य है—शक्तिवृत्ति से जो अर्थ पद से सम्बद्ध है उस (शक्य वस्तु) से किसी प्रकार सम्बद्ध वस्तु का पद से सम्बन्ध। इसे अमुख्य सम्बन्ध भी कहा जाता है।[3] पद का श्रवण होते ही मुख्यत्वेन प्रथमतः जिसका ज्ञान नहीं होता, वरन् उसके लक्ष्य अर्थ का शक्यार्थ के साथ सम्बन्धज्ञान होने के अनन्तर ज्ञान होता है, यही इसकी अमुख्यता है। इस अमुख्य सम्बन्ध के द्वारा अर्थ-बोध कब किया जाता है ? इस विषय में अभियुक्त-वचन है कि जहाँ पर मुख्य अर्थ का अन्य प्रमाणों के साथ विरोध रहने से उस (मुख्यार्थ) का ग्रहण नहीं किया जाता वहाँ

---

१. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् व्यवहारतश्च सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥
सि० मु० शब्दखण्ड पृ० ८।

२. सा च तत्तत्पदजन्यपदार्थज्ञानरूपकार्यानुमेया। वे० प० पृ० १९९।

३. यस्तु खलु प्रतीतादर्थात् केनचित् सम्बन्धेन गम्यते स पश्चाद्भावाद् जघनमिव भवतीति जघन्य इति कथ्यते।
शा० भा० ३।२।१, पृ० ७४६।

पर मुख्य अर्थ के साथ सदा सम्बद्ध अर्थ की कल्पना करना ही लक्षणा है।[१] वेदान्त परिभाषा में तात्पर्य की अनुपपत्ति को लक्षणावीज कहा गया है।[२]

यह अमुख्य या परम्परा सम्बन्ध भी पुनः साक्षात् व परम्परा भेद से भिन्न है। जिस के क्रमशः नाम हैं—केवल लक्षणा व लक्षितलक्षणा। जहाँ शक्य का साक्षात् सम्बन्ध हो वहाँ केवल लक्षणा होती है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' (गङ्गा पर ग्वालों की बस्ती है) इस वाक्य में गङ्गा पद की, गङ्गापदवाच्य प्रवाहविशेष रूप पदार्थ से, साक्षात् संयुक्त-रूप अर्थ में लक्षणा है। यहाँ गंगा पद श्रवण से प्रथमोपस्थित प्रवाह रूप अर्थ पर कोई बस्ती रहना सम्भव नहीं, अतः मुख्य अर्थ को छोड़कर उसी से संयोग सम्बन्ध से नित्य सम्बद्ध तीर अर्थ लिया जाता है।[३]

द्विरेफ शब्द से जो भ्रमर-अर्थ की प्रतीति होती है वह लक्षितलक्षणा द्वारा होती है। भ्रमर द्विरेफ का वाच्य अर्थ नहीं, क्योंकि 'दो रकार' इतना ही उसका अर्थ है, इसकी पहले—दो रकार हैं जिस शब्द में—ऐसी लक्षणा करनी होती है। उससे 'शर्करा' या इसी प्रकार का कोई अन्य शब्द भी सामने आ सकता है, अतः इस अर्थ की भी फिर मधुकर अर्थ में--भ्रमर-शब्द में लक्षणा की गई है। ऐसे ही 'सिंहो माणवकः' कथन में सिंह शब्द की हिंस्र पशुराज को छोड़कर—क्रूरता या वीरता अर्थ में लक्षणा करनी पड़ती है—सिंहपद के वाच्य पशु के साथ सम्बद्ध क्रूरत्वादि धर्म-रूप सम्बन्ध से बालक की प्रतीति होती है।[४]

अन्य प्रकार से यह लक्षणा त्रिविध है—(१) जहल्लक्षणा (२) अजहल्लक्षणा (३) जहदजहल्लक्षणा। (१)—जहाँ वाच्यार्थ का अन्तर्भाव लक्ष्यार्थ में न होकर अन्य ही अर्थ की प्रतीति होती है उसे जहल्लक्षणा कहते हैं, जैसे कोई व्यक्ति अपने मित्र को शत्रु के घर में भोजन से रोकता हुआ कहे 'तू तो विष खाले'। उस कथन से विषभक्षण रूप वाच्यार्थ की प्रतीति न होकर 'शत्रु के घर पर कभी न खा' इस लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। वाच्यार्थ को सर्वथा छोड़ दिया जाता है, लक्ष्यार्थ व वाच्यार्थ का सम्बन्ध है अनिष्टकारित्व को लेकर।[५]

---

१. मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्यापरिग्रहे।
मुख्यार्थेनाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते॥ मी० श्लो० वा०।

२. लक्षणावीजन्तु तात्पर्यानुपपत्तिरेव। वे० प० पृ० २०९।

३. लक्षणा च द्विविधा—केवललक्षणा लक्षितलक्षणा चेति। तत्र शक्यसाक्षात्सम्बन्धः केवललक्षणा, यथा गङ्गायां घोष इति। अत्र प्रवाहसाक्षात्सम्बन्धिनि तीरे गङ्गापदस्य केवललक्षणा। वही पृ० २०३।

४. यत्र शक्यपरम्परासम्बन्धे न अर्थान्तरप्रतीतिस्तत्र लक्षितलक्षणा, यथा द्विरेफपदस्य रेफद्वये शक्तस्य भ्रमरपदघटितपरम्परासम्बन्धेन मधुकरेषु वृत्तिः। गौण्यपि लक्षितलक्षणैव, यथा सिंहो माणवक इति। अत्र सिंहशब्दवाच्यसम्बन्धिक्रौर्य्यादिसम्बन्धेन माणवकस्य प्रतीतिः। वही, पृ० २०४।

५. प्रकारान्तरेण लक्षणा त्रिविधा—जहल्लक्षणा अजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा चेति।

जहाँ वाच्यार्थ का अन्तर्भाव करके ही लक्ष्य अर्थ की प्रतीति होती है वहाँ (शक्यार्थ का त्याग न किया होने से) अजहल्लक्षणा होती है। जैसे 'श्वेत घट' कहने पर श्वेत शब्द के वाच्य शुक्लरूप (गुण) को लेते हुए ही उस की शुक्लगुण-विशिष्ट द्रव्यघटरूप अर्थ में लक्षणा की जाती है। ऐसे ही 'रक्तो धावति' वाक्य में रक्त शब्द की रक्तगुण-विशिष्ट अश्वरूप अर्थ में वृत्ति मानकर 'लाल अश्वय दौड़ता है' इस अर्थ की प्रतीति अजहल्लक्षणा से होती है।[1]

जहाँ विशिष्टवाचक शब्द अपने विशेषणरूप एकदेश को छोड़ कर विशेष्यरूप एक अंश का बोधक होता है, वहाँ जहदजहल्लक्षणा होती है। जैसे 'यह वही राम है' में 'वही' पद का 'तत्कालविशिष्ट' तथा 'यह' पद का 'इस वर्तमान काल से विशिष्ट' यही वाच्य अर्थ है। किन्तु वह राम नामक व्यक्ति भूत व वर्तमान दोनों कालों में एक साथ तो स्थित हो नहीं सकता। अतः वह और यह पद केवल राम रूपी विशेष्य अर्थ के ही बोधक हैं। अर्थात् दोनों पद केवल विशेष्यपरक हैं, स्वार्थपरक (अपने शक्यार्थ को कहने वाले) नहीं।[2]

जहदजहल्लक्षणा के विषय में यह प्राचीन साम्प्रदायिक मत है, जिसमें—'विरुद्धांश-परित्यागपूर्वक अविरुद्ध अंश को स्वीकार करना' यही लक्षणा का स्वरूप है। नवीन वेदान्ती शक्य व अशक्य अर्थ का सामान्यतया बोध करा देने वाली लक्षणा को ही जहदजहल्लक्षणा मानते हैं। तदनुसार 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' ऐसे स्थल इस तृतीया लक्षणा के उदाहरण हैं। यहाँ काक शब्द के वाच्यार्थ (काकत्वविशिष्ट काक) का परित्याग करके अशक्यार्थ (दध्युप-घातकत्वविशिष्ट प्राणिमात्र) को उपस्थित करके काक शब्द की कौए तथा कौए से भिन्न बिल्ली-आदि दधि को दूषित करने वाले प्राणी रूप अर्थ में प्रवृत्ति है। अर्थात् यह कौआ शब्द कौए का भी बोध कराता है, साथ ही दही को दूषित करने वाले अन्य प्राणियों का भी।[3]

इस लक्षणा का सांप्रदायिक रूप स्वीकार न करने का उद्देश्य है अभेदरूप वाक्यार्थ का उपपादन करना, अथवा लक्षणा के बिना ही वाक्य के अभेदार्थक होने की सिद्धि। इसमें धर्मराजाध्वरीन्द्र ने 'घट' पद की शक्ति 'घटत्वविशिष्ट घट' रूप अर्थ में मानते हुए अपने मत

तत्र शक्यार्थमनन्तर्भाव्य यत्र अर्थान्तरप्रतीतिः तत्र जहल्लक्षणा, यथा विषं भुङ्क्ष्वेति। अत्र स्वार्थं विहाय शत्रुगृहे भोजननिवृत्तिर्लक्ष्यते। वही, पृ० २०५।

१. यत्र शक्यार्थमन्तर्भाव्यैव अर्थान्तरप्रतीतिः तत्र अजहल्लक्षणा, यथा शुक्लो घट इति। अत्र हि शुक्लशब्दः स्वार्थं शुक्लगुणमन्तर्भाव्यैव तद्वति द्रव्ये लक्षणया वर्त्तते। वहीं।

२. यत्र हि विशिष्टवाचकः शब्दः एकदेशं विहाय एकदेशे वर्त्तते तत्र जहदजहल्लक्षणा, यथा सोऽयं देवदत्त इति। अत्र हि पदद्वयवाच्ययोर्विशिष्टयोरैक्यानुपपत्त्या पदद्वयस्य विशेष्यमात्रपरत्वम्।''''इति साम्प्रदायिकाः। वही, पृ० २०६।

३. जहदजहल्लक्षणोदाहरणं तु काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्याद्येव, तत्र शक्यकाकत्वपरि-त्यागेन अशक्यदध्युपघातकत्वपुरस्कारेण काकेऽकाकेऽपि काकशब्दस्य प्रवृत्तेः। वही, पृ० २०८।

का प्रतिपादन किया है। शब्द की 'विशिष्ट' में शक्ति मानने पर घट पद की शक्ति जैसी 'घटत्व' (जाति) में है वैसी ही घट-व्यक्ति में भी है—यह सिद्ध होता है। इसलिए जहाँ पर विशिष्टपदार्थान्वय का बोध होता हो,—विशिष्ट-पदार्थों का अन्वय (परस्पर विन्यास) न बन पाने से वाक्यार्थ-बोध न होता हो, वहाँ जिस अंश का बाध नहीं हो रहा है उसी अंश में उस शब्द का पर्यवसान मानना चाहिये। क्योंकि जितने अंश में पद की शक्ति है उस सम्पूर्ण अंश का शाब्दबोध में भान होना ही चाहिए यह कोई नियम नहीं है। 'आकाश' शब्द की शब्दाश्रयत्वविशिष्ट आकाश पदार्थ में शक्ति है, इसलिए 'आकाश है' ऐसा कहने पर शब्दाश्रयत्व का भी बोध हो यह आवश्यक नहीं, वैसे ही मुख्यवृत्ति से ही 'सोऽयं देवदत्तः' आदि वाक्यों का अखण्डार्थत्व (ऐक्यार्थत्व) उपपन्न होता है, अतः उसके लिए लक्षणा मानने की कोई आवश्यकता नहीं। जिस वाक्य में पदार्थ के एकदेश की विशेषणरूप से उपस्थिति हो वहीं पर उस (विशेषण) की स्वतन्त्रतया उपस्थिति कराने के लिए लक्षणा माननी पड़ती है। जैसे 'घट अनित्य है' कथन में घट पद से शक्तिवृत्ति के द्वारा घटत्व तथा घटव्यक्ति दोनों उपस्थित होते हैं, केवल घटत्व नहीं, केवल विशेषण (घटत्व) की उपस्थिति कराए विना नित्यत्व का अन्वय नहीं बैठता, अतः घट पद की घटत्व ही अर्थ में लक्षणा करनी पड़ती है।[1]

(च) वाक्यार्थज्ञान—

(१) वाक्य क्या है ?

अनेक पदों के अन्वययोग्य समूह को वाक्य कहते हैं। अन्वय का अर्थ है उन सब पदों में परस्पर कर्तृ-कर्मादि कारक-सम्बन्ध होना तथा उन सब पदों के अर्थों से मिल कर एक पूर्ण अर्थ का बोध होना।

मीमांसक परिभाषा के अनुसार समभिव्याहार—अङ्ग-अङ्गीवाचक पदों का सहोच्चारण वाक्य है।

व्याकरण के अनुसार—एक तिङन्त (क्रियापद) का अर्थ ही जिसमें मुख्य विशेष्य है, तथा जो अपने-अपने अर्थ का बोध कराके समाप्त हो जाने वाले पदों का समूह है, वही वाक्य है।

न्याय के अनुसार—प्रकृति-प्रत्यय से निष्पन्न, अथवा उत्तरोत्तर क्षण (काल) में उदित होने वाले विभिन्न सार्थक वर्णों का समूह-रूप एक पद भी वाक्यात्मक है। प्रत्येक पद (सार्थक शब्द, विशिष्ट क्रम में उच्चरित वर्ण, अथवा प्रकृति, प्रत्यय आदि) का अपना-अपना अर्थ है, ऐसे (सार्थक) अनेक पदों का समूह ही वाक्य है, उसमें प्रत्येक पद का समान महत्त्व है। शाब्द प्रतीति से जन्य होते हुए शाब्द प्रतीति का जनक पदसमूह वाक्य है।

इन सभी में समान रूप से स्वीकृत है कि आकांक्षा-योग्यता-सन्निधि से युक्त ही पद-समुदाय वाक्य है।

---

१. यत्र पदार्थैकदेशस्य विशेषणतया उपस्थितिः तत्रैव स्वातन्त्र्येण उपस्थितये लक्षणाभ्युपगमः, यथा नित्यो घट इत्यत्र घटपदात् घटत्वस्य शक्त्या स्वातन्त्र्येण अनुपस्थित्या तादृशोपस्थित्यर्थं घटपदस्य घटत्वे लक्षणा। वही, पृ० २०७-८।

परमलघुमञ्जूषा में नागेशभट्ट ने न्याय व वैयाकरण मतों के निष्कृष्ट सार रूप से संक्षेप में वाक्य का स्वरूप कहा है कि सम्मिलित अर्थ में पर्यवसित होने में समर्थ पदसमूह वाक्य है।[1]

(२) वाक्य का अर्थ

वाक्य के स्वरूप में वैमत्य के अनुसार ही वाक्यार्थ के स्वरूप में भी वैमत्य है। सामान्य दृष्टि से आकांक्षा-योग्यता-सन्निधि से युक्त पदों का समुदाय वाक्य है। इन पदों में से प्रत्येक का अपना अर्थ है; तो क्या इन पदार्थों का समूह ही वाक्यार्थ है ? या पदार्थों का योग किसी अपूर्व (पदों द्वारा न कहे गये) अर्थ को अभिव्यक्त करने (या नये अर्थ का वोध कराने) में समर्थ है ? यह प्रश्न कुछ ऐसा ही है जैसा कि शरीर के विषय में पूछना कि हाथ-पैर-सिर आदि अवयवों का समूह ही शरीर है या इनके समन्जस विन्यास से निष्पन्न एक पृथक् ही वस्तु है ? इतना तो निस्सन्दिग्ध है कि विभिन्न अवयव एक पारस्परिक सामञ्जस्य के विना शरीर नहीं कहला सकते, वैसे ही वाक्यार्थ के विपय में भी कहा जा सकता है कि उक्त सामञ्जस्य या समन्वय के विना पदार्थ-समूह वाक्यार्थ नहीं हो सकता। पदों से वाक्य की सृष्टि में जैसे पदों में परस्पर आकांक्षा, योग्यता व सन्निधि अपेक्षित है वैसे ही वाक्यार्थ की सृष्टि के लिये सब पदार्थों में उक्त तीनों गुण रहना अपेक्षित है।

तव भी यह प्रश्न वना रहता है कि वाक्यार्थ है क्या ? जिस सामञ्जस्य के विना विभिन्न अवयव एक 'शरीर' शव्द के वाच्य नहीं वनते, वह सामञ्जस्य ही क्या 'शरीर' शव्द का वाच्य है ? ऐसे ही पदार्थों की परस्पर आकांक्षा आदि से घटित उनका अन्वय—परस्पर उपकार्योपकारक-भावपूर्व योग-ही क्या वाक्यार्थ है ? या इस अन्वय से युक्त (अलंकृत, विशिष्ट) पदार्थसमूह वाक्यार्थ है ? या अन्वयविशिष्ट पदार्थसमूह किसी अपूर्व अर्थ का सम्पर्क है और वह अर्थ वाक्यार्थ है ? सामान्य रूप से वेदान्त में वक्ता का तात्पर्य ही वाक्यार्थ है और मीमांसा में षड्विध तात्पर्य से निर्णीत अर्थ ही वाक्यार्थ है।

(३) वाक्यार्थ-ज्ञान-प्रक्रिया

वाक्य से वाक्यार्थ का ज्ञान होने में, मीमांसकों में दो मत हैं।

अन्विताभिधानवाद—

प्राभाकर मत यह है कि—किसी व्यक्ति के 'श्याम ! गौ लाओ' कहने पर श्याम गौ को लेकर आता है, उसकी इस (गौ को ले आने की) चेष्टा को देखकर, समीप बैठकर उस वाक्य को सुनने तथा श्याम की चेष्टा को देखने वाला वालक अनुमान लगाता है कि वाक्य

१. वाक्यस्फोटो मुख्यः तस्यैव लोकेऽर्थवोधकत्वात्। तेन वार्थसमाप्तेश्चेति। तदाह न्यायभाष्यकारः—'पदसमूहो वाक्यमर्थसमाप्तौ' इति। अस्य समर्थमिति शेषः। प० ल० मं० पृ० ४-६।

इस अर्थ का वोधक है, फिर उस व्यक्ति के 'गौ को ले जाओ, अश्व को लाओ' कहने पर श्याम गौ को ले जाता है, अश्व को लाता है—इसे देखकर, वह बालक क्रिया-पदार्थ में अन्वित कारक में कारक पदों (गाम्) की शक्ति तथा कारकपदार्थों (गौ, अश्व) में अन्वित क्रिया में क्रियापद की शक्ति का ग्रहण करता है। इसलिये स्वयं वाक्य-प्रयोग या श्रवण के समय उसे परस्पर अन्वित ही पदार्थों का ज्ञान होता है, अथवा पदार्थ परस्पर अन्वित होकर अभिधा (मुख्या या शक्ति) वृत्ति द्वारा ही वाक्यार्थ-वोधक होते हैं। अर्थात्—पदों में स्थिता शक्ति ही अनेक पदव्यक्तियों के अन्वय से घटित संसर्गात्मक वाक्यार्थ का ज्ञान कराती है। शक्ति ही पद से पदार्थ का वोध कराती है और परस्पर अन्वित अनेक पदों से वाक्यार्थ का वोध कराती है।

पद ही परस्पर अन्वित स्वार्थ के अभिधायक हैं, प्रत्येक पद का सामर्थ्य (शक्ति) योग्यतर अर्थ में अन्वित ही स्वार्थ में रहता है, भले ही प्रत्येक वाक्यप्रयोग में विशेष पदार्थान्तर तथा उसका अन्वय व्यभिचारी (अलग-अलग, या नया-नया) है। तब भी सामान्यतः योग्येतरान्वित स्वार्थ मात्र व्यभिचरित नहीं। प्राथमिक शक्तिग्रह योग्येतर अर्थ से अन्वित स्वार्थ में ही होता है, उसी के अनुसार दूसरे प्रयोगों में भी शक्ति की कल्पना होगी। (जैसा कि ऊपर देख चुके हैं।)

यहाँ शङ्का उठती है कि पद किस अर्थ से अन्वित अपने अर्थ का वोधक होता है ? अनभिहित पदार्थ से अन्वित स्वार्थ का या अन्य पद से अभिहित पदार्थ से अन्वित स्वार्थ का ? जैसे 'गामानय' स्थल पर 'गौ' पद किस अर्थ से अन्वित स्वार्थ का वोधक है ? उक्त दो विकल्पों में से पहला लें तो एक 'गाम्' पद से ही आनयन आदि (अनभिहित पदार्थ) से—समन्वित गोत्व का वोध हो जाने से दूसरे 'आनय' पद का प्रयोग ही व्यर्थ हो जाता है। द्वितीय पक्ष लें तो परस्पराश्रय दोष होता है, क्योंकि 'गौ' पद तब तक आनयनान्वित स्वार्थ का बोधक नहीं हो सकता जब तक कि 'आनय' पद गोपदार्थान्वित स्वार्थ का वोध न करा दे। ऐसे ही 'आनय' पद भी गोपदार्थान्वित स्वार्थ का वोधक नहीं हो सकता जब तक गौ पद अपने आनयन से अन्वित अर्थ का वोध न करा दे।

इसके वारण के लिए—प्रत्येक पद पहले अपने शुद्ध अर्थ को कहता है, फिर इतरान्वित स्वार्थ को कहता है—ऐसा मानने पर प्रत्येक पद से दो-दो वार अर्थाभिधान मानना पड़ेगा जो व्यर्थ गौरवापादक होने से ठीक नहीं।

यदि कहें कि एक पद से दो वार अर्थाभिधान नहीं होता, प्रत्युत, पहले प्रत्येक पद अपने सहचारी शुद्ध अर्थ का स्मरण दिलाता है फिर इतरान्वित स्वार्थ का अभिधान (कथन) करता है—तो भी ठीक नहीं, क्योंकि पद का जो अपने अर्थ से साहचर्यदर्शन होता है उसमें अन्वित पदार्थ ही अनुभूत होता है (जैसा कि पहले देख चुके हैं) अतः अन्वित का ही स्मरण मानना होगा, शुद्ध का नहीं। पद का प्रयोग केवल पदार्थमात्र की प्रतीति के लिए नहीं होता, व्यवहार के लिये होता है, व्यवहार सदैव अन्वित में ही होता है। अतः पदों से शुद्ध इतरार्थानन्वित अर्थ की स्मृति कैसे होगी ?

ऐसे ही 'गां पश्य' ऐसा प्रयोग होने पर 'गाम्' पद ने पूर्वानुभूत आनयनान्वित स्वार्थ का स्मरण दिला दिया तो 'पश्य' पद अनाकांक्षित व असंगत हो जाता है। आकांक्षा तव होती यदि उस पद के बिना उसके अर्थ का वोधक 'गाम्' पद न होता। जव दर्शनान्वितता का वोध 'गाम्' पद से ही हो गया तव 'पश्य' पद की आकांक्षा क्या ?

इन शंकाओं के उत्तर में अन्विताभिधानवादी कहते हैं—पदार्थ-विषयक वृत्तियों को, प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, व निद्रा में अन्तर्भावित न होने के कारण, स्मृति रूप ही मानना होगा। स्मृति अन्वितविषयक ही होती है, स्वरूपमात्र-विषयक नहीं।

यह कोई नियम नहीं कि पदों से अभिहित (कहे जा चुके—फलित शक्ति वाले) पदार्थों का ही वाक्यार्थ में अन्वय हो। क्योंकि 'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति'—वाक्य में, प्रयोग होने पर, पदों द्वारा न कहे गये भी तीर आदि अर्थों का अन्वय वाक्यार्थ में देखा जाता है। पदों के द्वारा प्रथमतः स्मारित शुद्ध पदार्थ ही आकांक्षादि के वल से अन्वित होकर पदों से अभिहित होते हैं, अतः अन्योन्याश्रय नहीं है।

शङ्का हुई थी कि पद से ही पदान्तराभिहित पदार्थ से अन्वित स्वार्थ का कथन हो जाने से दूसरे पद की आकांक्षा हो न रहेगी, अतः वह व्यर्थ होगा—वह ठीक नहीं। क्योंकि आकांक्षा का अर्थ है—प्रतिपत्ता (समझने या सुनने वाले) की जिज्ञासा। वह जिज्ञासा अभिधान या अभिहित अर्थ के अपर्यवसान (अपूर्णता) से होती है। जैसे 'वृक्षः' कहने पर इतरार्थान्वित स्वार्थ का अभिधान नहीं होता, क्योंकि इतरार्थ का उपस्थापक कोई पदान्तर है ही नहीं। प्रथमा विभक्ति तो प्रातिपदिक-अर्थ मात्र में विहित है। उससे भी इतरार्थ की उपस्थिति नहीं होती। अतः अन्विताभिधान को सम्पन्न करने के लिए इतरार्थ के उपस्थापक 'अस्ति' आदि पदों की आकांक्षा होती है।[१] यह अभिधान के अनवसान से जनित आकांक्षा सभी जगह समान है।

यह शङ्का भी ठीक नहीं कि अन्विताभिधान में पदों के सामर्थ्य की कल्पना व्यर्थ है, क्योंकि पदस्मारित पदार्थ ही, आकांक्षादि के वल से, परस्परान्वय-वोध के जनक हो जाते

---

१. तदुक्तं शाब्दनिर्णये—
क्रमेणावगतानर्थान् युगपत् संहितानथ।
प्रमिमीरन् पदानीति नान्योन्याश्रयदोषता। इति ॥
नाथैरपि—'श्रूयमाणं पदं सर्वं स्मारितानन्वितार्थकम्।
न्यायसंपादितव्यक्तिपश्चाद्वाक्यार्थवोधकम् ॥
स्मृतिसन्निहितैरेवमथैरन्वितमात्मनः।
अर्थमाह पदं सर्वमिति नान्योन्यसंश्रयः ॥ इति ॥ न० प्र० पृ० २५५।

२. आकाङ्क्षा हि प्रतिपत्तुर्जिज्ञासा, सा चाभिधानापर्यवसानादभिहितार्थापर्यवसानाद्वा भवति। यथा वृक्ष इत्यत्र प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमाविभक्तेः स्मरणात्तेनैव तस्यान्विताभिधानासम्भवादन्यस्य चानभिधानादभिधानपर्यवसानायैवाकाङ्क्षा।
त० प्र० पृ० २५५।

हैं—ऐसा नहीं है। पदों द्वारा अभिहित पदार्थ ही अन्वयबोध के जनक हो जाते हैं, अन्य किसी प्रमाण से अधिगत पदार्थ वाक्यार्थ-प्रत्यायक नहीं होते।[२]

यदि शब्दसामर्थ्य से वाक्यार्थबोध न मान कर पदार्थों से माना जायगा, तब पदार्थ नामक एक सप्तम प्रमाण मानना होगा, क्योंकि प्रत्यक्षादि ६ प्रमाणों में तो उसका अन्तर्भाव होता नहीं। एवं अनभिहित पदार्थ संसर्गबोधक होते नहीं, अभिहित पदार्थों में ही संसर्गबोधकता माननी होगी। इस प्रकार पदार्थों में संसर्ग-बोध-जनन-सामर्थ्य और पदों में पदार्थनिष्ठ उस सामर्थ्य के उत्पादन का सामर्थ्य ऐसी दो-दो शक्तियों की कल्पना करनी पड़ेगी। अन्विताभिधान-वादी को तो केवल पदों में एक योग्येतरान्वितस्वार्थाभिधान (जिस अर्थ में उस पद की शक्ति है, उसके अतिरिक्त उस अर्थ के अन्य अर्थ से अन्वित रूप को भी कहने अर्थात् अन्य अर्थों के अन्वय से युक्त अपना अर्थ कहने) के सामर्थ्य की ही कल्पना करनी पड़ती है। अतः लाघव के कारण अन्विताभिधानवाद अधिक युक्त है।[१]

अभिहितान्वयवाद

भाट्ट मीमांसकों का मत है कि--पदों में अर्थबोधन की शक्ति रहती है, उसीके कारण पद पदार्थों के अभिधायक होते हैं। उन पदार्थों की आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि आदि सहकारी कारणों के बल पर परस्पर अन्वयार्थ में लक्षणा होती है। अथवा पदार्थों के परस्पर अन्वय का बोध लक्षणा द्वारा होता है। पदनिष्ठशक्ति द्वारा ज्ञापित पदार्थ में स्वरूपसती लक्षणा वृत्ति रहती है; वही संसर्गात्मक वाक्यार्थ का बोध कराती है। पदार्थ में रहने वाली लक्षणा ज्ञात हो कर रहती है और लक्ष्यार्थ की उपस्थापिका होती है। तथापि लक्षणा द्वारा ही उपस्थाप्य होने के कारण वाक्यार्थ लक्ष्य ही होता है, अभिधेय नहीं।

अभिहितान्वयवाद में पदों की अपनी शक्ति के बल से पदार्थ कहे जाते हैं। पदार्थ-ज्ञान न स्मृतिरूप है, न अनुभवरूप। इनसे विलक्षण ही ज्ञान के विषयी-भूत पदार्थ 'अभिहित' कहलाते हैं। वैसे पदार्थ आकांक्षा, योग्यता आदि के अनुसार अपने अन्वय के अनुभावक होते हैं लक्षणा द्वारा। इसीलिये वाक्यार्थ लक्ष्य कहलाता है। पद के द्वारा जो बोधित हो वह शक्य होता है, और पदार्थ के द्वारा जो बोधित हो वह लक्ष्य है। यद्यपि पद द्वारा अभिहित

---

१. ननु तथापि पदानामन्विताभिधाने सामर्थ्यं न कल्पनीयम्, पदस्मारितानामेव पदार्थानामाकाङ्क्षादिवशादन्योन्यान्वयप्रत्यायकत्वोपपत्तेरिति चेत्, मैवम्; मानान्तराधिगतानां पदार्थानां वाक्यार्थप्रत्यायकत्वादर्शनात्। वही, पृ० २५६।

२. अपि च शब्दसामर्थ्याजन्यत्वे वाक्यार्थप्रत्ययस्य पदार्थाख्यं सप्तमं प्रमाणमभ्युपेयं स्यात्, प्रत्यक्षादिषु तस्यानन्तर्भावात्। किं च पदार्थानामनभिहितानां संसर्गबोधकत्वाभावादभिहितानामेव तदेष्टव्यम्, तथा च पदार्थानां संसर्गप्रत्ययजननसामर्थ्यम्, पदानां च पदार्थेषु तत्सामर्थ्याधानसामर्थ्यमिति द्वयं कल्पनीयमिति कल्पनागौरवमभिहितान्वयवादिनः, अन्विताभिधानवादिनस्तु पदानां योग्येतरान्वितस्वार्थाभिधानसामर्थ्यमेकमेव कल्पनीयमिति कल्पनालाघवमित्ययमेव पक्षः श्रेयानिति।

वही, पृ० २५६-५७।

पदार्थ द्वारा स्मारित होना लक्ष्यता है और वाक्यार्थ पदार्थ द्वारा अनुभावित है इतना अन्तर है, तथापि पदार्थ द्वारा बोध्य न होने के कारण ही उसे लक्ष्य कहा जाता है।
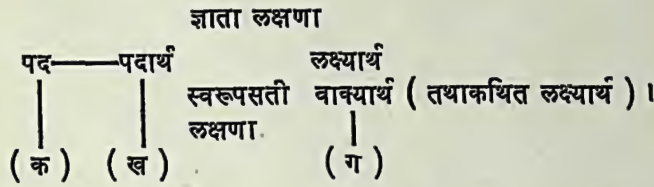
चित्सुखाचार्य ने तत्त्वप्रदीपिका में अभिहितान्वयवाद की चर्चा में कहा है कि अभिधेय पदार्थों के स्मरण के विना वाक्यार्थबोध नहीं होता, अतः पद-जन्य-पदार्थ-स्मरण या स्मृत पदार्थों को ही वाक्यार्थ-बोध का हेतु मानना होगा।[1]

शङ्का—पदार्थस्वरूपमात्रविषयक स्मरण में पदार्थों के पारस्परिक अन्वय की बोधकता उपपन्न नहीं, क्योंकि जहाँ-जहाँ 'गौ' पदार्थ का स्मरण होता है, वहाँ सर्वत्र 'आनयन' आदि का अन्वय नहीं देखा जाता।

उत्तर—स्मरण-मात्र में वैसा सामर्थ्य न होने पर भी समभिव्याहृत पदसमूह से जन्य आकांक्षादिविशिष्ट पदार्थस्मरण में, सहकारि-विशेष के सम्बन्ध से अन्वयबोकधता सम्भव हो जाती है। अन्यथा (विभिन्न-विषयक साधनों में मिलकर एक कार्य के प्रति जनकत्व न मानने पर) जहाँ संस्कार केवल असन्निहितदेशस्थ देवदास को विषय करते हैं एवं इन्द्रिय केवल समीपस्थ देवदास को विषय करती हैं, वहाँ दोनों मिल कर 'यह वही देवदास है' इस प्रकार पूर्वापरदेश-काल-सम्बद्ध एक वस्तु के बोधक कैसे हो सकेंगे ?[2]

परस्पर के सहयोग से संस्कार + इन्द्रिय में यदि वैसा सामर्थ्य माना जाता है, तब प्रकृत में परस्पर सहयोग से सभी पदार्थ के स्मरण में एक वाक्यार्थ की बोधकता क्यों न होगी ? अन्विताभिधानवादी जो कहते हैं कि पदार्थ-स्मरण या स्मृत पदार्थों को अन्वयबोधक मानने पर सप्तम प्रमाण मानना पड़ेगा, वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि जैसे अङ्गत्व-बोधक-श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान व समाख्या—इन ६ प्रमाणों में से श्रुति, वाक्य व समाख्या ये तीन शब्दरूप हैं, किन्तु अवशिष्ट लिङ्ग, प्रकरण व स्थान—ये तीन शब्दरूप न होने पर भी

---

१. विनाभिधेयस्मरणमन्वयाप्रतिपत्तितः। तत्तत्पदार्थस्मृतयस्तेषामन्वयबोधकाः॥
वही, १।२५, पृ० २५७।

२. न च पदार्थस्वरूपमात्रविषयस्मृतीनामन्योन्यान्वयबोधकत्वमनुपपन्नमन्यत्रादृष्टत्वादिति वाच्यम्। स्मरणमात्रस्य सामर्थ्याभावेऽपि समभिव्याहृतपदकदम्बकसमुपजनितपदार्थस्मृतीनामाकाङ्क्षादिसहकारिणीनां संभवत्येव तद्बोधकत्वम्, सहकारिभेदोपादानात्, कथमन्यथा संस्कारेन्द्रिययोरन्यत्र परस्परसङ्गतार्थाविषययोः प्रत्यभिज्ञायां पूर्वापरदेशकालसंसृष्टैकवस्तुबोधकत्वम् ?
वही, पृ० २५७-५८।

शब्दप्रमाण के अन्तर्गत माने जाते हैं, वैसे ही पदार्थस्मरण या स्मृत पदाथ भी शब्दप्रमाण में अन्तर्भूत हो जाते हैं।[1]

शङ्का उठती है कि उक्त लिङ्ग आदि प्रमाणों में, शब्दस्वरूपा श्रुति की कल्पना के द्वारा ही विनियोजकत्व (अङ्गाङ्गिभाव-वोधकत्व) होने से, शब्दान्तर्गतत्व वन जाता है। किन्तु यहाँ (वाक्यार्थ स्थल में) तो पदार्थ-स्मरण या स्मृत पदार्थ में ही अन्वय-वोधकता है, शब्द-कल्पना-द्वारा नहीं। शब्दावगत-पदार्थों के द्वारा जन्य होने के कारण अन्वय प्रतीति को शाब्द मानने पर नेत्रावगत धूम से जन्य होने के कारण वह्नचनुमिति की चाक्षुष प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा।

इस पर उत्तर देते हैं कि अन्वय-प्रतीति के जनक तो पद ही हैं, पदार्थ स्मरण को अवान्तर व्यापार ही माना जाता है। व्यापार-रूपी व्यवधान व्यापारी (जिसका वह व्यापार है) में से कारणता को नहीं निवृत्त कर देता। नहीं तो अपूर्व रूप अवान्तर व्यापार का व्यवधान हो जाने से याग में स्वर्गादि फल की जनकता कैसे मानी जायेगी ?

और लिङ्गज्ञानजन्य अनुमिति में चाक्षुषत्व की आपत्ति तब होती यदि लिङ्गज्ञान चक्षु का व्यापार होता, किन्तु वह ऐसा नहीं है, क्योंकि (व्यापार उसे ही कहते हैं जो कारण से जन्य होते हुए फल का जनक हो, किन्तु) व्याप्तिज्ञान-शून्य पुरुष के चक्षु से जन्य धूम (-लिङ्ग)-ज्ञान अनुमिति नहीं उत्पन्न करता। और अचाक्षुष स्थल पर भी लिङ्गज्ञान अनुमिति को उत्पन्न करता ही है।[2]

तथा प्रभाकरमत में श्रुतिकल्पना के विना ही लिङ्गादि विनियोजक हो कर शब्दप्रमाण के अन्तर्गत माने जाते हैं।

शङ्का—अभिहितान्वयवाद में तीन शक्तियों की कल्पना करनी पड़ती है—

(१) पदों में अर्थानुभव को उत्पन्न करने की शक्ति

(२) अर्थों में पारस्परिक अन्वय-प्रतीति-जनन की शक्ति

(३) पदों में उक्त अर्थनिष्ठ शक्ति के आधान की शक्ति

पद साहचर्यमात्र से अपने अर्थों के यदि स्मारक ही हैं, वोधक नहीं, तब भी दो शक्तियों की कल्पना अनिवार्य है। १—पदार्थों में अन्वय-वोधन शक्ति २—पदों में पदार्थनिष्ठ

---

१. न च पदार्थस्मृतीनां वा पदार्थानामन्वयबोधकत्वे सप्तमप्रमाणाभ्युपगमप्रसङ्गः; लिङ्गप्रकरणस्थानानामिव शब्दप्रमाणान्तर्भावोपपत्तेः। वही, पृ० २५८।

२. अन्वयप्रतीतिं जनयतां पदानामवान्तरव्यापारत्वात् पदार्थस्मरणानाम्। न च स्वव्यापारव्यवधानाद्व्यापारवतः करणत्वं विहन्यते; यागादीनामपूर्वव्यवधानेन फलसाधकानामकरणत्वप्रसङ्गात्। न च चक्षुषो लिङ्गज्ञानमवान्तरव्यापारः; अगृहीताविनाभावस्यानुमानानुदयात्, अचाक्षुषस्थलेऽपि लिङ्गस्य बोधितत्वात्।

वही, पृ० २५९।

अन्वयबोधजनकता की आधानशक्ति। किन्तु अन्विताभिधानवाद में एक ही—इतरान्वित स्वार्थ के अभिधान की शक्ति कल्पनीय है।[1]

उत्तर—अन्विताभिधानवाद में भी तीन शक्तियों की कल्पना करनी पड़ती है—(१) पदों में अर्थान्तरबोधनशक्ति (२) अन्वयबोधनशक्ति (३) स्वार्थबोधनशक्ति। यदि कहें कि–पद अर्थान्तर से अन्वित स्वार्थ का बोधक होने पर भी वाचक केवल अपने अर्थ का ही होता है, अन्य अर्थ तथा उसके अन्वय का वाचक नहीं होता, जैसे कि जातिवाचक पद व्यक्ति एवं उसके अन्वय का वाचक नहीं होता।—तो ठीक नहीं, क्योंकि जातिवाचक पद के ही समान अर्थान्तरान्वय से उपलक्षित स्वार्थ की बोधकता पदों में है, या अर्थान्तरान्वय-विशिष्ट स्वार्थ की? पहले पक्ष में तो अन्विताभिधानवाद (अन्वयविशिष्ट अर्थ की वाचकता पदों में) भङ्ग हो जाता है। द्वितीय पक्ष में अर्थान्तर और उसके अन्वय में भी शक्ति अवश्य माननी होगी तो कल्पना-गौरव होगा ही। इसके अतिरिक्त, श्रूयमाण या स्मर्यमाण प्रत्येक पद में इतर अर्थ को स्मरण कराने की शक्ति, प्रत्येक स्मरण के विषयीभूत प्रत्येक अर्थ से अन्वित अर्थ की अभिधान-शक्ति तथा सभी पदों को विषय करने वाले स्मरण में पदनिष्ठ अन्विताभिधान की आधानशक्ति—ऐसी तीन शक्तियाँ कल्पनीय ही हैं।[2]

अभिहितान्वयवाद में तो विशिष्टार्थबोधन के लिए प्रयुक्त पदों के समभिव्याहार की अन्यथा अनुपपत्ति के द्वारा पदों से स्मारित पदार्थों की पारस्परिक अन्वय में लक्षणा से ही काम चल जाता है, अनेक शक्तियों की कल्पना नहीं करनी पड़ती। आचार्य शबरस्वामी की उक्ति है·—'अनन्यलभ्यः शब्दार्थः' (-शब्द की शक्ति उसी अर्थ में माननी चाहिये जो अन्यतः लक्षणा आदि से लभ्य न हो)। आचार्य मण्डनमिश्र की भी उक्ति है कि सभी पदार्थ

---

१. ननु त्वयाऽभिहितान्वयवादे तिस्रः शक्तयः कल्पनीयाः; पदानां तावदर्थस्वरूपानुभवजननशक्तिः, अर्थानां चान्योन्यान्वयप्रत्यायनशक्तिः तदाधानशक्तिश्चापरा पदानामिति। पदानां साहचर्येणार्थस्मारकत्वे पुनः शक्तिद्वयं कल्पनीयम्, पदार्थानामन्वयबोधनशक्तिः, तेषु तदाधानशक्तिश्च पदानाम्, अन्विताभिधाने तु पदानामन्योन्यान्वितस्वार्थाभिधानशक्तिरेकैवेति।

वही, पृ० २५९-६०।

२. त्वयाऽप्यर्थान्तरे तदन्वये स्वार्थे च पदशक्तीनां कल्पनीयत्वात्। न चार्थान्तरान्वितस्वार्थाभिधायकमपि पदं स्वार्थस्यैव वाचकम्, नार्थान्तरतदन्वययोर्जातिवाचकमपि पदं व्यक्तितदन्वययोरिवेति वाच्यम्; विकल्पासहत्वात्। तथाहि किं जातिवाचकपदेन व्यक्तेरिव लक्ष्यत्वमर्थान्तरतदन्वययोः? उत वाच्यत्वम्? नाद्यः, पदानामन्विताभिधानभङ्गप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, वाच्यत्वे तयोरपि शक्तेरवश्यकल्पनीयतया गौरवस्य तादवस्थ्यात्। किंचैकैकस्य पदस्य श्रूयमाणस्य स्मर्यमाणस्य वा तत्तत्पदार्थस्मरणजननशक्तिः, पुनरेकस्मरणगोचराणां च तेषामेव पदानामन्योन्यान्वितपदार्थाभिधानशक्तिः सकलपदगोचरस्यास्मरणस्य पदेष्वन्विताभिधानशक्त्याधानशक्तिश्चेति शक्तित्रयकल्पनान्विताभिधानवादेऽपि तुल्या। वही, पृ० २६०।

अपने पदों से स्मारित क्रिया-कारकादि रूप संसर्ग के भागी होते हैं, क्योंकि व्यवहार में विशिष्टार्थ की प्रतीति के लिये ही पदों का समुच्चारण वाक्यप्रयोग किया जाता है।[1]

(४) वाक्यार्थज्ञान के सहकारी कारण–

पदार्थों की परस्पर जिज्ञासा में विषय होने की योग्यता आकांक्षा है या प्रतीति का अपर्यवसान आकांक्षा है।[2] दो या अधिक पदों के वाक्य में से एक पद सुन लिए जाने पर उसके अर्थ की पूर्ति के लिए अन्य पदों की अपेक्षा होती है। जैसे 'पुस्तक को' इतना सुनने पर 'यह किसे कहा जा रहा है'? 'पुस्तक को क्या करें' ये जो प्रश्न उठते हैं, जिनका उत्तर न मिलने तक 'पुस्तक को' का अर्थ अपूर्ण रहता है। 'तुम' (–पुस्तक को–) 'ले आओ' ये दोनों अंश सुनने पर दूसरे के लिए जिज्ञासा का उत्थान न होने पर भी, अथवा वाक्यार्थज्ञान की इच्छा न रखने वाले व्यक्ति को भी वाक्य सुनते ही उसके अर्थ का ज्ञान हो जाता है, तब भी उस वाक्य के सभी पदार्थों में परस्पर जिज्ञासा का विषय होने की योग्यता अवश्य रहती है।

न्याय में आकांक्षा की व्याख्या अन्य प्रकार से की गई है—जिस पद के विना जिस पद का शाब्दबोध न हो उस पद को उस पद की आकांक्षा है, अथवा अपेक्षित दूसरे पद के अभाव में एक पद का शाब्दबोध न होना।[3] इस प्रकार नैयायिक एक पद को दूसरे पद की आकांक्षा मानते हैं, और वह (आकांक्षा) अन्वयबोधाभावरूप है। वेदान्ती आकांक्षा को पदनिष्ठ न मान कर अर्थनिष्ठ मानते हैं, तथा उसका स्वरूप भी प्रागभावात्मक नहीं, जिज्ञासा-विषयत्वयोग्यत्व (भावरूप) मानते हैं।

इस आकांक्षा का ज्ञान शाब्द-बोध में कारण नहीं, आकांक्षा स्वयं ही कारण है। अथवा यों कह सकते हैं कि आकांक्षा स्वरूपतः कारण है, ज्ञात होती हुई नहीं। योग्यता से अभिप्रेत है वाक्य के तात्पर्यविषयीभूत संसर्ग का वाध न होना। या पदार्थों के परस्पर सम्वन्ध का वाध न होना। या एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ की प्रकृत संसर्गवत्ता योग्यता है।[4] 'अग्नि से सिंचन करता है' ऐसे वाक्यों में योग्यता नहीं है, क्योंकि इनका अर्थ—'अग्नि-करणक सिंचन' प्रत्यक्षप्रमाण से वाधित है, अत; ऐसे वाक्य से अर्थबोध नहीं होता। 'तत् त्वम् असि' वाक्य में 'तत्' व 'त्वम्' पदों के वाच्य अर्थ में अभेद का वाध होने पर भी लक्ष्यार्थभूत चैतन्य के अभेद रूप अर्थ का वाध नहीं होता। इसीलिए तात्पर्यविषयीभूत संसर्ग

---

१. सम्वन्धयोग्यरूपेण तस्मात् संसर्गभागिनः।
विशिष्टार्थप्रयुक्ता हि समभिव्याहृतिर्जने॥ व्र० सि० ३।९०, पृ० १११।

२. पदार्थानां परस्परजिज्ञासाविषययोग्यत्वम् आकाङ्क्षा। वे० प० पृ० १८४।

३. यत्पदेन विना यस्याननुभावकता भवेत्। आकाङ्क्षा'''। कारि० ८४
येन पदेन विना यस्य पदस्य अन्वयाननुभावकत्वं तेन पदेन सह तस्याकाङ्क्षा।
सि० मु० शब्द० पृ० ७८।

४. योग्यता च तात्पर्यविषयसंसर्गावाधः। वे० प० पृ० १९३।
पदार्थे तत्र तद्वत्ता योग्यता परिकीर्त्तिता। कारि० ८३।

कहा गया है। जीव-ब्रह्म का अभेद कहने वाले वाक्यों में उन-उन शब्दों का वाच्य अर्थ विवक्षित नहीं। लक्ष्य अर्थ में ही श्रुति का तात्पर्य निहित है।

पदज्ञान से पदार्थ की उपस्थिति होती है, वह उपस्थिति अव्यवधान से हो यह भी वाक्यार्थज्ञान के लिए अपेक्षित है। इसे ही आसत्ति या सन्निधि कहते हैं।[1] पारिभाषिक शब्दों में—सभी आकांक्षित पदार्थों का एक ही बुद्धि में उपारूढ़ होना, या अन्वय के सब प्रतियोगियों की अव्यवहित उपस्थिति आसत्ति है।

क्रिया-कारकादि-पद-समूह रूप वाक्य में सभी पदों को, उस वाक्य के अर्थ में अनभिप्रेत अन्य पदों के व्यवधान से रहित होना चाहिये, उसके विना—'ओदनं पुस्तकं धावति भुङ्क्ष्व अश्वः पठ'—ऐसे पदसमूह से अर्थवोध नहीं होता। तथा, एक पद के उच्चारण के वाद दूसरे पद का उच्चारण होने में सामान्यतः जितना समय लगता है उससे वहुत अधिक समय के व्यवधान से रहित होना भी वाक्यार्थ-वोध के लिए नियत अपेक्षित है। इसीलिए प्रातःकाल कोई कहे 'श्याम !' दोपहर को कहे 'गो को' एवं सन्ध्या होने पर कहे 'ले आओ' तव भी वाक्य में अपेक्षित सभी अंश पूरे हो जाने पर भी इस वाक्य का अर्थ नहीं समझा जा सकता।

यह अव्यवहित पदार्थोपस्थिति पदजन्या हो तभी शाब्दवोध के प्रति कारण होती है, अन्य किसी माध्यम या प्रमाण से पदार्थोपस्थिति शाब्दवोध को नहीं उत्पन्न करती, जैसे 'श्याम ! देखो—' कहते हुए अङ्गुली द्वारा घड़ा दिखा दिया जाय तो वह घट का शाब्दवोध नहीं होगा।

वाक्यजन्य शाब्दवोध में तात्पर्यज्ञान भी एक कारण है। इस 'तात्पर्य' से क्या अभिप्रेत है ? लोकप्रसिद्धि तथा न्यायसिद्धान्त के अनुसार वक्ता की इच्छा को ही तात्पर्य कहते हैं।[2] वक्ता के विवक्षित अर्थ की प्रतीति श्रोता को हो तभी सही वाक्यार्थ ज्ञान होता है। पर वक्ता की इच्छा ही तात्पर्य हो तो संस्कृतभाषा न जानने वाले व्यक्ति के द्वारा उच्चरित वेद-वाक्य के अर्थ का ज्ञान श्रोता को होना संभव नहीं; जव कि तोते के मुख से भी किसी रटे हुए वाक्य को सुन कर भी अर्थवोध हो ही जाता है। इस दोष से बचते हुए—वेदान्तमत में वक्ता के विवक्षित अर्थ का ज्ञान करा देने की योग्यता को ही तात्पर्य माना गया है। जैसे—'कमरे में पुस्तक है' यह वाक्य कहे जाने पर कमरे तथा पुस्तक के सम्बन्ध का ही ज्ञान होता है, वक्ता को उस वाक्य के अर्थ का ज्ञान हो चाहे न हो, किन्तु उस वाक्य में कमरे व पुस्तक के आधाराधेय भाव—सम्बन्ध का ज्ञान करा देने की योग्यता अवश्य रहती है। इसके अतिरिक्त विवक्षित अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति की इच्छा से वाक्य का उच्चारण न होना भी 'तात्पर्य' का ही विशेषण है। निष्कृष्ट रूप से जो वाक्य उस अर्थ की प्रतीति को उत्पन्न करने की

---

१. आसत्तिश्चाव्यवधानेन पदजन्यपदार्थोपस्थितिः। वे० प० पृ० १९५।
यत्पदेन यत्पदार्थस्यान्वयोऽपेक्षितस्तयोरव्यवधानेनोपस्थितिः आसत्तिः।
सि० मु० शब्द० पृ० ६५।

२. ....वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यं परिकीर्त्तितम्। कारि० ८४।

स्वरूपयोग्यता से युक्त होकर किसी भी अन्य अर्थ की प्रतीति की इच्छा से उच्चरित नहीं होता, वह वाक्य उसी संसर्ग (वाक्यार्थ) का बोधक है ।[१]

इससे अनेक अर्थों में रूढ़ (प्रसिद्ध) पदों से युक्त वाक्य का तात्पर्य प्रसङ्ग देख कर निर्णीत हो जाता है, अनेक तात्पर्य मान कर वाक्यार्थ-बोध में व्याघात नहीं होता। जैसे भोजन करते समय किसी के द्वारा 'सैन्धव लाओ' कहा जाने पर सैन्धव शब्द के लवण अर्थ में ही वक्ता का तात्पर्य रहता है, अतः उस वाक्य से श्रोता को 'लवण-अपेक्षा'–अर्थ की ही प्रतीति होती है, वह वाक्य सैन्धव के दूसरे अर्थ–अश्व की प्रतीति कराने के लिए उच्चरित नहीं हुआ है ।

श्रुतिवाक्यों में तथा अव्युत्पन्न (अनजान) व्यक्ति द्वारा उच्चरित वाक्यों में भी अन्य अर्थ की प्रतीति की इच्छा से उच्चरित होना नहीं है; क्योंकि विशेष अर्थ की प्रतीति-विषयक इच्छा भी नहीं है; अतः उनका भी अर्थबोध श्रोता को होना संभव ही है ।

इसके अतिरिक्त जिस वाक्य के तात्पर्य में संशय हो, वहीं तात्पर्यज्ञान नियत अपेक्षित है। अतः कहीं बिना तात्पर्यज्ञान के भी शाब्दबोध हो सकता है—जैसे अपौरुषेय श्रुतिवाक्यों से—ऐसा भी किसी का मत है ।[२]

इस प्रकार शाब्द-बोध-विश्लेषण के प्रथम अङ्ग (वैखरी के अन्तर्गत शब्द-व्यवहार पर लक्ष्य रखते हुए विचार)–सम्बन्धिनी चर्चा के पश्चात् प्रस्तुत परिच्छेद का पर्यवसान होता है, क्योंकि वेदान्त में स्वीकृत सभी प्रमा वृत्ति के भेद यहाँ चर्चित हो चुके। अग्रिम परिच्छेद में शाब्दबोध विश्लेषण के ही द्वितीय से लेकर चतुर्थ अङ्ग पर्यन्त (२) शाब्दबोध की लौकिक रीति का शास्त्र में उपयोग, (३) लौकिक रीति से निष्पन्न फल से इतर भी फल की शब्दप्रमाण से निष्पत्ति की सम्भावना, (४) शब्द से उत्पन्न अन्तिम वृत्ति के कार्य–(सविलास अविद्या की निवृत्ति की उपपत्ति) का विचार किया जायेगा ।

–:०:–

यथाऽद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यापूरिताः प्रभो ।
विशन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वत् त्वां गतयोऽन्ततः ॥
हृदिस्थोऽप्यतिदूरस्थः कर्मविक्षिप्तचेतसाम् ।
आत्मशक्तिभिरग्राह्योऽप्यन्त्युपेतगुणात्मनाम् ॥

---

१. तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वं तात्पर्यम् ।''''तदितरप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्वस्यापि तात्पर्यं प्रति विशेषणत्वात् । वे० प० पृ० २१६-१७ ।

२. वाक्यस्य संसर्गावगाहित्वनियमस्तु सति तत्र तात्पर्यसंशयाभावे । यत्र तु तत्संशय-प्रकरणविशेषे, तत्र सति तात्पर्यनिश्चये संसर्गावगाहित्वम्, अन्यथा तु न । तत्त्वमसिवाक्ये तु संसर्गविषयकत्वे संशयात् तदविषयत्वतात्पर्यनिर्णयाच्च न संसर्गावगाहित्वम् । अ० त० शु० पृ० ७० ।

द्वादश परिच्छेद

ब्रह्म-ज्ञान

१. महावाक्य—अखण्डार्थक

(क) वाक्य में अखण्डार्थता की कल्पना का हेतु—

पूर्वोक्त रीतियों से व्याख्यात वाक्य का अर्थ संसर्गरूप ही लोक में प्रसिद्ध है, एवं अधिकतर दार्शनिकों का अभिमत है। अद्वैत वेदान्त का वस्तुतः प्रतिपाद्य है—अद्वितीय अखण्डैकरस ब्रह्मवस्तु की एकमात्र परमार्थ-तत्त्व रूप से सिद्धि। लोक में अप्रसिद्ध ऐसी अद्भुत वस्तु को ही सचराचर प्रपञ्च की भित्ति, अथवा सभी कुछ का एकमात्र तत्त्व (सार) सिद्ध करने के लिए अद्वैती का सर्वप्रमुख प्रमाण है आगम, जो वाक्यात्मक है। वाक्य-मात्र का अर्थ यदि संसर्गात्मक ही होता हो तो सभी श्रुतिवाक्य भी संसर्गबोधक होंगे, उनमें से प्रमुख विषय के प्रतिपादक महावाक्य भी अखण्ड, अद्वैत वस्तु का बोध कैसे करा सकेंगे ?

यही विचार प्रकटार्थविवरण में प्राभाकर मीमांसकों की ओर से पूर्वपक्ष उठाकर कहा गया है—वाक्य अनेक पदार्थात्मक स्वार्थ (अपने अर्थ) में ही बोध (धी—अनेक-पदार्थाकारा वृत्ति) उत्पन्न करता हुआ कैसे अद्वैत को अवभासित करेगा ? यदि कहें कि 'स एष नेति नेति' से सभी उपाधियों का निषेध होने से अद्वैत की सिद्धि होती है तो ठीक नहीं, क्योंकि यह जो 'एष' शब्द से कहा जाने वाला भाव ही सद् रूप का बोधक है, वह असत्त्वभाव के आपादक नञर्थ के साथ सम्बद्ध होने योग्य नहीं—'अस्ति नास्ति' के समान। अन्वय के अयोग्य पदार्थों का अन्वय सम्भव न होने से वे पदार्थ वाक्यार्थ नहीं बनते, और ऐसे पदार्थ समूह में योग्यता न होने से वाक्यार्थ बोध भी सम्भव नहीं।[1] यद्यपि सभी निषेधवाक्यों में प्रायः ऐसी ही स्थिति होती है, किन्तु लौकिक निषेधक वाक्यों में किसी का आत्यन्तिक निषेध नहीं होता, कहीं पर किसी का निषेध होता है, ब्रह्माद्वैताभिमानी तो उक्त 'नेति' से आत्यन्तिक ही निषेध चाहते हैं। अतः वह वाक्य ही विरुद्धार्थक हो जाता है। कहीं कुछ प्राप्त हो तभी उसका निषेध सम्भव है। अप्रसक्त का निषेध नहीं होता। आगम का सर्वथा विरुद्धत्व तो ठीक नहीं, अतः प्रत्यक्ष-विरुद्ध अद्वैतबोधक आम्नाय यथाश्रुति

---

१. ननु वाक्यमनेकपदार्थात्मके स्वार्थे धीमुत्पादयन् कथमद्वैतमवभासयेत्। न च स एष नेति नेतीति श्रुत्या सर्वोपाधौ निषिद्धे सिध्यत्यद्वैतम् इति वाच्यम्, 'एष' शब्दाभिहितो भावः सद्बोधकः नासावसत्त्वभावापादकेन नञर्थेन सम्बन्धयोग्यः 'अस्ति नास्ती' तिवत्....। प्र० वि०।

(मुख्यार्थपरक रूप से) युक्त नहीं । अनेकपदार्थाकारा वृत्ति ही वाक्य से उत्पन्न होती हुई संसर्गरूप वाक्यार्थ का बोध कराती है तो वाक्यात्मक आगम कैसे अद्वैततत्त्व का बोधक होगा—इस विचार से प्रेरित वेदान्ततर्क ने यह सिद्ध करने में प्रचुर युक्ति-प्रस्तार किया है कि वाक्य केवल संसर्ग के ही नहीं, अखण्ड अर्थ के भी बोधक हो सकते हैं अथवा वाक्य का अर्थ संसर्गात्मक ही नहीं, अभेद या अखण्ड-रूप भी हो सकता है ।

(ख) अखण्डार्थता क्या है ?

चित्सुखाचार्य ने इस विषय पर पूर्वपक्ष में तत्त्वप्रदीपिका में पाँच विकल्प रखे हैं—क्या (१) निर्विशेषवस्तुपरत्व अखण्डार्थत्व है ? या (२) निर्भेदार्थनिष्ठत्व (सजातीय—विजातीय स्वगत–भेद शून्य वस्तु विषयक का होना) ? या (३) अपर्याय शब्दों की प्रातिपदिकार्थमात्र में पर्यवसायिता ? या (४) अपर्याय शब्दों का एक प्रातिपदिकार्थ में ही पर्यवसित होना ? या (५) संसर्गाविषयक प्रमा की जनकता ?[1] प्रथम में जिज्ञासा होती है कि निर्विशेषवस्तुपरता से क्या अभिमत है ? विशेषरहित वस्तु का वाचक होना या लक्षक होना ? वाचक होना तो सम्भव नहीं क्योंकि निर्विशेष वस्तु लोक में कहीं प्रसिद्ध नहीं, उसके साथ शब्द का सम्बन्ध–ग्रह नहीं हो सकता । लक्षक होना भी असम्भव है क्योंकि लक्षणा का हेतु होता है—अभिधेय का अविनाभाव, ऐसा तन्त्रवार्तिक में कहा गया है ।[2] जब अभिधेय ही प्रसिद्ध नहीं तो उसका अविनाभाव कैसे प्रसिद्ध होगा ? इस पर वेदान्ती कहते हैं कि लक्षणा का हेतु वाक्यप्रामाण्य की अनुपपत्ति को मानना चाहिए, जिससे कि 'विषं भुङ्क्ष्व' की शत्रुगृह में भोजन का निषेध–अर्थ में लक्षणा होती है, वहाँ अभिधेय है विष-भोजन, लक्ष्य है शत्रु के अन्न को खाने का निषेध, उनमें अविनाभाव हो नहीं सकता । अतः आगमवाक्यों के प्रामाण्य की उपपत्ति के लिये उन्हें निर्विशेष के लक्षक मानना चाहिए । इस पर पूर्वपक्षी कहते हैं कि प्रामाण्य की अनुपपत्ति भी उत्पन्न अप्रसिद्ध वस्तु (जो लक्ष्य बनने के योग्य ही नहीं) को लक्ष्य नहीं बना सकती । नहीं तो लक्षणा द्वारा गगनकुसुम का भी बोध होना चाहिए ।[3]

द्वितीय (निर्भेदार्थनिष्ठत्व) विकल्प भी ठीक नहीं, क्योंकि निर्भेदत्व का निर्वचन नहीं हो सकता ।—भेद के अभाव से विशिष्ट होना निर्भेद होता है या भेदाभाव से उपलक्षित होना ? पहला लक्षण मानें तो वेदान्तवाक्यों में भेदाभावविशिष्ट की बोधकता मानने से

---

१. किमिदमखण्डार्थत्वम् ? किं निर्विशेषवस्तुपरत्वम् ? उत निर्भेदार्थनिष्ठत्वम् ? आहोस्विदपर्यायशब्दानां प्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वम् ? अथवा तेषामेवैक-प्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वम् ? संसर्गागोचरप्रमाजनकत्वं वा ?
त० प्र० पृ० १८६-१८७ ।

२. अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते । तं० वा० १।४।२३ ।

३. न चाभिधेयाविनाभावं विनापि 'गरमभ्यवहरे'त्यादिगिरामिव वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिरेव लक्षणाक्षेपिका; अत्यन्ताप्रसिद्धत्वेन गगनारविन्दादेरिव लक्ष्यत्वानुपपत्तेः ।
त० प्र० पृ० १८७ ।

सखण्डार्थत्व ही प्राप्त होगा—जैसा कि 'निर्घटं भूतलम्' वाक्य में है। भेदाभावोपलक्षितत्व में भी संसृष्टार्थत्व (सखण्डार्थत्व) को निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि भेद के अभाव रूप उपलक्ष्य से उपलक्षित वस्तु की बोधकता में (संसर्ग-घटित ही अर्थ की वाचकता में) संसृष्टार्थता क्यों न होगी।[1] यदि कहा जाय कि यहाँ भेदभाव तो द्वारमात्र है, वेदान्त की बोध्य है—केवल वस्तु, तो भी अखण्डार्थत्व नहीं बनता, क्योंकि उपलक्ष्यमाण (ब्रह्म) वस्तु यदि स्वेतर (अपने से भिन्न) से व्यावृत्त होकर प्रतीत होती है तब अखण्डार्थता कैसे ? इतर-व्यावृत्तत्व-विशिष्ट वस्तु अखण्ड नहीं हो सकती। और इतर-व्यावृत्तत्वविशिष्टत्व के विना उपलक्षितता भी सम्भव नहीं, क्योंकि कादाचित्क व्यावर्तक को ही उपलक्षण कहते हैं।[2]

तृतीय विकल्प (अपर्याय शब्दों की प्रातिपादिक अर्थ मात्र में पर्यवसायिता) भी उचित नहीं, अतिव्याप्त होने से। 'शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयःपावकौ' ये सब अपर्याय शब्द केवल जलाग्नि-रूप प्रातिपादिकार्थ के ही बोधक हैं, अखण्डार्थत्व के नहीं।

चतुर्थ (अपर्याय शब्दों की एक प्रातिपादिकार्थ में पर्यवसायिता) भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि 'सत्यं ज्ञानं....' आदि सभी पद एक ही प्रातिपादिकार्थ के बोधक हों तो एक ही पद से उसका बोध हो जाने से दूसरे पदों का प्रयोग व्यर्थ होगा, एक ही पद से तो वाक्य-रचना ही संभव नहीं। वेदान्ती कह सकते हैं कि प्रत्येक पद के दो कार्य होते हैं—१—लक्ष्यार्थ का बोध २—इतर की व्यावृत्ति। लक्ष्य (-प्रतिपाद्य) एक होने पर भी व्यावर्त्य असत्यत्व जडत्वादि अनेक हैं, जिनकी व्यावृत्ति एक पद से नहीं हो सकती, अतः सभी पदों की सार्थकता है। ऐसा ही आनन्दबोधाचार्य ने कहा भी है—'लक्ष्य अर्थ में भेद न होने पर भी व्यवच्छेद्य का भेद रहने से विज्ञान व आनन्द पदों में पर्यायिता व उससे प्रयुक्त व्यर्थता क्यों होगी ?[3] पर वह ठीक नहीं क्योंकि 'सत्य' आदि पदों से व्यवच्छेद्य सत्यादि की व्यावृत्ति का प्रतिपादन होता है ? या व्यावृत्ति-विशिष्ट वस्तु का ? या व्यावृत्ति से उपलक्षित स्वरूपमात्र का ? प्रथम व द्वितीय में तो इतर-प्रतियोगिकत्व-विशिष्ट व्यावृत्ति एवं व्यावृत्तिविशिष्ट वस्तु का प्रति-पादन होने से अखण्डार्थत्व नहीं बनता, तृतीय में 'उपलक्षण'—प्रविष्ट होने से प्रथम विकल्प में कहा गया दोष (अखण्डार्थत्व की अनुपपत्ति) पुनः आता है। और लक्ष्य के स्वरूपमात्र का प्रतिपादन मानने पर अन्य पद के प्रयोग की व्यर्थता बनी ही रहती है। पञ्चम (संसर्ग को विषय न करने वाली प्रमा की जनकता) तो नितान्त असम्भव है, क्योंकि संसर्गाविष-यक प्रमा की जनकता लोक में किसी वाक्य में नहीं देखी जाती।

---

१. निर्भेदत्वं नाम किं भेदाभावविशिष्टत्वम् ? उत भेदाभावोपलक्षितत्वम् ? नाद्यः; तत्परत्वे वाक्यस्य निर्घटं भूतलमितिवत्संसृष्टार्थत्वप्रसङ्गात्। न द्वितीयः; तत्रापि संसृष्टार्थत्वस्यानतिवृत्तेः। तथाहि—भेदस्य यो भावस्तेनोपलक्षणेनोपलक्षितवस्तु-परत्वे कथं न संसृष्टार्थता ? त० प्र० पृ० १८८।

२. उपलक्ष्यमाणस्य स्वेतरेभ्यो व्यावृत्तत्वेन प्रतीतावखण्डार्थत्वासंभवात्। अप्रतीते चानुपलक्षकत्वादेवोपलक्षणस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। त० प्र० पृ० १८८।

३. लक्ष्यार्थभेदाभावेऽपि व्यवच्छेद्यविभेदतः। विज्ञानानन्दपदयोः पर्यायव्यर्थता कुतः॥ न्या० म० पृ० २६०।

यदि कहा जाय कि **'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'** आदि लक्षणवाक्यों में संसर्ग को विषय न करने वाली प्रमा की जनकता देखी जाती है। (किसी ने पूछा—गगन में चमकती हुई ज्योतियों में चन्द्र कौन सा है ? उत्तर मिला—इनमें जो प्रकृष्ट-प्रकाश है वही चन्द्र है)—यहाँ चन्द्र रूप एक प्रातिपदिकार्थ मात्र ही प्रश्न व उत्तर का विषय है; प्रकाश संसर्ग आदि विवक्षित नहीं तो ठीक नहीं, क्योंकि लक्षण के दो प्रयोजन होते हैं—इतरव्यावृत्ति तथा व्यवहार। सजातीय-विजातीय-व्यावृत्तत्व-विशिष्ट या चन्द्रादिशब्द-व्यवहर्तव्य-विशिष्ट का प्रतिपादन होने से लक्षणवाक्यों का सखण्डार्थत्व निवृत्त नहीं होता।[1]

यदि कहा जाय कि **'सोऽयं देवदासः'** जैसे वाक्यों में सभी अपर्यायपद देवदास-विषयक भेद-भ्रम को हटा कर देवदास के स्वरूप-मात्र का प्रतिपादन करते हैं—वहाँ तो अखण्डार्थत्व स्पष्ट है[2] तो वह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ भी परोक्षदेशकालोपलक्षित देवदास में इस (वर्तमान) देश व काल के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन है ही, अतः संसृष्टार्थत्व से पिण्ड नहीं छूटता।

(ग) अखण्डार्थता-निरूपण

इस पूर्वपक्ष के उत्तर में तत्त्वप्रदीपिकाकार कहते हैं कि वाक्यों में जो संसर्ग को विषय न करनेवाले यथार्थ ज्ञान की हेतुता है वही अखण्डार्थता है, अथवा अपर्याय पदों की एक प्रातिपदिकार्थता का नाम अखण्डार्थता है।[3] अर्थात् पूर्वोक्त पाँच विकल्पों में से पञ्चम नितान्त निर्दुष्ट है। प्रकृष्ट-प्रकाशादि वाक्यों में उक्त लक्षण के अनुसार अखण्डार्थता सिद्ध है, वही **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इत्यादि में भी प्रतिपित्सित है। शङ्का की गई थी कि लक्षणवाक्य भी सजातीय, विजातीय की व्यावृत्ति के वैशिष्ट्य का या उन-उन शब्दों से व्यवहार किये जाने की योग्यता का प्रतिपादन करते हैं, अतः संसृष्टार्थक ही हैं—वह कहना ठीक नहीं। क्योंकि प्रकृष्टप्रकाशादि वाक्य साक्षात् इतर-व्यावृत्ति के प्रतिपादक हैं ? या स्वरूप-प्रतिपादन के द्वारा ? प्रथम पक्ष संभव नहीं, क्योंकि उक्त वाक्य में व्यावृत्तिवाचक कोई पद ही नहीं।

---

१. नापि पञ्चमः। तथात्वस्यात्यन्तादृष्टचरत्वेन लक्षणासम्भवित्वात्। ननु प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यादिलक्षणवाक्येषु दृष्टं संसर्गागोचरप्रतीतिजनकत्वमिति चेत्, मैवम्; लक्षणवाक्यैरपि लक्ष्यस्य सजातीयविजातीयेभ्यो व्यावृत्तत्वेन प्रतिपादनात् तच्छब्दैर्व्यवहर्त्तव्यत्वेन प्रतिपादनाद्वा लक्षणवाक्यानामपि संसृष्टार्थत्वानतिवृत्तेः।

त० प्र० पृ० १८९-९०।

२. तत्त्वमसीत्यपि जीवब्रह्मतादात्म्यबोधपरं वाक्यमखण्डार्थनिष्ठमेव सोऽयं देवदत्त इति वाक्यवत्। तत्र हि पदत्रयस्यैकस्मिन्नेव देवदत्ते पर्यवसानमवसीयते, तथा च प्रत्यभिज्ञायामधिगतमेकत्वं परस्मै प्रतिपादयन्नाह सोऽयं देवदत्त इति। न च तत्र तद्देशकालयोरेतद्देशकालयोस्तदवच्छिन्नयोर्वा देवदत्तरूपयोरैक्यं प्रत्यभिजानाति,...।

न्या० म० पृ० २६७।

३. संसर्गासङ्गिसम्यग्धीहेतुता या गिरामियम्।
उक्ताखण्डार्थता यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता॥

त० प्र० १।१९।

द्वितीय भी युक्त नहीं, क्योंकि स्वरूप-प्रतिपादन से अर्थतः सिद्ध होने वाली व्यावृत्ति है, उसे शब्दार्थ नहीं माना जा सकता। शबरस्वामी का कथन है—'जो अर्थ अर्थतः प्रतीत होता है वह शब्द का शक्यार्थ नहीं कहलाता।' नहीं तो 'गौ को लाओ' कहने पर अर्थतः सिद्ध घोड़े को लाने की व्यावृत्ति को भी उक्त वाक्य का अर्थ मानना पड़ेगा।[1]

यहां शङ्का उठाते हैं कि—इस (दिखती हुई वस्तु) को 'चन्द्र' नाम से कहना चाहिए, क्योंकि यह प्रकृष्टप्रकाशयुक्त है; जो ऐसा नहीं होता वह चन्द्र नाम से नहीं कहा जाता, जैसे नक्षत्रादि, इस प्रकार उक्त लक्षणवाक्य व्यतिरेकी हेतु रूप हैं, तो अखण्डार्थक कैसे है? जब कि 'यह चन्द्र है'—इस प्रकार की व्यवहर्तव्यता के वैशिष्ट्य का प्रतिपादक हो रहा है।

उत्तर में कहते हैं कि शङ्का ठीक नहीं, 'चन्द्र' नाम से व्यवहर्तव्य है इस साध्य का क्या अर्थ है?.....इसी प्रकार प्रभूत युक्ति-प्रस्तार करते हुए अन्ततः सिद्ध है कि लक्षण का उपयोग उक्त अनुमान रूप से नहीं, प्रत्युत आप्तोपदेश (शब्द-प्रमाण) के रूप में अपने लक्ष्य का बोधक है। शब्द-प्रमाण लक्ष्य के स्वरूप-मात्र का परिचायक होता है, और इतर-व्यावृत्ति तो अर्थतः फलित होती है।[2]

अतः संसर्ग को विषय न करने वाली प्रमा का जनक होना ही अखण्डार्थक होना है, जो कि लक्षणवाक्यों में दृष्ट है।

यहाँ पुनः शङ्का होती है कि 'अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः' नित्यः सम्बन्धः समवायः' आदि सम्बन्धप्रतिपादक लक्षणवाक्यों में तो संसर्गाविषयकप्रमाजनकत्व नहीं है। उत्तर—उक्त वाक्यों में भी उन-उन पदों से स्मारित पदार्थों का जो संसर्ग है, वैसे संसर्ग को विषय न करने वाली प्रमा की जनकता है ही।[3] अर्थात् 'संसर्गाविषयक' कहने में संसर्ग है पद से पदार्थ-रूप संसर्ग नहीं, अपितु पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध विवक्षित है, संयोगादि के लक्षणवाक्यों में संयोगादि पदार्थरूप से प्रतीयमान् हैं, न कि किन्हीं दो पदार्थों के सम्बन्ध के रूप में।

---

१. किं प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्यं साक्षादन्यतो व्यावृत्तिं प्रतिपादयति? किंवा स्वरूप-प्रतिपादनेनार्थात्? नाद्यः, व्यावृत्तिप्रतिपादकशब्दाभावात्। नापि द्वितीयः, नान्तरीयकतया सिध्यतोऽर्थस्य शब्दार्थत्वाभावात्, 'यश्चार्थादर्थो न स चोदनार्थः' इति न्यायात्। अन्यथा गामानयेत्यादिवाक्येष्वश्वाद्यानयनव्यावृत्तेरपि वाक्यार्थ-त्वप्रसङ्गात्। त० प्र० पृ० १९३।

२. तस्माद् गवानयनादिवाक्यादाप्तोपदेशतयैव लक्षणवाक्यमवबोधकम्। तच्च सर्वं स्वरूपमात्रे पर्यवस्यति, अर्थात्पुनरन्यतो व्यावृत्तिः फलतीति युक्तम्। वही, पृ० १९५।

३. अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः, नित्यः सम्बन्धः समवाय इत्येवमादिसम्बन्धप्रतिपादक-लक्षणवाक्येष्वव्याप्तेः। तेषां संसर्गगोचरप्रमितिजनकत्वादिति चेत्, मैवम्; तेषा-मपि स्वस्वपदस्मारितपदार्थानामन्योन्यसंसर्गगोचरप्रमितिजनकत्वात्। वही, पृ० १९५।

'अपर्याय शब्दों की एक प्रातिपादिकार्थमात्र में पर्यवसायिता'—यह भी अखण्डार्थता का लक्षण सम्भव ही है। एक पद से ही जिज्ञासित प्रातिपदिकार्थ कह दिये जाने पर अन्य पद का प्रयोग व्यर्थ होगा—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि व्यावर्त्य पदार्थ भिन्न-भिन्न हो तो व्यावृत्ति के लिए सभी पदों की आवश्यकता है जैसे कि लोक में 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः' में प्रकृष्ट पद से मन्द प्रकाश—नक्षत्र, खद्योतादि की, प्रकाश पद से प्रकृष्ट अन्धकारादि की व्यावृत्ति करके जिज्ञासित चन्द्रप्रातिपदिकार्थमात्र का प्रतिपादन किया जाता है। अजिज्ञासित अर्थ का प्रतिपादन हास्यास्पद होगा।[1]

व्यावृत्ति या उससे युक्त पदार्थ के प्रतिपादन से संसृष्टार्थता होगी—यह शङ्का ठीक नहीं, क्योंकि व्यावृत्ति द्वारा ही लक्ष्य स्वरूप की परिचायकता में पदों का तात्पर्य माना जाता है। उक्त लौकिक वाक्य की भाँति वेद में **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** आदि वाक्यों में सत्यादि पद असत्य–जड़–परिच्छिन्न आदि की व्यावृत्ति द्वारा लक्ष्य ब्रह्म के समर्पक हैं। यद्यपि ये सत्यादि पद सत्यत्व, ज्ञानत्वादि अनेक आकार का ज्ञान उत्पन्न करते हैं तथापि इन पदों का प्रयोजन ब्रह्म से असत्यत्वादि की निवृत्ति करना ही है। लक्षणा के समय शुद्ध ब्रह्म में ही उनका तात्पर्य होता है, अनेकाकार में नहीं।

इस प्रकार विभिन्न आकार-समर्पक सत्य आदि पदों से जन्य ज्ञान अर्थतः विरोधी आकारों के विवर्तक होते हैं। इस प्रकार वेदान्तवाक्यों में अखण्डार्थत्व सिद्ध हो जाता है।

उपक्रम में, 'ब्रह्म' शब्द सुन कर केवल ब्रह्मशब्दार्थ की जिज्ञासा होती है, उसी को निवृत्त करने के लिए **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** कहा गया है अतः 'ज्ञान गुण वाला ब्रह्म है' ऐसा गुणगुणीभाव यहाँ युक्त नहीं। **'नेह नानास्ति किञ्चन'** से ब्रह्म का अनेक-रसत्व प्रतिषिद्ध है, तथा **'एकधैवानुद्रष्टव्यम्' एकमेवाद्वितीयम्'** आदि में एकरसत्व प्रतिपादित है। अद्वैत सिद्धि में महावाक्यार्थ-निर्णय-प्रसङ्ग बहुत ही विस्तृत है। तत्त्वप्रदीपिका में उठाई युक्तियों का ही अधिक व्याख्यात्मक आलोडन हुआ है, साथ ही बहुत सी नयी युक्तियाँ भी कही गई हैं, जिनमें से कुछ प्रस्तुत हैं :—

'संसर्गाविषयक-प्रमाजनकता' कहने में 'संसर्ग' पद से 'पद वृत्ति द्वारा स्मारित से अतिरिक्त' ऐसा अर्थ विवक्षित है। इससे संयोगलक्षण में अव्याप्ति नहीं है, संयोगत्व के संयोग पद की शक्ति से ही स्मारित होने से। न वही **'विषं भुङ्क्ष्व'** जैसे वाक्य में अतिव्याप्ति है। क्योंकि इससे जन्य प्रमिति विष, भुज् व लोट् पदों की वृत्ति से स्मारित अर्थों से अतिरिक्त शत्रु-अन्न में स्थित अनिष्टसाधनता रूप संसर्ग को विषय करती है।[2]

---

१. यद्वा अपर्यायशब्दानामेकप्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वमखण्डार्थता। न चैवं पदान्तरवैयर्थ्यम्; व्यावर्त्यभेदार्थवत्त्वोपपत्तेः। तथाहि—लोके प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यत्र प्रकृष्टपदेनाप्रकृष्टखद्योतादेः प्रकाशपदेनाप्रकाशात्मप्रकृष्टतमसादेश्च व्यवच्छेदेन बुभुत्सितश्चन्द्रप्रातिपदिकमात्रार्थः प्रतिपाद्यते, अन्यथा वक्तुरबुभुत्सितमर्थं प्रतिपादयतोऽनवधेयवचनत्वप्रसङ्गात्। वही १९६।

२. पदवृत्तिस्मारितातिरिक्तमत्र संसर्गपदेन विवक्षितम्।....तथाच न संयोगलक्षणे

शेष अगले पृष्ठ पर

अन्विताभिधानवादी के मत से शक्ति—अभिधा और अभिहितान्वयवादी के मत से लक्षणा द्वारा वाक्यार्थभूत संसर्ग का ज्ञान होता है, अतः संसर्गरूप वाक्यार्थ वृत्तिज्ञाप्य है। यह वृत्तिज्ञापितता सभी प्रमाणवाक्यों में है—खण्डार्थकों में भी। उसमें अखण्डार्थलक्षण न जाये इसलिए पदवृत्तिस्मारित कहा गया है। उक्त दोनों मतों के अनुसार संसर्ग पदों द्वारा अनुभाव्य ही है, स्मारित नहीं।[1] अपर्यायशब्दों की एकप्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायिता अखण्डार्थता है—यह कहना भी समीचीन है। वहाँ एकत्व का अभिप्राय है—प्रातिपदिक का एकधर्मावच्छेदेन वृत्तिविषय होना, एक व्यक्ति-मात्र होना नहीं। अर्थात् एकप्रातिपदिकार्थ—प्रातिपदिक का अर्थभूत एक व्यक्ति नहीं, एक धर्म के अवच्छेद से उस प्रातिपदिक के अर्थभूत सभी व्यक्ति।[2] वृत्तिविषयता का अर्थ है—शक्ति, लक्षणा, कृत्, तद्धित व समास—इनमें से किसी एक द्वारा उत्पद्यमान ज्ञान के अधीन ज्ञान का विषय होना। तथा जिस धर्म से विशिष्ट शक्त्यादिज्ञानाधीन—धी (अन्तःकरणवृत्ति) की विषयता हो वैसे यत्किंचित् धर्म से विशिष्ट से भिन्न को विषय न करने वाली प्रमा का जनक होना—अखण्डार्थत्व है।[3] इसलिए वन व सेना पदों के शक्तिज्ञान के अधीन स्मृति-विषयत्व के वनत्वादिविशिष्ट नाना वृक्षों में भी रहने से लक्षण अन्वित हो जाता है। तथा यौगिक अर्थ वाले 'औपगव' के सम्बन्ध में प्रश्न होने पर उत्तर में—'श्याम—सांवला, दीर्घ—लम्बा, अरुणा नयन (वाला) औपगव है' कहा जाने पर औपगव में उपगु + अपत्य दो अर्थ निविष्ट होने पर भी सखण्डार्थता नहीं होती।[4]

अव्याप्तिः; तस्य पदवृत्तिस्मारितत्वात्। नापि द्विपदन्नभोजननिषेधके अतिव्याप्तिः; तत्रानिष्टसाधनत्वसंसर्गस्य पदवृत्त्यस्मारितस्य प्रतिपाद्यत्वात्।

अ० सि० पृ० ६६४।

१. तथाप्यन्विताभिधानवादिमते शक्त्याऽभिहितान्वयवादिमते च लक्षणया वाक्यार्थभूतसंसर्गस्य वृत्तिज्ञाप्यत्वात् सर्वत्र प्रमाणवाक्ये अतिव्याप्तिः स्यात्तद्वारणाय उक्तं—स्मारितेति। आद्यपक्षे कुब्जशक्त्यङ्गीकारात्, द्वितीयपक्षे चाज्ञाताया एव पदार्थनिष्ठाया लक्षणाया वृत्तित्वाङ्गीकारात् न संसर्गस्य पदस्मारितत्वम्, किन्त्वनुभाव्यत्वमित्यतिव्याप्तिपरिहारः।

अ० सि० पृ० ६६५-६७३।

२. एवं द्वितीयमपि लक्षणं (अपर्यायशब्दानां प्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वम्) सम्यगेव। तत्रापि एकत्वं प्रातिपदिकार्थस्यैकधर्मावच्छेदेन वृत्तिविषयत्वम्, नत्वेकमात्रव्यक्तित्वम्। अ० सि० पृ० ६७४।

३. वृत्तिविषयत्वं शक्तिलक्षणाकृत्तद्धितान्तसमासानामन्यतमज्ञानाधीनज्ञानविषयत्वम्। तथाच यादृशधर्मविशिष्टस्य शक्त्यादिज्ञानाधीनधीविषयत्वं तादृशयत्किञ्चिद्धर्मविशिष्टभिन्नविषयकप्रमाजनकत्वं पर्यवसितम्। ल० च० पृ० ६७४।

४. अतो यौगिकार्थौपगवादिप्रश्नोत्तरे 'श्यामो दीर्घः लोहिताक्ष औपगव' इत्यादौ अनेकार्थात्मके वनसेनादिप्रश्नोत्तरे एकदेशस्था वृक्षा वनमित्यादौ च नाव्याप्तिः।

अ० सि० पृ० ६७४।

वेदान्तकल्पतरु में अमलानन्द ने भी ऐसा ही अखण्ड-पदार्थ कहा है—कि अपर्याय अनेक शब्दों से प्रकाशित होते हुए भी अविशिष्ट एक ही अर्थ को वेदान्त में अखण्ड माना गया है।[1]

यहाँ अपर्याय शब्द पर शङ्का उठती है कि एकप्रवृत्तिनिमित्तक पद अपर्याय होते हैं, वह अपर्यायता सत्य अनन्त आदि पदों में नहीं मानी गयी है। अतः अखण्डार्थत्वलक्षण वेदान्त-वाक्यों में जाता नहीं। इस पर आचार्य मधुसूदन कहते हैं कि प्रवृत्ति-निमित्त का भेद मान कर ही (सत्य आदि पद अभिधा से भिन्न अर्थों के ही बोधक हैं—सत्य-मिथ्यात्वाभाववान्, ज्ञान-जडत्वाभाववान्, अनन्त-अन्तवद्भिन्नं) लक्षणा द्वारा इन पदों का शुद्धब्रह्मपरत्व स्वीकार्य है।

यह कहना ठीक नहीं कि लक्षणा तो नैयायिक मत से शक्यसम्बन्धरूपा, अन्यमतों से बोध्यसम्बन्धरूपा है, शुद्ध ब्रह्म के 'असङ्ग' सम्बन्धरहित होने से उसमें लक्षणा भी नहीं हो सकती—अतात्त्विक सम्बन्ध से तो लक्षणा उपपन्न हो ही सकती है। जैसा कि भ्रमप्रतीत-रजतत्व सम्बन्ध से शुक्ति से रजत पद की लक्षणा होती है। शुद्ध ही सभी कल्पनाओं का आस्पद है, अतः कल्पित सम्बन्ध उसमें हो ही सकता है।[2]

वेदान्तपरिभाषा में वाक्य का प्रामाण्य प्रतिपादित करते समय जो संसर्गविषयक उल्लेख है[3] वह अभेद को भी संसर्ग मानते हुए है। इसीलिये प्रत्यक्षप्रकरण में कहा भी है कि वाक्य-जन्य ज्ञान का विषय होने में पदार्थ-संसर्गता प्रयोजक नहीं है, क्योंकि वैसा (वाक्यजन्य ज्ञान की विषयता में पदार्थसंसर्गत्व को ही प्रयोजक) मानने पर वक्ता के अनभीप्सित संसर्ग को भी वाक्यार्थ होना प्रसक्त होगा। अतः वक्ता के तात्पर्य का जो विषय हो वही वाक्यजन्य ज्ञान का विषय है। इसीलिये 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में (उपक्रम-उपसंहार-अभ्यास आदि द्वारा, जिनका तात्पर्य का विषय न बने हुए) पदार्थ-संसर्ग की बोधकता नहीं है। यही उन वाक्यों के अखण्डार्थक होने का अभिप्राय है।[4]

---

१. अविशिष्टमपर्यायानेकशब्दप्रकाशितम्। एकं वेदान्तनिष्णाता अखण्डं प्रतिपेदिरे॥
वे० क० १।१।२ पृ० ९३॥

२. ननु-प्रवृत्तिनिमित्तभेदे अपर्यायत्वम्, स चानन्तादिपदेषु न संभवति; शुद्धब्रह्ममात्र-निष्ठत्वात्, अतो वेदान्तेषु लक्षणा व्याप्तिरिति चेन्न; प्रवृत्तिनिमित्तभेदं स्वीकृत्यैव लक्षणयाऽनन्तादिपदानां शुद्धब्रह्मपरत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्। नच—शुद्धे संबन्धाभावान्न लक्षणापीति वाच्यम्; अतात्त्विकसंबन्धेनैव लक्षणोपपत्तेः, भ्रमप्रतीतरजतत्वेन संबन्धेन शुक्तौ रजतपदलक्षणावत्। शुद्धस्यैव सर्वकल्पनास्पदत्वेन शुद्धे न कल्पितसंबन्धानुपपत्तिः। अ० सि० पृ० ६७४।

३. यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गो प्रमाणान्तरेण न बाध्यते…।
वे० प० पृ० १८२।

४. ननु वाक्यजन्यज्ञानस्य पदार्थसंसर्गावगाहितया कथं निर्विकल्पकत्वम्? उच्यते, वाक्यजन्यज्ञानविषयत्वे हि न पदार्थसंसर्गत्वं तन्त्रम्, अनभिमतसंसर्गस्यापि वाक्य-जन्यज्ञानविषयत्वापत्तेः किन्तु तात्पर्यविषयत्वम्।… वे० प० पृ० ८२-८५।

वाक्य के अखण्डार्थत्व की संभावना-विषयक चिन्तन में यह भी कहा गया है कि वाक्य संसर्ग का ही अवगाहक, ज्ञापक वा वोधक होता है ऐसा नियम वहीं के लिए है जहां वाक्य के तात्पर्य में संशय हो या संभावित हो। जहाँ प्रकरणविशेष में उस वाक्य के तात्पर्य में संशय हो, वहाँ तात्पर्य निश्चित हो तो वह संसर्गावगाही होता है अन्यथा नहीं। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यस्थल पर तो उसका ब्रह्मैक्य-रूप तात्पर्य षड्विध लिङ्गों द्वारा निर्णीत ही है, अतः वह संसर्ग का अवगाहक नहीं।[1]

२. लौकिक शाब्दज्ञान की रीति से जीव-ब्रह्मैक्य-प्रतिपादक महावाक्य की योजना

(क) लक्षणा द्वारा

'जिस वाक्य में विशिष्टवाचक शब्द अपने विशेषणरूप एकदेश को छोड़ कर विशेष्य रूप एक अंश का बोधक होता है, वहाँ जहदजहल्लक्षणा होती है ऐसा कहा गया है। उसी के आधार पर, 'तत्त्वमसि' आदि अभेदवोधक वाक्यों में 'तत्' पद के वाच्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य के साथ 'त्वं' पद के वाच्य अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य का ऐक्य सम्भव न हो सकने से, चैतन्यों की एकता के लिए स्वरूप (शुद्ध चैतन्य) में उनकी लक्षणा की जाती है। विशेषणांशों का त्याग करके विशेष्य चैतन्य मात्र को ही ग्रहण किया जाता है, उस चैतन्य का अभेद ही इस श्रुतिवाक्य का अर्थ है।[2]

यहाँ वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली में शङ्का उठाई गई है कि पूरे पदार्थ के एकदेश में लक्षणा के द्वारा शब्द की प्रवृत्ति मानकर शुद्ध चित्स्वरूप वाक्यार्थ मानने पर श्रुत अर्थ का परित्याग होता है, अर्थात् श्रुत (पदों द्वारा कहे जाते हुए) संसारी व असंसारी रूप अर्थ छोड़ने पड़ते हैं। जो कहा जा रहा है उसे छोड़कर अन्य ही अर्थ की कल्पना उचित नहीं।

---

१. वाक्यस्य संसर्गावगाहित्वनियमस्तु सति तत्र तात्पर्यसंशयाभावे। यत्र तु तत्संशयः प्रकरणविशेषे, तत्र सति तात्पर्यनिश्चये संसर्गावगाहित्वम्, अन्यथा तु न। तत्त्वमसिवाक्ये तु संसर्गविषयकत्वे संशयात् तदविषयत्वतात्पर्यनिर्णयाच्च न संसर्गावगाहित्वम्। अ० त० शु० पृ० ७०।

२. तत्त्वमसीत्यादौ तत्पदवाच्यस्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्टस्य त्वम्पदवाच्येन अन्तः-करण-विशिष्टेनैक्यायोगाद् ऐक्यसिद्धार्थस्वरूपे लक्षणेति साम्प्रदायिकाः। वे० प० पृ० २०६।

इस पर प्रकाशानन्द उत्तर देते हैं कि एकविभक्त्यन्त से दिखाये हुए 'तत्' व 'त्वम्' इन दोनों पदों के सामानाधिकरण्य का विचार करने के बाद पदार्थों का अभेद वाक्यार्थ प्रतीत होता है। वह अभेद विरुद्ध स्वभाव वाले संसारी व असंसारी—जीव व ब्रह्म में सम्भव नहीं होता, अतः मुख्यार्थ का बाध होने से लक्षणा द्वारा वाक्यार्थ की उपपत्ति करना ठीक ही है।[1]

पुनः शङ्का होती है कि श्रुति को वेदान्त में सर्वाधिक प्रबल प्रमाण माना गया है, तो श्रुतिसिद्ध वस्तु में अनुपपत्ति कैसे कही जा सकती है ? अतः लक्षणा नहीं होगी। सिद्धान्ती कहते हैं कि लोकवेदाधिकरण न्याय से वेद भी लौकिक वाक्य की तरह स्वार्थबोधन कराता है। प्रकृतस्थल पर विशिष्टों का भेद तो 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ, ईश्वर नहीं हूँ' ऐसे—अज्ञानदशाकालीन प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है, पर उसकी उपेक्षा कर केवल शुद्ध चिन्मात्र के अभेद का श्रुतिवाक्य लक्षणावृत्ति से बोधन कराता है।[2]

शङ्का—प्रत्यक्षप्रमाण भेद का ग्राहक है इसलिए श्रुति को मुख्यार्थ छोड़ना पड़े यह तो ठीक नहीं, और यदि श्रुति प्रमाणान्तर का बाध कर सकती है तो इसके मुख्यार्थ का बाध हो ही क्यों ? लक्षणा से वह अर्थान्तरपरक क्यों मानी जाय ?[3]

इसके अतिरिक्त, शक्य सम्बन्ध का नाम लक्षणा है। यहाँ (महावाक्य स्थल में) शक्य व लक्ष्य का कोई सम्बन्ध नहीं; क्योंकि शुद्ध आत्मा असङ्ग है, और असम्बद्ध कभी लक्षित नहीं होता।

लक्षणा न होने में और भी युक्ति है, कि 'तत् व त्वम्' इन दो पदों से एक ही अर्थ लक्षित होता हो तो एक पद व्यर्थ होगा; तथा पदार्थ व वाक्यार्थ में कोई अन्तर न रहेगा। यदि इन दोनों में कोई विशेषता मानें तो अखण्ड वाक्यार्थ न होगा, और यदि वास्तव में वे भिन्न हैं तो लक्षणा से भी वेद उनका अभेद कैसे कहेगा ?[4]

---

१. ननु तत्त्वमस्यादिवाक्ये लक्षणैव न युक्ता, भागलक्षणया एकदेशपरिग्रहे श्रुतार्थपरित्यागप्रसङ्गात्।....पदयोरेकविभक्त्यन्तनिर्दिष्टयोः सामानाधिकरण्यपरामर्शानन्तरं पदार्थयोरभेदो वाक्यार्थस्तावत् प्रतीयते; स च विरुद्धस्वभावयोः संसार्यसंसारिणोर्जीवपरमात्मनोर्न सम्भवतीति मुख्यार्थानुपपत्त्या लक्षणा युक्ता।

वे० सि० मु० पृ० ९८-९९।

२. न च विरुद्धस्वभावयोर्भेदग्राहिमानान्तरविरोधेन अविरुद्धयोरंशयोरभेदो बोध्यत इति वाच्यम्। वे० सि० मु० पृ० ९९।

३. श्रुतिविरोधेन भेदग्राहिप्रमाणस्यैव अप्रामाण्यात्; अन्यथा लक्षणया अपि अखण्डाद्वितीयप्रत्यगात्मबोधनं न स्यात्; सकलभेदग्राहिप्रत्यक्षादिविरोधात्। वहीं।

४. तथा च मुख्यार्थे न अनुपपत्तिः। न च शक्यलक्ष्ययोः सम्बन्धो लक्ष्यस्य आत्मनोऽसङ्गत्वात्। न च असङ्गेन किञ्चित् सम्बध्यते, न च असम्बद्धो लक्ष्यते तथा अदर्शनात्।....किञ्च, पदाभ्यामेकोऽर्थो लक्ष्यते अर्थद्वयं वा ? नाद्यः एकपदवैयर्थ्यप्रसङ्गात्, पदार्थवाक्यार्थयोरविशेषापत्तेश्च। वही, पृ० ९९-१००।

इसके अतिरिक्त, वेदान्त में 'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' आदि वाक्य प्रधान होने के कारण ही तो महावाक्य कहे जाते हैं, अन्य सभी वाक्य इनके अङ्गभूत हैं। लक्षणा अप्रधान वाक्यों में ही करना उचित है, क्योंकि गौण वाक्य में ही अन्याय्य लक्षणावृत्ति की कल्पना होती है यह न्याय है।[1]

इस पर सिद्धान्त-पक्ष में कहा गया है—दो सर्वथा विरुद्ध पदार्थों के अभेद की प्रतीति वेदवाक्य नहीं कराते। किन्तु परिपूर्ण सच्चिदानन्दैकरस अखण्ड ब्रह्म वस्तु ही उनका अर्थ है यह सिद्ध करने के लिए ही अन्य प्रमाणों का बाध किया गया है—अन्य गति न होने से।[2] प्रतिवादी ने कहा था कि श्रुति के मुख्यार्थ की अनुपपत्ति नहीं हो सकती—वह ठीक नहीं, क्योंकि दो विरुद्ध स्वभाव वालों (जीव व परमात्मा) का अभेद नहीं देखा जाता। अतः लक्षणा मानना ठीक है। वेद स्वतः प्रमाणान्तर का बाध कर दें, लक्षणा द्वारा अर्थान्तरपरक क्यों हो—सो भी कहना ठीक नहीं, क्यों कि 'बाध्य है' कहने मात्र से कोई बाधित नहीं होता किन्तु अपने विषय की अन्यथा उपपत्ति न होने पर ही बाध्य वस्तु बाधित होती है, तत्त्वमसि आदि में लक्षणावृत्ति से निर्वाह सम्भव है, अतः मुख्यार्थ अनुपपन्न ही है। और यहाँ के लक्ष्य के असंग होने पर भी अविद्या से ही आरोपित अविद्या या अन्तःकरण इत्यादि से सम्बन्ध की कल्पना तो उलूकादि से कल्पित सूर्य में अन्धकार की तरह आत्मा में भी हो ही सकती है।[3] कल्पित सम्बन्ध लेकर ही आचार्य मधुसूदन ने भी लक्षणा का निर्वाह किया है।

(ख) अभिधा द्वारा—

इस प्रकार महावाक्यों की अर्थयोजना लक्षणावृत्ति द्वारा ही करना सम्प्रदाय से प्राप्त है। किन्तु वेदान्त-सिद्धान्तमुक्तावली में पूर्वपक्षी द्वारा उठाये गये प्रश्नों में बल देखकर (विशेष रूप से इस युक्ति से कि श्रुति प्रबलतम होती हुई प्रमाणान्तर के विरोध से गौणी वृत्ति का आश्रयण क्यों करे ?) लक्षणा मानने में कुछ अरुचि होना स्वाभाविक है। इसीलिए धर्मराजाध्वरीन्द्र ने अभिधा द्वारा ही महावाक्यार्थ-योजना की है। तदनुसार—'सोऽयं देवदत्तः' तथा 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में 'सः' 'अयम्' तथा 'तत्' 'त्वम्' ये सब विशिष्टवाचक पद

---

१. किञ्च, वेदान्ते तत्त्वमस्यादिवाक्यमेव प्रधानम्, इतरत् सर्वं तदुपकरणमेव; तथा च प्रधानवाक्ये एव कथं लक्षणा ? तत्र असमवेतार्थत्वेनेतरत्रैव सा युक्ता। गुणे तु अन्याय्यकल्पनेति न्यायात्। वही, पृ० १००-१०१।

२. विरुद्धयोरभेदो हि न वेदेन प्रमीयते।
अनन्यगतिकत्वेन मानान्तरस्य बाधनम्॥ वही, पृ० १०४।

३. नहि विरुद्धयोः अभेदः क्वचित् प्रमाणेन दृष्टः, न च मानान्तरस्य वेदेन बाधितत्वात् न अनुपपत्तिः, नहि बाध्यमित्येव बाध्यते, किन्तु स्वविषयसिद्धयन्यथानुपपत्त्या; इह तु वृत्त्यन्तरेणापि तदुपपत्तेर्मुख्यार्थे अनुपपत्तिरेव, अन्यथा सर्वत्र लक्षणोच्छेदप्रसंगः।....न च लक्ष्यार्थस्य असङ्गस्य वाच्यार्थेन सम्बन्धानुपपत्तिः, स्वतोऽसङ्गस्याऽप्यविद्यान्तःकरणाद्युपाधिसंसर्गस्य अविद्याध्यारोपितस्य दिवान्धपरिकल्पितसवितृतमः संसर्गवद् उपपत्तेः। वही पृ० १०५।

यद्यपि विशेष्य के एकदेश के ही बोधक हैं, तथापि उस बोध के लिए उन पदों की विशेष्यांश में लक्षणा करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि शक्तिवृत्ति से उपस्थित (ज्ञात) हुए भूत तथा वर्तमान काल से विशिष्ट देवदत्त के अभेदान्वय रूप अर्थ की अनुपपत्ति रहने पर भी, (शक्ति वृत्ति से ही उपस्थित हुए विशेष्यों का अभेदान्वय करने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है ।) जैसे—'घट अनित्य है' इस वाक्य में 'घट' पद के घटत्व-जाति-विशिष्ट घट-रूप वाच्यार्थ का एकदेश (विशेषणांश) यद्यपि अनित्यत्व के साथ अन्वित होने योग्य नहीं है, तथापि अन्वययोग्य घटव्यक्तिरूप विशेष्यांश के साथ उसका अन्वय हो सकता है ।[1] तात्पर्य यह है कि हम घट व्यक्ति को ही अनित्य समझते हैं, घटत्वजाति को नहीं, यह ज्ञान शक्ति से ही होता है । 'शब्द' की शक्ति 'विशिष्ट' में होती है यह मानने पर घट पद की शक्ति जैसे घटत्व जाति में है वैसे ही घट व्यक्ति में भी है । इसलिए जहाँ पर विशिष्ट पदार्थान्वय का बाध होता हो वहाँ जिस अंश का बाध नहीं हो रहा है, उसी अंश में उस शब्द का पर्यवसान मानना चाहिए । क्योंकि जितने अंश में शक्ति रहती है, उस सम्पूर्ण अंश का शाब्द-बोध में भान हो ही ऐसा कोई नियम नहीं है । इसी न्याय के अनुसार **'तत्त्वमसि'** इत्यादि वाक्यों में भी लक्षणा करने की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि शक्तिवृत्ति के द्वारा, स्वतन्त्र रूप से (सर्वज्ञत्वादि विशेषणों की अपेक्षा न करते हुए केवल विशेष्य रूप से) चैतन्य रूप से ही उपस्थित होने वाले 'तत्' 'त्वं' पदार्थों का अभेद से अन्वय होने में कोई बाधा नहीं है । अन्यथा (ऐसे स्थल पर अभिधा न मानें तो) 'घर में घट है' 'घट में रूप है' 'घट लाओ' आदि वाक्यों में भी घटत्व, गेहत्व आदि धर्मों में तथा गृहादि पदार्थ रूप अंशों में अभिमत अन्वयबोध कराने की योग्यता न होने से वहाँ पर भी घटादिपदों का केवल विशेष्यपरत्व लक्षणा से ही मानना पड़ेगा ।[2]

किन्तु महावाक्य में अभिधा से ही अर्थबोध मानने से **'यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह'** इस श्रुति का निर्वाह नहीं होता; इसी अरुचि से सभी पूर्वाचार्यों ने महावाक्यार्थ में लक्षणा ही कही है । लक्षणा मानने में गौणवृत्तिता अरुचि-निमित्त हो तो अभिधा का ही एक अन्य

---

१. वयन्तु ब्रूमः सोऽयं देवदत्तः तत्त्वमसीत्यादौ विशिष्टवाचकपदानाम् एकदेशपरत्वेऽपि न लक्षणा, शक्त्युपस्थितयोः विशिष्टयोरर्थयोरभेदान्वयानुपपत्तौ विशेष्ययोः शक्त्युपस्थितयोरेवाभेदान्वयाविरोधात् । यथा घटोऽनित्य इत्यत्र घटपदवाच्यैकदेशघटत्वस्य अयोग्यत्वेऽपि योग्यघटव्यक्त्या सह अनित्यत्वान्वयः । वे० प० पृ० २०७।

२. यत्र पदार्थैकदेशस्य विशेषणतया उपस्थितिः तत्रैव स्वातन्त्र्येण उपस्थितये लक्षणाभ्युपगमः, यथा नित्यो घट इत्यत्र घटपदात् घटत्वस्य शक्त्या स्वातन्त्र्येण अनुपस्थित्या तादृशोपस्थित्यर्थं घटपदस्य घटत्वे लक्षणा । एवमेव तत्त्वमसीत्यादिवाक्येऽपि न लक्षणाऽशक्त्या स्वातन्त्र्येण उपस्थिनयोः तत्त्वम्पदार्थयोरभेदान्वये बाधकाभावात् । अन्यथा गेहे घटः, घटे रूपम्, घटमानय, इत्यादौ घटत्वगेहत्वादेरभिमतान्वयबोधायोग्यतया तत्रापि घटादिपदानां विशेष्यमात्रपरत्वे लक्षणा स्यात् ।

वही, पृ० २०७–८ ।

प्रकार से विनियोग सम्भव है। तथा हि—'तत्' पद शक्ति सम्बन्ध से ही तत्त्व की व्यापकता का वोधक है और 'त्वं' पद अपरोक्षता का (जीवभाव का नहीं)। 'तत्त्वमसि' इस समग्र वाक्य की विशेष शक्ति है (महावाक्य होने के नाते) कि वह सभी पदों की शक्तियों (अनात्म पदार्थों) को निवृत्त करते हुए—अनात्म के अदर्शन रूप से—निवृत्तिमात्र का, या निःशक्तिक का वोध कराता है। किसी भी वाक्य का प्रयोजन या तो वोध होता है या निवर्तन। महावाक्य का भी प्रयोजनीभूत अर्थ निवर्तन मानें तो अनायास अभीष्ट फलसिद्धि (केवल विशेष अथवा उपहित से उपलक्षित–मात्र आत्मतत्त्व का वोध) होती है।

३. शाब्दी प्रमा (तथा ब्रह्मसाक्षात्कार का करण)

(क) शाब्दबोध में प्रकृतिभेद—

शब्द प्रमाण से उत्पन्न होने वाली प्रमा का क्या स्वरूप है या वह किस कोटि की है, इसकी चर्चा अत्र प्रसङ्ग-प्राप्त है।

शब्द-प्रमाण (ज्ञान का शब्दरूप साधन) के लोक (व्यवहार) में प्रयुक्त रूप-शब्द सुन कर उसके अर्थ का बोध या शब्दजन्य विषयज्ञान तो निश्चित ही परोक्ष-कोटिक है, क्योंकि वैसा (लौकिक) शाब्द-बोध होने पर उसका विषय किसी रूप में ज्ञात होने पर भी, 'अक्षणः परं'—इन्द्रियों से परे (–परोक्ष) तथा फलव्याप्ति (वृत्ति में प्रतिविम्वित चैतन्य द्वारा प्रकाशित होना) से रहित ही रहता है। उस विषय का असत्त्वापादक आवरण नहीं हटता। यद्यपि आचार्यों (शंकर, सुरेश्वर प्रभृति) ने वहुधा प्रतिपादित किया है व युक्ति पूर्वक पुष्ट किया है कि ज्ञान वस्तुतन्त्र होता है। तथापि 'सुख' 'शोक' 'साक्षी' 'ब्रह्म' इत्यादि शब्दों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान उक्त पदों के अर्थों के स्वरूपानुसार अपरोक्ष ही हो ऐसा नहीं देखा जाता। जव कि जिज्ञासु नारद को उपदेश ही देते हुए सनत्कुमार का—'तसमः पारं दर्शयति' —यह श्रुतिसिद्ध है।

शाब्द-बोध की प्रकृति के इस भेद का रहस्य 'शब्द' के स्तरभेद में है इसे पहले कह चुके हैं। तदनुसार—

(१) वैखरी भूमि में शब्द का अर्थ के साथ कल्पित वाच्यवाचक-सम्बन्ध है, शब्द व अर्थ में नितान्त भेद है, इसलिये शब्दश्रवण से अर्थ की प्रतीति स्मरण-सदृशी ही होती है।

(२) मध्यमा भूमि में शब्द का अर्थ से सम्बन्ध–वास्तविक या अकृत्रिम वाच्यवाचक-रूप है, शब्द व अर्थ की स्थिति भेदाभेदात्मक है; इस शब्द में इतनी सामर्थ्य है कि अन्तःकरणवृत्ति को, देश-काल की सीमाओं से अवरुद्ध न होता हुआ, अपने अर्थ (विषय) से साक्षात् सम्बद्ध कर देता है, जिससे अर्थ की प्रतीति-प्रत्यक्ष-सदृशी होती है।

(३) पश्यन्ती भूमि में शब्द व अर्थ में बोध्य-बोधक-भाव सम्बन्ध है; तथा दोनों की स्थिति है अभेद की। अर्थात् शब्द व अर्थ में कोई अन्तर ही नहीं रह जाता है (धन का कागजी नोट् से जैसा सम्बन्ध है, वैसा ही उस भूमि के शब्द का अर्थ से होता है) शब्द ही अर्थ रूप धारण कर लेता है अतः जो उस शब्द के (लौकिक दृष्टि से–) वक्ता व श्रोता हैं, उनके प्रति अर्थ 'अपरोक्ष' हो जाता है, 'साक्षात्'–कृत हो जाता है।

इसी स्थिति के लिए कहा गया है **'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे'** ।[1]

(ख) शाब्दी-प्रमा पर विचार के रूपभेद—

उक्त मूलभूत सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए, तथा आवश्यकतानुसार उसको उपयोग में लाते हुए, अद्वैतवेदान्त में शाब्दीप्रमा-विषयिणी, आचार्य-परम्परा-कृत चर्चा को देखना है। वह चर्चा प्रायः सर्वत्र ब्रह्मज्ञान के करण के निर्णय-प्रसङ्ग में चली है; अतः वह विषय भी सम्बद्ध होने के कारण साथ ही साथ विवेचनीय है।

इस विषय में विचार के प्रमुख दो रूप हैं—

(१) (क) शब्द परोक्ष ज्ञान का ही साधन है, अतः इससे जन्य प्रमा परोक्ष ही होनी सम्भव है व होती है, (ख) श्रवण-मनन आदि से संस्कृत-शुद्ध हुआ मन आत्मा के साक्षात्कार का करण बनता है। श्रवण व मनन निदिध्यासन के प्रति अङ्ग हैं, निदिध्यासन अङ्गी या प्रधान है।

(२) (क) प्रत्यक्षभिन्न प्रमाण से भी अपरोक्षप्रमा का उदय सम्भव है, जैसे कि अनुपलब्धि प्रमाण की फलभूता अभावप्रमा प्रत्यक्षरूपा मानी गई है, वैसे ही शब्दप्रमाण का भी फल–प्रत्यक्ष या अपरोक्ष–रूप हो सकता है। (ख) श्रवण या श्रुतवेदान्त ही प्रधान है, मनन व निदिध्यासन उसके अंग हैं। अन्तिम प्रमा–ब्रह्माकारा वृत्ति द्वारा इद्ध बोध का करण शब्द-श्रवण ही है। इनमें प्रथम भामती-प्रस्थान है, द्वितीय है विवरण-प्रस्थान।

(ग) भामतीप्रस्थान में शाब्द-अपरोक्ष की असंभावना—

विपर्यास (जगद्रूपी भ्रम) साक्षात्काररूप (प्रत्यक्षात्मक) है, अतः यह साक्षात्कार-रूप ही तत्त्वज्ञान द्वारा दूर हो सकता है, परोक्ष अवभास द्वारा नहीं। दिङ्मोह-मरुमरीचिका-सलिल आदि प्रत्यक्षात्मक भ्रमों की उन-उन (दिशा, मरुभूमि) वस्तुओं के प्रत्यक्ष से ही निवृत्ति होती है। ऐसा नहीं होता कि जिन्हें आप्तवचन आदि द्वारा दिशाओं का ज्ञान है उनका भ्रम उस दिशा का प्रत्यक्षात्मक निश्चय हुए बिना ही दूर हो जाय। इसलिए त्वंपदार्थ का तत्पदार्थ रूप से साक्षात्कार करना अपेक्षित है, उसी से त्वंपदार्थ के दुःखित्वादि की निवृत्ति होगी अन्यथा नहीं।[2]

---

१. उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचम्, उत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे, जायेव पत्ये उशती सुवासाः॥

ऋ० सं० १।७१।४।

२. साक्षात्काररूपो हि विपर्यासः साक्षात्काररूपेणैव तत्त्वज्ञानेनोच्छिद्यते, न तु परोक्षा-

यहाँ कल्पतरुकार शाब्द अपरोक्ष की शङ्का प्रस्तुत करते हैं—अपरोक्ष ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान में शब्द ही हेतु है, अतः शब्द को अपरोक्ष ज्ञान का हेतु मानना होगा, नहीं तो—शब्द परोक्ष ही ज्ञान का हेतु हो तो भ्रमनिवारक नहीं हो सकेगा—शब्दात्मक वेद भ्रमत्वापादक ही होंगे।[1]

इसकी स्पष्टता करते हुए परिमल में कहा गया है कि—अभिव्यक्त चैतन्य से अभिन्न होना अर्थ की अपरोक्षता है, वह (अपरोक्षता) नित्यअभिव्यक्त तथा जीवचैतन्य से अभिन्न ब्रह्म में स्वाभाविक है, इसीलिये श्रुति ने **'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म'** कहा है। वही (ब्रह्म रूप) प्रत्यक्ष घटादि के अपरोक्षचैतन्य के अभेदाध्यास से उपहित हुआ 'यह घट प्रत्यक्ष है' 'मैं प्रत्यक्ष घट को देख रहा हूँ' इत्यादि व्यवहार को आलम्बन बनाता है।[2] ज्ञान की अपरोक्षता है—अपरोक्ष अर्थव्यवहार के अनुकूल ज्ञान होना। वह स्वयं (जीव) में, सुखादि में तथा प्रकाशरूप नित्य अभिव्यक्त साक्षिचैतन्य में अनुगत होता (इन सभी में रहता-) हुआ स्वाभाविक है, चाक्षुष आदि वृत्तियों (वृत्तिज्ञानों) में उस-उसमें अभिव्यक्त हुए चैतन्य के अभेदाध्यासरूप उपाधिवाला है, ज्ञान की अपरोक्षता जातिरूप या इन्द्रियजन्यत्वादि उपाधिरूप नहीं है।[3] इस प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि शब्द जन्य, अपरोक्षजीव से अभिन्न, ब्रह्म का ज्ञान अपरोक्ष ही होता है। अतः प्रथम श्रवणजन्य ब्रह्मज्ञान में जिस शब्द की करणता स्वीकृत है, वही (शब्द ही) अविद्यानिवर्तक चरमसाक्षात्कार में भी करण हो सकता है, अन्य करण की कल्पना उचित नहीं।[4] ऐसा शाब्दापरोक्षवादियों का मत है, इसे अस्वीकार करते हुए भामती-

---

वभासेन; दिङ्मोहालातचक्रचलद्वृक्षमरुमरीचिसलिलादिविभ्रमेष्वपरोक्षावभासिषु अपरोक्षावभासिभिरेव दिगादितत्त्वप्रत्ययैर्निर्वृत्तिदर्शनात्, नो खल्वाप्तवचनलिङ्गादिनिश्चितदिगादितत्त्वानां दिङ्मोहादयो निवर्तन्ते। तस्मात् त्वंपदार्थस्य तत्पदार्थत्वेन साक्षात्कार एषितव्यः। एतावता हि त्वंपदार्थस्य दुःखिशोकित्वादिसाक्षात्कारनिर्वृत्तिः, नान्यथा। भा० १।१।१, पृ० ५५।

१. अपरोक्षे ब्रह्मणि शब्द एवापरोक्षज्ञानहेतुरन्यथा तु तत्र परोक्षज्ञानस्य भ्रमत्वापातादिति........। वे० क० पृ० ५५।

२. अभिव्यक्तचैतन्याभिन्नत्वमर्थस्यापरोक्ष्यं, तत्तु नित्याभिव्यक्तजीवचैतन्याभिन्ने ब्रह्मणि स्वाभाविकम्। अतएव 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्मे'-तिश्रुतिः। घटादीनामपरोक्षचैतन्याभेदाध्यासोपाधिकं तदेव प्रत्यक्षोऽयं घटः प्रत्यक्षं घटं पश्यामीत्यादिव्याहारालम्बनम्। क० प० पृ० ५५।

३. ज्ञानस्यापरोक्ष्यमपरोक्षार्थव्यवहारानुकूलज्ञानत्वं तत्स्वस्य सुखादेश्च प्रकाशरूपे नित्याभिव्यक्तसाक्षिचैतन्ये वानुगतं स्वाभाविकं, चाक्षुषादिवृत्तिषु तत्तदभिव्यक्तचैतन्याभेदाध्यासोपाधिकं, न तु जातिरूपम् इन्द्रियजन्यत्वाद्युपाधिरूपं वा ज्ञानानामापरोक्ष्यम्। वहीं।

४. एवं च तत्त्वमस्यादिशब्दजन्यम् अपरोक्षजीवाभिन्नब्रह्मज्ञानमपरोक्षमेव भवति''''शब्द एवेत्येवकारेण प्रथमं श्रवणजन्ये ब्रह्मज्ञाने क्लृप्तकरणभावस्य शब्दस्यैवाविद्यानिवर्तके चरमसाक्षात्कारेऽपि करणत्वोपपत्तेर्न तत्र करणान्तरं कल्पनीयमिति सूचितम्। वहीं।

प्रस्थान कहता है—अपरोक्षजीव से अभिन्न होने से तथा 'यत्साक्षात्' श्रुति से अपरोक्ष रूप से ही सिद्ध ब्रह्म में परोक्षत्व का ही अवगाहक ज्ञान लोक में अनुभव में आता है, इसलिए निरतिशय आनन्दरूप ब्रह्म मेरे प्रति अपरोक्ष नहीं है, प्रकाशित नहीं है ऐसा व्यवहार देखा जाता है। श्रुति से भी ब्रह्म का ऐसा परोक्षावगाही ज्ञान ही होगा। पर वह तो (लोक के समान श्रुति से भी ब्रह्म का परोक्षत्वावगाही भ्रमात्मक ही ज्ञान उदित होना) ठीक नहीं।[1] यदि ब्रह्म स्वतः अपरोक्ष है इसलिए उसे विषय करने वाला शब्दजन्य ज्ञान भी अपरोक्ष ही हो, तो जिस व्यक्ति ने वेदान्तश्रवण कर लिया हो—'तत्त्वमसि' 'यत्साक्षात्…'। आदि वाक्य सुन लिए हों उसे फिर ब्रह्म में पारोक्ष्यभ्रम नहीं रहना चाहिये (उसे फिर 'ब्रह्म मेरे प्रति प्रकाशित नहीं है, मुझे ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं है'—ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिये)। किन्तु वेदान्तवाक्य सुन लेने पर भी पहले भ्रम द्वारा गृहीत ब्रह्म का पारोक्ष्य बना ही रहता है—यही देखा जाता है। अतः शब्द से अपरोक्षज्ञान नहीं होता है यही सिद्ध होता है[2]

इसलिए अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ किसी अन्य करण द्वारा ही ब्रह्मसाक्षात्कार मानना चाहिये। अन्तःकरण में वैसी सामर्थ्य मानी गई है—**'मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोके मनोऽस्य दैवं चक्षुः'** तथा **'मनसैवानुद्रष्टव्यम्'** इत्यादि श्रुतियों से।

अन्तःकरण के ही विशेषरूप—अहंवृत्ति रूप अपने आप के ज्ञान (स्वात्मज्ञान) में भी आत्मापरोक्ष की करणता मानी गई है। किसी प्रकार से शब्द को चरमसाक्षात्कार का जनक मान भी लिया जाय तो व्यापार रूप से ही अन्तःकरणवृत्ति को लाना ही होगा। इसलिए अनिवार्यतः आवश्यक अन्तःकरण द्वारा ही साक्षात्कार की उत्पत्ति उपपन्न रहते, उस (साक्षात्कार की उत्पत्ति) के लिए 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य के उस समय पुनः अनुसन्धान की कल्पना गौरवापादक ही है।[3]

---

१. नन्वपरोक्षजीवाभेदतः श्रुतेश्चापरोक्षेऽपि ब्रह्मणि परोक्षत्वावगाहि ज्ञानं लोकसिद्धमनुभूयते। अतएव निरतिशयानन्दरूपं ब्रह्म ममापरोक्षं न प्रकाशत इति व्यवहारः। एवं श्रुतितोऽपि ब्रह्मणि परोक्षत्वावगाहि परोक्षमेव ज्ञानं भवेदित्याशङ्कयाह—अन्यथेति। लोकत इव श्रुतितो नापरोक्षे ब्रह्मणि परोक्षत्वावगाहि भ्रमरूपं ज्ञानं युक्तमिति।
कृ० प० पृ० ५५।

२. यदि ब्रह्म स्वतोऽपरोक्षमिति तद्विषयशब्दजन्यमपि ज्ञानमपरोक्षं भवेत्, तदा श्रवणजन्यज्ञानमप्यपरोक्षमिति श्रुतवेदान्तस्य पुंसः तस्मिन्पारोक्ष्यभ्रमानुवृत्तिर्न स्यात्। अनुवर्तते च तदनन्तरमपि भ्रमगृहीतं ब्रह्मणि पारोक्ष्यमिति न शब्दादपरोक्षज्ञानम्।
वहीं।

३. तस्मादपरोक्षज्ञानजननसमर्थादन्यत एव तदेष्टव्यम्। क्लृप्तं चान्तःकरणस्य तत्सामर्थ्यम्; ब्राह्मलौकिकभोगानुभवे 'मनसैतान्कामान्पश्यन्रमते य एते ब्रह्मलोके मनोऽस्य दैवं चक्षु' रितिश्रुतेः। विशिष्य चाहंवृत्तिरूपे स्वात्मज्ञानेऽपि तस्य करणत्वं क्लृप्तम् चरमसाक्षात्कारस्य शब्दजन्यत्वाभ्युपगमेऽपि तस्य व्यापारोऽवश्यमपेक्षणीयः। तस्मादावश्यकेनान्तःकरणेनैव तदुत्पत्त्युपपत्तौ तदर्थं तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य तत्कालेऽपि पुनरनुसन्धानकल्पन एव गौरवमिति भावः।
वहीं।

तब तो 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यश्रवण की अपेक्षा के विना ही अन्तःकरण ब्रह्म व आत्मा के ऐक्य का अपरोक्ष क्यों न कर ले ? ऐसी आपत्ति की आशङ्का करके कहते हैं कि वह (आत्मसाक्षात्कार का हेतु अन्तःकरण) ही शब्दजनित ब्रह्मात्मैक्य-भावना (-धी सन्तति-ऐक्याकारा वृत्ति) से वासित हो कर तत्पद के लक्ष्य ब्रह्मात्मता (ब्रह्म से अभिन्न होने) का साक्षात्कार जीव को करा देता है, जैसे कि इन्द्रिय पूर्वानुभव से वासित (सहकृत) हो कर तत्ता (भूतकालवैशिष्ट्य) व इदन्ता (वर्तमानकालवैशिष्ट्य) से उपलक्षित वस्तु के ऐक्य की प्रत्यभिज्ञा का हेतु होता है।[1]

गीताभाष्य में आचार्य शङ्कर ने भी कहा है—'शास्त्र, आचार्योपदेश, शम, दम आदि साधन-सम्पत्ति से संस्कृत हुआ मन आत्मदर्शन में करण होता है।'

'अपरोक्ष ब्रह्म–विषयक शब्द के अपरोक्षप्रमाहेतुत्व का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता, क्योंकि पहले श्रवणजन्य अपरोक्षज्ञान रहने पर भी पारोक्ष्यभ्रम की अनुवृत्ति होती ही है, क्योंकि असम्भावना आदि दोषों से प्रतिबद्ध अन्तःकरण भ्रमनिवारण में समर्थ नहीं होता।' —ऐसी आपत्ति की आशङ्का कर के कहते हैं कि शब्द को अपरोक्ष प्रमा का हेतु नहीं माना गया है। प्रमेय की योग्यता से यदि प्रमा को भी अपरोक्ष मान लिया जाय तो देह व आत्मा के भेद की अनुमति भी फिर अपरोक्षरूपा ही होनी चाहिये।[2]

यदि कहें कि 'दशमस्त्वसि' जैसे स्थलों पर शब्द से ही अपरोक्षज्ञान का उदय देखा जाता है, तो वहाँ भी वास्तव में उस शब्द से सहकृत इन्द्रिय से ही श्रोता को अपने आप में दसवाँ होने का साक्षात्कार होता है, केवल शब्द ही साक्षात्कार का हेतु नहीं होता; इसीलिए तो '**दशमस्त्वमसि**' के अन्धे श्रोता को अपने दशमत्व का परोक्ष ही ज्ञान होता है।[3]

पहले जो आशंका उठी थी कि शब्द यदि परोक्ष ही ज्ञान का हेतु है तो '**यत्साक्षात्**....' इत्यादि वेदान्त वाक्य से उत्पन्न होने वाला ज्ञान फिर भ्रमात्मक होगा। अमलानन्द उसका उत्तर देते हैं कि महावाक्य से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान से उत्पन्न भावना (संस्कृत मनोवृत्ति) से ही अपरोक्षज्ञान होता है, सीधे महावाक्य से नहीं; तब भी श्रुति (सर्वश्रेष्ठ प्रमाण) की दृढ़ता के कारण, महावाक्यजन्यज्ञान परोक्ष होने पर भी भ्रम नहीं होता अर्थात् क्योंकि इस ज्ञान का करण प्रमाण है, अतः कार्य अप्रमा नहीं हो सकता। तथा—'**साक्षाद् अपरोक्षात्**' के श्रवण से उसी आकारवाली बुद्धि (वृत्ति) उत्पन्न होती है' '**परोक्षं ब्रह्म**' ऐसी वृत्ति नहीं उत्पन्न होती; किन्तु वह (वाक्य-श्रवण से बनी '**अपरोक्षं ब्रह्म**' ऐसी वृत्ति) अपने करण (शब्द)

---

१. तत्तु शब्दजनितब्रह्मात्मैक्यधीसन्ततिवासितं तत्पदलक्ष्यब्रह्मात्मतां जीवस्य साक्षात्कारयति, अक्षमिव पूर्वानुभवसंस्कारवासितं तत्तेदन्तोपलक्षितैक्यविषयप्रत्यभिज्ञाहेतुः। वे० क० पृ० ५५।

२. शब्दस्तु नापरोक्षप्रमाहेतुः क्लृप्तः; प्रमेयापरोक्ष्ययोग्यत्वेन प्रमायाः साक्षात्कारत्वे देहात्मभेदविषयानुमितेरपि तदापत्तिः। वे० क० पृ० ५५-५६।

३. दशमस्त्वमसीत्यत्रापि तत्सचिवादेव साक्षात्कारः। अन्धादेस्त्वपरोक्षधीरेव। वही पृ० ५६।

के स्वभाव के कारण परोक्षा ही होती है, भ्रमरूपा नहीं, क्योंकि उसका करण तो सुदृढ़ प्रमाण है।[1] इसी बात को भामतीकार कहते हैं कि साक्षात्कार मीमांसा-सहकृत भी शब्द प्रमाण का फल नहीं है, अपितु प्रत्यक्षप्रमाण का ही फल है, क्योंकि उसी का प्रत्यक्षप्रमारूप फल होना नियत है। यदि परोक्षप्रमाण से भी प्रत्यक्षप्रमा की उत्पत्ति मान ली जाय तो कुटज के बीज से भी वट का अङ्कुर निकलना प्रसक्त होगा। इसलिए निर्विचिकित्स वाक्यार्थ-भावना के परिपाक से सहकृत अन्तःकरण ही अपरोक्षरूप ही त्वंपदार्थ की तत्पदार्थता का अनुभव कराता है—समस्त उपाधियों का निषेध कराता हुआ।

यह दो पदार्थों के ऐक्य का अनुभव ब्रह्म-स्वभाव नहीं है कि इसकी उत्पत्ति मानना अयुक्त हो, अपितु (यह) अन्तःकरण का ही ब्रह्मविषयक वृत्तिभेद है।[2]

(घ) विवरणप्रस्थान में शाब्द अपरोक्ष की सम्भावना—

आचार्य शङ्कर ज्ञान को केवल वस्तुतन्त्र मानते हैं।[3] इस कारण वस्तु की प्रकृति से ज्ञान का प्रभावित होना, तदनुसार परोक्ष भी शब्दप्रमाण से—स्वयं अपने आप में दसवेंपन (दशमत्व) का भान अपरोक्षरूप ही होना उन्हें अभिमत है, वैसे ही आगमवाक्य से ब्रह्म-साक्षात्कार होना भी।

नैष्कर्म्यसिद्धि में सुरेश्वर ने स्पष्ट: यही कहा है कि आत्मावबोध किसी लौकिक प्रत्यक्षादि-प्रमाण का साक्षात् विषय नहीं हो सकता, अतः वास्तविक सम्यग्ज्ञान (यथार्थज्ञान-परम अर्थ है ब्रह्म ही, उसका भ्रमज्ञान जगत् रूप से होता है, यथार्थ ज्ञान है ब्रह्म का ब्रह्म-रूप से ज्ञान) आगमवाक्य से ही होना सम्भव है।[4] तथा बलवान् प्रमाण से उत्पन्न सम्यग्ज्ञान

---

१. वेदान्तवाक्यजज्ञानाभावनाजाऽपरोक्षधीः।
मूलप्रमाणदार्ढ्येन न भ्रमत्वं प्रपद्यते ॥
साक्षादपरोक्षादित्येवमाकारैव धीः शब्दादुदेति न तु परोक्षं ब्रह्मेति; सा तु करण-स्वभावात् परोक्षाऽवतिष्ठते, न भ्रम इति सर्वमवदातम्।

वही, पृ० ५६।

२. न चैष साक्षात्कारो मीमांसासहितस्यापि शब्दस्य प्रमाणस्य फलम्, अपि तु प्रत्यक्षस्य; तस्यैव तत्फलत्वनियमात्। अन्यथा कुटजबीजादपि वटांकुरोत्पत्तिप्रङ्गात्। तस्मान्निर्विचिकित्सवाक्यार्थभावनापरिपाकसहितमन्तःकरणं त्वंपदार्थस्यापरोक्षस्य तत्तदुपाध्याकारनिषेधेन तत्पदार्थतामनुभावयतीति युक्तम्। नचायमनुभवो ब्रह्म-स्वभावो, येन न जन्येत, अपि त्वन्तःकरणस्यैव वृत्तिभेदो ब्रह्मविषयः।

भा० १।१।१, पृ० ५५-५७।

३. ....प्रमाणजन्यं ज्ञानं, वस्तुतन्त्रमेव तत्....

ब्र० शां० भा० ३।२।२१, पृ० ६२७।

४. अशेषानर्थहेत्वात्मानवबोधविषयस्य चानागमिकप्रत्यक्षादिलौकिकप्रमाणाविषयत्वाद् वेदान्तागमवाक्यादेव सम्यग्ज्ञानम्।

नै० सि० पृ० ४।

जीव-गत मोह (अज्ञान) को हटा ही देता है; इसके लिये उसे किसी सहायक (कर्म आदि) की भी अपेक्षा नहीं है। ब्रह्मस्वरूप आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होने में जीवगत अज्ञान ही प्रतिबन्धक है, साक्षात्करणीय वस्तु न तो जड़ है, न विप्रकृष्ट या व्यवहित (दूर) है कि उस का प्रत्यक्षज्ञान होने के लिये वृत्ति का बहिर्निर्गत होना और तब वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य तथा विषयावच्छिन्न चैतन्य का अभिन्न होना (जो कि ज्ञान के प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है) अपेक्षित हो, वाक्यजन्य शाब्दबोधरूप वृत्तिविशिष्ट चैतन्य का ब्रह्मस्वरूप विषयचैतन्य से अभेद सिद्ध ही है, अतः यहाँ शाब्दबोध अपरोक्षात्मक है।[1] इसी अर्थ को आचार्य सुरेश्वर ने बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक में भी स्पष्ट किया है। तदनुसार सम्यक्-प्रयुक्त 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त-वाक्य से (ही) उत्थित होने वाले सम्यक् ज्ञान का उदय होते ही अन्तःकरण आदि सहित अविद्या सर्वथा लुप्त हो जाती है—आत्म-स्वरूप प्रकट-साक्षात्कृत हो जाता है, क्योंकि 'अपरोक्षता' उसमें (उसी में वस्तुतः) स्वतः, स्वरूपतः, स्वभावतः है ही।[2]

इसके अतिरिक्त आचार्य सुरेश्वर ने एक अन्य रीति से भी वाक्यजन्य बोध के अपरोक्षज्ञानात्मक होने की संभावना निरूपित की है। **'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः'**[3] इस वाक्य के वार्तिक में आचार्य सुरेश्वर कहते हैं कि 'समस्त अज्ञान एवं समस्त ज्ञेय को समाप्त करने के पश्चात् (उक्त समाप्ति करने वाली वाक्यार्थ-बोध रूपा-) प्रज्ञा को वाक्य द्वारा ही सभी आकांक्षाओं का भी ध्वंस करने वाली परमपुरुषार्थ (मोक्ष-) रूपा बनायें'—ऐसा उक्त वाक्य का अभिप्राय है।[4] यहाँ प्रश्न होता है कि वाक्य से उत्पन्न हुई ही प्रज्ञा को पुनः क्या करे ? इसके उत्तर में शब्द का द्विविध उपयोग कहा गया है। पहले **'तत्त्वमसि'** आदि वाक्यश्रवण से, अननुभूत ही वस्तु शब्द द्वारा बुद्धि में समर्पित होती है अर्थात् अर्थ का शब्दजन्य परोक्षज्ञान होता है। यही **'विज्ञाय'** का तात्पर्य है। फिर इस परोक्ष रूप से ज्ञात ब्रह्म व आत्मा के तादात्म्य या एकात्मता का साक्षात्कार करने के लिये शब्दजन्या प्रज्ञा को परिनिष्ठित करे, सफल बनाए। उस प्रज्ञा का फल ऐकात्म्यबोध का साक्षात्कार ही है। जो प्रज्ञा में परिनिष्ठता की अपेक्षा रखता है।[5]

---

१. बलवद्धि प्रमाणोत्थं सम्यग्ज्ञानं न बाध्यते।
आकांक्षते न चाप्यन्यद्बाधनं प्रति साधनम् ॥ नै० सि० ११३६।

२. तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः।
अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति ॥ बृ० सं० वा० १८३, पृ० ५८।

३. बृह० उ० ४।४।२१।

४. बुभुत्सोच्छेदिनीं प्रज्ञां सर्वाज्ञाननिरासतः। सर्वज्ञेयसमाप्तेश्च कुर्याद्वाक्यार्थबोधतः। प्रज्ञां कुर्वीतेत्यस्यार्थमाह। बुभुत्सेति। वाक्यार्थज्ञानाज्ज्ञेयस्य सर्वस्य ज्ञातत्वादज्ञानस्य च निरस्तत्वादशेषाकाङ्क्षाशान्तिरतो वाक्यार्थधीरूपां सर्वाकाङ्क्षाध्वंसित्वेन परमपुरुषार्थहेतुं प्रज्ञां तत्त्वमादिवाक्यवशादेवापादयेदित्यर्थः।
बृ० भा० वा० ४।४।७०५ शा० प्र० पृ० १८३७।

५. उच्यते वचसा बुद्धौ वस्तुमात्रं समर्प्यते।
विज्ञातस्य सतत्त्वस्य तादात्म्यप्रतिपादनम् ॥ शेष अगले पृष्ठ पर

पहले परोक्ष रूप में प्राप्त ज्ञान को सफल करने—अपरोक्ष रूप बनाने के लिए परिनिष्ठा की अपेक्षा कही गई है व उसका उपाय बताया गया है, उसी शाब्दज्ञान के अभ्यास को। यह कथन संकेत करता है शब्द के स्तर-भेद की ओर ही। ऐसा सिद्धान्त है कि गुरु (आप्तपुरुष—'साक्षात्कृतधर्मा',[1] जिसका वचन शब्दप्रमाण माना गया है) स्वयं प्रमेय तत्त्व के साक्षात्कार की दशा में—पश्यन्ती भूमि में उपस्थित होकर उस शक्ति से युक्त शब्द को क्रमशः मध्यमा व वैखरी के आवरणों से आवृत कर के वैखरी भूमि में स्थित शिष्य को सुनाते हैं—समर्थ शब्द के रूप में उसका अर्थभूत तत्त्व शिष्य को दे देते हैं। अब शिष्य मनन-निदिध्यासन साधन-यत्न द्वारा उस शब्द का ही शोध करते हुए—उस वैखरी व मध्यमा रूपों को पार करते हुए पश्यन्ती भूमि में पहुँचकर उस शब्द के अर्थ का साक्षात्कार करता है। यह साक्षात्कार रूप फल प्राप्त होने में करण—अनिवार्य कारण (जैसा कि आम्रादि फल के प्रति बीज होता है) शब्द ही है, मनन व निदिध्यासन आदि अन्तःकरण के कार्य सहकारी हैं। क्योंकि अन्तःकरण की शुद्धि करने वाले ये मनन-निदिध्यासनादि अनुष्ठित होते रहने पर भी ब्रह्मतत्त्व के साक्षात्कार-रूप फल को नहीं उत्पन्न कर सकते यदि 'समर्थ' श्रवण न हुआ हो। जैसे कि धरती में बीज न डाला गया हो तो बहुमूल्य खाद, प्रतिदिन सींचा गया शुद्ध जल, अनवरुद्ध सूर्यकिरण आदि के पर्याप्त रहने पर भी अङ्कुरोद्गम नहीं होता।

वाचस्पति जिस **'मनसैवानुद्रष्टव्यम्'** श्रुति के बल पर मन को ही करण ठहराते हैं, उस श्रुति का अर्थ-निर्वाह तो मन के उक्त कार्यों की भी नियत अपेक्षा से ही हो जाता है, पर 'असाधारणकारण' तो समर्थश्रवण को ही मानना उचित है। अवश्य ही वाचस्पति के मत में जैसे, शब्दजन्या वासना को 'मन' का विशेषण बनाना पड़ा है, वैसे ही 'श्रवण' को प्रधान स्थान देने पर या 'शब्द' को साक्षात्कार का करण—ब्रह्मतत्त्व के अपरोक्षानुभव का जनक मानने में अभ्यास-(मनन-निदिध्यासन) जन्य शब्दावरण-शोध को या समर्थता (पश्यन्ती-स्तर) को शब्द का विशेषण बनाना पड़ता है। तब भी इस पक्ष में बलाधिक्य यह है कि उक्त अभ्यासकृत शोध अनिवार्य नहीं। यदि शिष्य पहले ही उत्तम अधिकार-सम्पन्न हो—जिस स्तर में शब्द अर्थ के अपरोक्ष का साक्षात् करण है उसी स्तर के शब्द का ग्रहण करने में समर्थ हो तो तत्क्षणात् अर्थ—का अपरोक्ष उसे हो सकता है। तब शब्द किसी भी अवान्तर व्यापार की अपेक्षा न करता हुआ तत्काल अर्थ-समर्पक या अपरोक्षानुभावक होता है। ऐसा आचार्य शङ्कर का वचन भी है।[2] इसीसे परिमल में उठाई गई आपत्ति (जो शब्द एक बार परोक्षज्ञान रूप से फलित हो चुका उसी का साक्षात्कार के समय पुनः अनुसन्धान करना गौरवापादक है) का भी परिवार हो गया।

भावनाज्ञानसंतानैः प्रज्ञाकरणमुच्यते।
अस्मिन्काले तु सा प्रज्ञा निष्ठां नीता कृता भवेत् ॥ बृ०भा०वा० ४।४।७०७-८।

१. वा० भा० १।१।७

२. येषां तु निपुणमतीनामज्ञानसंशयविपर्ययलक्षणः पदार्थविषयः प्रतिबन्धो नास्ति, ते शक्नुवन्ति सकृदुक्तमेव तत्त्वमसिवाक्यार्थमनुभवितुम्।

ब्र० शां० भा० ४।१।२, पृ० ७९६।

मन को ही करण कहने में एक बाधक तर्क यह भी है कि मन तो सभी ज्ञानों के प्रति साधारण कारण है[1], माध्यम कुछ भी बने विषय का मन से सम्बन्ध हो कर विषयाकारा वृत्ति बनना तो ज्ञान मात्र में अपेक्षित है। किन्तु शब्द में दोनों सामर्थ्य हैं। स्तरभेद के अनुसार लौकिकरीति से—सार्थक वर्णानुपूर्वी रूप में सुना हुआ शब्द लोक में प्राप्त फल के सदृश ही ब्रह्मात्मैक्यादि तत्त्व का परोक्ष ही ज्ञान कराता है, और उच्च भूमि में कहा व सुना गया शब्द अर्थ का प्रत्यक्ष दर्शन व अपरोक्ष अनुभव भी कराने में समर्थ है।

ब्रह्मजिज्ञासा शब्द की व्याख्या में आचार्य शङ्कर ने कहा—**'अवगतिपर्यन्तं ज्ञानम्। ज्ञानेन हि प्रमाणेन अवगन्तुमिष्टं ब्रह्म'**—इसी की व्याख्याप्रसङ्ग में प्रकटार्थविवरण में कहा गया है—आचार्य द्वारा 'तुम ब्रह्म हो' ऐसा उपदेश दिये जाने पर, शिष्य विचार करता है—'आचार्य ने मुझे कहा कि तुम ब्रह्म हो किन्तु मुझे उस उपदेश के अनुकूल प्रतीति नहीं होती है, अपना ब्रह्म होना अवगत नहीं होता है'—इस प्रकार वह ब्रह्म को परोक्ष रूप से ही जानता है। तब वह उस ब्रह्मता की अवगति तक पहुँचाने वाला ज्ञान चाहता है, उस जिज्ञासु पुरुष के प्रति श्रवण-मनन-निदिध्यासन रूप साधन कहे जाते हैं। उनके द्वारा प्रमाण (शब्द) प्रमेय (ब्रह्मात्मैक्य) तथा चित्त के सभी दोषों (अविद्याकृत आवरणों—शब्द में मध्यमा-वैखरी-कोटि रूप, प्रमेय में—वस्तुस्थिति के अप्रकाशन रूप, चित्त के—पारोक्ष्य-भ्रम) का निरास होने पर, तब पूर्वश्रुत गुरुवाक्य का अनुस्मरण करने से उस शब्द से ही अवगति-फलक ज्ञान उदित होता है। अतः श्रवण का सर्वाधिक महत्त्व है।[2] वेदान्त कौमुदी में बहुत विस्तार से—भामती-प्रस्थान को पूर्वपक्ष में लेते हुए, उसके सभी विचारों को प्रस्तुत करते हुए युक्तिपूर्वक उनका खण्डन करके अन्त में शब्द के द्वारा साक्षात्कार को उपपन्न किया गया है।[3] उसमें से कुछ युक्तियाँ यहां उदाहृत हैं। तदनुसार (पूर्वपक्ष)—वाचस्पति द्वारा कहा हुआ—मन का ही आत्मसाक्षात्कार में करणत्व ठीक है। उदयनाचार्य ने भी कहा है कि केवल वाक्य से ही आत्मसाक्षात्कार का उदय मानना ठीक नहीं, क्योंकि उसमें इतनी सामर्थ्य नहीं है। यदि कहो कि आप के द्वारा प्रधानरूप से कहा जानेवाला निदिध्यासन (जो अन्तःकरण को शुद्ध करके तत्त्वसाक्षात्कार का करण होने योग्य, अनुरूप बनाता है) ही क्या अपूर्व या अतिशय ले आयेगा, ब्रह्म तो स्वयं-विदितरूप ही है तो यही युक्ति श्रुति पर भी प्रहार करेगी।[4]

---

१. न च मनसैवापरोक्षज्ञानम्; मनसः कुत्राप्यसाधारण्येन प्रमाकरणत्वाभावात्, आत्मनः स्वप्रकाशत्वात्, सुखादीनां साक्षिवेद्यत्वात्। अ० सि० पृ० ८७६।

२. आचार्येण 'त्वं ब्रह्मासि' इत्युपदिष्टे 'अहं ब्रह्मास्मीत्याचार्यो मामुपदिदेश न ममावगतिरायाति' इति पारोक्ष्यमेव मन्यते। ततोऽसाववगतिपर्यन्तं ज्ञानमिच्छति, सुखसाक्षात्कारतयावगतेः फलत्वात्। तं च जिज्ञासुपुरुषमुद्दिश्य श्रवणादीनि साधनानि विधीयन्ते। तैश्च श्रवणादिभिः प्रमाणप्रमेयचित्तगतसकलदोषाणां पारोक्ष्यभ्रमकारणानां निरासे कदाचिदनुस्मर्यमाणशब्दादेवावगतिफलकं ज्ञानमुपजायते, चित्रायागवत् श्रवणादीनामनियतफलकत्वादिति भावः। प्र० वि० १।१।१, पृ० ३४।

३. वे० कौ० पृ० २८-६०।

४. आचार्यवाचस्पतिनाप्युक्तत्वान्मनसः कारणत्वं न व्याहन्यते। उदयनोऽप्याह स्म 'नच

जो भीत-दशक-नदी-तरण (दस व्यक्तियों द्वारा नदी पार करके परस्पर गणना करने पर, गिननेवाला स्वयं को छोड़ कर अन्यों की ही गणना करता है तो नौ संख्या तक हो पहुँचता है, एक व्यक्ति को डूबा समझ कर सब दुःखी होते हैं, तब कोई आकर गिननेवाले को कहता है कि 'तुम ही तो दसवें हो' तब अपने आप में दसवेंपन का अनुभव करके वह तथा अन्य भी सुखी हो जाते हैं) का उदाहरण दिया जाता है, शब्द से अपरोक्ष अनुभव की सिद्धि के लिए, वह ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ भी केवल वाक्य से ही साक्षात्कार नहीं होता किन्तु चक्षु आदि द्वारा ही होता है। यदि कहो कि अन्धे को भी अपने दसवेंपन का साक्षात्कार होता है, तो हम पूछते हैं कि क्या वह साक्षात्कार संख्यामात्र को विषय करता है या संख्या से विशिष्ट रूपादि से युक्त शरीर को ? यदि संख्या को ही, तो संभव नहीं, धर्मी के साक्षात्कार विना धर्म का साक्षात्कार संभव नहीं, द्वितीय भी नहीं क्योंकि रूपादि का साक्षात्कार चक्षु ही कर सकते हैं। अतः अन्धे को जो दसवेंपन का ज्ञान होता है वह परोक्षरूप ही है।[1]

मुमुक्षु को मानस अभ्यास करना होता है ऐक्यसाक्षात्कार के लिये, इसीलिए नौ बार 'तत्त्वमसि' वाक्य कहा गया, अतः शास्त्रीयपदार्थ का साक्षात्कार अभ्यासजन्य है, इसीलिये व्याससूत्र भी है—'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्।'

यदि कहो कि—पदार्थविशुद्धिपूर्वक तत्त्वमसि ऐसा उपदेश करके उस की आवृत्ति से उसी का बारम्बार स्मरण कराया जाता है स्मृत वाक्य ही को करण माना गया है, 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' से वाक्य को अन्य किसी ज्ञान की अपेक्षा न होना सूचित होता है, 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इत्यादि से भी ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए वेद शब्द ही एकमात्र प्रमाण निश्चित होता है, तथा 'तद्धास्य विजज्ञौ' इससे भी शब्दमात्र से ही साक्षात्कार का श्रवण होने से विशुद्धपदार्थ-ज्ञानवान् को अभ्यास-निरपेक्ष शब्द से ही साक्षात्कार ज्ञान का उदय हो जाता है, सूत्र में आवृत्ति का कथन पदार्थ की विशुद्धि के लिए ही किया जाता है; तो हम कहेंगे कि वेद निर्दुष्ट चक्षु आदि के समान समस्त शंकाओं से रहित ज्ञान का जनक है और वह ज्ञान परोक्ष ही है।

अपरोक्षवस्तु सम्बन्धी प्राथमिक ज्ञान को परोक्ष मानने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि

वाच्यम् वाक्यादेवात्मसाक्षात्कारोदयः इति। तस्य केवलस्य सामर्थ्यानुपलम्भात्' यदि तु स्वयं विदितरूपतया किं तत्र ध्यानादिक्रमपूर्वमाधास्यतीत्युच्यते।

वे० कौ० पृ० २८।

१. बहुलतमे तमसि चक्षुर्हीनस्यापि 'दशमस्त्वमसि' इत्युपदेशे साक्षात्कारदर्शनादस्मद्दर्शनमेव विनिगम्यते। न, स किं सङ्ख्यामात्रगोचरः, किं वा तद्विशिष्टरूपादिगुणकविग्रहविषयः ? नाद्यः, विना धर्मिसाक्षात्कारेण सङ्ख्याधर्मस्य साक्षात्कारासम्प्रतिपत्तेः। नापि द्वितीयः, चक्षुरादिकमेव रूपादि साक्षात्कारयति इति प्रतिपत्तेः। अतः तत्र परोक्षैव प्रतिपत्तिः।

वे० कौ० पृ० २९।

अपरोक्ष प्रत्यभिज्ञान का विषय जैसे परोक्ष तत्ता (भूतकालवैशिष्ट्य) को मान लिया जाता है, वैसे ही परोक्ष शाब्दज्ञान का विषय भी अपरोक्ष हो सकता है।[1]

अपरोक्ष ज्ञान का करण अभ्यास है या मन है। श्रवणजन्या भावना के परिपाक से युक्त अन्तःकरण से ही साक्षात्कार की उत्पत्ति मानने से प्रमाणसामग्री से उत्पन्न न होना रूप दोष नहीं आता, अतः प्रकटार्थकार का दिया हुआ—**'प्रमाणसामग्र्यजन्यत्वेन प्रामाण्यहानात्'**—यह दोष ठीक नहीं।[2] यदि कहें कि—शब्दश्रवण होते ही अपरोक्षज्ञान ही उद्भूत होता है, पर वह प्रमाता में स्थित असंभावना आदि दोष के कारण 'आर्द्रमरीच' न्याय से परोक्ष जैसा ही अवभासित होता है; मनन आदि द्वारा उस दोष का निरास होने पर वही अपरोक्ष रूप से व्यवस्थापित हो जाता है—तो भी ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान नित्य नहीं होता, अतः पहले ही अपरोक्ष रूप ही उत्पन्न हुआ ज्ञान, दोष के कारण परोक्ष जैसा दिखता है, फिर दोष दूर होने पर अपरोक्ष रूप से ही प्रकट हो जाता है—यह नहीं कह सकते। अतः पहले परोक्ष ही ज्ञान होता है।[3]

इसके उत्तर में विवरण-मत की ओर से कहा गया है कि **'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्, बाल्यं च पाडित्यं च निर्विद्य अथ मुनिः अमौनं च मौनंच निर्विद्याथ ब्राह्मणः'**—ऐसा आम्नाय है।[1] इसमें पाण्डित्य का अर्थ है—गुरुमुख से वेदान्तवाक्यों का ब्रह्म में संयोग कराता हुआ श्रवण। (क्योंकि पण्डा का अर्थ है साङ्गोपाङ्ग अध्ययन से उत्पन्न होने वाली आत्मतत्त्व-विषयक प्रवृत्ति के प्रति उपयोगिनी बुद्धि, वह जिसे उत्पन्न हुई है वह पण्डित, उसका कृत्य पाण्डित्य) उसे प्राप्त करके, ज्ञान-बल-युक्ति द्वारा असंभावना आदि का निरास करता हुआ हृदय शुद्ध करे। इसके बाद 'मुनि'—मननशील व निदिध्यासक होकर फिर ब्रह्म को प्राप्त होता है—इस प्रकार श्रवण, मनन, निदिध्यासन तीनों साक्षात्कार के साधन कहे गये हैं। उनमें से भी श्रवण प्रधान या मुख्य है, अन्य उसके अङ्गभूत हैं।

---

१. अथ प्राथमिकं परोक्षं ज्ञानमपरोक्षे वस्तुनि न यथार्थम्, नायं दोषः; अपरोक्षस्य प्रत्यभिज्ञानस्य परोक्षतत्त्वविषयत्वेऽपि प्रामाण्यवत् परोक्षशाब्द-ज्ञानस्यापरोक्षविषयत्वेऽपि प्रामाण्यसंभवात्। वही, पृ० ३०।

२. अपरोक्षज्ञानमभ्यासकरणकं मनःकरणकं वा? निर्वाधजन्यानुभवस्य प्रमाणार्थित्वाभावापरोधनाज्ञानानिवर्त्यकत्वस्योदाहर्तुमशक्यत्वाद् अभ्यासोत्थज्ञानस्याप्यत्राज्ञाननिवर्तकत्वोपपत्तेश्च। न च भावनापरिपाकसहितान्तःकरणजन्यत्वे प्रमाणसामान्यजन्यत्वम्, येन 'प्रमाणसामान्यजन्यत्वेन प्रामाण्यहानात्' इति प्रकटार्थोक्तं दूषणं स्यात्। वहीं।

३. अथ प्रथमत एवापरोक्षज्ञानं शब्दादुद्भवति; तच्च प्रमातृगतासंभावनादि-दोषेण आर्द्रमरीचन्यायेन परोक्षवदवभासते, तत्र मननादिना दोष-निरासेन तदपरोक्षतया व्यवस्थाप्यते, तदपि मन्दम्; ज्ञानस्य नित्यत्वाभावात्; तेन तदेवापरोक्षतया कथं व्यवस्थाप्यते? ज्ञानान्तरं तु हेतुसमुदायाज्जायमानमपरोक्षभङ्गीकृतमेव आर्द्रमरीचादि-ज्ञानस्यानव्यवसायात्मकस्य प्रमात्वे विशेषांशे परोक्षत्वाभावेनानुदाहरणत्वाच्च। ततः परोक्षमेवाद्यं ज्ञानम्। वहीं।

उस श्रवण में **'श्रवणेनापि बहुभिर्यो न लभ्यः'**[1] इस प्रकार से प्रतिबन्ध का उदय संभावित है, **'शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः'**[2] इसमें सम्भाव्यमान प्रतिबन्ध का फल सुना जाता है, वह प्रतिवन्ध-रूप दोष निराकर्तव्य है।

'आत्मा द्रष्टव्यः' इसमें फल का उद्देश्य करके फिर **'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'** में उपाय कहे गये हैं जिनमें प्रथम प्रधान है, शेष दो उस के अंग या सहकारी।

कल्पतरुपरिमल में एक आपत्ति उठाई गई थी कि यदि वाक्यश्रवण ही वास्तव में ब्रह्मसाक्षात्कार का करण है तो जिस व्यक्ति ने वेदान्तवाक्य सुन लिया हो उसे फिर ब्रह्म में पारोक्ष्यभ्रम नहीं रहना चाहिये। इसका उत्तर भली प्रकार दिया जा चुका है कि—'श्रवण' का स्तर प्रयोजक है फलोद्गम में। कहा भी है— **'श्रोतव्यो गुरुवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः·······'** तथा **'उत त्व पश्यन् न ददर्श वाचं उतत्व शृण्वन् न शृणोत्येनाम्'**।

शब्द में अपरोक्षज्ञानहेतुत्व की सिद्धि के लिये आनन्दानुभव ने न्यायरत्नदीपावलि में अनेक नवीन युक्तियों सहित विस्तृत विचार किया है। तदनुसार पूर्वपक्ष—शब्द अपरोक्षज्ञान उत्पन्न करता है यह कहना वाग्विलासमात्र है क्योंकि ऐसा न कहीं देखा जाता है न शब्द प्रमाण मानने वाले नैयायिकादि दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत है। 'दशमस्त्वमसि' से अपना दसवांपन जो जानता है वह भी अपने दशमसंख्या-पूरकत्व को परोक्ष ही जानता है। क्योंकि इस (शब्द)—प्रमाण का स्वभाव ही है परोक्ष ज्ञान को ही उत्पन्न करना।[3]

परोक्षता-अपरोक्षता ज्ञान के ही धर्म हैं, विषय के नहीं, अतः विषय के प्रभाव से शाब्द ज्ञान को भी अपरोक्ष कहना युक्त नहीं। चक्षु आदि सामग्री द्वारा अपरोक्षज्ञान उत्पन्न किया जाता है। विषय की अपरोक्षता अपरोक्षज्ञान की उपाधि से ही है। नहीं तो जो विषय अपरोक्ष है, उसे कभी परोक्ष या अज्ञात नहीं होना चाहिये। अतः शब्द से सर्वत्र परोक्ष ही ज्ञान उत्पन्न होता है।[4]

उत्तरपक्ष—अपरोक्ष का मुख्य अर्थ तो आत्मा का अपना रूप (आत्मस्वरूप) ही है—**'यत्साक्षादपरोक्षात् ब्रह्म'** ऐसी श्रुति होने से। अपरोक्ष ज्ञान का विषय होने के नाते (—परम्परया) वह अपरोक्ष कहा गया है, ऐसा नहीं, श्रुति ने उसे साक्षात् अपरोक्ष कहा है। और ज्ञान में मुख्य अपरोक्षता सम्भव नहीं। ज्ञान का स्वरूप ही आपरोक्ष्य है यह नहीं कह

---

१. कठ० १।२।७॥

२. वही १।२।२२॥

३. दशमोऽयं कुम्भ इति शाब्दज्ञानसमानत्वात्। कुम्भस्येव ह्यात्मनो दशसङ्ख्यापूरकत्वं शब्दात्परोक्षमेव मीयते। द्रष्टापि च कुम्भवच्छब्दात् परोक्षमेव प्रतीयते। मानस्वाभाव्यात्।
न्या० र० दी० पृ० २८३।

४. चक्षुरादिसामग्रया ह्यपरोक्षं ज्ञानं जन्यते। विषयापरोक्षत्वं च तादृग्ज्ञानोपाधिकम्। अन्यथा विषयापरोक्षताविकल्पो न स्यात्। अतस्सर्वत्र शब्दात्परोक्षमेव ज्ञानं जायते।
वही पृ० २८४।

सकते, क्योंकि तब ज्ञान के परोक्ष होने की सम्भावना ही मिट जायेगी। और ज्ञान अपरोक्षस्वरूप ही हो तो किसी के प्रति ज्ञान, अन्य के प्रति अज्ञान भी सम्भव न होगा।[1] यदि कहो कि आत्मा को अपरोक्षस्वरूप मानने में भी ये दोष प्राप्त होंगे—तो ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा में कदाचित् (व्यवहारदशा में) अनुभूयमान अपरोक्षत्वाभाव की, भ्रमसिद्ध होने के नाते, उपपत्ति हो जाती है। यदि कहें कि ज्ञान भी स्वरूपतः अपरोक्ष ही है, परोक्षविषय से उसमें परोक्षता आती है; तो भी ठीक नहीं, क्योंकि तब अपरोक्षता के लिए भी वैसा ही कहा जा सकता है। यदि किसी एक ज्ञान में मुख्य (वास्तविक) अपरोक्षता अभिप्रेत हो तो वह आत्मस्वरूप अनुभव में ही है।[2]

जैसे पचिक्रिया के दो कर्ता हों (दो व्यक्ति खाना पका रहे हों) तो एक में पाचकत्व स्वाभाविक है, दूसरे में औपाधिक—यह नहीं कहा जाता, ऐसे ही घट व घटज्ञान में भी दोनों में समान ही अपरोक्षता होती है।[3]

इन्द्रियजन्यता अपरोक्षता की उपाधि नहीं है, क्योंकि ईश्वरज्ञान में वह (इन्द्रिय जन्यता) नहीं है, और वह ज्ञान अपरोक्ष ही है।—'**पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।**' जो ईश्वर का अस्तित्व नहीं मानते उनके लिए उदाहरण है सुषुप्ति में होने वाला अपरोक्ष अनुभव तथा सुख-दुःख; क्योंकि नैयायिक सुषुप्ति को भी अनुमानिक मान सकते हैं। इसलिए आत्मस्वरूप चैतन्य ही आपरोक्ष्य है। और पारोक्ष्य है उसके अज्ञान से युक्त को उसका यथार्थ स्फुरण न होना। अपने देहादि को अपरोक्षता अमुख्य है, क्योंकि वह इसी में अभिव्यक्त होने वाले द्रष्टृ-चैतन्य में अभिन्न रूप से अध्यस्त है—उससे सम्भिन्न है, जैसा कि तप्त लोहे में दाहकत्व होता है वैसा ही अपरोक्षत्व देह में है। उससे (अपने आप से) पृथक् होना पारोक्ष्य है।[4]

---

१. मुख्यमापरोक्ष्यं तावदात्मनो निजमेव रूपं, 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्मे' ति श्रुतेः। अपरोक्षज्ञानविषयतया तदपरोक्षमिति चेन्न। 'साक्षा'-दिति श्रुतिविरोधात्॥ ज्ञाने मुख्यापरोक्षत्वासम्भवाच्च॥
न हि ज्ञानस्वरूपं तावदापरोक्ष्यं, ज्ञानस्यापरोक्षताविकल्पभङ्गप्रसङ्गात्। न ह्यस्ति सम्भवः कस्यचिद् ज्ञानमेवान्यस्याज्ञानमिति॥
न्या० र० दी० पृ० २८५।

२. आपरोक्ष्यस्यात्मरूपत्वेऽप्येतत्तुल्यमिति चेन्न। आत्मन्यपरोक्षत्वाभावस्य भ्रमसिद्धत्वेनोपपत्तेः। तर्हि ज्ञानमपि स्वतोऽपरोक्षमेव परोक्षविषयत्वेन च परोक्षमिति चेन्न। अपरोक्षत्वस्यापि तथात्वप्रसङ्गात्। अपरोक्षत्वस्य हि परोक्षत्ववदौपाधिकत्वसम्भवे स्वाभाविकत्वे मानाभावात्। अस्तु तर्हि क्वचिद् ज्ञाने मुख्यमापरोक्ष्यम्। सत्यम्। आत्मस्वरूपानुभवे तस्य दर्शितत्वात्। वहीं।

३. यथा हि पचिक्रियासम्बद्धयोर्द्वयोरपि पाचकत्वमौपाधिकं न त्वेकस्यौपाधिकमपरस्यापरजातिरिति युज्यते। एवं कुम्भतज्ज्ञानयोरप्यपरोक्षज्ञानयोगिनोरापरोक्ष्यं न्याय्यम्। वही पृ० २८६।

४. तस्मादात्मस्वरूपचैतन्यमेवापरोक्ष्यमिति युक्तम्। पारोक्ष्यं च तस्याविद्यावता यथा-

विषय की अपरोक्षता को अभिव्यक्त करने वाला ज्ञान अपरोक्ष होता है, उससे इतर ज्ञान परोक्ष होते हैं। अतः अपरोक्ष आत्मा में (अपरोक्ष आत्मा-विषयक) अपरोक्ष ही ज्ञान उत्पन्न करता हुआ शब्द प्रमाण है। यदि वह आत्मा में भी परोक्ष ही ज्ञान उत्पन्न करे तो अयथार्थ ज्ञान होने से अप्रमाण ही होगा।[1]

अतः यह कहा जा सकता है कि (वेदान्त-वाक्य) जन्य ज्ञान अपरोक्ष ही है, अपरोक्षविषयक होने से, सुखज्ञान के समान। आत्मा का अपरोक्षत्व तो आगम से सिद्ध है ही। वेदान्तजन्य शाब्दज्ञान उसी आत्मा को विषय करता है, यह भी **'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'** इस श्रौतवाक्य से ही सिद्ध है।

वेदान्तवाक्यश्रवण ही ब्रह्मसाक्षात्कार का बीज है। उसके सहकारी हैं मनन-निदिध्यासन, तथा अधिकार-सम्पन्न श्रोता, जैसे कि आम्रबीज से फलोत्पत्ति के लिये अच्छी भूमि, जल व सूर्यकिरण आदि। इन सहकारियों के अभाव में श्रवण सम्पूर्ण कार्य-कर नहीं होता, इसीलिए अनधिकारी व्यक्ति वेदान्तश्रवण के बाद भी पहले की भाँति ही संसारी बने रहते हैं। जितनी मात्रा में सहकारी युक्त होते हैं उतनी मात्रा तक श्रवण भी अपना कार्य करता ही है।[2]

शाब्द अपरोक्ष के विषय में आचार्य मधुसूदन द्वारा अद्वैतसिद्धि तथा वेदान्तकल्पलतिका में किये गये शाब्द-अपरोक्ष-विषयक प्रतिपादन में से कुछ अपूर्व युक्तियाँ द्रष्टव्य हैं। शङ्का उठाई गई है कि शब्द में अपरोक्षज्ञानजनकता क्या स्वाभाविक है? या अपरोक्षविषय-निमित्तक है? पहला ठीक नहीं, अतिव्याप्ति होने से (सभी शब्द-जन्य ज्ञानों में अपरोक्षता प्राप्त होने से) द्वितीय भी नहीं, क्योंकि जीव परमात्मा से भिन्न नहीं है, आत्मा होने से इत्यादि वाक्य द्वारा उत्पन्न होने वाली अनुमिति से श्रवण से पहले ही प्राप्त वेदान्तजन्या या (लौकिक) भाषा-प्रबन्धजन्या, ऐक्यप्रतीति में ही अपरोक्षता प्राप्त होने से श्रवण का नियम ही न रहेगा। तथा अर्थ की अपरोक्षता क्या है? अपरोक्षबुद्धि का विषय होना—नहीं, क्योंकि ब्रह्म में भले

वदस्फुरणं देहादेश्चापरोक्ष्यमभिव्यक्तचैतन्यसम्भेदादमुख्यं दग्धृत्वमिवायःपिण्डादेः। तद्विपरीतं च पारोक्ष्यम्।

वही पृ० २८८।

१. ज्ञानन्तु विषयापरोक्ष्याभिव्यंजकमपरोक्षमन्यत्परोक्षम्। अत आत्मन्यपरोक्षेऽपरोक्षमेव ज्ञानं जनयन् शब्दः प्रमाणम्। अन्यथाऽप्रमाणं स्यात्।

वही, पृ० २८८।

२. यद्यपि वेदान्तास्तादृग्ज्ञानोत्पादनक्षमाः, तथाप्यधिकारिविशेषं, मननादि-सहकारिविशेषं चापेक्षन्ते। 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चतार्थास्संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः' इत्यधिकारिविशेषश्रवणात्॥

वही, पृ० २९३—९४।

ही वह है, दशमत्व आदि ये तो नहीं है, और चैत्र को घट का अपरोक्षज्ञान होने पर मैत्र को वह नहीं हो जाता।[1]

अपरोक्षव्यवहार का विषय होना भी नहीं, क्योंकि व्यवहार की अपरोक्षता के लिए अर्थ में वह होना अपेक्षित होने से अन्योन्याश्रय होगा। यदि व्यवहार का रूप 'यह अपरोक्ष' ऐसा मानो तो अज्ञान द्वारा आवृत ब्रह्म में भी वह व्यवहार नहीं होता—आवृत ब्रह्म भी उक्त व्यवहार का विषय नहीं वनता। यदि उक्त व्यवहार की योग्यता ही विषय में अपेक्षित हो तव तो दूरस्थित घट का भी शव्द से अपरोक्षज्ञान हो जाना चाहिये (शब्द के सामान्य स्तर वैखरी को लेते हुए ही यह दोषारोपण है) इसलिए अपरोक्ष वृत्ति का विषय होना ही विषय की अपरोक्षता कहनी होगी।[2] उससे अन्योन्याश्रय दोष आता है। यदि अन्य किसी भी अपरोक्षवृत्ति का विषय होना अभिप्रेत हो तो किसी दिवंगत व्यक्ति के प्रति अपरोक्ष वस्तु का हमें भी अपरोक्ष होना चाहिये। यदि एक ही व्यक्ति अभिप्रेत हो तो पहले जो अपरोक्ष हो चुका है अव शव्द आदि के द्वारा उसके प्रति अपरोक्ष वुद्धि होनी चाहिये। यदि एक ही समय भी अभिप्रेत हो तो प्रत्यक्ष अग्नि में लिङ्ग से या शव्द से अपरोक्ष होना चाहिए।[3]

इन आशङ्काओं के उत्तर में कहा गया है कि ऐसा नहीं, जिस शाव्दवोध को लेकर जिसकी वोध्यता है, उसके साक्षात्कार के लिए उससे अभिन्न अर्थ का अवगाहक शव्द होता है। अतः उक्त दोष नहीं आ सकते। इससे शव्द का प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भाव हो जायेगा—यह भी नहीं। वोध्य से भिन्न अर्थ वाले शव्द से अतिरिक्त होते हुए प्रत्यक्ष प्रमा का करण होना ही प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव होने का नियामक है।[4]

---

१. शव्दस्यापरोक्षज्ञानकत्वं किं स्वाभाविकम् उतापरोक्षविषयनिमित्तकम्। नाद्यः; अतिप्रसङ्गात्। न द्वितीयः; जीवाः परमात्मनो न भिद्यन्ते आत्मत्वादित्यादिना जायमानानुमितेः श्रवणात् प्रागापततो वेदान्तजन्याया भाषाप्रवन्धजन्याया अनधीतवेदान्तजन्याया ऐक्यप्रतीतेश्चापरोक्ष्यापातात् श्रवणनियमादेरनियमात्। किंचार्थस्यापरोक्ष्यं न तावदपरोक्षबुद्धिविषयत्वरूप्यम्, ब्रह्मण्यस्य सत्त्वेऽपि दशमत्वादावभावात्, चैत्रापरोक्षज्ञाने मैत्रस्य शव्दादिना आपरोक्ष्यादर्शनाच्च।

अ० सि० पृ० ८७६।

२. नाप्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वम्; व्यवहारापरोक्ष्यस्य तादृगर्थभेदविषयकत्वरूपत्वे अन्योन्याश्रयात्, अपरोक्षोऽयमित्येवंरूपत्वे अज्ञानावृतेऽपि तदभावात्, त्वयापि न प्रकाशत इत्यादिव्यवहारार्थमेवावरणकल्पनात्, उक्तव्यवहारयोग्यत्वरूपत्वे व्यवहितघटे शव्दादपरोक्षज्ञानप्रसङ्गात्, अपरोक्षाज्ञानजन्यत्वरूपत्वे च वक्ष्यमाणपक्षान्तर्भावात्। तस्मादर्थस्यापरोक्षधीविषयत्वमेवापरोक्षत्वं वाच्यम्। वहीं।

३. ज्ञानान्तराभिप्राये तु केषांचिदपरोक्षे स्वर्गादावस्माकं शव्दादपरोक्षधीप्रसङ्गात्। एकपुमभिप्राये तु पूर्वापरोक्षे शव्दादिना इदानीमपरोक्षधीप्रसङ्गात्। एककालाभिप्राये प्रत्यक्षाग्नौ लिङ्गाच्छव्दाद्वा आपरोक्ष्यं स्यादिति। वहीं।

४. यं शाव्दवोधमादाय यस्य वोध्यत्वं, तत्साक्षात्कारार्थं तदभिन्नार्थावगाहित्वनिमित्तकमित्युक्तदोषानवकाशात्। न च—एवं प्रत्यक्षान्तर्भावः शव्दस्य स्यादिति वाच्यम्;

मन की करणता का 'यन्मनसा न मनुते' से निषेध हुआ है। यदि कहें कि इस 'मन' की लक्षणा असंस्कृत, अपक्व मन में करनी चाहिए तो भी मन को करण मानने में नयी कल्पना करने का गौरव होता है, जो शब्द को करण मानने में नहीं है।[1]

श्रवण से साक्षात्कार—अपरोक्षज्ञान का उदय मानने से उसके स्वभावभङ्ग का दोष आता है। यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि जैसे मन कहीं परोक्ष ज्ञान उत्पन्न करता है कहीं अपरोक्ष, इसी प्रकार शब्द भी क्यों नहीं हो सकता। प्रतिवादी—वहाँ (मन में तो) दो अवच्छेदक माने गये हैं, इन्द्रिय रूप से वह चक्षु आदि के समान अपरोक्षज्ञानजनक होता है। मन रूप से परोक्षज्ञानजनक होता है। इन्द्रिय होने का अर्थ है—शब्द से इतर उद्‌भूत-विशेषगुणाभावसमानाधिकरणज्ञान के कारणभूत मनःसंयोग का आश्रय होना, या स्मृति को न उत्पन्न करने वाले वृत्तिज्ञान के कारणभूत मनःसंयोग का आश्रय होना। वह चक्षु आदि के समान मन में भी है। ऐसे ही शब्द में भी परोक्षज्ञानजनकतावच्छेदक तथा अपरोक्षज्ञानजनक-तावच्छेदक कहते होंगे।[2] उत्तर—ठीक है, स्वविषयजन्यज्ञान के जनक रूप से या ज्ञान के करण रूप से शब्द में परोक्षज्ञानजनकता है, तथा योग्यपदार्थनिरूपितत्व व पदार्थाभेदपरकशब्द रूप से शब्द में अपरोक्ष ज्ञानजनकता है। 'धर्मस्त्वमसि' जैसे वाक्य में अतिव्याप्ति न हो इसलिये पहला विशेषण (योग्य) दिया।[3]

यह दिखाई देता है 'तुम दसवें हो' 'तुम राजा हो' कहने पर होने वाले 'मैं दसवाँ हूँ' 'मैं राजा हूँ' ऐसे बोध में। नहीं तो 'मैं नोवाँ ही हूँ' 'मैं व्याध ही हूँ' इत्यादि भ्रम की निवृत्ति

बोध्यभिन्नार्थकशब्दातिरिक्तत्वे सति प्रत्यक्षप्रमाकरणत्वस्य प्रत्यक्षस्यान्तर्भावितन्त्रत्वात्। वही, पृ० ८७७।

१. मनसः करणत्वे ह्यधिककल्पना। शब्दस्य करणत्वे त्वल्पकल्पनेति विशेषात्। वही, पृ० ८७७।

२. तस्माच्छब्द एव विचारात्पूर्वमूर्ध्वं च स्वतःप्रमाणभूतो विषयमहिम्ना साक्षात्कारं जनयतीति युक्तमाश्रयितुम्। न च स्वभावभङ्गदोषः, मनस इव परोक्षापरोक्षज्ञान-जननस्वभावाङ्गीकारात्। तथा मनः क्वचित्परोक्षं ज्ञानं जनयति क्वचिच्चापरोक्ष-मित्युपेयते परैस्तद्वदस्माकं शब्देऽपि किं न स्यात्। ननु तत्रावच्छेदकद्वैविध्यमस्ति। मनस्त्वेन परोक्षज्ञानजनकता, इन्द्रियत्वेन चक्षुरादिवदसाधारणेनापरोक्षज्ञान-जनकता। इन्द्रियत्वं च शब्देतरोद्भूतविशेषगुणाभावसमानाधिकरणज्ञानकारणमनः-संयोगाश्रयत्वम्, स्मृत्यजनकवृत्तिज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्वं वा। ततश्चक्षुरा-दाविव मनस्यपि वर्तते। एवं शब्देऽपि द्वैरूप्यं वाच्यम्। एवं परोक्षज्ञानजनकताव-च्छेदकमपरोक्षज्ञानजनकतावच्छेदकमिति। वे० ल० पृ० ७७-७८।

३. स्वविषयाजन्यज्ञानजनकत्वेन वा, ज्ञानकरणत्वेन वा शब्दस्य परोक्षज्ञानजनकत्व-योग्यपदार्थनिरूपितत्वं पदार्थाभेदपरशब्दत्वेनापरोक्षज्ञानजनकता। 'धर्मस्त्वमसि' इत्यादौ व्यभिचारवारणाय आद्यं विशेषणम्, इतरविशेषणव्यावर्त्यं तु स्पष्टम्। वही, प० ७८।

न होती यदि उक्त रूप अपरोक्ष (अपने आप में स्थित) अनुभव न हुआ होता। अपरोक्ष भ्रम की निवृत्ति अपरोक्ष ही ज्ञान से होती है।[1]

यदि कहो कि वहाँ वाक्य से पदार्थ मात्र की उपस्थिति होने पर संसर्गबोध मानस ही होता है, तो यह तो सभी वाक्यों में सम्भव है। शब्द को पृथक् प्रमाण ही क्यों माना जायेगा।

अतः वाक्य से परोक्षज्ञान होने के बाद मानस ज्ञान होता है, वही भ्रम का निवर्तक होता है, यह कहना ठीक नहीं क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक से वहाँ वाक्य की ही कारणता का निश्चय होता है। नहीं तो वाक्य सुनने से पहले ही अन्य सामग्री के सम्भव होने से चक्षु व मन आदि द्वारा (अपने दशमत्व या राजा होने का) साक्षात्कार क्यों नहीं उत्पन्न होता? यदि वाक्य को वहाँ सहकारी मानो तो हठात् उसी का प्रामाण्य मान लेना होता है क्योंकि मन तो साधारण सहकारी है। अतः शब्द ही साक्षात्कार का हेतु होता है।[2]

तथा च जैसे परोक्षत्व-व्याप्य एक मानसत्व है, अपरोक्षत्व-व्याप्य दूसरा इन्द्रियत्व है, उसी प्रकार शाब्दत्व को भी द्विविध—परोक्ष व अपरोक्ष दोनों प्रकार का ज्ञान उत्पन्न कर सकने वाला मानने में कोई दोष नहीं।

आचार्यमधुसूदन द्वारा अद्वैतसिद्धि में कही गई युक्तियों में से ही कुछ का विशद स्पष्टीकरण प्रकाशानन्द द्वारा वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली में किया गया है।[3] कतिपय नई युक्तियाँ भी दी हैं, जिनका भावार्थ प्रस्तुत है।[4] सिद्धान्ती—मन साक्षात्कार में करण नहीं क्योंकि **'यन्मनसा न मनुते'** में उसका निषेध है, तथा असाधारणकारणत्व रूप कारणत्व मन का किसी भी ज्ञान के प्रति नहीं माना गया है। पूर्वपक्षी—शब्द भी तो अपरोक्ष ज्ञान के प्रति कहीं करण नहीं माना गया, तथा **'यच्छ्रोत्रेण न शृणुते'** तथा **'यतो वाचो निवर्तन्ते'** से आत्मा का शब्द का विषय बनना निवारित है। सिद्धान्ती—**'दशमस्त्वमसि'** सुन कर 'दशमोऽहमस्मि' प्रतीति

---

१. एतच्च दशमस्त्वमसि राजा त्वमसीतिवाक्याद् दशमोऽहमस्मि, राजाहमस्मीत्यादिसाक्षात्कारदर्शनात्, अन्यथा नाहं दशमो नवमोऽहमस्मि, नाहं राजा व्याध एवास्मीत्यादिसाक्षात्कारिभ्रमनिवृत्तिस्ततो न स्यात्। साक्षात्कारिभ्रमे साक्षात्कारिविरोधिज्ञानत्वेनैव विरोधित्वकल्पनात्।

वही, पृ० ७८-७९।

२. न च तत्र वाक्यात्पदार्थमात्रोपस्थितौ मानसः संसर्गबोध इति वाच्यम्। सर्वस्मिन्नपि वाक्ये तथा सम्भवेन शब्दप्रमाणमात्रोच्छेदापत्तेः,''''अत एव वाक्यात्परोक्षज्ञानानन्तरं मानसज्ञानान्तरमेव भ्रमनिवर्तकमित्यपास्तम्।''''अन्यथा वाक्यश्रवणात् पूर्वमेव सामग्र्याः सम्भवेन मनसा चक्षुरादिना वा साक्षात्कारजननप्रसङ्गात्! वाक्यमपि तत्र सहकारीति चेत् तर्ह्यायातं वाक्यस्यैव प्रामाण्यम्, मनसोऽसाधारणसहकारित्वात्। तस्माच्छब्द एव तत्र साक्षात्कारहेतुः। वही, पृ० ७९।

३. वे० सि० मु० पृ० ९३—१००।

४. स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्। अ० सि० पृ० १८२।

से शब्द का अपरोक्ष के प्रति करणत्व सिद्ध है। दशमत्व का ज्ञान इन्द्रिय से नहीं होता क्योंकि घोर अन्धकार में अथवा लोचनहीन को भी उक्त वाक्य से अपने दसवेंपन का बोध हो ही जाता है। और वह बोध भी परोक्ष नहीं क्योंकि 'अस्मि'—प्रतीति अपरोक्ष—बोध की ही प्रत्यायक है। अथवा इस प्रतीति का आकार अपरोक्ष ज्ञान के ही समान है।

४. ब्रह्मसाक्षात्कार

(क) स्वरूप

प्रथम ब्रह्मसूत्र के भाष्य में 'जिज्ञासा' शब्द पर विचार करते हुए आचार्य शङ्कर ने कहा है—'**अवगतिपर्यन्तं ज्ञानम् सन्वाच्याया इच्छायाः कर्म**' अर्थात्—जिज्ञासा शब्द का अर्थ वस्तु की अवगति (साक्षात्कार) उपलब्धि तक जा कर पूर्ण होता है। किसकी अवगति इष्ट है? इस प्रश्न का अद्वैतवेदान्त में सीधा उत्तर है—जो वस्तुतः वस्तु है—एकमात्र अद्वितीय, चरम तत्त्व-सत्-चित्-आनन्द स्वरूप ब्रह्म। पुनः आचार्य ने कहा—'**ज्ञानेन हि प्रमाणेन अवगन्तुमिष्टं ब्रह्म**।' वह ज्ञान क्या है? इसका बहुविध आलोचन हुआ। प्रमुख रूप से उसके दो स्वरूप जाने गये—नित्य व अनित्य। प्रथम खण्ड में जिज्ञासा का प्रादुर्भाव तथा 'ब्रह्म' तक उसका आ पहुँचना देखा। वहीं अद्वैतवेदान्त के तत्त्वसंबन्धी सिद्धान्त की स्थूलरूपरेखा में भलीभांति समझा गया कि समस्त 'व्यवहार' का विलय है 'परमार्थ' में। द्वितीय खण्ड की पूर्ति होगी 'अनित्य (वृत्तिरूप) ज्ञान का समापन है—नित्य (तत्त्व के स्वरूपभूत) ज्ञान में' यह कहने से उठने वाले क्यों? व कैसे? प्रश्नों का उत्तर प्रस्तुत करने में।

अनित्यज्ञान का विलय होना है नित्य ज्ञान में, क्योंकि ज्ञान में अनित्यत्व लाने वाली वस्तु जड़ है, अचित् है, अविद्या का ही कार्य है, अविद्या व आविद्यक सभी कार्य जड़ होने के नाते मिथ्या हैं—अपने ही अधिष्ठान में अपने अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी हैं।[1] वह अत्यन्ताभाव जब तक ज्ञात नहीं तभी तक समस्त व्यवहार है, वह अत्यन्ताभाव—'अज्ञान न था, न है, न होगा' ऐसा बोध-अज्ञाननिवृत्ति होने पर जो 'है' (—सत्) वही रह जाता है—'**स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः। यदि वा न महिम्नीति**।'

ऐसा कब होता है? परमाचार्य गौड़पाद के अनुसार संसारी जीव अनादिकाल से तत्त्वाप्रतिबोध तथा अन्यथाग्रहण-रूपा बीजात्मिका मायानिद्रा के कारण स्वप्न व जाग्रत् दोनों दशाओं में 'मैं, मेरा' तथा उनसे सम्बद्ध सुख-दुःख हानि-लाभ के स्वप्न देखता हुआ सो रहा है। जब वेदान्तार्थवेत्ता या तत्त्ववेत्ता (गुरु) द्वारा—'तुम ऐसे कार्य-कारण रूप नहीं हो,

---

१. स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्। अ० सि० पृ० १८२।

चिर जाग्रत् आनन्द-स्वरूप ब्रह्म हो हो—ऐसा समझाते हुए जगाया जाता है, तब उसे बोध होता है कि वह बाह्य-आभ्यन्तर सभी भावविकारों से रहित, अविद्या से सर्वथा अस्पृष्ट, अतः अनिद्र व अस्वप्न, निष्प्रपंच अतः अद्वैत रूप है।[1]

ऐसे जागरण तथा अनित्यज्ञान के नित्यज्ञान में पर्यवसित होने के मध्य की कड़ी (सेतु) है ब्रह्मसाक्षात्कार।

ब्रह्म साक्षात्कार का स्वरूप अन्तिमा या चरमा[2] अखण्डाकारा वृत्ति का फलरूप सम्पूर्ण अद्वैत सम्प्रदाय में निर्विवाद अभिमत है। विवाद इस वृत्ति के उद्भावक के विषय में ही था।

(ख) वृतिरूपता क्यों, एवं चरमा वृत्ति का विषय

ब्रह्म का अनुभव भी उत्पाद्य क्यों होगा और वैसा होने के नाते वृत्तिज्ञान-रूप क्यों होगा जब कि ब्रह्म स्वयं अनुभवरूप ही है, और वृत्ति मे भी ज्ञानत्व, अनुभवत्व चैतन्य के आभास की धारिका या अभिव्यंजिका होने के नाते ही—उपचार से ही कहा गया है। ऐसी शङ्का की संभावना पर वाचस्पति कहते हैं—

'यह अनुभव ब्रह्मस्वभाव नहीं है कि उत्पाद्य न हो, अपितु अन्तःकरण का ही वृत्तिभेद है—ब्रह्मविषयक। किसी का विषय होने में ब्रह्म में अपराधीन-प्रकाशता (अस्वप्रकाशता) नहीं आती। क्योंकि उसका स्वयंज्योतिष्ट्व तो विशुद्ध—अनुपहित रूप में ही है। इसीलिए भाष्य-कार ने भी कहा है—'यह सर्वथा अविषय नहीं है'। उपहित दशा में ब्रह्म में विषयत्व सिद्धान्त-व्याघातक नहीं।[3] चरमा अन्तःकरणवृत्ति में साक्षात्कार होते समय भी ब्रह्म सभी उपाधियों से रहित नहीं होता क्योंकि वह वृत्तिरूप उपाधि तब भी है। अवश्य ही वह उपाधि विनश्य-

---

१. अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा॥ मां० का० १।१६।

२. जीवन्मुक्ति न मानने वाले पक्ष में ब्रह्मसाक्षात्कार में फलित होने वाली अखण्डाकारा वृत्ति अन्तिमा है। विचारात्मिका कोटि में जीवन्मुक्ति सङ्गत नहीं होती, किन्तु उससे ऊपर अनुभवरूप में वह अवश्य सम्भव है। अतः अनुभवा-पक्ष में अखण्डाकारा वृत्ति अन्तिम वृत्ति नहीं। तो भी स्तर की उच्चता के अनुरोध से उसे 'चरमा' अवश्य कहा जा सकता है।

३. न चायमनुभवो ब्रह्मस्वभावो, येन न जन्येत, अपि त्वन्तःकरणस्यैव वृत्तिभेदो ब्रह्मविषयः। न चैतावता ब्रह्मणोऽपराधीनप्रकाशता। नहि शाब्दज्ञानप्रकाश्यं ब्रह्म स्वयंप्रकाशं न भवति; सर्वोपाधिरहितं हि स्वयंज्योतिरिति गीयते, न तूपहितमपि। यथाऽऽह स्वयं भगवान् भाष्यकारः 'नायमेकान्तेनाविषयः' इति।
भा० १।१।१, पृ० ५७।

……ब्रह्मसाक्षात्कारश्चान्तःकरणवृत्तिभेदः श्रवणमननादिजनितसंस्कारसचिवमनोजन्मा……। भा० १।१।४, पृ० १५०।

दवस्था वाली है—(अन्य समस्त प्रपञ्च का बाध कर के उदित हुई है एवं ब्रह्म को स्वरूपतः उपलक्षित करके स्वयं भी विलीन हो जाती है क्योंकि अनावृत प्रकाश के समक्ष अन्धकार की न्यूनमात्रा तो ठहर नहीं सकती, किन्तु तब फिर ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है, स्वरूप में ही स्थित हुआ--'स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः,...' उस स्वरूप-विलसमान ब्रह्म को ब्रह्मसाक्षात्कार नाम नहीं दिया जा सकता 'क्योंकि कृ + घञ्—'कार' का वहाँ अवकाश नहीं) अपने द्वारा उपहित चैतन्य द्वारा आभासित हुई ही यह स्वयं अचेतना वृत्ति साक्षात्कार-पदवाच्या होती है[1]। इसे स्पष्ट करते हुए वेदान्तकल्पतरु तथा परिमल में कहा गया है—वृत्ति का विषय है तथा स्वप्रकाश है यह कहना तो विरोध युक्त है। उपहित रूप से स्वप्रकाश नहीं है, और उपहित ही रूप वृत्ति का विषय है यह भी कहना ठीक नहीं क्योंकि 'ब्रह्म सभी उपाधियों से रहित है—शुद्ध है,' ऐसा ही आकार साक्षात्कारिणी वृत्ति का इष्ट है, उपाधि वर्तमान हो तो वह आकार नहीं हो सकता।[2]

ऐसी आपत्ति की आशंका पर कहते हैं कि मिथ्याभूत उपाधियों के विद्यमान रहने पर भी वास्तविक निरुपाधिता को विषय करने वाला उक्त प्रकार का आकार निरुद्ध नहीं होता। 'ब्रह्म निरुपाधि है' ऐसे विषय वाली वृत्ति अपनी तथा अपने से इतर (ही) सभी उपाधियों की निवृत्ति की हेतुरूप ही उदित होती है, स्वयं उस (वृत्ति) की उपाधिता तो रहती ही है, किन्तु उसकी अपनी सत्ता के विनाश के हेतु—चैतन्य के सान्निध्य के कारण वह विनष्ट होती हुई अवस्था वाली ही होती है। इस प्रकार न तो सर्वथा अनुपहित में विषयता आती है, और न उपहित ही साक्षात्कार का विषय होता है, न उपाधि के निवर्तक किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा रहती है।[3]

---

१. न चान्तःकरणवृत्तावप्यस्य साक्षात्कारे सर्वोपाधिवनिर्मोकः; तस्यैव तदुपाधेर्विनश्यदवस्थस्य स्वोपाधिविरोधिनो विद्यमानत्वात्। अन्यथा चैतन्यच्छायापत्तिं विनाऽन्तःकरणवृत्तेः स्वयमचेतनायाः स्वप्रकाशत्वानुपपत्तौ साक्षात्कारत्वायोगात्।

भा० १।१।१, पृ० ५७।

२. वृत्तिविषयत्वं स्वप्रकाशत्वं च विरुद्धमित्याशङ्कायामुपहितानुपहितरूपभेदेन समाधानं मतद्वयेऽपि समानं दर्शयतीत्यर्थः। नन्वेवं सति—अविद्योपहितो जीवः कथं स्वप्रकाशः स्यादिति—चेत्, उच्यते; उपहितमुपधानकाले स्वरूपेणापि न स्वप्रकाशमिति नार्थः, किंतूपहितरूपेण न स्वप्रकाशमिति, अतो न दोषः। ननु निरुपाधि ब्रह्मेति। उपहितं वृत्तिविषय इति न युक्तं, ब्रह्म शुद्धं निरुपाधिकमिति हि वृत्तिरूपसाक्षात्कारस्याकारः इष्यते, न चोपाधौ विद्यमाने तदाकारः संभवितुमर्हतीति।

क० प० पृ० ५७।

३. निरुपाधि ब्रह्मेति विषयीकुर्वाणा वृत्तिः स्वस्वेतरोपाधिनिवृत्तिहेतुरुदयते; स्वस्या अप्युपाधित्वाविशेषात्। ततः स्वसत्तायां विनाशहेतुसान्निध्याद्विनश्यदवस्थत्वम्। एवं च नानुपहितस्य विषयता, न चोपाधेर्निवर्तकान्तरापेक्षेति भावः।

वे० क० पृ० ५७।

साक्षात्कार का विषय वृत्त्युपहित चैतन्य है यह कहने में वृत्त्युपहित का क्या अभिप्राय है—वृत्ति से विशिष्ट ? या वृत्ति से उपलक्षित ? यदि वृत्ति से विशिष्ट कहें तो वह शवल-जड़मिश्र-अशुद्ध चैतन्य तत्त्व साक्षात्कार का विषय नहीं हो सकता । यदि वृत्त्यवच्छिन्न कहें तो, साक्षात्कार-रूपा वृत्ति में स्वविषयता आती है, विशेषण के ग्रहण के विना विशिष्ट का ग्रहण न होने से । और वृत्ति से उपलक्षित कहें तो वृत्त्युपहितता नहीं रहती क्योंकि उपलक्षक उपाधि नहीं होता ।[1] अविद्यमान वस्तु से भी उपलक्षितता संभव है, जैसे 'काकोपलक्षित गृह' काक के उड़ जाने पर भी काकोपलक्षित रहता है । वृत्ति से उपहितता तो वृत्ति की विद्यमानता में ही इष्ट है, विषयता वनाने के लिए । अतः प्रसिद्ध उपलक्षणों से विलक्षण होने के कारण वृत्ति उपलक्षण नहीं है, विद्यमान व्यावर्तकत्व-नियम से विशेषण ही है, ऐसा होने पर पूर्वोक्त दोनों दोष आते हैं ।

उत्तर—वृत्ति का उपराग यहाँ वृत्ति की सत्ता मात्र से ही उपयुक्त है, प्रतिभास्यतया नहीं (अर्थात् वृत्ति के उपराग के लिए वृत्ति का रहना मात्र उपयोगी है, ब्रह्म को शवल वनाते हुए, या उसके विशेषण रूप से वृत्ति का प्रतिभासित होना अपेक्षित नहीं, अतः उक्त दोष नहीं आते । ऐसा वृत्तिसंसर्ग होने पर ही आत्मा विषय वनता है, स्वतः अन्यथा नहीं ।[2] शङ्का—उपाधि के सम्बन्ध से विषयता होती है, और विषयता होने पर उपाधि सम्बन्ध होता है—ऐसा होने पर तो विषय-विषयित्वलक्षण में इतरेतराश्रय होता है ।

उत्तर—ब्रह्मसाक्षात्कार में चैतन्यप्रतिविम्बितत्व ब्रह्मविषयत्वप्रयुक्त नहीं, स्वतः ही है, घटादि वृत्तियों के समान ही । चैतन्य ब्रह्म ही है, अतः ब्रह्म से वृत्ति का सम्बन्ध स्वाभाविक ही है ।[3]

ब्रह्मसाक्षात्कार ब्रह्माकारा वृत्तिरूप ही है इसे भामतीकार ने वहुधा कहा है ।[4]

---

१. वृत्तिविशिष्टस्य शवलतया न तत्त्वसाक्षात्कारगोचरता; वृत्त्यवच्छिन्नात्मविषयत्वे च वृत्तेः स्वविषयत्वापातः, विशेषणाग्रहे विशिष्टाग्रहात्, उपलक्षितस्य तु न वृत्त्युपाधिकता । वहीं ।

२. वृत्त्युपरागोऽत्र सत्तयोपयुज्यते न प्रतिभास्यतयाऽतो वृत्तिसंसर्गे सत्यात्मा विषयो भवति, न तु स्वत इति न दोषः । वहीं ।

३. ननूपाधिसम्बन्धाद्विषयत्वं, विषयत्वे चोपाधिसम्बन्धो विषयविषयित्वलक्षण इतीतरेतराश्रय अत आह—अन्यथेति । न ब्रह्मसाक्षात्कारस्य ब्रह्मविषयत्वप्रयुक्तं चैतन्यप्रतिबिम्बितत्वं, किं तु स्वतः, घटादिवृत्तिष्वपि साम्यात् । चैतन्यं च ब्रह्मेतिस्वाभाविको वृत्तेस्तत्सम्बन्धः इत्यर्थः । वही, पृ० ५७-५८ ।

४. अनुभवोऽन्तःकरणवृत्तिभेदो ब्रह्मसाक्षात्कारः, तस्याविद्यानिवृत्तिद्वारेण ब्रह्मस्वरूपाविर्भावः प्रमाणफलम् । भा० १।१।२, पृ० ८९ ।

तदनेन श्रवणमननध्यानाभ्यासा विवेकज्ञानमुक्तास्तस्य विवेकज्ञानस्य फलं केवलात्मरूपसाक्षात्कारः स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिः । स च साक्षात्कारो वृत्तिरूपः ।

भा० १।३।१९, पृ० ३०४ ।

प्रकटार्थकार ने 'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टम्' की व्याख्या में अध्यात्मयोग का अर्थ करते हुए कहा है—प्रत्यगात्मविषयक चित्तनिरोध से सहकृत महावाक्यार्थ-बोध से तत्त्व का अधिगम होता है। उस बोध का स्वरूप है ब्रह्म व आत्मा के ऐक्य की व्यञ्जिका चित्तवृत्ति।[1]

वेदान्तजन्या अखण्डाकारवृत्ति यदि उपहितविषयिणी है तो यह वृत्ति प्रमाण कैसे होगी? यथार्थज्ञानहेतुत्व ही तो प्रमाणत्व होता है, जो स्वरूपतः सर्वथा असङ्ग, निरुपाधि, निर्गुण है, उसके उपहित ही रूप का ग्रहण करने वाली वृत्ति प्रमाण क्यों होगी? घट-पटादि का ज्ञान कराने वाली वृत्तियों में तो व्यावहारिक प्रमाणत्व आचार्य शङ्कर ने कहा है। किन्तु उसकी भी सीमा बनाया है आत्मतत्त्वनिश्चय को ही।[2]

वह आत्मनिश्चय-ब्रह्मसाक्षात्कार यदि ब्रह्माकारा वृत्तिरूप ही है, और यह वृत्ति भी उपहित ही ब्रह्म को विषय करती है तो वहाँ भी सच्ची प्रमाणता कैसे होगी? इस शङ्का का उत्तर यथाकथञ्चित् यही हो सकता है कि उक्त वृत्ति भले ही उपहित को ही विषय बनाती है, किन्तु कल्पतरुकार के शब्दों में—स्व तथा स्वेतर उपाधि की निवर्तिका रूपा ही उदित होती है, अतः अखण्ड निरुपाधि ब्रह्म-स्वरूप ही ज्ञान में पर्यवसित होने के कारण प्रमाण ही है।[3] (यहाँ 'स्व'-स्वयं यह वृत्ति जो अज्ञान का कार्यविशेष है, तथा 'स्वेतर'-मूलअज्ञान एवं उसके अन्य कार्य)।

इस प्रकार अनुपहित ब्रह्म वृत्ति का विषय न बनते हुए भी उसी के द्वारा उपलक्षित हो कर सिद्ध होता है।

अखण्डाकारा वृत्ति यदि उपहितविषयिणी है, तो उस समय इस वृत्ति से अतिरिक्त कोई भी उपाधि वर्तमान न होने से यही उपधायक है और यही उपहित की ग्राहक, तो स्वयं अपने आप को भी विषय करने वाली होगी। यह तो ठीक नहीं। शाब्दबोध में नियम है कि शब्द द्वारा उपस्थित का ही भान होता है, और वृत्ति तो शब्द द्वारा उपस्थापित है नहीं, अतः उसका विषय बनना—भान होना अनुपपन्न है। आकांक्षा-योग्यता आदि बल से किसी प्रकार उसके भान की उपपत्ति भले हो भी, किन्तु उसके द्वारा अज्ञान व उसके कार्य (प्रपञ्च) की निवृत्ति तो नहीं हो सकेगी, क्योंकि अज्ञान व उसके कार्य को विषय न करने वाला ज्ञान ही उन दोनों का निवर्तक होता है। अन्यथा 'मैं अज्ञ हूँ' 'यह घड़ा है' इत्यादि प्रातिदैनिक क्षणिक वृत्तिज्ञानों द्वारा ही अज्ञाननिवृत्ति प्रसक्त होगी क्योंकि वे भी तो उपहितविषयक हैं ही।

ऐसी शङ्का का समाधान करते हुए मधुसूदन ने कहा है कि शाब्दवृत्ति में अनवभासमाना ही वृत्ति उपधायक है। कल्पतरु में जो शुद्ध ब्रह्म को वृत्ति का विषय कहा गया है वह

---

१. अध्यात्मयोगः प्रत्यगात्मविषयश्चित्तनिरोधः तत्सहकृताद् वाक्यादधिगमो ब्रह्मात्मैक्यव्यञ्जिका चित्तवृत्तिः। प्र० वि० १।२।१२, पृ० १७९।

२. देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात्॥ ब्र० शां० भा० १।१।४, पृ० ७९।

३. निरुपाधि ब्रह्मेति विषयीकुर्वाणा वृत्तिः स्वस्वेतरोपाधिनिवृत्तिहेतुरुदयते, स्वस्या अप्युपाधित्वाविशेषात्। वे० क० पृ० ५७।

अन्य समस्त उपाधियों से रहित, (वेदान्तजन्यवृत्तिमात्र से उपहित) के अभिप्राय से ही कहा है। सर्वथा शुद्ध, अनुपहित ब्रह्म विषय नहीं बनता। वृत्ति से उपहित ब्रह्म वृत्ति का विषय है ऐसे व्यवहार में वृत्ति का उपराग-सम्बन्ध यही है कि वहाँ वृत्ति वर्तमान है, उसका विषय-कोटि में प्रवेश नहीं है। अभिप्राय यह है कि जैसे अज्ञानोपहित के साक्षी होने पर भी अज्ञान साक्षिकोटि में प्रविष्ट नहीं होता, जड़ होने से, किन्तु साक्ष्यकोटि में ही रहता है, वैसे ही वृत्त्युपहित ही ब्रह्म के विषय होने पर भी वृत्ति का विषयकोटि में प्रवेश नहीं है, स्वयं ही स्वयं का विषय होना अनुपपन्न होने से, किन्तु वह स्वयं विषय न होती हुई भी चैतन्य में विषयता लाती है, इस प्रकार कोई अनुपपत्ति नहीं है।[1]

साक्षात्कर्ता कौन ?

साक्षात्कार-दशा के उत्थापक महावाक्य में 'तत्' व 'त्वम्' पदार्थों का तो लक्षणा से ऐक्य बहुधा प्रतिपादित हुआ किन्तु 'असि' तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' के अस्मि को अस् धातु से 'कर्तरि लः' लाने के लिए किसी कर्ता की आवश्यकता है, वह कौन होगा ?

अद्वैतसिद्धि में सिद्ध किया गया है कि चिन्मात्र ही मोक्षभागी है।[2] किन्तु उक्त अस्मि वृत्ति का विषय युक्ति से अहमर्थ ही प्रतीत होता है, क्योंकि वही संसारदशा में शोकमग्न है, अतः स्वप्रकाशचैतन्य से अभिन्न सुख परमानन्द-भूमा रूप सुख उसी का इष्ट–इच्छित–अर्थित–पुरुषार्थ है; अवश्य ही अन्ततः वह विशुद्ध आत्मतत्त्व में ही पर्यवसित होता है, किन्तु साक्षात्कार रूप मोक्षसाधिका वृत्ति का कर्ता—अहमर्थ को ही मानना होगा। विशुद्धचित् के लिये तो

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता" ॥[3]

(ग) साक्षात्कार-प्रक्रिया—

वृत्ति किस प्रकार ब्रह्मात्मैक्य की व्यंजिका बनती है यह विचारणीय है। लौकिक घट-पटादि विषय ज्ञान में तो—अन्तःकरण वृत्ति तथा उसमें स्थित चित्प्रतिबिम्ब दोनों ही घट को व्याप्त करते हैं। विषय-गत अज्ञानावरण वृत्ति द्वारा नष्ट होता है, तब चित्प्रतिबिम्ब द्वारा वह घट प्रकाशित होता है संक्षेप में ऐसी प्रक्रिया रहती है,[4] किन्तु ब्रह्म में वैसा होना संभव नहीं

---

१. नानुपहितस्य विषयता; वृत्त्युपरागोऽत्र तत्तयोपयुज्यते न भास्यतया विषयकोटि-प्रवेशेनेति। अयमभिप्रायः—यथा अज्ञानोपहितस्य साक्षित्वेऽपि नाज्ञानं साक्षिकोटौ प्रविशति, जडत्वात्, किन्तु साक्ष्यकोटावेव, एवं वृत्त्युपहितस्य विषयत्वेऽपि न वृत्ति-विषयकोटौ प्रविशति, स्वस्याः स्वविषयत्वानुपपत्तेः, किन्तु स्वयमविषयोऽपि चैतन्यस्य विषयतां सम्पादयतीति न काप्यनुपपत्तिः। अ० सि० पृ० २६०–६२।

२. अहमर्थस्य मुक्त्यनन्वयात्,'''अहमर्थगतं चिदंशं मुक्तिकालान्वयिनं प्रति पुमर्थस्य मोक्षे सम्भवः। अ० सि० पृ० ८८९।

३. मां० का० २।३२

४. बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत् ॥ पं० द० ७।९१ ॥

प्रतीत होता क्योंकि ब्रह्म तो सर्वव्यापक वस्तु है, वह किसी सीमित वस्तु द्वारा व्याप्य कैसे होगी ? और बुद्धि–वृत्ति में स्थित चिदाभास जैसे घट-पटादि को व्याप्त करके उनका स्फुरण कराता है, वैसा ही ब्रह्म के प्रति भी होना अपेक्षित हो तो ब्रह्म में दृश्यत्व प्राप्त होगा, उसी के द्वारा मिथ्यात्व भी। फिर ब्रह्म या आत्मतत्त्व को तो सर्वथा प्रमाण–निरपेक्ष, स्वयंप्रकाश ज्योतिः-स्वरूप माना गया है, सिद्ध किया गया है, उसके स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिये किसी माध्यम की अपेक्षा क्यों हो ?

ऐसी शंकाओं के समाधान के लिये कहा गया है कि ब्रह्म जब विषय होता है तब वृत्ति में स्थित चित्प्रतिबिम्ब उसे व्याप्त नहीं करता—दीपक के प्रकाश की सूर्य की अभिव्यक्ति में कोई सार्थकता न होने से। तब भी ब्रह्म-विषयक जीवगत अज्ञान के नाश के लिये ब्रह्म में भी वृत्तिव्याप्ति की अपेक्षा अवश्य है—सूर्य को देखने के लिये अपने बन्द नेत्र खोलने के समान[1]। बुद्धि में स्थित चिदाभास का नाम ही फल है। तत्त्वतः भले ही ब्रह्म स्वयंज्योतिः है, किन्तु व्यावहारिक दशा में तो अज्ञानावृत ही है, नहीं तो सर्वदा प्रकट ही रहता। इस व्यावहारिक दशा को समाप्त करके पारमार्थिक वस्तुस्थिति में पहुँचने का उपाय-चिन्तन ही तो समस्त शास्त्र-विचार है। परमार्थ के प्रकाश के अवरोधक अज्ञान को हटाये बिना व्यावहारिक दशा-रूप अन्ध-निशा समाप्त नहीं हो सकती। अज्ञान के जो रूप व्यावहारिक दशा में अनुभव में आते हैं उनको हटाये बिना व्यवहार नहीं चलता। वैसे ही कार्यसहित मूल अज्ञान के हटे बिना, ज्योतिःस्वरूप भी ब्रह्म प्रकट नहीं होता।

ज्योतिःस्वरूप होने पर भी ब्रह्म अन्धकार-सम अज्ञान का स्वयं ही विनाश क्यों नहीं करता इसका उत्तर भी लौकिक ज्ञान-प्रक्रिया में चर्चित हो चुका है कि स्वरूपतः वह अविद्या व उसके कार्यों का अधिष्ठान है एवं सभी कुछ का भासक है—**'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्'** अतः विरोधी नहीं है। जैसे कि सूर्य की परितः प्रकीर्ण रश्मियाँ सभी कुछ आलोकित करने वाली, तृण-वीसदों को वढ़ाने वाली होती हैं; किन्तु सूर्यकान्त मणि या विशेष काँच के टुकड़े के माध्यम से पड़ती हुई वे ही किरणें उन्हीं तृण आदि को जला देती हैं, वैसी ही वृत्ति पर आरूढ़ होकर वही चैतन्य ज्ञान का नाशक होता है जो इससे इतर अवस्था में अज्ञान व उसके कार्यों का भासक है।

लौकिक ज्ञान-प्रक्रिया से पारमार्थिक ज्ञान के उदय में इतना अन्तर अवश्य है कि व्यावहारिक ज्ञान के लिए वृत्ति चक्षु आदि इन्द्रिय या लौकिक वाक्यज्ञान के द्वारा बनती है, और ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए अपेक्षित है वेदान्त-वाक्यश्रवण से, मननादि द्वारा संस्कृत अन्तः-करण से उत्पन्न हुई ब्रह्मविषयिणी वृत्ति।[2]

---

१. फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ॥
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता ॥ पं० द० । ७।९० ।
वही ७।९२ ।

२. ततः सर्वाङ्गनिष्ठस्य प्रत्यग्ब्रह्मैक्यगोचरा ।
या वृत्तिर्मानसी शुद्धा जायते वेदावाक्यतः ॥
तस्यां या चिदभिव्यक्तिः स्वतःसिद्धा च शाङ्करी ।
तदेव ब्रह्मविज्ञानं तदेवाज्ञाननाशनम् । वि० प्र० सं० पृ० ६ ।

तथा लौकिक विषय-ज्ञान में जो चिदाभास (फल चैतन्य) घट को प्रकाशित करता है, उसकी अपेक्षा ब्रह्मज्ञान में नहीं है, यही उसकी प्रमाणनिरपेक्षता व स्वयंप्रकाशता का परिचय है, और दृश्यता का वारण। क्योंकि अपने प्राकट्य के लिए अन्य प्रकाश की अपेक्षा रखना ही, जड़ता, दृश्यता है जो घट आदि में अनुभूत होती है। सूर्य को देखने के लिये जैसे उसके समक्ष स्थित मेघ का हटना, तथा चक्षु पर पड़ी पलक का उठना ही अपेक्षित होता है, किसी दीपक या सूर्येतर नक्षत्र की रश्मि की अपेक्षा नहीं होती, वैसे ही, (प्रत्युत उससे भी आगे बढ़कर—चाक्षुप ज्योति से भी निरपेक्ष) ब्रह्मज्ञान के लिए वृत्ति द्वारा अज्ञानावरण का नाश ही उपयोगी है, चिदाभास की व्याप्ति की आवश्यकता नहीं क्योंकि आवरण हटते ही स्वयंप्रकाश वस्तु प्रकट हो ही जाती है। इसीलिये कहा गया— **'फलव्याप्यत्वमेवास्य, शास्त्रकृद्भिर्निवारितम्'** तथा **'तस्यां या चिदभिव्यक्तिः स्वतः सिद्धा च शङ्करी।'**

लौकिक विषयप्रत्यक्ष तथा ब्रह्मसाक्षात्कार के अन्तर को और स्पष्ट शब्दों में कहें तो—घट—पट आदि के प्रत्यक्ष के लिए—(१) विषय-इन्द्रिय-सन्निकर्ष, (२) विषयाकारा मनोवृत्ति (३) उस वृत्ति से आवरणनाश अथवा प्रमाता व प्रमेय—चैतन्यों का सम्वन्ध और (४) उस वृत्ति में स्थित चिदाभास या चित्प्रतिबिम्ब द्वारा विषय की व्याप्ति इतनी सामग्री अपेक्षित है। तथा घट-पट आदि प्रत्यक्षस्थलीय मनोवृत्ति साक्षिभास्य होने के कारण स्वयंप्रकाश नहीं कही जा सकती। किन्तु जहाँ 'सोऽहं' 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों के श्रवण (विचार) से ब्रह्माकारा मनोवृत्ति होती है (मन की विषय के आकार में परिणति ही वृत्ति है, जहाँ ब्रह्म विषय है वहाँ ब्रह्माकारा वृत्ति होगी) वहाँ उक्त वृत्ति उदित होते ही, ब्रह्म को आवृत किया हुआ अज्ञानावरण तत्काल नष्ट हो जाता है, क्योंकि वृत्तिज्ञान अज्ञान का नाशक है। आवरण के नष्ट होते ही उस वृत्ति में अभिव्यक्त स्वयंप्रकाश ब्रह्म रूपी विषय चिदाभास के बिना ही स्वयं प्रकाशित हो जाता है, उसके प्रकाश के लिए साक्षिप्रतिभास की आवश्यकता नहीं। केवल आवरणनाश के लिए इसे वृत्तिमात्र की आवश्यकता रहती है। इसीलिए चिदभिव्यक्ति नित्यसिद्धा व स्वतःसिद्धा है।

इसी प्रसङ्ग में विद्यारण्य और भी पुराणवचन उद्धृत करते हैं कि तत्त्वमसि आदि शब्द रूप सामग्री से जो प्रत्यग्ब्रह्माकाररूप पूर्ण और अत्यन्त सुदृढ़ मन की वृत्ति उत्पन्न होती है, उसका द्रष्टा स्वतः प्रकाशमान प्रत्यगात्मा ही है, अन्य नहीं, क्योंकि उस वृत्ति में अपने स्वभावभूत ब्रह्म रूप से आप (प्रत्यगात्मा) ही अभिव्यक्त हुआ है। अतः इतर द्रष्टा की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह स्वयं द्रष्टारूप है। उक्त स्वरूप से अभिव्यक्त परमात्मा ही 'ब्रह्मविज्ञान' शब्द से कहा जाता है। चित् से ही प्रकाशित होने वाला ब्रह्माज्ञान उलूक द्वारा कल्पित (दिवस में) अन्धकार के समान केवल प्रतीतिमात्र से सिद्ध है, वास्तव में कोई वस्तु ही नहीं है। आत्मज्ञान के उदित होने पर अपने आप ही अपने को तथा अपने कार्य अध्यास आदि सबको जब निगलता है, अर्थात् उन सबको समेट कर यह अन्धकार स्वयं विलीन हो जाता है तब वही आत्मा आनन्दरूप हो कर पूर्ण ब्रह्म रूप से अवशिष्ट रहता है। अतः केवल

अपने अनुभव से ही ज्ञात होने वाला उक्त ब्रह्मावशेष जिस विज्ञान से सिद्ध होता है, वही ब्रह्मविज्ञान है।[1]

(घ) अविद्यानिवर्तिका वृत्ति और उसकी अनित्यता

यह अखण्डाकारा वृत्ति ही प्रपञ्च के हेतुभूत मूल अज्ञान की निवर्तिका है, प्रपञ्चविलय करती हुई ही यह अखण्ड स्वरूपभूत ब्रह्मज्ञान में पर्यवसित होती है, ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेय की त्रिपुटी विशुद्ध 'ज्ञ' में ही विलीन हो जाती है—यह सिद्धान्त है। इसकी सिद्धि के लिए आचार्य मधुसूदन पूर्वपक्ष उठाते हैं कि अविद्या का निवर्तक कौन है ? स्वयंप्रकाश ब्रह्मचैतन्य या उसके आकार में आकारित चित्तवृत्ति ? पहला—ब्रह्मचैतन्य तो सर्वदा ही है तो अविद्या का निवर्तन क्यों नहीं होता, इतना ही नहीं वही (चैतन्य ही) तो अविद्या का भासक भी है। द्वितीय भी ठीक नहीं क्योंकि वृत्ति भी अविद्या का कार्य होने से असत्य ही है, उससे सत्य (अविद्यानिवृत्ति) की सिद्धि कैसे होगी ? अज्ञान का विरोधी तो ज्ञान ही होता है।[2] वृत्ति तो अज्ञान का ही कार्य होने के नाते अज्ञान-रूपा ही है वह अज्ञान की विरोधी कैसे होगी ? इस पर उत्तर देते हैं कि वृत्ति पर उपारूढ़ ही चैतन्य, अथवा चैतन्य के प्रतिविम्व से युक्त वृत्ति ही अज्ञाननिवर्तिका है।[3] असत्य से सत्य की सिद्धि असंभव नहीं, प्रातिभासिक रजतदर्शन से भी व्यावहारिक प्रसन्नता कुछ क्षण के लिए होती ही है तथा प्रातिभासिक सर्पदर्शन से व्यावहारिक भय भी। फिर इस वृत्ति को सत्य का जनक तो नहीं कहा जा रहा, वह सत्य को अभिव्यक्त ही करती है।

---

१. प्रत्यग्ब्रह्मैक्यरूपा या वृत्तिः पूर्णाऽभिजायते।
शब्दलक्षणसामग्र्या मानसी सुदृढा भृशम्॥
तस्याश्च द्रष्टृभूतश्च प्रत्यागात्मा स्वयंप्रभः।
स्वस्य स्वभावभूतेन ब्रह्मभूतेन केवलम्॥
स्वयं तस्यामभिव्यक्तस्तद्रूपेण मुनीश्वराः।
ब्रह्मविद्यासमाख्यस्तदज्ञानं चित्प्रकाशितम्॥
प्रतीत्या केवलं सिद्धं दिवामीतान्धकारवत्।
अभूतं वस्तुगत्यैव स्वात्मना ग्रसते स्वयम्॥
स्वात्मनाऽज्ञानतत्कार्यं प्रसन्नात्मा स्वयं बुधाः।
स्वपूर्णब्रह्मरूपेण स्वयमेवावशिष्यते॥
एवंरूपावशेषस्तु स्वानुभूत्यैकगोचरः।
येन सिध्यति विप्रेन्द्रास्तद्धि विज्ञानमैश्वरम्। वि० प्र० सं० पृ० ७-८।

२. किं स्वप्रकाशचिदविद्यानिवर्तिका, तदाकारा अपरोक्षवृत्तिर्वा, नाद्यः तस्या इदानीमपि सत्त्वात्, न द्वितीयः, असत्यात्सत्यसिद्धेरयोगात् अज्ञाने न जानामीति ज्ञप्तिरूपचिद्विरोधस्यानुभवेनाज्ञप्तिरूपवृत्तिविरोधस्यासंभवात्। अ० सि० पृ० ८८५।

३. अविद्यानिवर्तकं च यद्यपि न स्वप्रकाशब्रह्मरूपज्ञानमात्रम् तस्य तत्साधकत्वात्; तथा श्रवणादिसाध्यापरोक्षवृत्तिसमारूढं तदेव। वही।

शंका—घट–पटादि-ज्ञान-स्थल में भी तो वृत्ति उपहित-ब्रह्म-विषयिणी होती हैं, तब इस अन्तिमा वृत्ति से उसका अन्तर क्या रहा ? तथा कोई भी वस्तु स्वयं अपनी निवर्तक नहीं देखी जाती तो अपने उपादान का भी निवर्तक होना तो दूर की बात है।

उत्तर—घटादि-ज्ञान-रूपा वृत्ति घटावच्छिन्न चैतन्य-विषयिणी होती है और अखण्डाकारा वृत्ति सर्वथा अनवच्छिन्न, महावाक्यार्थ से उपलक्षित-भर चैतन्य को विषय करती है। स्वयं अपना तथा अपने उपादान का निवर्तक होना अन्यत्र कहीं न देखा जाने पर भी यहाँ प्रमाणबल से कल्पनीय है।[1] 'तरति शोकमात्मवित् सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सौम्य' श्रुति से। और वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य द्वारा अविद्या की निवृत्ति होने में तो कोई शङ्का ही नहीं है। वही कहा गया है कि सूर्य का तेज तृण आदि का प्रकाशक होते हुए भी सूर्यकान्त-मणि पर आरूढ़ होकर उन तृणादि को जलाता ही है—वही नीति यहाँ अन्तिमा वृत्ति के स्थल पर भी समझनी चाहिये।[2]

शंका होती है कि इस अन्तिम ज्ञान की स्थिति कैसी है ? यदि यह नित्य है तो तत्त्व की अद्वितीयता में व्याघात आता है, यदि अनित्य है तो इसका भी कोई निवर्तक होगा तो अनवस्था आयेगी। यदि स्वयं ही अपना निवर्तक हो तो इसमें क्षणिकत्व आयेगा क्योंकि अन्यनिरपेक्ष प्रतियोगी यदि अपने ध्वंस का जनक हो तो वह तत्काल ही ध्वंस क्यों न कर लेगा ? यदि कहें कि जलती हुई लड़की के समान कुछ समय में स्वयं समाप्त हो जाता है, तो वहाँ भी—उस नाश का कारण–ईश्वरेच्छा रहती है। यदि कतकरज का उदाहरण दें तो वह भी जल में स्थित पङ्क का नाश नहीं करती, उसे पृथक् मात्र करती है। शुद्ध आत्मा ही इस अन्तिमा वृत्ति का नाशक या इसके नाश का कारण है—यह नहीं कह सकते क्योंकि वह (शुद्ध आत्मा) तो किसी के प्रति भी हेतु नहीं है, और उस आत्मा से इतर सभी कुछ इस वृत्ति का ही निवर्त्य या विनाश्य है।[3]

इस पर मधुसूदन उत्तर देते हैं कि तन्तुओं का नाश वस्त्र के नाश का प्रयोजक है यह भली-भाँति देखा हुआ है उसी प्रकार अपने उपादान मूलाज्ञान का नाश ही इस वृत्ति के नाश का हेतु है। यदि कहो कि—अविद्यानाश में क्या हेतु है ? वृत्ति से उपलक्षित आत्मा

---

१. चरमवृत्तेर्घटादिवृत्त्या चिद्विषयत्वे अविशेषः—इति, तन्न; अवच्छिन्नानवच्छिन्न-विषयतया विशेषात्। यत्तु—स्वनिवर्तकत्वे स्थितिविरोधः स्वोपादाननिवर्तकत्वं त्वदृष्टचरम्—इति, तन्न; अन्यत्रादृष्टस्यापि प्रमाणबलादत्रैव कल्पनात्।

वही, पृ० ८८६।

२. तृणादेर्भासिकाप्येषा सूर्यदीप्तिस्तृणं दहेत्।
सूर्यकान्तमुपारुह्य तन्नायं विनियोजयेत्॥ वहीं

३. अन्त्यस्य ज्ञानस्य किं निवर्तकम् ? स्वयमन्यद्वा; नाद्यः, अन्यनिरपेक्षप्रतियोगिनो ध्वंसजनकत्वे क्षणिकत्वापत्तेः, दग्धदारुदहनस्यापि ईश्वरेच्छादिनैव नाशात्। कतकरजस्तु न पङ्कं नाशयति, नापि स्वम्; विश्लेषमात्रदर्शनात्ः, नान्त्यः, शुद्धात्मनः किंचिदपि प्रत्यहेतुत्वात्, तदन्यस्य च निवर्त्यत्वात्। वहीं।

या वृत्ति ही ? पहला संभव नहीं, क्योंकि शुद्ध तो हेतु होता नहीं, द्वितीय ठीक नहीं क्योंकि तब तो प्रत्येक प्रतियोगी में ही नाशकता पर्यवसित होगी।—तो यह ठीक नहीं, क्योंकि दोनों ही रीतियों में कोई दोष नहीं। वृत्ति के रहने तक ब्रह्म उपहित ही है, शुद्ध नहीं अतः अविद्यानाशक हो सकता है।[1] वास्तव में तो अविद्यानिवृत्ति वृत्तिरूपा ही है, और इस वृत्ति की निवृत्ति आत्मरूपा, अतः किसी के खण्डन का अवकाश ही नहीं।[2]

५. अविद्यानिवृत्ति, मोक्ष, अपरोक्षानुभव

(क) इन तीनों पदार्थों का क्रम व स्वरूप

ज्ञान में जन्यता की प्रसक्ति का उत्स है मूल अज्ञान, जो मायारूप वृत्ति का आकार लेकर निरुपाधि, निष्क्रिय, असङ्ग ब्रह्म को सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्त्व आदि से विशिष्ट, जगत् के उद्भव स्थिति व लय का हेतु, ईश्वर बनाता है, तथा साथ ही अन्तःकरण तथा उसकी विविध असंख्य वृत्तियों का आकार लेकर अल्पज्ञत्वादि-विशिष्ट द्रष्टा, भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा व करणापाटव से प्रायः दूषित दर्शन, तथा वस्तु, देश व काल की सीमाओं से प्रतिपद घिरे दृश्य—इस त्रिपुटी से भरा व्यवहार चलाता है।

आगम की भाषा में इस मूल अज्ञान का नाम है तिरोधान या निग्रह शक्ति जो पौरुष अज्ञान तथा बौद्ध अज्ञान इन दो रूपों में कार्य करती है। जैसे कोई राजपुत्र नाटक में भिक्षुक का अभिनय करता है तो पहले अपने राजा-पन को भुलाता, छिपाता या ढकता है, तब भिक्षुक-वेश धारण करके उसी वेश के अनुरूप अभिमान रखता हुआ कार्य करता है, वैसे ही सच्चिदानन्दघन ब्रह्म जब अपने स्वरूप का संकोच करता है तो वह संकोच का प्रथम उन्मेष आनन्दस्वरूप की **'स एकाकी न रेमे'** स्थिति तथा **'एकोऽहं बहु स्याम्'** सङ्कल्प में प्रकट होता है। तब बहु हो कर वह अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट अन्तःकरण से अवच्छिन्न जीव रूप धारण करता है। एक से बहु की ओर आने का पहला कदम यह आत्मसंकोच वस्तुतः ब्रह्म होते हुए भी

---

१. तन्तुनाशस्य पटनाशप्रयोजकत्वदर्शनेन स्वोपादानाविद्यानाशस्यैव तन्नाशकत्वात्। न च—अविद्यानाशे तदुपलक्षितात्मा वा वृत्तिर्वा, पूर्वत्र शुद्धस्याहेतुत्वम्, द्वितीये प्रतियोगिमात्रस्यैव नाशकतापर्यवसानमिति वाच्यम्; उभयथाप्यदोषात्, वृत्तिमादायैव ब्रह्मणा उपहितत्वेन शुद्धत्वाभावात्। वही, पृ० ८८६-८७।

२. वस्तुतस्तु—अविद्यानिवृत्तेर्वृत्तिरूपतया न निवर्तकखण्डनावकाशः, वृत्तिनिवृत्तेरात्मरूपतया न तज्जनकखण्डनावकाशोऽपीति। वही, पृ० ८८७-८८।

'जीव बनूँ' ऐसा संकल्प ही तिरोधान शक्ति का पहला कार्य पौरुष अज्ञान है। उसी के अनुरूप 'अहं देही' 'संसारी' ऐसा अभिमान रखते हुए कर्म करना है बौद्ध अज्ञान। इन दोनों अज्ञानों की स्वीकृति उपनिषदों में भी प्राप्त है, इसीलिये **'तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं, मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये'** ऐसा कहा गया है। इस तिरोधान या निग्रह शक्ति के कार्यों की समापिका है अनुग्रहशक्ति, जिसका प्रथम कार्य है पौरुष अज्ञान की निवृत्ति। इसके विना किसी भी उपाय शुद्ध कर्म, उपासना, या शाब्दज्ञान आदि से आत्मस्वरूपोपलब्धि-रूप मोक्ष कथमपि सम्भव नहीं। इसी कारण कहा गया है—

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥'[1]

क्योंकि जिसने निग्रह किया है वही अनुग्रह कर सकता है। जिस कारण से जीवभाव आया है उसके हटे विना ब्रह्मभाव कैसे होगा?

पौरुष अज्ञान की निवृत्ति होने पर तत्काल मोक्ष हो ही जाय यह नियत नहीं, क्योंकि उस मूल आवरण पर बौद्ध अज्ञान का और एक आवरण पड़ा हुआ है। जैसे किसी बालक के नाम पर एक लाख रुपया कोष में रख दिया जाय जो उसे बालिग होने पर मिलने वाला हो, तो उसकी दरिद्रता वस्तुतः उसी समय समाप्त हो गई, किन्तु बालिग न हो जाने तक वह दरिद्रता का अनुभव करता है। ऐसे ही पौरुष अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भी संसारित्व बना रहता है, जब तक बौद्ध अज्ञान न हटे—मोक्ष के प्रति अधिकारित्व न आये।

पौरुष अज्ञान न हटने की सूचना है—मुमुक्षुत्व। उससे प्रेरित होकर जीव बौद्ध ज्ञान द्वारा बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति के लिए 'दीप्तशिरा' के समान यत्नशील होता है।

बौद्धज्ञान, पहले वर्णित ब्रह्मसाक्षात्कार है, जो समस्त उपाधि-विलयिनी ब्रह्माकारा वृत्ति रूप है, जिसके उदय के प्रति करण है शब्द ही। अखण्ड ब्रह्म के समीपतम वस्तु है शब्द (शब्दब्रह्म)। शब्द का (परमार्थ की ओर से–) प्रथम स्तर है—परा वाक् जो ब्रह्म से अभिन्न है। इसी वाक् से पौरुष अज्ञान निवृत्त होता है। द्वितीय स्तर है—पश्यन्ती वाक् जो अखण्ड तत्त्व के अपरोक्षज्ञान की संभाविका स्थिति है। तृतीय स्तर है—मध्यमा जो अखण्ड-तत्त्व के प्रत्यक्षात्मक दर्शन का रहस्य है। यह पश्यन्ती तथा मध्यमा मिलित रूप से ब्रह्म-साक्षात्कार के रहस्य हैं। इन्हीं के बल पर सनत्कुमार शब्द द्वारा ही नारद को **'तमसः पारं दर्शयति'**। मध्यमा व पश्यन्ती स्थितियाँ क्रमशः ब्रह्मसाक्षात्कार के दो उत्तरोत्तर स्तर हैं (१) 'तत्त्वमसि' वाक्य के अर्थ—अखण्ड चैतन्य का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान, तथा (२) 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप से उसी अखण्ड चैतन्य रूप अर्थ का अपरोक्ष ज्ञान। यहाँ तक 'असि' व 'अस्मि' वृत्तियाँ वर्तमान हैं। अतः मोक्ष—स्वरूपमात्र में अवस्थिति, इस (साक्षात्कार) से आगे की वस्तु है।

आत्मा का जीवभाव हुआ है चित् व अचित् (जड़—अविद्या जो स्वयं आत्मा द्वारा ही कल्पित है एवं अपने ऊपर आक्षिप्त है) के आध्यासिक (क्योंकि तात्त्विक सम्भव नहीं है)

---

१. कठ० १।२।२३

सम्भेद (मिश्रण) से । चिदचिद्ग्रन्थि ही अहमर्थ है, इसे अद्वैत-आचार्यों ने बहुधा सिद्ध किया है। 'तत्त्वमसि' वाक्य का त्वम्पदार्थ तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' का अहम्-पदार्थ एक ही वस्तु हैं और वही जीव—अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य—है यह कहना न होगा। इस जीव-स्वरूप में विशेषण तथा विशेष्य अंश क्रमशः अचित् व चित् हैं, जिसमें से अचित् अंश केवल सत्त्वगुण से निष्पन्न होने के कारण स्वच्छ प्रकृति का है तथा चैतन्य से सर्वदा प्रभावित है, इसीलिए ज्ञान के लौकिकरूप (जन्य ज्ञानों) का संभावक एवं व्यवहार का संचालक है। चिदंश भी इस जड़ अंश से उतने ही अनुपात में प्रभावित है, अतः इस जड़ अंश की सीमा के पार अपना व्यापक स्वरूप नहीं जान पाता। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति व निर्विकल्प समाधि तक चिदंश उक्त जड़ अंश के उद्भूत-अनुद्भूत किसी न किसी रूप के साथ किसी न किसी परिमाणु में आश्लिष्ट ही रहता है, इससे पृथक् अपनी सत्ता का अनुभव नहीं कर पाता। इसलिए परमार्थ स्वरूपस्थिति (स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः) होने के लिए इन चित् तथा अचित् दोनों अंशों की ओर से मोक्ष के प्रति अधिकारित्व आवश्यक है। अर्थात् चित् की ओर से पौरुष अज्ञान तथा अचित् की ओर से बौद्ध अज्ञान—दोनों हटे विना मोक्ष संभव नहीं। पहली अज्ञान-निवृत्ति आत्मा-चित् पक्ष के स्तर पर होती है, एवं दूसरी अचित्-बौद्ध स्तर पर। दोनों के मिलने पर, अनुभूति में परिणत होने पर ही सम्पूर्ण प्रपंच-विलय व निरुपाधि ब्रह्म की उपलब्धि अथवा मोक्ष संभावित है। इनमें से प्रथम पूर्णतया निर्भर है आत्मतत्त्व की ही अनुग्रहशक्ति पर–यह कहा जा चुका है। द्वितीय के लिए विविध प्रणालियाँ हैं। कोई शरीर व प्राण की शक्तियों का विकास करके प्राण को माध्यम वनाते हैं उत्थान के लिए, कोई उससे सूक्ष्मतर वस्तु मनको माध्यम वनाते हैं, और कोई (जो वस्तुतः उक्त दोनों से श्रेष्ठ हैं अथवा लक्ष्य-सिद्धि के प्रति अधिक समुचित पथ के पन्थी हैं) वाक्तत्त्व को माध्यम वनाते हैं वहु, शवल, अविशुद्ध में से एक, एकरस, अखण्ड, केवल, विशुद्ध सच्चिदानन्दैकघन आत्मस्वरूप में पहुँचने का। यह तृतीय श्रेणी है, आगम व वेदान्त की। **'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे' 'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परंब्रह्माधिगच्छिति'** शव्द से ही समस्त सृष्टि हुई है, उसी में इसका संविलय भी होगा। कैसे ? वैखरी भूमि में स्थित शिष्य को उपदिष्ट शव्द वैखरी व मध्यमा के आवरणों में लिपटा हुआ है; उपासना द्वारा उसका शोध करते-करते मध्यमा में, चिद्राज्य में प्रवेश होता है, पश्यन्ती में अर्थ का साक्षात्कार तथा परा में उसका अपरोक्ष (अपने आप से अभिन्न रूप से) अनुभव होता है।

प्रथम पौरुष-अज्ञान की निवृत्ति होते ही आत्मा व परमात्मा अथवा ब्रह्म तथा जीव के चिदंश का स्वयं कल्पित भेद वस्तुतः मिट जाता है, 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य वाक्य-रूप से उसी अभेद स्थिति को कहते हैं, गुरूपदिष्ट–गुरुमुख से उच्चरित रूप से (–आप्त की शक्ति से युक्त होकर) उसी अभेद को दिखाते हैं या साक्षात्कार कराते हैं। यह साक्षात्कार यदि केवल तत्त्व-विचार मार्ग से हुआ हो, साथ में उपासना द्वारा आधारशुद्धि न हुई हो तो साक्षात्कार आत्मा के स्तर पर होने पर भी बौद्ध मल निवृत्त न होने से वह अनुभव में नहीं आता। 'तत्त्वमसि' वाक्य के अर्थभूत अखण्डतत्त्व का साक्षात्कार–जीवब्रह्मैक्य–ब्रह्माकारा चित्तवृत्ति होने पर भी वह **'अहं ब्रह्मास्मि'** अनुभूति में परिणत नहीं होती। **'अहं ब्रह्मास्मि'** अनुभूति की स्थिति-दशा ही जीवन्मुक्ति है; जिसमें 'अहं-पदार्थ' 'ब्रह्म-पदार्थ' तथा समान विभक्ति से कहा जाता

हुआ दोनों का ऐक्य—सभी 'अस्मि' आकार वाली अपरोक्षवृत्ति में भासित हुआ रहता है, अविद्यालेश द्वारा उक्त वृत्ति के आधार अन्तःकरण का स्थूल आधार शरीर तथा उसके समस्त लौकिक व्यवहार चलते रहते हैं। इस दशा में अभिमान 'मैं देही हूँ, संसारी हूँ' इत्यादि जैसा नहीं रहता अपितु 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा आत्मब्रह्मैक्य का ही अभिमान रहता है। उस दशा के लिये रत्नप्रभा में सुन्दर उदाहरण दिया गया है—साँप व उसकी केंचुली का।

जीवन्मुक्त दशा में विद्वान् का शरीर में अभिमान नहीं रहता, जैसा कि साँप का अपनी छोड़ी हुई केंचुली में 'यह मैं हूँ' ऐसा अभिमान नहीं रहता। त्वचा से मुक्त सर्प के समान विद्वान् देहस्थ होने पर भी अशरीर है। तब भी प्राण-क्रिया अविद्यालेशवशात् चलती रहती है। शरीर में जीता हुआ भी वह आत्मा ब्रह्म ही है। 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा साक्षात्कार व अनुभव जिसे हो चुका है—ब्रह्मात्मभाव जिसे अवगत हो चुका है वह फिर पहले के समान संसारी नहीं रहता।[1] यह अन्तिमा वृत्ति-रूप ज्ञान स्व-स्वेतर उपाधियों का प्रविलापक है, वही उपाधिविलय करते हुए जब यह अपने ज्ञेय ब्रह्म से अभिन्न हो जाता है अर्थात् ज्ञान की वृत्ति-रूप उपाधि-प्रयुक्त जन्यता समाप्त होकर जब यह ब्रह्मस्वरूपभूत नित्यज्ञान में ही परिणत हो जाता है तभी मोक्ष सम्पूर्ण होता है। आचार्य गौड़पाद के शब्दों में—जिस समय आत्मसत्य की उपलब्धि होने पर मन संकल्प नहीं करता, उस समय वह अमनी भाव को प्राप्त होता है, तब ग्राह्य का अभाव होने के कारण ग्रहण के विकल्प से रहित होता है। यह सर्वकल्पना-शून्य अजन्मा ज्ञान ज्ञेय ब्रह्म से अभिन्न है। ब्रह्म ही जिसका विषय है वह अजन्मा व नित्य है। इस अजन्मा ज्ञान से अजन्मा आत्म-तत्त्व स्वयं ही जाना जाता है।[2] कहा गया है—आकाश में नीलिमा के भ्रम के समान उत्पन्न हुए जगत् का पुनः स्मरण न होना ही वास्तव में विस्मरण है। उसका अनुभव दृश्य का अत्यन्ताभाव हुए बिना नहीं होता। 'दृश्य नहीं है' ऐसा बोध होने पर ही प्रपञ्च की निवृत्ति होती है।[3]

---

१. अहिर्निल्वयनी सर्पत्वक् वल्मीकादौ प्रत्यस्ता निक्षिप्ता मृता सर्पेण त्यक्ताभिमाना वर्तते, एवमेव इदं विदुषा त्यक्ताभिमानं शरीरं तिष्ठति। अथ तथा त्वचा निर्मुक्त-सर्पवद् एव अयं देहस्थः अशरीरः। विदुषो देहे अभिमानाभावात् अमृतः प्राणिति इति प्राणो जीवन्नपि ब्रह्मैव। र० प्र० १।१।४, पृ० २१७-१८।

२. आत्मसत्यानुबोधेन न सङ्कल्पयते यदा।
अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहम्॥
अकल्पकमजं ज्ञानं ज्ञेयाभिन्नं प्रचक्षते।
ब्रह्मज्ञेयमजं नित्यमजेनाजं विबुध्यते॥ मां० का० ३।३२।३३।

३. भ्रमस्य जगतस्यास्य जातस्याकाशवर्णवत्।
अपुनःऽस्मरणं मन्ये साधो विस्मरणं वरम्॥
दृश्यात्यन्ताभावबोधं विना तन्नानुभूयते।
कदाचित् केनचिन्नाम स्वबोधोऽन्विष्यतामतः॥
दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम्।
सपन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः॥ यो० वा० १।३।२-६॥

नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव आत्मतत्त्व का अज्ञानावरण ही बन्ध है, उसी से प्रयुक्त है समस्त संसारानुभव। अज्ञान की ही द्विविधा वृत्ति हैं, एक से दर्शन-सङ्कल्प होता है, दूसरी से दृश्य-समर्पण। वह अज्ञान भी आत्मा के स्वरूप-तिरोधान-सङ्कल्प से इतर कुछ नहीं, अतः वह सङ्कल्प हटते ही अथवा पुनः अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित होने का सङ्कल्प होते ही, अथवा इस नवीन-सङ्कल्प-रूप ज्ञान द्वारा अज्ञानावरण का नाश होते ही आत्मा वस्तुतः जो है, वही हो जाता है, यही उसका मोक्ष है।[1]

(ख) अविद्यानाश व मोक्ष का पारिभाषिक स्वरूप तथा उसमें वृत्ति का उपयोग—

ब्रह्मसिद्धिकार (मण्डनमिश्र) के शब्दों में अनादि अविद्या ही संसार या बन्ध है, अद्वय-शान्त-स्वरूपा विद्या ही अविद्या का अस्तमय या निवृत्ति है, और वही मोक्ष है।[2]

नैष्कर्म्यसिद्धि में आचार्य सुरेश्वर का कथन है कि स्वात्मानुभव (जीव) में आश्रित ब्रह्मात्मैक्य की अप्रतिपत्ति (बोध न होना) ही अविद्या है, वही संसृति या बन्ध का बीज है, उसका नाश ही आत्मा की मुक्ति है।[3] वह नाश कैसे होगा इसका भी निर्देश करते हुए सर्वज्ञमुनि का वचन है कि 'जीवत्व' रूप अल्प संकुचित रूप का आरोप ही स्वच्छचैतन्यमूर्ति आत्मा का बन्धन है, जिसका कारण है स्वरूप-विषयक अज्ञान। उस अज्ञान की निवृत्ति स्वरूप-विषयक ज्ञान से ही होती है, और वही मुक्ति है।[4] इस पर शङ्का उठती है कि अविद्या तो आत्मा में निसर्गसिद्धा है, स्वाभाविकी कही गई है,[5] उसको निवृत्ति का अवकाश हो कहाँ है? यदि चैतन्य-स्वरूप आत्मतत्त्व से अविद्या का कोई विरोध है, तो अविद्या की अतीत से लेकर वर्तमान तक स्थिति ही अनुपपन्न है; यदि वस्तुतः अविद्यमान होते हुए भी अविद्या संसार रूप से प्रकाशित हो सकती है तो कभी भी उसका हटना क्योंकर होगा? इसका समाधान होता है आचार्य सुरेश्वर द्वारा नैष्कर्म्यसिद्धि तथा बृहदारण्यक-भाष्यवार्त्तिक में किये गये अविद्यानिवृत्ति-विषयक प्रतिपादन से। तदनुसार अनादि अविद्या अनादिज्ञान (परमतत्त्व के स्वरूप-भूतचैतन्य) से तो भासित ही होती है, किन्तु अन्तिम जन्यज्ञान (चरमा-

---

१. अविच्छिन्नचिदात्मैकः पुमानस्तीह नेतरत्।
स्वसङ्कल्पवशाद् बद्धो निःसङ्कल्पश्च मुच्यते॥ वहीं २।१।३६।

२. अविद्याऽस्तमयो मोक्षस्सा संसार उदाहृता।
विद्यैव चाद्वया शान्ता तदस्तमय उच्यते॥ ब्र० सि० ३।१०६, पृ० ११९।

३. ऐकात्म्याप्रतिपत्तिर्या स्वात्मानुभवसंश्रया।
साऽविद्या संसृतेर्बीजं तन्नाशो मुक्तिरात्मनः॥ नै० सि० १।७; पृ० ९।

४. अल्पं रूपं बन्धनं प्रत्यगात्मा, बद्धोऽनेन स्वच्छचैतन्यमूर्तिः।
स्वात्माज्ञानं कारणं बन्धनेऽस्य, स्वात्मज्ञानात्तन्निवृत्तिश्च मुक्तिः॥
सं० शा० १।५०।

५. ····नैसर्गिकोयं लोकव्यवहारः। ब्र० शां० भा० पृ० ३।
····तद्गतनिसर्गसिद्धाविद्याशक्तिप्रतिबन्धादेव तस्य अनवभासः।
पं० पा० पृ० २९।

वृत्ति पर आरूढ़ चैतन्य) उसे ऐसे नष्ट कर देता है जैसे अन्धकार को सूर्य; और इस अविद्यातम की पुनः आवृत्ति भी नहीं होती।[1] यह मोक्ष, की जानेवाली—कार्यवस्तु नहीं है, क्योंकि वह आत्मतत्त्व का स्वरूप ही है, तब भी अज्ञानावृत होने के कारण उसे किसी व्यञ्जक की अपेक्षा है, वह व्यञ्जक ही है शुद्ध शब्द से जन्या अखण्डब्रह्माकारा वृत्ति तथा ब्रह्मात्मभाव की अनुभूति में उसकी परिणति।[2] इसीलिये मण्डनमिश्र ने अद्वय-शान्त-स्वरूपा विद्या को अविद्यानिवृत्ति कहा है। विद्या का अर्थ केवल चैतन्य (चिद्-मात्र) नहीं, उस व्युत्पत्ति से, चिन्मात्र का सम्यक् ज्ञान कराने वाली, चित् को अज्ञान-दाहक रूप देने वाली साक्षात्कारात्मिका वृत्ति ही विद्या-पद का अर्थ है। 'स्वरूपा' का अर्थ करना होगा 'विषय करने वाली' या 'तदाकारा'। अतः अखण्ड, अद्वय, विशुद्ध परमतत्त्व को विषय करने वाली या अखण्ड तत्त्वाकारा वृत्ति ही अविद्यानिवृत्ति है।

इस अविद्यानिवृत्ति की प्रकृति (स्थिति के सम्बन्ध में) क्या है अर्थात् यह सत्य वस्तु है या असत्य या मिथ्या ? यदि अविद्यानिवृत्ति सत्यवस्तु हो तो अज्ञानकृत प्रपञ्चरूपी नानात्व न रहने पर भी इस निवृत्ति को लेकर ही आत्मा सद्वितीय होगा; यदि वह (निवृत्ति) भी मिथ्या ही है तो उसका भी नाश होने से पुनः अज्ञान व उसका कार्य संसार उत्पन्न हो जायेगा,[3] यदि असत् है तो उसका कोई प्रभाव होगा नहीं, संसार यथापूर्व बना रहेगा। उत्पन्न होते समय (अज्ञान-नाश होते समय) वह सत् हो और उसके पश्चात् असत् हो यह सम्भव नहीं क्योंकि किसी प्रबल निमित्त के बिना स्वभावविपर्यय हो नहीं सकता। सत् व असत् एक साथ होना ठीक नहीं। अतः तीनों कोटियों से विलक्षण अनिर्वचनीय ही अज्ञाननिवृत्ति है, यह मानने पर भी पुनः उस का बाध होने की सम्भावना और तत्प्रयुक्त जगत् का

---

१. स्वाभाविक्यप्यविद्येयमनुभूत्याऽवभासिता।
तमः सूर्योदयेनेव ज्ञानेनोत्कृश्य नाश्यते॥
अनादिकालमज्ञानं ज्ञानेनादिमता क्षणात्।
दृश्यते नाश्यमानं हि न चास्या वृत्तिरीक्ष्यते॥ बृ० सं० वा० १०८९-९०॥

२. व्यञ्जकं विरहय्यान्यत् साधनं कारकात्मकम्।
तदभिव्यक्तये नालं स्वतःसिद्धस्य वस्तुनः॥ वही, ११०३॥
अविद्यैव यतो हेतुः कार्यकारणतां प्रति।
सम्यग्ज्ञानादतस्तस्यां ध्वस्तायामात्ममात्रता॥
नाविद्यामनुपादाय प्रतीचोऽनात्मसंगतिः।
यतो विध्वंसने तस्या नात्मनोऽन्योऽवशिष्यते॥ वही ३।३।१७९६-९७॥
तत्त्वमस्यादिवाक्येभ्यः सर्वज्ञानप्रसूतितः।
सर्वाज्ञानापनुत्तेश्च ज्ञेयकार्यसमाप्तितः॥ बृ० भा० वा० ४।४।९१२॥

३. अमायावादिनः सर्व एवाहु :—
ननु तेऽज्ञाननाशोऽपि सत्यश्चेद् द्वैतसत्यता।
मिथ्यात्वेऽज्ञानसद्भावान्मायावादिन्न मुच्यसे॥ इ० सि० ८।१॥

पुनरुद्भव प्रसक्त होते हैं। इस प्रकार की अनेक आशङ्काओं पर विमुक्तात्मा ने इष्टसिद्धि में उत्तर दिया है कि बाध्य के अनुरुप ही बाधक की प्रकृति मानना उचित है, अतः प्रथम तीन कोटियों से अनिर्वाच्य अज्ञान की निवृत्ति को अनिर्वाच्य से भी इतर प्रपंच प्रकार का माना जाय।[1] इस पर शङ्का होती है कि पहले तो अनिर्वचनीय ही कोटि प्रमाण-सिद्ध नहीं फिर उससे भी इतर इस पंचम कोटि की किस प्रमाण से सिद्धि होगी? इसका उत्तर दिया गया है कि जैसे अप्रसिद्ध भी अनिर्वचनीय को युक्ति-वल से स्वीकार करना पड़ता है, वैसे ही उसकी निवृत्ति का पंचम प्रकार भी न्यायवल से ही मानना होगा; प्रपंच की प्रतीति, और इसकी निवृत्ति की प्रसिद्धि ही अनिर्वचनीय व उससे इतर पंचम प्रकार के लिये प्रमाण है। अथवा जिसके स्वरूप में भी कोई प्रमाण नहीं, उसकी निवृत्ति के लिये प्रमाण खोजना व्यर्थ ही है।[2]

इस प्रकार अज्ञाननिवृत्ति को प्रथम चारों से विलक्षण कोटि का मानने पर भी पहले उठाई गई शङ्का निर्मूल नहीं होती क्योंकि सत् से पृथक् होना ही मिथ्यात्व है—इस लक्षण के अनुसार अज्ञान की निवृत्ति का मिथ्या ही होना प्राप्त है तो अर्थतः अज्ञान बना ही रहेगा। इसके अतिरिक्त किसी भी दृष्टि से सत्य ही वस्तु द्वारा असत्य का निराकरण हुआ करता है; व्यावहारिक सत्य रूपा ही अन्तःकरणवृत्ति प्रातिभासिक रजत व उसके प्रतिभास का बाध करती है; वैसे ही व्यावहारिक सत्य जगत् व उसके कारणभूत अज्ञान का बाध करने वाली परमतत्त्वाकारा वृत्ति की फलरूपा अज्ञाननिवृत्ति व्यावहारिक सत्यता से बढ़ कर पारमार्थिक सत्य होनी चाहिये।

इसके उत्तर में विमुक्तात्मा ने इष्टसिद्धि में कहा है कि अज्ञान की स्थिति जैसी है, उसका अभाव भी वैसा ही, मिथ्या ही उत्पन्न वस्तु का मिथ्या ही नाश से नष्ट हो जाना अनुपपन्न क्यों होगा।[3] अज्ञान का नाश किसी अन्य वस्तु की उत्पत्ति नहीं है, कि उस वस्तु के मिथ्या या नाशवान् होने से पुनः पहली वस्तु (अज्ञाननाश के प्रतियोगी अज्ञान व उसके कार्य) का पुनः अविर्भाव प्रसक्त हो। वेदान्तसिद्धान्त में तो एक मात्र आत्मा ही सद् वस्तु है, उसी पर अविद्याकृत नानात्व अध्यस्त है, जो कि अपने कारण (अविद्या) सहित मिथ्या ही

---

१. सदसत्सदसदनिर्वचनीयप्रकारेभ्यो ह्यन्यप्रकारे वाज्ञानस्य निवृत्तिर्युक्ता अनिर्वचनीयत्वात्तस्य, उक्तप्रकाराणां त्वयैव निरस्तत्वात्। निर्वाच्यानामेव हि ते निवृत्तिप्रकारा अनिर्वचनीयान्ताः अनिर्वचनीयापि निवृत्तिः सत एवात्माकाशादेः। अतोऽन्यप्रकारैर्वाज्ञानस्यानिर्वाच्यस्य निवृत्तिरनुरूपा। यक्षानुरूपो हि बलिः। इ० सि० पृ० ८६।

२. अज्ञाननिवृत्तौ किं प्रमाणमिति चेत्, निवृत्तिप्रसिद्धिरेव। यस्य स्वरूपेऽपि नास्ति प्रमाणं तस्य निवृत्तौ कः प्रमाणं मृगयते। तस्माद्यथा अनिर्वचनीयमप्रसिद्धमप्यनात्मविदा न्यायवलादभ्युपेतम्—एवं तन्निवृत्तिप्रकारोऽपि न्यायवलादेवाप्रसिद्धोऽप्यभ्युपेयः, इतोऽन्यथा अज्ञानतन्निवृत्त्योरसंभवात्। इ० सि० पृ० ८६।

३. उच्यते यादृगज्ञानभावोऽभावोऽपि तादृशः।
मिथ्याभावेन भूतं किं मिथ्यानाशान्न नंक्ष्यति॥ इ० सि० ८।२।

है, वस्तुतः अविद्यमान होते हुए भी विद्यमान की तरह भासता है। इस अयथार्थ भास का हटना भी इसीलिये मिथ्या है क्योंकि वास्तव में अयथार्थ भास भी है नहीं। जो नहीं है उसका हटना अन्ततः जो है उसी के रहने में पर्यवसित होता है। अतः कहने के लिये कहा जा सकता है कि आत्मा ही अज्ञाननाश है। इसलिये अज्ञाननाश के सत्य होने से तत्त्व में द्वैत नहीं आता एवं मिथ्या होने से जगत् के बने रहने की भी प्रसक्ति नहीं होती।[1]

इस पर आपत्ति उठती है कि यदि केवल आत्मा ही अज्ञाननिवृत्ति का निष्कृष्ट स्वरूप है, अतः अज्ञाननिवृत्ति के पृथक् सत् या असत् आदि होने का अवकाश नहीं है, तो भी ठीक नहीं क्योंकि आत्मा तो सर्वदा है, अतएव तत्स्वरूपा अज्ञाननिवृत्ति भी सदा है, तब अज्ञान व उसके कार्यभूत जगत् की अनुभूयमान स्थिति अनुपपन्न है। यदि आत्मा-रूपा अज्ञाननिवृत्ति के रहते भी संसार का बना रहना सम्भव हो तो मोक्ष का फिर क्या अर्थ होगा और मुक्त के पुनः संसारी न होने का निर्णायक क्या होगा ? इसी प्रकार की विविध आपत्तियों की अशङ्का उठा कर अन्त में विमुक्तात्मा ने कहा है कि ज्ञात अर्थ या अर्थ का ज्ञान ही उस अर्थ के अज्ञान का नाश है। यह अप्रसिद्ध भी नहीं। ज्ञात वस्तु अज्ञात वस्तु से भिन्न नहीं होती। तब भी प्रमाण-वृत्ति के उदय से पहले वह (अर्थ या वस्तु) ज्ञात नहीं होता, न ही उक्त वृत्ति के पश्चात् वह अज्ञात रहता है, नहीं तो प्रमाण विफल होगा। ये ज्ञात होना व अज्ञात होना वस्तु के स्वरूप भी नहीं, नहीं तो वृत्ति विफल ही होगी। स्वरूप का विपर्यय तो प्रमाणवृत्ति करती नहीं। अतः ज्ञात आत्मा ही अज्ञाननिवृत्ति है, यह मत निर्दुष्ट है,।[2] लोक में भी सर्वत्र 'ज्ञप्ति' या 'फल' अजड आत्मा ही होता है। वही कूटस्थ होते हुए भी प्रमाण व प्रमेय के सम्बन्ध से 'फल' बनता है ऐसा ज्ञान-प्रक्रिया में प्रतिपादित है। आत्मा रूप से नित्य होने पर भी 'फल' रूप से वही अज्ञाननाश है। 'फल' रूपता प्रमाण का उदय होने पर ही होती है, अतः ब्रह्माकारा-वृत्ति रूप अन्तिम प्रमाण के उदय से पहले सर्वथा अज्ञान का नाश प्रसक्त नहीं, क्योंकि उससे पहले आत्मा 'ज्ञात' नहीं।[3]

---

१. अज्ञानभावेऽपि नात्मनोऽन्यद्वस्त्वस्ति, किं पुनस्तदभावे।········न हि वस्त्वन्तर-जन्मा अज्ञाननाशो युक्तः। न ह्यात्मा जनिमद्वस्तु········अतो न द्वैतसत्यताऽज्ञान-सद्भावो। इ० सि० पृ० ३६४-६५

२. ज्ञातोऽर्थस्तज्ज्ञप्तिर्वा तदज्ञानहानिः। न चाप्रसिद्धा सा। नापि मानसिद्धा, अनवस्था-नात्। न च ज्ञातोऽर्थोऽज्ञातादन्यः। तथापि न मानोदयात्प्राक्संज्ञातो नाप्यूर्ध्वमज्ञातः; मानवैफल्यात्। न च ज्ञातत्वाज्ञातत्वे वस्तुनः स्वरूपम्, व्यभिचारान् मानवैफल्याच्च, अन्यथा मानादज्ञातत्वाहानात्। इ० सि० पृ० ३६९।

३. एवमात्मन एवाजडस्य फलत्वात्तस्यैव सत्यतेति न द्वैतसत्यत्वाशङ्का। आत्मैवाजड-त्वात् कूटस्थोऽपि मानमेय-संबन्धात् फलायत इत्युक्तम्। तस्य नित्यत्वेऽपि फलात्म-नैवाज्ञाननाशत्वम्। मानोदये च फलात्मतेति न सदा अज्ञाननाशप्रसङ्गदोषः न च घटादेरिवात्मनः तज्ज्ञानोपरमेऽप्यफलत्वम्, मेयस्यैवात्मनः फलत्वान् मानसंबन्धे मितत्ववत्। यथात्मनस्सतोऽपि मानयोग एव मितत्वं न प्राक् एवं फलत्वमपि········

चित्सुखाचार्य ने भी तत्त्वप्रदीपिका में अज्ञाननिवृत्ति के स्वरूप का बड़े संरम्भ से निरूपण किया है; युक्तियों का उत्थान तो अवश्य विमुक्तात्मा से बहुत भिन्न नहीं तब भी प्रसार नवीन रीति से करते हुए विषय को स्पष्टतर बनाया गया है। तदनुसार पूर्वपक्ष है कि—

अविद्यानिवृत्ति सत् वस्तु नहीं कही जा सकती, क्योंकि यदि वह आत्मा से भिन्न हो तो अद्वैत खण्डित होता है। आत्मा से भिन्न न मानने पर जिज्ञासा होती है कि निवृत्ति आत्मरूप है ? या आत्मा निवृत्तिरूप है ? निवृत्ति को आत्मरूप मानें तो सदा ही निवृत्ति-रहेगी, संसार की उपलब्धि कभी न होगी। आत्मा को निवृत्ति-स्वरूप यदि मानें, तब तो ज्ञान-जन्य निवृत्ति को सत्ता पूर्व में न होने के कारण तद्रूप आत्मा भी ज्ञान से पहले न रहेगा, तो अज्ञान आश्रयरहित स्वतन्त्र हो जायगा। अविद्यानिवृत्ति को असत् भी नहीं मान सकते, क्योंकि तब वह शशश्रृङ्ग के समान तुच्छ होने से ज्ञान के अधीन न रहेगी। यदि उसे अज्ञान का अभाव-रूप मानें तो भी वह निर्वाच्य हो तो द्वैतापत्ति, अनिर्वाच्य हो तो उसकी कारणभूत अविद्या की भी स्थिति माननी होगी, तो मोक्ष ही न होगा।[1] इसके अतिरिक्त भावपदार्थ की निवृत्ति अभाव तथा अभाव की निवृत्ति भावरूप मानी जाती है, भाव-अभाव दोनों से विलक्षण अज्ञान की निवृत्ति अभाव कैसे होगी ? यदि अनिर्वचनीय कहें तो उसे पुनः अविद्यारूप या अविद्याकार्य मानना पड़ेगा, आविद्यकत्व का व्यापक है निवृत्तिमत्त्व, तो अज्ञाननिवृत्ति की भी पुनः निवृत्ति प्रसक्त होने से अनवस्था होगी। ध्वंसमाला (ध्वंस का ध्वंस, पहले प्रतियोगी का पुनरुज्जीवन नहीं होता) के दृष्टान्त से इसे इष्ट भी मान लें तो अविद्यानिवृत्ति में आविद्यकत्व बना ही रहता है।[2]

तस्मान्मानयोगिन एवाज्ञाननाशत्वात् ज्ञात एवात्मा फलभूतो वा उदितमान एव वा आत्मैव अज्ञाननाशः नान्यः, न चातिप्रसङ्ग इति सिद्धम्। अतो नाद्वैतहान्याशङ्का………। इ० सि० पृ० ३७३-७५।

१. का पुनरविद्यानिवृत्तिः। न तावत्सती, आत्मव्यतिरिक्तत्वे तस्याः सद्द्वैततापत्तेः। अव्यतिरिक्तत्वे चात्ममात्रत्वे सदानिवृत्तेः संसारानुपलब्धिप्रसङ्गात्। तन्मात्रत्वे चात्मनस्तथा ज्ञानजन्यतया पूर्वमभावात्, अज्ञानस्य स्वातन्त्र्यप्रसङ्गात्। नाप्यसती, तुच्छत्वे शशविषाणादिवत् ज्ञानाधीनत्वासंभवात्। अभावत्वे च तस्य निर्वाच्यत्वे द्वैतापातात्, अनिर्वाच्यत्वे च तत्कारणाविद्यावस्थानादनिर्मोक्षप्रसङ्गात्।
त० प्र० पृ० ५९८-५९९।

२. भावस्याभावो निवृत्तिरभावस्य च भावो भावाभावविलक्षणस्याज्ञानस्य कथमभावो निवृत्तिः स्यात् ? नाप्यनिर्वचनीया; अविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वापातात्। न चाविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वे निवृत्तिमत्त्वमुपाधिः; अनिर्वचनीयत्वेन निवृत्तिमत्त्वस्यापि साधनात्। न च निवृत्तेर्निवृत्तित्वेऽनवस्था; निवृत्तिमत्प्रध्वंसपक्षे प्रध्वंसमालावदुपपत्तेः। प्रध्वंसप्रध्वंस इव प्रतियोगिनो वन्धस्यानुन्मज्जनादेवापुनरावृत्तिश्रुतेरप्यव्याकोपात् तस्मादनिर्वचनीयत्वे अविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वं प्रसज्यत एव।
त० प्र० पृ० ५९९-६००।

अविद्यानिवृत्ति को सत्, असत्, उभय तथा अनिर्वचनीय इन चारों से पृथक् पंचमकोटि का भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह पञ्चम कोटि संभव नहीं, अनिर्वचनीयता में ही सर्ववि-लक्षणता का पर्यवसान हो जाने से। यदि अनिर्वचनीय का लक्षणज्ञाननिवर्त्यमानत्व मानें, तो ज्ञानजन्या होने से अविद्यानिवृत्ति ज्ञाननिवर्त्या नहीं, तब भी वह बाधगोचर अवश्य है। क्यों-कि 'नेह नानास्ति किंचन' इस प्रतिपन्नोपाधि में निषेधरूपज्ञान की विषयता अज्ञान-निवृत्ति में भी है। इस प्रकार अज्ञाननिवृत्ति को पञ्चम प्रकार की मानना ठीक है, यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अज्ञाननिवृत्ति ब्रह्मज्ञानरूपा ही है, ज्ञानजन्या नहीं।[1] अर्थात् ज्ञात आत्मा ही अज्ञान-निवृत्ति है—मण्डनमिश्र व विमुक्तात्मा द्वारा यही सिद्ध भी किया गया है। ज्ञाननिव-र्त्यता से अतिरिक्त बाध्यता नहीं है, क्योंकि कार्यसहित अज्ञान की निवृत्ति को ही बाध माना जाता है।

यहाँ शंका उठती है कि यदि ज्ञात आत्मा ही ज्ञाननिवृत्ति है, स्वरूपतः नहीं, तो ज्ञान यहाँ विशेषण है या उपलक्षण? विशेषण पक्ष में, उसे (विशेषण को) नित्य मानने पर मोक्षदशा में भी वृत्तिरूपज्ञान के उपादान अन्तःकरण आदि की स्थिति माननी होगी और अनित्य मानने पर अज्ञाननिवृत्ति रूप को भी अनित्य मानना पड़ेगा।

ज्ञान को उपलक्षण मानने पर भी नित्यत्वानित्यत्व-विकल्प के कथित दोष बने ही रहते हैं। अतः अज्ञाननिवृत्ति का स्वरूप उपपन्न नहीं।[2]

ऐसे पूर्वपक्ष में सभी संभाव्य आशंकाओं का संङ्ग्रह करके समाधान करते हुए चित्सु-खाचार्य कहते हैं कि ज्ञातत्वोपलक्षित आत्मा ही मोहनिवृत्तिरूप माना जाता है, उपलक्षण का नाश हो जाने पर भी पाचक आदि के समान मुक्त पुरुष बना ही रहेगा। अर्थात् जैसे लोक में रजतभ्रम की निवृत्ति ज्ञातशुक्तिरूपा होती है वैसे ही प्रकृत में भी अनृत, जड़, दुःख, अनात्म और द्वैत का विरोधी सत्य, ज्ञान, आनन्द, अनन्त और अद्वय रूप ब्रह्म ही वेदान्त-वाक्य-जनित ब्रह्माकारा अन्तःकरणपरिणति रूप दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर ही कार्यसहित

---

१. नापि पंचमप्रकारा, सदसद्विलक्षणतया तस्या अप्यनिर्वचनीयत्वप्रसङ्गात्; सदसद्वि-लक्षणमनिर्वचनीयमिति लक्षणाङ्गीकारात्। ननु नेदं लक्षणं किंतु ज्ञाननिवर्त्यम-निर्वचनीयम्, न चाज्ञाननिवृत्तिर्ज्ञाननिवर्त्या, ज्ञानजन्यत्वात्। ज्ञानानिवर्त्याऽपि च सा बाधगोचराऽतो न प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधनं सव्यभिचारम् 'न ह नानास्ति किंचने' तिप्रतिपन्नोपाधौ निषेधात्मबाधोऽज्ञाननिवृत्तेरपि तुल्य इति चेत्, मैवम्; अज्ञान-निवृत्तेब्रह्मज्ञानरूपतया तज्जन्यत्वाभावात्।

त० प्र० पृ० ६००।

२. ज्ञात आत्मा अज्ञाननिवृत्तिर्न स्वरूपेणैवेति चेत्, न; ज्ञानस्य विशेषणत्वे नित्यत्वे च मोक्षदशायामपि अन्तःकरणादेरवस्थानप्रसङ्गात्। अनित्यत्वे चाज्ञाननिवृत्तिरूपाया मुक्तेरप्यनित्यत्वापातात्। न च ज्ञानोपलक्षित एवात्माज्ञाननिवृत्तिः; उपलक्षित-त्वस्य नित्यत्यानित्वत्वयोः प्राचीनदोषानुषङ्गात्। तस्मान्नाज्ञाननिवृत्तिरुपपन्नेति।

त० प्र० पृ० ६०१।

अज्ञान की निवृत्ति है यही मानना सर्वथा युक्त है।[1] ज्ञातत्व रूप उपलक्षण के नष्ट हो जाने पर उससे घटित मुक्त का अभाव नहीं होगा। लोक में पाक करने वाला रामसिंह पाक से निवृत्त दशा में भी पाचक कहलाता ही है। अतः अज्ञाननिवृत्ति के अनित्य होने पर अज्ञान तथा संसार के पुनरुद्भव-प्रसङ्गादि दोषों का निराकरण हो पाता हैं; क्योंकि शुक्तिखण्ड में रजत का ज्ञान समाप्त हो जाने पर, उसका ज्ञातत्व रूप उपलक्षण नष्ट हो जाने पर भी निवृत्त अज्ञान और उसका कार्य (रजत, तथा उसकी ओर द्रुत प्रवृत्ति) पुनः नहीं उत्पन्न हो जाता। वहाँ यदि दुबारा रजत भ्रम हो भी तो वह दूसरे अज्ञान का कार्य होता है, पहले का नहीं। **'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः'**—इस श्रुति से ब्रह्मज्ञान से अशेष अज्ञान की निवृत्ति प्रतिपादित है, अतः पुनः संसारोद्भव की शङ्का के लिए अवकाश नहीं है। अतः सकार्य अज्ञान की निवृत्ति आत्मस्वरूप ही है।

यहाँ शङ्का उठती है कि यदि ज्ञात आत्मा ही सकार्य अज्ञान की निवृत्ति है तो विद्वान् को शरीरादि की प्रतीति न होनी चाहिए। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ, देहधारी गुरु की स्थिति ही संभव नहीं, क्योंकि परमार्थतत्त्वज्ञान तो सविलास अविद्या का निवर्तक है और देहादि अविद्या के ही कार्य हैं। अविद्यालेश से शरीरादिप्रतीति की अनुवृत्ति नहीं कही जा सकती क्योंकि सर्वोपाधिनिवर्त्तक तत्त्वज्ञान के उदय होने पर अविद्यालेश भी क्यों न निवृत्त हो जायेगा। प्रारब्ध कर्म अविद्यालेश की निवृत्ति का प्रतिवन्धक है, यह नहीं कह सकते क्योंकि प्रारब्ध कर्म भी तो अविद्या का कार्य है।[2] **'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि'** श्रुति में तो सभी कर्मों का क्षय कहा गया है। यदि कहें कि **'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये'**[3] इस श्रुति में विद्वान् के देहपात की अवधि कही गई है अतः **'क्षीयन्ते'**.... श्रुति का आरब्ध से भिन्न कर्मपरक अर्थ करना होगा—तो भी ठीक नहीं क्योंकि **'तस्य तावदेव'**.... श्रुति परोक्षज्ञानवाले पुरुष के ही शरीरपात की अवधि बताती है, अपरोक्ष ज्ञानवाले की नहीं।

---

१. निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः।
उपलक्षणनाशेऽपि स्यान्मुक्तः पाचकादिवत् ॥ ८ ॥
यथा लोके सकारणस्य कलधौतविभ्रमस्य ज्ञाता शुक्तिरेव निवृत्तिः। तथेहाप्यनृतजडदुःखानात्मद्वैताविरोधिसत्यज्ञानानन्दानन्ताद्वयलक्षणं ब्रह्मैव वेदान्तवाक्यजनितब्रह्मैकाकारान्तःकरणपरिणामदर्पणप्रतिविम्बितं सविलासाज्ञाननिवृत्तिरिति युक्तमभ्युपगन्तुम्।
त० प्र० पृ० ६०२।

२. ननु ज्ञात आत्मैव चेत्सविलासाज्ञाननिवृत्तिस्तदोत्पन्नविज्ञानस्य शरीरादिप्रतिभासानुवृत्तिर्न स्यात्। न चाविद्यालेशात् तदनुवृत्तिः, निवर्तकतत्त्वज्ञानोदये तल्लेशस्यापि निवृत्तेः। प्रारब्धकर्मणा प्रतिबद्धं तत्त्वज्ञानं शरीरादिप्रतिभासहेतुमविद्यालेशं न निवर्तयतीति चेत्, मैवम्; कर्मणोऽप्यविद्याकार्यतया यन्निवृत्तौ तन्निवृत्तेः, अनिवृत्तौ च कर्मणस्तत्कार्यस्य च शरीरादेः सत्यत्वप्रसङ्गात्।
त० प्र० पृ० ६०४।

३. छा० उ० ६।१४।२।

इसके अतिरिक्त, अविद्यालेश है क्या वस्तु ? क्या अवद्यिा का एकदेश ? (कोई भाग) या अविद्या का कोई दूसरा आकार ? पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि घड़ा-पुस्तक आदि के समान अविद्या को सावयव पदार्थ नहीं माना जाता । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि अपने आकारी के निवृत्त हो जाने पर उसका कोई आकारविशेष पृथक् स्थिर नहीं रह सकता ।

इस पर कोई कहते हैं कि संस्कार के वल पर द्वैतप्रतीति की अनुवृत्ति सम्भव है, जैसा कि सर्पभ्रम के निवृत्त हो जाने पर भी उसके संस्कार से भय, कम्प आदि की अनुवृत्ति देखी जाती है ।[1] सांख्य में भी ऐसा ही मत है ।[2] किन्तु इससे भी शङ्का मिटती नहीं । क्योंकि संस्कार भी तो अविद्या-कार्य ही है, अतः अविद्या की निवृत्ति के साथ ही निवृत्त हो जायेगा । यदि निवृत्त नहीं होता तो फिर उसमें सत्यत्व आपन्न होने से द्वैत स्वीकार्य होगा ।

इस पर चित्सुखाचार्य ने अविद्यालेश की व्याख्या करते हुए कहा है—'अविद्यालेश' शब्द से अज्ञान का ही एक अन्य आकार अभिप्रेत है । प्रवल प्रारब्ध कर्मों से प्रतिबद्धशक्ति-वाला ज्ञान इसको निवृत्त नहीं कर पाता । लेश-रूप से अविद्या वनी रहती है, इसीसे आत्म-वोध से युक्त भी आत्मा में जीवत्व का आभास एवं तत्प्रयुक्त कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि वने रहते हैं,—यही जीवन्मुक्त दशा है ।[3] जीवन्मुक्तिविवेक में विद्यारण्यस्वामी ने देहाभिमानविमुक्ति को विदेहमुक्ति कहा है, उसी का यहाँ अनुवाद है ।

न्यायसुधा में ज्ञानोत्तमाचार्य ने भी ऐसा उपपादन किया है—कि संसार मूलकारण-भूत अविद्या यद्यपि एक ही है, तथापि उसके आकार विभिन्न हैं । उनमें एक आकार प्रपंच-गत परमार्थसत्त्व भ्रम का हेतु होता है, दूसरा आकार अर्थ-क्रिया-समर्थवस्तु का कल्पक है, तीसरा आकार अपरोक्ष प्रतीति के विषयाकार का कल्पक माना जाता है । उनमें अद्वैत-सत्यत्व का निश्चय हो जाने पर पहला समस्त द्वैतगत सत्यत्व का कल्पक आकार निवृत्त हो जाता है । दूसरा अर्थक्रिया-समर्थ प्रपंच का उपादानभूत मायाकार तत्त्वसाक्षात्कार से विलीन हो जाता है । तीसरा अपरोक्ष-प्रतीतियोग्य अर्थाकार (माया-लेश) जीवन्मुक्त का निवृत्त नहीं होता । समाधि-अवस्था में वह तिरोहित हो जाता है तथा अन्य समय देह व जगत् के ब्रह्मरूप से आभास का हेतु हो कर अनुवृत्त रहता है ।[4] पूर्ववत् नहीं । अथवा देह व जगत्

---

१. कश्चायमविद्यालेशः, किमविद्याया एकदेशः ? किंवा तदाकारान्तरम् ? नाद्यः, अविद्यायाः घटादिवत्सावयवत्वानङ्गीकारात् । नापि द्वितीयः स्वाकारिनिवृत्तौ तदाकारावस्थानानुपपत्तेः । अस्तु तर्हि संस्कारादेव द्वैतप्रतिभासानुवृत्तिः, विनिवृत्त-सर्पविभ्रमस्यापि संस्काराद्भयकम्पाद्यनुवृत्तिदर्शनात् । त० प्र० पृ० ६०५

२. तिष्ठति संस्कारवशाच्चित्रभ्रमिवद् धृतशरीरः । सां का० ६७ ।

३. अविद्यालेशशब्देन मोहाकारान्तरोक्तितः ।
ज्ञानस्य प्रतिवन्धाच्च प्रवलारब्धकर्मभिः ॥
लेशानुवृत्तौ तज्जन्यकर्मदिरनुवृत्तितः ।
उत्पन्नात्मावबोधस्य जीवन्मुक्तिः प्रसिध्यति ॥ त० प्र० ४।१०-११ ।

४. एवं हि न्यायसुधायामाराध्यपादैरुपपादितम्, संसारमूलकारणभूताविद्या यद्यप्येकैव,

का तुच्छत्व-मात्र रह जाता है। जैसे सुनार को स्वर्ण-निर्मित सभी आभूषण आदि में स्वर्ण-बुद्धि ही प्रधान रहती है, कड़ा-कुण्डल या कटोरी आदि आकृति-नाम उसके लिये व्यवहार चलाने भर के लिये उपयोगी होते हैं, वैसे ही जीवन्मुक्त का जगद्-व्यवहार होता है। प्रारब्ध कर्म का फलोपभोग पूरा होने पर यह निवृत्त हो जाता है। अपने विरोधी तत्त्वज्ञान के उदित होने पर भी अविद्यालेश निवृत्त नहीं होता इसका कारण है—प्रबल प्रारब्ध कर्मों से ज्ञान का प्रतिबद्ध होना। ज्ञान-जनक कर्म कर्मान्तर से प्रारब्ध शरीर में अपना फल उत्पन्न करते हैं। नहीं तो (यदि वे सभी अपने फल की उत्पत्ति के लिए नये शरीर का ग्रहण कराने वाले हों तो) ज्ञानजनक कर्म भी योगार्थक हो जायेंगे। अतः शरीर आरम्भक कर्मों का आश्रय लेकर ज्ञानजनक कर्म प्रारब्ध कर्मों का विरोध न करते हुए फल देते हैं। अतः उन प्रारब्ध कर्मों से प्रतिबद्धशक्ति वाला होने से भी तत्त्वज्ञान अविद्यालेश का नाशक नहीं होता।

'भयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इस श्रुति में भूयः आदि विशेषणों से पूर्वोक्त द्विविध माया आकारों की निवृत्ति और तीसरे आकार ही अनुवृत्ति का ज्ञान होता है।

वेदान्तशास्त्र का परम प्रयोजन, पुरुषार्थों में श्रेष्ठ व अन्तिम मोक्ष का तत्त्वतः स्वरूप ब्रह्म या ब्रह्मविद्या (ब्रह्म रूप नित्यज्ञान) की प्राप्ति कहा गया है, किन्तु नित्यसिद्ध वस्तु की प्राप्ति क्या होगी, यह प्रश्न अवश्य उठता है। ब्रह्म तो समस्त जगत् का अधिष्ठान है—चित्र की भित्ति के समान, द्रष्टा-दर्शन-दृश्य सभी में अनुवृत्त दृक् है (चित् होने से) जो कुछ भी 'है' कह कर प्रतीयमान है सभी उसी की सत्ता से 'है' और उसी की 'भा' से भासमान है, तब उस नित्यप्राप्त की प्राप्ति क्या है?—ऐसी सङ्का के समाधान के लिए विद्यारण्य ने ब्रह्मविद्या-प्राप्ति शब्द के अर्थ को विवृत किया है। तदनुसार विद्या शब्द से प्रमाण-जन्या अन्तःकरणवृत्ति ली जाती है। उस वृत्ति से विषय का निश्चय करना प्राप्ति का तात्पर्य है। घटादिविषयक विद्या केवल अपनी उत्पत्ति से ही घटादि विषय का निश्चय कर देती है, किन्तु ब्रह्मविद्या विचार से पहले, परोक्षतः ज्ञात अपने विषय का निश्चय नहीं करा सकती, क्योंकि उसका विषय असम्भावना तथा विपरीत-भावना से अभिभूत है। असम्भावना है चित्त में एकाग्रवृत्तिता का अभाव और विपरीत भावना है शरीरादि में आत्मतादात्म्याध्यास के संस्कारों की दृढ़ता। इन्हें दूर करता है विचार अथवा तर्क-युक्ति-सहकृत चिन्तन-मनन।[1]

तथापि तस्याः सन्त्येव बहवः आकारास्तत्रैकः प्रपञ्चस्य परमार्थसत्त्वभ्रमहेतुः द्वितीयोऽर्थक्रियासमर्थवस्तुकल्पकः, तृतीयस्त्वपरोक्षप्रतिभासविषयाकारकल्पकः। तत्राद्वैतसत्यत्वाध्यवसायेन समस्तद्वैतसत्यकत्वकल्पकाकारो निवर्तते। अर्थक्रिया-समर्थप्रपञ्चोपादानमायाकारस्तत्त्वसाक्षात्कारेण विलीयते। अपरोक्षप्रतिभासयोग्या-र्थभासजनकस्तु मायालेशो जीवन्मुक्तस्यानिवृत्तः समाध्यवस्थायां तिरोहितोऽन्यदा देहाभासो जगदाभासहेतुतयाऽनुवर्तते। त० प्र० पृ० ६०६-७।

१. प्रमाणजनितान्तःकरणवृत्तिर्विद्या तया विषयनिश्चयः प्राप्तिशब्देन विवक्षितः। तत्र घटादिविद्यायाः स्वोत्पत्तिमात्रेण विषयनिश्चायकत्वेऽपि न ब्रह्मविद्यायास्तथा सहसा निश्चायकत्वम्, असम्भावनाविपरीतभावनाभ्यामभिभूतविषयत्वात्। तत्रासम्भावना

इतने से भी ब्रह्मप्राप्ति क्या है, यह स्पष्ट नहीं हुआ। जीव का ब्रह्म हो जाना ब्रह्म-भाव ब्रह्म-प्राप्ति हो तो भी ठीक नहीं क्योंकि स्वरूपतः जीव ब्रह्म ही है, यही तो महावाक्यों से सिद्ध हुआ है, कोई होना (नई संरचना—संघटना) तो यहाँ सम्भव नहीं। जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध होना जीव को ब्रह्म की प्राप्ति है यह भी अतिशय भेदगर्भित कथन होगा, क्योंकि सम्बन्ध मात्र भेद-गर्भित है। अतः ब्रह्म-प्राप्ति की प्रतिपादक श्रुतियों **अथ ब्रह्म समश्नुते, परं ब्रह्माधिगच्छति** का तात्पर्य अविद्या-निवृत्ति होने पर जीव के अपने स्वरूपभूत ब्रह्म की अभिव्यक्ति में ही है **ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**।[1]

अथवा नित्यप्राप्त ही वस्तु में अविद्या द्वारा जो अप्राप्तता का भ्रम अनादिकाल से अनुभूयमान है, उस ब्रह्म-जीव-भेद के अध्यास या भ्रम की चरमा वृत्ति द्वारा निवृत्ति होने पर स्वभावसिद्ध ब्रह्मात्मैक्य की अभिव्यक्ति हो ब्रह्म की प्राप्ति-रूप मुक्ति है।[2] नित्य निरतिशय आनन्दबोध रूप आत्मा ही समस्त दुःखों की उपादानभूता अनादि अविद्या की निवृत्ति से उपलक्षित होकर मोक्ष शब्द का अर्थ है। अर्थात् समूल अविद्यानिवृत्ति भूमानन्दबोध से उपलक्षित स्वरूप आत्मा ही मोक्ष है, आत्मा के वैसे स्वरूप की उपलब्धि ही मोक्ष की प्राप्ति या ब्रह्म की अवगति है[3] (आचार्य शङ्कर ने कहा है—**'अवगतिपर्यन्तं ज्ञानम्'** जिज्ञासा की ज्ञा धातु का कर्म है, ब्रह्म की अवगति ही पुरुषार्थ है—वह ब्रह्म की अवगति ही मोक्ष है)। यह अवगति या प्राप्ति अभिव्यक्ति के ही अर्थ में प्रयुक्त है। अभिव्यञ्जक अर्थ में भी वेदान्तमहावाक्य स्वरूपसाक्षात्कार के करण हैं, वह साक्षात्कार ही प्रतिबन्ध-चतुष्टय से रहित होकर अपरोक्षानुभव में पर्यवसित होता हुआ मोक्ष है। वे प्रतिबन्ध हैं—(१) विषयभोगवासना (२) प्रमाणगत असम्भावना (३) प्रमेयगत असम्भावना (४) विपरीतभावना। इस चतुष्टय के क्रमशः निवर्तक हैं—(१) शमदमादि श्रवण के अंगभूत षट्साधन (२) श्रवण (३) मनन (४) निदिध्यासन।

नाम चित्तस्य प्रत्यग्ब्रह्मात्मैक्यपरिभावनाप्रचयनिमित्तैकाग्रचवृत्त्ययोग्यतोच्यते विपरीतभावनेति च शरीराध्याससंस्कारप्रचयः। वि० प्र० सं० पृ० ३४५।

१. 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादिप्राप्तिश्रुतिबलाद् ब्रह्मणो दूरदेशवर्तित्वमिति चेत् काऽसौ प्राप्तिः ? न तावद्ब्रह्मभावः, दूषितत्वात्। नापि जीवब्रह्मभ्यामारभ्यमाणं द्रव्यान्तरम्, मोक्षस्य विनाशित्वप्रसङ्गात्। जीवब्रह्मणोः सम्बन्धः प्राप्तिरिति चेद्, मैवम्; न तावत् तादात्म्यम्, अणुमहतोर्विरुद्धयोस्तदयोगात्।...तस्माद् ब्रह्मप्राप्तिश्रुतिरविद्यानिवृत्तौ जीवस्य स्वरूपभूतब्रह्माभिव्यक्तिविषया।

वि० प्र० सं० पृ० ८०५-६।

२. नित्यसिद्धाविद्यानिवृत्तिरपि अविद्यारूपाभावप्रमादशायां लोक इव तदुपपत्तेः। तस्मात् सिद्धं जीवस्याद्वैतब्रह्मसाक्षात्काराद् भेदभ्रमनिवृत्त्या सच्चिदानन्दावाप्तिरिति॥ वे० त० वि० पृ० ७४१।

३. औपनिषदास्तु....निरतिशयानन्दबोधरूप आत्मैवानाद्यविद्यानिवृत्त्युपलक्षितो मोक्ष इत्याचक्षते। अविद्यायाश्च सर्वदुःखोपादानत्वात् तन्निवृत्त्याऽऽत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरप्युपपद्यते। वे० ल० पृ० ६।

यहाँ शङ्का उठ सकती है कि मोक्ष तो स्वरूपभूत ही होने के नाते नित्य प्राप्त है, उसमें प्राप्ति-विषयता या काम्यता कैसे ? इसका उत्तर होगा—जिसकी रसना पित्तदोष से दूषित है वह मिश्री खाये तो 'मिश्री का स्वाद मधुर ही होता है'—यह जानता हुआ भी माधुर्यनिमित्तक तृप्ति का अनुभव नहीं कर पाता या उसके प्रति वैसी तृप्ति नहीं उत्पन्न होती क्योंकि पित्तदोष से माधुर्य का साक्षात्कार नहीं होता। ऐसे ही अविद्या दोष से ग्रस्त जीव अपने स्वरूप को पाने की तथा दुःख से छूटने की इच्छा कर सकता है। इच्छित तथा परिहार्य विषय दो प्रकार के हुआ करते हैं—

(क) इष्ट—१–वस्तुतः अप्राप्त अन्यदेशादि

२–भ्रम से व्यवहित (–कण्ठ में ही पड़ा हार)

(ख) परिहार्य—१-वास्तव में परिहार्य–(गड्ढा, सिंह आदि)

२—सर्वदा परिहृत होते हुए भी भ्रम से परिहार्य–(रज्जुसर्पादि)।

इनमें से प्रथम दोनों (क १, ख १) के प्राप्ति व परिहार तो क्रियासाध्य होते हैं, शेष दो (क २, ख २) साक्षात्कार से ही साध्य हैं। ऐसे ही स्वरूपभूत परमानन्द की प्राप्ति तथा मिथ्या ही अविद्या की निवृत्ति काम्य हैं।[1]

–:०:–

त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिर्गूढं ब्रह्मणि वाङ्मये।
यं पश्यन्त्यमलात्मान आकाशमिव केवलम् ॥
भावापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः ॥
न कामयेऽन्यं तव पादसेवनादकिञ्चनप्रार्थ्यतमाद् वरं विभो।
आराध्य कस्त्वामपवर्गदं हरे वृणीत आर्यो वरमात्मबन्धनम् ॥
तस्माद् विसृज्याशिषमीश सर्वतो रजस्तमःसत्त्वगुणानुबन्धनाः।
निरञ्जनं निर्गुणमव्ययं परं त्वां ज्ञप्तिमात्रं पुरुषं व्रजाम्यहम् ॥

---

१. न युक्तं कामना मुक्तौ पुंसां नास्तीति भाषितुम्।
देशकालाद्यवच्छिन्नसुखार्थित्वस्य दर्शनात् ॥ बृ० सं० वा० २९०।
ग्रामादि किंचिदप्राप्तं प्राप्तुमिष्टमिहेच्छति।
हेमादि विस्मृतं किंचित्करस्थमपि लिप्सते ॥
परिहार्यं तथाऽनिष्टं कण्टकादि जिहासति।
रज्ज्वां सर्पादि किञ्चिच्च त्यक्तमेव जिहासति।
नियतोपायसाध्यत्वादवाप्यपरिहार्ययोः।
विधितः प्रतिषेधाच्च साधनाऽपेक्षिता भवेत् ॥
अज्ञानान्तरितत्वेन सम्प्राप्तत्यक्तयोः पुनः।
याथात्म्यज्ञानतो नान्यत् पुरुषार्थाय कल्पते ॥ बृ० भा० वा० ८८५-८८

उपसंहार

ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र में उठने वाली एक छोटी सी समस्या—जीव को विषय का कादाचित्क ज्ञान होने का रहस्य क्या है ?–का अद्वैत वेदान्त-सिद्धान्त के अनुरूप उत्तर देने जाने पर जिस 'वृत्ति'–पदार्थ की धारणा का सामान्य परिचय मिलता है अन्तःकरण की अवस्थाविशेष के रूप में, उसी वृत्ति पदार्थ पर ध्यान केन्द्रित रखकर उसका स्वरूप-विश्लेषण करने पर दिखाई दिया कि केवल घट-पट आदि विषयों के कादाचित्क ज्ञान की समस्या को सुलझाने में ही वृत्ति-पदार्थ कृतकृत्य नहीं, अपितु तथाकथित मायावाद के समान ही वृत्ति-धारणा भी अद्वैत-वेदान्त के जगद्-व्यवहार के व्याख्यापक सिद्धान्तों की भित्ति है। (कैसे ?–)

अखण्ड, अमेय ब्रह्म तथा अनिर्वचनीयस्वरूपा माया के अनिर्वचनीय ही सम्भेद (परस्पर अध्यास) की कृति है यह विश्व। उन दोनों की ही अमेयता, अनिर्देश्यता ('यह ऐसा है'–न कहा जा सकना) समान ही है। स्वयंप्रकाश–रूप ही तत्त्व सभी कुछ का आधार है अवश्य, किन्तु उस रूप में वह कहाँ पकड़ में आ रहा है ? माया द्वारा अनेक प्रकार से नापा जाता हुआ भी वह अमेय है, और उस अमेय को नानाविध माप में लाने वाली माया भी अपने स्वाभाविक रूप में अमेया ही है। अमेय 'एक' का–अनन्त मेय (दृश्य) मान (दर्शन) माता (द्रष्टा) से भरे जगत् का अधिष्ठान होना, तथा अमेया का उक्त अधिष्ठित की सम्भाविका (स्थिति देने वाली) बनना घटित होता है वृत्ति द्वारा ही। छठे अध्याय में सृष्टि-प्रक्रिया के प्रसंग में देखा गया कि ब्रह्मचैतन्य से प्रेरित माया (ईश्वर की उपाधि) निखिल प्रपंच रूप में परिणत हुई है। वह इस रूप में परिणत हुई है, इसीलिये यह सब कुछ समग्र या असमग्र किसी भी रूप में जाना जा रहा है, अन्यथा यह सब कुछ है ही नहीं। क्योंकि सम्पूर्ण चराचर जगत् सच्चिदानन्द निर्गुण अद्वितीय परमतत्त्व से पृथक् रूप से तो सत् नहीं ही है, परमतत्त्व में ही स्थित रूप से भी सत् नहीं है, अन्त में बाधित होने से, तब भी 'जगत् है' व 'जाना जा रहा है' ऐसी प्रतीति जीवन्त है। इससे यह अर्थतः सिद्ध होता है कि निखिल प्रपंच ब्रह्माश्रिता माया का ज्ञानानुकूल परिणाम है, जैसे कि भ्रमस्थल पर जीवाश्रित अज्ञान का रजताकार परिणाम होता है जो 'यह रजत है' 'मैं रजत देख रहा हूँ' ऐसी प्रतीति का जनक है। माया या उसके कार्य के ज्ञानानुकूल परिणाम का ही नाम वृत्ति है–जो कहीं भी 'यह है' व 'यह प्रतीत हो रहा है' ऐसे ज्ञान का जनक हो, यही निष्कृष्ट वृत्तिलक्षण देखा गया है। व्यावहारिक ज्ञान के लिये ज्ञाता व ज्ञेय की नियत अपेक्षा है, और ये दोनों (ज्ञाता= अन्तःकरणोपाधिक चैतन्य तथा ज्ञेय=ब्रह्मचैतन्य पर अध्यस्त समस्त पदार्थ) निष्पादित हैं माया की तदाकारा परिणति द्वारा ही, अतएव यह परिणति ज्ञानानुकूल अवश्य है, इसी से यह वृत्ति-पद-वाच्य है।

इस प्रकार अमेय को मेय-कोटि में लाती है वृत्ति। तथा अव्यपदेश्य को ईश्वर, जीव, जगत् इत्यादि नामों द्वारा निर्देश्य बनाती है वृत्ति। स्वयं अखण्ड प्रकाश रूप ब्रह्म माया द्वारा अनन्त रूपों में सर्वदा ही द्योतित हो रहा है, समस्त जगत् का होना व ज्ञात होना उस आधारभूत अखण्ड प्रकाश के ही नानाविध रूपायण के सिवा कुछ नहीं है, यह जगत् 'है' ऐसा इसीलिये कहा जा सकता है कि वह जाना जा रहा है। किन्तु परिच्छिन्न ज्ञाता के प्रति समग्र जगत् कभी भी 'जाना जा रहा है' ऐसी अनुभूति के क्रोड में नहीं आता, जानने की अनुभूति के अन्तर्गत जितना सा अंश आता है, उतना ही उस समय विद्यमान है यह भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता, अतः मानना पड़ता है कि ये सीमित खण्ड-खण्ड अनुभूतियाँ समग्र अनिरूपणीय अनुभूति को खण्डशः निरूपित करती रहती हैं। ये सीमित अनुभूतियाँ और कुछ नहीं अन्तःकरण की वृत्तियाँ ही हैं, जिनके द्वारा असीम अखण्ड भान या समग्र साक्षिज्ञान की विषयता का क्षेत्र निरूपित हुआ करता है। वृत्ति-व्यापार द्वारा ही अमेयता के आधार पर यह अनन्त अवच्छेद-परिच्छेद आदि रूप में मेयता दिखाई पड़ती है (अथवा अनिरूपणीय भित्ति पर अनन्त निरूपण चित्रित हैं)।

इसके अतिरिक्त, ब्रह्म से लेकर तृण पर्यन्त जो कुछ भी वर्तमान है, वह विद्यमान होता (=जाना जाता) है किसी न किसी से सम्बद्ध होकर ही (यह सम्बन्ध व्यक्त हो चाहे न हो)। वृत्ति ही किसी भी स्थितिशील वस्तु को, यहाँ तक कि अमेय असंग वस्तु ब्रह्म को भी किसी सम्बन्ध में लाकर प्रमेयरूपता देती है। शुद्ध चैतन्य को चिति, चेत्य व चेतयिता आकारों में लाती है वृत्ति ही। अथवा अखण्ड भान (सभी कुछ के अधिष्ठानभूत चैतन्य या ज्ञान) में विषय-विषयि-भाव उत्थित होता है वृत्ति की अपेक्षा से ही। जहाँ से वृत्ति उदित होगी वह (ज्ञाता, प्रमाता) विषयी है, जहाँ पहुँचेगी व जिसे अपने क्रोड में लाकर अवभास्य बनायेगी वह विषय है, ज्ञेय है, प्रमेय है, उस वृत्ति पर आरूढ़ होकर जो चैतन्य अपने में अध्यासित विषय को प्रकाशित करेगा वह प्रमा है, बोध है—इत्यादि।

तथा च, किसी भी विषय के अवभास (विषयाधिष्ठानचैतन्य) को अभिव्यक्त (अनावृत अन्तःकरणचैतन्य के साथ अभिन्न) करके जीव को विषयों का कादाचित्क ज्ञान कराती है वृत्ति ही, यह सविस्तर देखा जा चुका है। अन्ततः समग्र ब्रह्मचैतन्य के स्वेतर उपाधि से अस्पृष्ट स्वरूप को विषय बनाकर निखिल प्रपंच का प्रविलय करते हुए पारमार्थिक स्थिति के प्रकट होने में साधकतम कारण बनती है वृत्ति ही। इस प्रकार अद्वैत-वेदान्त-दर्शन के तत्त्वमीमांसा व ज्ञानमीमांसा दोनों पक्षों में वृत्तिधारणा की महत्ता समव्याप्त है।

—: ० :—

योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधनो योऽव्यक्तजीवेश्वरो
यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरा शास्ति ताः।
यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम्॥

प्रयुक्त ग्रन्थ सूची

ग्रन्थ नाम	लेखक व सम्पादक	प्रकाशन स्थान	प्रकाशन-काल संस्करण
अद्वैततत्त्वशुद्धिः	श्रीमदनन्तकृष्ण-शास्त्री	भारतीविजयम् मुद्रणालय, मद्रास	१९४८ प्रमथ
अद्वैतदीपिका (अ० दी० विवरण सहिता)	श्रीनृसिंहाश्रम (श्रीनारायणाश्रम)	खेलाड़ीलाल ऐण्ड सन्स, काशी से प्राप्त	१९१९ प्रथम
अद्वैतब्रह्मसिद्धिः	सदानन्द यति	एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, कलकत्ता, बाप्टिस्ट मिशन प्रेस	१८९० प्रथम
अद्वैतसिद्धिः (सिद्धिव्याख्याविट्ठलेशी-लघुचन्द्रिकाख्यगौड-ब्रह्मानन्दीत्यादिसहिता)	मधुसूदन सरस्वती संपा० अनन्तकृष्णशास्त्री	निर्णयसागर मुद्रणालय मुम्बई	१९३७ द्वितीय
इष्टसिद्धिः (इ० सि० विवरणसहिता)	विमुक्तात्मा (ज्ञानोत्तम) संपा० एम० हिरियन्ना	गायकवाड ओरियन्टल सीरीज् । ओरीयण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ोदा ।	१९३३ प्रथम
ईशावास्योपनिषद् (शांकरभाष्यसहित)	,,	गीताप्रेस, गोरखपुर	१९४३ चतुर्थ
ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद	संपा० शिवप्रसाद राघोराम	सर्वहितैषी कम्पनी, रामघाट, बनारस	१९३८ प्रथम
ऋग्वेदसंहिता	संपा० दामोदरदास सातवलेकर	स्वाध्यायमण्डल, पारडी, सूरत	१९५७ तृतीय
ऋ० सं० सायणाचार्य-विरचित-माधवीयवेदार्थ-प्रकाशसहिता	F. Max Mueller	चौखम्बा संस्कृत सीरीज ९९, वाराणसी	प्रथम, भारतीय, १९६६
ऐतरेयोपनिषद् (शां० भा० सहित)	,,	गीताप्रेस, गोरखपुर	१९४३ तृतीय
कठोपनिषद् (शां० भा० सहित)	,,	गीताप्रेस, गोरखपुर	१९६० दशम

कन्दली (प्रशस्तपादभाष्यटीका)	श्रीधर	विजयानगरम् काशी।	प्रथम
केनोपनिषद् (शां० भा० सहित)	,,	गीताप्रेस,	१९४१ चतुर्थ
खण्डनखण्डखाद्यम् (शारदाटीका–, अनिर्वचनीयतादर्शन-सर्वस्त्रसहितम्)	श्रीहर्ष (शंकरचैतन्यभारती)	बालानन्दस्वामी विश्वनाथ प्रेस, वाराणसी।	१९४० १९४० प्रथम
छान्दोग्योपनिषद् (शां० भा० सहित)	,,	गीताप्रेस	१९३७ प्रथम
तत्त्वचिन्तामणि-दीधिति-प्रकाशः	गंगेश, गदाधर, भावानन्द	एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता।	१९१० प्रथम
तन्त्रवार्त्तिकम्	कुमारिलभट्ट	बनारस सं० सीरिज विद्याविलास प्रेस, बनारस।	१९०३ प्रथम
तर्कभाषा	केशव मिश्र	चौखम्भा सं० सीरिज् कार्यालय, बनारस।	१९६३ द्वितीय
तर्कसंग्रह (तर्कदीपिका)	अन्नम्भट्ट (स्वोपज्ञटीका)	भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना।	१९१० द्वितीय
तैत्तिरीयोपनिषद् (शां० भा० सहित)	,,	गीताप्रेस	१९४६ द्वितीय
नैष्कर्म्यसिद्धिः (चन्द्रिकोपेता)	सुरेश्वर (ज्ञानोत्तम)	ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना	१९२५ द्वितीय
न्यायकुसुमांजलिः	उदयनाचार्य	चौखम्भा संस्कृत सिरीज्, बनारस	,, प्रथम
न्यायदर्शनम् (न्यायभाष्यसहितम्)	गौतम (वात्स्यायन)	भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी।	१९६६ प्रथम
न्यायविन्दुः	वैद्यनाथ भट्ट	गुजराती प्रेस, बनारस।	१९१५ प्रथम
न्यायमकरन्दः प्रमाणमाला, न्याय-दीपावली च। (चित्सुखीव्याख्योपेत)	आनन्दबोध-भट्टारक	चौखम्भा संस्कृत सिरीज्, बनारस।	१९०७ प्रथम
न्यायमंजरी	जयन्त भट्ट	,,	१९३६ प्रथम
न्यायरत्नदीपावलिः	आनन्दानुभव	गवर्नमेण्ट ओरियण्टल सीरीज, मद्रास।	१९६१ प्रथम
न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका	वाचस्पति मिश्र	काशी सं० सी० विद्याविलास प्रेस, काशी।	१९२५ प्रथम

पंचदशी	विद्यारण्य	नवलकिशोर प्रेस लखनऊ।	१९२२ प्रथम
पंचपादिका (टीकाद्वयोपेता) पंचपादिकाविवरणं च (तात्पर्यदीपिका-भावप्रकाशिकासहितम्)	पद्मपाद ,, प्रकाशात्मा (चित्सुखाचार्यनृसिंहाश्रम)	मद्रास गवर्नमेण्ट ओरि० सी०, भारती-विजयम् प्रेस, मद्रास।	१९५८ प्रथम
पंचपादिकाविवरण	प्रकाशात्मयति	ई०जे० लाजरस कम्पनी, काशी।	१८९१ प्रथम
परमलघुमंजूषा	नागेशभट्ट	पं० कृष्णमाधव झा हितचिंतक प्रेस, काशी।	१९४१ प्रथम
पाणिनीय सूत्राष्टाध्यायी	पाणिनि संपा० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु	रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर	१९५५ प्रथम
पातंजलमहाभाष्यम् (नवाह्निकम्, प्रदीपो-द्योततत्त्वालोकसहितम्)	पतंजलि कैयट-नागेशभट्ट (रुद्रधर झा)	चौ० सं० सी० बनारस	१९५४ प्रथम
प्रकटार्थविवरणम् भाग १, २,	प्रकटार्थकार	ति० रा० चिन्तामणि मद्रास विश्वविद्यालय।	१९३५ १९३९ प्रथम
प्रकरणपंचिका	शालिकनाथ मिश्र	का० हि० वि० दर्शन-माला, सं० ४	१९४१ प्रथम
प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणिः	सदानन्द		
प्रमेयकमलमार्त्तण्ड	प्रभाचन्द्राचार्य	सत्यभामा पाण्डुरंग निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।	१८४१ द्वितीय
प्रश्नोपनिषद्	,,	गीताप्रेस,	१९४४ चतुर्थ
बृहदारण्यकोपनिषद्	,,	गीताप्रेस	१९४२ प्रथम
बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्यवार्त्तिकम् (शास्त्र-प्रकाशिकासहितम)	सुरेश्वर (आनन्दगिरि)	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलिः १६ पूना	१८९२ प्रथम
बोधिचर्यावतारपंजिका	प्रज्ञाकरमति	Louis do La vallee Poussin	१९०२ प्रथम
ब्रह्मविद्याभरणम्	अद्वैतानन्द यति	वो० साम्बशिवाचार्य कुम्भकोणम्	,, प्रथम
ब्रह्मसिद्धिः (शंखपाणिकृत टीकोपेता)	मण्डन मिश्र	गवर्नमेण्ट प्रेस, मद्रास	१९३७ प्रथम
ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्	संपा० श्रीसत्यानन्द सरस्वती	गोविन्दमठ, वाराणसी	१९६५ प्रथम

ब्र० सू० शां० भाष्यम् (भामती-कल्पतरु-परिमलसहितम्)	संपा० म० म० अनन्त-कृष्ण शास्त्री (वाचस्पति, अमलानन्द, अप्पयदीक्षित)	पाण्डुरंग जावजी निर्णय सागर प्रेस बम्बई	१९३८ द्वितीय
ब्र० सू० शां० भाष्यम (भाष्यरत्नप्रभा) खण्ड १, २	संपा०-पं० चण्डीप्रसाद-शुक्ल व पं० श्रीकृष्णपन्त गोविन्दानन्द	अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी	प्रथम
ब्र० सू० शांकरभाष्यम् (चतुः सूत्रीपर्यन्तं, प्रकाशविकासटीकोपेत-भामतीसहितम्)	पं० लक्ष्मीनाथ झा	सुप्रभातम् प्रेस, मीरघाट, काशी।	१९५२ प्रथम
भेदधिक्कारः (भेदधिक्कारसत्क्रिया-व्याख्यासहितः)	नृसिंहाश्रम (नारायणाश्रम)	चौखम्भा संस्कृत सीरीज़ विद्याविलास प्रेस काशी।	१९०४ प्रथम
माण्डूक्योपनिषद् (शां० भाष्य तथा माण्डूक्य-कारिका सह)	(गौडपाद)	गीताप्रेस, गोरखपुर	१९४२ तृतीय
मीमांसा-दर्शनम् (शावरभाष्यमसहितम्)	जैमिनि (शाबरमुनि)	आनन्दाश्रम मुद्रणालय; पूना।	१९३० प्रथम
मुण्डकोपनिषद्	"	गीताप्रेस, गोरखपुर।	१९४२ चतुर्थ
योगवासिष्ठः	"वाल्मीकि"	पाण्डुरंग जावजी निर्णय-सागर प्रेस, बम्बई।	१९३७ तृतीय
वाक्यपदीयम्	भर्तृहरि	क० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर डेकन कॉलेज, पूना	१९६६- प्रथम
विवरणप्रमेयसंग्रहः	विद्यारण्य	अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी।	१९३६ प्रथम
विवेकचूड़ामणिः	शंकराचार्य	वा० रामस्वामी शास्त्री चेन्नपुरी	१९२५ प्रथम
वेदान्तकल्पलतिका	मधुसूदन सरस्वती	गवर्नमेण्ट सं० पुस्तकालय बनारस।	१९२०
वेदान्तकौमुदी	रामाद्वय	मद्रास विश्वविद्यालय	१९५५ प्रथम
वेदान्ततत्त्वविवेकः (स्वोपज्ञतत्त्वविवेकदीपन-अग्निहोत्रयज्वकृत-पूरणीव्याख्यासहितम्)	नृसिंहाश्रम	ओरि० सं० इन्स्टीट्यूट मैसूर विश्वविद्यालय।	१९५५ प्रथम

वेदान्तपरिभाषा (परिभाषाप्रकाशिका-युक्त, प्रवन्ध में अधिकतर प्रयुक्त)	धर्मराजाध्वरीन्द्र (म० म० अनन्तकृष्ण-शास्त्री)	कलकत्ता विश्वविद्यालय	१९३० द्वितीय
वेदान्तपरिभाषा (शिखामणि-मणिप्रभा-सहिता)	,, (रामकृष्णाध्वरी, अमरदास)	क्षेमराजश्रीकृष्णदास वेंकटेश्वर प्रेस, वम्वई।	१९२८ प्रथम
वेदान्तसागरः	सदानन्द	शिवकुमारदेव नन्दीवेरी मठ, वाराणसी।	१९५८ प्रथम
वेदान्तसिद्धान्त-मुक्तावली	प्रकाशानन्द	अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी।	१९३६ प्रथम
वैशेषिकदर्शने प्रशस्तपादभाष्यम्	प्रशस्तपाद	चौखम्भा सं० सीरीज़ वनारस।	१९३० प्रथम
शक्तिवादः	गदाधरभट्टाचार्य	,,	१९२७ प्रथम
श्लोकवार्त्तिकम् (तात्पर्यटीका)	कुमारिल भट्ट (भट्टोम्वेक)	मद्रास विश्वविद्यालय	१९४० प्रथम
श्वेताश्वतरोपनिषद् (शां० भा० सहित)	,,	गीताप्रेस, गोरखपुर।	१९४३ द्वितीय
श्रीमद्भगवद्गीता (शाङ्करभाष्यादि-एकादशटीकोपेता)	,,	गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, कोट, वम्बई–१	१९३५ द्वितीय
संक्षेपशारीरकम् (सारसंग्रहाख्य-व्याख्यासहितम्)	सर्वज्ञात्ममुनि (मधुसूदन सरस्वती)	चौ० सं० सी०, विद्याविलास प्रेस, काशी।	१९१४ प्रथम
सर्वसिद्धान्तपदार्थ-लक्षणसंग्रह (कोष)			
सांख्यतत्त्वकौमुदी	वाचस्पति मिश्र	आत्मस्वरूपोदासीन, श्रीरमामुद्रणालय, गया।	१९३० प्रथम
सांगयोगदर्शनम् (योगसूत्र-योगभाष्य-तत्त्ववैशारदी-योगवार्त्तिक भास्वती-पातंजलरहस्य-सम्वलितम्)	(पतंजलि-व्यास-वाचस्पति-विज्ञान--भिक्षु-हरिहरानन्दारण्य-राघवानन्द सरस्वती)	चौ० सं० सी०, वनारस।	१९३५ प्रथम
सिद्धान्तविन्दुः (विन्दुप्रपातटीका)	मधुसूदनसरस्वती (वासुदेवाभ्यंकर)	भण्डारकर ओरि० रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना।	१९२८ प्रथम

सिद्धान्तमुक्तावली	विश्वनाथ पंचानन	१८५, गणेश महाल वाराणसी	१९५८ प्रथम
स्याद्वादरत्नाकरः	वादिदेव सूरि	आर्हतमतप्रभाकर–४ पूना ।	वीरसं० २४४३ प्रथम
स्वाराज्यसिद्धिः (स्वोपज्ञकैवल्यकल्पद्रुम-टीकासहिता)	गंगाधरेन्द्रसरस्वती	नटेशशास्त्री, आर्यमतसंवर्धनी संस्कृतग्रन्थावली २५	१९२७ प्रथम
A History of Indian Philosophy Vol. I, II	S. N. Dasgupta.	Cambridge University Press. P. S. Basu,	1962 Fifth 1961 Third
The Patent Wonder	P. N. Mukhopa-dhyaya.	12/1B Nayan Ch. Dutt Street, Calcutta.	1915 Ist
उपनिषद्वाक्यकोशः	Colonel G. A. Jocaf.	मोतीलाल बनारसीदास ।	1963 Second.
A Vedic Concordance.	Blooomfield	,,	1964 Second.